प्रज्ञापुरुष का समग्र दर्शन

(डॉ. भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय आगरा द्वारा पी-एच.डी. उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध)



डॉ. मन्दाकिनी श्रीमाली

डी.लिट्. (शोध छात्रा)



अखण्ड ज्योति संस्थान

मथुरा (उ.प्र.)

अपनी बात...

मेरे इस शरीर की असंख्य कोशिकाएँ जिनके वात्सल्य और ममत्व के कण-कण से विनिर्मित हुईं, वे असंख्यों के परम पूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य मेरे लिए अपने बाबा जी थे। लाखों करोड़ों को अपनी ममता से धन्य करने वाली परम वन्दनीया माताजी मेरी दादी माँ थीं। जिन्हें मैं प्यार से अम्मा जी कहती थी। जब से मैंने होश सम्भाला, स्वयं को उन्हीं की गोद में पाया। मेरा बचपन, किशोरावस्था इन दोनों महान् आत्माओं की छाँव में बीता। *अपने विवाह के बाद भी मैं उन दोनों के अन्तिम क्षणों तक किसी न किसी तरह उनके अन्तरंग सान्निध्य में बनी रही।* इस सुदीर्घ अवधि में मैंने उनके जीवन और विचारों को बड़े नजदीक से देखा, गहराई से जाना और यथा साध्य आत्मसात करने की कोशिश की। जन-जन के हृदय में परम पूज्य गुरुदेव एवं परम वन्दनीया माताजी के रूप में प्रतिष्ठित श्रद्धेय बाबाजी और अम्माजी दो शरीर और एक प्राण थे। एक ही भावधारा, एक ही विचार प्रवाह, एक ही चिन्तन चेतना उन दोनों में प्रवाहित थी। एक ही महाप्राण से उन दोनों के प्राण स्पन्दित थे।

बचपन के बीतते क्षणों के साथ ही परम पूज्य के अद्भुत व्यक्तित्व की प्रखर दीप्ति के प्रभाव से मेरे अन्त:करण में बोध के स्वर फूटने लगे। पर अभी वे अस्फुट थे, यदाकदा उनको लेकर एक साथ अनेकों जिज्ञासाएँ मन मे तरंगित हो उठतीं। समाधान के प्रयास में प्राय: हर बार वन्दनीया माताजी से यही सुनने को मिलता बड़े होने पर उनके विचारों का गहराई से अध्ययन करना, तब सभी कुछ स्पष्ट हो जायेगा। यही शायद वह बीजारोपण था, जो धीरे-धीरे अंकुर-पल्लव और पुष्पों में स्वयं को विकसित करता गया। और आज ग्रन्थ के रूप में जिज्ञासुओं, सुधीजनों, उनके समर्पित शिष्यों, युग निर्माण मिशन के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने वाले कार्यकर्त्ताओं के सामने है।

''प्रज्ञा पुरुष का समग्र दर्शन'' नाम से प्रकाशित हो रहा यह ग्रन्थ सचमुच ही प्रज्ञापुरुष परम पूज्य आचार्य जी के जीवन का सच्चा व समग्र दर्शन है। वे अनन्त ब्रह्माण्डों के कण-कण में व्याप्त परम चेतना के समर्थ द्रष्टा और जीवन दर्शन की समग्रता के अपूर्व-अश्रुतपूर्व व्याख्याता थे। बुद्ध की करुणा, शंकराचार्य का ज्ञान और महावीर का त्याग पाकर भी वे न वन की ओर भागे, न जीवन से मुख मोड़ा। बल्कि घोषित किया, ''गृहस्थ एक तपोवन है।'' उन्होंने वन्दनीया माताजी के साथ संयम, सेवा व सहिष्णुता की साधना करते हुए दो पुत्रों, दो पुत्रियों के पिता का दायित्व भली प्रकार निभाया। जीवन का कोई भी पक्ष हो छोटा या बड़ा, खान-पान, लोकाचार, शिष्टाचार के सामान्य प्रश्न हो या समाज, राष्ट्र, विश्व की उलझी हुई गुत्थियाँ अथवा आत्म साधना की जटिल पहेलियाँ, प्रकृति एवं परमेश्वर के अबूझ रहस्य हर जगह उनके उत्तर सटीक और सार्थक हैं। ध्यान रखने की बात है, ये उत्तर मात्र वाणी या लेखनी से नहीं दिए गये, बल्कि स्वयं के आचरण से इनमें प्राण फूँका गया है।

ये बातें किसी सामान्य चेतना में जीवन जीने वाले को साधारण लग सकती हैं। पर जिन्होंने स्वयं साधना कर चेतना के विशिष्ट शिखरों को पार किया है- वे जानते होंगे, सब सहज नहीं है। श्री रामकृष्ण परमहंस को बार-बार भाव समाधि में जाना पड़ता था। चैतन्य महाप्रभु पर निरन्तर एक तरह का भावावेश चढ़ा रहता था। व्यवहार कुशलता वहाँ रहती है- जहाँ अपेक्षाएँ हों। *अपेक्षा शून्य होते ही व्यवहार शून्यता छाने लगती है। अपेक्षा-शून्यता होने पर भी* जीवन के समस्त क्षेत्रों में व्यवहार कुशल रहते हुए उलझनों के सटीक समाधान प्रस्तुत कर सकना उसी महायोगी से सम्भव है, जो मन के साथ प्राण और शरीर में भी ठीक-ठीक ईश्वरीय प्रकाश का अवतरण कर सका हो। पूज्य आचार्य जी के जीवन में चेतना जगत् का यही दार्शनिक रहस्य उजागर हुआ था। मैंने जब कभी उनके बारे में सोचा, महाकवि

कालिदास के इन्हीं स्वरों को सत्य पाया-

सर्वातिरिक्त सारेण सर्व तेजोभिभाविना।
स्थित: सर्वोन्नतेनोर्वी क्रान्ता मेरूरिवात्मना॥
आकार सदृश प्रज्ञ प्रज्ञया सदृशागमः।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भ सदृशोदयः॥ (रघुवंश १-१४-१५)

वे दृढ़ता में सबसे दृढ़, तेज में सबसे उद्दीप्त, उच्चता में सबसे उच्च, व्यापकता में सबसे व्यापक मेरु सदृश आत्मा वाले थे। जैसा उच्च व्यक्तित्व था, वैसी ही प्रज्ञा थी, वैसी ही शास्त्रज्ञता, जैसी शास्त्रज्ञता थी, वैसी ही साधना और होती थी, वैसी ही महती उपलब्धि।

विचार क्रान्ति अभियान के प्रेरक प्रवर्तक प्रज्ञा पुरुष पूज्य आचार्य जी के विचारों को, उनके समग्र दर्शन को इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रन्थ अपने मूलरूप में डॉ. भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा के द्वारा पी-एच.डी उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया शोध प्रबन्ध है। जो अब पुस्तक के रूप में प्रस्तुत है। इस प्रस्तुतिकरण में दो मौलिक विशेषताएँ हैं- १. परम पूज्य आचार्य जी के वैचारिक व्यापकता का कोई भी पक्ष इसमें अछूता नहीं रहने पाया। अर्थात् उन्होंने जिस किसी विषय पर अपने विचार दिए हैं, उन सभी विषयों एवं विचारों का इसमें सार-समावेश है। २. इसमें उनके विचारों का समस्त विश्व के प्रतिनिधि दार्शनिकों, विशेषज्ञों के विचारों के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन और सामयिक सन्दर्भों में सटीक व्याख्या है। आशा की जाती है, यह ग्रन्थ दर्शनशास्त्र एवं परम पूज्य आचार्य जी के विविध वैचारिक पहलुओं पर शोध अनुसंधान करने के अभिलाषीजनों के लिए मूल्यवान सिद्ध होगा। भाषा के प्राञ्जल-सहज, बोधगम्य तथा विभिन्न विषयों पर की गई व्याख्याओं के सरस व रोचक प्रस्तुतिकरण के कारण सामान्य पाठकों, जिज्ञासुओं और अपने परिजनों के बीच भी समान रूप से लोकप्रिय होगा।

इस ग्रंथ के पन्नों में सँजोये, सजाए शब्द-घटों में अपनी भावनाओं, अनुभूतियों को उड़ेला गया है। इस सत्य को शपथपूर्वक कहा जा सकता है- इसमें ऐसा कुछ भी नहीं, जो जीवन के किसी न किसी क्षणों में लिखने वाले की अनुभूति न बना हो। इन अर्थों में यह ग्रन्थ कागद की लेखी से आँखिन की देखी अधिक है। इसकी पूर्व योजना तो पूज्य आचार्य जी के श्री चरणों में बैठकर ही बनी थी। पर लेखन उनके महाप्रयाण के बाद शुरू हुआ। लेखन के रूप में परम वन्दनीया माताजी की प्रेरणा व प्रोत्साहन ही सक्रिय और मूर्त हुआ। उनकी कृपा व करूणा के बिना तो इसकी कल्पना तक असम्भव थी। अपने महाप्रयाण के बाद भी वन्दनीया माताजी एवं परम पूज्य आचार्य जी के स्वप्नों के माध्यम से अन्तर्मन को प्रकाश व उत्साह से भरते रहे। यह क्रम आज भी जारी है।

आज जब उन ऋषि-युगल की कृपा ग्रन्थाकार हो प्रदर्शित हो रही है, उनकी लौकिक अनुपस्थिति हृदय को विकल कर रही है। अन्तर्वेदना से मन-प्राण आकुल हैं। उनकी यादें अश्रु बनकर छलक रही हैं। बस यही सन्तोष है कि उनको दिया गया अपना आश्वासन पूरा कर पा रही हूँ। इन क्षणों में प्रसन्नता और पीड़ा के बीच मेरा मन हिचकोले खा रहा है, प्रसन्नता इस बात की है कि कार्य पूर्ण हो सका। पीड़ित इसलिए हूँ- आज न तो बाबाजी हैं और न ही अम्मा जी। लेकिन अप्रत्यक्ष होते हुए भी ये दोनों मेरे अन्तर्मन में प्रत्यक्ष हैं। अदृश्य होते हुए भी अन्तर भावनाओं में दृश्य हैं। उन्हीं की बलवती प्रेरणा से मैं इस ग्रन्थ के रूप में उनके समग्र दर्शन को देश और विदेश के विभिन्न भागों में निवास करने वाली, उनकी असंख्य सन्तानों और जीवन की जटिल पहेली को सुलझाने में जुटे जिज्ञासुओं के हाथों में बड़ी ही कृतज्ञ व विनम्र भावनाओं के साथ सौंप रही हूँ। प्रत्येक के सुझाव-मार्गदर्शन की मुझे सतत् प्रतीक्षा रहेगी, ताकि इंगित की गयी कमियों का अगले संस्करण में सुधार किया जा सके।

□ मन्दाकिनी श्रीमाली





विषय सूची



भूमिका

अलगाव, आतंक, अस्थिरता और अव्यवस्था से जर्जरित मानव सभ्यता न केवल त्रस्त है; बल्कि भयग्रस्त हो सहमी खड़ी है। उसे आशंका है कि पतन और विनाश कहीं उसे अपने मृत्यु पाश में न बाँध ले। यन्त्रीकरण और औद्योगीकरण की प्रगति में छुपी अवगति साफ झलकने लगी है। विज्ञान और अन्तर्राष्ट्रीय विधान अपनी असमर्थता का अहसास कर विवश है। इन व्यथापूर्ण क्षणों में विचारशील व्यक्तियों की दृष्टि फिर से धर्म एवं दर्शन की ओर घुमी है। इस सम्भावित आशा के साथ कि ये अपने सृजन कौशल से कुछ अपूर्व कर दिखायेंगे; किन्तु विडम्बना-धर्म मूढ़ताओं से ग्रसित है। चित्र-विचित्र मान्यताओं, कुरीतियों, कुप्रथाओं की मेघमालाओं ने इस सूर्य को आच्छादित कर लिया है और दर्शन, वह जीवन से नाता तुड़ा कर बुद्धि की भूल-भुलैया में जा फँसा है। दर्शन जिसे आर्यावर्त के ऋषियों, सुकरात सदृश मनीषियों ने जीवन की राह के रूप में सृजा था, वह लुप्तप्राय है। फिर से कोई ऋषि जाग्रत् हो, मनीषी सक्रिय हो; जो विचारों के इतिहास में क्रान्ति करे, धर्म का आच्छादन तोड़े, विज्ञान को दिशा दे और दर्शन को जीवन की राह के रूप में सँवारे। सच में दर्शन जीवन की राह ही तो है।

विचारों के इतिहास में परम पूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का व्यक्तित्व महाक्रान्ति का पर्याय बनकर उभरा है। वह उन विरल प्रज्ञा पुरुषों में थे, जिनमें ऋषित्व और मनीषा एकाकार हुई थी। जिन्होंने धर्म का आच्छादन तोड़ने, दर्शन को बुद्धिवाद के चक्रव्यूह से निकालने की हिम्मत जुटाई। धर्म-दर्शन और विज्ञान के कटु-तिक्त, कषाय हो चुके सम्बन्धों को अपनी अन्तर्प्रज्ञा की निर्झरिणी से पुनः मधुरता प्रदान की। अवतारी प्रवाह सदा एक ही लक्ष्य सामने लेकर आते रहे हैं-समय की दार्शनिक भ्रष्टता को दूर कर उसे उच्चस्तरीय चिन्तन स्तर तक घसीट ले जाना।[1] श्रेष्ठता का आधार सनातन है, निकृष्टता की दिशाएँ भी गिनी-चुनी हैं। उतार-चढ़ाव उसी झूले पर झूलते रहते हैं; पर पुरानी सुधार प्रक्रिया हर बार नई बदलनी पड़ती है; क्योंकि मूल तथ्य यथास्थान रहने पर भी सामयिक परिस्थितियों के साथ जुड़ी हुई विकृतियों का स्वरूप पहले की अपेक्षा सर्वथा भिन्न होता है। भगवान बुद्ध के समय यज्ञीय हिंसा की वाममार्गी असुरता अट्टहास कर रही थी तो स्वामी दयानंद के समय में पाखण्डी अनाचार गगनचुम्बी बना हुआ था। विवेकानंद ने भारतीय संस्कृति की अनास्था के दुष्परिणाम देखे और गाँधी ने जनमानस में घुसी हुई पराधीनता प्रिय निराशा को जड़ जमाए पाया। इन सबने अपने सुधार आन्दोलन अलग-अलग ढंग से चलाए। वे मूलतः एक ही सुधार प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होते हुए भी बाह्य दृष्टि से सर्वथा भिन्न थे। उनमें न एकरूपता थी, न एक दिशा। कारण स्पष्ट है कि समय-समय पर विकृतियाँ पृथक्-पृथक् परिधान ओढ़कर आती हैं।

अपने युग में अनाचार की गतिविधियाँ पूर्वकाल की अपेक्षा भिन्न हैं। इस समय दार्शनिक भ्रष्टता ने जिस दिशा में बहना आरम्भ किया है वह भूतकालीन दिशा से भिन्न है। इसलिए सुधार की प्रक्रिया भी नवीनतम होनी चाहिए, उसमें सामयिक विकृतियों की समीक्षा और निराकरण के सामयिक आधार रहने चाहिए।[2]

विचार जगत् में प्रज्ञा पुरुष परम पूज्य गुरुदेव का आविर्भाव इसी उद्देश्य से हुआ था। उन्होंने लोकजीवन की आर्त्तावस्था, विपन्न मानसिकता को अपने हृदय की धड़कनों में अनुभव किया और अपनी रचनात्मक प्रतिभा के बलबूते समाधान की शोध में तत्पर हुए। उनके दार्शनिक विचारों का उद्देश्य बौद्धिक महत्त्वाकांक्षा

---

१. Dr. K. Sarada-Man, Modernity and Ethics, Prabuddha Bharat, Vol. 95, No. 6, pp.12

२. आचार्य श्रीराम शर्मा- उत्कृष्टता के दर्शन का बुद्धिवादी प्रतिपादन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३८, अंक ३, पृ. २२

से उपजे किसी मत या वाद की महत्ता का प्रतिपादन नहीं है; बल्कि जीवन भर किए गए महत्त्वपूर्ण प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्षों का जिज्ञासुओं में वितरण है। इन दुष्कर एवं कष्टसाध्य प्रयोगों के लिए ऊर्जा देने वाली प्रेरणा का जिक्र करते हुए वह लिखते हैं-"पीड़ित मानवता की, विश्वात्मा की, व्यक्ति और समाज की व्यथा-वेदना अपने भीतर उठने और बेचैन करने लगी। आँख-दाढ़ और पेट के दर्द से बेचैन मनुष्य व्याकुल फिरता है कि किस प्रकार, किस उपाय से इस कष्ट से छुटकारा पाया जाय? क्या किया जाए? कहाँ जाया जाए? की हलचल मन में उठती है और जो संभव है उसे करने के लिए क्षणभर का विलम्ब न करने की आतुरता व्यग्र होती है। अपना मन भी ठीक ऐसा ही बना है।"[3]

इस पीड़ा की विकलता का उल्लेख करते हुए उनके शब्द हैं-"हमारी कितनी रातें सिसकते बीती हैं, कितनी बार हम बालकों की तरह बिलख-बिलख कर फूट-फूटकर रोए हैं, इसे कोई कहाँ जानता है? लोग हमें संत, सिद्ध, ज्ञानी मानते हैं, कोई लेखक, वक्ता, विद्वान्, नेता, समझते हैं; पर किसने हमारा अन्त:करण खोलकर पढ़ा-समझा है; कोई उसे देख सका होता तो मानवीय व्यथा-वेदना की अनुभूतियों से, करुण कराह से हाहाकार करती एक उद्विग्न आत्मा भर इन हड्डियों के ढाँचे में बैठी हुई दिखाई पड़ती।"[4] अन्तरात्मा की इसी करुणा ने उन्हें विचारों का अन्वेषण करने के लिए विवश किया। तथ्य को स्पष्ट करते हुए उनका कहना है-'हमारा जीवन रूढ़ियों और विडम्बनाओं की धुरी पर नहीं घूमा है। उसमें अति महत्त्वपूर्ण प्रयोगों, परीक्षणों और अनुभवों का एक अच्छा-खासा भण्डार जमा हो गया है। हम चाहते थे कि यह उपलब्धियाँ अपने अनुयायियों को देते जाएँ; ताकि वे भी हमारी ही तरह जीवन की सार्थकता का संतोष अनुभव कर सकें। लेख लिखने और प्रवचन करने का हमारा धन्धा नहीं है। पत्रिकाएँ और पुस्तकें छापकर बुकसेलर का धन्धा करने वाले दुकानदार हम नहीं हैं। सिर दर्द के अतिरिक्त कुछ हाथ न लगने वाले धन्धे की अपेक्षा हम अपनी प्रतिभा के बल पर वे धन्धे कर सकते हैं, जिनमें मालामाल होने की पूरी गुंजाइश है। हमारे परामर्श से हजारों-लाखों मनुष्यों ने अपनी गतिविधियाँ मोड़कर सम्पन्नता प्राप्त की है। फिर हम उन प्रयोगों को अपने लिए भी कर सकते थे। बुक-सेलरों का धन्धा जिसमें झंझट हजार मन और लाभ रत्ती भर है, हमारे लिए क्या रुचिकर हो सकता है? इसी प्रकार प्रवचनों में सिर खपाकर दस-बीस रुपये दक्षिणा के लेने में हमें क्या रुचि हो सकती थी? हमारी प्रतिभा, विद्या और क्षमता बहुमूल्य है। उसको बाजार में भुनाया जाय तो बहुत कुछ वसूल हो सकता है। लेखन और प्रवचन हमारा व्यवसाय नहीं, अंत:करण की ऐंठन है, जो निरन्तर इसलिए होती है कि हमारी अनुभूतियों और उपलब्धियों का लाभ हमारे सहचरों को भी मिलना चाहिए। उपरोक्त दोनों ही क्रियाकलाप हम अपनी आन्तरिक सम्पदा दूसरों को हस्तान्तरित करने के उच्च उद्देश्य से चलाते रहे हैं।"[5]

विचारों की यह आन्तरिक सम्पदा बौद्धिक सोच अथवा सूझबूझ की उपज नहीं है। वैदिक मंत्रों की भाँति इसका अवतरण चेतना के उच्चतम स्तर से हुआ है। इस सत्य को उद्घाटित करते हुए प्रज्ञा पुरुष गुरुदेव का कहना है-"अखण्ड ज्योति का कलेवर छपे कागजों के छोटे पैकिट जैसा लग सकता है; पर वास्तविकता यह है कि उसके पृष्ठों पर किसी की प्राण चेतना लहराती है और पढ़ने वालों को अपने आँचल में समेटती है, कहीं से कहीं पहुँचाती है। बात लेखन तक सीमित नहीं हो जाती, उसका मार्गदर्शन और अनुग्रह-अवतरण किसी ऊपर की कक्षा से होता है। इसका अधिक विवरण जानना हो तो एक शब्द में इतना ही कहा जा सकता

३. आचार्य श्रीराम शर्मा- सुनसान के सहचर, पृ ९९
४. वही, पृ १००-१०१
५. आचार्य श्रीराम शर्मा- इन कर्त्तव्यों की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ११, पृ. ६२

है कि हिमालय देवात्मा क्षेत्र में निवास करने वाले ऋषि चेतना का समन्वित अथवा उसके किसी प्रतिनिधि का सूत्र संचालन है।'[६] चेतना के उच्चतम स्तर से अवतरित हुए, अंतःकरण की करुणा में धारण किए गए, बौद्धिक तीक्ष्णता से सँवारे गए इन विचारों में कितनी आभा है, कितनी रोशनी है यह कहने की नहीं; अनुभव की बात है। जिनने इन्हें पढ़ा, तड़पकर रह गए। रोते हुए आँसुओं की स्याही से जलते हृदय ने इन्हें लिखा है, सो इनका प्रभाव होना ही चाहिए, हो रहा है और होकर रहेगा।[७]

इस तरह उनके दार्शनिक विचारों के स्वरूप एवं दार्शनिक के रूप में उनकी विशिष्टता को विचारों के इतिहास में अनुपम एवं अद्वितीय ही कहा जाएगा। उनकी दार्शनिक उपलब्धियों में आदमी की उलझनों के आध्यात्मिक समाधान सँजोए हैं। इसके विविध पहलुओं की आपस में सानुकूलता तथा अन्य दर्शनों में उसके महत्त्व को सौभाग्यवती मंदाकिनी ने बड़ी कुशलतापूर्वक अपने इस ग्रंथ में सँजोया है। सौभाग्यवती मंदाकिनी ने अपने शैशव काल से ही परम पूज्य गुरुदेव एवं वंदनीय माताजी का लाड़-प्यार पाया है। वह उन्हीं के वात्सल्य की छाँव में पली-बढ़ी हैं। अपने बचपन से ही इन्होंने प्रज्ञा पुरुष गुरुदेव के जीवन और विचारों की पवित्रता और प्रखरता को जाना और परखा है। मेरे लिए तो चि. मंदाकिनी अपनी सगी पुत्री की भाँति हैं। इनकी दार्शनिक-आध्यात्मिक प्रतिभा से मेरा परिचय इनके बचपन से ही रहा है। इनके शोध अध्ययन एवं ग्रंथ लेखन के बारे में इतना ही कहना सार्थक होगा कि परम पूज्य गुरुदेव का दर्शन इनके लिए तर्क की विचारणा नहीं, सत्य की अनुभूति है। *'प्रज्ञा पुरुष का समग्र दर्शन'* नाम से प्रकाशित हो रहा यह ग्रंथ चि. मंदाकिनी के दार्शनिक-आध्यात्मिक सत्यान्वेषण के निष्कर्षों का सार-संग्रह है। इनके इस शोध अध्ययन की सीमा दर्शन एवं धर्म की समस्याओं तक सीमित होते हुए भी व्यापक है। इस परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति और समाज के विविध पहलुओं पर विचार किया गया है। इस ग्रंथ के विविध अध्यायों के चुने हुए विषय हैं-विचारों का उद्‌भव-विकास एवं क्रान्ति, दार्शनिक प्रणालियाँ, ईश्वर की अवधारणा, आत्मसत्ता पर प्रकाश, सृष्टि विचार, विकास की ओर, वैज्ञानिक अध्यात्म एवं आध्यात्मिक समाज और अन्त में निष्कर्ष पूर्ण उपसंहार।

योजना के अनुसार हर अध्याय की विषय वस्तु अगले से सम्बद्ध है। इस प्रकार विचारों का उद्‌भव, विकास एवं क्रान्ति में मानव के उदय के साथ विचारों का उदय, विचारों के विस्तार में धर्म-दर्शन एवं विज्ञान का विकास तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान का दार्शनिक प्रणालियों से सहज सम्बन्ध है; क्योंकि विचारों का अग्रगमन ही ज्ञान के रूप में होता है और उसकी प्राप्ति हेतु विभिन्न पद्धतियों की जरूरत है। अध्ययन पद्धतियों से ही हम परम सद्वस्तु की ओर बढ़ते हैं जो कि दार्शनिक चिन्तन में निर्वैयक्तिक व धर्म में ईश्वर है। इस सद्वस्तु का एक अन्य महत्त्वपूर्ण रूप है, 'आत्मा' जो पहले से घनीभूत है। वेदों, उपनिषदों के समय से सृष्टि पर विचार दार्शनिक परम्परा का गौरवपूर्ण अविभाज्य अंग रहा है। इसी का निर्वाह करते हुए सृष्टि विचार का क्रम प्रस्तुत किया गया है। एक और अनेक, सत्ता और संभूति का सम्बन्ध इसमें दर्शाया गया है। इसी प्रयास का अगला चरण है-विकास। जिसमें सृष्टि के क्रम विकास सहित मानव की विकास यात्रा के पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती प्रश्नों का विवेचन है। मनुष्य के अतीत, वर्तमान और भविष्य से अपना सम्बन्ध रखने के कारण यह विषय आदि से दार्शनिकों के चिन्तन का केन्द्र रहा है। परम पूज्य गुरुदेव के दर्शन का भी यह केन्द्रीय तत्त्व बना है।

वैज्ञानिक अध्यात्म इसी का अगला चरण है। प्रज्ञा पुरुष गुरुदेव के अनुसार यह मानव के भावी विकास

६. आचार्य श्रीराम शर्मा-अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक १, पृ. २७

७. आचार्य श्रीराम शर्मा-युग परिवर्तन के छोटे किन्तु महान शस्त्रागार, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ८, पृ. ४१

की सचेतन प्रणाली है। इसमें अध्यात्म के विविध तत्त्वों की विवेचना के साथ इसकी वैज्ञानिकता के तथ्यात्मक आकलन का प्रयास-प्रयोगों के माध्यम से किया गया है। इस अध्याय की विषयवस्तु पूज्य गुरुदेव के दार्शनिक, अध्यात्मिक प्रयासों की जीवन्त बिन्दु है। वैज्ञानिक अध्यात्म की ही परिणति है, आध्यात्मिक समाज। दोनों एक साथ मिलकर ही मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण के तथ्य का स्पष्टीकरण करने में समर्थ होते हैं। इसी उद्देश्य से उन्होंने व्यक्ति, परिवार एवं समाज निर्माण का अभियान रचा। साथ ही आध्यात्मिक समाजवाद की सृष्टि की, जो समाज दर्शन में एक नया आयाम जोड़ती है और अन्त में उनकी उपरोक्त दार्शनिक उपलब्धियों का निष्कर्षपूर्ण उपसंहार प्रस्तुत किया गया है। जिसमें उनके द्वारा किए गए योगदान का संक्षिप्त परिचय है।

सौभाग्यवती मंदाकिनी की यह शोध साधना रचनात्मक दृष्टि पर आधारित है। प्रत्येक अध्याय में विषय के मुख्य बिन्दुओं का सैद्धान्तिक विवेचन करने, उसमें एक विशेष सिद्धान्त का रचनात्मक विकास करने के साथ इसके परिप्रेक्ष्य में प्रज्ञा पुरुष आचार्य जी के सिद्धान्त के मूल्यांकन की चेष्टा है। इस सम्बन्ध में ग्रंथ लेखिका का विचार है कि सत्य को समग्र होना चाहिए। उसमें अन्य मतों का तिरस्कार न होकर सामञ्जस्य हो। इस शोध साधना में इस मौलिक धारणा पर भी बल है कि अनुभव समस्त दर्शन का आधार है। अनुभव की समग्रता ही दर्शन की समग्रता है। दर्शन को भी इन्द्रियगत, धार्मिक एवं गुह्य अनुभवों से रीता नहीं रहना चाहिए। धर्म और दर्शन का सम्बन्ध घनिष्ठ है; क्योंकि दोनों परम सद्वस्तु तक पहुँचते हैं, भले ही मार्ग अलग-अलग हों। विज्ञान भी इनका विरोधी नहीं है, कारण कि उसकी चेष्टा भी उसी ओर पहुँचने की है। मार्ग का भटकाव भले ही उसकी देरी का कारण बन रहा हो। यह स्वीकारात्मकता दर्शन को गरिमा प्रदान करती है। वैचारिक संघर्ष का वर्तमान युग इसी की तलाश में तो है। यही नहीं, जीवन और दर्शन दोनों की निकटता भी वांछित है। जिसका अभाव देखकर ब्रैडले के मुख से निकला था-"दर्शन हमारी मूल प्रवृत्तियों पर आधारित कारणों की खोज है।"[८] प्रज्ञा पुरुष गुरुदेव ने अपने दर्शन में इसी भेद को मिटाने की साधना की है। और चि. मंदाकिनी ने इसी को अपने ग्रंथ में साकार किया है। आज जरूरत भी सभी खाइयों को पाटने की है। चाहे वे मानव और मानव के बीच की हों अथवा मानव और प्रकृति के बीच की या मानव और ईश्वर के बीच की। दर्शन-मनोविज्ञान, विज्ञान या धर्म हो अथवा मानव ज्ञान की कोई अन्य शाखा, इनमें विरोध अनिवार्य नहीं है। समग्र दर्शन को इसी स्वरूप की अपेक्षा है। इसके विश्वरूप में मानव ज्ञान की प्रत्येक शाखा को अपना स्वत्व मिलना चाहिए।

अपने दर्शन में मानव-ज्ञान की प्रत्येक शाखा को गरिमापूर्ण स्थान देने वाले प्रज्ञा पुरुष गुरुदेव वेदों की ऋचाओं, उपनिषदों की श्रुतियों के द्रष्टा की भाँति क्रान्तिदर्शी ऋषि हैं, साथ ही शंकर, मध्व की परम्परा में भाष्यकार भी। अपनी गहन साधना के बल पर सत्य की गंगोत्री उनका आवास बनी थी। वे परम प्रज्ञा को उपलब्ध संत हैं। उनका दार्शनिक चिन्तन लयबद्ध संगीत है, जो उनके अपने अनुभव पर आधारित है। उनका दर्शन प्राच्य और पाश्चात्य चिन्तन की गंगा और यमुना का पवित्र संगम है, जिसमें सरस्वती की सी मौलिकता गुप्त होते हुए भी प्रकट है। वे ईसा के स्वर्ग राज्य को धरती पर अवतरित करने का आयोजन करने वाले विलक्षण देवमानव एवं खोखली हो रही संस्कृति व सभ्यता को, अपनी व्यथा के भार से लड़खड़ाती मानव जाति के त्राण हेतु नवयुग के आगमन के संदेशवाहक तथा उसके आयोजक, युग प्रवर्तक लोकनायक हैं।

---

८. एफ. एच. ब्रैडले-एपीयरेन्स एण्ड रियलिटी-प्राकथन

अपनी अनुभूति पर आधारित होने पर भी उनके चिन्तन में पूर्व और पश्चिम अनायास समा गए हैं। सहस्राधिक पुस्तकों एवं अखण्ड ज्योति के लक्षाधिक पृष्ठों में लहराते उनके चिन्तन सागर में कहीं निषेध का भाव नहीं है। यद्यपि उनकी दार्शनिक प्रणाली अपनी मौलिक साधना के अनुभव पर आधारित है, फिर भी वे कोरे रहस्यवादी नहीं हैं। ब्रैडले व शंकर के समान वे तार्किक हैं तथा हेगल और काण्ट के समान बौद्धिक क्षमता से सम्पन्न बुद्धिवादी।

उनके प्रयासों का उद्देश्य धरती पर स्वर्गीय जीवन की संस्थापना है। यह संस्थापना पहले मनुष्य के अन्तर में देवत्व के रूप में उभरेगी; किन्तु यहाँ अन्तरंग जीवन में उभरने का अर्थ व्यक्तिगत अहंकार की सृष्टि नहीं है; बल्कि यह व्यापक जीवन की ओर प्रथम पग है। नूतन भविष्य के आध्यात्मिक समाज में पारस्परिक सहयोग के लिए बनावटीपन की जरूरत नहीं होगी। 'कैसा होगा आने वाला प्रज्ञायुग ?','सतयुग की वापसी' जैसी कृतियाँ स्पष्ट करती हैं कि व्यक्ति-व्यक्ति और समाज-समाज में बाह्य विविधता भले ही हो, पर एक सहज सहानुभूति सर्वत्र देखी जा सकेगी। सभी मनुष्य अपने को परमेश्वर का पुत्र मानेंगे। स्वर्गीय जीवन की यह भावी सृष्टि ही उनके विशाल चिन्तन कोश में समायी है। प्रज्ञा पुरुष परम पूज्य गुरुदेव पहले महायोगी हैं, फिर विचारक एवं दर्शनकार। उनके विचार योग के गहन आयामों में प्रत्यक्ष सत्य, सूक्ष्म से स्थूल में घटित होने वाली भविष्य की अनुभूति का बौद्धिक विश्लेषण हैं। उनका दार्शनिक चिन्तन विचारों के इतिहास में क्रान्ति होते हुए भी किसी भी विचार का स्थान नहीं ग्रहण करता; बल्कि उसे आदर देकर पहले की अपेक्षा कहीं अधिक उपादेय बनाता है। एक अपूर्व सामञ्जस्य की सृष्टि यहाँ है।

सौभाग्यवती मंदाकिनी द्वारा रचित "*प्रज्ञा पुरुष का समग्र दर्शन*" नाम का यह ग्रंथ प्रज्ञा पुरुष परम पूज्य गुरुदेव द्वारा प्रेरित और प्रवर्तित विचार क्रान्ति का बीज है और विक्टर ह्यूगो के शब्दों में जो उन्होंने अपने 'सत्रह सौ तिरानबे' नामक उपन्यास में कहा है-"क्रान्ति के बीज एक-दो महान् विचारकों के दिमाग में जमते हैं। वहाँ से फूल-फलकर बाहर आए कि छुतहे रोग की तरह अन्य दिमागों में उपजकर बढ़ते हैं। सिलसिला जारी रहता है। क्रान्ति की बाढ़ आती है। चिन्गारी से आग और आग से दावानल बन जाता है। बुरे-भले सब *तरह के लोग उसके प्रभाव में आते हैं। कीचड़ और दलदल में भी आग लग उठती है।*"[१] प्रज्ञा पुरुष गुरुदेव के समग्र दर्शन का भविष्य भी कुछ ऐसा ही सोचा जा सकता है। जो अपनी व्यापकता में मानव के भविष्य को समृद्ध एवं कल्याणमय बना सकेगा। इस ग्रंथ की लेखिका को मेरे कोटि-कोटि आशीर्वाद। प्रज्ञा पुरुष परम पूज्य गुरुदेव की कृपा की अमृतवर्षा उन पर सदा होती रहे और वह उनके दार्शनिक विचारों के अध्ययन-अनुशीलन में सदा ही निरत रहें, यही कामना है।

डॉ. प्रणव पण्ड्या
एम. डी. (मेडि.)
निदेशक
ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान
प्रमुख
अखिल विश्व गायत्री परिवार
शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार

१. विक्टर ह्यूगो-'सत्रह सौ तिरानबे'



अध्याय १

विचारों का उद्भव, विकास एवं क्रान्ति

विचार और मनुष्य दोनों एक दूसरे से पहचाने जाते हैं। यह पहचान इतनी गहरी है कि दोनों एक दूसरे के बगैर अपने अस्तित्व को बरकरार नहीं रख सकते। विचारों के अभाव में मनुष्य अपनी मनुष्यता खो बैठेगा। और मनुष्य के बिना विचार अपनी अभिव्यक्ति गँवा देंगे। यह एकात्मता इतनी सघन है कि दोनों का स्वरूप और विकास आपस में पूरी तरह निर्भर है। मनुष्य के गुण-कर्म-स्वभाव से उसके विचारों के स्तर और स्थिति का सही आकलन किया जा सकता है। यही बात विलोम क्रम में भी सत्य है अर्थात् किसी के विचारों के स्वरूप को पहचान कर उसके व्यक्तित्व के स्तर और स्थिति को जाना जा सकता है।

यह तथ्य व्यक्ति विशेष तक सीमित न होकर समूह-समाज और समूची मानवता तक व्यापक है। समूह अथवा समाज विशेष की चिन्तन शैली, वैचारिक स्तर से वहाँ की सभ्यता, रहन-सहन, आचार-व्यवहार और जीवन क्रम की बारीकियाँ जानी जा सकती हैं। अथवा यह समझकर कि उसका जीवन स्तर क्या है? इस बात से अवगत हुआ जा सकता है कि इस समाज ने अपने विचारों में कितनी प्रगति की होगी, कितना उत्कर्ष पाया होगा। वैदिक युग को स्वर्ण युग-सतयुग कहने के पीछे तथ्य यही है कि उसकी चिन्तन पद्धति-वैचारिक स्तर उत्कृष्ट था। और यदि आज यह नहीं है तो कहीं न कहीं विचारों के स्तर में गिरावट आयी होगी।

आचार्य जी के शब्दों में- ''सुख-साधनों से भरा विश्व- बुद्धि और शक्ति का धनी मनुष्य- इन दोनों का समन्वय तो स्वर्ग ही सृजन कर सकता है फिर यह नारकीय वातावरण कैसे बन गया। इस आश्चर्य पर गम्भीरता से विचार करने पर यह निष्कर्ष सामने आता है कि मनुष्य ने अपनी आकांक्षा, विचारणा, दिशा और आस्था को उत्कृष्टता से विरत कर निष्कृष्टता से जोड़ दिया। इस एक ही भूल ने सब कुछ उल्टा कर दिया।''[१] इस वैचारिक विकृति का जैसे-जैसे समाधान होता चला जाएगा- आत्मिक विभूतियाँ वैसे-वैसे सजग होती चलेंगी, परिणाम में व्यक्ति तथा समाज को दुःखद परिस्थितियों से छुटकारा प्राप्त हो जाएगा।

विचार और मनुष्य का पारस्परिक एकात्म एक तथ्य है। और आचार्य जी के अनुसार - ''इस तथ्य का जितनी अच्छी तरह, जितनी गहराई तक समझ लिया जाय उतनी ही जल्दी वर्तमान उलझनों के सुलझने और सुख- शान्ति के वातावरण में रहने की सम्भावना बढ़ती चली जाएगी।''[२] यह पारस्परिक एकात्मता इस सत्य को उजागर करती है कि विचारों का इतिहास मनुष्य के इतिहास में समाया हुआ है। और विचारों के उद्भव को मानव के उद्भव में ही पाया जा सकता है।

आदि मानव का जन्म एवं विचारों की उदय भूमि

आदि मानव का जन्म कहाँ हुआ? इस प्रश्न के समाधान के लिये नृतत्त्वशास्त्रीय विवेचन आवश्यक है। अध्ययन के इस क्रम में पाते हैं कि विश्व में चार मुख्य जातियाँ पायी जाती हैं- १. श्वेत, इन्हें काकेशस कहते हैं। ये लम्बे आकार के होते हैं। २. पीले, मंगोलियन जाति के। लम्बी आकृति, चपटी नाक इनका चिह्न है। ३. काले, काला एवं मोटी आकृति के नीग्रो। ४. लाल, यह जाति अमेरिका में ही मिलती है। ये रेड इण्डियन कहलाते हैं।

इन चारों के अलावा एक पाँचवी जाती है, जो भारतीयों की है। इस जाति मे उपर्युक्त चारों रंगों का मिश्रण है। भारत के एक ही प्रान्त में उपर्युक्त चारों रंगों से कुछ न कुछ मिलते-जुलते आकार के लोग पाये जा सकते हैं। ऐसी कोई सम्भावना किसी आधार पर प्राप्त

---

१ आचार्य श्रीराम शर्मा- विचारणा को कुमार्गगामी न बनने दें, युग निर्माण योजना, वर्ष ६, अंक ४, पृ. १

२. वही, पृ. १६

नहीं है, जिससे कहा जा सके कि भारतीय मानव जाति उपर्युक्त चारों जातियों की संकरता से उत्पन्न हुई। जान यही पड़ता है कि यही जाति विश्व में फैली और दीर्घकाल में विभिन्न देशों की जलवायु आदि के भेद से चार मुख्य रूपों में हो गई। ऐसा मानने के कारण है -

१. भारतीय जाति में चारों रंगों के लोगों का पाया जाना।

२. भारतीय जातियों में चारों जातियों की शारीरिक गठन का मिलना। जैसे ऊंची, दबी, गोल, लम्बी मस्तकाकृति। उठी या चपटी नाक। लम्बी, ठिगनी, पतली, मोटी शरीराकृति तथा इकहरी या दुहरी अस्थि गठन की आकृतियां।

३. मनुष्यों में चार ही प्रकार का रक्त भी पाया जाता है और भारतीयों में चारों प्रकार के रक्त के मनुष्य मिलते हैं।

४. भारतीय लोगों में काले सीधे, काले घुँघराले, सुनहरे-भूरे केशों का पाया जाना। अब विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य के आकार के संस्कार माता-पिता के क्रोमोसोमों में स्थित जीन्स में रहते हैं और जीन में स्थित संस्कार अनेक पीढ़ियों तक सुप्त रहने के पश्चात किसी शिशु में प्रकट हो सकते हैं। संसार की दूसरी किसी मनुष्य जाति में अब सब जातियों के आकार के 'जीन' नहीं रहे। वर्णसंकर हुए बिना श्वेत जाति से नीग्रो या मंगोलियन आकृति का बालक उत्पन्न नहीं हो सकता; किन्तु भारतीयों में अभी भी किसी कुल में बिना वर्ण संकरता के कभी भी नीग्रो, मंगोलियन या काकेशस आकृति का शिशु उत्पन्न हो जाता है। इसका अर्थ है मनुष्य जाति की मूल जाति भारतीय है। अन्यत्र बस जाने पर जलवायु के प्रभाव से दीर्घकाल में जीन विशेष इससे नष्ट हुए।

इन तथ्यों के अलावा एक सत्य यह भी है कि यदि कभी सभ्यता भली प्रकार विकसित रह चुकी है, तो उसके लिये उपर्युक्त स्थान भी चाहिए। विद्वानों ने भौगोलिक स्थिति का अध्ययन करके पता लगाया है कि पूर्व काल में अमेरिका तथा यूरोप की ऐसी स्थिति नहीं थी कि वहाँ मनुष्य उत्पन्न हो सकते। डाक्टर ऐन्सन का कहना है- "मनुष्य के चमड़े पर ध्रुव प्रदेश के पशुओं के समान लम्बे बाल नहीं हैं। इसके चमड़े पर से पसीना निकालने के लिए रोम हैं। इसलिए यह अति शीत प्रदेश में बसने वाला प्राणी नहीं है।" वे स्पष्ट बतलाते हैं कि मनुष्य ऐसे स्थान पर उत्पन्न हुआ, जहाँ स्वेद आता हो। जहाँ प्रत्येक ऋतुएँ होती हों, क्योंकि जो मानव जाति सब प्रकार के देशों में जाकर रह सकी हो, उसे सब प्रकार के वातावरण की पहले से अभ्यस्त होनी चाहिए। वहाँ मनुष्य की प्रारम्भिक भोजन सामग्री फल सरलता से प्राप्त हों।

टेलर साहब के अनुसार- यह स्थान स्वर्ग तुल्य कश्मीर ही है। विश्व में ईरान की पारसी जाति और भारतीय हिन्दू जाति यहीं प्राचीनतम संस्कृतियों के उपासक मौजूद हैं। दोनों अपना मूल निवास हिमालय को मानते हैं। पारसियों, यहूदियों, क्रिश्चियनों के धर्मग्रन्थों के अनुसार आदि सृष्टि ऐसे स्थान पर हुई, जहाँ दस महीने सर्दी और दो महीने गर्मी पड़ती है। कहना न होगा यह स्थान मानसरोवर से कश्मीर तक है। पारसियों के धर्मग्रन्थों के अनुसार हिन्दुकुश पर्वत के पास मूल सृष्टि हुई। इसे वहाँ 'ईरान वेज' कहा गया है।

महाभारत के अनुसार- "सप्तरुचि तीर्थ के पास वितस्ता नदी की शाखा देविका नदी के तट पर मनुष्य जाति की उत्पत्ति हुई।"[३] प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है कि आदि मानव का जन्म भारत के उत्तराखण्ड अर्थात् ब्रह्मावर्त में हुआ। इब्नेअली हातिम ने इस सत्य को शब्द देते हुये कहा है कि "हिन्द की घाटी में आदम बहिश्त से उतरा था।"[४] इतिहासवेत्ता ए.एल. बाशम के अनुसार- "ईसा से एक लाख साल से भी अधिक पहले मानव ने पहली बार अपने जीवन के प्रथम चिह्न भारत में छोड़े।"[५]

---

३. अथ गच्छत राजेन्द्र देविका लोक विश्रुताम्।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ॥ -महाभारत

४. सैयद महमूद - हिन्दू मुस्लिम कल्चरल एकार्ड, पृष्ठ १८

५. More than 100,000 years before christ that man first left surviving traces in India
A.L. Basham - The wonder that was India p 10

आचार्य जी के शब्दों में कहें तो- "वस्तुत: प्रथम मानव इस क्षेत्र में अर्थात् भारत वर्ष में जन्मा।"[6]

◆ मानव के जन्म के साथ विचारों का उदय

मानव के जन्म के साथ ही विचारों का उदय हुआ। मानव मन व परिस्थितियों की अन्तर्क्रिया से इनकी अभिव्यक्ति शुरू हुई। जीवन की आवश्यकता, उत्कर्ष की अभीप्सा, विश्व ब्रह्माण्ड के प्रति जिज्ञासा- यही वह सम्मिलित स्रोत था जिससे मानव की सोच का प्रारम्भ हुआ- विचार उदय हुए। विचारों के उदय के साथ-साथ उसके आदान-प्रदान की समस्या आयी, जिसे प्रारम्भ में पारस्परिक संकेतों से हल किया गया। इसी विकास क्रम में क्रमश: भाषा का विकास हुआ। भाषा विचारों का वाहन बनी- जो मनुष्यता के एक सिरे से दूसरे सिरे तक इन्हें पहुँचाने का काम करती थी। अपने प्रारम्भिक दिनों में भाषा के लिखने की पद्धतियाँ विकसित न थी। इसे सुना जाता था और याद किया जाता था। इस क्रम में प्रथम विचार कोश के रूप में 'श्रुति' और 'स्मृति' प्रकाश में आयी। यही वह पहली विधि थी, जिसके माध्यम से उपयोगी विचार संग्रहीत किये जाते थे। बाद में लिपि का निर्माण हुआ। इस पहली लिपि को-प्रथम भाषा को अधिकांश विद्वान 'संस्कृत' के रूप में स्वीकार करते हैं। इसे आदि भाषा अथवा भाषाओं की जननी का दर्जा प्राप्त है। मैक्समूलर इसको 'ग्रीक' व 'लैटिन' का भी मूल मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में- "हमें उस भाषा में प्रकृति व प्रत्यय के योग से बनी 'अस्मि' ग्रीक 'एस्मि' जैसी यौगिक क्रियाएँ मिलती हैं। 'मैं हूँ' जैसे भाव को व्यक्त करने के लिय भला किन्हीं दूसरी भाषाओं में 'अस्मि' जैसा शुद्ध और उपयुक्त शब्द कहाँ मिल पाएगा।"[7] संस्कृत के इस महत्त्व को व्यक्त करते हुये वह आगे कहते हैं- "इतिहास में इसका एक अलग ही व्यक्तित्व और महत्त्व है। यह हमारे पूर्वजों का कार्य था, एक ऐसा कार्य जो उस सूत्र का प्रतिनिधित्व करता है, जो हमें उन लोगों के विचारों, सोचने के तरीकों तथा चिन्तन धारा से जोड़ता है, जिन्होंने सबसे पहले हमारे लिये सोच-विचार किया था और उस वाणी के साथ भी हमें जोड़ देता है, जो हमारे लिये अपने पूर्वजों के मुख से सर्वप्रथम व्यक्त हुई थी। और आज हजारों, हजार ही क्यों लाखों वर्ष ही क्यों न बीत गए हों, अब भी हम उन्हीं के विचारों को सोचते और उन्हीं के शब्दों में बोलते हैं।"[8]

विश्व की प्राय: हर भाषा में किन्हीं न किन्हीं रूपों में संस्कृत भाषा के शब्दों का प्रचलन है। अफगानिस्तान की भाषा 'पश्तो' संस्कृत शब्दों से भरी पड़ी है। काबुल नगर और काबुल नदी दोनों के ही नाम संस्कृत कुभ धातु से व्युत्पन्न है। इसी तरह 'ईराक' पुकारा जाने वाला देश का नाम भी संस्कृत की 'इर' धातु से व्युत्पन्न है। 'अलबेरूनी का भारत' पुस्तक के आमुख में ३१ वें पृष्ठ पर डॉक्टर एडवर्ड डी. सशाऊ का कहना है कि बल्ख में गांव 'नौ बहार' 'नव विहार' *अर्थात् नवीन सांस्कृतिक केन्द्र अथवा आश्रम से व्युत्पन्न* संज्ञा है। बल्ख नाम से पुकारे जाने वाले क्षेत्र का नाम भी भारतीय महाकाव्यों में उल्लेखित 'बाह्लिक' से व्युत्पन्न है। इसी तरह 'ईरान' शब्द 'ईरानम्' और 'परशिया' 'परसिका' से व्युत्पन्न है। फारसी के आन्द्र, ओग्नि, वेरेथ्र के मूल शब्द क्रमश: इन्द्र, अग्नि और वृत्र ही हैं। पारसी दिनों और महीनों के संस्कृत मूलक होने की जांच पड़ताल 'ओरस्ट्राइनथ्योलॉजी' पुस्तक से संग्रह की जा सकती है।

फारसी भाषा के समान ही लैटिन भाषा भी संस्कृत से भरी पड़ी है। हमें पेटर, मेटर, फादर, मदर संस्कृत के पितृ, मातृ शब्दों से प्राप्त होते हैं। पैट्रसाइड (पितृहत्या), मैट्रसाइड (मातृहत्या), स्वसाइड (आत्महत्या) सभी संस्कृत शब्द हैं; क्योंकि साइड (छिद्) का अर्थ काटना है और पितृ, मातृ, स्व क्रमश: पितृ (फादर), मातृ (मदर), और आत्म (वन सेल्फ) के द्योतक हैं। लैटिन के माध्यम

६. आचार्य श्रीराम शर्मा- सृष्टि का प्रथम मानव आर्यावर्त में जन्मा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ६, पृ. ७

७ मैक्समूलर- भारत की विश्व को देन 'India what it can teach us' का अनुवाद
अनुवादक - डॉ. भवानी शकर त्रिवेदी, पृ. २४

८. वही, पृ. २५

से संस्कृत भाषा का प्रवेश अंग्रेजी में हुआ। अंग्रेजी के प्रीच, अडोर, एट, डेसिमल शब्दों की उत्पत्ति क्रमशः संस्कृत के प्रचार, आदर, अष्ट, दशमलव से खोजी जा सकती है। यही बात ग्रीक भाषा के सम्बन्ध में भी है। कैस्योपीया, सैन्टारस, आर्कतुरूस शब्दों के मूल संस्कृत काश्यपीय, सन्तर और आर्कतरु शब्द हैं।

फ्रांस की भाषा फ्रैंच सन्धि अथवा व्यंजन ध्वनियों का परस्पर मिलना संस्कृत भाषा के अनुसार ही करती है। इसका 'लाटेवल' 'लाटवला' के रूप में उच्चरित होता है। रोई-रैने का अर्थ राजा-रानी है। डुआ का अर्थ देव, नांगा का अर्थ सर्प और जानु का अर्थ घुटने हैं। ये सभी संस्कृत शब्द हैं। संज्ञाओं के कारकों का रूपान्तर जर्मन भाषा में पूर्ण रूप से संस्कृत अनुयायी है। उनका शब्द 'नक्त' जो नौक्तम के रूप में उच्चरित होता है, संस्कृत का 'नक्तम' शब्द है। अंग्रेजी शब्द 'नाइट' की वर्तनी भी इसी से स्पष्ट होती है। इसी तरह सोवियत रूस नाम स्वेत रूस नाम से व्युत्पन्न है। रूसी भाषा में 'धुआं' आग के अर्थ द्योतक शब्द 'धूम' और अग्नि अपने मूल संस्कृत रूपों को बनाए हुए हैं। रूस की भाँति मंगोलिया के शब्दों में पर्याप्त प्रभाव झलकता है। यहाँ सप्ताह के दिन अभी भी संस्कृत धातुओं को धारण किये हुए हैं, यथा आदित्य, सोमिय, अंगरख, बुधिय, शुकर और शनचिर। इस तरह सूक्ष्मतर अध्ययन से प्रकट होता है कि विश्व की विभिन्न भाषाओं में जिन शब्दों का प्रयोग होता है, उनका शुद्धतम रूप संस्कृत में मिलता है।[९] अतएव यही विश्व की मूल भाषा है, जिसमें सर्वप्रथम मानव ने अपने विचारों को अभिव्यक्ति दी। संस्कृत का मूल भारत में होने के कारण यह असंदिग्ध रूप से सत्य सिद्ध होता है कि विचारों की उदय भूमि भारत है।

भारत में ही सबसे पहले किताबें लिखी गई और बुद्धि और ज्ञान का प्रसार भी यहीं से हुआ।[१०] अपने इसी वैचारिक महत्त्व के कारण यहाँ की संस्कृति - विश्व की प्रथम संस्कृति कहलायी- ''सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा।''[११] भारतीय विद्याओं के मर्मज्ञ सर विलियम जोन्स के शब्दों में- ''एशिया की यह भूमि नाना विधि ज्ञान, विज्ञान की धात्री, आनन्ददायक ललित तथा उपयोगी कलाओं की जननी है।''[१२] प्रोफेसर मैक्समूलर इस तथ्य को बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहते हैं- ''यदि मुझसे पूछा जाय कि सबसे पहले इस धरती पर मानव विवेक कहाँ विकसित हुआ और जीवन की समस्याओं का समाधान भी हमें सबसे पहले कहाँ मिल पाया तो मैं कहूँगा भारत और भारत।''[१३]

❖ *मानवीय चेतना के विकास के साथ विचारों का उत्कर्ष*

''विचार के दो प्रकार हैं, जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं- एक तो विचार हैं जो संवेदनों के परिणाम स्वरूप हममें होते हैं और दूसरे वे हैं जो सजीव सत्ताओं की भाँति हैं और हममें बाहर से आते हैं।''[१४] बाहर के इस स्रोत को आधुनिक अन्वेषकों ने बुद्धिमण्डल नाम दिया है। वलेरी अलेक्सेयेव के अनुसार ''हमारे देखते-देखते ही पिछले ३०-४० वर्षों में दार्शनिक और वैज्ञानिक साहित्य में बुद्धिमण्डल की धारणा बनी है, जिसके अनुसार पृथ्वी पर मानव के प्रकट होने के साथ एक नया मण्डल बना। अब इसने शेष सभी मण्डलों को अपने में समेट लिया है। यह एक वैज्ञानिक धारणा मात्र नहीं है, बल्कि मानव जाति की भावी शक्ति का अनुपम पूर्वानुमान है।''[१५] प्रख्यात वैज्ञानिक वर्नाडस्की के अनुसार- ''जैसे ही हमारे

---

९. Indeed, from this point of view, as is well known only one equation speaks unequivocally, for the existence of pure velars in the original Indo European and that is Sanskrit
- Bala Krishna Ghosh- The Origin of Indo-Aryans, The Cultural Heritage of India, Vol I, p.135

१०. सैयद महमूद- हिन्दू मुस्लिम कल्चरल एकार्ड, पृ २१

११. यजुर्वेद - ७/१४

१२. मैक्समूलर- भारत की विश्व को देन, पृ ३१

१३. वही, पृ. टाइटिल पेज

१४. श्री माँ- मातृवाणी, खण्ड-२, पृ. २०

१५. वलेरी अलेक्सेयेव- मानव जाति की उत्पत्ति, पृ. ३२

ग्रह में जीवन के साथ बुद्धि ने प्रवेश किया, ग्रह ने अपने इतिहास के एक नए स्तर में प्रवेश बायोस्फियर-नूस्फियर में बदल गया।"[१६] इस नूस्फियर को आचार्य जी ने अपने चिन्तन में तीन नाम दिए हैं, १. ब्रह्माण्ड का मनोमय कोश, २. समष्टि मन, ३. आइडियोस्फियर अथवा विचार मण्डल।

मानव मन समष्टि मन अथवा नूस्फियर के जिस स्तर से अपना सम्पर्क कर पाता है– उसी स्तर का विचार प्रवाह मन में उमड़ने लगता है। इसी तरह परिस्थितियों की प्रतिक्रिया स्वरूप उठे संवेदनों से उत्पन्न विचारों का स्तर वही होता है, जो मानवीय चेतना का है। यदि मानवीय चेतना विकसित हो सके, किसी भाँति अपने उच्च आयामों को पा सके तो न केवल परिस्थितियों की प्रतिक्रिया स्वरूप उठे संवेदनों से उत्पन्न विचारों का स्वर उन्नत होगा, बल्कि उन्नत मानसिक चेतना अपना सम्पर्क विचार मण्डल के विशिष्ट स्तर से जोड़ सकेगी। और उच्च विचारों का प्रवाह मन के धरातल पर फैल सकेगा। मानवीय चेतना के विकास की निम्नता अथवा उच्चता ही वह कारण है, जिसके कारण विचार का स्तर निम्न अथवा उच्च होता है। इसी कारण से पूर्वकाल में अनेक तरह आध्यात्मिक साधनाओं की खोज हुई, जिसका अवलम्बन लेकर मानवीय चेतना को विकसित करके विचारों के उच्चतम प्रवाह को धारण किया जा सके। जो ऐसा करने में समर्थ हुए, जिन्होंने विचारों के उत्कर्ष को पाया, उनको 'ऋषि' कहा गया। इन्होंने ही वेद ज्ञान का विस्तार किया।

विचारों का विकसित रूप ऋग्वेद- विचारों के विकसित स्वरूप का पहला संकलन ऋग्वेद के रूप में किया गया। "ऋग्वेद केवल हिन्दुओं की ही नहीं, अपितु समस्त संसार की मूल रचना है; क्योंकि परवर्ती अन्य रचनाएँ ऋग्वेद के पश्चात् इस क्रम में आती हैं और उन्हें चिन्तन तथा विषय में इससे पर्याप्त प्रेरणा मिलती है।"[१७] याकोबी ने इसका रचनाकाल ३००० ई. पूर्व तथा लोकमान्य तिलक ने लगभग ६००० ई. पूर्व माना है। इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में मतों की भिन्नता भले ही हो परन्तु इसे "प्राचीनतम ग्रन्थ निर्विवाद रूप से माना जा सकता है।"[१८] "यह विश्व का सबसे प्राचीन शास्त्र है।"[१९] जिसमें धर्म, दर्शन के अतिरिक्त ज्योतिष, आयुर्वेद, भूगोल तथा अन्य वैज्ञानिक विषयों की प्रचुरता से चर्चा की गई है।

वैदिक साहित्य का विस्तार- वेद एक पोथी मात्र न होकर जीवन और सृष्टि के रहस्यों को खोलने वाला व्यापक विश्वकोश है। इसका सम्यक विभाजन व सम्पादन करने वाले भगवान् व्यास ने इसे चार वर्गों में विभक्त किया। ऋक्, यजुष, साम और अथर्व। भाष्यकार महीधर के अनुसार वेद से जो वाङ्मय विकसित हुआ, अध्ययन की सुविधा के लिये उसे पुनः चार भागों में वर्गीकृत किया गया। १. संहिता, २. ब्राह्मण, ३. आरण्यक, ४. उपनिषद्। वर्गीकरण के इस क्रम में वैदिक अध्ययन कई शाखाओं में विकसित हुआ। ऋग्वेद की पाँच शाखाएँ थी–शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और मांडूक्य। इनमें अब शाकल शाखा ही उपलब्ध है। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व दो शाखाएँ। कृष्ण यजुर्वेद की उपलब्ध शाखाएँ इस समय चार हैं–तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कठ। सामवेद की दो शाखाएँ हैं– कौथुमी और राणायनीय। अथर्ववेद की उपलब्ध शाखाओं के नाम पैप्पलाद और शौनक हैं।

संहिताओं के विवेचन क्रम में अध्ययन करने पर ऋग्वेद संहिता के दस मण्डलों का पता चलता है। जिनमें ८५ अनुवाक और अनुवाक समूह में १०२८ सूक्त हैं। वेदज्ञ मनीषियों के अनुसार ऋग्वेद के मंत्रों की संख्या १०,४०२ से १०,६२८ तक है। यजुर्वेद के दो भाग हैं– शुक्ल और कृष्ण। शुक्ल यजुर्वेद की संहिता को

१६. V.I. Vernadsky- Biogeochemical Essays p. 105
१७. पी.एन. ओक– भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें, पृ २८१
१८. आचार्य देवी शंकर मिश्र, डॉ. राजकिशोर सिंह– संस्कृत वाङ्मय का इतिहास, पृ. २२
१९. Swami Ghanananda- The Dawn of Indian Philosophy,
The Cultural Heritage of India, II 333

वाजसेनेयी संहिता भी कहते हैं। इसमें ४० अध्याय, २९० अनुवाक और अनेक काण्ड हैं। कृष्ण यजुर्वेद संहिता को तैत्तिरीय संहिता भी कहते हैं। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार इसकी १०९ शाखाएँ थीं, जिनमें मात्र १२ शाखाएँ और १४ उपशाखाएँ ही उपलब्ध हैं। इस संहिता में कुल सात अष्टक और ७०० अनुवाक हैं। इसमें १८,००० मंत्र मिलते हैं।

सामवेद के पूर्व और उत्तर दो भाग हैं। पूर्व संहिता को छन्द, आर्चिक और सप्त साम नामों से भी अभिहित किया गया है। इसके छः प्रपाठक हैं। सामवेद की उत्तर संहिता को उत्तरार्चिक भी कहा गया है। अथर्ववेद की मंत्र संख्या १२,३०० है। जिसका अति न्यून अंश ही आजकल प्राप्त है। इसकी नौ शाखाएँ-पैप्पल, दान्त, प्रदान्त, स्नात, सौत, ब्रह्मदावल, शौनक, दैवीदर्शनी और चरण विद्या में केवल शौनक शाखा ही आज रह गयी है। इसमें २० काण्ड हैं। प्रत्येक वैदिक संहिता के अलग-अलग ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण ग्रन्थ हैं-ऐतरेय और कौषीतकी। यजुर्वेद के भी दो ब्राह्मण हैं तैत्तिरीय और शतपथ। सामवेद की कौथुमीय शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ चालीस अध्यायों में विभक्त हैं। इसकी जैमिनीय शाखा के दो ब्राह्मण ग्रन्थ हैं- आर्षेय और छान्दोग्य। अथर्ववेद का एक ही ब्राह्मण उपलब्ध है- गोपथ ब्राह्मण।

मुख्य आरण्यक ग्रन्थों के क्रम में ऋग्वेद में ऐतरेय और कौषीतकी आरण्यक मिलते हैं। यजुर्वेद के दो आरण्यक हैं, तैत्तिरीय और बृहदारण्यक। सामवेद में सिर्फ छान्दोग्य आरण्यक मिलता है। वैदिक तत्वदर्शन का उत्कर्ष उपनिषदों में देखने को मिलता है। उपनिषद् महाकोश में २२३ उपनिषदों का नामोल्लेख हुआ है। जबकि मुक्तिकोपनिषद में १०८ उपनिषदों की सूची है। इस वैदिक साहित्य का सरलीकरण १८ पुराणों और १८ उपपुराणों में हुआ है। और इसी का सूत्रीकरण षड्दर्शनों में मिलता है। वैदिक साहित्य के इस भण्डार को विश्व का मूल विचार कोश कहा जा सकता है।

विचारों की इस बहुमूल्य सम्पदा के कारण ही भारत समूचे विश्व में सम्मानित राष्ट्र रहा है। पैगम्बर मुहम्मद ने एक बार स्वयं कहा था- "मैं हिन्द की तरफ से आती हुई ठण्डी हवाओं को महसूस करता हूँ। सहीह मुस्लिम में अबू हुरैरा ने कहा है कि पैगम्बर ने कुछ स्वर्ग की नदियों का जिक्र किया है, जिनमें एक भारतीय नदी का भी नाम है। बहुत सी इस्लामी परम्पराओं में भारतीय विचारों की अरबों द्वारा मान्यताओं का बखान किया गया है।"[20] यही नहीं कुरान में कुछ संस्कृत मूल के शब्द भी आए हैं, जैसे तोया, सुन्दास और अबलाई आदि। खलीफा उमर भारत को ऐसा देश समझते थे, जहाँ विचार और धर्म पूर्ण विकसित थे।" मैक्समूलर ने भारतीय चिन्तन और दर्शन की प्रशंसा करते हुए संगीतमय भाषा में लिखा है- "यदि संसार भर में मुझे ऐसी देश की तलाश करनी पड़े जो सभी प्रकार की सम्भव प्राकृतिक सम्पदा, शक्ति और सौन्दर्य से परिपूर्ण हो अर्थात् किन्हीं अंशों में धरती पर स्वर्ग के समान हो तो मैं भारत की ओर संकेत करूँगा। यदि मुझसे पूछा जाय कि इस नीले आसमान के नीचे वह कौन सा भू भाग है, जहाँ मानवीय मस्तिष्क का पूर्ण विकास हुआ है और जहाँ के लोगों ने बहुत कुछ ईश्वरीय देन को उपलब्ध किया है तथा जीवन की बड़ी से बड़ी समस्याओं पर विचार करके उनमें से बहुतों के ऐसे हल निकाले हैं, जिन पर प्लेटो और काण्ट का अध्ययन करने वालों को भी ध्यान देना आवश्यक हो गया है, तो मैं सीधा भारत की ओर संकेत करूँगा।"[22]

अपनी इस गरिमा के कारण "भारत अनादि काल से समस्त संसार का मार्गदर्शन करता रहा है। विश्व मानव की सर्वतोमुखी प्रगति में उसने सदा से अजस्र अनुदान दिया है। ज्ञान और विज्ञान का उदय, अवतरण इस भारत भूमि पर सर्वप्रथम हुआ तो वह इस सीमित क्षेत्र में अवरूद्ध नहीं रहा। प्रभातकालीन सूर्योदय का श्रेय तो मिला, पर वे किरणें समूची जगती को प्रकाशवान बनाने के लिये निस्सृत होती रहीं।"[23] इसी कारण भारत को जगद्गुरु

२० सैयद महमूद - हिन्दू मुस्लिम कल्चरल एकार्ड, पृ. १८
२१ वही, पृ २१
२२ दामोदर सिंघल- आधुनिक भारतीय समाज और संस्कृति, पृ ७३-७४
२३. आचार्य श्रीराम शर्मा- समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, पृ १

कहा जाता था, क्योंकि उसने विश्व वसुधा के कोने-कोने में ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश फैलाया। उसे चक्रवर्ती शासक माना जाता था; क्योंकि उसने समाज व्यवस्था और शासन सत्ता की स्थापना का मार्ग सुझाया और अनगढ़ मानव को व्यवस्था बनाकर रहने का क्रियात्मक प्रशिक्षण दिया। उसे स्वर्ण सम्पदाओं का स्वामी कहा जाता था, क्योंकि शिक्षा, चिकित्सा, शिल्प, व्यवसाय, कृषि, पशुपालन आदि के सुझाव और साधन यहीं से पहुँचाये गए।[२४]

विचारों का प्रसार

भारत में उत्पन्न मानव जाति विश्व के विभिन्न भागों में फैल तो गयी, परन्तु तपस्वियों-विचारकों के अभाव में ''क्रिया का लोप होने से पौण्ड्र, चौण्ड्र, द्रविण, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पहल्व, चीना, किरात, दरद, खश ये क्षत्रिय जातियाँ धीरे-धीरे शूद्रत्व को प्राप्त हो गयीं।''[२५] विश्व के अनेक भागों में जाकर बसने वालों में कुछ ऐसे भी थे, जिन्हें किसी अपराध के कारण दण्डित करके देश निकाला दिया गया था। मनुस्मृति के अनुसार पतित ब्राह्मणों की कई जातियों में एक शेख भी कही जाती थी।[२६] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ''अनुचित आचरण के कारण उन्हें देश निकाला दिया गया। वे अन्यत्र चले गए और उनसे आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द आदि जातियाँ उत्पन्न हुईं।''[२७]

समय-समय पर इनके प्रशिक्षण-विकास के लिये, भारत भूमि के ऋषि मनीषि लोग बाहर जाते रहे। मनु स्मृति के अनुसार ज्ञान-विज्ञान का विश्व मानवता को शिक्षण इस देश की गौरपूर्ण परम्परा रही है।[२८] भविष्य पुराण के एक कथन के अनुसार- ''कण्व ऋषि मिश्र देश गए। वहाँ उन्होंने दस हजार म्लेच्छों को सुसंस्कृत-विचारशील बनाया। इनमें से कुछ को वैश्य-कुछ को शूद्र, कुछ को क्षत्रिय की संज्ञा दी गयी।''[२९]

विचारों के इसी प्रसार की वजह से ''अरबों ने भारत से वेदान्त दर्शन, ज्योतिष गणित, आयुर्वेद, रसायनशास्त्र और प्रशासन कला का ज्ञान प्राप्त किया।''[३०] पश्चिमी दर्शन का जनक समझे जाने वाले यूनान में विचारों का उदय भारतीय विचारों और विचारकों के प्रभाव से ही हुआ। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए प्रोफ़ेसर

---

२४. आचार्य श्रीराम शर्मा- समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान, पृष्ठ २१

२५. शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रिय जातय.।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविण: काम्बोजा यवनाः शकः।
पारदाः पहल्वाश्चीना· किराता दरदाः खशः॥
– मनुस्मृति- १०/४३-४४

२६ व्रात्यस्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्ज कण्टक।
आवन्त्य वाटधानो च पुष्पधः शेख एव च॥
– मनुस्मृति

२७ तानन्ु व्याजहार तान्त्यः प्रजाभीक्षष्टेति। ते एतेऽन्ध्रा. पुण्ड्राः शबराः पुलिन्दा. मुतिपा ईत्युदत्याः वह वो भवन्ति।
– ऐतरेय ब्राह्मण – ७/४/१८

२८. एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
– मनु स्मृति

२९ सरस्वत्या सया कण्वों मिश्रदेश मुपाययौ।
म्लेच्छा संस्कृत्य चाभाष्यतदा दश सहस्र कान।
सपत्नी काश्चतान् म्लेच्छान् शूद्रवर्गाय चाकरोत।
दस सहस्रास्तरा तेषां मध्ये वैश्या बभूविरे।
तेषां चकार राजानं राजपुत्रं पुरन्दरम्॥
– भविष्य पुराण

३०. दामोदर सिंघल- आधुनिक भारतीय समाज और संस्कृत, पृ. ६

मैक्समूलर ने लिखा है-

''यूनानियों को जितना अधिक भारत की दार्शनिक प्रवृत्ति ने प्रभावित किया, उतना किसी अन्य ने नहीं। यह प्रवृत्ति रहस्यमय देश को व्याप्त किए हुऐ प्रतीत होती थी।''[३१] यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने भी, जो ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में भारतवर्ष आये थे, इस देश की आध्यात्मिकता का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने भारतवर्ष के उन आध्यात्मिक मनुष्यों का भी वर्णन किया है, जो पर्वतों, मैदानों और कुञ्जों में निवास करते थे।[३२] भारतवर्ष की प्राचीन दार्शनिक प्रवृत्ति की प्राण प्रतिष्ठा उपनिषदों में मिलती है। उपनिषदों के यूनानी दर्शन पर ऋण का उल्लेख करते हुये एडवर्ड जेलर ने लिखा है- ''भौतिक शरीर के बन्धनों से ईश्वर सदृश आत्मा की मुक्ति का विचार निःसन्देह भारतवर्ष में ही उत्पन्न हुआ था। इस सम्बन्ध में थ्रेस[३३] ने सेतु कार्य किया था, क्योंकि इस नगर के माध्यम से ही मुक्ति का यह प्राचीन सिद्धान्त ग्रीक पहुँचा था।''[३४] भारतीय विचारधारा के प्रभाव से न केवल पश्चिमी क्षितिज पर विचारों का उदय हुआ, बल्कि बाद में भी पश्चिमी विचार और विचारक भारतीय विचारों के प्रभाव से प्रभावित होते रहे।

❖ पाश्चात्य विचार जगत् पर भारतीय प्रभाव

भारतीय विचारों पर सबसे पहले शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने वाला यूरोपीय विद्वान अलैक्जेण्डर ही थे। जिसने अपनी 'हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' पुस्तक में इस विषय पर विशद प्रकाश डाला है। यह पुस्तक यूरोप में तीन जिल्दों में १७६८ में प्रकाशित हुई। वारेन हेस्टिंग्स की प्रेरणा से भारतीय साहित्य का ज्ञान अर्जित करने वाला पहला अंग्रेज चार्ल्स विल्किन्स थे। उन्होंने बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की। यूरोप में संस्कृत पाण्डित्य के जन्मदाता एच.टी. कोलब्रुक ने कहा है कि पाइथागोरस से लेकर उस समय तक कोई ऐसा विदेशी विद्वान् नहीं हुआ जिसको भारतीयता के विषय में विल्किन्स से अधिक ज्ञान रहा हो। सर विलियम जोन्स भारतीय विचारों के अध्ययन में अग्रणी थे। वह सितम्बर १७८३ में कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायधीश बनकर भारत आए। यहाँ आकर उन्होंने यहाँ की विचारधारा से प्रभावित होकर कहा- ''यह मानवीय प्रतिभा का उर्वर उत्पत्ति स्थान है।''[३५] यही नहीं उन्होंने यहाँ के विचारों के गहन अध्ययन के लिये विल्किन्स के साथ १७८४ में बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की, जिसके वह आजीवन अध्यक्ष रहे। उन्होंने पहली बार घोषणा की कि संस्कृत, ग्रीक और लैटिन की अपेक्षा अधिक परिष्कृत भाषा है। यही नहीं यह इन दोनों की जन्मदात्री भी है। जोन्स के कार्य का सबसे अधिक प्रभाव भारतीय विचारधारा के अध्ययन पर पड़ा। उन्होंने इन विचारों पर जो रुचि जाग्रत् की, उससे प्रेरित होकर विद्वान् यहाँ के विचारों की खोज में ऐसे उत्साह के साथ प्रवृत्त हुए, जैसे आस्ट्रेलिया के स्वर्ण क्षेत्रों के प्रति अन्वेषक निकल पड़े हों।[३६] ऐसे विद्वानों में हेनरी टामस कोलब्रुक (१७६५-१८३७) विशिष्ट थे। मैक्समूलर का कथन है कि ''यदि वह जर्मनी में हुए होते, तो बहुत पहले ही उनकी जन्मभूमि पर उनकी प्रतिमा प्रतिष्ठित हो गयी होती, अकादमियों

---

३१. Nothing struck the Greeks so much as the Philosophical sprit which seemed to pervade that mysterious Country
- Maxmuller - Indian Philosophy, Vol I, p 25

३२. J W Mccrindle - Ancient India, p. 97

३३. थ्रेस (Thrace) औरफियस (Orpheaus) के जन्म देश का नाम है। औरफियस के द्वारा ही ग्रीक मे मुक्ति के सिद्धान्त का प्रचार हुआ था।

३४. The idea of salvation of the liberation of the God Like Soul from the shackles of the earthly body doubtless originated in India, where it makes its appearance in the so called Upanishads .. .. .it was thrace which fromed the bridge over this oriental doctrine of deliverend crossed into Greece.
- Edvard Zeller- Outlines of the History of Greek Philosophy, p.16

३५. फोर्ब्स- ओरियन्टल मेमॉयर्स II, पृ. २१२

३६. जी. टी. गैरट (सम्पादक)- द लिगेसी ऑफ इण्डिया, पृ ३१

की दीवारों पर उनका नाम स्वर्ण अक्षरों में लिखा होता।"[३७] उन्होंने भारत के दार्शनिक साहित्य के अतिरिक्त यहाँ के वैज्ञानिक साहित्य पर भी शोध की। यह उन्हीं के प्रयत्न से सम्भव हुआ कि यूरोपीय वैज्ञानिक, गणितशास्त्र में भारतीय उपलब्धियों विशेषतः इनडिटरमिनेट एनालिसिस (अनिर्धाय विश्लेषण) के विषय में जानकारी प्राप्त कर सके।

अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ से फ्रांस भी भारतीय विचार प्रणाली में रुचि लेने लगा था। १७१८ में फ्रांस का बादशाह के पुस्तकालयाध्यक्ष बिगनन ने यात्रियों से कहा कि भारत में तथा ऐसे देशों में जहाँ भारतीय विचारधारा अपनायी गयी हो, जितनी दर्शन, अध्यात्म व विज्ञान की पुस्तकें मिले उन्हें खरीद लाएँ। इस प्रयत्न में कालमेत नामक विद्वान् ने ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद की प्रतिलिपियाँ तो प्राप्त कर लीं, परन्तु चौथा अथर्ववेद उसे प्राप्त न हो सका। फ्रांस निवासियों को भारतीय विचारधारा और इतिहास की जानकारी अरबी, फारसी, चीनी, ग्रीक और लैटिन पुस्तकों से होती रहती थी। भारतीय सामग्री संग्रह करने का काम जारी रहा और जोसेफ दे गुहने ने अभारतीय स्रोतों से यथा सम्भव सभी सामग्री जुटा ली। इस कार्य में उनका पाण्डिचेरी के तमिल विद्वान् मारिदास पिल्लै जो लैटिन और फ्रेंच भाषाओं के भी अच्छे जानकार थे, का अमूल्य सहयोग मिला। उस समय जितने भी फ्रांसीसी विद्वान् पाण्डिचेरी आए सभी ने उनका आभार माना है।[३८] प्रायः इसी समय एनक्रेतिद्यू पेरों (१७३१-१८०५) भारत आये और १७३६ में मुगल शाहजादा दाराशिकोह के लिये फारसी में अनूदित उपनिषदों के आधार पर उन्होंने उनका यूरोपीय अनुवाद लैटिन भाषा में किया। विल्किन्स द्वारा भगवद्गीता और द्यू पेरों के द्वारा उपनिषदों के अनुवाद 'ऑपनिखेत' से पाश्चात्य विचारकों को भारतीय दर्शन के मूल ग्रन्थों के पाठ उपलब्ध हो गए।

लियोनार्ड द शेजी ने भी अन्य समसामयिक फ्रांसीसी विचारकों की भाँति यह अनुभव किया कि यूरोप को भारतीय दर्शन की उपलब्धियों से परिचित होना चाहिए। दे शेजी के बहुत से प्रतिभाशाली शिष्यों में दो जर्मन थे- प्रथम इण्डो यूरोपियन तुलनात्मक भाषा विज्ञान का जन्मदाता फ्रैंज बॉप और दूसरे आगस्ट श्लेगल, उनके फ्रांसीसी शिष्यों में ल्वायसेलू देलांग शैम्प हुए, जिन्होंने मनुस्मृति और अमरकोश प्रकाशित किया। दूसरे शिष्य लैगंल्वा ने ऋग्वेद और हरिवंश के मूल पाठों से सीधा अनुवाद किया। परन्तु सबसे प्रसिद्ध यूजीन बरनाफ हुए, जिनके बहुत से प्रसिद्ध शिष्यों में मैक्समूलर भी थे। इसी बीच १८२२ में अपने ही ढंग की एक 'सोशियत एशियातिक' संस्था की स्थापना पेरिस में हुई। इसके माध्यम से बहुत से विद्वान् भारतीय दर्शन में रुचि लेने लगे। इन्हीं में से एक बरनाफ के सहकर्मी बार्थेलेमि द संत हेलारी भी थे। उन्होंने भारतीय दर्शन की न्याय और सांख्य शाखाओं में अपना महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रकाशित कराया।

१८६८ में 'इकोल दे हांत एत्यूदे' की स्थापना के बाद भारतीय विचारधारा के अध्ययन के लिए एक नया केन्द्र खुल गया। यहाँ काम करने वाले मनीषियों में आगस्त बार्थ और एबेल बरगाइन और एमिली सेनार्त मुख्य थे। बरगाइन ने एक युगान्तरकारी पुस्तक 'द वैदिक रिलीजन एकॉर्डिंग टू द हिम्स ऑफ ऋग्वेद' लिखी। इसके बाद उन्होंने और पुस्तकें लिखी, जिसमें रिसर्चेज आन द संहिता ऑफ ऋग्वेद उल्लेखनीय है।

ब्रिटेन व फ्रांस के समान जर्मनी का भारत के साथ राजनीतिक सम्बन्ध बिल्कुल नहीं रहा, फिर भी उन्होंने अत्यन्त उत्साह के साथ संस्कृत को अपनाया और भारतीय दर्शन के प्रभाव को स्वीकार किया। सन् १८०८ में फ्रेडरिक वान श्लेगेल ने अपनी पुस्तक 'उबेर डाइ स्प्रेशे एण्ड विशिट दर इन्देर' भारतीयों की भाषा और दर्शन पर लिखी और जर्मनी में भारतीय विचारधारा का संस्थापक बन गए। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि विश्व चिन्तन का सही इतिहास भारतीय चिन्तन के बिना नहीं लिखा जा सकता। उनका भाई ऑगस्ट विल्हेम वान श्लेगेल, उनसे भी अधिक सक्रिय रूप से भारतीय विचारों का अध्येता बन गए। उन्होंने भगवद्गीता का मूल पाठ

३७. एम. मूलर- चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप, IV, पृ. ३७९
३८ जीन फिलियोज़ा- इण्डियन स्टडीज एब्राड, पृ. ८

लैटिन अनुवाद सहित सम्पादित किया और उसके अज्ञात कर्त्ताओं को श्रद्धांजलि प्रदान की- 'मैं उनके चरण चिह्नों को सदैव पूजता रहूँगा।'

यूरोप पर ग्रीक साहित्य का आभार तो प्राय: स्वीकार किया जाता है, परन्तु यूरोप की बौद्धिक और सांस्कृतिक उन्नति पर भारतीय दर्शन व चिन्तन का कितना प्रभाव पड़ा है। इसके विषय में आधुनिक पीढ़ियाँ कल्पना भी नहीं कर सकतीं। इस प्रभाव की महत्ता को स्वीकार करते हुए मैकडोनल ने लिखा है- ''नव जागरण के बाद विश्व के सांस्कृतिक मंच पर यदि कोई सबसे महत्त्वपूर्ण घटना मानी जा सकती है, तो वह है अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में हुई संस्कृत साहित्य की जानकारी।''[३९] वास्तव में पुनर्जाग्रत् यूरोप के बौद्धिक जीवन पर भारतीय विचारधारा की इतनी गहरी छाप पड़ी है कि उसके प्रमाण यत्र-तत्र सर्वत्र बिखरे मिल जाते हैं।

भारतीय दर्शन और साहित्य का यूरोप में सबसे अच्छा स्वागत जर्मनी में हुआ। यहाँ के विद्वान जोहान गोटफ्रीड हर्डर ने १७८७ में प्रकाशित अपनी मुख्यकृति 'आइडियाज ऑन ए फिलासफी ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ मैनकाइन्ड' में भारतीयों का एक-एक आदर्श चिह्न प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार मनुष्य जाति के उद्गम की खोज भारत में करनी चाहिए, जहाँ सरलता, शक्ति और विनय जैसे सद्गुणों के साथ बुद्धि ने सर्वप्रथम स्वरूप ग्रहण किया, यदि स्पष्ट कहा जाय तो उसकी समता करने को हमारी यूरोपीय जगत् की जड़ दार्शनिकता में कोई भी वस्तु नहीं है। हर्डर के मित्र और प्रख्यात कवि जोहान वुल्फगांग वानगेटे ने अपने चिन्तन व जीवन में भारतीय साहित्य के प्रभाव को स्वीकारा है। उन्होंने शाकुन्तल के बारे में लिखा है- ''यह मेरे जीवन में एक युग का प्रतीक है। अब मेरी समझ में आया है कि इस महान् कृति ने जीवन के आरम्भिक वर्षों में मुझे कितना अधिक प्रभावित किया है।''[४०] एलेक्स एरॉनसन के अनुसार- ''ऐसे प्रतिभावान् विद्वान् को जब तक प्राच्य विद्या दृढ़ आधार के रूप में प्राप्त न होती, तब तक वह उसका सहारा लेकर अपनी कल्पना को अपनी कृतियों में कैसे साकार करता।''[४१]

श्लेगेल बन्धु तो भारतीय दर्शन से इतना अधिक प्रभावित थे कि उन्होंने कहा- ''यह प्रत्येक धर्मान्वेषी को यही परामर्श देंगे कि जिस प्रकार कला का अध्ययन करने के लिये इटली जाना आवश्यक है, उसी प्रकार धर्म, दर्शन के लिए भारत जाना चाहिए। वहाँ कुछ ऐसे धर्म के अंश अवश्य मिलेंगे, जिन्हें देखने के लिए यूरोप में भटकना व्यर्थ है।''[४२] भारतीय चिन्तन में रस लेने वाले विद्वानों में प्रतिभाशाली भाषाशास्त्री एवं प्रशा के शिक्षा मंत्री विल्हेम वॉन हमबोल्ट भी थे। जिन्होंने श्लेगल के भगवद्गीता संस्करण से प्रभावित होकर कहा- ''गम्भीरतम एवं उत्कृष्टतम वस्तु जिस पर संसार गर्व कर सकता है।''[४३] उन्होंने परमात्मा को जीवन प्रदान करने के लिये भी धन्यवाद दिया कि वह गीता का अध्ययन कर सके।[४४]

इमैनुअल काण्ट (१७१२-१८०४) प्रथम प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक थे। जिन्होंने अपने चिन्तन में भारतीय प्रभाव को स्वीकारा। कांट द्वारा प्रतिपादित दिक् और काल के मध्य प्राकृतिक जगत् और उससे परे अगम्य मूल वस्तु के भेद बहुत कुछ मायावाद के समान है। श्चेर बातस्की ने बताया है कि कांट द्वारा निरूपित निष्काम नियोग सिद्धान्त का प्रतिरूप भारतीय दर्शन में है। इसके अतिरिक्त हरमन जैकोबी के मतानुसार कांट का 'एस्थेटिक्स' भारतीय लेखक काव्यशास्त्र में बहुत पहले ही व्यक्त कर चुके हैं। इसी प्रकार कांट के उत्तराधिकारी जोहान गॉटलीब फिक्टे (१७६२-१८१९) ने अपनी 'हिन्टस फार ए ब्लेसेड लाइफ' पुस्तक में अद्वैतवाद से मिलते-जुलते अनुच्छेद सम्मिलित किए हैं।

---

३९. ए. ए. मैकडोनल- ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. १
४०. मेरिअन फवान हर्जफेल्ड और सी. मेलिविलसिम (अनु)- लैटर्स फ्राम गेटे, पृ. ५१४
४१. एलेक्स एरान्सन, यूरोप लुक्स इण्डिया, पृ. ६१
४२. वही, प्र. ५४
४३. विन्टरनित्ज- ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर, I, पृ १५
४४. अवकाश के समय भारतीय दर्शन पढ़ने वाले अन्य राजनीतिज्ञ भी थे, यथा फाल थीलमान, रोजन, साल्क आदि।

काण्ट और फिक्टे तो मूल संस्कृत ग्रन्थों से परिचित नहीं थे। परन्तु आर्थर शोपनहावर को किसी सीमा तक इनका ज्ञान अवश्य था। उन्होंने 'वर्ल्ड एज विल एण्ड आइडिया' में भारतीय दर्शन के आभार को स्पष्ट रूप से स्वीकारा है। उनका विश्वास था कि- "यदि पाठक ने मूल भारतीय ज्ञान प्राप्त करके उसको समझ लिया है, तो उसको मेरे कथन को सुनने की योग्यता प्राप्त कर ली है।"[४५] शोपनहावर ने औपनिषद दर्शन से प्रभावित होकर इसको मानव बुद्धि की सर्वश्रेष्ठ उपज घोषित किया। उनका विचार था कि भारतीय चिन्तन और दर्शन में अवश्य ही यूरोपीय ज्ञान और दर्शन में गम्भीर परिवर्तन ले आएगा। यही नहीं उन्होंने भारतीयों को यूरोपियनों की अपेक्षा अधिक गम्भीर विचारक माना, क्योंकि वे जगत् को आन्तरिक एवं सहजानुभूत कहकर उसकी व्याख्या करते हैं। और यूरोपीय विचारकों की तरह उसको बाह्य एवं बुद्धिगम्य नहीं मानते। दूसरा जर्मन दार्शनिक कार्लक्रिश्चियन फ्रेडरिक ब्रासे (१७८१-१८३२) भी भारतीय दर्शन से और भी अधिक प्रभावित थे। उन्होंने अपनी कृति में वेदान्त दर्शन की विशेष रूप से प्रशंसा की है। पाल डायसन (१८४३-१९१९) यूरोपीय दर्शन एवं भारतीय विद्या का महान् ज्ञाता थे। वे वेदान्त दर्शन के प्रति अत्यधिक आकृष्ट थे। वेदान्त दर्शन पर उनकी कृतियां एवं वेदान्त सूत्रों के अनुवाद क्रमशः १८८३ एवं १८८७ में प्रकाशित हुए। उपनिषदों के मूल पाठ का जर्मन भाषा में अनुवाद करके और उनकी व्याख्या करके उन्होंने यूरोपीय विचारकों के लिये भारतीय दर्शन को समझना सुलभ कर दिया। उन्होंने वेदान्त को शाश्वत सत्य की खोज में मानवता की महान् उपलब्धि बताया।

भारतीय चिन्तन की प्रतिध्वनियाँ ऐसे देशों में भी सुनी गयीं, जिनका भारत से केवल दूर-दराज का सम्बन्ध था। उदाहरण के लिये रूमानियां के महाकवि मिहाई एमिनेस्क्यू (१८५०-१८८९) की कविताओं में वैदिक दर्शन की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। उनकी कविताओं में कितने ही अंश तो संस्कृत मूल के रूमानी रूपान्तर जान पड़ते हैं। जैसे उनकी 'लेटर नम्बर वन' कविता में सृष्टि के मूल में अस्तित्व एवं अनस्तित्व का भाव ऋग्वेद के 'सृष्टि सूक्त' की याद दिलाता है। उनकी रचना 'तत्त्वमसि' का शीर्षक उन्होंने औपनिषदिक ज्ञान का ही परिचायक नहीं है, अपितु इसके मूल भाव में भी आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य का विवेचन किया गया है।[४६] उन्होंने अपनी साहित्य में भारतीय प्रतीकों को भी अपनाया है, यह भारत के प्राचीन साहित्य से उसके गहरे ज्ञान का द्योतक है।[४७] रूस के पूर्वी विस्तार से बहुत पहले ही रुसी चैदेव ने १८४० में कह दिया था कि हम पूर्व की लाड़ली सन्तान हैं। हम सब तरह पूर्व से सम्बद्ध हैं, हमने अपने विश्वास, नियम और गुण वहीं से प्राप्त किये हैं।[४८]

लियो टॉल्सटॉय (१८२८-१९१०) ने भारत का समर्थन बहुत संवेदनात्मक ढंग से किया हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य मैक्समूलर की 'सैक्रीड बुक्स ऑफ दि ईस्ट' ग्रन्थमाला और बाद में विवेकानन्द के भाषणों ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। टाल्सटॉय का बहुत से भारतीय मित्रों के साथ पत्र व्यवहार भी चलता था, जिनमें महात्मा गान्धी और देशबन्धु चितरंजन दास भी थे। १९०९ में महात्मा गान्धी के नाम 'लेटर टु ए हिन्दु' में टाल्सटॉय ने उपनिषदों, भगवद्गीता, तमिल ग्रन्थ कुराल और विवेकानन्द के लेखों सहित आधुनिक धार्मिक उपदेशों का भी उल्लेख किया था।

भारतीय दर्शन ने उन्नीसवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड की अपेक्षा जर्मनी को ही नहीं सुदूर अमेरिका को भी प्रभावित किया था। इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण रैल्फ वाल्डो एमरसन (१८०३-१८८२) द्वारा प्रवर्तित शान्ति आन्दोलन है। उनका मुख्य विषय यह है कि सभी अस्तित्व वाले पदार्थ एक ही विशुद्ध सर्वव्यापक शक्ति का प्रतिबिम्ब मात्र हैं। वह भारतीय दर्शन के पुनर्जन्म

४५. आर्थर शोपन हावर- द वर्ल्ड एज विल एण्ड आइडिया, पृ. १२-१३, अनुवादक : आर. बी. हाल्डेन और जे कैम्प
४६. सेरगिड डेमेट्रियन- इण्डो-एशियन कल्चर, जुलाई १९६५, पृ १८६
४७ ट्यूडर विआनु- इण्डो-एशियन कल्चर, अक्टूबर १९५७, पृ. १८९
४८. एरॉन्सन- यूरोप लुक्स ऐट इण्डिया, पृ. १२७

सिद्धान्त से विशेष आकर्षित हुये। उनके शब्दों में- "तब मैंने 'संसार का रहस्य' जान लिया कि सभी पदार्थ नित्य हैं, कोई भी मरता नहीं है, केवल कुछ समय के लिये आँखों से ओझल हो जाता है और बाद में पुन: लौट आता है।"[४९] दूसरे अमेरिकन जिनका ध्यान भारत की ओर गया, एमरसन से उम्र में छोटा होने पर भी उनका मित्र हेनरी डेविड थोरो (१८१७-१८६२) थे। मुख्यत: उनकी प्रशस्ति 'वाल्डेन' पुस्तक के कारण है। उस पर भारतीय विचारधारा का गहरा प्रभाव था। उनके 'जर्नल्स' में अनेक भारतीय दर्शनों की व्याख्याएँ मिलती हैं। उन्होंने १८५० में लिखा था कि उन पर वेदों की प्रेरणा एक उच्च एवं विशुद्ध ज्योतिर्मय नक्षत्र के समान उदित हुई। और सभी नक्षत्रों के प्रकाश के पश्चात् पूर्ण चन्द्रमा के समान उदित हुई। वाल्डेन में हिन्दू धर्मग्रन्थों के स्पष्ट उद्धरण मिलते हैं, यथा- पूर्व के सभी अवशेषों में भगवद्गीता कितना श्लाघनीय ग्रन्थ है। यही नहीं उन्होंने तो परम्परागत हिन्दू जीवनचर्या भी अपना ली थी। 'भारतीय दर्शन से मेरा इतना प्रेम है तो मेरे लिये चावल का आहार ही उपयुक्त है।' अमेरिकन बौद्धिक स्वतंत्रता का नेता वाल्ट व्हिटमैन (१८१९-१८९२) भी भारतीय चिन्तन से प्रभावित होने वालों में से थे। अपनी कुछ कविताओं में उन्होंने हिन्दू रहस्यवाद में प्रत्यक्ष रुचि अभिव्यक्ति की है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण उनकी 'पैसेज टू इण्डिया' कविता है, जिसमें उन्होंने यह भाव व्यक्त किया है कि मनुष्य की आत्मा और विश्वात्मा एक ही है।

अमेरिका में ईसाइयों ने जो विज्ञान आन्दोलन चलाया उसमें भी भारतीय प्रभाव स्पष्टत: आलोकित है। इस आन्दोलन की जन्मदात्री मेरी बेकर एडी वेदान्तियों की तरह यह मानती थी कि जगत् और दु:ख असत् है और दु:खों से छुटकारा पाने के लिये इस तथ्य की अनुभूति आवश्यक है। 'साइन्स एण्ड हेल्थ' नामक ग्रन्थ में उन्होंने इसी बात पर बल दिया है कि ईसाई विज्ञान के अनुसार सभी कारण और कार्य मानसिक होते हैं- भौतिक नहीं। यद्यपि यह स्वाभाविक है कि ईसाई अपने विज्ञान सम्बन्धी मान्यताओं के ढाँचे को अपने धर्म में अन्य सिद्धान्तों के अनुरूप ही ढालते, परन्तु ऐसा होते हुऐ भी उनके साहित्य में वेदान्त के सिद्धान्त अपने आप प्रतिष्ठित हो रहे हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वामी विवेकानन्द ने दो बार संयुक्त राज्य अमेरिका की यात्राएँ की। और दोनों ही बार उनके विचारों का उत्साह पूर्ण स्वागत हुआ उनके द्वारा प्रतिपादित भारतीय दर्शन से तत्कालीन विचारक गहराई से प्रभावित हुए। इन्हीं में एक नोबुल पुरस्कार विजेता रोमां रोलां भी थे। उन्होंने रामकृष्ण का जीवन-चरित लिखा, जिसमें ये उद्‌गार व्यक्त किये- "मैं यूरोप में नये शरद का ऐसा फल लाया हूँ, जिससे यहाँ के लोग अभी तक अपरिचित हैं, यह भारत की स्वर लहरी में आत्मा का नया सन्देश है, जिसका नाम रामकृष्ण है।"[५०]

रोमां रोलां के अलावा विलियम बटलर योट्स, टी.एस. इलियट, एडवर्ड कारपेन्टर, हैवलॉक, ऐलिस, आल्डुअस हक्सले और डी.एच. लारेन्स आदि दार्शनिकों के विचारों में भारतीय विचारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से अनुभव किया जा सकता है।

भारतीय विचारधारा का यह प्रभाव पश्चिमी दर्शन और साहित्य तक ही सीमित नहीं है। वहाँ के वैज्ञानिकों ने भी इसके प्रभाव को स्वीकारा है। आचार्य जी के अनुसार- "ऋषियों की चिन्तन सम्पदा के वेदान्त दर्शन ने क्वांटम भौतिकी के वैज्ञानिक वारनर हाइजेनवर्ग की सोच में व्यापक उलट-फेर कर दी।" हाइजेनवर्ग सन् १९२९ में भारत आए। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर से इस चिन्तन के विशेष बिन्दुओं पर गम्भीर चर्चा हुई और वापस लौटकर अपने प्रयोगों में जुट गये। कुछ ही समय बाद उन्होंने भौतिकी जगत् को 'अनिश्चितता का सिद्धान्त' दिया। जो और कुछ नहीं वेदान्त के इस तत्त्व की व्याख्या है कि पदार्थ का स्वरूप प्रतिक्षण अनिश्चित है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'फिजिक्स एण्ड फिलॉसफी' में यहाँ के चिन्तन से स्वयं के प्रभावित होने का मार्मिक वर्णन किया है। नील्स बोर और इरविन श्रोडिजर के स्वरों में भी यही गूंज सुनाई देती है। श्रोडिजर वेदान्त में वर्णित

---

४९. जर्नल्स ऑफ रैल्फ वाल्डो एमरसन, VI, ४९४

५०. रोमा रोला- लाइफ ऑफ रामकृष्ण, पृ. १२-१३

प्रकृति के अनिश्चित स्वरूप की व्याख्या के आधार पर अपना आणविक अध्ययन करने में लगे थे। प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्ष में उन्हें हतप्रभ हो कहना पड़ा- अरे! सचमुच नाम रूप से अजूबा लगने वाला संसार कुछ तरंगों की हलचल भर है। उनके प्रयोगों के इस निष्कर्ष ने वेव्स मेकनिक्स का रूप लिया।

विज्ञान के क्षेत्र में आइंस्टीन और हाइजेनवर्ग के प्रतिमानों को पार करने वाले जियोफेरो च्यू ने बूट स्ट्रैप का अनोखा सिद्धान्त दिया है। इसमें हाइजेनवर्ग की क्वांटम मेकेनिक्स और आइंस्टीन की सापेक्षिता दोनों के तत्त्व समाए हैं। इनके अनुसार प्रकृति के मौलिक तत्त्व को विघटित नहीं किया जा सकता। वस्तुओं का अस्तित्व उनके गुणों और अन्यों के साथ उनके तालमेल के कारण है। यह तालमेल जहाँ विभिन्न शक्तियों के आपसी सहयोग का बोध कराता है, वहीं इसकी अभिन्नता और एकता का ज्ञान देता है। विज्ञानी च्यू से जब भौतिकविद् काप्रा ने इस प्रयोग के सन्दर्भ में चर्चा की, तो उन्होंने हँसते हुए कहा जब वह सन् १९६९ में सपरिवार भारत आने की तैयारी कर रहे थे। इस तैयारी के दौरान उनके लड़के ने बौद्ध महायान का एक ग्रन्थ उनके हाथ में दिया। इस ग्रन्थ में वे सारी बातें कही गयी थीं, जिन पर वे विचार कर रहे थे। उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि उनके प्रयोग भारत के सांस्कृतिक ज्ञान का सत्यापन भर है।

च्यू की भाँति डेविड बोम के प्रयोगों का निष्कर्ष- अखण्डित पूर्णता वेदान्त का एक रूप है। इसे स्वीकार करते हुए उन्होंने बताया कि सन् १९७४ में उनकी मुलाकात भारतीय दार्शनिक जे. कृष्णमूर्ति से हुई। कृष्णमूर्ति के विचारों ने उन्हें पूर्वी तत्त्वचिन्तन को वैज्ञानिक कसौटी पर कसने के लिये प्रेरित किया। इस प्रेरणा और प्रभाव ने ही भौतिक विज्ञान को 'अनब्रोकेन होलनेस' का अभिनव सिद्धान्त दिया।

ऋषियों के चिन्तन के प्रभाव विज्ञान की किसी शाखा विशेष तक सीमित नहीं है। अन्य शाखाएँ और उनके अध्येयता इसकी प्रेरणा और प्रभाव को ग्रहण कर विज्ञान के क्षेत्र में कुछ नया दे सके हैं। 'स्टेप्स टू एन इकॉलाजी ऑफ माइन्ड' की रचना करने वाले ग्रेगरी बैटसन अपने प्रयोगों में मन को एक नए रूप में जान सके। उन्हीं के शब्दों में 'माइन्ड विदआउट नर्वसिस्टम' की धारणा पूर्वी चिन्तन से प्राप्त हुई। इसी प्रकार मनोविज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति लाने वाले आर.डी. लेंग से फ्रिटजोफ काप्रा ने लन्दन में मुलाकात कर उन्हें अवगत कराया कि वह पूर्वी तत्त्व चिन्तन और आधुनिक विज्ञान का समन्वय कर रहे हैं। लेंग ने हल्की मुस्कराहट के साथ कहा समन्वय की बात नहीं पूर्वी चिन्तन पूर्णतया वैज्ञानिक है। वह स्वयं योग और ध्यान का अभ्यास करते हैं। इसी तत्त्व चिन्तन की प्रेरणा से वह ह्यूमिनिस्टिक साइकोलॉजी की धारणा दे सके हैं। आर. डी. लेंग की तरह स्टेनग्राफ की रील्म ऑफ ह्यूमन कांशसनेस में, कार्ल गुस्ताव युंग के प्रयोगों, राबर्टो असगोली की साइकोसिन्थेसिस में भारतीय चिन्तन के प्रभाव स्पष्ट दिखाई देते हैं।[५१]

इस तरह भारत में उदित हुए विचारों ने विश्व के विभिन्न भू भागों में अपना विकास और विस्तार किया। वस्तुतः भारतीय विचारों के प्रति पश्चिमी देशों की प्रतिक्रिया प्रत्येक शताब्दी में विचारकों के साथ बदलती रही। कुछ लोगों ने तो भारतीय विचारधारा को तुरन्त अपना लिया और वे इसको अन्य लोगों की अपेक्षा अच्छी तरह समझ सके। दूसरों ने स्वभाववश इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त की। प्रतिक्रिया कैसी भी हुई हो, अनुकूल अथवा प्रतिकूल, सम्पूर्ण अथवा आंशिक रूप से, इसको पश्चिम की बौद्धिक जलवायु में विविधतापूर्वक समाहित कर लिया गया। वर्तमान के विश्व परिसर में फैली हुई विचारों की इस विविधता के मुख्यतः तीन रूप मिलते हैं- धर्म, दर्शन और विज्ञान।

धर्म का प्रत्यय

'धर्म' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की 'धृ' धातु से बतायी गयी है। 'धृ' का अर्थ होता है धारण करना। धर्म शब्द अपने स्वरूप और लक्ष्य को स्वयं स्पष्ट करता है। धर्म से तात्पर्य है वह वस्तु जो समस्त संसार को धारण कर रही है। अर्थात् धर्म समस्त संसार का मूल आधार और समाज की एकता को मूर्तिमान करने वाला सशक्त

---

५१. आचार्य श्रीराम शर्मा- आधुनिक विज्ञान ऋणी है देव संस्कृति का, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ६, पृ ५८-५९

माध्यम है।"[52] धर्म की ही भाँति अंग्रेजी का 'रिलीजन' शब्द- शाब्दिक अर्थों में एकता और सामंजस्य का सिद्धान्त है (लैटिन-रिलीजिओ ओनिस; रि- वापस अथवा पुन., लिगेअर- बांधना)। 'रि' से यह बोध होता है कि एकता के दो विषय मूल रूप में एक ही थे और केवल अस्थायी रूप से पृथक् हो गए हैं। इस व्युत्पत्ति के आधार पर रिलीजन को समझा जाय तो" यह एक ऐसी वस्तु है जो आराध्य तथा आराधक, उपासक और उपास्य, व्यक्ति तथा समाज को बांधती है। इस प्रकार धर्म मानव और ईश्वर, ससीम और असीम की परम एकता में आस्था पर आधारित है और इस कारण कोई भी धर्म जो कि मानव और ईश्वर के बीच स्थायी खाई खोदता है, परोक्ष रूप से अपने धर्म कहलाने के अधिकार का ही निषेध करता है। यदि मानव सार रूप में दैवी नहीं है तो कोई भी सच्चा धर्म असम्भव है। भौतिकवाद, मानव द्वारा संसार की उन्नति में विश्वास करने वाला मत (Meliorism), नैतिकतावाद और व्यवहारवाद पर आधारित धर्म अपने प्रयोजन को ही भूल जाता है। यदि यह मान लिया जाय कि रिलीजन शब्द से दैवी सत्ता की ओर कोई निर्देश नहीं होता, परन्तु दैवी सत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी से भी मानव की पूर्ण एकता सम्भव ही नहीं है। क्या ससीम से एकता उतनी ही पूर्ण हो सकती है, जितनी की असीम से एकता? सीमित प्रेम स्वभावतया ही सदैव सीमित है और इस कारण हमेशा अपूर्ण रहेगा। प्रत्येक धर्म जो कि दैवी सत्ता को छोड़कर मनुष्य को किसी और से मिलाना चाहता है- हर हमेशा अधूरा रहेगा। ईश्वरीय धर्म ही एक मात्र सार्थक धर्म है, जो अपने भाव बोध को प्रभावित करता है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मानव के धर्म को देवमानव का धर्म बन जाना चाहिए।

धर्म की व्याख्या करते हुए हेगलवादियों ने उसमें बुद्धि के अंश पर जोर दिया है। जैसा कि प्रो. मैक्टैगार्ट ने कहा है- "धर्म स्पष्टतया ही एक मानसिक अवस्था है..... मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वह हममें और विस्तृत विश्व में एक सामंजस्य पर आधारित एक भावना के रूप में सर्वोत्तम रीति से वर्णन किया जा सकता है।"[54] इस प्रकार का सिद्धान्त सभी धर्मों में एक प्रकार के बौद्धिक ज्ञान को आवश्यक तत्व मानता है। लेकिन उनके धार्मिक व्यक्तियों ने कभी किसी प्रकार का दार्शनिक अथवा बौद्धिक विचार विकसित नहीं किया। धर्म का सर्वोत्तम साधन श्रद्धा एक बौद्धिक प्रक्रिया अथवा विचार न होकर विशुद्ध भावनात्मक प्रक्रिया है। इस भावनात्मक तत्व को मानसिक तथा ज्ञान सम्बन्धी तत्वों से पृथक् न करने के कारण धर्म की प्रकृति के विषय में अनेक मिथ्या विचारों का प्रचलन हो गया है। एक अर्थ में अनुभव का शुद्ध-बुद्धि की क्रिया से तादात्म्य किया जा सकता है। परन्तु मानव को ईश्वर की ओर प्रेरित करने वाली श्रद्धा न तो शुद्ध और न मिश्रित तर्क है, बल्कि मानव के दैवी भविष्य में एक संवेदनशील आस्था है। धर्म मन की बेड़ियों से मुक्त वस्तु के महत्व की स्थापना नहीं है जैसा कि जैन्टाइल ने सोचा था और न वह व्हाइटहेड के शब्दों में "जो कुछ व्यक्ति स्वयं अपने एकान्त के साथ करता है, वह ही है। वह न तो वस्तु विषयक है न आत्म विषयक। वह चित्त विषयक है जो कि विषय और विषयी दोनों है। आध्यात्मिकता सभी धर्मों का सार रूप है।"

प्रो. मिल्टन यिंगर ने यह बतलाया है कि यूं तो धर्म की १०० से भी अधिक परिभाषाएँ दी जा सकती हैं, किन्तु धर्म को इन परिभाषाओं को गिनाने के स्थान पर उनका वर्गीकरण करना अधिक लाभप्रद है। यिंगर के अनुसार तीन तरह की परिभाषाएँ हैं। पहले वर्ग की परिभाषा मूल्यात्मक होती है- जो बतलाती हैं कि धर्म क्या होना चाहिए। दूसरे वर्ग की परिभाषा वर्णनात्मक होती हैं जिनमें धर्म का वर्णन स्पष्ट अर्थ में किया जाता है, जैसे टाइलर की परिभाषा कि धर्म का अर्थ है आध्यात्मिक प्राणियों में विश्वास। तीसरे वर्ग की परिभाषाएँ क्रियात्मक हो जाती हैं। ये बतलाती हैं कि धर्म क्या करता है। विभिन्नताओं के बावजूद जब हम सभी धर्मों

५२. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म के शाश्वत स्वरूप को समझे बिना गति नहीं, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५४, अंक ९, पृ १३
५३. Everyman's Encylopaedia, Vol. X, Forth Edition, 1958, p. 512
५४. मैक्टेगार्ट- सम डाग्माज ऑफ रिलीजन, पृ ३

को धर्म के अन्तर्गत मानते हैं तो इसका एक मात्र कारण यही है कि ये सभी एक जैसी समस्याओं को हल करने का प्रयास करते हैं।[५५]

श्लीअर माकर और रिटशैल जैसे विचारकों का दल धर्म की व्याख्या करते समय अनुभूति को प्रधानता देता है। इनके अनुसार धर्म का विषय रहस्यमय है, मोहक है, और उदात्त है। उसके सम्मुख हम काँप उठते हैं, परन्तु फिर भी उसकी ओर खिंचते चले जाते हैं। इस प्रकार का दृष्टिकोण धर्म को निम्न प्रकृतिजन्य बना देता है, जबकि ईश्वर की प्राप्ति में आस्था के रूप में धर्म आत्मिक स्तर का सत्य है। वह ब्रैडले की 'मूल प्रवृत्ति और ऐन्द्रिक अनुभूति' न होकर एक सहज ज्ञानमय चित्त प्रधान अवस्था है।

नीतिवादी धर्म के नैतिक पक्ष पर जोर देते हैं। मैथ्यू अर्नाल्ड धर्म को 'भावनामय नैतिकता के अतिरिक्त कुछ नहीं' के रूप में बताते हैं। कान्ट का सारा बल नैतिक संकल्प की प्राथमिकता पर है। उन्होंने ईश्वर को केवल नैतिक मान्यता के रूप में स्वीकार किया है। ब्रैडले के अनुसार- "नैतिकता के अधिक ऊँचे शुभ के स्तर पर पहुँचती है। वह वहाँ समाप्त होती है, जिसको हम धर्म कहते हैं।"[५६] नैतिक होना एक नैतिक कर्त्तव्य है और वह कर्त्तव्य है धार्मिक होना।[५७] गेडीज मेक ग्रेगोर ने धर्म को परिभाषित करते हुऐ कहा है- "धर्म एक इस प्रकार के जीवन की स्वीकृति है, जो अपने से परे स्थित स्रोत को मान्यता प्रदान करता है, जो मानवीय आचरण (जैसे कानून, नीति), संस्कृति (जैसे कला) तथा चिन्तन (जैसे दर्शन) के रूपों में पल्लवित होता है।"[५८] उपरोक्त मत आध्यात्मिक तत्त्व को मानसिक तत्त्व से अलग नहीं कर पाते। अनैतिक न होते हुये भी धर्म नीति से परे है। क्योंकि धर्म का विषय समस्त मानव मूल्यों का अतिक्रमण करता है। एक आत्मिक प्रेरणा के रूप में धर्म में विचार, संकल्प और अनुभव सभी सम्मिलित हैं, लेकिन तो भी वह इन सभी से अधिक है।

व्हाइटहेड ने धर्म को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "धर्म वह क्रिया है जो व्यक्ति अपनी एकान्तता के साथ करता है।"[५९] विलियम जेम्स की भी धर्म की व्याख्या व्हाइटहेड से मिलती-जुलती है। उनके अनुसार- "व्यक्तियों की अपने एकान्त की अनुभूतियाँ, कर्म और अनुभव जहाँ तक कि वे अपने को उस सत्ता से सम्बन्धित पाते हैं, जिसको कि वे दैवी कहते हैं।"[६०] यह परिभाषा धर्म के दैवी तत्त्व की यथार्थता पर ज़ोर देते हुऐ भी उसके वस्तु विषयक और सामाजिक पहलू को भूल जाती है। व्हाइटहेड और जेम्स दोनों ही धर्म में मोक्ष और सीमाओं से मुक्ति के पहलू को भुला देते हैं, जिसमें कि मानव अपने एकाकीपन से उठकर दैवी सत्ता की उपस्थिति का अनुभव करता है। एकाकी की ओर एकाकी की उड़ान[६१] के रूप में धर्म की परिभाषा उन रहस्यवादियों के वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जो कि व्यक्तिगत मोक्ष पर बल देते हैं। लेकिन इसके विपरीत आधुनिक युग की चेतना आचार्य श्रीराम शर्मा के सार्वभौमिक मोक्ष के आदर्श में परिलक्षित होती है। जब तक हम अपने साथियों से ऐक्य का अनुभव नहीं करते तब तक हमारी दैवी सत्ता से पूर्ण एकता सम्भव नहीं है। आचार्य जी के

---

५५. The only justification for referring to such diversity of belief of worship and of Organization by one term is the assumption that many forms represent to deal with the same problem.
- *J. Milton Yinger- Religion, Society and the Individual*

५६. एच एच. ब्रैडले- एपीयरेन्स एण्ड रीयलिटी, पृ ३८८

५७. एच. एच ब्रैडले- एपीयरेन्स एण्ड रीयलिटी, पृ ३९१

५८ Religion is commitment to a kind or quality of life that purports to recognize a source beyond *it self* (usually but not necessarily colled God), and that issues in recognizable fruits in human conduct (e.g low, morality), culture (e g. art poetry) and thought (e g philosophy).
- Geddes Mac Gregor - Introduction to Religious Philosophy

५९ व्हाइटहेड- रिलीजन इन दि मेकिंग

६०. विलियम जेम्स- वैराइटीज ऑफ रिलीजस एक्सपीरियेन्स, पृ ३२

६१. प्लॉटिनस- द नियोप्लेटोनिस्टस्, पृ १०३

अनुसार- "सच्चा धार्मिक एक ऐसी अव्यक्त भाषा बोलता है, जिसे संसार का हर व्यक्ति समझ सकता है। यह वाणी उसके अन्त:करण से भाव संवेदनाओं के रूप में प्रस्फुटित होती है। विश्व उसका परिवार और प्रत्येक मनुष्य उसका अपना बन्धु होता है। सबका कल्याण करना ही उसका पूजा बन जाता है। धर्म का जीवन में सही अर्थों में अवतरण ऐसी ही अनुभूति कराता है।"[६२]

हॉफडिंग ने धर्म की व्याख्या- "मूल्यों के संरक्षण में आस्था"[६३] के रूप में की है। इस परिभाषा में जहाँ एक ओर मूल्य के रूप में धर्म के तत्त्व की यथार्थता को पहचाना गया है। वहीं उसके व्यावहारिक रूप को विस्मृत कर दिया गया है। सच तो यह है कि धर्म केवल मूल्यों के संरक्षण में नहीं, बल्कि उनकी सिद्धि में आस्था है। फिर धर्म के तत्त्व के रूप में मूल्य केवल नैतिक नहीं है, क्योंकि परमात्मा नीति-अनीति से परे है। एलेक्जेण्डर ने इस परिभाषा को पूरी तरह बौद्धिक माना है। लेकिन उनके इस कथन में कि ईश्वर को सर्वोच्च मूल्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा कोई निमूल्य नहीं है, जिससे उसकी तुलना हो सके।[६४] वह निरपेक्ष विधेयों को सापेक्ष विधेय मान लेता है। यदि किसी वस्तु में मूल्य होता है, तो वह किसी मूल्यहीनता की तुलना में होता है, क्योंकि सीमित वस्तुओं के विधेय सापेक्ष होते हैं। लेकिन परमात्मा के विषय में बात कुछ दूसरी है, जो कुछ ईश्वर के विषय में कहा जाता है, वह निरपेक्ष है और उसके विरोधी के निषेध की आवश्यकता नहीं। फिर अलैक्जेण्डर के अनुसार धर्म ईश्वर में आस्था है अथवा यह वह स्थायी भाव है कि हम उसकी ओर खिंचते हैं और अनुभव के एक उच्च स्तर की ओर उसके प्रवाह में फंस जाते हैं।[६५] यह परिभाषा धर्म की कुछ विशेषताओं को स्पष्ट करती है। इसमें सर्वप्रथम इस बात का निर्देश है कि धर्म हमको ईश्वर और उच्चतर अनुभूति की ओर ले जाता है और दूसरे कि धर्म ईश्वर में आस्था है। लेकिन इसमें सिद्धि के महत्त्व को नहीं पहचाना गया है। अलैक्जेण्डर का संकेत इस ओर भी है कि दैवी तत्त्व की सिद्धि होने पर मूल्य उत्पन्न होंगे, परन्तु तब तो यह दैवी हो नहीं रह जाएगा, क्योंकि तब प्रेरणा दैवी के देवत्व की ओर होगी और यह क्रम इसी प्रकार चलता रहेगा।[६६] इस तरह ईश्वर का कभी भी मूल्य से तादात्म्य सम्भव नहीं हो पाता। और इस तरह का संभावित ईश्वर धर्म की मांगों को सन्तुष्ट नहीं करता। यथार्थ ईश्वर के बिना धर्म एक अर्थहीन कल्पना भर है। धर्म के ईश्वर को यथार्थ और परम तथा इस कारण सर्वोच्च मूल्य होना चाहिए। जो प्रभावित करता है वह अपने प्रभाव के कारण ही यथार्थ है। ईश्वर हमारी जिन्दगी को प्रभावित करता है, अत: वह यथार्थ है।

डॉ. मैत्र के अनुसार धर्म "मूल्यों की सिद्धि में आस्था है।"[६७] इसमें मूल्य यथार्थ हो भी सकते हैं और नहीं भी। जबकि धर्म का अवलम्बन सदैव सत् होता है। फिर जैसा कि हम पाते हैं, ईश्वर सर्वोच्च मूल्य है, जिसमें कि सभी मूल्य सुरक्षित रहते हैं। सत्य तो यह है कि ईश्वर में मूल्य और सत्ता का योग है। वह परम मूल्य भी है और परम सत्ता भी। अत: धर्म की सार्थक परिभाषा के रूप में यह कहना होगा- वह ईश्वर की सिद्धि में आस्था है। उसका लक्ष्य यह अथवा वह मूल्य न होकर सर्वोच्च मूल्य स्वयं भगवान् ही है। आचार्य जी के शब्दों में- "धर्म न तो सिद्धान्तों की बकवास है, न मत मतान्तरों का प्रतिपादन और खण्डन है और न ही बौद्धिक सहमति है। इस प्रकार धर्म न तो शब्द होता है, न नाम और

---

६२. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म के शाश्वत स्वरूप को समझे बिना गति नहीं, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५४, अंक ९, पृ. १४

६३. Faith in the Conservation of value - Hoffding
- एलेक्जेण्डर- स्पेस टाइम एण्ड डीटी, भाग २, पृ. ४०८

६४ वही, पृ. ४१०

६५. वही, पृ. ४२९

६६. Faith in the Conservation of value - Hoffding – एलेक्जेण्डर- स्पेस टाइम एण्ड डीटी, भाग २, पृ. ३४८

६७ एस. के. मैत्र- श्री अरविन्द मंदिर, एनुअल, भाग २, पृ. ६१

सम्प्रदाय, वरन् इसका अर्थ होता है आध्यात्मिक अनुभूति।'[६८] एक ऐसी अनुभूति जिसमें मानव और ईश्वर में सच्चे और परम सम्बन्धों का जीवन व्यतीत किया जा सके। ऐक्य के सम्बन्ध अनैक्य के सम्बन्ध, एक ज्योतिर्मय ज्ञान के सम्बन्ध, एक रसावेश जनित प्रेम और आनन्द, एक पूर्ण आत्म समर्पण और सेवा, हमारी सत्ता के प्रत्येक अंश को उसके साधारण स्तर से निकालकर मानव को भागवत सत्ता की ओर ऊर्ध्वोन्मुखी प्रगति में ढालना और परमात्म चेतना का मानवी सत्ता में अवतरण।

❖ धर्म और जीवन

धर्म जीवन की व्यवस्था और दिशा है। इसे यदि जीवन से निकाल दिया जाय तो जीवन अव्यवस्थित और दिशाहीन हो जाता है। इस तथ्य को शब्द देते हुए आचार्य जी का कथन है- ''धर्म को प्रतिगामी एवं अन्धविश्वासी कहना आज का फैशन है। तथाकथित बुद्धिवादी प्रगतिशीलता के जोश में धर्म को अफीम की गोली कहते और उसे प्रगति का अवरोध ठहराते पाए जाते हैं। पर यह बचकानी प्रवृत्ति मात्र है। गम्भीर चिन्तन से इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि मनुष्य के अन्तराल में आदर्शवादी आस्था बनाए रखना और नीति मर्यादा का पालन करना धर्म धारणा के सहारे ही सम्भव हो सकता है। भौतिक लाभों को प्रधानता देकर चलने और सदाचरण के अनुबन्धों को तोड़ देने से उपलब्ध सम्पदाएँ दुष्प्रवृत्तियों को ही बढ़ाएँगी और अन्ततः विनाश का कारण बनेंगी। वैभव पर धर्म का अंकुश रहने से ही शान्ति और व्यवस्था बनाए रह सकना सम्भव होगा।'[६९]

लेकिन धर्म के इस स्वरूप और महत्त्व को न समझ पाने के कारण मार्क्स ने कहा था- ''आदमी सामाजिक सम्बन्धों की समष्टि मात्र है।''[७०] उसे धर्म की कोई आवश्यकता नहीं। उनके मतानुसार धर्म मनुष्य के वास्तविक मूल्यों के संसार को ही बदल देता है और इन्सान नम्रता, गरीबी, अपरिग्रह जैसी वस्तुओं को अपनाने के लिये तैयार रहता है। जबकि मानव जीवन शक्ति और आनन्द से पनपता है, और धर्म इस सत्यता को ही बदल देता है। नीत्शे ने इस तरह के गुणों को दास गुणों का नाम दिया था। व्यक्ति को इस विश्व की समस्याओं से हटाकर उसे अन्य काल्पनिक विश्व की ओर खींच कर धर्म कोई अच्छा काम नहीं करता है- ऐसा मार्क्स का दृढ़ मत था। लोगों को अपनी गरीबी तथा दासता दूर करने की प्रेरणा देने के विपरीत धर्म उन्हें कायर बना डालता है और हर अत्याचार को शान्ति से सहने की प्रेरणा देता है। इस आशा में कि मरणोपरान्त उसे स्वर्ग मिलेगा और कुछ कष्ट, जो उन्होंने उठाए हैं उनका परिमार्जन हो जाएगा। इस तरह की घटनाएँ मानव जीवन में विष घोलती है। इसलिए मार्क्स ने लिखा था कि धर्म सताए गए प्राणी की सिसकी है, निर्दयी विश्व का हृदय वह गरीबी की अफीम है। इसलिए मार्क्स धर्म को जीवन से बाहर निकाल फेंकने के हिमायती थे। धर्म व्यक्ति को मूर्खता तथा अत्याचार सहन करने का उपदेश देता है, तो फिर अत्याचार समाप्त कैसे होगा? शोषण का अन्त किस प्रकार किया जा सकेगा? मार्क्स ने इसलिये निष्कर्ष निकाला कि ईश्वर का विचार बिगड़ी सभ्यता की आधारशिला है।[७१] इसलिए धर्म को खत्म करो- मार्क्स का यह पहला आदेश था। उसके साथ ही एंगेल्स ने तो यहाँ तक लिख दिया कि धर्म का प्रथम शब्द ही झूठ है।

मार्क्स ने जो कुछ कहा, नितान्त त्रुटिपूर्ण नहीं था। धर्म की आड़ में समाज के अत्याचारी और अनाचारी तत्त्वों ने मानवता को कई बार चोट पहुँचायी है। धर्म के लिफाफों में अनेक बार शोषण तथा पीड़ा को छिपाकर रखा गया है, किन्तु सत्य यह है कि यह धर्म जिसके पीछे शोषण तथा उत्पीड़न की कहानी है, वास्तविक धर्म नहीं है। वह धर्म का छल है। जिस व्यक्ति ने धर्म

---

६८. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म के शाश्वत स्वरूप को समझे बिना गति नहीं, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५४, अक ९, पृ. १३

६९ आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म धारणा हर दृष्टि से उपयोगी, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४४, अंक ७, पृ. ९

७० The Human essence is not an abstraction innobiting the separate individual. In the actuality it is essemble of social relation.
- Marx- Sixth Thesis on Feuerbach

७१ The idea of God is the keystone of a perverted civilization.

अर्थ को समझा, उसने अत्याचार के खिलाफ गांधी की तरह बगावत की, और उसे हटाकर दम लिया। धर्म अन्याय का पोषक नहीं, विध्वंसक है। गीता कहती है कि 'जब-जब धर्म की ग्लानि होती है, ईश्वर अधर्म को धराशायी करने के लिये तत्पर हो जाता है।'

जिस धर्म ने अत्याचार को सहा, उसके सामने सिर झुकाया या उसके सामने मूक मौन रूप से अपने आपको समर्पित कर डाला, वह धर्म नहीं है। अधिकांश लोग रुढ़ियों, रिवाजों, चली आ रही परम्पराओं, मंदिरों, मस्जिदों, गिरजों, गुरुद्वारों आदि की अभ्यर्थना को ही धर्म मानते हैं। यही गलती हो जाती है। यह सब तो बच्चों को जिस तरह हम अक्षर सिखाते हैं, उसी तरह व्यक्तियों को धर्म की दिशा में ले चलने का प्रयास मात्र है। धर्म का अन्तिम उद्देश्य परम सत्य का साक्षात्कार करना है, जिसमें सभी तरह के छल-कपट खत्म हो जाते हैं।

रूसो ने बतलाया है कि समाज की दृष्टि से भी धर्म को दो भागों में बाँटा जा सकता है। मनुष्य का धर्म तथा नागरिक का धर्म। पहला जिसमें न तो मंदिर होते हैं न वेदियाँ, न रुढ़ियाँ और जो परमेश्वर में विशुद्ध आन्तरिक विश्वास तथा नैतिकता के शाश्वत कर्त्तव्यों तक ही सीमित होता है- सही तथा वास्तविक धर्म है। दूसरा, जिसे एक राज्य में नियमबद्ध किया जाता है, उसे उसका देवता देता है। इसके कुछ विश्वास होते हैं, इसकी कुछ रुढ़ियाँ होती है और कानून सम्मत इसके बाह्य मत होते हैं। इसको मानने वाले एक वर्ग अथवा देश के अतिरिक्त सारा विश्व और समूचा समाज इसकी निगाह में काफिर, विदेशी तथा जंगली होता है। इसके मानवीय कर्त्तव्य और अधिकार उसकी सीमा तक ही सीमित रहते हैं।

इस रुढ़िवादी धर्म ने ही धर्म को बाँट डाला है। कितने ही धर्म पूर्व से लेकर पश्चिम तक तथा उत्तर से लेकर दक्षिण तक विश्व में फैले हैं। और तो और एक ही कहे जाने वाले धर्म में भी बिखराव पाया जाता है, हिन्दू धर्म में अनेक शाखाएँ हैं। उसी तरह मुस्लिम धर्म तथा ईसाई धर्म में भी अनेक शाखाएँ तथा उपशाखाएँ विद्यमान हैं। किन्तु यह धर्म का असली रूप नहीं है। धर्म के वास्तविक स्वरूप को जीवन में समावेशित करने पर तो व्यक्ति इब्रान अरबी की तरह कहता है- मेरा हृदय प्रत्येक प्रकार में ढलने की क्षमता रखता है। ईसाइयों के लिये यह गिरजा है, मूर्ति पूजकों के लिये मंदिर है, मुस्लिमों के लिए यह काबा और कुरान है।

धर्म के इस स्वरूप को जीवन में अपनाने पर मनुष्य किसी तरह की गिरावट का शिकार नहीं होता है। यदि मानव समाज को समृद्ध करना है, उसे झगड़ों तथा विद्रोह से बचाना है, उसमें नैतिकता का उभार देखना है, उसमें प्रगति का प्रवाह उन्मुक्त करना है, तो धर्म का आश्रय लेना ही होगा। क्योंकि यही वह तत्त्व है जो समाज के जीवन को स्थायित्व देता है। उसकी संस्कृति को सृजनशील दिशा देता है, उसके जीवन में फूलों और बहारों की सृष्टि करता है। धर्म के रंग में रंगी मानव आत्मा सारे विश्व में एक ही प्रभु के दर्शन करती है, सभी से प्यार करती है। 'सिया राम मय सब जग जानी, करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी।' यही तो उसकी प्रवृत्ति होती है। किसी के साथ द्वेष नहीं। सबके साथ मैत्री भाव, सहृदयता का बर्ताव, यह धार्मिक व्यक्ति के लिए सहज स्वाभाविक है।

राधाकृष्णन् के अनुसार- 'धर्म हमारी आत्मा तक पहुँचता है और हमें क्षुद्रताओं से लड़ना सिखाता है। धर्म एक प्रकार की सामाजिक पूर्णता का प्रयास है।'[७२] सामान्य आदमी अपने आप से पूछ सकता है कि समाज के लिए अपने स्वार्थ की बलि क्यों दूँ। उसके प्रश्न का उत्तर न तो राज्य के पास है, न कानून के पास और न ही समाज के पास। उसके प्रश्न का उत्तर है धर्म के पास। यही उसे बतलाएगा कि एक ही ईश्वर इस तरह की विविधताओं में प्रकट हो रहा है। इसलिए किसी से घृणा या दुर्व्यवहार ईश्वर के साथ भी दुर्व्यवहार है।

समाज को बचाने वाली नैतिकता का पाठ इसलिए धर्म से ही व्यक्ति सीखता है। धर्म इस तरह मानव जीवन

---

७२. Religion is the discipline which touches the Conscience and help us to strugle with evil and sordidness saves us from greed, lust and hatred, releases moral power and imparts courage in the enterprize of saving the world.
-S. Radhakrishanan- Religion and Society, p. 242

के लिऐ अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है। वह कोई ऐसी चीज नहीं है, जिसे चाहो तो स्वीकार किया, चाहो तो फेंक दिया। धर्म से विलगाव का अर्थ है समाज की पूरी व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर देना। धर्म की अवहेलना हम समाज को खत्म करने की सम्भावना के खतरे को उठाकर ही कर सकते हैं।

आचार्य जी के शब्दों में- "शारीरिक मानसिक विकास ही नहीं, जीवन लक्ष्य की प्राप्ति भी धर्म धारणा से सम्भव है। पूर्णता लक्ष्य है। उस ओर बढ़ना, पूर्ण से सम्बन्ध जोड़ सकना धर्म अवलम्बन द्वारा ही सम्भव है। पूर्णता प्राप्ति की सहज प्रवृत्ति मानव अन्तःकरण में विद्यमान है। इसके लिये वह प्रयत्न भी करता है। पर धार्मिक आधारों के अभाव में सफल नहीं हो पाता। इस लक्ष्य की प्राप्ति धर्म धारणा द्वारा ही सम्भव है। धर्म को मनुष्य जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। धर्म जब जीवन में घुल- मिल जाता है- दैनंदिन जीवन की अनुभूति में उतरता है तो विषमता एवं अपने-पराए का भेद-भाव समाप्त हो जाता है। सर्वत्र अपनी ही सत्ता दिखाई पड़ती है। जीवन उल्लास, प्रकाश और उत्कर्ष से भर जाता है।"[७३]

◆ धर्म का दर्शन

धर्म सर्वग्राही परम मूल्य ईश्वर की सिद्धि में आस्था है। और दर्शन तथ्यों और मूल्यों की एक बौद्धिक व्यवस्था है। अतएव धर्म के दर्शन का कार्य अपनी भाषा में और मानव के तार्किक तथा बौद्धिक अंगों के हेतु धर्म के सत्यों, अनुभूतियों और नियमों की यथासम्भव सर्वोत्तम व्याख्या करना है। धार्मिक अनुभूतियों की व्याख्या करने में कितने भी आसक्त होने पर भी, व्यक्तिगत अनुभवों को सर्वजनीन बनाने हेतु तर्क और भाषा अनिवार्य है। धर्म का दर्शन धार्मिक अनुभूतियों का बौद्धिक विश्लेषण और तार्किक व्याख्या है। वह धर्म में उस सब प्रकार की कट्टरता और तर्कहीनता के विरुद्ध एक उपयुक्त औषधि है जो कि धर्म के नाम पर फैले हुए इतने अधिक अन्ध विश्वासों के लिये उत्तरदायी है। आस्था कोई बौद्धिक विश्वास नहीं है। धर्म तर्क का विषय नहीं है, परन्तु उसको तार्किक आलोचना के सम्मुख भी अपने प्रमाण पत्र उपस्थित करने योग्य होना चाहिए। सच्ची भक्ति यथार्थ सत्य पर आधारित होना चाहिए। अतः धर्म को अनुशासित करना धर्म के दर्शन का पवित्र कर्त्तव्य है। तर्क की उपयोगिता बुद्धि द्वारा निम्न तत्वों पर नियंत्रण करके मानव को बुद्धि से परे का संकेत देने में है। यह कहना सत्य अवश्य है कि आत्म तत्त्व और ईश्वरीय सत्य के कारण धर्म अनिर्वचनीय है। लेकिन फिर भी धर्म से समस्त तर्कहीन तत्वों को दूर करने के लिए दर्शन की उपयोगिता है।

परन्तु इसके बावजूद दर्शन धर्म के परम तत्त्व का विश्लेषण करने में सक्षम नहीं है। जहाँ तक धार्मिक अनुभूतियों की बौद्धिक व्याख्या करने का सवाल है, इसके लिए आवश्यक है कि धर्म का विवेचन करने वाला दार्शनिक स्वयं भी धार्मिक हो। स्वयं व्यक्तिगत अनुभव किए बिना कितना भी बौद्धिक मनन करने से धर्म समझ में नहीं आ सकता। साधारण प्रत्यक्ष और विश्लेषण के द्वारा धर्म के अनुभवों की व्याख्या करने के सभी प्रयत्नों में मनोवैज्ञानिक भ्रान्ति का दोष है। यद्यपि दर्शन के बिना धर्म बिना पतवार की नौका के समान है, लेकिन फिर भी पतवार तो नौका का काम नहीं दे सकती।

धर्म के दर्शन का आधार अनुभव ही है। क्योंकि समस्त धार्मिक समस्याएँ आस्था, उपासना, परम्परा, अनुभूति और अमरत्व इत्यादि अनुभव के अन्तर्गत ही आती है। और जब बिना किसी यथार्थ अनुभव की सहायता के तर्क धर्म की आलोचना करने लगता है तभी धर्म दर्शन में गड़बड़ी पैदा होने लगती है। इस प्रकार की सारी कोशिशें बच्चों के खेल की तरह हैं, जो कि वयस्क जनों के कार्य का मूल्यांकन नहीं कर सकते। केवल निरीक्षण, वर्गीकरण और सामान्यीकरण पर आधारित एक धर्म का दर्शन बनाने के सारे प्रयत्न निष्फल हैं, क्योंकि धार्मिक ज्ञान के उन अंशों में भी जहाँ कि वे बौद्धिक क्रियाओं के अधिकाधिक समान होते हैं, प्रकाश देने वाली शक्तियाँ, कल्पना, तर्क और बौद्धिक निर्णय नहीं बल्कि अनुभव, प्रेरणाएँ, सहज ज्ञान और सहज प्रत्यक्ष इत्यादि होते हैं, जो कि चेतना के उच्चतम स्तर से

---

७३. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म धारणा हर दृष्टि से उपयोगी, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४४, अंक ७, पृ ९

हमारे पास आते हैं। इसलिए धर्म दर्शन के अध्येता को योगी होना अनिवार्य है। क्योंकि इसके बिना तथ्यों का संग्रह, उनका वर्गीकरण, तुलना सम्भव नहीं है। और इन सबके बगैर सामान्य सिद्धान्त बनाकर धार्मिक अनुभूति के तथ्य को नहीं जाना जा सकता।

यही कारण है कि कभी-कभी धर्म के दर्शन को असम्भव करार दे दिया जाता है। मानवीय बुद्धि उस परम सत्य को कभी नहीं समझ सकती क्योंकि उसकी अपनी सीमा है।[७४] यह इस भौतिक जगत् की घटनाओं को ग्रहण करने पर समझ सकती है। किन्तु उस ईश्वर के रहस्य को जो इस विश्व से नितान्त भिन्न है, यह कैसे जानेगी? एक बात और है कि धर्म का आधार तो 'शब्द' प्रमाण है। गीता, कुरान, बाइबिल, त्रिपिटक जैसे ग्रन्थों में अटूट श्रद्धा रखे बिना धर्म का मार्ग प्रशस्त ही किस तरह किया जा सकता है। और चूँकि तर्क दर्शन का मूल आधार है, इसलिए धर्म का दर्शन सम्भव ही नहीं। लेकिन इस तरह की आलोचनाओं में न केवल धर्म और दर्शन के अभिन्न तथा अटूट सम्बन्धों को भुला दिया जाता है, बल्कि मानव प्रकृति के मनोविज्ञान को भी विस्मृत कर दिया जाता है।

मनोवैज्ञानिक अध्ययन यह बतलाते हैं कि मानव मन में तीन वृत्तियों का सामंजस्य पाया जाता है। इन वृत्तियों का नाम है– ज्ञान वृत्ति (Cognition), भाववृत्ति *(Affection)* तथा प्रयत्न *(Conation)*। ज्ञानवृत्ति ज्ञान के सबसे व्यापक रूप का प्रतीक है और इसके अन्तर्गत प्रत्यक्ष, स्मृति, अन्तर्निरीक्षण आदि सभी क्रियाओं का समावेश हो जाता है। इसका सम्बन्ध मानव बुद्धि से है। भाव वृत्ति हमारी हार्दिक अनुभूतियों का नाम है और इसके साथ सुख या दुःख की ध्वनियाँ लिपटी होती हैं। कृति या संकल्प हमारे ज्ञानात्मक तथा भावात्मक अनुभूति का प्रकटीकरण है। मनोवैज्ञानिक रूप से कोई भी व्यक्ति उन वृत्तियों से मुक्त नहीं हो सकता। उसकी प्रकृति ही कुछ इस ढंग से परिनिर्मित है कि न तो वह ज्ञान पक्ष को ही छोड़ सकता है, न भाव पक्ष को और न संकल्प या कृति पक्ष को। यह बात अलग है कि किसी व्यक्ति के कार्य में ज्ञान पक्ष प्रबल हो सकता है और किसी के कार्य में भाव पक्ष। किन्तु इन पक्षों का नितान्त अभाव असम्भव है। ऐसी स्थिति में श्रद्धा और भक्ति भी ज्ञान पक्ष से पूरी तरह विरत नहीं हो सकती। इसका भी अपना तर्क तो आखिर होता ही है। इसलिए यदि हम अपनी श्रद्धा के इस ज्ञान पक्ष को भी तौलने का प्रयत्न करें, तो कोई अमनोवैज्ञानिक कार्य नहीं करते हैं।

फिर दर्शन और धर्म एक दूसरे से इतने पृथक् नहीं हैं, जितना उन्हें धर्म-दर्शन के आलोचक मानकर चलते हैं। यदि धर्म सत्य से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है तो दर्शन उस सत्य को बौद्धिक रूप से समझना चाहता है। सत्य की उपासना धर्म भी करता है और दर्शन भी। अन्तर केवल इतना ही है कि धर्म की उपासना में भावना के पुष्प होते हैं, और दर्शन की अर्चना में विचारों की किरणें। धर्म को दर्शन की आवश्यकता है, ताकि वह अपनी भावना में असत्य को सत्य समझकर न पूजने लगे। और दर्शन को धर्म की आवश्यकता है क्योंकि जिस सत्य को जान कर लिया गया है, उसे जीवन में उतारना ही पड़ेगा अन्यथा दर्शन एक महज वैचारिक विलास होगा, जिसका मूल्य कम से कम तात्विक दृष्टि से नहीं हो सकता। अतएव कहना यही होगा कि राका के चन्द्रमा में जिस तरह प्रकाश और आनन्दमय स्निग्धता घुल-मिलकर एकाकार हो जाते हैं, उसी तरह धर्म और दर्शन मिलकर सत्यार्थी के लिए एक आनन्दमय समष्टि का निर्माण करते हैं।

उपरोक्त स्पष्टीकरण से यह सिद्ध हो जाता है कि धर्म का दार्शनिक अध्ययन सम्भव है। इसके द्वारा तर्क के तराजू पर धार्मिक मान्यताओं को परखकर उनका समालोचनात्मक परीक्षण किया जाता है।[७५] रार्बट लीट पेटरसन के अनुसार धर्म दर्शन का कार्य धार्मिक मान्यताओं को आदर किन्तु पूर्णता के साथ परखना है।[७६] मानव

---

७४. "A Consciousness of the Infinite necessarily involves a self contradiction, for it implies the recognition by limitation and difference of that which can only be given as unlimited and indifferent."
- Herbert Spencer- First Principles.

७५. John Caird- An Introduction to the Philosophy of Religion, p. 1

७६. Robert Leet patterson- An Introduction to the Philosophy of Religion, p. 105

मेकफर्सन के मतानुसार धर्म दर्शन का कार्य धर्म के क्षेत्र में वस्तुओं को स्पष्टता प्रदान करना है।[७७] जार्ज एल. ऊबरनेथी तथा थामस ए. लेंगफोर्ड के अनुसार दर्शन तथा धर्म को आपस में मिलाने वाला और उनमें सम्पर्क स्थापित करने वाला शिक्षण धर्म दर्शन है।[७८] आचार्य जी के अनुसार- "तर्कहीन मन:स्थिति का नाम धार्मिकता नहीं है। आँखें बंद करके किसी के भी वचन को गले नहीं उतारना चाहिए। अपने लोग कहते हैं या पराए, बात संस्कृत या अरबी भाषा में कही गयी है अथवा बोलचाल की भाषा में, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। स्वीकार करने योग्य वही है जिसमें तथ्य जुड़े हों और जिसे विवेक कि कसौटी पर खरा सिद्ध किया जा सके। बिना खोज-परख के जो धर्म के नाम पर किसी भी मान्यता या प्रथा को स्वीकार करले, वह स्वस्थ दृष्टि नहीं है।"[७९] इस स्वस्थ दृष्टि का नाम ही धर्म दर्शन है।

इस सम्बन्ध में इतना अवश्य है कि इस दार्शनिक प्रयत्न में दर्शन को अपनी प्रचलित पद्धति में कुछ फेर बदल की आवश्यकता अवश्य है। क्योंकि रूपक, लक्षण और उपमा के प्रयोग के बिना बुद्धि से धार्मिक अनुभव की व्याख्या नहीं की जा सकती। भाषा-अनुभव के तथ्यों की लाक्षणिक अभिव्यक्ति है। अतः वह भिन्न-भिन्न तथ्यों के अनुरूप परिवर्तशील होनी चाहिए। भाषा अनुभव के अनुरूप होनी चाहिए, अनुभव भाषा के अनुरूप नहीं। दर्शन को धर्म की भाषा, उसके दिव्य अनुभवों और लक्षणों के अर्थों को समझना सीखना चाहिए।

दर्शन का प्रत्यय

यूनानी दार्शनिक अरस्तू जब भौतिक विज्ञान का अध्ययन कर चुके तब उन्होंने मेटाफिज़िक्स की रचना की। मेटाफिज़िक्स (Metaphysics) का शाब्दिक अर्थ है भौतिक शास्त्र के पश्चात्। इसे उन्होंने विज्ञानों का विज्ञान और समस्त विज्ञानों की जननी बताया। आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार- "विज्ञान मात्र प्रकृति के कुछ रहस्यों पर से पर्दा उठाता है किन्तु दर्शन विश्व चेतना के अनेक पक्षों पर प्रकाश डालता है, बताता है कि चिन्तन की धाराएँ किस प्रकार परिष्कृत की जा सकती हैं। प्रकृति की क्षमताएँ उपयोग में लाकर अनेक सुविधाएँ पायी जा सकती हैं, पर उन सुविधाओं का समुचित उपभोग करने के लिए मनुष्य की चिन्तन प्रक्रिया का क्या आधार हो सकता है, यह बताना दर्शन का काम है।"[८०] विज्ञान जहाँ केवल प्रतीति जगत् की क्रियाओं से सम्बन्धित है, वहीं दर्शन का सम्बन्ध सत् और संभूति दोनों से है। इस तरह विज्ञान को भी इसके अन्तर्गत ही मानना पड़ेगा। आचार्य जी के शब्दों में "दर्शन वृक्ष है, विज्ञान उसकी एक टहनी।"[८१] मानव के अनुभवों में नित्य और अनित्य दोनों का स्थान है। अतः मानव के सम्पूर्ण अनुभव की व्याख्या के रूप में दर्शन सर्वांगीण सत्य की खोज है।

वर्तमान दर्शन की प्रभात बेला में बुद्धिवादियों ने स्वयं सिद्ध सिद्धान्तों से विनियोजित ज्ञान के रूप में दर्शन को परिभाषित करने की कोशिश की है। इसको बुद्धिगम्य और गणितमय बनाने की इस कोशिश का कारण इसमें यथार्थता लाना था। लेकिन सिर्फ विचार के माध्यम से दर्शन कभी भी गणित की तरह यथार्थ होने का स्वप्न नहीं सँजो सकता, क्योंकि विचार सत् भले हों, पर सद्वस्तु नहीं हो सकते । अयथार्थता को दर्शन की दुर्बलता और सबलता दोनों कहा जा सकता है। दार्शनिक ज्ञान का प्रेमी तो है, पर उसके सर्वाधिकार पूर्ण स्वामित्व का दावा कभी नहीं कर सकता। असीम चिरन्तनता का ससीम के द्वारा पूर्ण ज्ञान कोरी तार्किक दृष्टि से नितान्त असम्भव है। यद्यपि मानव का कर्त्तव्य तो उसकी ओर निरन्तर बढ़ते जाना ही है। परम सद्वस्तु को तत् और सत्, विषयी और विषय, रूप और तत्त्व में बाँट देने वाला मानव विचार सद्वस्तु का प्रतिनिधित्व कदापि नहीं कर

७७. Thomas McPherson- The Philosophy of Religion, p 5
७८. Geoge L. Abernethey and Thomas A Long ford- Philosophy of Religion (Preface).
७९. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म का मूल प्रयोजन सत्य की शोध, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५०, अंक ३, पृ. ८
८०. आचार्य श्रीराम शर्मा - दर्शन की उपयोगिता विज्ञान से भी अधिक है,अखण्ड ज्योति, वर्ष ३५, अंक १२, पृ २०
८१. वही, पृ २०

सकता जो कि एक सर्वव्यापी आध्यात्मिक सत्ता है। तर्क और गणित के आगमन-निगमन का विषय नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि परम तत्त्व रासायनिक सूक्ष्मता से भी अधिक सूक्ष्म है और इसलिए नाम और रूप के तत्त्वों को मानदण्ड बनाकर उनके विचार से चलने वाली बुद्धि के आगमन, निगमन, अनुमान अथवा खोज का विषय नहीं हो सकता। जैसे रेखागणित के नियमों को रसायनशास्त्र पर लागू नहीं किया जा सकता। उसी तरह वे दर्शन पर भी लागू नहीं हो सकते। अनुभव के प्रत्येक नवीन क्षेत्र के अपने नियम हैं। अपरोक्ष अनुभव से अपना नाता तोड़ देने पर दर्शन मानव बुद्धि की भूल-भुलैया में अपना रास्ता खो देता है, जिससे उसका कहीं भी पहुँचना सम्भव नहीं।

बुद्धिवादियों के विरोधी अनुभववादी दर्शन ने जिसका प्रतिनिधित्व ह्यूम बर्कले और लॉक ने किया, इस बात पर जोर दिया कि दर्शन को अनुभव पर आधारित होना चाहिए। लॉक के अनुसार अपनी विषय सामग्री के लिए दर्शन का रूप और साधन अनुभव पर निर्भर है। यद्यपि यह बुद्धिवादी एकांगिता के खिलाफ उचित उपचार था। लेकिन दर्शन को ऐन्द्रिक अनुभव तक सीमित करके अनुभववादियों ने एक दूसरी तरह की एकांगिता का सृजन किया। जिसका परिणाम हुआ समस्त दर्शन का निषेध। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि दार्शनिक अनुभव की सीमा यदि इन्द्रियानुभव को ही मानें तो फिर दर्शन को आकाश कुसुम की खोज कहना पड़ेगा। अपनी सर्वांगीणता को पाने के लिऐ दर्शन को धार्मिक, नैतिक, वैज्ञानिक, आध्यात्मिक सभी तरह के अनुभवों को अपने में समावेशित करने के लिए स्वयं के क्षेत्र का विस्तार करना होगा। ह्यूम ने बुद्धि की महत्ता पर निषेध जरूर किया। लेकिन यदि तर्क केवल वासनाओं का दास भर है तो बुद्धि का निषेध, एक तर्क होने के कारण स्वयं ही अस्वीकृत हो जाता है। तर्क के विरुद्ध सभी तर्कों में इतरेतर दोष है। हां इतना जरूर है कि ह्यूम द्वारा बुद्धिवाद का खण्डन और अनुभववाद की मूर्खताओं का स्पष्टीकरण एक ऐसी सीख है जिसे दार्शनिकों को कभी भुलाना नहीं चाहिए। कहना यही होगा कि तर्क दार्शनिक अध्ययन का सर्वोत्तम साधन है, परन्तु विषय सामग्री एकत्रित करने के लिए अनुभव की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

इमानुएल काण्ट ने देकार्ते के निश्चितता के विचार को बेकन के विस्तार के विचार से जोड़ने की कोशिश की है। लेकिन वह भी अन्तिम रूप में दर्शन की सम्भावना नहीं मान पाते। उनके अनुसार केवल प्रकृति और ज्ञान का तत्त्वदर्शन सम्भव है। इस तरह दर्शन को सर्वोच्च पद पर आसीन करने का कार्य हेगल पर आ पड़ा। उनके अनुसार दर्शन का उद्देश्य है रूपात्मक सत्ता के प्रत्यय प्रयोजन और महत्त्व की खोज। इसके साथ ही ज्ञान की व्यवस्था और संसार में उनके अनुरूप उनका स्थान निर्धारित करना। यह मूल्यों को एक सुव्यवस्थित पूर्ण में व्यवस्थित करता है। इस प्रयत्न में पहली बार तथ्यों और मूल्यों की व्यवस्था के रूप में दर्शन का सत्य निखर कर सामने आता है। लेकिन प्रकृति को विचार से एकात्मता[82] प्रदर्शित करके हेगल एक ऐसा बुद्धिवाद पर जा पहुँचते हैं, जिसकी प्रतिक्रिया में ब्रैडले के शब्द हैं- "दर्शन हमारी मूल प्रवृत्तियों पर आधारित विश्वासों के मिथ्या कारणों की खोज है।"[83]

ब्रैडले का यह तीव्र व्यंग, उन सभी दार्शनिकों के लिए एक जबरदस्त चेतावनी है, जो कि सद्वस्तु का विचार मात्र सिद्ध करना चाहते हैं। लेकिन सभी दार्शनिक विचारों को मिथ्या कारण कहना तो अतिशयोक्ति ही है। आस्था बुद्धि का विरोध नहीं करती, बल्कि उसको सत्य के ग्रहण करने के एक और भी उत्तम साधन के रूप में रूपान्तरित करती है।

हेनरी बर्गसां के अनुसार समस्त विश्व परिवर्तनशील है, परिवर्तन के माध्यम से नवीन सत्ताओं का विकास हो रहा है। ऐसे में दर्शन को न केवल ऐन्द्रिक बल्कि मानसिक और सहज ज्ञान जनित अनुभवों पर भी विचार करना

---

८२ हेगल- फिलासफी ऑफ राइट, प्राक्कथन

८३. एफ. एच ब्रैडले- एपीयेरेन्स एण्ड रियलिटी, प्राक्कथन

चाहिए। वह सद्अनुभवों पर आधारित होना चाहिए। बर्गसां के अनुसार- ''दर्शन केवल पूर्ण में, जीवन के उस सागर में पुनः उठने का एक प्रयत्न मात्र है, जिसमें हम समाए हुए हैं, जहाँ से हम स्वयं श्रम और जीवन की शक्ति पाते हैं और जहाँ से जड़, प्रकृति और बुद्धि दोनों का उद्गम है।''[८४] बर्गसां के इन विचारों में एक सच्ची अन्तर्दृष्टि परिलक्षित होती है कि दर्शन के विभिन्न मत-मतान्तरों के अन्तर का कारण, अलग-अलग तरह की बौद्धिक व्याख्या और विस्तार से परिपुष्ट, उनका सद्वस्तु का अपूर्ण दर्शन है। उनका सुझाव है यदि सहज ज्ञान, स्थायी, सामान्य और सर्वोपरि मार्ग भ्रष्ट न होने के लिए बाह्य प्रसंगों से सम्बद्ध किया जा सके तो दर्शन के उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है।[८५] अर्थात् दार्शनिक लोग परस्पर तुलना और विषमताओं के बहिष्कार से आधारभूत सद्वस्तु के सार्वभौम स्वभाव को समझ सकते हैं।

बर्गसां के अनुसार- ''दर्शन केवल बौद्धिक गवेषणाओं को ही सरल नहीं बनाता, वह हमको कार्य और जीवन की शक्ति भी देता है, क्योंकि उसके साथ हम अपने को मानवता में एकाकी नहीं पाते और न ही मानवता उस प्रकृति में पृथक् प्रतीत होती है, जिस पर वह हावी है।''[८६] अन्त में बर्गसां का बुद्धि विरोध वहीं तक है, जहाँ तक बुद्धि से उनका अभिप्राय व्यावहारिक जीवन में उसकी साधारण सामर्थ्य से है, अर्थात् ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष से कार्य करने वाली बुद्धि। अन्यथा सहज ज्ञान की सामग्री को एकत्रित करके और प्रवाहमय प्रत्ययों का निर्माण करके बुद्धि संबोधि से सहयोग कर सकती है।[८७] तर्क और संबोधि दोनों ही दर्शन के अनिवार्य साधन हैं।

समकालीन दर्शन का क्षेत्र बड़ा अव्यस्थित है। सद्वस्तु के विषय में अलग-अलग मतों को प्रतिपादित करने के लिए सभी तरह के कार्य प्रयुक्त हुए हैं। बड़े-बड़े वादों के नाम अनगिनत प्रतिक्रियाएँ उपज रही हैं। सब प्रकार की प्रणालियों की परीक्षा ली जा चुकी है। परन्तु इस सब मत-मतान्तरों की उलझन के पीछे प्रकृति का उद्देश्य एक ऐसे पूर्व दर्शन का प्रादुर्भाव करना प्रतीत होता है, जो कि सभी समन्वय करें और सभी से श्रेष्ठ हो तथा विचार को उसकी हठमयी तन्द्रा से जगा दे। सच्चा दर्शन सद्वस्तु की एक सार्वभौम झांकी है। वह वस्तु जगत् के मौलिक सत्य की बौद्धिक खोज है।

यह सर्वसम्मत लक्ष्य है कि दर्शन को अनुभव पर आधारित होना चाहिए, लेकिन जैसा कि देखा जा चुका है कि प्रायः अनुभव का अर्थ कुछ विशेष क्षेत्रों तक ही सीमित कर दिया गया है। दर्शन के सभी परस्पर विरोधी मत मतान्तरों की जड़ में मुख्य दोष यही है- केन्द्र से परिधि की ओर स्थानान्तरण, पूर्व के स्थान पर अंश की प्रतिष्ठा। बुद्धि की सीमित पहुँच से परे सभी कुछ का कट्टर निषेध और अन्त में असीम के विषयों में सीमित के तर्क की अनाधिकार स्थापना। और इस दोष से दर्शन का जो स्वरूप बन पड़ा है, उसे आचार्य जी के शब्दों में कहें तो- ''तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरण ढूँढकर अपने-अपने पक्ष का समर्थन करने और उसे सत्य ठहराने का कौतुक ज्ञान की पिटारी में से ही निकल कर बाहर आया है। सत्य एक है, पर उसे इतने लोगों ने इतनी तरह से प्रस्तुत प्रतिपादित किया है कि उसे समूचे जंजाल को देखते हुए हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाने का मन करता है। अपना-अपना सूर्य यदि हर कोई गढ़ने लगे, जिसकी दूसरे के साथ कोई संगति न बैठती हो तो उस वहम को मानसिक विक्षिप्तता ही कहा जाएगा।''[८८] इस मानसिक विक्षिप्तता से उबरना तभी सम्भव है, जब यह समझा जा सके कि दर्शन को सर्वग्राही, स्वीकारात्मक, समन्वयवादी और आध्यात्मिक होना चाहिए। फिलासफी, शाब्दिक अर्थों में 'ज्ञान का प्रेम' (फिलॉस= प्रेम+सोफिया=ज्ञान)

---

८४. हेनरी बर्गसा- क्रिएटिव इवाल्यूशन, पृ. २०२
८५. वही, पृ. २५२
८६. हेनरी बर्गसा- क्रिएटिव इवाल्यूशन, पृ. २८५
८७. वही, पृ. २५१
८८. आचार्य श्रीराम शर्मा- विज्ञान और ज्ञान क्षेत्र की अपनी-अपनी उलझनें, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५८, अंक ५, [illegible]

के केवल मत से भिन्न समझना चाहिए। सच्चा ज्ञान जैसा कि उपनिषदों का मत है, उस वस्तु का ज्ञान है, जिसके ज्ञान से सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।[८९] इस प्रकार दर्शन परम सद्वस्तु का ज्ञान है। लेकिन यह सद्वस्तु जैसा कि वैदिक ऋषियों ने यथार्थ ही माना है, केवल सत्ता मात्र न होकर चैतन्य और आनन्द भी है। अतः परम सत्य की खोज में दर्शन मूल्यों का श्रेष्ठतम विज्ञान है। उसको केवल तथ्यों की आलोचना नहीं करनी, बल्कि मानव अनुभूतियों को भी सन्तुष्ट करना है। उसको मूल्य और सत्ता, धर्म और विज्ञान में समन्वय करना है। उसे वस्तु जगत् के यथार्थ के साथ सद्सत्ता की यथार्थ खोज करना चाहिए, ताकि मानव अपनी सत्ता के नियम और उद्देश्य और पूर्णता के सिद्धान्तों को समझ सके।

❖ दर्शन और जीवन

इसके लिए आवश्यक है दर्शन की जीवन से निकटता। सत्य के लिए सत्य की खोज में दर्शन का अपना महत्त्व है और उसके व्यावहारिक प्रभाव में कुछ भी सन्देह नहीं है। लेकिन जैसा कि महर्षि अरविन्द कहते हैं- फिर भी, एक बार ज्ञात हुआ सत्य हमारी अन्तरात्मा और हमारी बाह्य कियाओं में उतरने योग्य होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं है तो उसका सर्वांग नहीं केवल बौद्धिक महत्त्व होगा। वह केवल बुद्धि के लिए सत्य होगा और हमारे जीवन के लिए वह किसी विचार की पहेली के हल, एक अमूर्त सत्ता और एक मृतक वस्तु से अधिक नहीं होगा।[९०] दर्शन से मानव जीवन के व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों पहलू प्रभावित होते हैं। जैसा कि अल्डुअस हक्सले के शब्द हैं- "मनुष्य अपने जीवन दर्शन, अपने विश्व सिद्धान्त के अनुसार रहते हैं।"[९१] आचार्य जी के अनुसार- "दर्शन संस्कृतियों को जन्म देता है और उसी के अनुरूप बनने वाली मान्यताएँ, प्रथा-परम्पराएँ बन जाती हैं।"[९२]

अपने समय का अस्तित्ववादी विद्रोह- इसी मांग का प्रदर्शन है। यह एक तरह के विश्लेषणवादी बुद्धिवाद, तार्किक व्यवस्था और मृतप्राय विचार के प्रति प्रबल विद्रोह है, जो कि दर्शन के जीवन सत्त्व को सोखकर उसको ऐसे सिद्धान्तों की निरर्थक खोज मात्र बना देते हैं, जिनका हमारे व्यावहारिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसी प्रकार व्यवहारवाद सत्य के व्यावहारिक मूल्य पर जोर देता है। मानवतावाद मानववादी कसौटी में Homo *menoura* का प्रोटोगोरियन सिद्धान्त पुनर्जीवित होता है। साधनवाद जीवन में सफल कर्म के साधन मात्र के रूप में ज्ञान को परिभाषित करता है।

इन सभी विचारधाराओं में एक महत्त्वपूर्ण सत्य यह है कि ये सब दर्शन को प्रयोजन युक्त बनाने पर जोर देते हैं। लेकिन उसे मनुष्य जीवन तक की संकीर्ण परिधि में बांधने की वह गलती करते हैं। मूल्यों के विज्ञान के रूप में दर्शन को चरम मूल्य ईश्वर तक पहुँचना चाहिए। सत्य के व्यावहारिक मूल्य को मूल्यों की व्यवस्था में समुचित स्थान मिलना चाहिए, परन्तु वह सर्वोच्च अथवा एक मात्र मूल्य नहीं हो सकता। पूर्ण मनुष्य होने के लिए मानवता की वर्तमान सीमा को लांघना आवश्यक है। अतः मानव नहीं देवमानव ही सभी वस्तुओं का मानदण्ड है। दर्शन जीवन के लिए है, परन्तु जीवन आत्मा के लिए है अतः जीवन नहीं बल्कि आध्यात्मिकता ही दर्शन का अन्तिम लक्ष्य है।

इस तत्त्व को न समझ पाने के कारण ही- "दर्शनशास्त्र को प्रत्यक्षवादियों द्वारा शब्दाडम्बर, वाग्विलास, कल्पना, काव्य आदि व्यंग्य शब्दों से सम्बोधित किया है, पर वस्तुतः वह वैसा है नहीं। विचार करने की अस्त-व्यस्त शैली को क्रमबद्ध और दिशाबद्ध करने का महान् प्रयोजन दार्शनिक शैली से ही सम्भव हो सकता है। अन्यथा उच्छृंखल गतिविधियाँ और अनगढ़ मान्यताओं का मिला-जुला रूप ऐसा विचित्र बन जाएगा, जिसे अपनाकर कोई किसी लक्ष्य तक न पहुँच सकेगा। उसे अन्धड़ में इधर-उधर उड़ते-फिरते रहने वाले तिनके की तरह कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकने में सफलता न

८९. कम्मिन्न खलु भगवो विज्ञाने सर्वमिदं विज्ञातं भवति। - मुण्डकोपनिषद्- १/१/१

९०. श्री अरविन्द- द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृ ४५६

९१. अल्डुअस हक्सले- एण्ड एण्ड मीन्स, पृ २५२

९२. आचार्य श्रीराम शर्मा- आधुनिक दर्शन जिसमें बुद्धि के लिए कोई स्थान नहीं, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४८, अक १, पृ २१

मिलेगी। योजनाबद्ध कार्य करना जिस प्रकार आवश्यक है, उसी प्रकार योजनाबद्ध चिन्तन की भी उपयोगिता है। यह कार्य दार्शनिक रीति-नीति से ही सम्भव हो सकता है।''[९३] जीवन में इस तथ्य की स्वीकारोक्ति का परिणाम होगा- मनुष्य में देवत्व का उदय।

विज्ञान का प्रत्यय

फिक्टे के अनुसार किसी भी व्यक्ति का दर्शन उसकी अन्त:प्रकृति पर निर्भर है। दर्शन दार्शनिक के अनुभव की बौद्धिक व्याख्या है। विज्ञान भी अनुभव पर आधारित है। हां, इस अनुभव का आधार पूरी तरह प्रयोग सम्मत और व्यवस्थित होता है। इसी कारण कर्नाप ने विज्ञान को व्यवस्था पूर्ण ज्ञान कहा है।[९४] क्योंकि अधिकतर प्राकृतिक घटनाएँ नित्य नियमों के अनुसार घटती हैं। प्राकृतिक नियमों के द्वारा नियन्त्रित होने से जगत् की सारी घटनाएँ सुव्यवस्थित दिखाई पड़ती हैं। वार्टोफस्की के अनुसार विज्ञान की संरचनात्मक परिभाषा अपर्याप्त है। क्योंकि विज्ञान के संरचनात्मक तथा क्रियात्मक दो पहलू होते हैं। अत: इसकी व्याख्या करते समय केवल तार्किक नियमों की सहायता से वैज्ञानिक सिद्धान्त की संरचना का विश्लेषण करने और उसके निष्कर्षों को गणितीय भाषा में व्यक्त करने से काम नहीं चलेगा। इसके साथ जीवन की नित्य परिवर्तनशील विशेषता को भी ध्यान में रखना होगा। वार्टोफस्की का कथन है कि विज्ञान जैविक संरचना की तरह बढ़ती हुई सत्ता है।[९५] विज्ञान का विकास होता है, उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के परिवर्तन होते हैं और उसमें निरन्तर प्रगति होती है। प्रगति तथ्यों के निरूपण से होती है। इससे ज्ञान का क्षेत्र बढ़ता है। इस अर्थ में विज्ञान एक विचार सत्ता है।

वैज्ञानिक ज्ञान सदैव वस्तुनिष्ठ, परिशुद्ध, सुनियंत्रित, भाषा के दृष्टिकोण से स्पष्ट एवं तार्किक दृष्टिकोण से संगत और सामान्य, अमूर्त एवं आवश्यक होता है। गवेषणा के प्रारम्भ में, वैज्ञानिक नियंत्रित अवलोकन तथा यांत्रिक प्रयोग द्वारा इसके प्राकृतिक तथ्यों का निरूपण करने के पश्चात् सिद्धान्त रचना करता है। इस स्थिति में विज्ञान अमूर्त अवस्था में पहुँच जाता है। यद्यपि वस्तुनिष्ठ प्रत्ययों की सहायता से वैज्ञानिक सिद्धान्त रचना की जाती है किन्तु पोयंकारे कहते हैं कि जिस प्रकार ईंटे इकट्ठा करने मात्र से इमारत नहीं बन जाती, उसी प्रकार अनुभवाश्रित तथ्यों को एकत्रित करने मात्र से वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं बन जाता। सिद्धान्त रचना के लिए वैज्ञानिक में अग्रावलोकन होना आवश्यक होता है।[९६] वैज्ञानिक की मेधा, कल्पना एवं बौद्धिक पटुता सिद्धान्त रचना करने में विशेष रूप से काम में आती है। अतः अनुभवाश्रित होने पर भी यह बौद्धिक रचना है।

विज्ञान की विशेषताएँ- विज्ञान अपनी कुछ मुख्य विशेषताओं के कारण तत्व मीमांसा एवं धर्म से भिन्न है। विज्ञान की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

१. वैज्ञानिक ज्ञान वस्तुनिष्ठ होता है। इसको वैज्ञानिक की मात्र कल्पना या अभिमत नहीं कहा जा सकता। यदि किसी भी प्रत्यय का वैज्ञानिक विधि से प्रथम बार निरूपण किया जाता है, तो कोई भी वैज्ञानिक उसका उसी प्रकार पुनः निरूपण कर सकता है। प्रत्यय को प्रयोग द्वारा अगणित बार प्रमाणित किया जा सकता है।

२. वैज्ञानिक ज्ञान परिशुद्ध एवं यथार्थ होता है। वह प्रकृति की भिन्न-भिन्न घटनाओं के सम्बन्धों को यंत्रों की सहायता से सही तरह से माप कर यथार्थ निष्कर्षों पर पहुँचता है।

३. वैज्ञानिक ज्ञान सर्वव्यापी एवं सामान्य होता है। एकफ का कहना है कि वैज्ञानिक सिद्धान्त का कोई निष्कर्ष यदि कम सामान्य होता है, तो वह तथ्य के समान होता है और वह यदि अधिक सामान्य होता है तो वह नियम के समान होता है। अनुभविक तथ्य एवं नियम वैज्ञानिक सिद्धान्त के अंग हैं।[९७] वैज्ञानिक सिद्धान्त की रचना का लक्ष्य है कि अधिक से अधिक तथ्यों की

---

९३ आचार्य श्रीराम शर्मा- दर्शन की उपयोगिता विज्ञान से भी अधिक है, अखण्ड ज्योति वर्ष, ३५, अंक १२, पृ २०

९४. R Carnap- Logical Foundation of the unity of science - International Encylopaedia of Unified Science Vol 1, p 42

९५ M W Wartofsky- Conceptual Foundation of Scientific Thought, p 25

९६ H Poincare- Science and Hypothesis, p 141

९७. R L Ackoff- Scientific method p 21

सामान्य नियमों के दृष्टिकोण से व्याख्या की जा सके। हैन्स रीशेन्बाक का मत है कि सामान्यीकरण ज्ञान का लक्ष्य है एवं सामान्य नियमों के दृष्टिकोण से सारी प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या की जाती है।[९८]

४. वैज्ञानिक ज्ञान व्यवस्थित होता है और वैज्ञानिक सिद्धान्त में व्यवस्था एवं तार्किक संगति होती है। कैम्पबेल कहते हैं कि नियंत्रित अवलोकन एवं प्रयोगों की सहायता से प्राकृतिक घटनाओं में विद्यमान नित्य सम्पर्क को प्राकृतिक नियम कहा जाता है और प्राकृतिक घटनाओं की प्राकृतिक नियमों के दृष्टिकोण से व्याख्या की जाती है।[९९] कोहन का भी कथन है कि ज्ञान का व्यवस्थापन विज्ञान का लक्ष्य है।[१००] स्पेन्स का भी यह मत है कि वैज्ञानिक सिद्धान्त रचना का लक्ष्य है प्राकृतिक घटनाओं में सामंजस्य एवं संगतिपूर्ण अर्थ प्रदर्शित करना।[१०१] मैरियो बुंगे का कहना है कि वैज्ञानिक सिद्धान्त में प्राकृतिक नियमों की रचना की जाती है। ये नियम सर्वव्यापी होती हैं एवं प्राकृतिक घटनाओं में व्यवस्था इनके कारण सम्भव होती है।[१०२]

५. किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त में तार्किक संगति पायी जाती है। वैज्ञानिक सिद्धान्त तार्किक दृष्टिकोण से व्यवस्थित होता है। लियोन ब्रुलिन के मत से वैज्ञानिक अपने प्रयोगों तथा तथ्यों के बीच तार्किक सम्बन्ध प्रकट करता है और इसके उपरान्त सिद्धान्त की रचना करता है।[१०३] 'हल' का विचार है कि वैज्ञानिक सिद्धान्त रचना की प्राथमिक अवस्था में परिपूर्ण अवलोकन एवं प्रयोग के ऊपर बल दिया जाता है, परन्तु सिद्धान्त रचना की प्रगत अवस्था में तार्किक नियमों का अधिक प्रयोग किया जाता है।[१०४] इन्हीं तार्किक नियमों के प्रयोग के कारण भविष्य में घटने वाली घटनाओं का पूर्वकथन भी किया जा सकता है।[१०५]

६. वैज्ञानिक सिद्धान्त भाषा के दृष्टिकोण से स्पष्ट होता है। उसमें प्रयुक्त प्रत्यय एवं वाक्य भाषा की दृष्टि से स्पष्ट होते हैं। इसमें प्रत्ययों की परिभाषा संक्रिया कसौटियों की दृष्टि से की जाती है।[१०६] केमिनी के अनुसार, विज्ञान में गणित की भाषा का प्रयोग किया जाता है, क्योंकि वह परिशुद्ध एवं परिपूर्ण होती है।[१०७]

७. वैज्ञानिक निष्कर्ष अमूर्त होते हैं। वैज्ञानिक गवेषणा का लक्ष्य सामान्य सिद्धान्तों की रचना करना है। इसमें वैज्ञानिक विधि से प्रयोग द्वारा सामान्य निष्कर्षों तक पहुँचा जाता है, प्राकृतिक नियमों की रचना की जाती है और इनको अमूर्त भाषा में व्यक्त किया जाता है। लेकिन यहाँ यह कहना आवश्यक है कि प्राकृतिक नियम वैज्ञानिक की प्राकल्पना मात्र है, जिनको यथार्थ स्वीकार कर लिया जाता है।[१०८] मैसलो के अनुसार वैज्ञानिक सिद्धान्तों के औपचारिक पहलुओं को अधिक महत्त्व देना उचित नहीं है।[१०९]

◆ विज्ञान का दार्शनिक आधार

वर्तमान काल में दर्शन ऐसी प्रौढ़ अवस्था में पहुँच गया है और साथ ही साथ विज्ञान की भी इतनी उन्नति हुई है कि दर्शन एवं विज्ञान को एक दूसरे की जुड़वा बहिनें कहा जा सकता है। विज्ञान की वर्तमान प्रगति के कारण एक नयी परिस्थिति उत्पन्न हुई है। नित नयी गवेषणाओं के कारण विज्ञान इतना आगे बढ़ चुका है एवं प्रकृति

---

९८ H Reichenbach- The Rise of Scientific Philosophy, p 5
९९. N R Campbell- Foundation of Science, Philosophy and Theory of Experiment, p. 39
१००. M R. Cohen - Reason and Nature, p. 107
१०१. K W Spence- Theoretical Interpretation of Learning Hand Book of Experimental Psychology, p. 690
१०२. M. Bunge- Kinds and Criteria of Scientific Laws Philosophy of Science, Vol 28, No 3, p 280
१०३. L. Brillouin- Scientific Uncertainty and Information, p. viii
१०४. C L Hull- The Hypothetico Deductive Method, Psychological Theory, Ed. M H marx, p 23
१०५ P Suppes- Introduction to Logic, p. xv
१०६. S S Steven- Psychology and the Science of Science, Psychological Theory, Ed. M H Marx, p. 39
१०७. J G Kerneny - A Philosopher looks at Science, p. 6
१०८. C Selltiz et. al. Research Methods in Social Science, p. 480
१०९ A. H Maslow- The Psychology as Science p 75

की सूक्ष्म एवं जटिल सत्ताएँ इतनी अस्पष्ट प्रतीत होने लगी हैं कि दार्शनिक परिकल्पना के अलावा सैद्धान्तिक समस्याओं का समाधान करने का उपाय उसके पास नहीं रह गया है। वर्तमान परिस्थितियों में वैज्ञानिक अपने तथ्यों के आधार पर दार्शनिक परिकल्पना करने के लिए बाध्य हो रहे हैं। अपने तथ्यों के आधार पर जिस समय वैज्ञानिक अति सिद्धान्त की रचना करता है, उस समय वह एक तरह का दार्शनिक विचार ही करता है। अति वैज्ञानिक परिकल्पना को भी दार्शनिक विचार कहा जा सकता है। ज्ञान की वर्तमान उन्नत अवस्था को देखते हुए कहा जा सकता है कि नवीन दर्शन का जन्म विज्ञान के गर्भ से होगा। विज्ञान की श्रेष्ठतम उपलब्धि को नवीन दर्शन कहा जा सकता है।

विज्ञान के अलग-अगल क्षेत्रों में सर्वप्रथम दार्शनिक समन्वेषण के माध्यम से अनुसंधान किया गया। मानव जिस समय प्रकृति की जटिल समस्याओं के विषय में प्रश्न पूछता है, उस समय दर्शन एवं विज्ञान की उत्पत्ति होती है। परन्तु जिस समय वैज्ञानिक को अपनी गवेषणा में सफलता प्राप्त होती है, उस समय वह स्वतंत्र रूप से वैज्ञानिक अनुसंधान कहलाता है।[११०]

वैज्ञानिक स्वतंत्र रूप से वैज्ञानिक गवेषणा करने पर भी दार्शनिकों से अधिक दूर नहीं रह सकता। इसी प्रकार दार्शनिक भी वैज्ञानिक से दूर नहीं रह सकता, क्योंकि सत्य की खोज होने के नाते दोनों में निकट सम्पर्क स्वाभाविक है। यूनानी दर्शन में 'लोगस' शब्द का विशेष महत्त्व है। इसका अर्थ है 'मापना' अथवा विचार करना। दार्शनिक चिन्तन में जटिल समस्याओं पर विचार किया जाता है। विज्ञान में भी प्राकृतिक घटनाओं को नापा जाता है। अतः यदि कोई भी दार्शनिक सिद्धान्त यथार्थवादी होने का दावा करता है तो वह विज्ञान के निष्कर्षों को अस्वीकार नहीं कर सकता। उसका वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित होना अनिवार्य है।

पोपर का मत है कि वैज्ञानिक क्षेत्र में कुछ ऐसे प्रत्ययों की परिकल्पना की जाती है, जिनके लिए कोई भी वैज्ञानिक आधार नहीं है। इन परिकल्पित प्रत्ययों को तत्त्वमीमांसीय कहा जा सकता है। जिनको प्रायः वैज्ञानिक अनुसंधान में प्रयोग में लाया जाता है।[१११] लुडविग वान माइसेज के अनुसार कोई भी वैज्ञानिक सिद्धान्त कुछ पूर्वधारणाओं पर आधारित होता है। विज्ञान को पूर्व धारणाएँ तर्क बुद्धि पर आधारित होती हैं।[११२] वैज्ञानिक अपनी तर्क बुद्धि की सहायता से ही प्रकृति की भिन्न-भिन्न घटनाओं में सम्बन्धों का परिग्रहण करता है।[११३] प्रकृति में घटनाओं के सुव्यवस्थित सम्बन्धों को तर्क बुद्धि की सहायता के अतिरिक्त नहीं समझा जा सकता।

कुछ आधुनिक वैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक सिद्धान्त रचना में तर्क बुद्धि के साथ अन्तर्ज्ञान के महत्त्व को भी स्वीकारा है। आइंस्टाइन के अनुसार प्रत्येक वैज्ञानिक को अन्त में अन्तर्ज्ञान की सहायता लेनी पड़ती है, क्योंकि प्राकृतिक नियमों की रचना केवल मात्र तर्क के आधार पर नहीं, अपितु अन्तर्ज्ञान के आधार पर की जाती है।[११४] प्रायः प्रत्येक वैज्ञानिक अपनी सिद्धान्त रचना प्रज्ञा व बुद्धि की सहायता से करता है।[११५] ब्रेथवेट के अनुसार, वैज्ञानिक सिद्धान्तों की प्राकल्पनाएँ एक दूसरे से व्यवस्थित रूप से सम्बन्धित होती हैं और उनकी संरचना निगमनात्मक विधियों के आधार पर की जाती है। वैज्ञानिक सिद्धान्त में प्राकल्पनाओं का आधार वाक्य के रूप में प्रयोग किया जाता है एवं तार्किक नियमों के आधार पर प्रयोग द्वारा उन्हीं में निष्कर्ष निकाले जाते हैं।[११६]

डुवस का कथन है कि वैज्ञानिक अनुसंधान में

---

११०. B. Russel - Wisdom of the West, p 6
१११. K.R. Popper - The Logic of Scientific Discovery p. 38
११२. L. Von Mises- Epistemological Problems of Economics, p. 28
११३. L. Van. Mises - The Ultimate Foundation of Economic Science, p. 22
११४. A. Einstein- Essays in Science, p. 4
११५. A. Einstein, L. Infeld- The Evolution of Physics, p. 294
११६. R B Braithwaite - Scientific Explanation, p. 12

सर्वप्रथम 'कलात्मक चेतना' की सहायता से नवीन वैज्ञानिक प्रत्ययों की रचना की जाती है और उनका वैज्ञानिक विधियों से निकषण बाद में किया जाता है।[११७] लियोन ब्रिलोइन ने वैज्ञानिक सिद्धान्त रचना में कल्पना को अत्यधिक महत्त्व दिया है। उनके अनुसार, सामान्य वैज्ञानिक नियमों की रचना में मानवीय कारक, कल्पना एवं सृजनात्मक प्रतिभा का बहुत महत्त्व होता है।[११८] विज्ञान में अनेक जटिल समस्याओं का समाधान विचार अथवा तार्किक विश्लेषण द्वारा नहीं किया जा सकता, उसकी व्याख्या रचनात्मक कल्पना के द्वारा की जा सकती है।[११९]

दार्शनिक और रचनात्मक कल्पनाओं से वैज्ञानिकों को मार्गदर्शक सिद्धान्त प्राप्त होते हैं, जिनके सहारे वे नवीन प्रत्ययों की रचना कर उन्हें परीक्षणों के द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। हैरिस का कहना है कि आधुनिक काल के दार्शनिक का मुख्य कार्य यह है कि वे वैज्ञानिक विधि से सीमाओं और त्रुटियों को तार्किक दृष्टिकोण से विश्लेषण और वैज्ञानिक निष्कर्षों के आधार पर दार्शनिक सिद्धान्त की रचना करें।[१२०]

वर्तमान काल में भी दार्शनिक विचारों की वैज्ञानिक गवेषणाओं के लिए सार्थकता है। दार्शनिक विचार वैज्ञानिक सिद्धान्त रचना में पथदर्शक का कार्य करता है। वैज्ञानिक सिद्धान्त रचना कुछ दार्शनिक पूर्व धारणाओं तथा स्वयं तथ्यों पर आधारित होती है। इसमें कुछ प्रत्यय अनुभवातीत होते है। उदाहरण के लिए गणितीय भौतिकी में कुछ ऐसे प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है जो प्रत्यक्ष रूप से अनुभवाश्रित नहीं होते। आइंस्टीन के अनुसार प्रकृति में एक ही प्रकार की घटनाओं को घटते देखने के पश्चात् वैज्ञानिक स्वेच्छा से कुछ प्रत्ययों और नियमों की रचना करते हैं।[१२१] प्राकृतिक घटनाओं के बीच 'व्यवस्था' का प्रत्यय एक दार्शनिक विचार है, और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इसकी यथार्थता पूरी तरह से सिद्ध नहीं हुई है।

फाइवेलमैन का मत है कि वैज्ञानिक अनुसंधान *विधियों को समझने के लिए दार्शनिक विचारों की* आवश्यकता होती है।[१२२] विज्ञान के स्वरूप को वैज्ञानिक विधि से जाना नहीं जा सकता। विज्ञान के पास जो साधन है, उनके द्वारा केवल प्रकृति के भिन्न-भिन्न पहलुओं को नापा जा सकता है। लेकिन इसके पास कोई ऐसा निजी साधन नहीं है, जिसके द्वारा वैज्ञानिक प्रत्ययों का अर्थ निर्णय हो सके। वैज्ञानिक प्रत्ययों का अर्थ निर्णय दार्शनिक विचारों द्वारा ही किया जा सकता है। फाइवेल मैन के अनुसार वैज्ञानिक गवेषणाओं के क्षेत्र सीमित होते हैं। वैज्ञानिक उस क्षेत्र की समस्याओं को वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग द्वारा समझने का प्रयत्न करता है एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उनकी व्याख्या करता है। और अन्त में वह कुछ प्राकृतिक नियमों की रचना करता है। विज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वयं तथ्यों को बिना किसी वैज्ञानिक प्रमाण के स्वीकार किया जाता है। इन स्वयं तथ्यों को दार्शनिक पूर्वधारणाएँ कहा जा सकता है।[१२३] इस तरह विज्ञान किसी भी अवस्था में दर्शन से अलग नहीं हो सकता।

◆ विज्ञान और जीवन

विज्ञान और जीवन की पारस्परिक अन्तरंगता इसी सत्य से प्रमाणित हो जाती है कि आधुनिक युग को *'वैज्ञानिक युग' की मान्यता प्राप्त है। विज्ञान ने मनुष्य की* चिन्तन शैली और जीवन शैली में आमूल-चूल फेर-*बदल कर डाली है। आज दुनिया के बहुसंख्यक व्यक्ति* वैज्ञानिक विधि से सोचना पसन्द करते हैं। उनका विश्वास प्रथाओं, परम्पराओं, मान्यताओं, रीतियों पर न होकर तर्कों, तथ्यों, प्रमाणों और अनुभूतियों पर हो गया है।

---

११७ R. Dubos - Dreams of Reason, p 123
११८. L. Brillouin - Scientific Uncertainty and Informantion, p 21
११९ L Brillouin - Obeservation, Information and Imagination in Information and Prediction in Science, p 11
१२० E E Harris- The Foundation and Metaphysics in Science, p. 29
१२१. A. Einstein- Physics and Reality, Journal of the Franklin Institute 1936, p 350
१२२ J K Feibleman- The Scientific Philosophy, Philosophy of Science Vol 28, No 3, PP 246-247
१२३ वही

प्रथाओं, परम्पराओं, मान्यताओं, रीतियों पर न होकर तर्कों, तथ्यों, प्रमाणों और अनुभूतियों पर हो गया है। आचार्य जी के शब्दों में, चिन्तन की इस "वैज्ञानिक दृष्टि का अर्थ है- मान्यताओं, आग्रहों, आस्थाओं की गुलामी से छुटकारा पाकर यथार्थता को समझ सकने योग्य विवेक का अवलम्बन। उसमें अन्धविश्वासों और परम्पराओं के लिऐ कोई स्थान नहीं। तथ्यों और प्रमाणों की कसौटी पर जो खरा उतरे उसी को अपनाना वस्तुतः सत्य की खोज है।"[१२४] चिन्तन की इस पद्धति से अनगिनत पुरानी मान्यताएँ ढही हैं, नयी पद्धतियों का निर्माण हुआ है। आम आदमी अपने को किसी घने कुहासे से उठा-उबरा महसूस कर रहा है।

विज्ञान के ये प्रभाव केवल विचारों तक सिमटे-सिकुड़े नहीं हैं। जीवन का समूचा क्षेत्र - वैज्ञानिक अविष्कारों की समृद्धियों-सम्पदाओं से भर गया है। गैलीलियो ने १६०९ ई. में दूरदर्शक यंत्र का अविष्कार किया था, जिसकी सहायता से वे ग्रह-नक्षत्रों आदि का निरीक्षण करने में समर्थ हो सके। उसके कुछ काल के पश्चात् सूक्ष्मदर्शी का निर्माण हुआ, जिसकी सहायता से सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीटाणु अथवा जीवाणु तक दिखाई पड़ जाते हैं। इसके अतिरिक्त थर्मामीटर, क्रोनोस्कोप, रेल इंजन, भाप का जहाज, मार्स तार प्रणाली, फोटो चित्रण यंत्र आदि का अविष्कार हुआ। एडीसन ने १८७९ में बिजली के बल्ब का अविष्कार किया।

इन वैज्ञानिक अविष्कारों के कारण दुनिया के सभी देशों में सम्पत्ति, समृद्धि और ऐश्वर्य का युग आ गया। वैज्ञानिक अविष्कारों की इस परम्परा में टेक्नालॉजी का एक नया आयाम खुला। इसका विकास होने से मानव बड़ी से बड़ी एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु को माप सकता है और इसके आधार पर जटिल यंत्रों का निर्माण कर सकता है, जैसे वायुयान, मुद्रण यंत्र, रेल इंजन आदि। टेक्नालॉजी विज्ञों ने प्रकृति के विभिन्न पहलुओं में निहित ऊर्जा का वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा पता लगाया है और यंत्रों की सहायता से उनको शक्ति में रूपान्तरित किया है। उदाहरण के लिए जल, कोयला, खनिज तेल, सूर्य की रश्मि, पवन, गैस आदि में निहित ऊर्जा को शक्ति में परिवर्तित कर देने से मानवीय सभ्यता असाधारण शक्ति सम्पन्न हो गयी। विद्युत् संयंत्रों में जल से विद्युत् उत्पन्न किए जाने के कारण, जीवन जैसे इन्द्रधनुषी आभा से निखर चुका है।

औद्योगिकी के बाद एक नए वैज्ञानिक आयाम का विकास हुआ। जिसे वैज्ञानिकों ने इलेक्ट्रानिक युग का नाम दिया है। इसके आविर्भाव से सुपर कम्प्यूटर, द्रुतगति संचार प्रणाली, जीवन में समृद्धि-सम्पन्नता, वैभव की उत्कर्ष करने वाले सैकड़ों-हजारों, लाखों, करोड़ों उपकरण बनाए जा चुके हैं। मनुष्य इनकी सहायता से पुराणों में कही लिखी गयी असामान्य और असाधारण दैवी शक्तियों को स्वयं में प्रत्यक्ष करने लगा है। दूरश्रवण और दूरदर्शन जैसे अनगिनत चमत्कार उसके जीवन में समाहित हो चुके हैं। और यह उनका इतना अभ्यस्त हो चुका है कि उसे लगने लगा है कि विज्ञान उसके जीवन की प्रत्येक शिरा में प्रवाहित है। अब तो स्थिति यहाँ तक पहुँची है कि लगता है कि विज्ञान नहीं तो जीवन नहीं।

◆ विज्ञान का दर्शन

मानवीय विचारों के इतिहास में विज्ञान के दर्शन की उत्पत्ति अपेक्षाकृत देर से हुई है। जिस समय दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने दर्शन और विज्ञान के पारस्परिक सम्बन्धों के महत्व को समझ लिया उस समय विज्ञान के दर्शन का विकास हुआ। इसका मुख्य लक्ष्य है विज्ञान का दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्ययन करना। सांकेतिक तर्क एवं शब्दार्थ विज्ञान एक तरह से इन दोनों के सम्बन्धों के लिए सेतु का कार्य करते हैं। सांकेतिक तर्क एवं शब्दार्थ विज्ञान का मुख्य लक्ष्य- अन्वेषित सत्य को परिशुद्ध एवं स्पष्ट भाषा में व्यक्त करना है। मानवीय ज्ञान की ये दोनों शाखाएँ भी अपने विचारों को स्पष्ट एवं परिशुद्ध भाषा में अभिव्यक्त करती हैं। उनका यह भी लक्ष्य होता है कि वे अपने विचारों को तार्किक संगति द्वारा व्यक्त करें।

इन दिनों विश्लेषणात्मक दर्शनशास्त्र में 'सांकेतिक तर्कशास्त्र एवं शब्दार्थ विज्ञान' का व्यापक रूप से प्रचलन

---

१२४. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म और विज्ञान परस्पर विरोधी नहीं पूरक, पृ ४७

है। यह अपनी नित्य-नवीन विधियों के कारण विज्ञान के दर्शन के अत्यधिक नजदीक है। आर्थर पाप का कहना है- "विज्ञान के दर्शन का मुख्य उद्देश्य वैज्ञानिक सिद्धान्तों का तार्किक विश्लेषण करना है।"[१२५] इस अर्थ में विश्लेषणात्मक दर्शन को भी विज्ञान के दर्शन का अंग समझा जा सकता है।

विज्ञान के दर्शन का यदि विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन करें तो यह समझ में आता है कि इसमें तार्किक दृष्टिकोण का अत्यधिक महत्त्व है। इस दृष्टि से इसका लक्ष्य वैज्ञानिक विधि तथा वैज्ञानिक वाक्यों का तार्किक विश्लेषण करना है। वैज्ञानिक प्रत्ययों तथा विधियों के तार्किक विश्लेषण के माध्यम से विज्ञान की अनेकों गलतियाँ स्पष्ट हो जाती हैं और उसकी सहायता से विज्ञान में बहुत कुछ सुधार सम्भव है।

मार्गेनाव के अनुसार वैज्ञानिक ज्ञान मीमांसा की सहायता से भौतिक तत्त्व के स्वरूप को जाना जा सकता है।[१२६] भौतिक विज्ञान का विकास नियंत्रित अवलोकन तथा वैज्ञानिक परीक्षण के स्तर से होती है। लेकिन उसका सैद्धान्तिक विकास होने पर वह भौतिक तत्त्व के स्वरूप पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। विज्ञान की सैद्धान्तिक उत्पत्ति होने पर उसका विकास लगभग दर्शनशास्त्र के स्तर तक जा पहुँचता है। क्योंकि जिस अवस्था में विज्ञान संप्रत्ययन के धरातल पर अपने सिद्धान्तों की रचना करता है उस दशा में उसकी दार्शनिक सार्थकता होती है एवं उसको निगमनात्मक विधि द्वारा वास्तविक परिस्थितियों में प्रयोग किया जा सकता है। वैज्ञानिक ज्ञान मीमांसा की मदद से भौतिक तत्त्व के विषय में सिद्धान्त रचना की जा सकती है। वैज्ञानिक ज्ञान मीमांसा के दो मुख्य अंग होते हैं- १. अनुरूपता के नियम, २. नियामक सिद्धान्त के निर्देशित क्रम के अनुसार प्रत्ययों की रचना की जाती है, तथा अनुरूपता के नियमों से प्रत्ययों का निरूपण किया जाता है।

मार्गेनाव ने वैज्ञानिक ज्ञान मीमांसा के नियामक सिद्धान्तों को 'तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त' की संज्ञा दी है। उन्होंने वैज्ञानिक ज्ञान मीमांसा के अन्तर्गत छः मुख्य सिद्धान्त बतलाएँ हैं- १. वैज्ञानिक प्रत्ययों में यह विशेषता होनी चाहिए कि उनको आसानी से तार्किक नियमों के अनुसार संचालित किया जा सके। २. वैज्ञानिक प्रत्ययों को अलग-अलग तरीके से संयुक्त करने की भी विशेषता होनी चाहिए। ३. वैज्ञानिक प्रत्ययों के निरूपण के नियमों में स्थायित्व जरूरी है। ४. जरूरत पड़ने पर उनको विस्तारित अर्थ दिया जा सके। ५. वैज्ञानिक प्रत्ययों में एक दूसरे के साथ कार्य-कारण का सम्पर्क होना आवश्यक है। ६. वैज्ञानिक सिद्धान्तों में सरलता एवं सौन्दर्य का होना आवश्यक है। इन विशेषताओं की वजह से वैज्ञानिक सिद्धान्त तार्किक दृष्टिकोण से संगत होता है एवं उसका दार्शनिक दृष्टिकोण व्यापक होता है। इस तरह मार्गेनाव ने अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण में संश्लेषणात्मक पहलू पर अधिक महत्त्व दिया है।

पीटर कौज ने विज्ञान के दर्शन को 'व्यवस्थित दृष्टिकोण' कहा है। उनके अनुसार इसमें एनालिटिकल एप्रोच (विश्लेषणात्मक उपागम) के अलावा सिंथेटिक एप्रोच (संश्लेषणात्मक उपागम) का भी महत्त्व है।[१२७] उनके अनुसार विज्ञान के दो पहलू हैं। १. वैज्ञानिक परीक्षण एवं २. तार्किक संगति। किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त की प्रगति इन दोनों पहलुओं में परस्पर प्रतिक्रिया के कारण होती है। इस प्रगति के लिए अनुभाविक निरूपण एवं बौद्धिक रचना एक समान आवश्यक है। इसमें सुनियंत्रित तार्किक व्यवस्था होती है। इसी कारण इसे आदर्श तंत्र की भी संज्ञा मिली है। दार्शनिक विचार और वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ दोनों मिलकर इस आदर्श तंत्र का निर्माण करते हैं।

◆ वैज्ञानिक दर्शन का स्वरूप

परम्परागत दर्शन में चरम तत्त्व का ज्ञान परिकल्पित विधि द्वारा प्राप्त कर लिया जाता है। इसमें अनुभाविक तथ्यों के वैज्ञानिक निरूपण का उतना महत्त्व

---

१२५. A. Pop- An Inrtoduction to the Philosophy of Science, p v
१२६. H Margenau - The Nature of Physical Reality, p. 16
१२७. P. Caws- The Philosophy of Science, p 10

एवं प्राकृतिक घटनाओं में सामंजस्य रहे। यही कारण है कि दार्शनिकों ने ऐसे अनेकों तरह के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जिनका वास्तविक दुनिया से कोई ताल-मेल नहीं है। कुछ दार्शनिकों ने प्रकृति या जगत् को आभास मात्र बताया और उसे रज्जु में सर्प-भ्रान्ति की तरह भ्रामक कह डाला।

लेकिन आधुनिक समय में दार्शनिकों ने दर्शन की परम्परागत परिभाषा को त्याग दिया है। उनके अनुसार, तत्व मीमांसा की समस्याओं पर आलोचना करना अर्थहीन है। उनमें से बहुतों ने इस बात को स्वीकार कर लिया है कि दार्शनिक विचार में ऐसे किसी भी प्रत्यय की परिकल्पना नहीं करनी चाहिए, जिसके लिए कोई वैज्ञानिक आधार न हो। इसी वजह से आधुनिक दर्शन मुख्य रूप से अनुभववादी, अस्तित्ववादी एवं व्यवहारवादी बन गया है।

बट्रेण्ड रसेल ने दार्शनिक समस्याओं को समझने में वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया है। उनके अनुसार, आधुनिक सांकेतिक तर्कशास्त्र, अरस्तू द्वारा प्रतिपादित तर्कशास्त्र से कहीं अधिक उपयोगी है। इसके द्वारा अपेक्षाकृत ज्यादा अच्छी तरह दार्शनिक समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। यही नहीं वैज्ञानिक समस्याओं को समझने के लिऐ जो पद्धतियाँ उपयोग में लायी जाती हैं, उन्हीं के द्वारा दार्शनिक समस्याओं को भी हल किया जा सकता है। मैक्स ब्लैक ने रसेल के इस कथन पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि उनके अनुसार दर्शन शास्त्र एक प्रकार का विज्ञान ही है, इसको 'कठोरतम सामान्य विज्ञान' कहा जा सकता है। इसमें पूर्वधारणाओं तथा परिकल्पनाओं का परित्याग किया जाता है और अपने ही सिद्धान्त के मुख्य प्रत्ययों की आलोचना होती है।[१२८] रसेल के अनुसार दार्शनिक विचार वैज्ञानिक विधि के निर्देश के आधार पर होना चाहिए।[१२९] दार्शनिक चिन्तन द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह मूल रूप से वैज्ञानिक ज्ञान से भिन्न नहीं है।[१३०] वैज्ञानिक दर्शन में जितने भी प्रत्यय प्रयोग में लाए जाते हैं, उनका वैज्ञानिक विधि से निरूपण किया जाता है।

रसेल ने दार्शनिक चिन्तन को वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करके दर्शनशास्त्र को नयी दिशा अवश्य दी है। इसके अलावा उसने अपने दर्शनशास्त्र में गणितीय-तर्कशास्त्र तथा भाषा-विश्लेषण पर भी काफी महत्त्व देकर एक नए बौद्धिक-वातावरण की सृष्टि की है। लेकिन बीसवीं सदी के दार्शनिकों का यह सोचने लगना कि तत्त्व मीमांसा की समस्याओं पर विचार करना अर्थहीन है, उनके चिन्तन की अपूर्णता और एकांगिता का प्रतीक है।

लुडविग विट्गेन्स्टाइन का विचार है कि परम्परागत दर्शनशास्त्र की त्रुटियाँ उसकी अपर्याप्त एवं दोषयुक्त भाषा के कारण है।[१३१] इसके समाधान में एक प्रकार की सांकेतिक भाषा को प्रयोग करने का सुझाव दिया है, जो तार्किक दृष्टिकोण से संगत है। सांकेतिक भाषा परिशुद्ध एवं स्पष्ट होती है। अतएव इसका प्रयोग करने से विचारों में त्रुटि होने की कम सम्भावना रहती है। तार्किक दृष्टिकोण से परिशुद्ध भाषा में वाक्यों की संरचना तथा प्राकृतिक घटनाओं की संरचनाओं में अनुरूपता आ जाती है। विट्गेन्सटाइन के अनुसार – दर्शनशास्त्र का मुख्य लक्ष्य दार्शनिक विचारों को स्पष्ट भाषा में व्यक्त करना है। दर्शनशास्त्र के वाक्यों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी सार्थक समझा जा सकता है। यदि उनकी आलोचना भाषा के दृष्टिकोण से की जाय।

तार्किक व्यवहारवादियों ने दर्शनशास्त्र को 'विज्ञान का तर्कशास्त्र' कहा है। रूडल्फ कार्नप ने दर्शन एवं विज्ञान के पारस्परिक सम्बन्धों को महत्त्व देते हुए कहा है कि विज्ञान के वाक्यों का तार्किक विश्लेषण करना ही विज्ञान के तर्कशास्त्र का प्रधान लक्ष्य है। वैज्ञानिक वाक्यों के वास्तविक अर्थ को निरूपण की कसौटी पर प्रमाणित किया जाता है। प्राकृतिक तथ्य एवं अनुभवाश्रित वाक्यों

१२८. M. Block- Philosophical Analysis, p. 4
१२९. B. Russel- Mysticism and Logic and other essays, p. 98
१३०. B. Russel- Problems of Philosophy, p. 233
१३१. L. Wittgenstein- Tractatus Logico- Philosophicus, p 63

में अनुरूपता पायी जाती है। अनुभवाश्रित वाक्यों के आधार पर ही दार्शनिक सिद्धान्त की रचना की जा सकती है। दर्शनशास्त्र के वाक्यों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यथार्थ कहा जा सकता है, क्योंकि वैज्ञानिक निकषण के आधार पर उनकी रचना की जाती है। इस नवीन दर्शनशास्त्र का प्रधान लक्ष्य प्राकृतिक विज्ञानों की भाषा का तार्किक विश्लेषण करना है। अतः नवीन दर्शनशास्त्र को विज्ञान का तर्कशास्त्र कहा जा सकता है।[१३२]

ए. जे. एयार ने इस नवीन दर्शनशास्त्र में निकषण की कसौटी को ज्यादा महत्त्वपूर्ण माना है। उनके शब्दों में दर्शन के उन्हीं प्रत्ययों को यथार्थ समझा जा सकता है, जो अनुभवाश्रित हैं, और जो निकषण की कसौटी द्वारा सिद्ध किए गए हैं।[१३३] दर्शन का लक्ष्य विज्ञान की बराबरी करना नहीं है। उसे यह अधिकार भी नहीं है कि वह वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर प्रागनुभविक निर्णय व्यक्त करे। उसका प्रधान कार्य यह है कि वैज्ञानिक सिद्धान्त के वाक्यों में तार्किक सम्बन्धों को स्पष्ट रूप में व्यक्त करें। अतः दर्शन की नवीन परिभाषा यही की जा सकती है कि यह 'विज्ञान का तर्कशास्त्र' है।

कार्नप और आटो न्यूरथ का कथन है कि सारे विज्ञानों की भाषाओं के तार्किक विश्लेषण के माध्यम से एक सर्वनिष्ठ भाषा निकाली जा सकती है, जिसको 'भौतिकी भाषा' कहा जा सकता है। इसके लिए न्यूरथ ने एक नवीन योजना बनायी जिसका प्रधान लक्ष्य था कि सारे विज्ञानों की एक सर्वनिष्ठ भाषा की रचना की जाय और उसे एकीकृत वैज्ञानिक भाषा कहा जाय।[१३४] विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का एकत्रीकरण इस सर्वनिष्ठ भाषा के माध्यम से किया जा सकता है। इस तरह से सभी विज्ञानों का एकत्रीकरण होने पर अन्य किसी 'परा विज्ञान' अथवा स्वतंत्र परिकल्पनात्मक दर्शनशास्त्र का प्रयोजन नहीं रहेगा।

हैन्स रीशेन्बाक का कहना है कि मानवीय ज्ञान की वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखते हुए यह बात स्पष्ट होती है कि दर्शन एवं विज्ञान में विशेष अन्तर नहीं है। किसी भी दार्शनिक समस्या की चर्चा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से की जा सकती है। दर्शन का विज्ञान के साथ सम्पर्क गहरा होने पर और दार्शनिक समस्याओं की विवेचना वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा करने पर वैज्ञानिक दर्शन का जन्म होता है। शुद्ध परिकल्पनात्मक दर्शनशास्त्र में दार्शनिक प्रायः ऐसी समस्याओं पर आलोचना करते हैं, जिनका वे स्वयं समाधान नहीं कर सकते। किन्तु वैज्ञानिक दर्शनशास्त्र में वैज्ञानिक विधि पर अधिक महत्त्व दिया जाता है और इसकी सहायता से समस्याओं का व्यवस्थित विश्लेषण किया जाता है। इसमें परिकल्पित विचारों की अपेक्षा वैज्ञानिक परीक्षणों पर अधिक महत्त्व दिया जाता है। इसकी ज्ञान मीमांसा वैज्ञानिक प्रत्ययों पर आधारित होती है।[१३५] लेकिन इसके वैज्ञानिक प्रत्ययों पर आधारित होने पर भी जो ज्ञान इसकी मीमांसा से प्राप्त होता है, उसको केवल आपेक्षित रूप से यथार्थ कहा जा सकता है। निरपेक्ष सत्य नहीं।

फाइबेलमैन का कहना है कि यदि किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त का गहराई से विश्लेषण किया जाय तो उसमें दर्शनशास्त्र के सारे अंग पूरी तरह से दिखाई पड़ते हैं। वैज्ञानिक सिद्धान्तों में ही अनुसंधान द्वारा दार्शनिक विचार पाए जाते हैं, किन्तु शुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों में ऐसे विचार नहीं मिलते जिनको वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यथार्थ कहा जा सके। दर्शनशास्त्र विज्ञान से स्वतंत्र रहकर किसी भी नए सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं कर सकता। यह विज्ञान के आधार पर ही सिद्धान्त की रचना कर सकता है। परन्तु यह विज्ञान पर आधारित होने पर अपने अनुसंधान की सीमा को वैज्ञानिक तथ्यों तक सीमित नहीं करता, यह वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर कुछ परिकल्पनाएँ भी करता है।[१३६] इस प्रकार के दर्शन को

---

१३२ R. Carnap- Logical Syntax of Language, p 277

१३३ A J Ayer- Language, Truth and Logic, p 5

१३४. O Neurath- Unified Science as Encylopaedic Integration, International Encylopaedia of Unified Science, Vol 1. Nos 1-10, Ed O Neurath, P 19

१३५ H Reichenbach- The rise of Scientific Philosophy, p. 303

१३६. J. K. Feibleman- *The Scientific Philosophy*, Philosophy of Science, Vol 28, No 3, p 239

वैज्ञानिक दर्शन कहा जा सकता है।

वैज्ञानिक दर्शन के इस विवेचन में दर्शन एवं विज्ञान की पारस्परिक अंतरंगता को स्पष्ट करने में इन मनीषियों ने भाषा शास्त्रीय एवं तार्किक दृष्टिकोण पर तो विचार किया है, किन्तु इसके लक्ष्य की एकात्मता के रूप में दोनों की सत्य शोधक दृष्टि पर पूर्णता से विचार न किए जाने के कारण इसमें एकांगिता का ही दर्शन हो पाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वैज्ञानिक दर्शन का लक्ष्य स्वरूप और प्रक्रिया, सब कुछ भाषा विज्ञान एवं तर्क शास्त्र तक सिमट कर रह गया हो। ऐसा दर्शन मानव को एक सार्वभौम भाषा भले जुटा दे, पर उसके जीवन के स्वरूप और उद्देश्य को स्पष्ट नहीं कर सकता।

धर्म, दर्शन और विज्ञान की अपूर्णताएँ

◆ धर्म की अपूर्णता

धर्म का मूल तत्त्व भावना है। इसका विकास होने पर दया, क्षमा, करूणा, आत्मीयता जैसे दैवी गुणों की सृष्टि होती है। लेकिन जब यही भावना विवेक व तर्क का सर्वथा निषेध कर देती है, तो दुराग्रह, रुढ़ियों व कुरीतियों का रूप ले लेती है। धर्म ने संसार को महामानव, पैगम्बर दिए हैं, यह बात जितनी सच है, उतना ही कठोर सत्य यह भी है कि धार्मिक उन्माद के कारण जितना नर संहार हुआ है, उतना और किसी कारण नहीं। जर्मनी में कैथोलिक व प्रोटेस्टेण्टों के बीच तीस वर्षों तक हुए अति हिंसक युद्ध ने सामान्यतया पाश्चात्य मानवतावाद और विशेषतया ईसाई मानवतावाद को सबसे गहरा आघात पहुँचाया। एक ही ईश्वर और एक ही धर्म के नाम पर मानव ने मानव का खून बहाया और इतिहासकारों के कथनानुसार जर्मनी की जनसंख्या ढाई करोड़ से घटकर सिर्फ पचास लाख रह गयी थी।[१३७] यह तथ्य सिर्फ जर्मनी तक सीमित नहीं रहा, विभिन्न यूरोपीय देशों व अमेरिका में होने वाले धार्मिक झगड़े एक सामान्य बात है। न केवल ईसाई धर्म में बल्कि मुसलमानों में शिया-सुन्नी के बीच होने वाले क्रूर नरसंहार, हिन्दुओं में शैवो-वैष्णवों के मध्य उठते उन्मादी स्वरों से इतिहास के पृष्ठ भरे पड़े हैं। अकेले भारत में पिछले दिनों हुए एक सामाजिक सर्वेक्षण से पता चला है कि पिछले दस वर्षों में जितना नरसंहार धार्मिक उन्माद से हुए दंगों के कारण हुआ है, उसकी तुलना में प्राकृतिक विपदाओं-महामारी आदि कारणों से हुई क्षति बहुत कम है।

धर्म की वजह से हुई यह मानवी क्षति विचारशीलों के लिए एक अत्यन्त संघातिक अनुभव साबित हुई। इसकी प्रतिक्रिया में वे अपने आप से तथा एक दूसरे से कहने लगे- हम सभी परमेश्वर में विश्वासी हैं, तो भी सुदूर स्वर्ग के राज्य में विद्यमान उसी एक ईश्वर के नाम पर हम किस तरह एक दूसरे के विरुद्ध ऐसा नरसंहार करते चले आ रहे हैं ? अब से हम उस ईश्वर में विश्वास नहीं करेंगे। हमें उसकी कोई जरूरत भी नहीं। हम पूर्णतया धर्म निरपेक्ष हो जायेंगे और अपनी श्रद्धा ऊपर अवस्थित ईश्वर की अपेक्षा धरती के मानव के प्रति जगाएँगे।

इतिहासकार एर्नाल्ड टॉयनबी लिखते हैं- "सत्रहवीं शताब्दी की परवर्ती दशाब्दियों में पाश्चात्य मानव की दृष्टि में धरती पर स्वर्ग का राज्य उतारने की अपेक्षा संसार में स्वर्ग का निर्माण कहीं अधिक व्यावहारिक प्रतीत होने लगा था। अर्वाचीन पाश्चात्य अनुभवों ने यह दिखा दिया है कि धरती पर स्वर्ग के राज्य की परिकल्पना का विवरण धर्मशास्त्रियों के विभिन्न मतवादों के बीच एक निरन्तर और तुमुल युद्ध का कारण था।"[१३८] इस चिन्तन के फलस्वरूप- ऐसी विचारधाराओं का उदय और आधिपत्य होने लगा, जिन्होंने धर्म और ईश्वर को पूरी तरह से नकार दिया। इनमें से मार्क्सवाद को प्रमुख समझा जा सकता है। लेकिन पिछले वर्षों में इसे अपनी विकास भूमि सोवियत रुस में जिस अपमान व तिरस्कार को सहना पड़ा है उससे यही कहना पड़ेगा कि साम्यवाद जिसे धार्मिक निषेध का पर्याय माना जाता था- मानवीय भावनाओं व आकांक्षाओं को संतुष्ट न कर सका। उसके भविष्यत् विकास का स्पष्ट आश्वासन न दे सका और न ही समुज्ज्वल जीवन की राह दिखा सका।

---

१३७. स्वामी रंगनाथानन्द- स्वामी विवेकानन्द और मानवतावाद, पृ. १८-१९

१३८. Arnold Taynbee- An Historian's Approach to Religion, p. 184

धर्म का निषेध करने वाली प्रायः सभी विचार धाराओं का विश्लेषण करने पर यही पता चलता है कि इन विचारकों ने धार्मिक तत्त्व का विवेचन, विश्लेषण कर यह जानने की कोशिश नहीं की कि धार्मिक प्रवृत्तियों में उपजी भ्रान्तियों का कारण क्या है ? आचार्य जी के अनुसार यह कारण है- 'तर्क का निषेध' दार्शनिक विचारों और वैज्ञानिक प्रयोगों की अवहेलना। उनके शब्दों में- 'धर्म ने बाबा वाक्यं प्रमाणम्' की नीति अपनाई। समय आगे बढ़ गया, पर आग्रहशीलता की बेड़ियों ने मनुष्य को उन्हीं मान्यताओं के साथ जकड़े रखा जो भूतकाल की तरह अब उपयोगी नहीं समझी जाती। पूर्वजों से आगे की बात सोचना उनका अपमान करना है, ऐसा सोचना क्रमशः आगे बढ़ते चले आने के सार्वभौम नियम को झुठला देता है। इस पृथ्वी के जन्म के समय क्या परिस्थितियाँ थीं और आदिम काल का मनुष्य कैसा था, इसे जानने के उपरान्त आज की परिस्थितियों के साथ तुलना करने पर मध्यवर्ती इतिहास देखना पड़ता है। उस निरीक्षण से स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रगति क्रमशः ही सम्भव हुई है। आगे कदम बढ़ाने के लिए पैर को वह स्थान छोड़ना पड़ता है, जहाँ वह पहले जमा हुआ था। पिछले स्थान से पैर न उठाया जाय तो वह आगे कैसे बढ़ सकेगा ? विज्ञान ने इस तथ्य को स्वीकारा और अपनाया है किन्तु अध्यात्म को न जाने क्यों इस प्रकार का साहस संचय करने में हिचकिचाहट हो रही है।"[139]

तर्क और प्रयोगों के अभाव ने धर्म को अपूर्ण ही नहीं रखा, विध्वंसकारी भी बना दिया। विकास की राह विनाश की ओर मुड़ चली। इस अपूर्णता को जितनी जल्दी दूर किया जा सके, उतना ही उत्तम होगा। आचार्य जी का कथन है कि इस सम्बन्ध में विज्ञान की पहल सराहनीय है। उसने दुराग्रह नहीं अपनाया। सत्य के लिए अपने द्वार खुले रखे हैं। यदि आज कोई बात गलत निकली तो वह अपनी बात सुधारने के लिए तैयार है। उसका कथन है कि हम सब सत्य की राह के पथिक मात्र हैं। हठ करने की अपेक्षा यह अच्छा है कि जो बात गलत साबित हुई है, उसे सुधार लिया जाय। इस मान्यता से उसकी ईमानदारी साबित होती है। धर्म को भी उसका अनुकरण करना चाहिए। इससे उसकी सर्वज्ञता का त्रिकालदर्शी होने का दावा करने में कुछ हेठी तो होगी पर उसकी पूर्ति इस बात से हो सकेगी कि देर सबेर में जब भी गलती मालूम हुई वह ईमानदारी से उसे स्वीकार करने के लिए तैयार है।"[140] इस गलती को स्वीकार करने से ही वह अपनी पूर्णता की खोज में तत्पर हो सकता है।

धार्मिक भावना मानवीय विकास और प्रगति के लिए जितनी आवश्यक है, उससे कहीं अधिक आवश्यक है उसका विवेक एवं प्रयोग सम्मत होना। इसके लिए एक ऐसे सर्वांगीण दर्शन की खोज वांछित है, जो इसे पूर्णता प्रदान कर सके।

◆ दर्शन की अपूर्णता

जिस तरह धर्म तर्क का निषेध करने के कारण अपूर्ण है, उसी तरह दर्शन भावना का निषेध करने की वजह से कोरी बौद्धिकता हो कर रह जाता है। भावना विहीन बौद्धिकता एक ऐसी अपूर्णता की सृष्टि करती है, जो सारे अनर्थों की जड़ है। इसके स्वरूप को आचार्य जी के शब्दों में कहें तो- "बौद्धिक तर्क क्षमता ऐसी है, जिसके सहारे हम अनैतिक और अवास्तविक बातों को भी प्रामाणिक जैसे ढंग से प्रस्तुत कर सकते हैं। तर्कों के आधार पर असत्य को भी सत्य सिद्ध किया जा सकता है। जिस प्रकार मोटा पहलवान साधारण स्वास्थ्य वाले को दबोच लेता है, उसी प्रकार मस्तिष्कीय बलिष्ठता के सहारे अनुपयुक्त को भी उपयुक्त सिद्ध किया जा सकता है।"[141] *यहाँ तर्क का प्रतिवाद नहीं किया जा रहा है* और न उसे निरर्थक बताने की बात चल रही है। उसकी उपयोगिता एवं आवश्यकता तो रहेगी ही। उसकी सहायता के बिना तो किस निष्कर्ष पर पहुँचना ही सम्भव न

---

१३९. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं पूरक, पृ ४८

१४०. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म एवं विज्ञान का पारस्परिक सहयोग आवश्यक, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४८, अंक १, पृ. २३

१४१. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म और तत्वदर्शन की पृष्ठभूमि, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४८, अंक ३, पृ १२

होगा। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि शुष्क तर्क मात्र से तात्कालिक लाभ के पक्ष में जो आतुरता उत्पन्न होती है, उससे आवेश की रोकथाम नहीं हो सकती। उसकी रोकथाम के लिए न केवल विवेक की बल्कि आदर्शों के प्रति श्रद्धा की भी आवश्यकता पड़ती है।[142] जो भावना की सघनता का उत्पादन है।

भावना व विवेक का समन्वय एक अपूर्व अन्तर्दृष्टि का सृजन करता है। आचार्य जी के अनुसार- यह अन्तर्दृष्टि या विवेकशील प्रज्ञा ही हमें हमारे वास्तविक स्वरूप को बताती है और उन कर्त्तव्यों का बोध कराती है, जिनमें कोई सम्प्रदाय या दर्शन अवरोध उत्पन्न नहीं करता। आत्मा एक है। वही सर्वत्र बिखरा पड़ा है। उसमें सर्वत्र एक जैसी भाव संवेदना है। आत्मीयता और करुणा के आधार पर ही वह कोई निर्णय करती है तो उसमें कोई पक्षपात या अनुपयुक्तता की गुंजाइश नहीं रहती है।[143]

भावना का निषेध करने के कारण दर्शन भौतिकवाद का रूप ले लेता है। और आचार्य जी का कहना है कि ''प्रस्तुत भौतिकवादी मान्यता ने जो चिन्तन लोगों को दिया है, उससे वह अधिकाधिक स्वार्थी, विलासी और अपव्ययी होता चला गया है। उसके क्रिया-कलापों में ऐसे कृत्य भी सम्मिलित हो गए हैं जिनमें अपने लाभ के लिए दूसरों को कष्ट देने में कोई हर्ज नहीं माना जाता।''[144] दार्शनिक विचार सिर्फ विचार तक ही सीमित नहीं रहते, उनसे जीवन शैली का भी निर्माण होता है। मान्यताएँ और प्रथाएँ इसी आधार पर बनती बदलती हैं।[145] नीत्शे ने बड़प्पन की जो भौतिकवादी व्याख्या की, उसे जर्मनी ने बड़ी गम्भीरता से लिया। इन्हीं विचारों से प्रेरित और प्रभावित होकर हिटलर और मुसोलनी जैसे तानाशाह विश्व विजय का स्वप्न देखते रहे। कमजोरों को धरती का भार कहकर उन्हें मिटा देने की वकालत करते रहे।[146]

दर्शन की भावना विहीन बौद्धिकता सिर्फ जीवन के स्वरूप को ही विकृत नहीं करती, बल्कि धार्मिक जीवन की गुह्य अनुभूतियों को भी अस्वीकृत करती है, क्योंकि ये गुह्य प्रक्रियाएँ श्रद्धा पर आधारित हैं। इस अस्वीकार का अर्थ है, ज्ञान के उच्चतर आयामों से इन्कार। इस तरह के व्यवहार से दर्शन और दार्शनिकता स्वयं अपने अधूरेपन और अपूर्णता की घोषणा कर देते हैं। और उनका यह अधूरापन विचारों का अधूरापन ही नहीं, जीवन का भी अधूरापन है। जीवन जब भी अपनी पूर्णता की खोज करेगा उसके लिए किसी पूर्ण दर्शन का अवलम्बन अनिवार्य है। इसलिए दर्शन की पूर्णता और सर्वांगीणता की खोज को यदि मानवीय जीवन और समाज की सर्वोपरि आवश्यकता कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

विज्ञान की अपूर्णता

विज्ञान तर्क है, सत्य की शोध करता है, यथार्थ का दर्शन भी कराता है, परन्तु पदार्थों की जानकारी तक ही उसकी गति सीमित है।[147] पदार्थों के इस छान-बीन में ऊर्जा के नए-नए स्रोत तो मिले, पदार्थों के नए-नए रूपों से अवगत होने के कारण, उपलब्धियों का ढेर भी हाथ में आया, पर उनकी उपयोग विधि न समझी जा सकी। क्योंकि श्री अरविन्द के अनुसार- ''अतिभौतिक प्रकृति के नियम और सम्भावनाओं को जाने बिना न तो भौतिक प्रकृति के नियम और न सम्भावनाएँ ही जानी जा सकती हैं।''[148] इसी वजह से न तो उसकी सत्य की शोध पूर्ण हो सकी और न उपलब्धियां अपनी उपादेयता भली प्रकार सिद्ध कर सकीं। उल्टे विज्ञान के प्रयासों और उपलब्धियों का जो स्वरूप निखरकर आया है उसे देखकर बर्ट्रेण्ड रसेल को कहना पड़ा-

''हम एक ऐसे जीवन प्रवाह के बीच हैं, जिसका

---

१४२. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं पूरक, पृ ५४
१४३. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म और तत्त्वदर्शन की पृष्ठभूमि, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४८, अंक ३, पृ २२
१४४. आचार्य श्रीराम शर्मा- जीवन दर्शन की विविध धाराएँ, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४८, अंक ३, पृ २५
१४५. आचार्य श्रीराम शर्मा- आधुनिक दर्शन जिसमें दुर्बल के लिए कोई स्थान नहीं, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४८, अंक १, पृ २१
१४६. आचार्य श्रीराम शर्मा- जीवन दर्शन की विविध धाराएँ, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४८, अंक ३, पृ. २६
१४७. आचार्य श्रीराम शर्मा- विज्ञान का उपनयन संस्कार कराया जाय, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४८, अंक १, पृ. ८
१४८. श्री अरविन्द- द ह्यूमन साइकिल, पृ ८२

साधन है, मानवीय दक्षता और साध्य है मानवीय मूर्खता। अगर मूर्खता लक्ष्य हो, तो उसी सिद्धि के लिए कुशलता वृद्धि की दिशा में उठाया गया प्रत्येक कदम बुराई की ओर ले जाता है। मानव जाति अब तक जीवित रह सकी है तो अपने अज्ञान व अक्षमता के कारण ही, परन्तु अगर ज्ञान व क्षमता मूढ़ता के साथ युक्त हो जाय तो उसके बचे रहने की कोई सम्भावना नहीं है। ज्ञान शक्ति है, पर यह शक्ति जितनी अच्छाई के लिए है, उतनी ही बुराई के लिए भी है। निष्कर्ष यह है कि जब तक मनुष्य में ज्ञान के साथ-साथ विवेक का भी विकास नहीं होता, ज्ञान की वृद्धि ही दुःख की वृद्धि साबित होगी।''[१४९]

रसेल का यह कथन वैज्ञानिक प्रगति पर पूरी तरह से खरा उतरता है। आचार्य जी के अनुसार- ''जिस क्रम में हमारी तथाकथित 'प्रगति' प्राकृतिक सन्तुलन को बिगाड़ रही है, उसे दूरदृष्टि से देखा जाय तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि तात्कालिक लाभ में अन्धे होकर हम भविष्य को घोर अन्धकारमय बनाने के लिए आतुर हो रहे हैं। सारा दोष उस मानवीय चिन्तन को है- उस जीवन पद्धति को जिसमें प्राकृतिक व्यवस्था की ओर ध्यान दिए बिना कम से कम श्रम और अधिकतम विलासिता के साधन एकत्र करने की धुन लगी हुई है। व्यक्ति के इस उतावलेपन ने सामूहिक रूप धारण कर लिया है। इससे प्राकृतिक व्यवस्थाओं का विचलित होना स्वाभाविक है। मशीनीकरण, प्राकृतिक सम्पदाओं का दोहन और उनका अन्धा-धुन्ध उपयोग, राष्ट्रों के बीच सर्वशक्तिमान् बनने की महत्त्वाकांक्षाएँ और उनके फलस्वरूप आणविक अस्त्र-शस्त्रों की होड़ सब मिलाकर परिस्थितियाँ नियंत्रण से बाहर हो चली हैं।''[१५०]

मनुष्य की दुर्भावनाएँ जब तक व्यक्तिगत जीवन तक सीमित रहती है, तब तक उसका प्रभाव उतने लोगों तक सीमित रहता है, जितनो से उस व्यक्ति का सम्पर्क रह सके, परन्तु ''विज्ञान की सहायता से उसका जो स्वरूप बन गया है उससे मानवता की आत्मा थर-थर काँपने लगी है। प्रगति के नाम पर मानव प्राणी की चिर संचित सभ्यता का नामोनिशान मिटाकर रख देने वाली परिस्थितियों की विशाल परिमाण में तैयारी हो चुकी है, उसमें चिंगारी लगने की देर है कि यह बेचारा भू-मण्डल बात की बात में नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। मानव मन की दुर्भावनाओं की घातकता अत्यन्त विशाल है। २४००० मील व्यास का यह नन्हा सा पृथ्वी ग्रह उसके लिए एक ग्रास के बराबर है।''[१५१]

मानव मन की इस घातकता को वैज्ञानिक भौतिकवाद ने बढ़ा-चढ़ा कर असंख्य गुना कर दिया है। चैतन्य सत्ता का सर्वथा निषेध करने एवं हर चीज का भौतिक मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति के कारण सत्य की खोज के लिए प्रवृत्त होने वाला विज्ञान अपने लक्ष्य से भटक गया है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य जी का कथन है- ''आंसुओं के पानी का वैज्ञानिक विश्लेषण पानी, खनिज, श्लेष्मा, क्षार, प्रोटीन का सम्मिश्रण भर किया जा सकता है। प्रयोगशालाएँ आंसुओं का स्वरूप इतना ही बता सकेंगी। ऐसी दशा में क्या उनके साथ जुड़े हुए स्नेह, ममता, करुणा, व्यथा, वेदना आदि के अस्तित्व से इंकार कर दिया जाय? अथवा इन सम्वेदनाओं को इसलिए अमान्य ठहरा दिया जाय, क्योंकि उसका कोई प्रमाण पदार्थ विश्लेषण द्वारा उपलब्ध नहीं हो सका।''

मनुष्य का शरीर, विज्ञान की दृष्टि से कुछ रासायनिक पदार्थों का सम्मिश्रण मात्र है। उसकी गतिविधियों का आधार अन्न, जल और वायु से मिलने वाली ऊर्जा है। मस्तिष्कीय चिन्तन को शरीरगत सम्वेदनाओं से प्रभावित आवेश मात्र कहकर विज्ञान कहीं दूर जा बैठा है। *आत्मा का, निष्ठा का, भाव सम्वेदना का,* आदर्शों के लिए कष्ट सहने का, त्याग करने की उमंगों का, विज्ञान के पास कोई समाधान नहीं? ऐसी दशा में क्या मनुष्य को आत्मा और भावना से रहित एक रासायनिक यंत्र कहकर संतोष कर लिया जाये?''[१५२]

---

१४९. B. Russel- The Impact of Science on Society, pp 120-21
१५०. आचार्य श्रीराम शर्मा- विज्ञान को शैतान बनने से रोकें, पृ. १०-११
१५१ वही, पृ ११
१५२. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं पूरक, पृ. ५७-५८

आचार्य जी के इस विवेचन से निष्कर्ष यही निकलता है कि वैज्ञानिक भौतिकवाद, भौतिक जगत् के अध्ययन के लिए उपयोगी एक बौद्धिक यंत्र मात्र है। वहाँ पर भी यह प्रवृत्ति के सतही पहलुओं के अध्ययन के सीमित दायरे में ही कार्यरत है। किन्तु मानव तथा मानवीय परिस्थितियों के अध्ययन में यह सर्वथा असमर्थ तथा विकृतकारी यंत्र साबित होता है। टामस हक्सले जैसे नास्तिकवादी ने जो कि डार्विन के सहयोगी रह चुके थे, वैज्ञानिक चिन्तन की अपूर्णताओं का- जीवन दर्शन के रूप में उसकी सीमाओं का पता पा लिया था और अब से एक शताब्दी पहले ही चेतावनी देते हुए लिखा था-

"किन्हीं शब्दों या संकेतों के स्थान पर किन्हीं अन्य शब्दों या संकेतों का उपयोग करने से यदि हमें प्राकृतिक क्रियाकलापों को समझने में सुविधा होती हो तो हमारा स्पष्ट कर्त्तव्य है कि हम उन्हें अपना लें। इसमें हमें तब तक कोई खतरा नहीं है, जब तक हम यह स्मरण रखेंगे कि हम मात्र शब्दों व संकेतों का उपयोग कर रहे हैं।.... परन्तु जब कोई वैज्ञानिक दार्शनिक विश्लेषण की सीमाओं को भूलकर, इन सूत्रों व संकेतों से जड़वाद पर उतर जाता है, तो मानों वह अपने आपको एक ऐसे गणितज्ञ के स्तर पर ले जाता है, जो अपने गणित में प्रयुक्त होने वाले क्ष (X) और य (Y) को वास्तविक चीजें समझ बैठता है। और गणित की तुलना में उस वैज्ञानिक से और भी अधिक नुकसान इसलिए है कि गणितज्ञ की उन भूलों का कोई व्यावहारिक परिणाम नहीं होता, जबकि योजनाबद्ध वैज्ञानिक भौतिकवाद की भूलें शक्तियों को कुण्ठित व जीवन के सौन्दर्य को नष्ट कर सकती हैं।"[१५३] विज्ञान जीवन के शक्ति और सौन्दर्य को विकसित करने का साधन बने यह तभी सम्भव है, जबकि उसे अपनी पूर्णता व समग्रता प्राप्त हो।

धर्म-दर्शन व विज्ञान, मानवीय विचार के तीनों आयाम अपने में एकांगी और अपूर्ण हैं। इनके प्रभाव क्षेत्र कितने ही व्यापक और उपलब्धियाँ कितनी ही चमत्कारी क्यों न हों, पर वर्तमान समय में इनकी उपादेयता पर अनेकों प्रश्न चिह्न लग चुके हैं। सम्भव है अपने उदय और विकास के समय में तत्कालीन देश, काल और परिस्थितियों में इन तीनों ने मानव का पर्याप्त हित साधन किया हो। पर वर्तमान समय की प्राकृतिक, सामाजिक और मानसिक स्थिति में ये हित के स्थान पर अहित, विकास के स्थान पर विनाश के सरंजाम अधिक जुटाते दिख रहे हैं। दोषी इनमें अन्तर्निहित मूल भावना नहीं-बल्कि इनका स्वरूप है, जिसका शोधन, परिमार्जन अब समय की अनिवार्य आवश्यकता बन चुकी है। आवश्यकता उस विचार क्रान्ति के प्रचण्ड तूफान की है, जो अपने बवण्डर में इनके समस्त विकृतियों को नष्ट कर, इनका सौन्दर्य वापस दे सके। इनमें अन्तर्विरोध के स्थान पर समन्वय व सामंजस्य की स्थापना कर सके।

आचार्य जी द्वारा की गई विचारों के इतिहास में क्रान्ति

◆ विचार क्रान्ति

मानवीय सभ्यता का विकास, उसके द्वारा सम्पन्न की गयी क्रान्तियों का परिणाम है। अपने जीवन की शुरूआत से ही मनुष्य क्रान्तिधर्मी रहा है। पहली क्रान्ति उस समय घटी, जब मनुष्य अपने आरम्भिक काल में छोटे-छोटे समूह बनाकर रहता था। सर्वथा अव्यवस्थित किन्तु उसके पास वे सारे उपकरण थे जिनसे जीवन में क्रान्ति घटे। हुआ भी ऐसा ही- मानवीय जीवन में पहली बार धर्म का उदय हुआ। इसे धार्मिक क्रान्ति भी कहा जा सकता है। धर्म के उदय ने आचार-मर्यादा और कर्त्तव्य की जंजीरों में उन आदिमकालीन क्रूरताओं को जकड़ा और सभ्यता का सृजन करके मनुष्य को शालीनता एवं सामाजिकता का पाठ पढ़ाया। यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, जिसे अपने समय में धरती की समस्त सम्पदा से बढ़ी-चढ़ी माना जा सकता है। धर्म ने क्रमशः पशुता के, असुरता के पर्तों को उखाड़ा है और मनुष्यों को उस स्तर तक पहुँचाया है, जिसमें वह बढ़ी-चढ़ी सम्पत्ति के आधार पर ही नहीं सुविकसित सभ्यता के आधार पर भी गर्व करने का अधिकारी बना है।[१५४]

---

१५३. T. Huxley- Methods and Results, pp. 164-65

१५४. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म और विज्ञान जुड़वा भाई, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३८, अंक ३, पृ ५०

इस प्रथम क्रान्ति में समूहों की व्यवस्था के सविधि संचालन के लिए राज्य का उदय हुआ। राजतंत्र पनपा। परस्पर के सम्बन्ध उदारतापूर्वक निभ सके, इस हेतु समाज नीति निर्धारित हुई। विनिमय व्यवस्था ने अर्थ नीति को जन्म दिया और मनुष्य के अन्तरंग उन्नयन की प्रणाली ने अध्यात्म का रूप धारण किया। इस तरह प्रथम क्रान्ति से जीवन तीन अंगों में व्यवस्थित हुआ। राज्य-अर्थ-बुद्धि। ये सभी जिस सूत्र में पिरोये थे- वह था धर्म। राज्य का नियंत्रक राजा अथवा प्रशासक, अर्थ के नियंत्रक व्यापारी और बुद्धि के नियामक मनीषी अथवा दार्शनिक।

धीरे-धीरे राज्य बढ़े, समाज विशाल हुआ और जीवन जटिल। संकीर्णताओं की जकड़न और विवशता की सिसकियाँ गूंजी। मनीषियों द्वारा नए समय के नए समाधान ढूँढें जाने का क्रम शुरू हुआ। परम्पराओं को तर्क ने चुनौती दी- यही विचारों के इतिहास में दूसरी क्रान्ति थी, जिसे दार्शनिक क्रान्ति का नाम दिया गया। दार्शनिक क्रान्ति में इस तथ्य का स्पष्टीकरण हुआ कि आदमी की तकलीफ के दो कारण हैं- पहला व्यवस्था का स्वरूप, दूसरा साधनों का अभाव। व्यवस्था जब परम्परा बन जाती है तो वह अपने लौह पाश के द्वारा स्वाभाविक विकास में बाधा बनती है। ये चाहे शासन के शोषक हो अथवा रूढ़ियों-कुरीतियों के पृष्ठपोषक, दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। इन दोनों कारणों के पीछे वह अज्ञान है जो व्यक्ति और समाज के बीच असन्तुलन की सृष्टि करता है। राजतंत्र के चरमराते ढाँचे ने जब व्यक्तिवाद का रूप लिया, धर्म ने चेतना के उन्नयन के स्थान पर रूढ़ियों-कुरीतियों का स्वरूप बनाकर शोषणवाद को प्रश्रय दिया, वहीं से विचारों के इतिहास में दार्शनिक क्रान्ति की शृंखला चल निकली। धर्म और राज्य दोनों को मार्क्स और रुसो जैसे अनेकानेक दार्शनिकों की चुनौतियाँ मिलने लगीं। राजतंत्र के विकल्प के रूप में लोकतंत्र एवं साम्यवाद प्रकाश में आए। व्यवस्था परिवर्तन के अलावा साध्यों की आवश्यकता हुई। सत्य को अब तर्क की कसौटी पर ही नहीं प्रायोगिक मानदण्डों पर भी खरा उतरना पड़ा। इसी क्रम में पुनर्जागरण काल में वैज्ञानिक क्रान्ति सम्पन्न हुई, जिसने आगे चल कर औद्योगिक क्रान्ति ने अपना सहचरत्व निभाया। जीवन मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में वैज्ञानिकता का सीधा आघात धर्म पर हुआ और जीवन शैली के क्षेत्र में औद्योगिक क्रान्ति ने उथल-पुथल मचा कर रख दी।

विचारों के इतिहास में हुई इन तीनों क्रान्तियों के फल स्वरूप विकसित हुए धर्म-दर्शन व विज्ञान के तीनों आयाम, एक दूसरे के विरोध के कारण उपजे फलतः इन तीनों में समन्वय के स्थान पर अन्तर्विरोध अधिक बना रहा है। होना तो यह चाहिए था कि एक दूसरे की विकृतियों को हटाकर पारस्परिक सामंजस्य को स्थान मिले- परन्तु ऐसा हो न सका। फलतः इन तीनों तत्वों का जितना लाभ मानवीय सभ्यता को मिला- हानियाँ भी उससे कम नहीं सहनी पड़ी। और अब तो स्थिति कुछ ऐसी है, जिसे यदि आचार्य जी के शब्दों में कहें तो-

"आज की दशा में जर्जरित ढाँचों में पिस रहे मानवी जीवन को देखने पर यही लगता है कि घूम-फिर कर आदमी वहीं बल्कि उससे भी बदतर हालत में आ पहुँचा है, जहाँ से उसने अपनी यात्रा शुरू की थी। अब उसे पुनः आवश्यकता पड़ गयी है कि नयी व्यवस्था का सृजन हो। परस्पर के सम्बन्ध नए सिरे से विकसित हो अर्थात् समाज नीति की नयी स्मृति बने। विनिमय प्रणाली ऐसी हो जो हर किसी की सामान्य जरूरतें पूरी कर सके। मानवीय चेतना के आरोहण, बहिरंग जीवन को परिष्कृत करने वाली ऐसी प्रक्रिया विकसित हो, अन्धविश्वास जिसके निकट न फटके। इस आ पड़ी जरूरत को कौन पूरा करेगा? कहाँ ये सब विशेषताएँ? इसके लिए क्रान्ति के उस नए आयाम को ढूँढना पड़ेगा जो विगत की भूलों से मुक्त हो, जिसमें व्यक्ति के मनोसामाजिक नव सृजन की अपूर्व क्षमता हो। क्रान्ति का वही नया आयाम विचार क्रान्ति है।"[१५५] "ऐसी विचार क्रान्ति जिसमें पुरातन की समस्त श्रेष्ठताएँ सुरक्षित रखते हुए विनाशकारी विकृतियों से विमुख होने का प्राणवान साहस काम करता दृष्टिगोचर हो सके।"[१५६]

---

१५५. आचार्य श्रीराम शर्मा- क्रान्ति का नया आयाम- विचार क्रान्ति, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक १०, पृ ४३

१५६. आचार्य श्रीराम शर्मा- युग की समस्याएँ और उनका समाधान, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४०, अंक १२, पृ. ३५

◆ विचार क्रान्ति में धर्म-दर्शन एवं विज्ञान का समन्वय-सर्वांगीण दर्शन का उदय

आचार्य जी की विचार क्रान्ति निषेध की नहीं समन्वय और सामंजस्य की प्रक्रिया है। इसे श्रेष्ठताओं का समन्वय और विकृतियों का उन्मूलन भी कह सकते हैं। वे धर्म-दर्शन व विज्ञान में से किसी को अस्वीकार नहीं करते। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि सारी विचार प्रणाली ही आध्यात्मिक है। क्योंकि सारी विचार प्रणाली ही मानव में निहित सम्भावनाओं के व्यक्त करने के उद्देश्य से रची गयी है। इस तरह अपने सर्वांगीण चिन्तन में वे सम्पूर्ण मानवीय विकास का विज्ञान व तकनीक संस्थापित करते हैं।

मोटे तौर पर ये सम्भावनाएँ तीन श्रेणियों में आती हैं। प्रथमतः तो शारीरिक क्षमताएँ हैं, जो कि मांस पेशियों व स्नायु तंत्र के विकास द्वारा अभिव्यक्त होती हैं और नर-नारियों को हृष्ट-पुष्ट व बलिष्ठ बनाती हैं, द्वितीयतः सूक्ष्मतर व गहरी मानसिक सम्भावनाएँ हैं, जो विचार युक्ति, इच्छा व भावना की शक्तियों के रूप में विकसित होकर एक ऐसे बुद्धिमान व संवेदनशील व्यक्ति का निर्माण करती हैं, जो अपने चारों ओर फैले विश्व को समझता है, उस पर नियंत्रण करता है और मानव जाति की अधिकतम प्रगति के लिए इसका उपयोग करता है और तृतीय जो कि सर्वाधिक सूक्ष्म व गहन है, वह है मानव में निहित दिव्य सम्भावनाएँ जो कि अपने अनुपम व महान् ऊर्जा स्रोतों के सहित उसके अनन्त व शाश्वत स्तर में निहित है। ये अन्तिम सम्भावनाएँ अन्य ऊर्जा स्रोतों के संयमित व रचनात्मक उपयोग के रूप में अभिव्यक्त होती हैं, ताकि मानव अपने बलिष्ठ शरीर, प्रशिक्षित मन अथवा प्रबल इच्छाशक्ति को दूसरों के शोषण या विनाश में न लगाकर प्रेम व सेवा के द्वारा उनके जीवन की पूर्णता की उपलब्धि में लगाए।

यह तृतीय उपलब्धि ही मानव के सर्वोच्च विकास की अवस्था है, जिसमें कि वह अपने शारीरिक, मानसिक विकास की अवस्थाओं से भी ऊपर उठ जाता है। यह स्थिति उन अवस्थाओं से विरोध या संघर्ष करके नहीं, वरन् उन्हें पूर्ण करते हुए प्राप्त होती है। क्रिया व चिन्तन की पूर्णता ही व्यक्ति की भावनात्मक पूर्णता का आधार है। इन अर्थों में विज्ञान व दर्शन अध्यात्म के विरोधी नहीं बल्कि आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्तर हैं। इनकी पूर्णता के फलस्वरूप मानव अपनी बाह्य परिस्थितियों पर विजय पाकर अन्तर में शान्ति व सामंजस्य की उपलब्धि कर अपने चारों ओर उसी को विकसित करता रहता है।

अपने विचारों की संगीत रचना में आचार्य जी विज्ञान, दर्शन व धर्म को क्रिया-चिन्तन व संवेदना के रूप में समन्वित करते हैं। उनके अनुसार- "क्रिया, चिन्तन व संवेदना- जीवन के तीन पक्ष हैं जो अपने एकाकीपन में मनुष्य जाति को जीवन का अर्थ नहीं दे सकते। वह कला नहीं सिखा सकते जिससे अनगढ़ता-भद्दापन मिट सके। इस कला का अभाव ही है- जिसके कारण समृद्धियों के ढेर में दबा बौद्धिक भार से लदा मनुष्य करुणा विलाप कर रहा है।"[१५७] आगे वह बताते हैं- धर्म, दर्शन व विज्ञान- मानवीय अस्तित्व से उपजी- तीन प्रबल विचार शक्तियाँ हैं। किन्तु इनका अलगाव-आपसी टकराव मानव जीवन में वरदानों की सृष्टि न कर सका। जब संवेदन- चिन्तन और कर्म ही आपस में टकराते रहेंगे, तब परिणाम संहार के सिवाय और क्या होगा? उज्ज्वल भविष्य की संसिद्धि का सिर्फ एक उपाय है- इनका सामंजस्य। वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के रूप में यही है। इस नए तत्त्वदर्शन के अनुसार क्रिया व चिन्तन दोनों जहाँ मिल सकते हैं, वह स्थान संवेदना है। जाने-अनजाने ये दोनों यहीं अपना जन्म पाते हैं। इस मिलन बिन्दु को अपने मूल स्रोत के रूप में पहचानना-स्वीकार करना ही वह उपाय है, जिससे मनुष्य अब तक के अपने विकास को बरकरार रख सम्भावनाओं के नए द्वार खोल सकता है।

यह उन्मुक्त द्वार संकीर्ण विचारों की कोठरियों में हैरान, परेशान मनुष्य को खुले आकाश, प्राणवर्धक वायु के बीच ले जाएगा। संवेदना से उपजी क्रिया-भारभूत

---

१५७. वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के जन्मदाता- परम पूज्य गुरुदेव, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक १२, पृ. ५५

श्रम नहीं- जीवन साधना बनेगी। संवेदना से उपजा चिन्तन उसका मार्गदर्शक बनेगा। चिन्तन की यह नयी प्रणाली मानव की नियति है।[१५८] आचार्य जी के विचारों का यह नवनीत जिसे उन्होंने सर्वांगीण दर्शन कहा है, इसमें मानवीय जीवन व सृष्टि रचना के समस्त पहलुओं पर विचार किया गया है। इसमें विभिन्न दार्शनिक पहेलियाँ सीधी सरल भाषा में सुलझायी गयी। इसके समन्वय के स्वरों को देख कर यही कहना पड़ता है कि आचार्य श्रीराम शर्मा की रचनात्मक प्रतिभा को संक्षेप में सन्तुलन और समग्रता, इन दो शब्दों के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है। उनकी यह चिन्तन प्रणाली विचारों की दृष्टि से ही सर्वांगीण नहीं ज्ञान की प्रणाली की दृष्टि से भी समग्र और सर्वांगीण है।

❑



१५८ वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के जन्मदाता- परम पूज्य गुरुदेव, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक १२, पृ ५५

अध्याय २

दार्शनिक प्रणालियाँ

मोटी दृष्टि से जिन्दगी की बहुरूपिया समस्याओं के अनेक कारण और उनके भिन्न-भिन्न हल समझ पड़ते हैं।[1] लेकिन गहराई से सोचें- बारीकी से समझने की कोशिश करें, तो सभी समस्याओं और इनसे उपजे "समस्त दु:खों के कारण तीन हैं- १. अज्ञान, २. अशक्ति, ३. अभाव।"[2] ये तीनों कारण आपस में इस कदर घुले-मिले हैं कि जहाँ एक हो, दूसरे का पाया जाना लगभग निश्चित ही है। सुख-सुविधाओं, साधन-सामग्रियों का अभाव इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि जहाँ यह अभाव है, वहाँ अर्थ शक्ति-अर्जन शक्ति की कमी है। यही बात जीवन की अन्यान्य विभूतियों और उनके अभाव के बारे मे भी है। ठीक इसी तरह जहाँ शक्ति नहीं है, सामर्थ्य की न्यूनता है- वहाँ अभावों की करूण-गूंज सुनाई देती रहे, तो आश्चर्य क्या?

पर अशक्ति क्यों पनपी? अभाव क्यों उपजा? इस दैन्य का कारण, समस्त दु:खों का मूल स्रोत, प्रथम कारण 'अज्ञान' है। जीवन के जिस किसी क्षेत्र में इसकी उपस्थिति होगी- निर्बलता, दुर्बलता, अशक्ति का साम्राज्य, वहाँ सघन रूप से छाया रहेगा। और उन-उन क्षेत्रों की विभूतियों-विशिष्टताओं के अभाव की कसक बनी रहेगी। भले ये क्षेत्र शारीरिक-मानसिक हों या बौद्धिक-आत्मिक। यदि इनकी संरचना-क्रिया पद्धति-विशिष्टताओं के बारे में '*ज्ञान' अर्जित किया जा सके- तो जीवन को स्वास्थ्य-*बल, विचारशीलता, अतीन्द्रिय सामर्थ्य, निर्णय, विभूषण, तर्क, आत्मिक शान्ति, आनन्द, प्रेम जैसी शक्तियों से सहज सम्पन्न किया जा सकता है। अंतरंग जीवन में शक्तियों की उपस्थिति-बहिरंग जीवन को वैभव-विभूति से भरा-पूरा करने के लिए पर्याप्त है।

सवाल ज्ञान की खोज का है। मानव जाति अपनी शुरूआत से ही इसे हल करने की कोशिश करती रही है। मानव की उपलब्धियों और विकास का इतिहास-वस्तुत: उसके द्वारा की गई ज्ञान की खोज का इतिहास है। यों मानवीय ज्ञान की अनेकानेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ आज अपने अस्तित्व में है। लेकिन उनमें से जीवन की आंशिक झलक ही देखने को मिलती है। आंशिक सत्य ही प्रकट हो पाता है। जबकि आवश्यकता समग्र ज्ञान की खोज की है। ज्ञान जितना समग्र होगा- शक्ति की उपलब्धि उतनी ही व्यापक होगी- सत्य की अनुभूति उतनी ही परिपूर्ण हो सकेगी। यथार्थ कहा जाय, तो "ज्ञान की सार्थकता-व्यापक बोध और समग्र दृष्टि पाने में है।"[3]

दर्शन इसी सार्थक ज्ञान का पर्याय है। "हर्बर्ट स्पेन्सर ने दर्शनशास्त्र की परिभाषा करते हुए तथा विज्ञान से इसकी पृथकता दर्शाते हुए कहा है कि जहाँ विज्ञान अंशत: व्यवस्थित ज्ञान है, वहाँ दर्शनशास्त्र पूर्ण व्यवस्थित ज्ञान है। उनकी यह धारणा थी कि दर्शनशास्त्र विभिन्न विज्ञानों को एक व्यवस्थित तंत्र में पिरोने का प्रयत्न उसी तरह करता है- जिस तरह प्रत्येक विज्ञान अपने क्षेत्र के विशेष तथ्यों को व्यवस्थित तंत्र में पिरोने का प्रयत्न करता है।"[4] स्पेन्सर से पूर्व भारत के तत्वज्ञ-मनीषी दर्शन की आराधना मानव-प्रकृति एवं ईश्वर के आन्तरिक सम्बन्धों की मधुरता की रहस्यानुभूति एवं इसकी बौद्धिक व्याख्या के रूप में करते आए हैं। भारत की दार्शनिकता में दर्शन का अर्थ पश्चिम की फिलासफी की तरह ज्ञान से प्रेम नहीं *बल्कि ज्ञान से एकात्मता है।*[5] इसे स्वानुभूति की कसौटी पर खरा साबित करते हुए मनीषी अनिर्वाण कहते हैं- "दर्शन का अर्थ है- दिव्य दर्शन। जिज्ञासा नहीं, जीवन का परम और चरम अनुभव। यह अनुभव जितना समग्र और उत्तुंग होगा- जीवन चेतना में उतनी ही व्यापक क्रान्ति सम्पन्न हो सकेगी।"[6] यही दर्शन का मानव के लिए वास्तविक महत्व है कि उसको अपने अस्तित्व की प्रकृति के विषय में प्रकाश दे, उसके मनोविज्ञान के सिद्धान्त, विश्व और ईश्वर से उसके सम्बन्ध, उसके भविष्य

---

१. आचार्य श्रीराम शर्मा- सभी विचारधाराओं के मूल में है, विश्व संस्कृति के चिन्तन स्वर,अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ६, पृ ६०
२. आचार्य श्रीराम शर्मा- गायत्री महाविज्ञान भाग १, पृ. २९
३. *आचार्य श्रीराम शर्मा- ज्ञान और विज्ञान का महासागर है-आर्ष वाङ्मय, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ६, पृ. ४५*
४. पैट्रिक जी टी. वी. डब्ल्यू - दर्शनशास्त्र का परिचय, पृ. ११
५. आचार्य श्रीराम शर्मा- ज्ञान और विज्ञान का महासागर है- आर्ष वाङ्मय, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ६, पृ. ४८
६. अनिर्वाण- सावित्री महाकाव्येर भूमिका, श्री अरविन्द मंदिर वर्तिका, पृ १९

की महान् सम्भावनाओं की निश्चित रूपरेखा को स्पष्ट करे।[७] दार्शनिक ज्ञान की यही खासियत, जहाँ उसको मानवी ज्ञान की अन्य शाखाओं से अलग और विशेषताओं से भरा-पूरा साबित करती है वहीं परिपूर्ण सत्य की अनुभूति को देने वाली है। आचार्य जी के शब्दों में कहें तो आज "मनुष्य के खण्ड-खण्ड का चिन्तन चल रहा है। उसके अस्तित्व के एक-एक भाग को समग्र शास्त्र का रूप दिया गया है। ये सभी हैं तो उपयोगी पर समग्र मानव (जीवन) को समझे बिना, उसकी मूल प्रकृति एवं प्रवृत्ति पर ध्यान दिए बिना एकांगी-आंशिक समाधानों से कुछ बनेगा नहीं। एक छेद सीते-सीते दूसरे और नए फट पड़े तो उस मरम्मत से कब तक काम चलेगा। उस महाविद्या की ओर से क्यों उदासी है- जिसे समग्र मानव का विज्ञान कह सकते हैं।"[८] आचार्य श्री का दार्शनिक चिन्तन 'समग्र मानव का विज्ञान' ही है। जिसमें जीवन के विविध पहलुओं में छुपे रहस्यों को स्वयं अनुभव कर बौद्धिक-भाषा में व्यक्त किया गया है। इसे जीवन बोध का शास्त्र भी कह सकते हैं।

जीवन बोध के इस शास्त्र का लक्ष्य है- ज्ञान का समग्र अनुभव सत्य का सम्पूर्णता में साक्षात्कार। दर्शन शास्त्र का सदा से यही काम रहा है। मैथ्यू अर्नाल्ड ने कवि सोफोक्लीज के सम्बन्ध में कहा है कि उन्होंने जीवन को सुस्थिर और पूर्ण रूप से देखा था। इस सारगर्भित कथन में दर्शन के ध्येय और उसकी प्रणाली दोनों का समावेश है। ध्येय है, जीवन को पूर्ण रूप से देखना, न कि व्यापारी, कलाकार, कवि या उपदेशक और विश्वविद्यालय के प्राचार्य के दृष्टिकोण से अथवा किसी अन्य दृष्टि से देखना, वरन् इस दृष्टि से देखना जिस तरह उसे 'शाश्वत काल और पूर्ण सत्ता का द्रष्टा'[९] देखेगा। और प्रणाली है उसे सुस्थिर दृष्टि से देखने, अनुभव करने की, जिसमें न तो पक्षपात हो, न कोई विशेष झुकाव और न अर्धज्ञान।

प्रणाली की सार्थकता सत्य को पूरी तरह अनुभव कर लेना भर नहीं है। उस अनुभव को बुद्धि ग्राह्य और तर्क सम्मत भाषा में कहना भी आना चाहिए। इसकी आवश्यकता पर बल देते हुए श्री अरविन्द कहते हैं- "आध्यात्मिक और दार्शनिक दोनों का ही ज्ञान में शब्दों के प्रयोग में स्पष्ट और यथार्थ होना आवश्यक है, ताकि विचार और अनुभव की क्रमहीनता से बचा जा सके, जो कि उन शब्दों की अव्यवस्था के कारण होती है, जिनको हम उन्हें प्रकट करने में प्रयोग करते हैं।"[१०] इसके अभाव में अनुभव को दूसरों तक पहुँचाया नहीं जा सकता। फिर तो दर्शन सार्वभौमिक होने से वंचित रह जाएगा। और 'लोग प्रकाशपूर्ण विचारधारा के अभाव में वर्तमान कूप मण्डूकता और क्षुद्रता के कीचड़ में पड़े हुए कीड़ों की तरह ही बुलबुलाते रहेंगे, उन्हें ऊँचे उठने की न तो प्रेरणा मिलेगी, न दिशा।'[११] जबकि 'यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि यदि कोई सारगर्भित विचारधारा, हृदयग्राही, बुद्धिसंगत और तथ्य-तर्क के साथ प्रतिपादित की जाय- उस प्रतिपादन के पीछे समर्थ व्यक्तित्व और सक्रिय अनुभव जुड़ा हुआ हो, तो उसका प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता।'[१२] यह प्रभाव ही दर्शन को सर्वजनीन और सर्वव्यापक होने की गरिमा प्रदान करता है। अतएव "एक ऐसी भाषा उत्पन्न करनी है जो कि संवेगात्मक और स्पष्ट इंगितों के वाहन के रूप में, विशेष और जीवित प्रतिभाओं को लेते हुए एक साथ ही संबोधि रूप से आध्यात्मिक एवं तत्वदर्शी रूप से कवित्वमय हो।"[१३]

अतः ज्ञान के अन्वेषक के सम्मुख अनिवार्य काम

---

७. श्री अरविन्द- हेराक्लाइटस, पृ. ४५
८. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं पूरक
९. प्लेटो ने कहा है कि दार्शनिक शाश्वत काल और शाश्वत सत्ता का द्रष्टा है और वह व्यक्ति है, जिसका झुकाव उस वस्तु की ओर जाता है, जिसकी वास्तविक सत्ता है- प्लेटो- द रिपब्लिक भाग ६, पृ. ४८६
१०. श्री अरविन्द मंदिर एनुअल, अंक ६, पृ. ५६
११. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपनों से अपनी बात- अपना ज्ञानयज्ञ भी सफल और सम्पूर्ण होना चाहिए, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ८, पृ ६०
१२. आचार्य श्रीराम शर्मा- प्रखर प्रेरणा भरे साहित्य का सृजन और प्रसार आवश्यक, युग निर्माण योजना, वर्ष ६, अंक ४, पृ. २१
१३. श्री अरविन्द- द लाइफ डिवाइन, पृ. ४३

है- समग्र सत्य को अनुभव करने और उसकी व्याख्या कर सकने योग्य भाषा का विकास। यह प्रणाली अपने आप में ज्ञान की प्रकृति की ओर संकेत है। क्योंकि "जिस ज्ञान की ओर हम जाना चाहते हैं, उसकी स्थिति का वर्णन उस साधन को निश्चित करता है, जिसको हम प्रयोग करेंगे।"[१४] इस संदर्भ में निहायत जरूरी है ज्ञान की प्रचलित पूर्ववर्ती प्रणालियों का मूल्यांकन करना। ताकि इस कसौटी के आधार पर आचार्य श्रीराम शर्मा की दार्शनिक प्रणाली को परख-जांच कर इसकी समग्रता और सच्चाई अनुभव की जा सके।

परम्परागत - प्रणालियाँ

◆ गणितीय प्रणाली

गणितीय प्रणाली आधुनिक योरोपीय दर्शन में जन्में, विकसित हुए बुद्धिवाद (Rationalism) की देन है। आधुनिक दर्शन का जन्मदाता कहे जाने वाले रेने देकार्ते का विश्वास था कि वह अपने विचारों के मार्गदर्शन के लिए कुछ साधारण नियमों को लेकर, बिना और किसी सहायता के अस्तित्व की बड़ी समस्याओं पर विचार कर सकते हैं। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि यदि मूल सिद्धान्त आन्तरिक प्रत्यय से मिले तो अन्य सत्य उनसे गणितीय निगमन से निकाले जाने चाहिए। इसमें किसी इन्द्रियजन्य अनुभव अथवा कल्पना की कोई गुंजाइश नहीं है। अपनी बात को और अच्छी तरह समझाने के लिए उन्होंने चार नियम बताए-

"**प्रथम नियम**- उस किसी बात को सत्य न स्वीकार लूँ, जिसे मैंने स्पष्टतः ऐसा नहीं जान लिया, अर्थात् सावधानी से, हठ और पूर्वाग्रह से बचना और अपने निर्णय में उससे ज्यादा कुछ भी शामिल न करना जो मेरे मस्तिष्क में इतनी स्पष्टता और विशिष्टता से आया हो कि संशय के सभी आधार बहिष्कृत हो जाय।

दूसरा नियम- परीक्षाधीन प्रत्येक कठिनाई को उतने अधिक हिस्से में बाँटना जितना सम्भव हो और उसके उपयुक्त समाधान के लिए आवश्यक हो।

तीसरा नियम- अपने विचारों को इस क्रम में रखना कि सबसे साधारण और सरल वस्तुओं से प्रारम्भ कर थोड़ा-थोड़ा करके सोपान रोहण वत् ज्यादा जटिल वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने की ओर बढ़ सकूँ........ और **अन्तिम नियम है**- हर एक मामले में गणना को इतना पूर्ण और समीक्षा को इतना सामान्य बनाना जिससे मैं आश्वस्त हो सकूँ कि कुछ भी छूटा नहीं है।"[१५]

स्पिनोजा ने गणितीय प्रणाली को एक नया आधार दिया है। उसने शुरूआत मौलिक प्रत्ययों की व्याख्या से की है। बाद में उप सिद्धान्त बनाकर ज्यामितीय निगमन की प्रणाली से सिद्धान्त और सामान्य नियम निकाले। उनके अनुसार मनुष्य के कार्य रेखागणित के नियमों के अटल नियमों का पालन करते हैं, अतः मनोविज्ञान का अध्ययन रेखागणित के रूप में और गणित की वास्तविकता के साथ किया जाना चाहिए। स्पिनोजा के अपने शब्दों में "मैं मनुष्यों के सम्बन्ध में इस तरह विचार प्रकट करूंगा मानों मैं रेखाओं, समतलों और सान्द्रों के बारे में लिख रहा हूँ।"[१६] लाइबिनित्ज तो मूलतः गणित शास्त्री ही थे। उनके लिए गणित पहले था- दर्शन बाद में। उन्होंने अपने चिद्बिन्दुवाद की खाई-खड्डों को पाटने-भरने के लिए अनेकों यांत्रिक नियम बना डाले। पर ये अपने प्रयोग में सफल न हो सके। हों भी कैसे ? दर्शन गणितीय नियमों की कठोर व्यवस्था तो है नहीं, यह तो सत्य के खोजियों द्वारा पाये गए अनुभवों पर आधारित तथ्यों और मूल्यों की व्याख्या है। ईश्वर और संसार के सम्बन्ध, मनुष्य की संवेदनाओं, विचारों, संस्कारों, क्रिया, अभिरूचि, अन्तः प्रकृति और बाह्य प्रकृति की सूक्ष्मताओं को गणितीय समीकरण भला कैसे बताएँगे ? इस सवाल के जवाब में श्री अरविन्द मजाक करते हुए स्वानुभूत तथ्य प्रस्तुत करते हैं- "जब मैं बोलता हूँ तो तर्क बुद्धि कहती है- 'बस यही मैं कहूँगी' पर भगवान् मेरे मुँह से वह शब्द छीन लेते हैं और होंठ कुछ और ही बोल उठते हैं, जिसके आगे बुद्धि कांप-कांप उठती है।"[१७] बुद्धि कांप-कांप उठती है इसकी व्याख्या करते हुए माताजी कहती

---

१४. श्री अरविन्द- लेटर्स आन द मदर, पृ. ८७
१५. देकार्ते- डिस्कोर्स ऑन मेथड, भाग २, पृ. १५-१६, जान वाइश द्वारा अनूदित
१६. डूरेण्ट बिल- दर्शन की कहानी, पृ. १८८
१७. *विचार और सूत्र, मातृवाणी खण्ड १०, पृ. ९*

हैं- क्योंकि उच्चतर सत्य सदा-सर्वदा मानवीय क्षेत्र में विरोधाभास के रूप में, तर्क बुद्धि विरोधी अन्तर्दर्शन के रूप में प्रकट होते हैं। ये अन्तर्दर्शन सदा बुद्धि की समझी हुई और स्वीकार की हुई चीजों से आगे, बहुत आगे होते हैं।[१८] आचार्य जी के अनुसार "मानवीय अन्तराल में विपुल शक्तियों का भण्डार भरा पड़ा है। बुद्धि से भी ऊँची दिव्य चेतना की परतें उसमें विद्यमान है। परन्तु संकल्पों की दुर्बलता अथवा बौद्धिक अहंता उन तक नहीं पहुँचने देती। आत्मानुभव करना एवं अति मानवी क्षमताओं का विकास तो दूर रहा, वह सुख-शान्ति से भी वंचित रह जाता है।'[१९] बँधे-बँधाए बौद्धिक गणितीय नियमों के आधार पर उच्चतर सत्यों को जानने और व्याख्या करने का प्रयास कुछ वैसा ही है- जैसा कोई बालक सेण्टीमीटर के पैमाने से समुद्र को मापने का हठ करे। इस हठ में समुद्र तो नहीं नापा जा सका, उल्टे बुद्धिवादियों की प्रणाली से दर्शन अपनी सारी समृद्धि, लचीलापन और मूर्तता गंवाकर कठोर, अमूर्त और जड़ हो गया।

◆ अनुभववादी प्रणाली

अनुभववादी बुद्धिवादियों का विरोध जरूर करते हैं, पर हैं वे भी उतने ही एकांगी। अनुभववादी दार्शनिक प्रणाली की तार्किकता के चरम शिखर पर ह्यूम और उनका अज्ञेयवाद बैठा दिखाई पड़ता है। ह्यूम अपने छिन्न-भिन्न अनुभवों के आधार पर आत्मा के अस्तित्व का पता नहीं लगा पाते। उनके अनुसार- "जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, जब मैं अपने अन्तर में एकाग्र होकर प्रवेश करता हूँ तो हमेशा किसी न किसी विचार के प्रत्यय से ठोकर लगती है। चाहे वह प्रत्यय गर्मी का हो अथवा सर्दी का, प्रकाश हो अथवा अन्धकार का या प्रेम, द्वेष, दुःख अथवा सुख का प्रत्यय हो। मुझे इन प्रत्ययों के अलावा कुछ और वस्तु नहीं मिलती। जब मैं गहरी नींद में होता हूँ तब मेरे समस्त प्रत्यय लुप्त हो जाते हैं, तब मैं अपने विषय में कुछ नहीं जानता और यह कहा जा सकता है कि मेरा अस्तित्व, अस्तित्व ही नहीं है। यदि मृत्यु से मेरे समस्त प्रत्यय समाप्त हो जाएँ तो न तो विचार कर सकता हूँ, और न ही कुछ महसूस कर सकता हूँ, न देख सकता हूँ, न शरीर के विनाश के पश्चात् मैं प्रेम कर सकता हूँ, न द्वेष कर सकता हूँ, मुझे पूर्ण हो जाना चाहिए, मैं यह समझने में असमर्थ हूँ कि मुझे मेरे पूर्ण अनस्तित्व के लिए और क्या होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति गम्भीर तथा पक्षपात रहित मनन के पश्चात् अपनी आत्मा की धारणा इससे भिन्न बताता है, तो मुझे स्वीकार करना पड़ेगा कि मैं उससे और तर्क नहीं कर सकता। मैं केवल इतनी ही अनुभूति उसे दे सकता हूँ कि यह भी उचित हो सकता है और मैं भी, और हम दोनों इस विशेष बात में मौलिक रूप से भिन्न है। वह सम्भवतः किसी सरल तथा सतत् वस्तु को देख सकता, जिसे वह अपनी आत्मा कहता है, हालांकि मैं दृढ़ हूँ कि मेरे पास ऐसा कोई नियम नहीं है।"[२०]

ह्यूम के इस कथन का यदि सूक्ष्म विश्लेषण करें तो स्पष्ट होगा, कि आत्मा के अस्तित्व को इन्कारते हुए भी वह मैं या मेरे जैसे शब्दों का प्रयोग करने में संकोच नहीं करते। इन शब्दों के प्रयोग से यह साफ जाहिर होता है कि उनके अन्तरमन में कहीं न कहीं अस्तित्व के किसी केन्द्रीय तत्त्व की सुनिश्चित धारणा रही होगी। इन अर्थों में एक प्रत्यक्ष करने वाले तथा चिन्तन करने वाले की निश्चित तथा मूर्तता निहित होती है, न कि प्रत्यक्षों को समूह अथवा एक 'रंगमंच' जहाँ कई छायाएँ निरन्तर तथा गतिमान होकर बार-बार आती जाती हैं।[२१] लेकिन प्रत्यक्ष में उनका हठ यही है कि 'आत्मा' का अर्थ सरल तौर पर अनुभवों के योग के अलावा और कुछ नहीं होता। ज्यादातर ये अनुभव निकटता तथा समानता के सहचर्य जैसे नियम के द्वारा नियंत्रित तथा व्यवस्थित होते हैं। लेकिन इन छिन्न-भिन्न अनुभवों पर आधारित ये अनुभवात्मक सामान्य नियम सिर्फ विज्ञान के सम्भावित विकल्प हो सकते हैं। इनके आधार पर आध्यात्म शास्त्र को निश्चित मान्यताएँ

---

१८. मातृवाणी, खण्ड १०, पृ. १०

१९. आचार्य श्रीराम शर्मा- कोरा बुद्धिवाद हमें ले डूबेगा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५२, अंक ३, पृ १९

२०. ह्यूम- ट्रीटीइज ऑफ ह्यूमन नेचर, बुक १, भाग ४, पृ. ६

२१. आलोचना का तुलनात्मक अध्ययन मेरी व्हिटन-काल्किन की पुस्तक- 'द परसिस्टेण्ट प्राब्लेम्स ऑफ फिलासफी' अध्याय ६ में निहित विषय वस्तु के आधार पर हो सकता है।

नहीं बनाई जा सकती। क्योंकि "जब तक हम स्वयं को ऐन्द्रिक प्रमाण और भौतिक चेतना तक सीमित रखते हैं, तब तक भौतिक संसार और उसकी प्रतीतियों के अतिरिक्त हम कुछ नहीं सोच सकते, कुछ नहीं जान सकते।"[२२] इन्द्रियों की सीमा अलग-अलग अनुभव करके जानने तक है। इनके निष्कर्षों को जोड़ कर किसी मौलिक वस्तु तक पहुँच पाना सम्भव नहीं है। मूल सद्वस्तु को जान पाना तो तभी सम्भव है जब हम समय और पदार्थ और स्थान के बन्धनों को तोड़कर देखें तो हम अपने को शाश्वत, चिरंतन, चिन्मय विराट् और परमात्मा के रूप में देख सकते हैं।[२३] इस अनुभव के लिए जरूरी है कि प्रणाली भी खोज के विषय के अनुरूप हो।

◆ वैज्ञानिक प्रणाली

वैज्ञानिक प्रणाली की लोकप्रियता आधुनिक जमाने में सबसे बढ़-चढ़कर है। इसका कारण अनुभव के तथ्यों का सरलतम भाषा में पूर्ण एवं संगत वर्णन है। किसी भी घटना समूह का अध्ययन करने में वैज्ञानिक पहले तथ्यों को इकट्ठा करता है। बाद में उनके विश्लेषण और वर्गीकरण में लीन हो जाता है। अध्ययन की इस तल्लीनता में वे परिस्थितियाँ भी समाहित हो जाती हैं, जहाँ घटना होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो इस अध्ययन में कारणों का अध्ययन भी शामिल हो जाता है। बाद में इनके एक रूप तरीकों का निर्धारण होकर एक व्यस्थित लेखा तैयार कर लिया जाता है। संक्षेप में कहें तो विज्ञान का काम निम्न तरह से होता है।[२४]

१. तथ्यों को एकत्र करना
२. तथ्यों का वर्णन
   अ. परिभाषा एवं सामान्य वर्णन
   ब. विश्लेषण
   स. वर्गीकरण
३. तथ्यों की व्याख्या
   अ. कारणों (नियत पूर्ववर्तियों) का निर्धारण।
   ब. नियमों (व्यवहार की एकरूपताओं) को सूत्रबद्ध करना।

यदि हम इस प्रणाली का बारीकी से विश्लेषण करें तो सहज स्पष्ट हो जाएगा कि इस विधि से यह तो जाना जा सकता है, कि वस्तुएँ कैसे काम करती हैं, घटनाएँ कैसे घटती हैं। पर क्यों कार्य करती हैं- यह बता पाने में यह प्रणाली स्वयं को असहाय अनुभव करती हैं। उदाहरण के लिए जब हम परमाणुओं की क्रिया का अध्ययन उनके रसायनिक संयोग में करते हैं, तो यह पता चल जाता है कि वे निश्चित तरीकों से क्रिया करते हैं। लेकिन हम यह नहीं जान पाते कि उन्हें ऐसी क्रिया करने की जरूरत क्यों पड़ी? इसी तरह गुरुत्वाकर्षण नियम जिसे पहले पहल न्यूटन ने प्रतिपादित किया था, यह नहीं बताता कि वस्तुएँ एक दूसरे की ओर क्यों खिंचती हैं, वरन् सिर्फ यह बतलाता है कि कैसे होता है। नियम के अनुसार "विश्व में पदार्थ का प्रत्येक कण अपने द्रव्यमान के अनुसार दूसरे कण को आकर्षित कर लेता है, और यह प्रतिलोमत: उसकी दूरी के वर्ग की भांति इसे अलग करता है।"[२५] यह कहा जाता है कि न्यूटन के दिमाग में यह बात सेब को गिरता हुआ देखने पर आयी थी कि सारे ब्रह्माण्ड के पिण्ड- जैसे धरती और चन्द्रमा एक-दूसरे की ओर उसी तरह खिंचते हैं, जिस तरह सेब पृथ्वी की ओर खिंचता है। नियम से खिंचने के ढंग का पता चलता है, पर कारण क्या है? यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है। न तो न्यूटन को मालूम था कि वस्तुओं में पारस्परिक खिंचाव क्यों होता है और न बाद में ही किसी को पता लग सका। नियम में प्रयोग होने वाले 'आकर्षित' शब्द का भी तकनीकि अर्थ है, क्योंकि उसका मतलब यह नहीं है कि भौतिक पिण्डों में मानवीय अर्थों में कोई आकर्षण होता है।

क्यों? के अनुत्तरित रह जाने के कारण वैज्ञानिक प्रणाली अपनी सारी प्रामाणिकता, पूर्वाग्रह मुक्ति के बावजूद सतही होकर रह गई। इसके द्वारा किए गए विवेचन कितने ही तर्क सम्मत और आकर्षक लगे पर वे जीवन

---

२२. श्री अरविन्द- द लाइफ डिवाइन, भाग १, पृ ६२
२३. आचार्य श्रीराम शर्मा- समय और चेतना से ऊपर उठकर आत्मचेतना के दर्शन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३१, अंक ७, पृ २४
२४. जैरेड स्पार्कस मूर - द फाउन्डेशन ऑफ साइकोलॉजी, पृ. ९७
२५. साइमन न्यूटेकम्ब- पापुलर एस्ट्रोनामी, पृ. ८१

का सही बोध करा पाने-सही दिशा दे पाने में असमर्थ हैं। कोन्जर के शब्दों में कहें तो "यह प्रतीत होता है कि हमारा वैज्ञानिक ज्ञान अपने मूल में ही शिथिल और अनिश्चित है, जो कुछ बिखरे ज्ञान के चुनाव पर आधारित है, जिसमें प्रसंग की अन्य बातों का या तो ज्ञान नहीं होता या उन्हें छोड़ दिया जाता है।"[२६] ज्ञान के इस आधे-अधूरे पन ने जहाँ एक ओर मनुष्य की जिन्दगी में अनेकों समस्याएँ पैदा कर दीं। वहीं दूसरी ओर वह स्वयं को भूल सा गया। अपनी उन मौलिक विशेषताओं-क्षमताओं के बारे में अनजान बना रहा, जो सारी उपलब्धियों का आधार बनी।

समस्या की गहराई में जाने पर अनुभव कर पाएँगे कि विज्ञान अथवा ज्ञान की किसी अन्य प्रणाली द्वारा जो भी महान् खोजें हुई हैं वे सब की सब कुछ ऐसे ही मौलिक क्षमता सम्पन्न लोगों ने की है। सेव को गिरते हुए कोई भी देख सकता है। अनेकों ने देखा भी होगा। कुछ लोग यह भी पूछ सकते हैं कि क्यों गिरता है, लेकिन किसी न्यूटन की ही मौलिक विशेषता गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का निर्माण कर सकती है। मन की अद्भुत शक्ति को आज जितनी स्पष्टता से भौतिकविदों की हाल की परमाणु की वैद्युत प्रकृति या गणित की सापेक्षतावाद की खोजों में देखा जा सकता, उतना और कहीं नहीं। यह विचार की सृजनात्मक शक्ति, जिसे कभी-कभी सर्जनात्मक कल्पना कहा जाता है। अपने उच्चतर रूपों में यह प्रतिभा की एक विशेष देन होती है। इसके स्वरूप की खोज कैसे हो ? सोचने की बात है "वृक्ष वनस्पतियों की तरह मनुष्यों की प्रकृति एक जैसी क्यों नहीं होती ? शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों की प्रतिक्रिया होना समझ में आता है, पर भावनाएँ क्या है ? विशिष्ट आकांक्षाएँ क्यों उत्पन्न होती हैं ? मान-अपमान क्या है ? दया-धर्म की उत्पत्ति तथा त्याग, बलिदान की प्रवृत्ति का भौतिक आधार क्या हो सकता है ? इस तथ्य तक पहुँचना विज्ञान के लिए सम्भव नहीं हो सका है और न भविष्य में वैसा हो सकने की सम्भावना है।"[२७] क्योंकि "विज्ञान मूल्यों, जीवन तथा मानवीय आचरण जैसे अनिवार्य प्रश्नों का समाधान करने की चेष्टा नहीं करता, जो कि हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे हमें वायु-समुद्र तथा भूमि के विषय में, तारों और उनकी आकृति, दूरी तथा उनके निर्माण के विषय में, पृथ्वी की सतह से बहुत नीचे स्थित चट्टानों के विषय में, परमाणुओं और प्रकाश लहरों के विषय में तथा पौधों, पशुओं और अपने शरीर के विषय में पर्याप्त जानकारी तो मिल सकती है। किन्तु भौतिक क्षेत्र से परे जो कुछ है विज्ञान उसके विषय में अनिश्चित है। चट्टानों की आकृति, तारों की दूरी या स्वयं अपनी हड्डियों अथवा पेशियों के विषय में हममें से अधिकांश लोगों को बहुत कम रूचि है- जो सम्भवत: वैज्ञानिक कौतूहल मात्र है, किन्तु मानवीय, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, नैतिक तथा धार्मिक विषयों में हमारी रूचि सदा रहती है। हम उसके अर्थ, उसके भविष्य तथा उसके व्यवहार के विषय में जानने को ज्यादा महत्त्व देते हैं।"[२८]

इस तरह वैज्ञानिक प्रणाली की क्रिया पद्धति और उपलब्धियों पर विचार करने पर पता चलता है कि "कुछ मामलों में 'विज्ञान' ने दर्शनशास्त्र की अपेक्षा कम प्रगति की है।"[२९] यही कारण है कि वैज्ञानिक को जब पता चलता है कि उसका अध्ययन क्षेत्र इतना बड़ा है, उसके इतने ज्यादा अन्त: सम्बन्ध हैं और उसकी अन्य विज्ञानों में इतनी व्यापकता है कि वैज्ञानिक बरबस ही स्वयं दर्शन में पहुँच जाता है।" और हुआ भी यही है, "वर्तमान युग में तकनीकी वैज्ञानिकों के सामने ऐसे समीकरण हैं जिनकी व्याख्या वे स्वयं नहीं कर पाते तथा कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं, जिन्हें वे बिना दार्शनिक रंग चढ़ाए बोधगम्य नहीं बना पाते, परन्तु उसे उनके सहयोगी स्वीकार नहीं करते। यदि स्पष्ट रूप से कहा जाय, तो इसका अर्थ यह है कि वैज्ञानिक अपनी खोजों को स्वयं ही पूरी तरह नहीं समझते, क्योंकि प्रथम सिद्धान्त जो तकनीकी खोजों को बुद्धिगम्य बनाते हैं, स्वयं एक अस्थिर स्थिति में है। यही कारण है

---

२६. कोन्जर जी पी - न्यू प्यूत्त ऑव इवाल्यूशन, पृ. २१३
२७ आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं पूरक, पृ २०
२८. पैट्रिक जी. टी. पी. - दर्शनशास्त्र का परिचय, पृ. ६
२९. विलियम जेम्स- सम प्राब्लम्स ऑफ फिलासफी, पृ २८
३०. पैट्रिक जी.टी.पी.- दर्शनशास्त्र का परिचय, पृ. ४७

कि एडिंगटन, आइन्सटाइन तथा व्हाइटहेड जैसे भौतिक विद् ; ड्रीश, हाल्डेन तथा हेन्डरसन जैसे शरीर शास्त्री तथा ग्रोवर, हिलवर्ट और वेल जैसे शुद्ध गणितज्ञ भी दर्शनशास्त्र की रचना कर रहे हैं। वैज्ञानिकों के मन में प्रकृति की जो पुरानी रूपरेखा थी, वह उन्हीं के हाथों में मिट चुकी है।''[31] ऐसा क्यों न होता- ''अतिभौतिक प्रकृति के नियम और सम्भावनाओं को जाने बिना सही ढंग से न तो भौतिक प्रकृति के नियम जाने जा सकते हैं, न सम्भावनाएँ।''[32] भौतिक उपकरणों से भौतिक पदार्थ की ही स्थिति की खोज हो सकती है। चेतना के पर्यवेक्षण के लिए चेतनात्मक उपकरण चाहिए। यह उपकरण अन्तःकरण के रूप में विद्यमान है। चेतनात्मक प्रयोगों के अन्वेषण का यही क्षेत्र है। यह विज्ञान के क्षेत्र के बाहर है।[33] परिणाम में विज्ञान के अध्ययन को आधा-अधूरा होना ही चाहिए। जबकि समग्र ज्ञान की खोज के लिए जरूरी है, खोज की प्रणाली भी सर्वांगपूर्ण हो।

◆ आध्यात्मिक प्रणाली

अध्यात्म का अर्थ है अस्तित्व का अध्ययन करके ज्ञान और सत्य को पूर्णता में पाना। इसमें किसी बाह्य यंत्र उपकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसमें खोज का विषय है अन्तश्चेतना, कार्यक्षेत्र स्वयं का अन्तराल तथा उद्देश्य उसमें सन्निहित प्रतिभा, प्रखरता एवं क्षमता का, ऋद्धियों, सिद्धियों का उत्पादन एवं उन्नयन है। गुण, कर्म और स्वभाव की उत्कृष्टता, चिन्तन, चरित्र और व्यवहार की श्रेष्ठता उसकी कसौटियाँ है। इस परीक्षण पर खरा उतरने पर चेतन सत्ता जो तथ्य उसके समक्ष उजागर करती है, वह आधुनिक वैज्ञानिक शक्ति से कई गुने अधिक सुस्पष्ट, सशक्त और उपयोगी होते हैं।[34] इसके स्वरूप को ठीक से न समझे जाने का कारण है कि इसे अन्तर्जगत के कुछ रहस्यों की ढूँढ-खोज तक सीमित कर दिया- वस्तु जगत् से उसका कोई नाता न रहा। जबकि असलियत कुछ और है। साधना-उपासना के नाम से जाने-जाने वाले आध्यात्मिक प्रयोगों का उद्देश्य अन्तः.प्रकृति को गहन और व्यापक शोध के लिए तैयार करना है। इसके द्वारा आत्म चेतना और उसके सहायक उपकरणों इन्द्रिय-मन-बुद्धि आदि को अधिक समर्थ और सशक्त बनाया जाता है, जिससे कि वे सत्य की सूक्ष्मता और व्यापकता को आसानी से समझ सकें, ग्रहण कर सकें। वास्तव में हमारे पास वस्तु जगत् को जानने का अपनी आत्म चेतना के अतिरिक्त कोई साधन नहीं। बाह्य इन्द्रियाँ स्वयं केवल साधन मात्र हैं।[35] आत्म चेतना जितनी प्रखर-परिष्कृत होगी, उसके उपकरणों के रूप में इन्द्रिय-मन-बुद्धि जितने समर्थ सतेज होंगे, खोजें भी उतनी ही गम्भीर और सार्थक होंगी। फिर अन्वेषण का क्षेत्र अन्तर्जगत् हो या बाह्य जगत्। भौतिकी और सूक्ष्म भौतिकी की इधर कुछ दिनों की क्रान्तिकारी खोजें केवल नए और आश्चर्यजनक यथार्थमापी यंत्रों और धैर्यपूर्वक प्रयोगों और निरीक्षणों द्वारा ही नहीं, वरन् प्लैंक आइन्सटाइन, नील्स बोहर, हाइजनबर्ग, हेर्त्स और श्रोएडींगर सरीखे व्यक्तियों की प्रतिभा और तेजस्विता के कारण भी हुई है।[36] प्रतिभा और तेजस्विता आध्यात्मिक विभूतियाँ ही हैं, भले इनके विकास के प्रयोगों के बारे में वे कुछ अधिक न जानते रहे हों। पर इनका उपयोग करने के बाद ही कुछ सार्थक कर सके। उस सार्थकता को यदि व्यापक और पूर्ण बनाना हो, तो आध्यात्मिक प्रणाली को जानना ही नहीं अपनाना भी अनिवार्य हो जाता है।

क्योंकि ''इस विराट् ब्रह्माण्ड में शक्ति चेतनता की अनेकों धाराएँ, अनेकों स्तर हैं। इनमें से प्रत्येक स्तर का अपना वैभव अपनी उपलब्धियाँ हैं, खोज का अर्थ इनमें से किसी स्तर पर अपना गहरा सामंजस्य बिठाना उसे मूर्तरूप देना है। प्रत्येक खोज का जन्म आवश्यकता से उत्पन्न इच्छा में होता है। इच्छा अपनी परिपक्व दशा में

---

३१. नार्थ्रोप एफ. एस. सी.- साइन्स एण्ड फर्स्ट प्रिंसिपल, पृ. २
३२ श्री अरविन्द- ह्यूमन साइकिल, पृ. ८२
३३. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं पूरक, पृ. २०
३४. आचार्य श्रीराम शर्मा- पूर्ण सत्य तक पहुँचने का एक ही मार्ग अध्यात्म, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक २, पृ. ३०
३५. श्री अरविन्द- द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृ. ४३४
३६. पैट्रिक जी.टी.वी.- दर्शनशास्त्र का परिचय, पृ. ६३

विचार और जिज्ञासा का रूप लेती है। जिज्ञासा के उपलब्धि की ओर बढ़ते कदम प्रक्रिया को जन्म देते हैं। प्रक्रिया की पूर्णता में सपना साकार हो उठता है। समय के प्रवाह में मनुष्य की अन्तः प्रकृति और बाह्य प्रकृति में अनेकों परिवर्तन घटित होते रहते हैं। संसार का स्वरूप भी अपने में व्यापक फेर बदल करता रहता है। इन सारी उलट फेर में उलझकर प्रक्रियाओं में परितर्वन आना स्वाभाविक है। लेकिन उपलब्धियों का सिलसिला वही रहता है।

नृतत्त्वविज्ञानियों के अनुसार आज से हजारों साल पहले भी आदमी ने अपनी सभ्यता के गौरवपूर्ण शिखरों को छुआ है। जिन्दगी के व्यापक दायरे के हर बिन्दु पर उसने तरह-तरह के शोध अध्ययन किए। समग्र जीवन पद्धति को रचने वाली संस्कृति के निर्माण में सफल हुआ। महायोगी अनिर्वाण के ग्रन्थ 'वेद मीमांसा' के अनुसार उसने अन्तः और बाह्य प्रकृति पर अनूठे प्रयोग किए। ऐसे प्रयोग जिनसे मनुष्य देवता बन गया और धरती स्वर्ग। समय के थपेड़ों और नई पीढ़ी की उत्तरदायित्वहीनता के कारण ढेर की ढेर प्रक्रियाएँ खो गईं। उन प्रक्रियाओं के खोने का परिणाम है कि मनुष्य आज न जाने कितनी उपलब्धियों से वंचित है। वर्तमान परिस्थितियाँ इतनी बदली हुई हैं कि वेदों के आख्यान-पुराणों के विवरण, शास्त्रों के वचन सुनने वालों को नानी की कहानी मालूम पड़ते हैं, जब कभी कोई दयानन्द, परमहंस विशुद्धानन्द उन तथ्यों को अपने जीवन में प्रमाणित कर लोक जीवन को झकझोरता है, सभी थोड़े समय उसे कौतुक और आश्चर्य से देखते हैं। फिर उस व्यक्ति विशेष को अतिमानव का सम्मान दे अपने लिए असम्भव बता किसी गहरी नींद में खोने लगते हैं।

इस असम्भव और आश्चर्यजनक के पीछे झांकने वाले तथ्यों को परखें तो प्रक्रियाओं का मौलिक अन्तर समझ पड़ता है। प्राच्य विद्या के विशेषज्ञ डॉ. गोपीनाथ कविराज के अध्ययन " भारतीय संस्कृति और साधना के शब्दों में आज की शोध प्रक्रियाएँ जिन्हें विज्ञान की विभिन्न शाखा-उपशाखाओं का समूह कह लें, विश्लेषण करने में समर्थ बुद्धि की उपज है। देव संस्कृति के विभिन्न पक्षों की खोज के पीछे अन्तर्ज्ञान सम्पन्न मन को ढूँढा जा सकता है। आज के जीवन में यदा-कदा ऐसे अवसर आ जाते हैं जब पुरानी शोध को नवीन मूल्यांकन से गुजरना पड़ता है। परिणति आश्चर्यजनक रूप से सुखद होती है। लेकिन पुरानी प्रक्रियाओं के खो जाने के कारण आधुनिक प्रयोगकर्त्ताओं को इस विवशता का सामना करना पड़ता है, कि ऋषि मुनि कहे जाने वाले शोधिविज्ञानी यंत्रों और बहुमूल्य प्रयोगशालाओं के अभाव में इन निष्कर्षों तक कैसे पहुँच सके, समस्या को सुलझा पाने में अक्षम बुद्धि को एक ही बात समझ में आती है कि इन सब तथ्यों को संयोग कहकर चुप्पी साध लें। पर संयोग एक आध हो सकते हैं। मानवीय ज्ञान के विविध क्षेत्रों में इनका भरा-पूरा सिलसिला इस बात को प्रमाणित करता है कि कहीं न कहीं तथ्यांकन की कोई प्रणाली अवश्य ही है। जो पुनर्मूल्यांकन के अपने मौलिक अधिकार के लिए गुहार लगा रही है।

चरक का आयुर्विज्ञान, वराहमिहिर व आर्यभट्ट की खगोल गणनाएँ, पतंजलि का मानस शास्त्र, गोरखनाथ की हठयोग प्रणाली, विभिन्न दार्शनिक पद्धतियों की सृष्टि और मनुष्य सम्बन्धी गहरे सर्वेक्षण प्रयोगों की कसौटी पर कसने पर यह मानने के लिए विवश करते हैं कि यह सब कल्पना लोक की उड़ाने नहीं है। तब क्या इन सबके पास आज सी सुसज्जित प्रयोगशालाएँ थीं, जिनका न तो उल्लेख मिलता है न अवशेष ? इस प्रश्न का सुसंगत उत्तर इतना ही है कि प्रयोगों की प्रणाली तो थी पर आज से भिन्न। उन दिनों प्रारम्भ से ही अपनी अन्तः प्रकृति को तरह-तरह के गम्भीर प्रयोगों द्वारा उस लायक बना दिया जाता था कि वह सृष्टि के विभिन्न रचनाक्रमों और इसकी उपादेयता का सम्यक् ज्ञान अर्जित कर सके। ऐसे शोधार्थी के रूप में चरक और उनके सहयोगी किसी पौधे के प्राण स्पन्दनों से अपने अन्तर्बोध सम्पन्न मन को एकाकार करके, पौधे की गुणवत्ता, उसके भाग विशेष की रोग निवारण की विभिन्न क्षमताओं का ज्ञान अर्जित कर लेते थे। परीक्षणों का व्यापक सिलसिला प्रयोगों की गुणवत्ता को शत-प्रतिशत ठीक ठहराता था। यही कारण है कि आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में पौधे के गुण-स्वभाव उनके विभिन्न भागों की रोग निवारक सामर्थ्य-प्रयोग विधि का ब्योरेवार विवरण तो मिलता है, पर पौधे के रासायनिक संगठन और सूक्ष्म विश्लेषण का अभाव है।

यही बात ज्ञान की अन्य धाराओं के सन्दर्भ में है। प्राचीन ज्ञान की प्रायः सभी शाखाओं-उपशाखाओं की

उपलब्धि में प्रक्रिया का यही स्वरूप दिखाई देता है। इसका एक ही कारण है। इसकी सर्वतोजयी प्रामाणिकता। प्राचीन शास्त्रों में ज्ञान की चार विधियों का उल्लेख मिलता है, इन्द्रियानुभूति द्वारा, अन्तर्बोध सम्पन्न मन से, विश्लेषण क्षमता सम्पन्न बुद्धि से और गहरे आत्मिक तादात्म्य द्वारा। आधुनिक समय में ऋषि अरविन्द ने 'लाइफ डिवाइन' में इसी अन्तिम विधि को श्रेष्ठ बताया है। देव संस्कृति को जन्म देने वाले इस विधि में निष्णात थे। यही कारण है कि उन्होंने उत्कृष्ट विधि के रहते निम्न विधियों का कम ही प्रयोग किया है।[37]

शनैः शनैः इस आध्यात्मिक प्रणाली के प्रयोग वस्तु जगत् से सिमटते-सिमटते आत्म जगत् तक सीमित रह गए। काल के प्रवाह में हुए इस परिवर्तन को उत्तर वैदिक काल, मध्य युगीन और आधुनिक समय के आध्यात्मिक व्यक्तियों में देखा जा सकता है। इसका कारण आध्यात्मिक प्रणाली का एकांगीपन न होकर आध्यात्मिक व्यक्तियों का बाह्य जगत् के प्रति एक उपेक्षा भाव रहा है। बौद्धिक विश्लेषण का अभाव इस प्रणाली में बहुत पहले से देखने को मिलता है। वस्तु जगत् के सत्यों से इसकी उदासीनता ने इसे एक रहस्यात्मकता दे डाली। आध्यात्मिकता का स्वरूप और प्रयोग गुरु और शिष्य के बीच गोपन होकर रह गया। परवर्ती काल में आध्यात्मिकता और रहस्यवाद समानार्थी समझे जाने लगे। पर ऐसे कथन के पीछे जन-सामान्य का उथली समझ है, न कि किसी सत्यान्वेषी की अन्तर्दृष्टि। फिर भी इतना तो सत्य है ही कि रहस्यवादियों ने सत्यान्वेषण हेतु आध्यात्मिक प्रणाली का प्रयोग किया है। भले इस प्रयोग में आत्म-जगत् की सीमाबद्धता हो। फिर भी रहस्यवाद का विवेचन किए बगैर आध्यात्मिक प्रणाली का विवेचन अधूरा ही रह जाएगा।

चिन्तन के पूरे इतिहास में समय-समय पर ऐसे ऋषि कल्प तत्त्ववेत्ता होते आए हैं, जिन्होंने तर्क और बुद्धि से परे जाकर 'शृणवन्तु विश्वा अमृतस्य पुत्राः' का उद्घोष किया है। उनकी वाणी तर्क जाल से बँधी न होकर आकाश में उड़ते पक्षियों की भाँति उन्मुक्त है, किन्हीं कतिपय बुद्धिवादियों के लिए न होकर सभी के लिए है। ये विवेचन न होकर कथन है, जो सीधे हृदय में प्रवेश करके अन्तरात्मा को तरंगित कर देते हैं। चिन्तन के इतिहास में रहस्यवाद एक रोचक अध्याय है। जिसमें जीवन साधना के निष्कर्ष मणि-मुक्तक की तरह संजोये हैं।

कबीर, दादू, रैदास, तुलसी, मीरा, तुकाराम, एकनाथ, समर्थ रामदास, रामकृष्ण परमहंस ऐसे ही महान् पुरुष थे। जिनके लिए विख्यात दार्शनिक आचार्य शंकर ने कहा है- कि इनके आप्त वचन प्राकृत होने पर भी वेद वाक्यों के समान हैं। पश्चिम में नव्य प्लेटोवादी प्लॉटीनस का यही मार्ग था। कुछ इसी तरह के अन्य रहस्यवादियों जैसे- सन्त टेरेसा, क्रास के सन्त जॉन माइस्टर एकहार्ट, जाकोब बीमे और जार्ज आक्स के जीवन निष्कर्षों को पश्चिमी दर्शन में पढ़ा जा सकता है। यह रहस्यवादी दृष्टिकोण शैली, वर्ड्सवर्थ, टेनीसन और ह्विटमैन की कविता और इमर्सन के निबंधों में भी देखने को मिलता है। वस्तुतः बर्गसां भी जो आज के समय में बहुत पढ़े जाने वाले दार्शनिक हैं। जिन्होंने मनोविज्ञान, जीवविज्ञान और विकासवाद पर चिन्तन किया है, एक प्रकार के रहस्यवाद का प्रतिपादन करते हैं। क्योंकि उनके लिए अन्तः प्रज्ञा बुद्धि से श्रेष्ठ है। अन्तः प्रज्ञा अपने में जिन्दगी का पर्यायवाची है, जो हमें जिन्दगी के प्रवेश द्वार के भीतर ले जाती है। जीवन के मर्म का बोध कराती है।

अस्तित्व की गहराइयों में छुपे रहस्यों को खोलने, दबी-छुपी अनजानी सामर्थ्यो को उभारने वाले इस रहस्यवाद की विवेचना अत्यन्त मनोरंजक होने पर भी दुःसाध्य है। वह हमारे सामने एक गहन वन प्रान्त की भाँति फैली हुई है। उसमें जटिल विचारों की कितनी काली गुफाएँ हैं, कितनी शिलाएँ हैं। उसकी दुर्गमता देखकर हमारे हृदय का निर्बल व्यक्ति थक कर बैठ जाता है। सागर के समान इस विषय का विस्तार विश्व साहित्य भर में फैला हुआ है। न जाने कितने कवियों के हृदय से रहस्यवाद की भावना निर्झर की भाँति प्रवाहित हुई। उन्होंने उसके अलौकिक आनन्द का अनुभव कर मौन धारण कर लिया है। न जाने कितने योगियों ने इस दैवी अनुभूति के प्रवाह में अपने को बहा दिया।[38] इसे शब्दों

३७. आचार्य श्रीराम शर्मा- आधुनिक विज्ञान ऋणी है देव संस्कृति का, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ६

३८. डॉ रामकुमार वर्मा- कबीर का रहस्यवाद, पृ. ३३

में समेट पाना कुछ वैसा ही है जैसे अमृत सागर को मिट्टी के छोटे घड़े में भर लेना।

यह तो जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्चल संबंध जोड़ना चाहती है, यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रहा जाता। जीवात्मा की शक्तियाँ इसी शक्ति के अनन्त वैभव और प्रभाव से ओत-प्रोत हो जाती है। जीवन में केवल उसी दिव्य शक्ति का अनन्त तेज अन्तर्निहित हो जाता है और जीवात्मा अपने अस्तित्व को एक प्रकार से भूल सी जाती है। एक भावना एक वासना हृदय में प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है और वह भावना सदैव जीवन के अंग-प्रत्यंगों में प्रकाशित होती है। यही दिव्य संयोग है।

ऐसे प्रेम में जीव की सारी इन्द्रियों का एकीकरण हो जाता है। सारी इन्द्रियों से एक स्वर निकलता है और उनमें अपने प्रेम की वस्तु के पाने की लालसा समान रूप से होने लगती है। इन्द्रियाँ अपने आराध्य के प्रेम को पाने के लिए उत्सुक हो जाती है और उनकी उत्सुकता इतनी बढ़ जाती है कि वे उसके विविध गुणों का ग्रहण समान रूप से करने लगती है। अन्त में वह सीमा इस स्थिति को पहुँचती है कि भावोन्माद में वस्तुओं के विविध गुण एक ही इन्द्रिय पाने की क्षमता प्राप्त कर लेती है। ऐसी दशा में शायद इन्द्रियाँ अपना कार्य भी बदल देती हैं। एक बार प्रोफेसर जेम्स ने आदर्शवादियों के सामने सुलझाने के लिए रखी थी कि यदि इन्द्रियाँ अपनी-अपनी कार्य शक्ति एक-दूसरे से बदल लें तो संसार में क्या परिवर्तन हो जाएँगे ? उदाहरणार्थ यदि रंगों को सुनने लगें और ध्वनियों को देखने लगें, तो हमारे जीवन में क्या अन्तर आ जाएगा। इसी विचार के सहारे हम सेंट मार्टिन की रहस्यवाद से सम्बन्ध रखने वाली परिस्थिति को समझ सकते हैं, जब उन्होंने कहा था[३९] -

"मैंने उन फूलों को सुना जो शब्द करते थे और उन ध्वनियों को देखा जो जाज्वल्यमान थीं।"[४०]

"अन्य रहस्यवादियों का भी कथन है कि उस दिव्य अनुभूति में इन्द्रियाँ अपना काम करना भूल जाती हैं। वे निस्तब्ध सी होकर अपने कार्य व्यापार ही नहीं समझ पातीं। ऐसी स्थिति में आश्चर्य ही क्या कि इन्द्रियाँ अपना कार्य अव्यवस्थित रूप से करने लगें। इसी बात से हम उस दिव्य अनुभूति के आनन्द का परिचय पा सकते हैं, जिसमें हमारी सारी इन्द्रियाँ मिलकर एक हो जाती हैं, अपना कार्य व्यापार भूल जाती हैं। जब हम उस अनुभूति का विश्लेषण करने बैठते हैं तो उसमें हमें न जाने कितने गूढ़ रहस्यों और आश्चर्यमय व्यापारों का पता लगता है।"[४१] फारसी में शमसी तबरीज की कविता में उक्त विचारों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है-

उसके सम्मिलन की स्मृति में,
उसके सौन्दर्य की आकांक्षा में
वे उस मदिरा को- जिसे तू जानता है
पीकर बेसुध पड़े हैं
कैसा अच्छा हो उसकी गली के द्वार तक
वह रात को दिन तक पहुँचा दे।
तू अपने को
शरीर की इन्द्रियों को
आत्मा की ज्योति से जगमगा दे।[४२]

अल-हल्लाज मंसूर की भावना भी कुछ इसी प्रकार है-

"तेरी आत्मा मेरी आत्मा से मिल गई है, जैसे स्वच्छ जल से शराब। जब कोई वस्तु तुझे स्पर्श करती है तो मानो वह मुझे स्पर्श करती है। देख न सभी प्रकार से

३९. वही, पृ. ३४-३५
४०. इवेलिन अन्डर हिल- मिस्टीसिज्म, पृ ८
४१. डॉ. रामकुमार वर्मा- कबीर का रहस्यवाद, पृ. ३५-३६
४२. ब-यादे विसालश् दर आरजू ए जमालश,
फुतादां बे खराब नंद जे आं शराब कि दानी,
चे खुश बूअद कि बवूयश बर आस्तांन ए यरश,
बराए दीदने रएश शबे बरोज रसानी,
हवासे जुस्म ए खुद रा बनूरे जाने तो बरअफरोज। -दीवाने शमसी तबरीज पृ. १७६

तू 'मैं' है।''[४३]

कबीर की प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं-

लोका जानि न भूलौ भाई
खालिक खलक, खलक में खालिक
सब घट रह्यो समाई।[४४]

इस तरह आत्मा और परमात्मा परस्पर मिल जाते हैं। क्षुद्र अहं विराट् पुरुष में विलय हो जाता है। जरसन ने इसी को बताते हुए कहा था- जब आत्मा प्रेम की अमूल्य निधि लिए परमात्मा में अपना विस्तार करती है। पवित्र और उमंग भरे प्रेम से परिपालित आत्मा का परमात्मा में गमन ही तो रहस्यवाद है। डायोनिसस तो एक कदम और आगे बढ़ गये। वे कहते हैं- ''परमात्मा से आत्मा का अत्यन्त गुप्त वाग् विलास ही रहस्यवाद है।''[४५] आचार्य जी अपनी रहस्यानुभूति को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- ''अपना स्वरूप आत्मा की स्थिति में अनुभव होने लगा और अन्त:करण परमेश्वर का परम पवित्र निवास गृह दिखने लगा।''[४६] आगे वह कहते हैं- ''हमने जीवन में एक ही उपार्जन किया है- प्रेम। एक ही सम्पदा कमाई है- प्रेम। एक ही रस हमने चखा है और वह है प्रेम का।''[४७] अन्तरात्मा में प्रकाश उत्पन्न करने वाला तत्त्व प्रेम है। समस्त सत्प्रवृत्तियां उसी की सहचरी है। कृष्ण चरित्र में जिस रास और महारास का आलंकारिक रूप से सुविस्तृत और आकर्षक वर्णन हुआ है, उसमें प्रेम तत्त्व को श्रीकृष्ण के रूप में और सत्प्रवृत्तियों को गोपियों के रूप में चित्रित किया गया है। एक प्रेमी और अनेक प्रेमिकाएँ यह आश्चर्य अध्यात्म जगत् में सम्भव है। प्रेम से भरी आत्मा को अगणित सत्प्रवृत्तियाँ असीम प्यार करती हैं और वे सभी दौड़ी-दौड़ी प्रियतम से मिलने और उसके साथ तादात्म्य होने चली आती हैं। उत्कृष्ट प्रेम और उसके आधार पर एकत्रित हुई सत्प्रवृत्तियाँ जीवन को आनन्द उल्लास से भरा पूरा बना देती हैं। द्वैत की अद्वैत में परिणति अहंता का समर्पण में विलय इसी का नाम मुक्ति है। सच्चिदानन्द की उपलब्धि का यही मर्म स्थल है। हमारी अनुभूतियों और उपलब्धियों का भी यही निष्कर्ष है। और यही निष्कर्ष अब तक इस मार्ग पर सफल यात्रा कर चुकने वालों का है।[४८] रहस्यवाद के मार्ग पर यात्रा करके इन सभी सफल यात्रियों ने अनन्त के साथ अपने मधुर सम्बन्धों को अनुभव किया। सच कहें तो रहस्यवादी है ही वह व्यक्ति जो इस सम्बन्ध को पा लेता है। जो कहता ही नहीं, उसे जानता ही नहीं, बल्कि उस सम्बन्ध का ही रूप धारण कर वह अपनी आत्मा के आनन्द में लीन हो जाता है।

सत्य के गहनतम रहस्य का खुलासा करने में समर्थ रहस्यवाद वस्तुत: आध्यात्मिक प्रणाली का ही केन्द्रीय तत्त्व है। आध्यात्मिक प्रणाली से जहाँ जीवन और जगत् के सभी पक्षों का समग्र ज्ञान अर्जित किया जा सकता है, वहीं रहस्यवाद से सिर्फ आत्मचेतना के रहस्य खोले जा सकते हैं। इतने पर भी आध्यात्मिक प्रणाली में रहस्यवाद स्वत: ही समाहित है, सर्वथा अभिन्न है। इस दृष्टि से आध्यात्मिक प्रणाली अपनी उपलब्धियों, प्रयोगों, प्रक्रियाओं की समृद्धि के कारण न केवल अद्वितीय है, बल्कि अतुलनीय भी। लेकिन इसमें बौद्धिक विश्लेषण का अभाव इसे अनुभूति की दृष्टि से समग्र होते हुए भी अभिव्यक्ति की दृष्टि से समग्र नहीं बनने देता।

आध्यात्मिक व्यक्तियों के जीवन, उनके द्वारा की गई सत्य की शोध के इतिहास का सूक्ष्म व गहन अवलोकन करें, तो कबीर दास 'मन मगन भया फिर क्यों बोले?' कहते हुए, सूरदास- गूंगे के गुड़ के स्वाद में अन्तर्मग्न मिल जाते हैं। सूफी सन्त विवशता भरे स्वर में कहते हैं- 'नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ आज अनश्वर गीत।' यानि की

---

४३. Thy sprit is mingled in my sprit even as wine is mingled with pure water. When anything touches thee, it touches me, he in every case Thou art I.
सिल्ड ए. निक्सन- द आइडिया ऑफ पर्सनेल्टी इन सूफीज्म, पृ. ३०

४४. डॉ. रामकुमार वर्मा- कबीर का रहस्यवाद, पृ. ३८

४५. ए. वेट.- स्टडीज इन मिस्टिसिज्म, पृ.-२७६

४६. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपनों से अपनी बात, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३३, अंक, १, पृ ५५

४७. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपनों से अपनी बात, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक १, पृ. ६३

४८. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपनों से अपनी बात, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ५, पृ. ६३-६४

अभिव्यक्ति में किसी की रुचि नहीं। यदि कभी अभिव्यक्ति होती भी है तो उलटबासियों में। 'बाप पूत कै एकै नारी, एकैमाय वियाय'- जैसे उलटे वचनों के रहस्य सामान्य बौद्धिक जन को तो समझ आने से रहा। समझने का परिणाम नासमझी होकर रह जाता है। कहीं-कहीं आध्यात्मिक प्रयोगों के निष्कर्ष सूत्र और संकेतों में देखने को मिलते हैं। जिनके अर्थ निकालने में प्रायः अनर्थ होता दिखता है। यह ठीक है कि बुद्धि और तर्क आध्यात्मिक अनुभूतियों की व्याख्या करने में असहाय से लगते हैं। इतने पर भी ये अध्यात्म में उस सब प्रकार की कट्टरता और तर्कहीनता के विरुद्ध एक उपयुक्त औषधि है जो कि अध्यात्म के नाम पर फैले हुए इतने अधिक अन्धविश्वासों के लिए उत्तरदायी है। तर्क बुद्धि से निम्न तत्त्वों पर नियंत्रण करता और मानव को बुद्धि से परे संकेत देता है। अतएव प्रणाली सर्वजनीन हो, सार्वभौमिक और बोधगम्य बने, इस हेतु तर्क और भाषा का सुसंगत होना अनिवार्य है।

इसी की अवहेलना का परिणाम है कि जन सामान्य अध्यात्मिक व्यक्तियों को बाहरी आचरण, ऊपरी क्रिया-कलापों के अन्धानुकरण में लग गया। भ्रान्तियों के इस दौर में सार तत्त्व न तो उसे समझ में आया, और न उसे समझाने की कोशिश की गई। परिणाम में सच्चाई को अनुभव करने की समग्र प्रणाली मतवादों, मूढ मान्यताओं, सम्प्रदायों के विग्रह-विद्वेष जैसे कूड़े-कचरे में दब कर रह गयी। बुद्धिवादी इसे भ्रान्तियों का पर्याय समझने लगे।

ऐसी दुःखद स्थिति सिर्फ इसलिए पनपी क्योंकि अनुभूति को अभिव्यक्ति नहीं मिली। ''इसे दुर्भाग्य कहा जाना चाहिए कि धर्म ने लौकिक ज्ञान तर्कशास्त्र से अपने को सिद्ध करना अस्वीकार किया। किसी समय मनुष्य की आस्था इतनी प्रगाढ़ एवं भावनाएँ इतनी उदात्त रही होंगी कि शास्त्रों, महापुरुषों के वचनों में तर्क की आवश्यकता नहीं अनुभव की जाती रही होगी। किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में मनुष्य की विचारणा, भावना एवं मनःस्थिति में भारी अन्तर आया है। बुद्धि का असाधारण विकास हुआ है। जिज्ञासा एवं तर्क शक्ति बढ़ी है। फलस्वरूप मानवी आस्था में कमी आई है। बुद्धिवाद धर्म के सिद्धान्तों को बिना परखे तर्क एवं परीक्षण की कसौटी पर बिना कसे स्वीकार करने को तैयार नहीं है। धर्म को भी अब उसी बुद्धि, तर्क से प्रमाणित और उपयोगी सिद्ध करने की आवश्यकता आ पड़ी है, जिससे विज्ञान अपने प्रतिपादनों को सिद्ध करता है।''[४९]

युग के इस सत्य को परखकर स्वामी विवेकानन्द कहते हैं- ''बाह्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जिन अन्वेषण पद्धतियों का प्रयोग होता है, क्या उन्हें धर्म-विज्ञान के क्षेत्र में प्रयुक्त किया जा सकता है? मेरा विचार है कि ऐसा अवश्य होना चाहिए और मेरा अपना विश्वास भी है कि यह कार्य जितना शीघ्र हो उतना ही अच्छा। यदि कोई धर्म इन अन्वेषणों के द्वारा ध्वंस प्राय हो जाय, तो वह सदा से निरर्थक धर्म था- कोरे अन्धविश्वास का एवं वह जितनी जल्दी दूर हो जाय उतना ही अच्छा। मेरी अपनी दृढ़ धारणा है कि ऐसे धर्म का लोप होना एक सर्वश्रेष्ठ घटना होगी। सारा मैल धुल जरूर जाएगा, पर इस अनुसंधान के फलस्वरूप धर्म के शाश्वत तत्त्व विजयी होकर निकल आएँगे। वह केवल विज्ञान सम्मत ही नहीं होगा- कम से कम उतना ही वैज्ञानिक जितनी कि भौतिकी या रसायन शास्त्र की उपलब्धियाँ-प्रत्युत और भी अधिक सशक्त हो उठेगा, क्योंकि भौतिक या रसायन शास्त्र के पास अपने सत्यों को सिद्ध करने के लिए अन्तः साक्ष्य नहीं है, जो कि धर्म की उपलब्धि है''[५०] आज यदि धर्म के शाश्वत तत्त्वों को कहीं भी जीवन्त देखा जा सकता है- तो बहुत कुछ इसी कारण। अन्यथा ''धर्म एक क्षण भी नहीं खड़ा रह सका होता यदि वह महान् सत्यों की बौद्धिक व्याख्या से अपनी पुष्टि नहीं करता, चाहे वे कितने अपर्याप्त हों।''[५१]

निष्कर्ष में यही कहना होगा कि आध्यात्मिक प्रणाली को अपनी समग्र अनुभूति को सार्थक अभिव्यक्ति देने के लिए बौद्धिक विश्लेषण, तर्क सम्मत सुसंगत भाषा

४९. आचार्य श्रीराम शर्मा- आस्तिकी को अग्नि परीक्षा से गुजरना होगा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५४, अंक ८, पृ. २९
५०. स्वामी विवेकानन्द- विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ १७८
५१. श्री अरविन्द- न्यूज एण्ड रिव्यूज, पृ २

को अवश्य अंगीकार करना होगा, तभी खोज के विषय के अनुरूप इसकी सर्वांगीणता सिद्ध हो पाएगी।

❖ सर्वातिशायी प्रणाली/समीक्षा प्रणाली

उन्नीसवीं शताब्दी का समस्त विचार दर्शन को सर्वातिशायी प्रणाली के जन्मदाता काण्ट की कल्पनाओं के चारों ओर घूमता देखा जा सकता है। काण्ट के बाद से जर्मनी के सभी विचारकों ने तत्त्वज्ञान की चर्चा शुरू कर दी थी। शिलर तथा गेटे ने उनके सिद्धान्तों का अध्ययन किया था। बीथोवेन ने जीवन के दो आश्चर्यों के सम्बन्ध में उनके प्रसिद्ध कथन की बड़ी प्रशंसा के साथ उल्लेख किया है। ये दो आश्चर्य हैं- "ऊपर तारों से भरा आकाश और अंतर में नैतिक नियम।" फिक्टे, शेलिंग, हेगल और शोपेनहावर ने कम से कम कोनिग्सबर्ग के इस वृद्ध संत के आदर्शवाद के आधार पर महान् विचार पद्धतियों को जन्म दिया। जर्मन तत्त्वज्ञान के इन्हीं शांतिदायक दिनों में जीन पाल रीचर ने लिखा था "ईश्वर ने फ्रांसवासियों को भूमि, अंग्रेजों को समुद्र और जर्मनों को वायुमण्डल का राज्य दिया है।" काण्ट द्वारा शुद्ध बुद्धि मीमांसा के कार्य ने शोपेनहावर और नीत्शे के ऐच्छिकवाद बर्गसां के सहजज्ञानवाद और विलियम जेम्स के सिद्धान्तवाद का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। काण्ट द्वारा बुद्धि के नियमों को यथार्थता के नियमों के तुल्य सिद्ध करने से हेगल को दर्शन की एक पूर्ण पद्धति मिल गई थी। इसी तरह उनके अज्ञान 'शुद्ध पदार्थ' ने स्पेन्सर को इतना अधिक प्रभावित किया कि वह स्वयं भी उसका अनुमान नहीं लगा सके। कार्लाइल के सिद्धान्त की बहुत कुछ गूढ़ता का कारण काण्ट और गेटे के सिद्धान्त का- कि विविध धर्म और दर्शन एक ही शाश्वत सत्य के विभिन्न रूप हैं- रूपक रूप से प्रयोग करना था, जबकि वह सिद्धान्त पहले ही गूढ़ था। ग्रीन वैलेस, वाट्सन, ब्रेडले और इंग्लैण्ड के अन्य अनेक विचारकों को प्रथम 'आलोचना' से ही प्रेरणा मिली थी। यहाँ तक कि प्रचण्डता के साथ नयी पद्धति चलाने वाले नीत्शे ने भी अपनी ज्ञानमीमांसा कानिग्सबर्ग के इसी दार्शनिक से ग्रहण की, जिसके अचल नीति शास्त्र की वह इतने जोश के साथ आलोचना करता था। एक शताब्दी तक काण्ट का दर्शन, दार्शनिकों के चिन्तन एवं प्रेरणा का स्रोत बनता रहा। ज्ञानोदय काल के बार-बार परिवर्तित जड़वाद के बीच संघर्ष के बाद विजय उन्हीं के पक्ष में दिखाई देती है। यहाँ तक की महान् जड़वादी हेलविशस ने लिखा था, जो विरोधाभास है कि "मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि मनुष्य जड़ तत्त्व का निर्माता है।"

इस व्यापक प्रभाव का कारण काण्ट की यह दार्शनिक विशेषता है, जिसके तहत उन्होंने ज्ञान की दशाओं की समीक्षा की है। उसने न केवल इस बात की खोज की कि ज्ञान किस केन्द्र से उमगता है और उसकी परिधि क्या है? बल्कि ज्ञान के साधनों, सीमाओं, उनके अस्तित्व और प्रामाणिकता के आधार का ब्योरेवार विवेचन किया। अनुभव के पहले ज्ञान की दशाएँ क्या रहीं? इसे जानने के लिए उन्होंने शुद्ध बुद्धि परीक्षा की प्रणाली को स्वीकारा। प्रज्ञा और इन्द्रिय शक्ति का विश्लेषण इस प्रणाली का आधार बना। इसके अनुसार मनुष्य का समस्त ज्ञान इन्द्रिय संवेदनों से शुरू होकर प्रज्ञा तक पहुँचता है। प्रज्ञा से इसकी पहुँच और समाप्ति बुद्धि में होती है। अपने चिन्तन के विश्लेषण (Transcendental analysis) और मनन के विश्लेषण (Transcendental dialectic) में काण्ट ने इन्द्रिय शक्ति के रूपों और प्रज्ञा की संज्ञाओं का पता लगाया है। जिसके परे उन्होंने सभी कुछ अज्ञेय माना है।

इन प्रत्ययों से तार्किकता को सन्तुष्ट किया जा सकता है। शुद्ध बुद्धि भी इनमें तृप्ति की खुशी जाहिर कर सकती है। लेकिन जब तक ये अनुभव नहीं बनते, तब तक प्रत्येक प्रत्यय हमारे लिए अपूर्ण और हमारी प्रकृति के एक अंग के लिए लगभग असत्य है। फिर काण्ट के लिए अनुभव की सीमाबद्धता भी इन्द्रियों और बुद्धि तक है। जबकि ज्ञान कोई मानसिक, बौद्धिक प्रक्रिया न होकर, समस्त सत्ता की अनुभूति का विषय है। दर्शन इसका साक्षात्कार है, इसे सिर्फ समीक्षा तक नहीं सिकोड़ा-समेटा जाना चाहिए। अपनी प्रणाली की पूर्णता के लिए काण्ट को किसी ऐसी अन्तरंग प्रणाली की जरूरत है- जो उसके अनुभव को व्यापक बनाए। हमें सत्ता को अपने मानसिक प्रत्ययों से नहीं बल्कि जो कुछ हम देखते हैं, उसे जाँचना चाहिए। इस प्रणाली से तो सिर्फ बुद्धि की शक्ति और सीमाएँ भर जानी जा सकती हैं। लेकिन ज्ञान की व्यापकता को इन सीमाओं में बांध-जकड़ कर रखना असम्भव है। "बुद्धि आखिरी शब्द

नहीं है और न बुद्धिजीवी प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ निर्माण है।''[५३] मात्र बुद्धि की बौद्धिक चेतना के बल पर इस विश्व ब्रह्माण्ड के रहस्य जाना समझा नहीं जा सकता और न ही इसके द्वारा व्यक्ति की गुत्थियों का समाधान निकाला जा सकता है।[५४]

काण्ट अध्यात्म शास्त्रीय रीति से यह तर्क करते हैं, कि अध्यात्म शास्त्र सम्भव नहीं है।[५५] लेकिन अध्यात्म के मूल तत्त्व तर्क से बंधे नहीं है। इनकी अनुभूति का साधन तर्क न होकर साक्षात्कार है। बौद्धिक नियमों-नीतियों की सीमा व्यावहारिक जगत् तक ही सीमित है। परमात्म चेतना को नियमों-मर्यादाओं में नहीं घेरा जा सकता। अनन्त की अनुभूति-उससे एकत्व तो सम्भव है, पर बौद्धिक घेराबन्दी की कोई सम्भावना नहीं। बर्गसां ने उचित ही कहा है- ''मैं कहाँ तक जा सकता हूँ, इसके लिए मैं केवल एक ही *मार्ग* देखता हूँ और वह है जाने के द्वारा।''[५६] डब्लू. टी. मार्टिन के शब्दों में कहें तो अध्यात्म शास्त्र तार्किक रूप से ज्ञान के सिद्धान्त से पहले है और न तो अपनी समस्याओं के लिए और न उनके सुलझाव के लिए इस विज्ञान का विशेष आभारी है।[५७] आचार्य जी के भावों का शब्द चित्र हमारे सामने जो स्वरूप स्पष्ट करता है है वह है ''बुद्धि सत्य के शरीर का स्पर्श कभी भी नहीं कर सकती। न वह ईश्वर को, आत्मा को ही देख सकती है। बुद्धि की पहुँच ईश्वर की छाया तक है, वह ईश्वर की हँसी नहीं सुन सकती।''[५८]

जबकि दर्शन का आधार सत्य का साक्षात्कार है। इसलिए यही कहना होगा कि यदि बुद्धि वास्तव में 'ज्ञान' पाने में सहायक होने की इच्छुक है तो उसे आध्यात्मिक अनुभवों की विश्वसनीय व्याख्या में अपनी सार्थकता सिद्ध करनी चाहिए। अपने आधे-अधूरेपन को यह इसी तरह मिटा-हटा कर पूर्ण बन सकती है।

◆ द्वन्द्वात्मक प्रणाली

काण्ट के नीतिवाद के आने से बुद्धिवाद का जो ज्वार कुछ समय के लिए हल्का पड़ा था, हेगल के दर्शन में फिर से उन्मुक्त हो प्रकट हुआ। उनका दुर्बोध कहा जाने वाला ग्रन्थ 'शुद्ध प्रत्यय विज्ञान' विचार शक्ति की पद्धतियों का नहीं, बल्कि तर्क में प्रयोग होने वाले प्रत्ययों का विश्लेषण है। उन्होंने इन्हें सार्वभौमिक धारणाएँ कहा। काण्ट ने इनके नाम सत्ता (Being), गुण (*Quality*), परिमाण (Quantity), सम्बन्ध (Relation) आदि रखे थे। हेगल के चिन्तन में समूची सत्ता विचार के साक्षात्कार के रूप में प्रकाशित हुई। समूचे संसार को उन्होंने इन विचारों का विकसित रूप माना।

उन्होंने घोषित किया कि विचार शक्ति अथवा वस्तुओं की प्रत्येक अवस्था- विश्व का हर विचार और हर परिस्थिति-अनिवार्य रूप से अपने विरोधी की ओर जाती है और उसके साथ मिलकर वह उच्चतर पूर्णत्व का रूप ग्रहण कर लेती है। यह द्वन्द्वात्मक गति उनके हर विचार में देखने को मिलती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह एक प्राचीन धारणा है, जिसकी एम्पीडोक्लेज ने कल्पना की थी और जो अरस्तू के स्वर्णिम मध्यम मार्ग में देखी गई थी, जब कि उसने लिखा था कि ''विरोधी वस्तुओं का ज्ञान एक सा होता है। विरोधी अंशों की क्रमिक एकता ही सत्यता है। कट्टरवाद और सुधारवाद की सत्यता उदारवाद है। जो मुक्त मन और सतर्क कार्य तथा मुक्त कार्य सतर्क मन का नाम है। द्वन्द्वात्मक प्रणाली के अनुसार विरोधी तत्त्वों का सतत् विकास और उनका विलयन एवं समन्वय ही विकास की गति है। शेलिंग का संबोधिवाद यह कहते हुए हेगल के द्वन्द्वात्मक विधान में समाता लगता है कि पृष्ठभूमि विरोधी तत्त्वों की एकरूपता होती है। प्रत्यक्ष में एक जैसा लगते हुए भी इसमें जारीक

५२. श्री अरविन्द- द लाइफ डिवाइन भाग २, पृ. ७४
५३. आचार्य श्रीराम शर्मा- कोरा बुद्धिवाद हमें ले डूबेगा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५२, अंक ३, पृ. २०
५४. वही, पृ १९
५५. फाल्केन बर्ग- हिस्ट्री ऑव मार्डन फिलासफी, पृ. ३४०
५६. बर्गसां- माइन्ड एण्ड इनर्जी, पृ. २
५७. मार्टिन डब्ल्यू. टी.- द न्यू रिअलिज्म, पृ. ५०
५८. आचार्य श्रीराम शर्मा- कोरा बुद्धिवाद हमें ले डूबेगा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५२, अंक ३, पृ. २०

अन्तर देखने को मिलता है। जहाँ शेलिंग पृष्ठभूमि में विरोधी तत्त्वों की एकरूपता को मौलिक बताते हैं वहीं हेगल का इस मौलिकता पर कोई बल नहीं है।

हेगल अपनी द्वन्द्वात्मक गति को सिर्फ विचारों के विकास और गति तक ही सीमित नहीं रखते। उनके अनुसार जगत् में भी कुछ ऐसा ही देखने को मिलता है। कार्यों की प्रत्येक अवस्था में विरोध निहित रहता है। विकास समन्वयकारी एकता की सहायता से उसे दूर करता है। हमारी वर्तमान सामाजिक पद्धति में भी आत्मनाशन विरोध छिपा हुआ है। आर्थिक उन्नति और साधनों के युग में प्रभावशाली व्यक्तिवाद सहकारी राष्ट्र मण्डल की लालसा पैदा कर देगा। परिणाम में न तो वर्तमान यथार्थता दिखाई देगी और न कल्पित आदर्श ही पाया जाएगा। बल्कि उसमें एक ऐसा समन्वय होगा, जिसमें दोनों साथ-साथ एक उच्चतर जीवन को जन्म देंगे। यह उच्चतर अवस्था भी आगे चलकर एक परिणामकारी विरोध का रूप ले लेगी और फिर संगठन, जटिलता एवं एकता की दृष्टि से और अधिक उच्चतर अवस्था तक पहुँच जाएगी। इस तरह विचारों की गति-वस्तुओं की गति के समान ही होती है। द्वन्द्वात्मक विकास का प्रेरक तत्त्व उस विरोध में है जो कि उसमें अन्तःस्थित है। विकास के लिए इस विरोध का बहिष्कार और संरक्षण साथ-साथ जरूरी है। द्वन्द्वात्मक गति इस जरूरी साधन को पूरा करती रहती है। वाद से प्रतिवाद पैदा होता है। फिर ये दोनों मिल जाते हैं। मिलन का यह संवाद पुनः एक वाद बन जाता है, बाद में जिसका प्रतिवाद होने लगता है। तब तक होता रहता है, जब तक संवाद का जन्म नहीं हो जाता। यह प्रक्रिया निरपेक्ष प्रत्यय पहुँचने तक चलती रहती है।

इटालियन तत्त्ववेत्ता क्रोचे ने बाद के दिनों में द्वन्द्वात्मक प्रणाली की एक समालोचना प्रस्तुत की। उनके अनुसार संसार में विचारों-वस्तुओं और स्थितियों का विकास, द्वन्द्वात्मक गति से ही होता रहा हो, यह जरूरी नहीं है। जीवन और जगत् के इतिहास में ऐसे अनेकों प्रमाण मिल जाते हैं, जो द्वन्द्वात्मक प्रणाली पर प्रश्न चिह्न लगाए बिना नहीं छोड़ते। उदाहरण के लिए धर्म, कला का प्रतिवाद नहीं और न दर्शन इन दोनों का संवाद। इसी तरह विचार मूल तत्त्व की अवस्थिति भर है। तर्क और प्रकृति का तादात्म्य बिठाने की कोशिशें पूर्ण के स्थान पर अंश की प्राण-प्रतिष्ठा करती ही दिखाई पड़ती हैं। द्वन्द्वात्मक प्रणाली को यदि 'मूल तत्त्व' को तर्कों की लौह व्यवस्था में ठूँसने का प्रयास कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। यही नहीं इसमें 'परम तत्त्व निरपेक्ष सत्य' पर भी बाह्य व्यवस्था थोपने के प्रयास को अनुभव किया जा सकता है। परम तत्त्व-निरपेक्ष सत्य साक्षात्कार का विषय है न कि द्वन्द्वात्मक प्रणाली की वैचारिक प्रगति का परिणाम। निरपेक्ष सत्ता को जानने के लिए हमें अपने समूचे अस्तित्व से उस तक पहुँचने की कोशिश करनी होगी। साक्षात्कार हो जाने के पश्चात् ही उसका वर्णन करने के लिए बुद्धि का हस्तक्षेप सम्भव है। श्री अरविन्द के शब्दों में "सत्य को अपनी आत्मा के अन्दर अनुभव कर, फिर तू चाहे तो बुद्धि के द्वारा अनुभव की परीक्षा कर, लेकिन उसके बाद भी अपने वर्णन पर अविश्वास कर, पर अपने अनुभव पर नहीं।"[५९] क्योंकि "बुद्धि का क्षेत्र वैचारिक जगत् ही है। क्षणिक प्रभाव पैदा करना विचारणों की गाठों को सुलझाने का आधार तो विचार हो सकते हैं।"[६०] पर निरपेक्ष सत्ता की अनुभूति इससे सम्भव नहीं। इस कसौटी पर द्वन्द्वात्मक प्रणाली आधी-अधूरी ही साबित होती है, जबकि उसे खोज की समग्रता के अनुरूप समग्र होना चाहिए।

◆ तार्किक विश्लेषण प्रणाली

तार्किक भाववादियों के अनुसार दर्शन का सही काम है "विज्ञान के कथनों का विश्लेषण करना। उनके प्रकार और सम्बन्धों का अध्ययन करना और इन कथनों के अंगों के रूप में शब्दों और इन कथनों की व्यवस्थाओं के रूप में सिद्धान्तों का विश्लेषण करना है।"[६१] मुख्य तौर पर विज्ञान के दो पहलू हैं, पहला- वैज्ञानिक परीक्षण, दूसरा- तार्किक संगति। तार्किक संगति- जिसे विज्ञान

५९. विचार और सूत्र, मातृवाणी खण्ड १०, पृ १९०
६०. आचार्य श्रीराम शर्मा- बुद्धि नहीं, भावना प्रधान, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक ६, पृ. ३५
६१. कार्नप- लॉजिकल फाउण्डेशन ऑफ दि यूनिटी ऑफ साइन्स, इन्टरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑफ यूनीफाइड साइन्स, भाग १, अंक १

की भाषा सम्बन्धी अभिव्यक्ति का विश्लेषण भी कह सकते हैं, दो भागों में बँटा हुआ है- तार्किक वाक्य रचना प्रणाली तथा प्रतीक शास्त्र। तार्किक वाक्य रचना प्रणाली से हमें विज्ञान की आधारभूत मान्यताओं और उसके अन्तर्सम्बन्धों का पता चलता है। प्रतीक शास्त्र से भाषा की अभिव्यक्ति एवं उससे सम्बन्धित वस्तुओं के सम्बन्धों पर विचार करने में सहूलियत मिलती है। विट्गेन्सटाइन इसी को दर्शन का एकमात्र उद्देश्य बताते हुए कहते हैं कि ''दर्शन का उद्देश्य विचार का तार्किक स्पष्टीकरण है। दर्शन सिद्धान्त नहीं बल्कि क्रिया है।''[६२]

इस तरह तार्किक भाववादी की तरह विचार करें तो यही कहना होगा कि प्रथम कारणों को, चरम वास्तविकता को और ऐसी ही बातों की खोज करना बिलकुल बेकार है। मानव मस्तिष्क को अपना ध्यान वास्तविक तथ्यों तक या जिन्हें हम घटना कहते हैं, उन्हीं तक सीमित रखना चाहिए। घटनाओं के पीछे क्या होता है, वस्तुओं का अपना रूप क्या होता है, इसे जानने की कोशिश करना बेकार है। तार्किक भाववादी के लिए विज्ञान मानव चिन्तन की चरम अवस्था है, यही कहना होगा।

लेकिन यह सीमाबद्धता न केवल दर्शन की प्रगति के लिए बाधक है, बल्कि मानव के चिरन्तन ज्ञान-प्रेम का अपमान है। वैज्ञानिक हमेशा-हमेशा मापन, तोलन, परिकलन करते और विस्तारपूर्ण खाके बनाते रहते हैं। जबकि सच्चा दार्शनिक कहता है, यह सब उपयोगी और जरूरी काम है। लेकिन हम यह जानना चाहेंगे, कम से कम इस बात की एक झलक लेना चाहेंगे कि यह सब करने के बाद मकान कैसा दिखाई देगा। वैज्ञानिकों द्वारा खींची गई आड़ी-तिरछी रेखाएँ असंदिग्ध रूप से उनके परिश्रम का द्योतक है। लेकिन इससे सम्पूर्ण चित्र को देखने की ललक मिटेगी नहीं।

सही अर्थों में दर्शनशास्त्र ज्ञान के सैकड़ों विचित्र आकार-प्रकार के पुञ्जों की इस चित्र पहेली को यह देखने के लिए संकलित करने की कोशिश करता है, उनसे जगत् की कैसी तस्वीर बनती है। इसी अर्थों को लेकर बेकन ने दृढ़ता से कहा था कि ''दर्शनशास्त्र समस्त ज्ञान को अपने क्षेत्र में समेट लेता है। वह वैज्ञानिकों, मनोवैज्ञानिकों एवं इतिहासकारों के परिश्रम से किए कामों को कम अथवा व्यर्थ करने की कोशिश नहीं करता। ऐसा उसे करना भी नहीं चाहिए। उसका उद्देश्य उनके कार्यों को संश्लेषित करके मनुष्य की आत्यंतिक जरूरत पर केन्द्रित करना है। सही कहा जाय तो दर्शनशास्त्र ज्ञान का एकीकरण है और विज्ञानों का संश्लेषण है।''[६३] उसे सिर्फ विज्ञान के कथनों का विश्लेषण करने तक सीमित नहीं रखा जाना चाहिए।

तार्किक विश्लेषण प्रणाली को यदि एकमात्र प्रणाली मान लिया जाय तो केवल अध्यात्म शास्त्र, बल्कि वह चिर संचित दार्शनिक ज्ञान जो अपनी अंतः प्रज्ञा के बल पर विज्ञान की सीमा, तर्कों के दायरे को लांघ चुका है, अर्थहीन होकर रह जाएगा। इसे न तो तर्क पूर्ण कहा जाएगा न तो वैज्ञानिक। कुछ ऐसी ही हठवादिता से क्षुब्ध होकर श्री अरविंद ने कह डाला- ''तर्क शास्त्र सत्य का सबसे बड़ा शत्रु है- जैसे धर्माभिमान पुण्य का सबसे बड़ा शत्रु है, क्योंकि पहला अपनी निजी भूल-भ्रान्तियों को नहीं देख पाता और दूसरा अपनी निजी अपूर्णताओं को।''[६४] इसका मतलब यह नहीं कि परख और विश्लेषण नहीं किया जाना चाहिए। ''समझना, भेद करना तथा जांचना अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु आत्मगत और अतिभौतिक को जाँचने की उससे एक भिन्न प्रणाली होनी चाहिए, जो कि हम भौतिक अथवा बाह्य वस्तुओं में सफलतापूर्वक लागू करते हैं।''[६५] अध्यात्म चेतना का विज्ञान है। चेतना की प्रगति और समृद्धि के लिए चेतना विज्ञान का सहारा लेना पड़ता है।[६६] इसका परित्याग न केवल तर्कहीन है बल्कि अवैज्ञानिक है। ऐसी स्थिति में सत्य का तार्किक विश्लेषण करने का दावा करने

६२ विट्गेन्सटाइन- ट्रैक्टेस लॉजिको पॉलिटिकस, पृ ११२
६३. ड्रोएट ड्रेक- इनविटेशन टू फिलासफी, पृ ix
६४. विचार और सूत्र, मातृवाणी खण्ड १०, पृष्ठ ६८
६५. श्री अरविन्द- द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृ ४४
६६. आचार्य श्रीराम शर्मा- आत्म बोध का दिव्य वरदान, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३६, अंक ६, पृ ३९

बाद मोलेशॉट तथा वॉग्त भौतिकवाद के प्रतिनिधि के रूप में उभरे।

वर्तमान शताब्दी में भौतिकवाद ने प्रकृतिवाद का रूप लिया। प्रकृतिवाद अपने चरम रूप में पदार्थ की धारणा पर कम और ऊर्जा पर अधिक बल देता है। साथ ही इसने उदार अर्थों में प्रयुक्त होकर जगत् को केवल भौतिकी व रसायन पर ही आधारित न मानकर सभी विज्ञानों पर आधारित माना है। अपनी विषय वस्तु में नवीनताएँ होने के कारण इसमें जैविक और मानसिक विज्ञानों में विशेष लक्षणों को स्वीकार किया गया है। इस तरह कहा जा सकता है कि प्रकृतिवाद को विकास में स्तरों के सिद्धान्त की सार्थकता स्वीकार है।

यांत्रिकवाद तथा प्रकृति का यंत्रवादी संप्रत्यय- भौतिकवाद द्वारा परिस्थितियों के अनुरूप बदली गई पोशाक है। इसमें जगत् की जो तस्वीर खींची गई है, वह सरल और आकर्षक है। व्यक्ति को सिर्फ गति में संकलित कणों के बारे में सोचना पड़ता है। यह इन संकलित कणों अथवा परमाणुओं का एकत्रीकरण ही होता है, जो हमारे अनुभव के विषयों को चट्टानों, समुद्र, वायु तथा पशु-पिण्डों को संगठित करता है। शीतल हो जाने से एक समय के अग्निमय पृथ्वी के धरातल पर बहुत जटिल कार्बनिक मिश्रणों को, जिन्हें कोलायड कहते हैं, सम्भव बना देते हैं। और जिसे हम समस्त जीवन में एकक, पौधों, पशु-पिण्डों और सरल कोश में कोलायड को प्राप्त करने के निमित्त अगला कदम मानते हैं। विकासवाद हमें वह प्रणाली बताता है, जिसके अनुसार सरल जीवकोश आकस्मिक परिवर्तनों तथा प्राकृतिक चुनाव के द्वारा पौधों तथा पशुओं के अधिकाधिक जटिल पिण्डों में तब तक विकसित होता जाता है, जब तक कि मनुष्य स्वयं ही बहुत भिन्न तंत्रिका तंत्र से युक्त होकर विचार भावनाओं तथा संकल्प करने योग्य न दिखाई पड़ने लगे।

यांत्रिकवादी सिद्धान्त दर्शन के क्षेत्र में उतना अधिक प्रतिपादित नहीं है। जितना कि विज्ञान के क्षेत्र में यांत्रिकवादियों की जगत् की व्याख्या करने में उतनी रुचि नहीं है, जितनी कि कार्बनिक जीवन को समझाने और मानव मन की व्याख्या करने में। इसके तत्त्वों को जेक्यूस लॉयब की पुस्तक "द मेकेनिस्टिक कॉन्सेप्स ऑफ लाइफ" और डॉ. जी. डब्ल्यू क्राइल की "मैन-एन एडेप्टिव मेकेनिज्म" में देखा जा सकता है। मनोवैज्ञानिक जो अन्य क्षेत्रों के वैज्ञानिकों की अपेक्षा दर्शनशास्त्र के सम्पर्क में अधिक है, सामान्यतया यांत्रिकवादी संप्रत्ययन को समस्त प्रकृति में लागू करने के पक्ष में नहीं है। लेकिन अमेरिका में भौतिक व्यवहारवादियों का समूह जिसके प्रतिनिधि जॉन बी. वाटसन तथा मेक्स एम. मेयर हैं, जोरदार यांत्रिकवादी है। वे मनोविज्ञान में भी पूरी तरह वस्तुनिष्ठ प्रणाली के पक्षधर हैं। इसे वे व्यवहार का विज्ञान मानते हैं न कि मनस आत्मा अथवा चेतना का विज्ञान।[७४]

यांत्रिकवाद को सर्वाधिक प्रभावित किया है- आधुनिक भौतिकी ने। इस प्रभाव को देखते हुए यह लगता है- जैसे यांत्रिकवादी सिद्धान्त वैज्ञानिक प्रगति के लिए मात्र एक स्तर रहा हो। आइन्सटाइन, हाइजेनबर्ग तथा अन्य प्रतिभावान भौतिकविदों ने इस क्षेत्र में जो क्रान्ति सम्पन्न की, उसके निष्कर्षों के रूप में दिक्-काल सातत्य तथा क्वांटम यांत्रिकता वाला नवीन विश्व, प्राचीन यांत्रिकतावादी मत की कठिनायों से बच निकलता है। नवीन भौतिकी के रूप में आधुनिकतम भौतिकवाद न तो यांत्रिकवादी है और न ही नियतिवादी। दूरी पर क्रिया "इस तस्वीर से बाहर हो चुकी है।" किसी 'आकर्षक गीत' के कारण न तो सेब पृथ्वी पर गिरता है और न चन्द्रमा ही अपनी गति में इसका चक्कर लगाता है। गुरुत्वाकर्षण पिण्डों के एक दूसरे के खिंचाव के कारण नहीं, अपितु स्वयं दिक् की संरचना तथा प्रकृति के कारण होता है। दिक् घुमावदार है, और भौतिक पिण्डों के संसर्ग में उसका घुमाव अधिक तथा भिन्न प्रकार होता है। यथा सम्भव सीधा मार्ग अपनाते हुए नक्षत्रीय तथा लौकिक दोनों ही प्रकार की वस्तुएँ दिक् के इस घुमाव से ही प्राप्त हुई हैं। और वे अन्य पिण्डों के पास उनके घुमाव के विशेष लक्षण के कारण ही पहुँचती हैं।

भौतिकवाद ने अपने रूप और निष्कर्ष बदलते हुए वर्तमान स्थिति तक की प्रगति यात्रा विश्लेषण मार्ग से ही तय की है। शुरूआत से लेकर अब तक के प्रत्येक

---

७४. जान. बी. वाटसन- बिहेवियरिज्म

मन्तव्य हैं, प्रत्यक्ष प्रमाणवाद, भौतिकवाद, भूत चैतन्यवाद (आत्मा अर्थात् चैतन्य चार महाभूतों का विकार मात्र है), ऐहिक सुखवाद।

शांतिपर्व के अन्तर्गत 'मोक्षधर्म' पर्व में भरद्वाज नाम के व्यक्ति जीव की अलग सत्ता में शंका करते दिखाए गए हैं, उनका ऋषि भृगु के साथ संवाद चल रहा था। भरद्वाज ने कहा-

भगवन्! यदि वायु ही प्राणी को जीवित रखती है। वायु ही शरीर को क्रियाशील बनाती है, वही सांस लेती, वही बोलती हो, तब तो इस शरीर में जीव सत्ता स्वीकार करना व्यर्थ ही है। यदि शरीर में गर्मी अग्नि का अंश है, यदि अग्नि से ही खाए अन्न का परिपाक होता है, यदि अग्नि ही सबको जीर्ण करती है, तब तो जीव की सत्ता मानना व्यर्थ ही है। जब किसी प्राणी की मृत्यु होती है, तब वहाँ जीव की उपलब्धि नहीं होती। प्राणवायु ही इस प्राणी का परित्याग करती और शरीर की गर्मी नष्ट हो जाती है। ....जल का सर्वथा त्याग करने से शरीर के जलीय अंश का नाश हो जाता है। श्वास रुक जाने से वायु का नाश होता है। उदर का भेदन होने से आकाश तत्त्व नष्ट होता है और भोजन बन्द कर देने से शरीर के अग्नि तत्त्व का नाश हो जाता है। पंच भौतिक संघात (शरीर) के नष्ट होने पर यदि जीव है तो वह किसके पीछे दौड़ता है? क्या अनुभव करता है? क्या सुनता है और क्या बोलता है? मृत्यु के समय इस आशा से गोदान करते हैं कि यह गौ परलोक जाने पर मुझे तार देगी? परन्तु जीव तो गो दान करके मर जाता है, फिर वह गौ किसको तारेगी? गौ-गोदान करने वाला मनुष्य तथा उसको लेने वाला ब्राह्मण, ये तीनों जब यहीं मर जाते हैं, तब परलोक में उनका कैसे समागम होता है?"[७२]

यहाँ न केवल चार्वाक द्वारा जीव के विरुद्ध उठाई गई उक्तियों की स्पष्ट अनुगूँज है, बल्कि विश्लेषण के स्वर भी साफ ध्वनित हो रहे हैं। हरिभद्र सूरिकृत 'षडदर्शन समुच्चय' के अन्तिम खण्ड में लोकायतिक अथवा चार्वाक मत का निरूपण है। उसका सारांश यही है- सर्वज्ञता आदि गुणों से सम्पन्न कोई देव नहीं है। पृथ्वी-जल तेज और वायु इन चार भूतों से ही चैतन्य उत्पन्न होता है। पदार्थ ही एक मात्र प्रथम कारण है।

पश्चिम में यूनानी तत्त्ववेत्ता ल्यूसिपस के मुख्य शिष्य डिमाक्रीट्स ने इसी तत्त्व को घोषित करते हुए कहा- दुनिया भौतिक द्रव्य के परमाणुओं से बनी है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष की समीप वस्तुएँ अथवा जगत् की कोई चीज परमाणुओं के संयोग अथवा समूह के अलावा कुछ भी नहीं है। मन अथवा आत्मा का इससे अलग कोई क्षेत्र नहीं है। कोई भी बात अकस्मात् नहीं होती, बल्कि प्रकृति के नियमों के अनुसार घटती है। नियमों का शासन सार्वभौम है। उनका सारा बल विश्लेषण प्रणाली रहा है, क्योंकि दर्शन चरम सत्ता की इकाइयों की खोज है। इनके कुछ समय पश्चात् पीक्यूरस तथा इपीक्यूरसवादी सम्प्रदायों ने डिमाक्रीटस के परमाणुवाद को अपने दर्शन का आधार स्वीकार किया। यूनानी कवि ल्यूक्रेटियस इस परम्परा को ईसा पूर्व पहली शताब्दी तक ले गए। उनकी सुविख्यात कविता 'दि रेरम नेचुरा' में कहा गया है कि समस्त विश्व अनन्त दिक् से गिर रहे अहानिकारी परमाणुओं का समूहीकरण भर है।

जर्मन भौतिकवादी अर्न्स्ट हेकेल ने अपने परमाणुओं को मौलिक वैज्ञानिक गुणों से समृद्ध किया। उन्होने कहा- 'द्रव्य के दो मौलिक रूप, घूम सकने वाला पुद्गल तथा ईश्वर जड़ नहीं है। और केवल बाह्य शक्ति से ही चालित नहीं होते। किन्तु संवेदन तथा संकल्प युक्त भी (हंलाकि ये स्वाभाविक निम्न स्तर के हैं), वे संक्षेपन की प्रवृत्ति होने से तनाव से घृणा करते हैं। और एक के लिए प्रयत्न तथा दूसरे के साथ संघर्ष का अनुभव करते हैं।"[७३] उनका यह सिद्धान्त कुछ-कुछ थेलीज तथा उसके आयोनिया के साथियों के समान है।

आधुनिक काल में भौतिकवादी जगत् का मत सबसे पहले सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेज दार्शनिक टॉमस हॉब्स ने प्रतिपादित किया। उसके बाद की शताब्दी में फ्रांस की क्रान्ति से पूर्व डिडेरा, लमेट्रे तथा दहॉल्बाख ने भौतिकवाद का प्रतिपादन जोर-शोर से किया। उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी में हीगलवादी दर्शन ढह जाने के

७२. महाभारत, शांतिपर्व, मोक्षधर्म पर्व, अध्याय १८६, १-३, ८-१२
७३. अर्न्स्ट हेकेल- दि रिडिल ऑफ यूनीवर्स, २२०

बाद मोलेशॉट तथा वॉग्त भौतिकवाद के प्रतिनिधि के रूप में उभरे।

वर्तमान शताब्दी में भौतिकवाद ने प्रकृतिवाद का रूप लिया। प्रकृतिवाद अपने चरम रूप में पदार्थ की धारणा पर कम और ऊर्जा पर अधिक बल देता है। साथ ही इसने उदार अर्थों में प्रयुक्त होकर जगत् को केवल भौतिकी व रसायन पर ही आधारित न मानकर सभी विज्ञानों पर आधारित माना है। अपनी विषय वस्तु में नवीनताएँ होने के कारण इसमें जैविक और मानसिक विज्ञानों में विशेष लक्षणों को स्वीकार किया गया है। इस तरह कहा जा सकता है कि प्रकृतिवाद को विकास में स्तरों के सिद्धान्त की सार्थकता स्वीकार है।

यांत्रिकवाद तथा प्रकृति का यंत्रवादी संप्रत्यय- भौतिकवाद द्वारा परिस्थितियों के अनुरूप बदली गई पोशाक है। इसमें जगत् की जो तस्वीर खींची गई है, वह सरल और आकर्षक है। व्यक्ति को सिर्फ गति में संकलित कणों के बारे में सोचना पड़ता है। यह इन संकलित कणों अथवा परमाणुओं का एकत्रीकरण ही होता है, जो हमारे अनुभव के विषयों को चट्टानों, समुद्र, वायु तथा पशु-पिण्डों को संगठित करता है। शीतल हो जाने से एक समय के अग्निमय पृथ्वी के धरातल पर बहुत जटिल कार्बनिक मिश्रणों को, जिन्हें कोलायड कहते हैं, सम्भव बना देते हैं। और जिसे हम समस्त जीवन में एकक, पौधों, पशु-पिण्डों और सरल कोश में कोलायड को प्राप्त करने के निमित्त अगला कदम मानते हैं। विकासवाद हमें वह प्रणाली बताता है, जिसके अनुसार सरल जीवकोश आकस्मिक परिवर्तनों तथा प्राकृतिक चुनाव के द्वारा पौधों तथा पशुओं के अधिकाधिक जटिल पिण्डों में तब तक विकसित होता जाता है, जब तक कि मनुष्य स्वयं ही बहुत भिन्न तंत्रिका तंत्र से युक्त होकर विचार भावनाओं तथा संकल्प करने योग्य न दिखाई पड़ने लगे।

यांत्रिकवादी सिद्धान्त दर्शन के क्षेत्र में उतना अधिक प्रतिपादित नहीं है। जितना कि विज्ञान के क्षेत्र में यांत्रिकवादियों की जगत् की व्याख्या करने में उतनी रुचि नहीं है, जितनी कि कार्बनिक जीवन को समझाने और मानव मन की व्याख्या करने में। इसके तत्त्वों को जेक्यूस लॉयब की पुस्तक "द मेकेनिस्टिक कॉन्सेप्स ऑफ लाइफ" और डॉ. जी. डब्ल्यू क्राइल की "मैन-एन एडेप्टिव मेकेनिज़्म" में देखा जा सकता है। मनोवैज्ञानिक जो अन्य क्षेत्रों के वैज्ञानिकों की अपेक्षा दर्शनशास्त्र के सम्पर्क में अधिक है, सामान्यतया यांत्रिकवादी संप्रत्ययन को समस्त प्रकृति में लागू करने के पक्ष में नहीं है। लेकिन अमेरिका में भौतिक व्यवहारवादियों का समूह जिसके प्रतिनिधि जॉन बी. वाटसन तथा मेक्स एम. मेयर हैं, जोरदार यांत्रिकवादी है। वे मनोविज्ञान में भी पूरी तरह वस्तुनिष्ठ प्रणाली के पक्षधर हैं। इसे वे व्यवहार का विज्ञान मानते हैं न कि मनस आत्मा अथवा चेतना का विज्ञान।[७४]

यांत्रिकवाद को सर्वाधिक प्रभावित किया है- आधुनिक भौतिकी ने। इस प्रभाव को देखते हुए यह लगता है- जैसे यांत्रिकवादी सिद्धान्त वैज्ञानिक प्रगति के लिए मात्र एक स्तर रहा हो। आइन्सटाइन, हाइजेनवर्ग तथा अन्य प्रतिभावान भौतिकविदों ने इस क्षेत्र में जो क्रान्ति सम्पन्न की, उसके निष्कर्षों के रूप में दिक्-काल सातत्य तथा क्वांटम यांत्रिकता वाला नवीन विश्व, प्राचीन यांत्रिकतावादी मत की कठिनायों से बच निकलता है। नवीन भौतिकी के रूप में आधुनिकतम भौतिकवाद न तो यांत्रिकवादी है और न ही नियतिवादी। दूरी पर क्रिया "इस तस्वीर से बाहर हो चुकी है।" किसी 'आकर्षक गीत' के कारण न तो सेव पृथ्वी पर गिरता है और न चन्द्रमा ही अपनी गति में इसका चक्कर लगाता है। गुरुत्वाकर्षण पिण्डों के एक दूसरे के खिंचाव के कारण नहीं, अपितु स्वयं दिक् की संरचना तथा प्रकृति के कारण होता है। दिक् घुमावदार है, और भौतिक पिण्डों के संसर्ग में उसका घुमाव अधिक तथा भिन्न प्रकार होता है। यथा सम्भव सीधा मार्ग अपनाते हुए नक्षत्रीय तथा लौकिक दोनों ही प्रकार की वस्तुएँ दिक् के इस घुमाव से ही प्राप्त हुई हैं। और वे अन्य पिण्डों के पास उनके घुमाव के विशेष लक्षण के कारण ही पहुँचती हैं।

भौतिकवाद ने अपने रूप और निष्कर्ष बदलते हुए वर्तमान स्थिति तक की प्रगति यात्रा विश्लेषण मार्ग से ही तय की है। शुरूआत से लेकर अब तक के प्रत्येक

---

७४. जान. बी. वाटसन- बिहेवियरिज्म

पग में इस तत्त्व को देखा जा सकता है। इन्द्रियानुभूतियों को मानसिक संवेदनों से ग्रहण करना। ग्रहण किए गए संवेदन तत्त्वों का बौद्धिक विश्लेषण करके निष्कर्ष प्रतिपादित करना। विश्लेषण सिर्फ ग्रहण किए गए संवेदन तत्त्वों का ही नहीं हुआ, बल्कि बाहर के इन्द्रिय प्रत्यक्षों, पदार्थों, वस्तुओं का भी होता रहा। पदार्थ परमाणुओं में विश्लेषित हुआ। परमाणु प्रोटान, न्यूट्रान, इलेक्ट्रान, पाजीट्रान जैसे कणों में। ये कण भी अपने विश्लेषण के दौरान ऊर्जा तरंगों का बाना पहन चुके हैं। ऊर्जा की इन वैद्युत चुम्बकीय तरंगों का स्वरूप क्या है ? इसके उत्तर में हाइजेनवर्ग ने अनिश्चितता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। अतएव यदि यह कहें कि अन्तर व बाह्य विश्लेषण जितने गहरे व सूक्ष्म होते गए, निष्कर्ष भी उतने ही सूक्ष्म प्राप्त हुए। अब तक के गहन व सूक्ष्म विश्लेषण का क्या परिणाम रहा– तो इस प्रणाली के आधुनिकतम सत्यान्वेषियों का जवाब रहा होगा– अनिश्चितता। यानि कि न केवल वे सत्य के बारे में अनिश्चित हैं, बल्कि उन्होंने अब तक जो ज्ञान प्राप्त किया, उसके बारे में भी संशय है। ज्ञान की जिस प्रणाली व प्रणाली के जिस प्रेरक तत्त्व ने अंतिम परिणाम, संशय और अनिश्चितता बताए हों उसकी सार्थकता के बारे में भी यदि कोई शंकित या अनिश्चित बना रहे तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

◆ प्रत्ययवादी दृष्टि

जिस तरह भौतिकवाद विश्व को पदार्थ अथवा भौतिक शक्ति में स्थित मानता है, उसी तरह प्रत्ययवाद उसे मन (चेतना) में स्थित मानता है। भौतिकवादियों की नजर में मन विकास की प्रक्रिया में हुई घटना भर है, जिसका स्वरूप विकसित तंत्रिका तंत्र के अनुरूप होता है। जबकि प्रत्ययवादियों की नजर में न केवल चेतना का अस्तित्व पदार्थ के पूर्व था, बल्कि पदार्थ की उत्पत्ति-रचना व विकास के पीछे इसी चेतना का संकल्प क्रियाशील है। प्रत्ययवादियों के अनुसार यदि तात्त्विक वस्तुओं की खोज-बीन की जाय तो उन्हें पदार्थ की गति-शक्ति में नहीं ढूँढा जा सकता। इन्हें हम अनुभव में, विचार में, विवेक में, बुद्धि में, व्यक्तित्व में, धार्मिक तथा भौतिक आदर्शों में पाएँगे। पदार्थ, भौतिक पिण्ड, भौतिक शक्ति मन के लिए सिर्फ घटना या प्रतीति भर हैं।

कुछ एक अपवादों को छोड़कर समूचे भारतीय दर्शन को प्रत्ययवादी माना जा सकता है। इसके अनेकानेक रूप अपनी समूची गरिमा के साथ यहाँ शोभायमान हैं, फिर भी प्रत्ययवाद को जहाँ अपने विकास का उत्कर्ष व पूर्णता मिलती है, वह वेदान्त है। शंकर पूर्व वेदान्त मत का प्रतिपादन योग वाशिष्ठ जैसे ग्रन्थों में देखने को मिलता है। योग वाशिष्ठ में बताया गया है– संसार के सब पदार्थ कल्पनामय हैं।[७५] वस्तुओं में कल्पना के अतिरिक्त और कोई द्रव्य नहीं है। भौतिक वस्तुएँ खरगोश के सींग की तरह असत् हैं। द्रष्टा के भीतर ही दृश्य का उदय होता है। जाग्रत् अवस्था और स्वप्न अवस्था में कोई विशेष भेद नहीं है, अपितु उन दोनों में घनिष्ठ समानता है।[७६] एक में स्थिर का अनुभव होता है, दूसरे में अस्थिर का। दोनों में बाह्य वस्तु की प्रतीति आदि बातें समान रूप से अनुभव में आती हैं। इस तरह योग वाशिष्ठ के अनुसार जगत् मनोमय है। जगत् को द्रष्टा और दृश्य दोनों का चैतन्य न मानने से दार्शनिक कठिनाई पैदा हो जाती है और देखने वाला दृश्य को कभी जान नहीं सकता। यूरोप के हेगल, ब्रैडले आदि प्रत्ययवादियों ने इसी तरीके को अपनाकर विश्वतत्त्व की एकता साबित की। योग वाशिष्ठकार ने बहुत पहले ही इस बात की पुष्टि की थी। इसे एक दार्शनिक उपलब्धि कहा जा सकता है।

आचार्य शंकर का अद्वैत वेदान्त प्रत्ययवाद का चरमोत्कर्ष है। यहाँ इसके विकास की पूर्णता सहज अपने मोहक रूप में दिखाई पड़ती है। अद्वैत वेदान्त की मुख्य मान्यताएँ तीन या चार ही हैं, अर्थात् (१) एक मात्र तात्त्विक पदार्थ निर्गुण, कूटस्थ नित्य, सच्चिदानन्द ब्रह्म है। (२) जीव और ब्रह्म एक ही हैं। (३) जीव और ब्रह्म में दिखाई देने वाले भेद का कारण अनादि अविद्या है। (४) यह दृश्यमान जगत् माया का कार्य है अतएव मिथ्या है। जगत् के मिथ्यात्व का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। सही कहें तो यही 'मिथ्यात्व' प्रत्ययवाद की पूर्णता है। क्योंकि जहाँ भौतिकवादी अपने

७५. समस्तं कल्पनामात्रमिदं.... ॥ योगवाशिष्ठ ६,२/२१०/११
७६. योगवाशिष्ठ- ४/१९/११

चरमोत्कर्ष में यह मान बैठे, समूचा विश्व, जीव, जगत् सब कुछ पदार्थ ही है, चेतना का कहीं अस्तित्व नहीं। ऐसे में प्रत्ययवादी की अपने चरम विकास में यह मान्यता स्वाभाविक है। *अस्तित्व सिर्फ चेतना का है- पदार्थ कहीं है ही नहीं।* फिर भी कहीं-कहीं आचार्य शंकर उपनिषदों की व्याख्या में स्वीकार करते हैं, ब्रह्म जगत् का कारण है। इसमें चेतना और पदार्थ दोनों को मानने की स्वीकारोक्ति छुपी है। छान्दोग्य (६/२/४) पर भाष्य करते हुए आचार्य कहते हैं- "अंतः जगत् चैतन्य सत् का कार्य करती है, यही मानना ठीक है।"[७७] यहाँ उपनिषद् के अनुरोध से वह ब्रह्म में वास्तविक कारणता मानते हैं। लेकिन पदार्थ की सत्ता को स्वीकारना उनके लिए बड़े संकोच और असमंजस की बात है। अतएव वह कहते हैं, सत् ब्रह्म ही द्वैतादि भेद से अन्यथा गृहीत होता है।[७८] कुछ भी हो प्रत्ययवाद का जितना विकास और उत्कर्ष यहाँ दिखाई देता है, उतना कहीं और उपलब्ध नहीं।

यूरोपीय दर्शन में सबसे प्राचीन प्रत्ययवादी तंत्र प्लेटो का है। प्लेटो के अनुसार वस्तुओं की असलियत इन्द्रियों से नहीं विवेक से जानी जा सकती सम्भव है। विवेक की भिन्नता के कारण अलग-अलग आदमी एक ही वस्तु को अलग-अलग तरह से समझते और स्वीकारते हैं।'आधुनिक प्रत्ययवाद का प्रतिनिधि माने जाने वाले जार्ज बर्कले- वास्तविकता क्या है ? इसके उत्तर में कहते हैं, केवल मन, जीव, आत्मा वास्तविक हैं। आयरलैण्ड के इस दार्शनिक के प्रत्ययवाद को विषयनिष्ठ प्रत्ययवाद कहा जाता है। इसके अनुसार केवल मन का अस्तित्व है। तथाकथित बाह्य वस्तुएँ आत्मा के प्रत्यक्ष मात्र हैं। लाइबिनित्स का प्रत्ययवाद प्लेटो तथा बर्कले दोनों से अलग है। उनका विश्वास था कि हम अपने चारों ओर जिन भौतिक वस्तुओं को देखते और विज्ञान से जिनका अध्ययन करते हैं, उनका मन से स्वतंत्र विषयनिष्ठ अस्तित्व रहता है। लेकिन यदि हम इन वस्तुगत चीजों की जाँच करने पर उतारू हो जाएँ तो पता चलता है कि वे अपने अंतरंग अस्तित्व में मानसिक या आध्यात्मिक होती हैं। लाइबिनित्स के अनुसार जीव-जगत् चिदणुओं से बना है। मनुष्य की आत्मा नियंत्रक चिदणु है। आज के जमाने में भौतिक शास्त्र ने साबित कर दिया है कि परमाणु भले जड़ तत्त्व का अंश हो, पर वास्तव में एक तरह के ऊर्जा तंत्र हैं। इसी तरह लाइबिनित्स के चिदणु न केवल चेतना के कण हैं, बल्कि उनमें मनोवैज्ञानिक ऊर्जा निहित है। ये मनोवैज्ञानिक ऊर्जा केन्द्र हैं। इनसे ही भौतिक पदार्थों का निर्माण हुआ है। मन भी चिदणु है, पर यह भौतिक पिण्ड बनाने वाले चिदणुओं से अलग, उच्चतर आध्यात्मिक सत्ता है।

एक और प्रत्ययवाद है- सर्व चित्तवाद। इसके अनुसार हर वस्तु के पास मन होता है। मन ऐसी कोई चीज नहीं, जो विकास की जटिल प्रक्रिया में गुजरने के बाद मिले। यह तो समस्त प्रकृति में सार्वभौम है। अब यदि हम यह सोचें कि प्रत्येक कण कुछ न कुछ मानसिकता लिए हैं, तो जरूर यह सवाल पूछ बैठने का मन करेगा कि इस मानसिकता का भौतिक अंग से क्या सम्बन्ध है ? सर्वचित्तवाद इसका उत्तर देगा, कि असलियत में तो कण की प्रकृति मनोवैज्ञानिक है। भौतिक अंग तो सिर्फ उसका प्रपंचात्मक पहलू है। इस तरह जगत् की वास्तविकता भी चेतना में है, बाहर प्रतीति भर है। इस मत का सबल तथा रूचिकर विवरण पाल्सन की किताब 'इन्ट्रोडक्शन टू फिलॉसफी' में डब्ल्यू. के. विलफर्ड, सी.ए. स्ट्रांग की पुस्तक 'व्हाई द माइंड हैज ए बाडी' में पढ़ा जा सकता है। सर्वचित्तवाद को अपने दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करने वाले जर्मन दार्शनिक फेखनर कहते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य की आत्मा का परिधान मनुष्य का शरीर है। उसी तरह यह समूचा विश्व ईश्वर का दृश्यमान वस्त्र है।

और इस तरह काल के धंड-धड़ करघे पर मैं बुनता तब परिधान।

जिसको पहले देखा करते इस ईश्वर को॥[७९]

शॉपेनहावर अपने ग्रन्थ 'द वर्ल्ड ऐज विल एण्ड आइडिया' में प्रत्ययवाद का एक नया स्वरूप उजागर करते हैं-

---

७७. .. अतः चेतनात्व कारणं जगत् इतिसिद्धम् .... छान्दोग्य ६/२/४- शंकरभाष्य

७८. सत एव द्वैतभेदेन अन्यथा गृह्यमाणात्वात्- छा. भा. ६/२/३

७९. कार्लाइड- सेक्टर रिसार्टस, बुक III, अध्याय IX, गेटे की पुस्तक के सम्बन्ध में

संकल्पात्मक प्रत्ययवाद। उनके अनुसार- मेरा शरीर मेरे संकल्प की बाह्य अभिव्यक्ति ही है। और यह जगत् केवल मेरा ही विचार नहीं, अपितु इसका आधार एक वस्तुगत वास्तविकता अर्थात् निरपेक्ष संकल्प है। शॉपेनहावर के प्रत्ययवादी दर्शन का मूल स्रोत काण्ट हैं। काण्ट अपनी सुविख्यात रचना 'क्रिटिक ऑव प्योर रीजन' में कहते हैं- हम इस जगत् को ठीक जैसा जानते हैं, वह हमें जानने वाले के मानसिक ढाँचे के द्वारा मुहर लगने के बाद ही पता चलता है। संवेदनों पर मन की क्रिया होने के परिणाम स्वरूप ही ज्ञान होता है। किन्तु ये संवेदन कहाँ से आते हैं? काण्ट उत्तर देते हैं डिन्ग एनजिश (वस्तु अपने आप में)। ऐसा नहीं है कि मन के अलावा किसी और वस्तु के महत्त्व को नहीं मानते। फिर भी उनके द्वारा किए गए अन्तिम विश्लेषण में हम नहीं जानते कि वास्तविक क्या है। उनके द्वारा बताई गई नैतिक स्थिति हमें सैद्धान्तिक ज्ञान से अवगत नहीं कराती। लेकिन जोरदार ढंग से यह बताती है कि किसी न किसी प्रकार वह हमारे अंतर्तम की आध्यात्मिक सत्ता के समान ही है।

जगत् क्या है? वास्तविकता क्या है? यदि हम हीगल से ये सवाल करें, तो जवाब मिलता है, वास्तविकता विचार अथवा तर्क बुद्धि है। जगत् एक महान् विचार प्रक्रिया है। हीगल के अनुसार वह ईश्वर चिन्तन है। उनके ये विचार सूत्र ही निरपेक्ष प्रत्ययवाद का स्वरूप गढ़ते हैं। और भी रूचिकर आधुनिक प्रत्ययवाद के एक रूप का विशेष उल्लेख यहाँ करना उचित होगा- जिसे व्यक्तिवाद के नाम से जाना जाता है। इसके प्रणेता बोर्डन, पी. बाउने, जी.एच. हावीसन जैसे मनीषी हैं। इसका आधार व्यक्तित्व का निर्विरोध तथ्य है। एक बात जिस पर संदेह नहीं कर सकते, वह है व्यक्ति की तरह अपना अस्तित्व तथा समाज का एक सदस्य होना। यह दर्शन व्यक्तित्व, स्वातंत्र्य, आत्म निश्चय, नैतिक उत्तरदायित्व तथा एक ऐसे व्यक्तिगत ईश्वर का अस्तित्व जो हमारे साथ बुराई पर विजय पाने के लिए संघर्ष तथा प्रयास करता हो, पर बल देता है। इसमें एक तत्त्ववादी लक्षण लुप्तप्राय है। आत्माओं के समाज में आत्मा की विशेष वैयक्तिकता और अनूठेपन ने इसे बहुतत्त्ववादी मोड़ दिया है।

प्रत्ययवाद ने अपने स्वरूप व विकास के समय-समय पर कितने ही रूप क्यों न प्रस्तुत किए हों पर इनमें से प्रायः सभी ने संश्लेषण द्वारा ज्ञान पाने की कोशिश की है। संश्लेषण का मतलब है, इन्द्रियों की शक्तियों को एकाग्र व अन्तर्मुखी करके मन में समाहित करना और मन को आत्म-चेतना में मिला देना। इस तरह समूची सत्ता को एकजुट करके ज्ञान को उपलब्ध करना। ठीक भी है जब तक समूची सत्ता संश्लेषित हो एकजुट नहीं होगी, तब तक उपलब्ध सत्य भी एकांगी और आधा अधूरा होगा।

संश्लेषण के तत्त्व को स्वीकार करने वाले इन सभी ने विश्लेषण के विरोध में अपने तर्क प्रस्तुत किए हैं। ब्रैडले के अनुसार-" परन्तु इन्द्रियों का पर्दा धोखा धड़ी और ठगी है। यदि वह परमाणुओं की कुछ रंगहीन गति, अग्राह्य अभूत छायायों के कुछ प्रेततुल्य बाने अथवा रक्तहीन वर्गों की कुछ अमानवीय लीला को छुपा लेता है। इस प्रकार के परिणामों के खिंच आने पर भी हम उनको आत्मसात नहीं कर सकते। हमारे सिद्धान्त सच हो सकते हैं, पर वे सद्वस्तु नहीं हैं। वे उससे अधिक पूर्ण नहीं बनते, जो कि हमारी आस्था बनाती है। जितना मानव लोथड़ों का छिन्न-भिन्न विश्लेषण वह उष्ण और प्राणमय सौन्दर्य है- जिसको कि हमारे हृदय सुखदायक पाते हैं।"[८०] बर्गसां ने लिखा है- "दर्शन पूर्ण में डूब जाने का एक प्रयत्न मात्र हो सकता है।"[८१]

लेकिन सही कहा जाय तो वस्तुवादी और प्रत्ययवादी दोनों की भूलें एक जैसी हैं। दर्शन में विश्लेषण को सब कुछ मान लेना उतना ही एकांगी है, जितना कि उसे बहिष्कृत कर देना। विश्लेषण किए बगैर अनुभव एक गहरी खाई में आँखें मूँदकर कूदने के समान है। वह सद्वस्तु को एक धुंधलाहट भरी पूर्णता और मरी हुई एकता के रूप में पाता है। दूसरी ओर शुद्ध विश्लेषण अनुभव के परिवर्तनशील और छिन्न-भिन्न टुकड़ों को

८०. ब्रैडले- लाजिक, पृ. ५९१
८१. बर्गसां- क्रीयेटिव एवाल्यूशन, पृ. २०२

एकता को गँवा बैठता है। साक्षात्कार के साथ अनुभव का भली प्रकार वर्णन करना भी दार्शनिक का जरूरी कर्त्तव्य है। साक्षात्कार तभी सम्भव है, जब इन्द्रियों को इधर-उधर भटकने से रोक कर मन में समाहित किया जाय। मन अन्तःकरण के तत्त्वों के साथ मिलकर आत्मा में समाहित हो। इस व्यापक संश्लेषण का परिणाम ही साक्षात्कार है। लेकिन साक्षात्कार में हुए अनुभव का लेखा-जोखा तैयार करने के लिए विश्लेषण अनिवार्य है। अतएव यही कहना होगा कि वस्तुवादी और प्रत्ययवादी दोनों ही प्रणालियाँ अपने आधे-अधूरेपन के कारण एकांगी है। इस कारण इन दोनों दृष्टियों से जो कुछ देखा गया है, वह भी अपूर्ण और एकांगी ही है। ऐसे में जरूरी यही है कि "सार्वभौम वास्तविकता के और भी अधिक संगत और सन्तोषजनक मत के लिए रास्ता खोल दिया जाय।"[८२]

◆ सर्वांगीण प्रणाली की शोध-एक अनिवार्य आवश्यकता

लेकिन रास्ता तो तब खुले, जब ज्ञान की प्रणाली सर्वांगीण हो। आधी-अधूरी एकांगी प्रणालियाँ, जिन्दगी की तस्वीर भी अपूर्ण व एकांगी प्रस्तुत करेंगी। हुआ भी यही है। जिन्दगी के न जाने कितने सवाल अनुत्तरित छूट गए। इन्सान इस समझ में वंचित रह गया, कि वह स्वयं में क्या है? उसे क्या करना चाहिए? और क्यों करना चाहिए? अपूर्ण पद्धतियों से उपलब्ध ज्ञान को यदि अपने अधूरेपन की समझ रहती तो भी खैर थी। विडम्बना तो तब पनपी जब अधूरेपन ने अपने पूरे होने का दम्भ किया। शरीर का एक हिस्सा यदि मान बैठे कि मैं ही समूचा शरीर हूँ। यह मान्यता यदि यहाँ बढ़-चढ़ जाय कि चूँकि मैं ही सब कुछ हूँ, इसलिए दूसरे अंगों को अस्तित्व में रहने का हक नहीं। हर अंग अवयव की परस्पर विरोधी सोच से उपजी खींचतान से बेचारे शरीर की जो दुर्दशा होगी, कल्पना करके ही मन में सिहरन भरी कंपकपी छूट जाती है। आज मानव जीवन में यही कल्पना साकार हो रही है। उसके अस्तित्व के चिथड़े उड़ रहे हैं।

क्यों हुआ ऐसा? क्यों पनपा विरोध? भावना ने बुद्धि को दोष दिया तो बुद्धि ने भावना को कुचलने-रौंदने में कोर-कसर नहीं छोड़ी। विचारों ने कर्म को मूढ़ कहा तो कर्मठता ने विचारशीलता को अकर्मण्य आलसी ठहरा दिया। इस तरह शरीर और मन में ठन गई। मन में गृह युद्ध कम नहीं हुए, कम नहीं हो रहे। मतवादों ने एक-दूसरे को समाप्त करने, सारी मनोभूमि पर अकेले कब्जा जमाने की ठान ली है। लड़ाई क्रिया के धरातल पर भी है। वैज्ञानिक प्रयोगों को आध्यात्मिकता उन्मादी ठहराती है। वैज्ञानिकता ने अध्यात्मिक प्रक्रियाओं को अंधे होने का खिताब दे रखा है। चारों तरफ टकराहट, विरोध, अन्तर्द्वन्द्व की उधेड़बुन उपलब्ध ज्ञान की परिणति बन गई है। ज्ञान के जिन सूत्रों को आपस में बुनकर चादर बनाई जा सकती थी, मानवता का तन ढँका जा सकता था। वे ही आज आपस में उलझकर खुद टूट रहे हैं, औरों को तोड़ रहे हैं।

इसका कारण जानने के लिए-ज्ञानियों की भूलें समझने के लिए हमें मानवीय व्यक्तित्व के विकास और इसकी संरचना के हर कदम को समझना होगा। "काल क्रम के अनुरूप उसकी सभ्यता का स्वरूप देखने पर स्पष्ट होता है कि प्रारम्भिक स्तर में मानव शरीर की दृष्टि से तो विशालकाय था पर कल्पना व विचारणा की दृष्टि से मन्द था। इस समय प्रधानता शरीर बल की ही थी। परिवर्द्धित प्राण, सुपुष्ट शरीर ही विकसित होने की पहचान था। पी. लियरमैन 'मोर ऑन ह्यूमन इवाल्यूशन' में कहते हैं कि इस काल में शारीरिक वीरता ही सर्वश्रेष्ठ गुण था। आवश्यकता भी इसी की थी। मनुष्य को शरीर बल के सहारे ही सिंह व्याघ्र से लड़ना पड़ता था। एम. स्टैनफोर्ड ने 'लिंग्विस्टिक एन एनालिटिकल एप्रोच' में वरच्यू शब्द की उत्पत्ति 'विर' से बतायी है जो संस्कृत के वीर शब्द से बना है। इसके विश्लेषण में उनका कहना है सभ्यता के उदय काल में वीरता का स्थान सर्वोपरि था। शरीर बल की ही प्रधानता रही। प्रतिभा पुरुषार्थ का यही अकेला क्षेत्र था।

इसके बाद मानसिक संकल्पना व भावना का उदय हुआ। प्रकृति का सिद्धान्त है जिस तत्त्व की उपयोगिता समझी जाएगी, आवश्यकता अनुभव की जाएगी और प्रयोग में लायी जायी जाएगी वह बढ़ेगी,

---

८२. विलियम मार्टन व्हीलर- इमरजेण्ट इवाल्यूशन एण्ड द डेवलेपमेण्ट ऑफ सोसाइटीज, पृ. ७४

मजबूत होगी। मनुष्य के सम्बन्ध में यही हुआ। शरीर बल को गौण, चिन्तन को श्रेष्ठ माना जाने लगा। भावनाएँ उदय हुईं।... इसी समय प्रथम काव्य मुखरित हुआ, वेदों की ऋचाएँ गूँजी। ...मन का विकास होने पर शरीर कहीं चला गया हो ऐसा नहीं, उसका अस्तित्व बरकरार रहा पर आवश्यकतानुरूप। एक चीज अवश्य घटित हुई। शरीर को मन का अनुगामी बनना पड़ा। पहले जहाँ शारीरिक शक्तियों का ही गुणगान होता था अब मानसिक शक्तियों का वर्चस्व स्वीकारा गया।[८३]

उस समय ज्ञान की जो प्रणालियाँ विकसित हुईं वह भावना, कल्पना व क्रिया के अन्तर्सम्बन्धों को लेकर हुईं। आध्यात्मिक प्रणाली संबोधि प्रणाली को इसी युग की उपज कहा जा सकता है। निश्चित ही उन दिनों इनसे समयानुरूप समाधान प्राप्त हुए। जिन्दगी को समझा गया। पर बाह्य प्रकृति में जिस तरह परिवर्तन व विकास का दौर चलता रहता है। अन्त:प्रकृति को भी उसी दौर से गुजरना पड़ता है। ''इस विकास के आयाम में एक नया आयाम आया, बौद्धिक विकास का। इस काल में तरह-तरह के अन्वेषण हुए। सभ्यता ने नया रूप लिया। काव्य के स्थान पर विज्ञान प्रकाश में आया। भावना के स्थान पर बुद्धि का वर्चस्व हुआ। पुरानी मान्यताएँ टूटीं, नए आधार गढ़े गए। ...बुद्धि अपने रंग-बिरंगे रूपों में सामने आयी। भावनामय युग की मान्यताएँ एक-एक करके अस्वीकृत होने लगीं। यही है वह काल जिसे हम वर्तमान कह सकते हैं।''[८४] दार्शनिक एवं वैज्ञानिक प्रणालियाँ इसी युग की देन हैं। बौद्धिक उपलब्धि के रूप में ये सराहनीय तो हैं, पर इनमें भावना, कल्पना, विचारशीलता, तर्क प्रवणता, क्रिया के सम्बन्ध सूत्र टूट उलझ गए हैं। एक दूसरे को नकारने की प्रथा-परम्परा इन प्रणालियों में देखी जा सकती है। परस्पर विरोध के दर्शन यहाँ किए जा सकते हैं। ऐसा सिर्फ इसलिए हुआ क्योंकि बुद्धि ने भावना को इन्कारने की, आत्मा को अस्वीकारने की भूल कर दी। जबकि उसे भावना को स्नेह देना चाहिए था और आत्मा को सम्मान। अस्तित्व को समग्र बनाकर ही समग्र ज्ञान की अनुभूति सम्भव है। ज्ञानियों की भूल को दूर करने के लिए ज्ञान की सर्वांगीण प्रणाली एक अनिवार्य आवश्यकता बन गई है।

इस प्रणाली की शोध में हमें न केवल अस्तित्व और उपलब्धियों के पिछले विकास को ध्यान में रखना होगा, बल्कि विकास की भवितव्यता पर भी दृष्टि रखनी होगी। ताकि प्रणाली अपनी शाश्वतता बरकरार रख सके। '' क्योंकि वर्तमान समय भी अपने विकास का अनिवार्य चरण है, इसे आना ही था। किन्तु यह अन्तिम नहीं है। यह तो केवल बीच की एक कड़ी भर है। अब प्रश्न यह बचता है कि क्या बनने जा रहा है मनुष्य? इसका उत्तर बहुत आसान है। गीता की भाषा में कहें- ''बुद्धे परतस्तु सः।'' अर्थात् बौद्धिक सभ्यता के बाद आध्यात्मिक सभ्यता। यह आध्यात्मिक सभ्यता शब्द बिल्कुल नवीन है। पिछले सतयुग में अथवा वर्तमान तक व्यक्ति आध्यात्मिक हुआ करते थे। सभ्यता आध्यात्मिक हुई, ऐसा कभी सुना नहीं गया और सुना भी नहीं जा सकता था। शारीरिक, प्राणिक युग में कोई अध्यात्म का नाम तक नहीं जानता था। भावनामय युग अथवा सतयुग में व्यक्ति आध्यात्मिक हुए। व्यक्ति को आध्यात्मिक बनाने के लिए तरह-तरह की प्रणालियाँ खोजी गईं। जिनका अवलम्बन करके व्यक्ति आध्यात्मिक हो सकता था। पर पूरा समाज आध्यात्मिक हो यह अभी तक के मानव के लिए नयी बात है, पर है सत्य।

फिर मनुष्य की बुद्धि, मन व शरीर का क्या होगा? इस प्रश्न का जवाब है मन का विकास होने पर शरीर लुप्त नहीं हुआ। वरन् उसे मन का अनुगामी बनना पड़ा। बुद्धि के विकास पर मन व शरीर लुप्त नहीं हुए। पर उनकी क्रिया विधि में व्यापक फेर बदल हुई। इस स्थिति में बरबस बुद्धि की आज्ञाकारिता स्वीकारनी पड़ी। मन व शरीर दोनों बुद्धि के सेवक हो गए। अब बारी बुद्धि के सेवक बनने की है। उसे आत्मा का सेवक बनना होगा। मन व शरीर भी इसी का अनुगमन करेंगे। दूसरे शब्दों में इसे यह भी कह सकते हैं कि समूची मानवी सत्ता आत्मा की अनुगामिनी बनेगी।[८५] इस भवितव्यता को समझकर ही नयी प्रणाली के विकास की सार्थकता सिद्ध हो सकेगी।

---

८३. आचार्य श्रीराम शर्मा- आ रहा है अध्यात्म प्रधान युग, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५२, अक १०, पृ. २५

८४. वही, पृ २६

८५. आचार्य श्रीराम शर्मा- आ रहा है अध्यात्म प्रधान युग, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५२, अक १०, पृ. २६

ध्यान यह भी रखना है कि सर्वांगीणता का मतलब प्रचलित प्रणालियों का गठजोड़ नहीं है। लेकिन प्रचलित प्रणालियों के सारे आवश्यक और उपादेय तत्त्वों का इसमें उचित स्थान होना चाहिए। उदाहरण के लिए शरीर में नाक, कान, मुँह, सिर, हाथ, पैर आदि अंग अवयव होते तो हैं। फिर भी इन अंग अवयवों के ढेर को अथवा इनकी उलटी-सीधी जोड़-गांठ को शरीर नहीं कहा जा सकता। जिस तरह शरीर रचना, विधाता के मौलिक सौन्दर्य की सार्थक अभिव्यक्ति है। ठीक उसी तरह से सर्वांगीण प्रणाली को मानव मनीषा के मौलिक सौन्दर्य की सार्थक अभिव्यक्ति सिद्ध होना चाहिए।

आचार्य श्रीराम शर्मा की सर्वांगीण प्रणाली

आचार्य जी की दार्शनिक प्रणाली इसी सौन्दर्य के कारण दर्शनीय है। इसमें किसी प्रणाली अथवा उसमें निहित तत्त्वों की न तो अवहेलना है न ही उपेक्षा। ये सभी तत्त्व आपसी वैर-भाव भूलकर यहाँ आपसी सामंजस्य की सृष्टि करते देखे जा सकते हैं। उनकी प्रणाली में इस मौलिक धारणा पर बल है कि अनुभव समस्त दर्शन का आधार है। अनुभव की समग्रता ही दर्शन को समग्र बनाएगी। दर्शन को भी इन्द्रियगत, आध्यात्मिक और गुह्य अनुभव से रीता नहीं रहना चाहिए। अध्यात्म व दर्शन का सम्बन्ध घनिष्ठ है, क्योंकि दोनों परम सद्वस्तु तक पहुँचते हैं। विज्ञान भी विरोधी नहीं है, कारण कि उसकी चेष्टा उसी ओर पहुँचने की है। मार्ग का भटकाव भले उसकी देरी का कारण बन रहा हो। उनकी इस स्वीकारात्मकता ने ही सामंजस्य और उससे उपजी समग्रता का मौलिक सृजन किया है। वैचारिक संघर्ष के वर्तमान युग को इसी की जरूरत भी थी। उनके द्वारा किया गया यह प्रयास सिर्फ बौद्धिक सूत्रों का ताना-बाना भर नहीं है। वे वेदों की ऋचाओं, उपनिषद् की श्रुतियों के दृष्टा की भाँति क्रान्तिदर्शी हैं। इस प्रणाली के आधार पर की गई साधना के बल पर सत्य की गंगात्री उनका आवास बनी थी। यहाँ पर पायी गई अनुभूतियों और उपलब्धियों को उनकी प्रखर प्रज्ञा ने सर्वांगीण अभिव्यक्ति दी है। प्रणाली की रचना, उससे की गई समग्र सत्य की अनुभूति और इसकी परिपूर्ण ज्ञान के रूप में अभिव्यक्ति अपने में लयबद्ध संगीत है। जिसको निम्न बिन्दुओं के आधार पर सुना समझा और आनन्दित हुआ जा सकता है।

◆ बुद्धि की व्यवस्था

बुद्धि और ज्ञान- सुनते ही लगता है एक आयी- दूसरा मिला। आम सोच भी यही है, जो जितना बुद्धिमान है, उसे उतना ही ज्ञानी होना चाहिए। जबकि तात्त्विक बोध की गहराइयों में इस तथ्य का स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है कि "मानसिक संकल्पना के इस समस्त श्रम की उपयोगिता मानव मस्तिष्क को शिक्षित करने और उसके सम्मुख किसी परात्पर और परम का विचार रखने में है, जिसकी ओर उसको अवश्य ही घूमना चाहिए। परन्तु बौद्धिक तर्क उसकी ओर केवल अस्पष्ट संकेत कर सकता है, भटकते हुए अनुभव कर सकता है। अथवा उसके यहाँ प्रादुर्भाव के परस्पर विरोधी और एकांगी पहलुओं की ओर संकेत करने की चेष्टा कर सकता है, वह उसमें प्रविष्ट होकर उसे जान नहीं सकता।"[८६] जाने भी कैसे- अकेली बुद्धि अपने निर्णयों में किसी आखिरी निश्चय तक नहीं पहुँच सकती। क्योंकि यह न तो मूल तक जा सकती और न पूर्ण को उपलब्ध कर सकती है। अपने एकाकीपन में बुद्धि तो एक दुर्बल यंत्र मात्र है, वह हमें केवल इन्द्रियों के घेरे में रहने वाला ज्ञान दे सकती है।[८७] इस आधे-अधूरे ज्ञान से न जीवन को गति मिलेगी और न ही शक्ति। विचार कितना भी इन्द्रिय दोषों, इच्छाओं, पुराने सहचर्य और बौद्धिक पक्षपातों से युक्त हो पर असरकारक तभी हो सकेगा, जब उसके साथ अनुभव, साक्षात्कार और दिव्य दृष्टि जुड़ी हुई हो। बौद्धिकता नहीं सिर्फ उच्चतर सम्बोधि ज्ञान ही निम्न सम्बोधि का निर्णायक साबित हो सकती है।

अपने अकेलेपन में बुद्धि के दोष तमाम है। यह संशय-अनिश्चय और संदेह से पूरी तरह घिरी है। यही क्यों इसे इस बात का भी दंभ है कि इसमें बुद्धेत्तर तत्त्वों

---

८६ श्री अरविन्द, दि रिडिल ऑव द वर्ल्ड, पृ २४

८७. स्वामी विवेकानन्द- विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. १५२

को जांचने की सामर्थ्य है। अतिभौतिक तत्त्वों की भौतिक प्रमाणों की मांग में भी इसी दंभ की झलक देखी जा सकती है। परन्तु ये सभी दोष उसी स्थिति में प्रचुरता से देखने को मिलते हैं, जबकि बुद्धि अपनी साधारण और अप्रकाशित अवस्था में अकेली हों। सर्वांग प्रणाली के प्रणेता आचार्य जी ने बुद्धि तत्त्व के इस स्वरूप को समझकर "धियो यो नः प्रचोदयात्" के विज्ञान को सर्व सुलभ बनाया है। बुद्धि को प्रकाशित और दिव्य बनाने की व्यवस्था रची है। सर्वांग प्रणाली में इसके इसी स्वरूप को सम्मानित स्थान प्राप्त है।

हो भी क्यों न? जिस तरह अपरिमार्जित और असंयमित प्राण के अनगिनत स्वाभाविक दोषों के कारण परिष्कृत व परिमार्जित प्राणशक्ति का मूल्य कम नहीं हो जाता, उसी प्रकार अप्रकाशित एकांगी बुद्धि को असफलताओं के कारण बुद्धि मात्र को त्याग देने का अधिकार नहीं मिल जाता। समग्र सत्य के जिज्ञासु को यह जान लेना चाहिए कि सत्ता के किसी महत्त्वपूर्ण भाग को सर्वथा उपेक्षित कर देने पर परिणाम भी एकांगी और अपूर्ण मिलेंगे। हां यह बात अवश्य है कि इस प्रयास में नियोजित होने वाली सत्ता के सारे अंग अवयव परिमार्जित और परिशोधित होने चाहिए। ऐसा हो सके और यदि बुद्धि समर्पित, मुक्त, शान्त और उन्मुख है तब कोई कारण नहीं है कि वह क्यों प्रकाश के पाने का साधन अथवा आध्यात्मिक अवस्थाओं के अनुभव और एक आन्तरिक परिवर्तन की पूर्णता में सहायक न बन जाये।[८८] सर्वांग प्रणाली में बुद्धि की इसी अवस्था को स्वीकार करते हुए आचार्य जी कहते हैं- "तत्त्व और अतत्त्व का, सत्य और असत्य का, श्रेय और अश्रेय का जो बुद्धि निर्णय देती है, हमें क्या करना क्या न करना चाहिए, इसका निर्णय दिव्य प्रकाश के आधार पर करने वाली ऋतम्भरा बुद्धि एक ऐसी अद्भुत शक्ति है, जिसकी तुलना में विश्व की कोई और शक्ति मनुष्य के लिए हितकारी नहीं।"[८९] प्राणात्मक और भौतिक माध्यम यदि प्रकाश पाने के साधन बन सकते हैं, तब कोई कारण नहीं कि विचारशील मन उसे न पा सके। जरूरी सिर्फ इतना है कि विचार स्वयं को साक्षात्कार का साथी बनाएँ। तमसाच्छादित बुद्धि में चाहे कितना चातुर्य क्यों न हो, उससे मनुष्य का सच्चा हित नहीं हो सकता और न उससे आत्मिक सुख-शान्ति के दर्शन हो सकते हैं।[९०] प्रकाशित स्थिति में यह ऊर्ध्वमुखी और अन्तर्मुखी चक्षु के रूप में सक्रिय हो जाती है। इसकी ज्योतिर्मय शक्ति अनेकों गुप्त असीम शक्तियों के रहस्य का साक्षात्कार करने लगती है।

आचार्य जी की प्रणाली में इसका एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य है, अन्वेषित सत्य की व्याख्या। इस रूप में इसे व्यवस्थापक का दर्जा मिला हुआ है। व्याख्या और कुछ नहीं सत्य के प्रकटीकरण की व्यवस्था भर है। सत्य जितना समग्र अभिव्यक्ति भी उतनी ही समग्र होनी चाहिए। अपनी प्रकाशित स्थिति में यह इस जिम्मेदारी को वहन करने में पूर्णतया सक्षम और समर्थ है। श्री अरविन्द के शब्दों में कहें तो- "बुद्धि स्वयं हमको मूर्त आध्यात्मिक सद्वस्तु के संसर्ग में लाने योग्य नहीं है। परन्तु वह आत्मा के सत्य को एक मानसिक रूप में ढालकर सहायता दे सकती है, जो कि उसकी मानस से व्याख्या करती है तथा एक और भी अधिक प्रत्यक्ष खोज में लगाई जा सकती है।"[९१] इसे दुर्भाग्य ही कहेंगे कि उच्चतर सत्यों का बौद्धिक अनुवाद होने पर वे छिन्न-भिन्न, टूटे-फूटे और परस्पर विरोधी समझ पड़ते हैं। इसका यथार्थ कारण प्रणालियों की अपूर्णता रही है। आचार्य जी की सर्वांग प्रणाली इस दोष के निवारण, निराकरण का सफल प्रयास है। इसमें बुद्धि की बहुमुखी प्रगति की योजना है। जिसे स्वीकार करने पर आन्तरिक एवं बाह्य जीवन गहराई और विस्तार में आगे बढ़ता है। जहाँ एक ओर आत्म ज्ञान एवं परमात्म साक्षात्कार की नूतन सम्भावनाएँ खुलती हैं, वहीं बाह्य जीवन में आध्यात्मिक चेतना का जागरण सुनिश्चित हो जाता है। आचार्य जी के शब्दों में कहें तो "मनुष्य सद्बुद्धि का आश्रय ग्रहण करके चेतना के उच्च

---

८८. श्री अरविन्द- लेटर्स ऑन योग, पृ. ३७
८९. आचार्य श्रीराम शर्मा- चैतन्यता की गंगोत्री- गायत्री, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५२, अंक २, पृ. ४९
९०. वही,
९१. श्री अरविन्द- द लाइफ डिवाइन भाग २, पृ. ७१३

धरातल पर पहुँच सकता है, भ्रान्तियों पर विजय पा सकता है।''[92] इस तरह आध्यात्मिक प्रकाश के लिए एक व्यापक आधार प्रस्तुत किया जा सकता है।

◆ तर्क का स्थान

मानवीय अन्त:करण में तीन शक्तियाँ सक्रिय हैं, कल्पना शक्ति, विचार शक्ति एवं निर्णय शक्ति। इनमें से प्रथम को मन, दूसरी को बुद्धि एवं तीसरी शक्ति को तर्क के नाम से जानी जाती है। प्रचलित अर्थों में तर्क, बुद्धि के ही विकास और विस्तार का एक रूप है। लौकिक सत्यों के निर्णयों में इसे अकुण्ठित भाव से क्रियाशील देखा जा सकता है। लेकिन ''परम सद्वस्तु बौद्धिक तर्क से आगमन अथवा निगमन प्रणाली द्वारा नहीं जानी जा सकती जो कि नाम और रूप के तत्त्वों के विचार से बढ़ता है और उसको अपना मानदण्ड बना लेता है। एक अबोध अहंज्ञान, सम्पूर्ण ज्ञान की गतियों का अनुसरण नहीं कर सकता।''[93] इसी तथ्य को कठ श्रुति ने नैपामति तर्केणरापनेया[94] तथा वेदान्त सूत्रकार ने तर्क प्रतिष्ठानात्[95] कहकर प्रकट किया है। आचार्य जी के अनुसार- ''तर्क अर्थात् उलझाव से एक और अधिक उलझाव की ओर''[96] इसका कारण एक ही है, भौतिक संसार के नियम अतिभौतिक तत्त्वों पर लागू नहीं हो सकते। जड़ पदार्थों के नियमों से मानव मन की व्याख्या नहीं की जा सकती। सीमित, असीम का, विखण्डित, अखण्डित का विवेचन-मूल्यांकन नहीं कर सकता।

तब फिर सर्वांग प्रणाली में तर्क का क्या स्थान है? परिपूर्ण ज्ञान को पाने में इसकी क्या उपयोगिता है? यह अपने में सर्वोच्च प्रकाश भले न हो, फिर भी अपने परिष्कृत स्थिति में प्रकाशवाहक तो है ही। यही वह बिन्दु है, जहाँ भारत की दार्शनिक परम्परा, पश्चिम की दार्शनिकता से भिन्न है। भारत में तर्क को तथ्य की खोज का साधन नहीं बनाया गया। यहाँ यह सिर्फ सत्य की अभिव्यक्ति के समर्थ माध्यम के रूप में स्वीकार्य है। इसे सत्य की खोज का साधन नहीं भ्रान्तियों के निवारण-निराकरण का साधन माना गया है। जबकि पश्चिम ने सीमित तर्क-बुद्धि के सहारे सत्यान्वेषण के प्रयास किये और परिणाम में सत्य अज्ञेय बना रहा। यों प्रत्यक्ष में आचार्य शंकर और ब्रैडले दोनों एक जैसे तर्क करते समझ पड़ते हैं। परन्तु एक का उद्देश्य समाधि अवस्था में स्वानुभूत सत्य को बताना, उस ओर प्रेरित करना है, जबकि दूसरे का प्रयास कोरी तार्किकता के सहारे सत्य को पाना है। उपनिषद् हो या पूर्व के सत्यान्वेषी जब तर्क को निरर्थक कहते हैं- तब उनका मकसद इसकी अवमानना अथवा उपेक्षा करना नहीं बल्कि सत्य को पाने में कोरे तर्क की असमर्थता बताना भर है।

असीम की विश्व प्रक्रिया और सनातन की काल प्रक्रिया को ठीक-ठीक समझने के लिए इसके परिशोधन व विकास की जरूरत है। आचार्य जी की प्रणाली में यह इसी परिशोधित और विकसित रूप में स्वीकार किया गया है। श्री अरविन्द भी इस ओर इंगित करते हुए कहते हैं ''चेतना को इस सीमित बुद्धि और सीमित अनुभव से एक बृहत्तर तर्क आध्यात्मिक अनुभव की ओर जाना चाहिए जो कि असीम की चेतना के सम्पर्क में और असीम के तर्क के अनुकूल हों, जो कि स्वयं सत् का तर्क है और उसकी स्वयं अपनी सद्वस्तुओं की आत्म प्रक्रिया से उठता है, एक ऐसा तर्क जिसका क्रम विचारों की सीढ़ियाँ नहीं बल्कि अस्तित्व की श्रेणियाँ हैं।''[97] आचार्य जी के अनुसार- सत्य हृदय की सम्पदा है, भावों की पेटी में छुपा है।[98] अतएव बुद्धि को भाव संवेदनाओं के साथ जोड़ा जाना चाहिए।[99] भाव संवेदना का अर्थ

---

९२. आचार्य श्रीराम शर्मा- कोरा बुद्धिवाद हमें ले डूबेगा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५२, अंक ३, पृ. १९
९३. श्री अरविन्द- एवाल्यूशन, पृ. २९
९४. कठ उपनिषद
९५. वेदान्त सूत्र
९६. आचार्य श्रीराम शर्मा- क्षमतावान नहीं प्रतिभावान, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक १२, पृ ४१
९७. श्री अरविन्द- द लाइफ डिवाइन भाग २, पृ. २२०
९८. आचार्य श्रीराम शर्मा- क्षमतावान नहीं प्रतिभावान, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक १२, पृ. ४१
९९. आचार्य श्रीराम शर्मा- श्रद्धा सवर्धन से ही नाव पार लगेगी, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५२, अंक ८, पृ. ५

है- अस्तित्व की गहराइयाँ, जहाँ व्यापकता है, सूक्ष्मता है, और है गहनता। ऐसा हो सकने पर "वह उन समस्त तत्त्वों को देखता है, जिनको पकड़ने में हमारा निरीक्षण असफल होता है। वह उनसे ऐसे परिणाम निकालता है, जिनकी न तो हमारा आगमन और निगमन आशा रखता है, क्योंकि हमारे निर्णयों और अनुमानों की नींव बहुत संक्षिप्त है और वे व्यर्थ होने और बिखर जाने योग्य हैं।"[१००] आचार्य जी तर्क और बुद्धि की इस विकसित अवस्था को 'प्रज्ञा' का नाम देते हैं। उनके शब्दों में "तत्त्वदर्शी ऋषियों ने इस तथ्य को बहुत पहले ही समझ लिया था और बुद्धि की ऊंची परत सद्बुद्धि की 'प्रज्ञा' की विशिष्ट क्षमता का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। मन-बुद्धि-चित्त से भी ऊँची परत ऋतम्भरा प्रज्ञा अन्तःकरण की दिव्य चेतना के अधिक समीप है। तत्त्वदर्शियों का कहना है कि तीर से बंधी हुई नाव की तरह बुद्धि आगे न बढ़कर कुण्ठित हो जाती है, विचार भी अपने पैर पीछे हटाता हुआ जहाँ से दूर हट जाता है, और तर्क भी जहाँ जाने का उत्साह नहीं करता वहाँ प्रज्ञा की पैहुँच है।"[१०१] इस तरह अपनी प्रणाली में वे न केवल तर्क को अनुभूत सत्य की अभिव्यक्ति हेतु समर्थ माध्यम के रूप में स्वीकारते हैं, बल्कि उन्होंने इसके विकास की असीम सम्भावनाओं के द्वार भी उन्मुक्त किए हैं।

◆ प्रयोग की वैज्ञानिकता

बौद्धिक विवेचन कितना ही तर्कपूर्ण क्यों न हो, पर उसकी सार्थकता तभी है, जब वह प्रयोग की कसौटी पर स्वयं को खरा प्रमाणित करे। अपने अधूरेपन के बावजूद वैज्ञानिक प्रणाली इसी विशेषता के कारण प्रामाणिकता के शिखर पर जा पहुँची है। विज्ञान और प्रमाणिकता एक दूसरे के पर्याय बन गए हैं। इसके अधूरेपन का कारण बाह्य प्रकृति को सब कुछ मानकर अन्तः प्रकृति से मुख मोड़ लेना है। पदार्थ को स्वीकार कर, चेतना से इन्कार करने की प्रवृत्ति इसकी अपूर्णता का मर्म विन्दु बनी है। जबकि आध्यात्मिक प्रणाली 'सर्व खिल्विदं ब्रह्म' कहकर सर्वस्व को स्वीकृति देती रही है। लेकिन वैज्ञानिक प्रयोगों के अभाव ने इसे रहस्यवाद का रूप दे डाला। इसकी प्रक्रियाएँ और निष्कर्ष दोनों रहस्य होकर रह गए।

आचार्य जी द्वारा सर्वांग प्रणाली में प्रयोग के वैज्ञानिक तत्त्व को स्वीकार कर समस्या का शाश्वत समाधान खोजा गया है। उनके शब्दों में "आध्यात्म अन्तर्ज्ञान, भाव संवेदना व विवेक पर अवलम्बित है। विज्ञान का आलम्बन बौद्धिक शक्ति पर है। प्रयोग की आवश्यकता दोनों में है। आध्यात्मिक सिद्धान्तों उपनिषदों के श्लोकों को यदि रटते रहा जाय, तो कुछ भी बात नहीं बनेगी। बस एक तोते की भूमिका ही निभाई जा सकेगी। प्रयोग में जुट पड़ने, इसके लिए समर्पित होने से सत्य का बोध पाकर सामान्य मानव से अतिमानव हुआ जा सकता है। विज्ञान का काम भी मात्र परिकल्पनाओं के आधार पर नहीं चलता। यथार्थता की शोध के लिए प्रायोगिक स्तर पर आना ही पड़ता है। इस प्रकार के लिए किए जाने वाले प्रयोगों में यह अन्तर अवश्य है कि एक के प्रयोग का क्षेत्र पदार्थ है, दूसरे की चेतना। एक के प्रयोग में बहिरंग जगत् की प्रधानता होती है, दूसरे में अन्तरंग की। फिर एक साम्य भी है। प्रयोग के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले उपादानों में दोनों को ही इन दोनों क्षेत्रों का सहारा लेना पड़ता है। वैज्ञानिक ही उपकरण क्यों न जुटा लें। पर बुद्धि, मन मस्तिष्क जो अन्तरंग क्षेत्र के हैं, इनका समुचित उपयोग किए बिना किसी तरह का प्रयोग परीक्षण सम्भव नहीं। इसी तरह आध्यात्मिक प्रयोगों में चेतना अर्थात् अन्तरंग की प्रधानता रहती है, फिर भी बहिरंग साधन शरीर की महत्ता है। इसी कारण तत्वविदों ने 'शरीर माद्यं खलु धर्म साधनं' भी कहा है। शरीर को स्वस्थ, सबल-सक्षम बनाने में वैज्ञानिक साधन भी प्रयुक्त होते हैं। इस तरह इन दोनों का अस्तित्व परस्पर पूरक सहयोगी बने रहने में है।"[१०२] यही सामंजस्य पूर्ण प्रयोग की वैज्ञानिकता उनकी प्रणाली का वैशिष्ट्य बनी है।

---

१००. श्री अरविन्द- द लाइफ डिवाइन भाग २, पृ. ४२०

१०१. आचार्य श्रीराम शर्मा- कोरा बुद्धिवाद हमें ले डूबेगा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५२, अंक ३, पृ. १९

१०२. आचार्य श्रीराम शर्मा- विज्ञान व अध्यात्म में विभेद नहीं अभेद है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक ७, पृ. १०

वैशिष्ट्य के इन स्वरों को उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करें तो "यह साम्य मात्र इतना ही हो, ऐसा नहीं है। अन्वेषण की पद्धति में भी एकरूपता है। किसी भी वैज्ञानिक ज्ञान को निरूपित करने वाले सिद्धान्त सूत्र की प्राप्ति सामान्यतया तीन चरणों में की जाती है। प्रथम चरण है- परिकल्पना-हाइपोथीसिस। द्वितीय चरण में इसमें निहित सत्य को उजागर करने के लिए प्रयोग में एकाग्रता पूर्वक अपनी सारी मन:सामर्थ्य को नियोजित करना पड़ता है। यह स्थिति ध्यान से कम नहीं है। तृतीय स्थिति अन्तिम निष्कर्ष के अनुभव की है। इस अनुभव को ही बाद में संकेत सूत्र-सिद्धान्तों द्वारा उल्लेखित किया जाता रहता है। शोध प्रक्रिया के यह तीन चरण महत्त्वपूर्ण हैं, पर काम इतने से चल जाता हो, ऐसी बात नहीं है। इसके पूर्व प्रयोगशाला, सन्दर्भ ग्रन्थों सम्बन्धित उपकरणों की बाह्य तैयारियाँ करने के साथ उपयुक्त मानसिकता भी बनानी पड़ती है।"

राजयोग इसी तरह पूर्णतया वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसमें बनाए आठ चरणों में प्रथम पांच अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ऐसे हैं, जिन्हें पूर्व की तैयारी माना जा सकता है। यह तैयारी कुछ इस स्तर की है जिसे प्रयोगशाला, सन्दर्भ ग्रन्थों, सम्बन्धित उपकरणों को जुटाने जैसा कहा जा सके। कारण कि चेतना क्षेत्र में किए जाने वाले इस प्रयोग में शरीर और मन ही प्रयोगशाला तथा सम्बन्धित उपकरण हैं। इन दोनों की साफ-सफाई उपयुक्तता यम, नियम, आसन, प्राणायाम से बन पड़ती है। प्रत्याहार का तात्पर्य है कि मन को अन्य बाह्य विषयों से हटाकर प्रयोग में जुट पड़ने के लिए तैयार करना।

यहाँ से सारी तैयारियाँ पूर्ण हो जाती हैं। इसके बाद 'धारणा' का क्रम आता है। यहाँ धारणा प्रकारान्तर से वैज्ञानिकों की 'हायपोथिसिस' ही है। जिसमें मन को एक विषय पर ला देना होता है। सूत्रकार पतंजलि इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए इसे "देश बन्धश्चित्तस्य धारणा"(३/८) बताते हैं। इसके बाद वह स्थिति आती है। जिसमें अन्तराल में प्रविष्ट हो प्रयोग में जुट पड़ना होता है। इसे ही राजयोग में 'ध्यान' की संज्ञा प्रदान की गई है।

इस स्थिति में चेतना की विभिन्न परतों को पार करते हुए परम तत्त्व तक पहुँचने का प्रयास करना होता है। इस चरण में होने वाले चित्र-विचित्र विलक्षण अनुभव किसी भी भौतिकविद् या रसायनविद् के अनुभवों से किसी प्रकार कम नहीं।[103] प्रयोग की इसी वैज्ञानिकता के कारण आचार्य जी की प्रणाली प्रामाणिकता के उत्कर्ष को पा सकी है।

◆ सम्बोधि की अवस्था

इसे सर्वांग प्रणाली के प्रयोग की शीर्ष अवस्था भी कह सकते हैं। यही वह स्थिति है जब प्रयोग के निष्कर्ष की अनुभूति होती है। सत्य की यह अनुभूति ही ज्ञान है। अनुभव प्राप्ति की इस उच्चतम अवस्था को भारतीय चिन्तक 'समाधि' की संज्ञा भी प्रदान करते हैं।[104] इस अवस्था में प्राप्त होने वाला अनुभव इतना यथार्थ, स्पष्ट, निकट, सतत, प्रभावशाली और अंतरंग है जितना कि मानस के लिए उसका प्रतिमाओं, वस्तुओं और व्यक्तियों का ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष और अनुभव।[105]

पश्चिम में सबसे पहले ब्रैडले ने एक पूर्ण अनुभव के रूप में संबोधि की प्रकृति को पहचाना। उन्होंने इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव पर आधारित प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में अनुभववादियों की संबोधि ज्ञान की व्याख्या का तिरस्कार किया। ब्रैडले तथा स्पिनोजा दोनों के लिए संबोधि एक मूर्त व्यवस्था के रूप में सद्वस्तु का ज्ञान है, जो केवल सार्वभौमिक पहलू में ही नहीं बल्कि उसकी अद्वितीय विलक्षणता और वैयक्तिकता में भी है। ब्रैडले के अनुसार सहज अनुभव में "हम जो कुछ पता लगा पाते हैं वह एक पूर्ण होता है, जिसमें पृथक्करण किया जा सकता है, परन्तु जिसमें विभाजन नहीं रहते।"[106] श्री अरविन्द की इस विषय में अनुभूति है "...सर्वोच्च बोधिमय ज्ञान वस्तुओं को पूर्ण में देखता है, विस्तार और

---

१०३. आचार्य श्रीराम शर्मा- जहाँ हो जाती है सारी भाषाएँ मौन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक ९, पृ. ३४

१०४ वही,

१०५ श्री अरविन्द- ऐसेज ऑन दि गीता, भाग २, पृ १३४

१०६. ब्रैडले एफ. एच.- एपीयरेन्स एण्ड रिलियटी, पृ १२८

बृहदाकार में केवल अविभाज्य पूर्ण के पहलुओं के रूप में देखता है। उसकी प्रवृत्ति ज्ञान के सामंजस्य और एकता की ओर रहती है।''[१०७]

शंकर के अनुसार संबोधि ज्ञान 'ज्ञाता का ज्ञान' है। वह ब्रह्म की खोज का अन्तिम परिणाम है और खोज का विषय एक प्राप्त पदार्थ है।[१०८] वह क्रिया नहीं बल्कि स्वयं ज्ञान ही है।[१०९] बर्गसां के शब्दों में ''सम्बोधि से मेरा तात्पर्य मूल प्रवृत्ति से है जो कि तटस्थ आत्मचेतन, अपने विषय पर मनन करने और अपरिमित रूप से विस्तृत होने के योग्य बन गई है।''[११०] सम्बोधि की इस अवस्था में चार प्रकार की शक्तियाँ होती हैं, अर्थात् एक ज्ञान देने वाले सत्य को देखने की शक्ति, एक प्रेरक शक्ति, एक सत्य स्पर्श की शक्ति और एक सत्य से सत्य के यथार्थ सम्बन्ध में वास्तविक और स्वाभाविक भेद करने की शक्ति। इस अवस्था में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान अपना भेद भूल जाते हैं।

इस अवस्था के दिव्य अनुभव को प्राप्त करने वाला ऋषि अपने इस ज्ञान को संकेत सूत्र सिद्धान्तों द्वारा व्यक्त करता है। ये संकेत भौतिकविदों के गणितिक संकेतों की तरह हैं। क्योंकि यहाँ भाषा मौन हो जाती है। इन अनुभूतियों को पूर्णतया व्यक्त करने में असमर्थ होकर ही ऋषियों ने 'अवाङ्ग मानसगोचरम्' तथा 'अप्राप्यमनसा सह' कहा है। भाषा की अल्प क्षमता तथा न्यूनता को आज के वैज्ञानिक भी स्वीकारते हैं। सुविख्यात क्वांटम भौतिकविद् प्रो. वारनर हाइजेनबर्ग अपने ग्रन्थ 'फिज़िक्स एण्ड फिलासफी' में स्पष्ट करते हैं कि क्वांटम थ्योरी को पूरी तरह समझने में सबसे बड़ी समस्या भाषा की है। यदि यह कहा जाय कि यहाँ सारी भाषाएँ मौन हो जाती हैं तो कोई अत्युक्ति नहीं। इसमें प्राप्त निष्कर्षों को गणितीय संकेतों से ही स्पष्ट किया जा सकता है।[१११] अनुभवों के यही संकेत बाद में बुद्धि और तर्क के झरोखों से अपना प्रकाश विकरित करते हैं।

सर्वांग दार्शनिक प्रणाली 'वैज्ञानिक अध्यात्म'

ज्ञान अपनी समग्रता-परिपूर्णता में हासिल हो सके, इसके लिए जरूरी है प्रणाली भी तदनुरूप हो। ज्ञेय की प्राप्ति- ज्ञान की प्रणाली के अनुरूप ही होती है। महज इन्द्रियों के बलबूते पर टिकी भौतिक प्रणाली वस्तुओं के रंग, रूप, बाह्य पहलुओं पर अटक कर रह जायगी। इसके द्वारा तत्त्व की अन्तरंग झांकी मिलने की कोई सम्भावना नहीं। आत्मतत्त्व को जानना सिर्फ आत्मा में ही सम्भव है। तार्किक रीति से समझें अथवा मनोवैज्ञानिक ढंग से अनुभव करें, विषयी को विषय के रूप में नहीं जाना जा सकता। गणितीय प्रणाली से हमें केवल मानसिक सम्बन्धों के बारे में पता लगेगा। सद्वस्तु की आध्यात्मिक अवस्था इससे नहीं जानी जा सकती। सर्वातिशायी प्रणाली से सिर्फ सम्बोधि से पहले के रूपों और प्रज्ञा के वर्गों की जानकारी मिलेगी। द्वन्द्वात्मक प्रणाली हमें मानसिक गति की प्रक्रिया को समझाकर थक जाएगी। केवल आध्यात्मिक प्रणाली से उपलब्धि सम्बोधि में ही सद्वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है।

''अध्यात्म का तत्त्व ज्ञान मनुष्य को आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता की विचारणा से ओत-प्रोत, भावनाओं से विभोर व सत्यान्वेषण प्रक्रिया में तत्पर बनाए रखने वाला दार्शनिक अवलम्बन है, पर आज के प्रचलित तथाकथित अध्यात्म की दिशा बिलकुल उल्टी है। वह व्यक्ति को भावनात्मक उत्कर्ष की ओर उठाने की अपेक्षा पतनोन्मुख बनाने में सहायक हो रहा है।''[११२] इसका कारण सत्यान्वेषण की इस अमूल्य प्रणाली का भ्रान्तियों से घिर जाना है। इन भ्रान्तियों के इस कदर पनपने बढ़ने का कारण बुद्धि तर्क एवं प्रयोग की वैज्ञानिकता इससे बहिष्कृत किया जाना रहा है। प्रचलित अर्थों में ये तत्त्व

---

१०७. श्री अरविन्द- द लाइफ डिवाइन, भाग १, पृ. ८४
१०८. अनुभवावसानत्वाद्भूत वस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य। शांकरभाष्य
१०९. ननु ज्ञानम नाम मानसी क्रिया। शांकरभाष्य १/१/४
११०. बर्गसा- क्रिएटिव एवाल्यूशन, पृ १८६
१११. आचार्य श्रीराम शर्मा- जहाँ हो जाती हैं सारी भाषाएँ मौन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक ९, पृ. ३४-३५
११२. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपनों से अपनी बात, अध्यात्म विकृत नहीं परिष्कृत रूप में ही जी सकेगी, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३१, अंक २, पृ. ५९

विज्ञान के दायरे में सिमट-सिकुड़ कर रह गए। तदनुरूप इनके क्रियाकलापों की सीमा भी बाह्य प्रकृति के अन्वेषण-विश्लेषण तक सीमित होकर रह गई। इसकी एकांगिकता का शब्दांकन करते हुए आचार्य जी कहते हैं- "विज्ञान आंशिक सत्य है, एक सीमा निर्धारित है। ...पदार्थ परमाणुओं से बने हैं। परमाणु इलेक्ट्रान, प्रोट्रान, न्यूट्रान, पाजिट्रान और नाभिपिण्ड से बने हैं। विज्ञान ने इतना बता दिया। उसने यह भी बता दिया कि परमाणु में अकूत शक्ति भण्डार छिपा है। इलेक्ट्रान चक्कर काटते हैं। परमाणु एक पूरा 'सौरमण्डल' है। पर ऐसा क्यों है? शक्ति कहाँ से आयी, परमाणु में गति क्यों है? विज्ञान इस सम्बन्ध में क्यों नहीं बताता? वह परमाणु का मानवीय जीवन से सम्बन्ध जोड़कर हमारे लिए कभी न समाप्त होने वाले आनन्द का दिग्दर्शन क्यों नहीं करता? जबकि हम जानते हैं कि आनन्द ही हमारे लिए अन्तिम सत्य है।"[११३] यह एकांगिता भी भ्रान्ति की उपज है। इस भ्रान्ति ने ही पदार्थ को सर्वस्व मानने, चेतना को अस्वीकृत करने का भ्रम पैदा किया है।

आचार्य जी के शब्दों में- "भ्रान्तियाँ बचपन और बुढ़ापे ने फैलाई। बच्चे अनजान होते हैं और बुड्ढे अहंकारी। दोनों में ही हठधर्मिता पाई जाती है। विगत् शताब्दियों ने विज्ञान का विकास क्रम असाधारण वेग से बढ़ा है। सफलताओं ने अहंता उत्पन्न की और कहा जाने लगा कि पदार्थ ही सब कुछ है। उस पर किसी अतिरिक्त चेतना का अकुंश नहीं। इतना ही नहीं.. *यह भी कहा गया* कि पदार्थों के सम्मिश्रण से चेतना का उदय-अस्त होता है। प्रकृति ही सर्वस्व है, उसी की एक प्रक्रिया चेतना भी है। इस मान्यता ने आत्मा को झुठलाया, साथ ही वे आधार भी लड़खड़ाने लगे जो मर्यादा, नीति, दूरदर्शिता, सज्जनता एवं उदारता की भाव संवेदना पैदा करते हैं। सब कुछ पदार्थ ही है। ...इसे बाल हठ कहा जा सकता है।

दूसरी ओर अध्यात्म के प्रतिपादनों में ऐसी विसंगतियाँ प्रकट हुईं, जो लगती तो प्राचीन शास्त्र एवं आप्त जैसी थीं पर वस्तुत: उनमें बूढ़ों के सठियाने पर जैसे बेतुकी बकवास होती रहती है। लगभग वैसा ही प्रवाह चल पड़ा। ...ऐसा दर्शन गढ़ा गया जिसमें पदार्थ जगत् को हेय ठहराने की प्रतिस्पर्धा ...चल पड़ी। पिछले दिनों भ्रान्तियों ने विज्ञान और अध्यात्म को परस्पर विरोधी सिद्ध किया है। एक को समग्र और दूसरे को व्यर्थ बताया गया है।"[११४]

इन भ्रान्तियों से उबरने का रहस्य सामंजस्य में है। *बुद्धि, तर्क, प्रयोग व सम्बोधि का मौलिक सामंजस्य।* दूसरे शब्दों में वैज्ञानिकता और आध्यात्मिकता का पारस्परिक समन्वयन। यही सर्वांग दार्शनिक प्रणाली की समग्रता व पूर्णता का आधार है। बुद्धि और सम्बोधि केवल अज्ञान के क्षेत्र में ही परस्पर विरोधी हैं। ज्ञान में वे एक दूसरे को सम्मिलित और पोषित करते हैं, बर्गसां के शब्द हैं- "तर्क सम्बोधि को सिद्ध करने हेतु आवश्यक है, इसलिए भी आवश्यक है कि सम्बोधि स्वयं को प्रत्ययों के रूप में तोड़ सके और अन्य व्यक्तियों तक पहुँचाया जा सके।"[११५] जब तक इन्द्रियों, बाह्य संस्कारों और विश्लेषणात्मक प्रणाली का बुद्धि पर अधिकार है, वह सम्बोधि की नकार और आध्यात्मिक अनुभव में बाधक है। परन्तु शुद्ध संयमित और प्रदीप्त होने पर वह अतिचेतन अनुभवों को भी प्रत्ययों में प्रकट करती और आध्यात्मिक अनुभव को सर्वसुलभ बनाती है। ऐसी बुद्धि सर्वोच्च प्रकाश नहीं है और फिर भी वह सदैव ही एक आवश्यक प्रकाशवाहक है। और जब तक उसको उसके अधिकार नहीं मिलते और हमारी प्रथम निम्न मूल्य प्रवृत्तियों, आवेगों, तीव्र पक्षपातों, अपरिष्कृत विश्वासों तथा अन्ध पूर्व निर्णयों को परखने और शुद्ध करने की आज्ञा नहीं मिलती, तब तक हम एक बृहत्तर अंतरंग प्रकाश के पूर्ण अनावरण के लिए बिलकुल प्रस्तुत नहीं हैं।[११६] इस तरह आध्यात्मिक ज्ञान में बुद्धि बाधक हो सकती है और पुनः सहायक बन सकती है।

दर्शन का इतिहास तत्त्वदर्शन की समस्त समस्याओं

११३. आचार्य श्रीराम शर्मा- विज्ञान ने समस्याएँ सुलझाई कम, उलझाई अधिक, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३१, अंक ९, पृ. ५१-५२

११४ आचार्य श्रीराम शर्मा- ब्रह्मवर्चस भ्रान्तियों के निराकरण और यथार्थताओं के प्रतिपादन का विनम्र प्रयास, साप्ताहिक युग निर्माण योजना, वर्ष १०, अंक २५, पृ. १

११५. बर्गसां- क्रिएटिव एवाल्यूशन, पृ. २५७

११६. श्री अरविन्द- एवाल्यूशन, पृ. २९

को सुलझाने के महत्त्व का दावा करती हुई, मानव की विभिन्न शक्तियों में संघर्ष के विवरण से भरा पड़ा है। बुद्धि, संकल्प, प्राण, संबोधि, संवेग और प्रत्यक्ष सभी ने समय-समय पर सभी समस्याओं को सुलझाने की कोशिश की। लेकिन उनसे केवल अन्य के पक्ष में प्रतिक्रिया ही हुई। इस तरह दर्शन बुद्धिवाद से अनुभववाद, संकल्पवाद और रहस्यवाद पर आया। इन समस्त शक्तियों को एक पूर्ण में बांधकर आगे बढ़ने वाली आत्मा की द्वन्द्वात्मक गति की एक सर्वांग झांकी ही आध्यात्मिक समस्याओं के सुलझाने में हमें कुछ यथार्थ प्रवृत्ति की ओर ले जा सकती है। हमारी समग्र सत्ता के अनुभव के तर्क पूर्ण विवेचन पर आधारित दर्शन ही एकमात्र यथार्थ दर्शन है। इसे सिर्फ सर्वांग प्रणाली से ही पाया जा सकता है।

यही वैज्ञानिक अध्यात्म है, जो वैज्ञानिकता, दार्शनिकता और आध्यात्मिकता के मौलिक तत्त्वों के पारस्परिक समन्वयन से प्रकट हुआ है। अपने एकांगी अर्थों में वैज्ञानिकता क्रिया है, दार्शनिकता चिन्तन है और आध्यात्मिकता संवेदना का पर्याय है। ''क्रिया, चिन्तन और संवेदना, जीवन के तीन पक्ष अपने एकाकीपन में मनुष्य जाति को जीवन का अर्थ नहीं दे सकते।''[११७] इनके समन्वय की मौलिकता को अपने में संजोये 'वैज्ञानिक आध्यात्मवाद' वादों के ढेर में एक नए प्रकार की सर्जना नहीं, बल्कि ऐसा कुछ है जहाँ सभी समा जाते हैं। जहाँ सबको उसका निश्चित स्थान मिल जाता है। 'समुद्र मापः प्रविशन्तियद्वत्' समुद्र नदी नहीं है, परन्तु सभी नदियां समुद्र में अपना स्थान ग्रहण करती हैं। इसी भाँति इस चिन्तन प्रणाली से जीवन के सभी अंग उपांग अपने चरम विकास की कला सीखते हैं।[११८] होना भी यही चाहिए, जैसे विज्ञान में वैसे ही अध्यात्म में वह परम एवं सामान्य हल सर्वोत्तम है जो कि सभी को सम्मिलित करता और उनकी व्याख्या करता है, ताकि अनुभव का प्रत्येक सत्य पूर्ण में अपना स्थान ग्रहण करे।[११९]

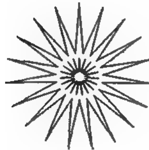
यह सिर्फ बौद्धिक हल नहीं बल्कि प्रत्यक्ष दर्शन है, एक प्रामाणिक दर्शन। एक विस्तृत सम्बोधिमय दर्शन। आचार्य जी द्वारा किए गए वैज्ञानिक अध्यात्म प्रयोगों द्वारा उपलब्ध अनुभवों की तर्क पूर्ण बौद्धिक व्याख्या के रूप में समझा जाना चाहिए। इस रहस्य को उद्घाटित करते हुए वह कहते हैं- ''आध्यात्मिकता का ज्ञान पक्ष प्रस्तुत करके ही हमें सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, वरन् उसका विज्ञान पक्ष भी प्रस्तुत करना चाहिए। आज की यह महती आवश्यकता है। यदि उसे पूरा किया जा सकता तो निःसन्देह हम फिर सतयुग की तरह आध्यात्मिकता की शरण में समस्त मानव जाति को ला सकने में सफल हो सकते हैं। हमारी भावी तपश्चर्या का दूसरा प्रयोजन यही है। हमने लम्बी अवधि में अपने शरीर, मन और अन्तःकरण को इस योग्य बना लिया है कि उसमें दिव्य शक्तियों का अवतरण और लुप्त विद्याओं का प्रयोग परीक्षण एवं उद्भव सम्भव हो सके।''[१२०] इस विधि से उपलब्ध ज्ञान ही वास्तविक एवं प्रामाणिक ज्ञान है। वैज्ञानिक अध्यात्म का स्वरूप इस शोध प्रबन्ध के सातवें अध्याय में विस्तारपूर्वक वर्णित किया गया है। यह दर्शन की प्रणाली भी है और चरम परिणति भी। इससे उपलब्ध दिव्य दृष्टि सत्य से प्रारम्भ करती है और उसे प्रत्यक्ष रूप से जानती है। इस कारण उसका सत्य स्वयं सिद्ध और निरपेक्ष है। स्मृति, कल्पना, निरीक्षण, तुलना, भेद, उपमा और तर्क तथा मानसिक ज्ञान के अन्य साधन दिव्य साक्षात्कार ये सत्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में परिवर्तित हो जाते हैं। यदि दर्शन को केवल ज्ञान, मीमांसा तक ही सीमित नहीं रहना है तो उसे समग्र सत्ता द्वारा सम्पादित ज्ञान पर आधारित होना चाहिए। आचार्य जी की प्रणाली इसी प्रकार ज्ञान पाने की प्रणाली है।

इसमें स्वभावतया ही अन्य सभी प्रणालियों के लिए सम्मानित स्थान है। हां उनकी सीमा जरूर निर्देशित है। ''जहाँ अभी तक हम अखण्ड को खण्ड-खण्ड करने की कल्पना करने की पीड़ा भोगते रहे। वह यह तत्त्वदर्शन सिखाता है, खण्ड-खण्ड अविभाज्यता कैसे

---

११७ वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के जन्मदाता- परम पूज्य गुरुदेव, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक १२, पृ. ५५
११८. वही,
११९. श्री अरविन्द- द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृ. २११
१२०. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपनों से अपनी बात, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक १२, पृ. ६३

पाएँ? धर्म-दर्शन और विज्ञान मानवीय अस्तित्व से उपजी तीन प्रबल विचार शक्तियाँ हैं। किन्तु इनका अलगाव, आपसी टकराव मानव जीवन में वरदानों की सृष्टि न कर सका। जब संवेदना-चिन्तन और कर्म ही आपस में टकराते रहेंगे, तब परिणाम संहार के सिवा और क्या होगा? उज्ज्वल भविष्य की ससिद्धि का सिर्फ एक उपाय है, इनका सामंजस्य। वैज्ञानिक आध्यात्मवाद के रूप में यही है। इस नए तत्त्वदर्शन के अनुसार क्रिया और चिन्तन दोनों जहाँ मिल सकते हैं वह स्थान संवेदना है। जाने-अनजाने दोनो यहीं अपना जन्म पाते हैं। इस मिलन बिन्दु को अपने मूल स्रोत के रूप में पहचानना और स्वीकारना ही वह उपाय है जिससे मनुष्य अब तक के अपने विकास को बरकरार रख सम्भावनाओं के नए द्वार खोज सकता है।''[१२१] यह सर्वांग प्रणाली ही आचार्य जी के सर्वांगदर्शन का आधार है। मानवीय जिज्ञासा के समाधान हेतु उन्मुक्त द्वार है। अखण्ड ज्योति के पृष्ठांकित शब्दों के अनुसार- ''यह उन्मुक्त द्वार संकीर्ण विचारों की कोठरियों में हैरान-परेशान मनुष्य को खुले आकाश-प्राणवर्धक वायु के बीच ले जाएगा। संवेदना से उपजी क्रिया भारभूत श्रम नहीं, जीवन साधना बनेगी। संवेदना से उपजा चिन्तन उसका मार्गदर्शक बनेगा। चिन्तन की यह नयी प्रणाली मानव की नियति है।''[१२२]



१२१. वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के जन्मदाता-परम पूज्य गुरुदेव, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक १२, पृ. ५५
१२२. वही,

अध्याय ३

ईश्वर की अवधारणा

सर्वांग प्रणाली को स्वीकारने का मतलब है- ज्ञान की समग्र रूप में उपलब्धि। प्रणाली की प्रेरणा मानवीय जिज्ञासा को जगाने, जाग्रत् जिज्ञासा को इसी उपलब्धि की ओर ले चलने के लिए सक्रिय है। ज्ञान को इस समग्रता में समायी अनन्तता और अपरिसीम विविधता को ईश्वर-आत्मा और विश्व के तीन रूपों में अनुभव किया जा सकता है। इनमें से प्रत्येक की अनुभूति-दूसरे से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी है। किसी एक को ठीक तरह से ज़ानने के लिए शेष दो का ज्ञान निहायत जरूरी है। इस तरह जाने-अनजाने मानवीय प्रयास इस त्रिविध सत्ता की एकता को जानने-अनुभव करने के लिए सक्रिय रहते हैं। इस अनुभूति को पाये बगैर विचारों का सिलसिला रूक नहीं सकता। दर्शन अपने वास्तविक अर्थों में इसी एकत्व से पूरित पूर्ण सत्य को पाने की कोशिश है। जिसके पूरे हुए बिना सभी विविधताओं की भली-भाँति व्याख्या सम्भव नहीं।

इन तीनों के पारस्परिक एकत्व को अनुभव करा देने वाले ज्ञान को पाकर ही हम सही मायने में सन्तुष्ट हो सकते हैं। यह हमारे बौद्धिक चिन्तन, प्राणगत चरित्र और शारीरिक व्यवहार में व्यक्तिगत सन्तोष पाने के लिए आवश्यक शर्त है। अत्यन्त सहज रूप में प्रत्येक को आत्मा की झलक आत्म निर्भरता की चेष्टा के रूप में मिलती रहती है। इसी भाव को केन्द्र बनाकर चिन्तन, चरित्र, व्यवहार की हलचलें सक्रिय रहती हैं। लेकिन यह सक्रियता अपनी बाहरी व्यापकता और आन्तरिक गहराई में तभी सफल होती है, जब वह विश्व व ईश्वर को अपनी आत्मा से एकाकार अनुभव कर ले। जिज्ञासा जैसे-जैसे परिपक्व होती है, जितना अधिक उसका ज्ञान की व्यापकता में प्रवेश होता है, ईश्वर के प्रति जागृति बढ़ती जाती है। आचार्य जी के शब्दों में कहें तो-"हमारा मस्तिष्क ज्ञान की खोज में जहाँ-जहाँ पहुँचता है, वहीं उसे एक शाश्वत चेतना का ज्ञान देता है। कण-कण में जो ज्ञान की अनुभूति भरी हुई है, वह परमात्मा का ही स्वरूप है। सृष्टि की कोई कण चेतना से वंचित नहीं, परमात्मा इसी रूप में सर्वव्यापी है।"[१] जिसके ज्ञान के बिना आत्मा और विश्व का ज्ञान आधा-अधूरा रह जाता है। पूर्व एवं पश्चिम की दार्शनिक जिज्ञासा इस ओर अपने अस्तित्व बोध के समय से सक्रिय रही है। अब तक के दार्शनिक प्रगति के इतिहास में उसकी बहुरंगी झलक-झांकी देखी जा सकती है।

पूर्वी दर्शन का ईश्वर बोध

◆ वेदों में ईश्वर

पूर्वी दर्शन का अस्तित्व बीज वेदों की उर्वर भूमि में पला-बढ़ा और विकसित हुआ है। मानवीय चिन्तन चेतना यहाँ व्यापक बोध और समग्र दृष्टि पाने के लिए तपस्यारत है। तप साधना से ही यह दृष्टि प्राप्त हुई, जिसके द्वारा ईश्वर को अन्तरात्मा, विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त विभिन्न देव शक्तियों के रूप में, विश्वात्मा की व्यापकता में, इनकी पारस्परिक एकता में देखा, अनुभव किया। इन अनुभवों को पाने वाले ऋषि कहलाए। ऋषि का अर्थ ही है- दर्शन करने वाला, अर्थात् दार्शनिक। इन दार्शनिक अनुभूतियों का विवरण विवेचन बाद में पूर्वी दर्शन के विकास का आधार बना।

इन व्यापक अनुभवों के बावजूद एक तथ्य जो शायद विचित्र भी प्रतीत हो, वह यह कि "वैदिक संहिताओं में ही नहीं समूचे वैदिक साहित्य भर में 'ईश्वर' शब्द रुढ़ि रूप से परमेश्वर के लिए कहीं भी प्रयुक्त हुआ नहीं मिलता।"[२] इसी कारण कतिपय विचारक वेदों में ईश्वर की अवधारणा को लेकर भ्रमित हैं। उनके मुताबिक वेद, देवी-देवताओं की स्तुतियाँ मात्र हैं। परन्तु वस्तु स्थिति कुछ और है। ईश्वर शब्द ने भले परवर्ती काल में विकास पाया हो, पर भाव सनातन है। यही सनातन तत्व दोनों में पुरुष, सत्, तत् और परम सद्वस्तु आदि के रूप में वर्णित है। वैदिक ऋषियों ने इसके ज्ञान को प्राप्त करना जीवन का अनिवार्य कर्त्तव्य बताया है।

---

१. आचार्य श्रीराम शर्मा- ईश्वर पासे फेंकने वाला बाजीगर नहीं है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक ६, पृ १४

२. मंगलदेव शास्त्री- वैदिक संहिताओं में ईश्वर या पुरुष, कल्याण-ईश्वरांक, पृ. ३२०

ऋग्वेद के ऋषि के शब्दों में-जो उसको नहीं जानता वह वेद मंत्र लेकर क्या करेगा?[३]

वेद मर्मज्ञ पं. सातवलेकर के अनुसार- "वेदों की एक अपनी भिन्न शैली है। वह शैली समझ में आ जाय तो फिर मतभेद का कोई कारण नहीं रहता। सर्व प्रथम वेद मंत्रों ने ही कहा है कि सत्य वस्तु एक है। और कवियों ने उस एक तत्त्व के अनेक गुणों को देखकर उसके अनेक नाम रख दिए हैं। उदाहरणार्थ-

> इन्द्रं मित्रं वरूणं अग्निमाहुः अथोदिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान। एकं सत विप्राः बहुधा वदन्ति अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (ऋ. १/१६४/६)

(एकं सत्) एक ही सद्वस्तु है, उस एक ही वस्तु का (विप्राः बहुधा वदन्ति) ज्ञानी लोग अनेक नाम देकर वर्णन करते हैं। उसी एक सद्वस्तु को ज्ञानी इन्द्र, मित्र, वरूण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान, यम, मातरिश्वा आदि नामों से वर्णित करते हैं।[४] मंत्र अग्नि देवता का हो अथवा इन्द्र देवता का, उन मंत्रों का मुख्य भाव परमात्म-परक ही है, यह यहाँ ध्यान देने योग्य है। अग्नि को 'विश्ववेदः' कहा है। "विश्ववेदः का अर्थ सर्वज्ञ"। अग्नि सर्वज्ञ न होकर परमात्मा सर्वज्ञ है। यही मंत्र में भी प्रतिपादित है-

(तत् एव अग्निः) वह ब्रह्म ही अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आप और प्रजापति पदों से वेद मंत्रों में वर्णित है। अर्थात् अग्नि, आदित्य, वायु आदि नाम यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि उन विभिन्न नामों से उस एक ही ब्रह्म का वर्णन वेदों में किया गया है।[४अ]

वेद मंत्रों में जो इन्द्र देवता का वर्णन है, वह निःसन्देह इसी एक आत्मतत्त्व का ही वर्णन है। जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है, पिण्ड-ब्रह्माण्ड न्याय एक ही है और इसी न्याय से परमेश्वर का ज्ञान हो सकता है। वेद मंत्रों में इसी रीति से परमेश्वर का ज्ञान दिया गया है। किसी को सन्देह न हो इसलिए यह बात वेद ने ही स्पष्ट कर दी है।

जो पुरुष में अर्थात् मनुष्य शरीर में ब्रह्म देखते हैं वे परमेष्ठी को भी जान सकते हैं।[५] अर्थात् मनुष्य के शरीर में जो आत्मा, ब्रह्म अथवा इन्द्र का साक्षात्कार करते हैं वे समष्टि जगत् में परमात्मा, परब्रह्म किंवा महेन्द्र को जान सकते हैं। अतः वेद का इन्द्र देवता शरीर स्थित स्थायी जीवात्मा का और सृष्टि व्यापक परमात्मा का समानतया बोधक है।

उदाहरणार्थ 'इन्द्र स्थावर जङ्गम जगत् का राजा है, वही प्रभु शान्त और सींग-मारक पशुओं का स्वामी है। सब प्रजाओं का वही एक राजा है। जिस तरह नेमि के चारों ओर चक्र होता है, उसी प्रकार उस प्रभु के चारों ओर यह विश्व है।[६] इस प्रकार के मंत्रों में इन्द्र शब्द

---

३. यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। ऋग्वेद- १/१६४/३९

४. इन्द्रं मित्रं वरूणं अग्निमाहुः अथोदित्यः स सुपर्णो गरुत्मान। एकं सत विप्राः बहुधा वदन्ति अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (ऋ. १/१६४/६)

४अ. तदेवाग्निः तदादित्यः तद्वायु तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आप. सः प्रजापति॥
—यजु ३२/१

५. ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् —अथर्व. १०/७/१७

६. इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा
शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः।
सेदु राजा क्षयति चर्षणीनाम
राश्नेमिः परिता बभूव॥ —ऋ. १/३२/१५

परमात्मा या परमेश्वर का वाचक है। अब जीवात्मा के विषय में- 'मैं इन्द्र हूँ, मेरा कभी पराजय नहीं होता, यह धन मेरे पास ही रहता है। मैं कभी नहीं मरता, मैं अमर हूँ।'[७] यह वर्णन शरीर में रहने वाले प्रबुद्ध जीवात्मा का है। ...वेद में बहुधा सभी देवताओं के लिए प्रायः सभी नाम प्रयुक्त हुए हैं, अर्थात् अग्नि को इन्द्र कहा है। और आत्मा को भी इन्द्र कहा है। इसी प्रकार अन्य देवताओं को भी अन्य देवताओं के नाम दिए हैं।[८]

वही ब्रह्मा, इन्द्र, शिव, अग्नि, अक्षर और आत्मा है। अर्थात् ये सब नाम एक तत्त्व के हैं। जो तत्त्व पूर्वोक्त ऋग्वेद के 'इन्द्रं मित्रं' इत्यादि मंत्र में कहा गया है, वहीं यह कहा गया है। वेद में भी अग्नि को तू इन्द्र है ऐसा कहा गया है और इन्द्र को तू अग्नि है ऐसा कहा है।

इन मंत्रों में अग्नि के इन्द्र, वृषभ, विष्णु, ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति, राजा वरुण, मित्र, अर्यमा, अंश, त्वष्टा, रुद्र, भग ये शब्द प्रयुक्त किए हैं। इससे भी एक सद्वस्तु के अनेक नाम होते हैं, यही बात सिद्ध होती है।[९]

वर्णन में यह वैचित्र्य हो सकता है, गुह्य अनुभूतियों से रिक्त मन को भ्रमात्मक लगे। पर वास्तविक अर्थों में यह एकत्व बोध है। इस तथ्य और तर्क का उद्घोष है कि स्वयं ईश्वर ही विभिन्न देवशक्तियों के रूप में, शरीरस्थ जीवात्मा के रूप में और व्यापक विश्वात्मा के रूप में अनुभव होता है। इतना ही नहीं विश्व एवं विश्व के प्रत्येक पदार्थ के रूप में भी वही है।[१०]

इन्द्र प्रत्येक पदार्थ के रूप में तद्रूप होकर रह रहा है। यह उसका रूप देखने योग्य है। यह इन्द्र अपनी *शक्तियों से बहुत रूप धारण करता है।*

मानवीय बुद्धि को यह समझने में कठिनाई हो सकती है कि एक ही तत्त्व एक साथ अन्तस्थ और अतिशायी, विभु और अणु, एक और अनेक कैसे हो सकता है। लेकिन यह विशुद्ध बौद्धिक समस्या है। जबकि निरपेक्ष के बारे में मानसिक संकल्पनाएँ-बौद्धिक तर्क प्रवणता नहीं बल्कि अनुभव अंतिम कसौटी है। इसकी विलक्षण प्रकृति को समझाने के लिए शंकर को अनिर्वचनीय कहकर सन्तोष करना पड़ता है। ब्रैडले जैसे-तैसे का सहारा पकड़ते हैं। लाइबनित्ज पूर्व स्थापित सामंजस्य कहकर चुप्पी साधते हैं। वस्तुतः बुद्धि के अलावा कुछ ऐसे साधन भी हैं- जो कि परम सद्वस्तु का अनुभव देते हैं। इस अनुभव से होने वाले ज्ञान में एक पूर्ण आत्मज्ञान पूर्ण विश्व ज्ञान और पूर्ण ईश्वर ज्ञान समाहित है। ये तीनों तत्त्व अपने वास्तविक अर्थों में तीन न होकर एक ही है। लेकिन यह कोई बाह्य एकता नहीं है। ईश्वर स्वयं परम सद्वस्तु है, निरपेक्ष है। यह आत्मा और विश्व की सार रूप एकता है। जो इन दोनों का अतिक्रमण करती है। वेदों में ईश्वर की यह अवधारणा अपनी अनुभूति में तो समग्र एवं पूर्ण है, पर अभिव्यक्ति

---

७. अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं
न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन ॥

८. एष ब्रह्मा एष इन्द्रः ॥ ऐ. उ. ५/३
स ब्रह्मा स शिव सेन्द्रः ॥
-महानारा. ११/१३ कैवल्य.९
स इन्द्रः सोऽग्नि सोऽक्षरः -नृ. पू. १/४
एष ही खल्वात्मा इन्द्रः ॥ -मैत्री उ. ६/८

९. त्वमग्ने इन्द्रो वृषभः त्वं विष्णुः त्वं [illegible] ब्रह्मणस्पते. ॥ त्वमग्ने राजा वरुणः त्वं मित्रः त्वमर्यमा त्वमशः । त्वमग्ने त्वष्टा ॥ त्वमग्ने रुद्रो असुरः ॥ त्वं भगः ॥ (ऋग्वेद २/१ पृ. ३-७)

१०. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय
इन्द्रो मायाभिः पुरु रूप ईयते: ॥ -ऋग्वेद-६/४७/१८

में कुछ ऐसी काव्यात्मक और रहस्यमय है, जिससे सामान्य बुद्धि भ्रमित हो जाती है। आवश्यकता एक ऐसी अनुभूति सम्पन्न अभिव्यक्ति की है, जो आधुनिक मन को बोध दे सके।

◆ उपनिषदों में ईश्वर

वैदिक सूक्तों के 'एकं सत्' के उद्घोष को उपनिषत्कार 'ब्रह्म' कहकर स्वीकारते, अनुमोदन करते और अनुभव करते हैं। आत्मा केवल इन्सान के काय-कलेवर में ही नहीं है। बल्कि दुनिया के सभी पदार्थों, सूर्य, चन्द्र एवं पार्थिव जगत् में भी एक चेतन तत्त्व व्याप्त है। इस विश्व में व्याप्त वही चेतन आत्मा ब्रह्म है। इसके परे और कुछ नहीं है। जिस तरह मिट्टी के ढेले को जानने के बाद जो कुछ उससे बना हुआ है, उसको आसानी से जाना जा सकता है। उसी प्रकार आत्मा रूपी ब्रह्म को जानने के बाद सब कुछ जान लिया जाता है।

अब सवाल यह उठता है कि रंग, रूप, गन्ध, ध्वनि एवं रस युक्त जो यह विश्व है, इसमें होने वाले जो क्रिया कलाप है, उन्हें किस रूप में जाना जाय? लेकिन यहाँ यह ध्यान रखने की बात है उपनिषद, किसी मतवाद का शास्त्रीय संविधान अथवा तर्क पूर्ण प्रणाली नहीं है। यह तो उन ऋषियों की वाणी है जो ब्रह्म की प्रेरणा से ओत-प्रोत थे। यहाँ ब्रह्म की एकरूपता और प्रकृति की अनेकरूपता के विरोधाभास को देखकर भय नहीं है। अनेक रूपी प्रकृति की असलियत को पहचान, उपनिषदों की वाणी ने उसे स्वीकारा और साथ ही यह घोषित किया कि ये सब ब्रह्म है। इस ब्रह्म ने उस प्रकृति को अपने आप से प्रकट किया है फिर वह स्वयं अन्तर्यामी के रूप में प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है। इस तरह यहाँ एक प्रकृति एवं ब्रह्म के द्वैतवादी रूप का संकेत स्पष्ट ही मिलता है, जिसमें ब्रह्म प्रकृति को नियंत्रित करता है। यद्यपि दूसरे स्थानों पर बड़े विश्वस्त स्वरों में कहा गया है कि केवल नामों और रूपों का भेद है।

समूची दुनिया में ब्रह्म ही सक्रिय तत्त्व है और फिर भी वह सबसे शान्त और अचल है। यह विश्व ही उसका शरीर है और वह स्वयं इसके अन्तर में निवास करने वाली आत्मा है। वह सृष्टिकर्त्ता है। उसकी इच्छा के अनुसार ही सारे काम सम्पन्न होते हैं। वह रस और गन्ध का स्वामी है, सर्व व्यापक है, शान्त है और शाश्वत है, जो किसी वस्तु से प्रभावित नहीं होता।[११] वह ऊपर, नीचे, पीछे और सामने, दक्षिण और उत्तर सभी दिशाओं में अवस्थित है। वह यह सब है।[१२] पूर्व व पश्चिम से बहने वाली जिन नदियों का समुद्र से ही उद्गम है, वे पुनः समुद्र में विलीन होकर समुद्र बन जाती है यद्यपि वे इसको नहीं जानतीं। इसी तरह प्राणी मात्र उस महान् आत्मा से उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाते हैं और ये नहीं जानते कि वे उस महान् तत्त्व के ही चेतन अंश हैं।[१३] पाल डायसन महोदय कहते हैं- ब्रह्म काल के पूर्व कारण रूप में विद्यमान था और प्रकृति उस महान कारण से कार्य रूप में पैदा हुई। यह विश्व आन्तरिक रूप से ब्रह्म के रूप में निर्भर है। वास्तव में ब्रह्म का ही स्वरूप है। मुण्डक उपनिषद के पहले अध्याय १.७ श्लोक में कहा गया है-

"जिस तरह मकड़ी अपने जाल के तन्तुओं को स्वयं में से उत्पन्न करती है और फिर समेट लेती है। जिस प्रकार पृथ्वी में से वृक्षादि उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार मनुष्य के सिर पर और जीवित शरीर पर केश उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उस अविनाशी ब्रह्म से प्रकृति उत्पन्न होती है। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से उसके प्रतिरूप हजारों की संख्या में स्फुलिंग उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म में से अनेक जीवधारी प्राणी उत्पन्न होकर पुनः उसी में समा जाते हैं।"[१४]

इस सिद्धान्त के विकास के साथ कि ब्रह्म इस विश्व को संचालित करता है। वही अन्तर्यामी है और प्रकृति की सभी शक्ति में और कण-कण में विद्यमान है। वही प्राणी मात्र की आत्मा है, संसार के सारे काम

---

११. छान्दोग्य- ३/१४/४
१२. वही, ७/२५/१ तथा मुण्डक-२/२/११
१३. छान्दोग्य- अध्याय ६,१०
१४ पाल डायसन- फिलासफी ऑफ द उपनिषद्स, पृ. १६४

उसकी इच्छा से सम्पादित होते हैं और उसकी आत्मा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। इन सबसे एक आस्तिकवादी विचारधारा जन्मी, जिसमें ब्रह्म को ऐसे परमात्मा के रूप में माना जाने लगा, जो सबसे अलग और साथ ही सारी दुनिया की संचालक शक्ति के रूप में देखा जाने लगा। ऐसा कहा गया सूर्य और चन्द्र , पृथ्वी और आकाश परमात्मा की इच्छा के अनुसार अपने-अपने स्थान पर स्थित है।[१५] श्वेताश्वतर उपनिषद के प्रसिद्ध श्लोक में आत्मा और परमात्मा का भेद बतलाते हुए कहा है- "दो दिव्य पंखों वाले अभिन्न हृदय मित्र एक ही वृक्ष के चारों और उड़ रहे हैं। उनमें से एक उस वृक्ष के मीठे फलों का रसास्वादन करता है। और दूसरा बिना कुछ खाए नीचे देखते रहता है।"[१६]

इस आस्तिकवादी विचारणा व कई स्थानों पर ईश अथवा ईशान शब्द के प्रयोग के बावजूद उपनिषद वादों से परे हैं। इनका समूचा जोर सत्यान्वेषण पर है। कई अन्य सन्दर्भों में ब्रह्म को एक शाश्वत सत्तावान वृक्ष कहा गया है। वह एक ऐसा अमर वृक्ष है, जिसकी जड़ें ऊपर उत्पन्न होती हैं और जिसकी शाखाएँ नीचे होती हैं। सारी सृष्टियाँ उस पर आधारित हैं और कोई उसके परे नहीं है। यह वह है- जिसके भय से अग्नि जलती है, सूर्य चमकता है, जिसके भय से इन्द्र और वायु संचालित होते हैं तथा पाचवां मृत्यु भी जिसके भय से ही संचालित है।[१७]

यदि छोटे-छोटे उप-मतों की चिन्ता न करके उपनिषदों की प्रमुख विचारधाराओं के आधार पर ईश्वर के स्वरूप के बारे में गहन चिन्तन किया जाय तो तीन बातें नजर आती हैं। पहली- इस संसार में ब्रह्म ही यथार्थ सत्य है। परमात्मा के अनन्तर जो कुछ है वह सब असत्य-अर्थहीन है। दूसरी प्रमुख विचाराधारा बहुदेववादी विचार धारा है- जिसके अनुसार ब्रह्म ही विश्व की अनेक नियंत्रक शक्तियों के रूप में सक्रिय है। पर प्रकृति और परमात्मा सर्वथा अभेद हैं। तीसरी विचारधारा वह ईश्वर वादी मत है, जिसके अनुसार ब्रह्म को इस व्यापक संसार का महान् संचालक एवं अधिष्ठाता के रूप में स्वीकार किया गया है। लेकिन ये सारी विचारधाराएँ अनिश्चित रूप में दिखाई देती हैं। कोई एक विचारधारा क्रमबद्ध व ठोस रूप में नहीं विकसित हो सकी। इसी कारण से उत्तरकाल में वेदान्त के महान् आचार्य शंकर और रामानुज इनके विभिन्न अर्थों में सदैव विवाद करते रहे। इस समस्या का एक ही हल है, महान् ऋषियों के व्यापक अनुभव अपनी समूची व्यापकता में अभिव्यक्त हो। ऐसी व्यापकता जिसमें सारे विवाद समाकर निर्विवाद हो जाये।

षड् दर्शन में ईश्वर का स्वरूप

निरन्तर अपने इस ध्येय की ओर बढ़ती जा रही ऋषियों की ज्ञान सम्पदा को सूत्र संकेत के रूप में कहने की एक मौलिक कोशिश इस भूमि पर सम्पन्न हुई, जिसे दर्शन का नाम मिला। ये ज्ञान सम्पदा के अपरिमित सागर में से भरे गए कुछ अमृत कलश हैं, जो पीने वाले के मन में सत्-चित्-आनन्द के अविरल प्रवाह से एक हो जाने की ललक पैदा करते हैं।[१८] यह अभीप्सा षड् दर्शनों में संजोये, जिस ईश्वर तत्त्व को लेकर हैं। ये पंक्तियाँ उसके स्वरूप पर विचार करने के लिए अग्रसर हैं।

◆ न्याय दर्शन का ईश्वर विचार

न्याय दर्शन में ईश्वर की सत्ता पर बड़ी गम्भीरता और बारीकी से विचार किया गया है। इसके अनुसार ईश्वर निःशरीर है, लेकिन उसमें इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न ये गुण विद्यमान है। वह सर्वज्ञ है, शक्तिमान है और अनन्त ज्ञान का आगार है। इस जगत् का बनाने वाला संस्थापक, नियामक और संहारक सभी कुछ वही है। दिक्-काल, आकाश, मन, आत्मा तथा भौतिक परमाणुओं

---

१५. बृहदा अध्याय ३, ८, ९
१६ श्वेताश्वतर-४/६, मुण्डक-३/१/१ एवं पाल डायसन- फिलासफी आफ द उपनिषद्स, पृ १७७
१७. कठ.-२/६/१ व ३
१८. आचार्य श्रीराम शर्मा- ज्ञान और विज्ञान का महासागर है-आर्ष वाङ्मय, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ६, पृ ४८

की सहायता से वह सृष्टि की रचना करता है। ये परमाणु आदि नित्य हैं। ईश्वर में रहने वाली सत्ताएँ हैं। ये सत्ताएँ ही जगत् के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। यद्यपि इन नित्य द्रव्यों की सहायता से ईश्वर जगत् का निर्माण करता है, किन्तु उनकी अपेक्षा वह व्यापक है, अनन्त है, असीमित है। उनसे बंधा हुआ नहीं है। जीवों को समस्त कर्म फलों को देने वाला वही है।[१९] जीवों के पाप-पुण्यों के अनुसार वह उन्हें सुख-दुःख देता है। जीव अल्पज्ञ है, किन्तु ईश्वर सर्वज्ञ है। इस तरह न्याय दर्शन के अनुसार- ईश्वर ही इस जगत् का कर्त्ता है, कर्मों का अधिष्ठाता भी है। उदयनाचार्य ने ईश्वर को निराकार, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अनादि, अविकारी, अनन्त, विभु, सच्चिदानंद, दयालु, न्यायी आदि माना है।[२०]

ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में न्यायदर्शनकारों ने जो युक्तियां बतायी हैं, उदयनाचार्य की न्याय कुसुमाञ्जलि में उनका निष्कर्ष इस श्लोक में व्यक्त किया गया है-

> कार्यायोजन धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
> वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्यः॥

कार्यात्- जिस तरह घड़े का निर्माण करने के लिए कुम्हार की जरूरत पड़ती है। उसी तरह जगत् का निर्माण करने के लिए सर्वज्ञ ईश्वर की आवश्यकता होती है।

आयोजनात्- जड़ परमाणुओं के संयोग से विभिन्न वस्तुओं की रचना के लिए चेतन ईश्वर की आवश्यकता है। ईश्वर की ही इच्छा से परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है और तब नाना रूपमय वस्तुओं का निर्माण होता है।

धृत्यादेः- इस जगत् का धारण करने वाला और कोई नहीं है। वह विश्व नियन्ता ईश्वर ही है।

पदात्- इस जगत् के जो अनन्त कला कौशल परम्परा से अज्ञात रूप में चले आ रहे हैं, उनका उद्गम स्थान ईश्वर ही है।

प्रत्ययतः- विज्ञान की सत्यता को देखकर यह विश्वास होता है कि अवश्य कोई स्रष्टा है। असीम ज्ञान का भण्डार ही ईश्वर है।

श्रुतेः- श्रुति ग्रन्थ ईश्वर की सर्वज्ञता और सृष्टिकर्त्ता होने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

वाक्यात्- वेद वाक्यों को इसलिए प्रामाणिक माना गया है कि वे ईश्वर वचन हैं।

संख्या विशेषात्- दो परमाणुओं के मिलने से द्वयणुक और द्वयणुकों की तीन संख्या से त्र्यणुक बनता है। प्रलय काल में जब सारा प्राणी जगत् निद्रा में निमग्न रहता है, जिसकी अपेक्षा बुद्धि से ये संख्याएँ बनती हैं वही ईश्वर है।

◆ वैशेषिक दर्शन की ईश्वर दृष्टि

वैशेषिक सूत्र में कणाद ने स्पष्ट रूप से ईश्वर का नाम कहीं नहीं लिया है। कणाद के व्याख्याकारों ने कुछ सूत्रों में (उदाहरण के लिए १/१/३, २/१/१८-१९, ७/२/२० आदि) ईश्वर का संकेत ढूँढने का प्रयास किया है। किन्तु इन सूत्रों की व्याख्या ईश्वर को माने बिना भी की जा सकती है। लेकिन कणाद की जीवनी को साक्षी मानने पर यह भी मानना पड़ेगा कि वे ईश्वरवादी थे।[२१] वैशेषिक तथा अन्य सम्प्रदायों के अनेक आचार्यों द्वारा मान्य कणाद के जीवन चरित्र की सत्यता में भी कोई सन्देह नहीं।

कणाद के बाद के आचार्यों में प्रशस्तपाद सर्वप्रथम आचार्य हैं जिन्होंने ईश्वर की सत्ता मानी है। प्रशस्तपाद

---

१९. 'ईश्वरः कारणं पुरुष कर्म फलदर्शनात्' न्याय दर्शन- ४/१/१९

२०. ईश्वरोऽयं निराकारः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान।
अनादिरविकारी चानन्तः सर्वगतो विभुः॥
सच्चिदानन्द रूपोऽपि दयालुर्न्यायतत्परः।
सर्गे स्थितौ लये हेतुः नित्सतृप्तो निराशयः॥ उदयनाचार्य- न्यायकुसमाञ्जलि, परिशिष्ट भाग

२१. प्रो. ठाकुर- इन्ट्रोडक्शन टू द वैशेषिक दर्शन, पृ. १०

और कणाद के बीच ५००-६०० वर्षों का व्यवधान होने पर भी साहित्यिक दृष्टि से कोई लम्बा व्यवधान नहीं है। इसलिए कणाद का ईश्वरवादी होना सर्वथा तर्कसंगत है। अन्यथा वैशेपिक दर्शन में ईश्वर का समावेश करने वाले प्रशस्तपाद ईश्वर का उल्लेख या स्वीकार बिना किसी तर्क वितर्क के नहीं कर लेते। यही नहीं आचार्य शंकर ने भी वैशेपिक मत को प्रस्तुत करते हुए उसमें ईश्वर के स्थान को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।[२२]

ईश्वर का स्वरूप वर्णन करने में वैशेपिक के स्वर न्याय की भाँति ही है। इसमें भी संसार की रचना के लिए ईश्वर की निमित्त कारणता को स्वीकार किया है-

> संज्ञाकर्मत्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम
> प्रत्यक्ष प्रवृत्तत्वात्संज्ञाकर्मण: (वैशेपिक सूत्र)

इन सूत्रों के उपस्कर में शंकर मिश्र लिखते हैं-

संज्ञा नाम कर्म कार्य क्षित्यादि तदुभयं अस्मद् विशिष्टानां ईश्वर महर्षीणां सत्त्वेऽपि लिङ्गम। घट पदादि संज्ञा निवेशनमपि ईश्वर संकेताधीन मेव। य: शब्दो यत्र ईश्वरेण संकेतित: स तत्र साधु:। तथा च सिद्धं संज्ञया ईश्वर लिङ्गत्वम्। एवं कर्मापि कार्यमपि ईश्वरे लिङ्गम। तथा हि क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्पटवत् इति।

अर्थात्- संज्ञा या नाम या कर्म अर्थात् क्षिति अप आदि कार्य ये दो लौकिक मनुष्य से विशेपता युक्त ईश्वर, महर्पि आदि के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। घट पट आदि नाम से जो तत्त पदार्थों का बोध हो जाता है, उसमें ईश्वर का संकेत ही कारण है। क्षिति-अप आदि जब कार्य है, तो इनके कर्त्ता भी कोई अवश्य होंगे वही कर्त्ता ईश्वर है।

प्रशस्त पादाचार्य ने तत्वज्ञान को ईश्वरीय प्रेरणा से उत्पन्न माना है। यथा-'तच्च ईश्वरे नोदनाभि-व्यक्ताद्धर्मादेव''वह तत्वज्ञान ईश्वर प्रेरणा जनित धर्म से उत्पन्न होता है।' इसके अतिरिक्त वह नित्य परमाणुओं के संघात से सृष्टि और विश्लेपण से प्रलय के विपय में वैशेपिक दर्शन के सिद्धान्तों का वर्णन करते समय लिखते हैं- ''सकल भुवनपति महेश्वर की अलौकिक इच्छा शक्ति के द्वारा ही परमाणुओं में स्पन्दन शक्ति उत्पन्न होकर इस प्रकार सृष्टि और प्रलय हुआ करता है।'' परवर्ती काल में नव्य वैशेपिकों ने भी वैशेपिक दर्शन में ईश्वर सत्ता की विशेप सिद्धि की है। कहीं-कहीं ज्ञान आदि कई गुणों के साथ भी ईश्वर का सम्बन्ध निर्णय किया है।

❖ सांख्य दर्शन की ईश्वर परायणता

आचार्य जी के अनुसार- ''सांख्य दर्शन वास्तव में मनोवैज्ञानिक दर्शन है। इसके तत्त्व स्थूल नहीं हैं। वे हमारे बौद्धिक जगत् के तत्त्व हैं। इस जगत् मे केवल सूक्ष्म तत्त्व ही हैं। उनके सम्बन्ध में विचार भी सूक्ष्म हैं। अतएव जिसमें जितनी बुद्धि होती है, वह उतनी ही सूक्ष्म विचार कर सकता है। इसलिए सांख्य के तत्वों के विचार में भेद होना असम्भव नहीं है। एक समय था जब सांख्य दर्शन का अध्ययन बहुत व्यापक रूप में होता था। खेद का विषय है कि आगे उसके रहस्य को विद्वान् लोग भूल गए। प्राचीन परम्परा नष्ट हो गई और विद्वानों ने सांख्य भूमि को न्याय-वैशेपिक भूमि के समान ही स्थूल जगत् के तत्वों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र मान लिया। इसमें संदेह नहीं कि बुद्ध के पश्चात् भारतवर्ष में बहुत ऊँचे दर्जे के विद्वान् हुए और उन्होंने दर्शनो के ऊपर बहुत विचार किया। इनकी विद्वता पाण्डित्यपूर्ण थी, पर बहिर्मुखी थी। जहाँ तक दार्शनिक बाह्य जगत् से विशेप सम्बन्ध रखता है, वहाँ तक तो इनके पाण्डित्य ने दर्शन शास्त्र ने चमत्कार कर दिखाया, किन्तु जहाँ से उस विचार का क्षेत्र एक प्रकार से अलौकिक जगत् में प्रवेश करता है, वहाँ इनका पाण्डित्य बहुत सफल नहीं रहा। वहाँ तो ज्ञानियों की अन्तर्दृष्टि होने से ही सफलता मिलती है।''[२३]

यह पाण्डित्य की बहिर्मुखी दृष्टि ही है, जिसके प्रभाव मे सांख्य सिद्धान्त के विरोधी उस पर निरीश्वरवादी होने का आक्षेप किया करते हैं और कहते हैं कि महर्पि

---

२२. कणादस्तु एतेभ्य एवं वाक्येभ्य ईश्वर निमित्तकारणमनुमिमते अणूंश्च समवायिकारणम्- ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य १/१/५

२३. आचार्य श्रीराम शर्मा- समाधि-सांख्य दर्शन, भूमिका प्रकाश पृ. [illegible]

कपिल ने सांख्य सूत्रों में ईश्वर का खण्डन किया है। ऐसे लोग कहा करते हैं कि सांख्य में प्रकृति को ही जगत् की उत्पत्ति का कारण मान लिया है, ईश्वर का कहीं जिक्र नहीं किया। दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि कपिल ने जगत् रचना के लिए २५ तत्त्वों का वर्णन कर दिया है। जिसमें २४ तत्त्व प्रकृति के हैं और केवल एक चैतन्य का 'पुरुष' माना जाता है। उस पुरुष के जो लक्षण बतलाए हैं, उनसे वह जगतकर्त्ता नहीं सिद्ध होता, वरन् जन्म-मरण धर्म वाला साधारण जीव प्रतीत होता है। इससे वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सांख्य दर्शन प्रकृतिवादी है और वह सृष्टि रचना में ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं समझता।

पर जब हम सांख्य सूत्रों का गम्भीरता पूर्वक मनन करते हैं और कपिल के वास्तविक मन्तव्यों पर ध्यान देते हैं तो उपरोक्त आक्षेप में कोई सार नहीं जान पड़ता। यद्यपि सांख्य अद्वैतवादी नहीं है, वह ईश्वर को जगत् का उपादान कारण स्वीकार नहीं करता, पर वह उसे सृष्टि रचना का निमित्त कारण अवश्य मानता है, जैसा कि तीसरे अध्याय के ५५ वें सूत्र में स्पष्ट कहा गया है-

अकार्य त्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ॥३/५५॥

अर्थात्- 'ईश्वर का कार्य परिणाम न होने पर भी परवश होने के कारण जगत् से ईश्वर का क्या सम्बन्ध है।' आशय यह है, यह चरचरात्मक जगत् परवश है, अर्थात् इसकी रचना अपने आप नहीं हो सकती, इसका कोई निमित्त कारण होना आवश्यक है। इसलिए यद्यपि हम नहीं कहते कि जगत् ब्रह्म में से मकड़ी के जाले की तरह निकल आया, पर यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि मूल प्रकृति ने इसकी रचना ईश्वर की प्रेरणा से ही की है। जगत् का उपादान कारण न होकर ईश्वर इसका नियामक है-

स हि सर्ववित् सर्पकर्त्ता ॥३/५६॥

अर्थात्- 'वह ईश्वर सर्वान्तरयामी है और सबका कर्त्ता (अधिष्ठाता) है।' विश्व में ऐसा कोई पदार्थ नहीं हो सकता जो ईश्वरीय सत्ता से शून्य हो। ईश्वर छोटे-छोटे से अणु से लेकर बड़े से बड़े ग्रह और नक्षत्र में भी व्याप्त है। इस दृष्टि से ईश्वर को जगत् का रचयिता अथवा नियंत्रण करने वाला स्वीकार करना आवश्यक है और इसके अगले सूत्र में इस तथ्य को बिलकुल स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया है।

ईदृशेश्वर सिद्धिः सिद्धा ॥३/५७॥

अर्थात्- 'इस प्रकार ईश्वर की सिद्धि इस दर्शन में दृढ़ता से की गई है।' तात्पर्य यह है कि यद्यपि सांख्य ईश्वर को जगत् को उपादान कारण स्वीकार नहीं करता अर्थात् वह यह नहीं स्वीकार करना चाहता कि हमारे पैरों के नीचे जो पत्थर, कंकड़ पड़ा है, वह 'ब्रह्म' है पर वह ईश्वर को जगत् का नियंता व अधिष्ठाता रूप में निश्चित रूप से स्वीकार करता है।[२४]

यही नहीं सांख्य दर्शन ने अलौकिक प्रत्यक्ष (साधनात्मक दृष्टि से) ईश्वरीय अनुभव को प्रमाणित किया है। यथा-

योगिनाम बाह्य प्रत्यक्षत्वान्न दोषः ॥१/९०॥
लीन वस्तु लब्धातिशय सम्बन्धाद्वाऽदोषः ॥१/९१॥
ईश्वरासिद्धेः ॥१/९२॥
मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ॥१/९३॥
अभयायाप्य सत्करत्वम् ॥१/९४॥
मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा ॥१/९५॥

'इन्द्रियों की सहायता से लौकिक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त योगीगण योग बल से जो अतीन्द्रिय वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं, उसका सांख्य भूमि में प्रयोजन न रहने पर भी ऐसे प्रत्यक्ष करने में कोई दोष नहीं है। योगीगण इस प्रकार अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा अतीत, अनागत, सूक्ष्म, व्यवहृत वस्तुओं का भी अनुभव कर लेते हैं। जैसा कि ईश्वर अति सूक्ष्म तथा लौकिक प्रत्यक्ष के अगोचर होने पर भी योगीगण अतीन्द्रिय, अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा उनको जान लेते हैं। लौकिक विचार से सांख्य भूमि में ईश्वर सिद्ध नहीं होते क्योंकि ईश्वर न तो मुक्त ही हो सकते हैं और न बद्ध। मुक्त होने पर उनमें

२४. आचार्य श्रीराम शर्मा- सम्पादित-सांख्य दर्शन, भूमिका प्रकरण, पृ. २८, २९, ३०, ३१, ३२

अभिमान का अभाव होने से सृष्टि कर्तृत्व नहीं आ सकेगा और बद्ध होने पर उनमें सृष्टि की शक्ति ही नहीं आ सकेगी। अत: लौकिक प्रत्यक्ष- विचार से ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकते। इतना कहकर फिर सांख्य दर्शन कहता है कि 'यद्यपि लौकिक विचार से ईश्वर की सत्ता प्रमाणित नहीं होती परन्तु मुक्तात्मा पुरुषगण बारम्बार शास्त्र में ईश्वर की स्तुति कर गए हैं, इसलिए ईश्वर के अस्तित्व के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए।' इस तरह सांख्यकार महर्षि कपिल यह नहीं कहते कि ईश्वर नहीं है। बल्कि यह बताते हैं कि उसके स्वरूप के स्पष्ट अनुभव के लिए तप साधना से अर्जित दिव्य दृष्टि चाहिए। इसके द्वारा यह जान सकना सहज हो जाएगा कि ईश्वर- सर्वकर्ता-प्रकृति का अधिष्ठाता और नियन्ता है।

◆ योग दर्शन की ईश्वर प्राप्ति

महर्षि पतंजलि ने ईश्वर के स्वरूप उसकी उपासना और प्रभाव को ऐसे ढंग से समझाया है कि एक सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति को उसमें सन्देह नहीं रहता। ईश्वर का स्वरूप वर्णन करते हुए वे कहते हैं-

क्लेश कर्म विपाकशयै परामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः ॥१/२४॥

ईश्वर आत्मा के रूप से भिन्न नहीं है, पर संसार में आया हुआ जीवात्मा जिस प्रकार अविद्या राग, द्वेष आदि क्लेशों में फँस रहा है, वह दोष ईश्वर में बिलकुल नहीं है। ईश्वर में किसी प्रकार की वासना नहीं है, इसलिए वह कोई कर्म नहीं करता। कर्म न करने पर उसे न तो किसी प्रकार का कर्मफल भोगना पड़ता है और न वह प्रारब्ध के बन्धन में पड़ता है। उसका इन बातों से कभी किसी तरह का सम्बन्ध नहीं रहा। यद्यपि जीवात्मा भी मुक्त होने के बाद इस प्रकार क्लेश और कर्म बन्धन से सर्वथा पृथक् हो जाता है, तो भी पहले तो उसका इनसे सम्बन्ध रहता ही है, जबकि ईश्वर का सम्बन्ध कभी नहीं रहता। इसलिए ईश्वर पुरुष होने पर भी पुरुष विशेष है। फिर ईश्वर की दूसरी विशेषता बतलाते हैं-

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञत्वबीजम् ॥१/२५॥

उस ईश्वर में सर्वज्ञता का गुण पूर्ण मात्रा में पाया जाता है। भूत, भविष्य और वर्तमान में जो स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ है या घटनाएँ होती रहती हैं, उन सबका न्यूनाधिक ज्ञान अनेक मनुष्यों को होता है। योगी लोग चित्त की एकाग्रता और किसी विषय में विशेष रूप से संयम करके इतना ज्ञान भी प्राप्त कर सकते हैं जो हमको चमत्कार की तरह जान पड़ता है। पर उसका ज्ञान अपूर्ण ही रहता है। छोटे योगी से बड़े योगी को अधिक ज्ञान होता है और सिद्ध योगी को उनसे भी बहुत अधिक होता है, पर फिर भी उनको सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता। ईश्वर में ज्ञान की अवधि है।[25] यही नहीं वह काल की सीमा से भी परे है। इसी आशय को योग सूत्र में 'कालानवच्छिन्न' शब्द से कहा गया है।[26] उसकी अप्रतिहत शक्ति कहीं भी किसी तरह नहीं रूकती। उसमें ज्ञान शक्ति इच्छाशक्ति एवं क्रियाशक्ति तीनों परम उत्कर्ष को प्राप्त है। श्रुति आदि ग्रन्थों में ईश्वर को ॐकार नाम से पुकारा गया है। "ॐकार का ही दूसरा नाम प्रणव है और प्रणव ईश्वर का वाचक है।"[27]

चित्त को एकाग्र बनाने के लिए महर्षि पतंजलि ने योग के अभ्यासियों को "प्रणव का जप करने का परामर्श दिया है।"[28] प्रणव के अर्थानुसंधान करके जिसने अपने ध्यान का केन्द्र बिन्दु एक मात्र ईश्वर को बना लिया है। "उसके अविचल ध्यान से द्रवीभूत हुआ ईश्वर उस पर कृपा की वर्षा करता है। ईश्वर की इस कृपा से साधक योग की अन्तिम अवस्था 'असम्प्रज्ञात' को प्राप्त करता है।"[29]

ईश्वर प्रकृष्ट सत्त्वप्रधान चित्त को धारण करके ही भक्तों के उद्धारार्थ अपनी शक्ति का प्रयोग करता है।

---

२५. आचार्य श्रीराम शर्मा- योग दर्शन, भूमिका प्रकरण, पृ. १९-२०
२६. स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। योगसूत्र- १/२६
२७. तस्य वाचकः प्रणवः। वही, १/२७
२८. तज्जपस्तदर्थभावनम्। योग सूत्र- १/२८
२९. तदभिध्यानमात्रादपि योगिनः आसन्नतरः समाधिलाभः समाधिफलं च भवति। व्यास भाष्य, पृ. ६५

यह 'प्रकृष्ट-चित्त' प्रकृति का ही कार्य है। महाप्रलय की अवस्था में ईश्वर अपनी इस उपाधि को धारण किये रहता है या नहीं? इस सवाल को लेकर योग के व्याख्याकारों में मतभेद है। वाचस्पति एवं उनके मतानुयायियों के अनुसार- "ईश्वर का प्रकृष्ट सत्त्व प्रधान चित्त प्रकृति अर्थात् प्रकृति का कार्य होने के कारण लयशील है।"[३०] जबकि विज्ञान भिक्षु एवं उनके अनुयायियों का इस सम्बन्ध में दूसरा मत है। ये महाप्रलय में ईश्वरोपाधि का लय नहीं मानते।[३१] अपने मत के समर्थन में इन आचार्यों ने बहुतेरी युक्तियाँ दी हैं। इस प्रकार योग दर्शन में ईश्वर को लेकर उसके कई पहलू पर विचार किया गया है।

◆ मीमांसकों का ईश्वर

"जब वैदिक कर्मकाण्ड कई शाखाओं में बंट गया और लोग एक दूसरे से विपरीत विधान का प्रयोग करने लगे- तब महर्षि जैमिनि ने अनेक प्रकार की क्रियाओं और विभिन्नताओं का विश्लेषण करके वेद वाक्यों के वास्तविक आशय को प्रकट करने के लिए मीमांसा सूत्रों की रचना की।"[३२] इन सूत्रों में उल्लेखित- कर्म ही अपनी शक्ति से फल देने में समर्थ है। इस सिद्धान्त को सुनकर एवं सूत्रकार जैमिनि और भाष्यकार शबर स्वामी द्वारा अपने ग्रन्थों में मंगलाचरण न किया हुआ देखकर कुछ लोग मीमांसा दर्शन को निरीश्वरवादी कहने लगते हैं। लेकिन गहराई से विचार करने पर निरीश्वरवादी कहने वालों की अल्पज्ञता स्पष्ट हो जाती है। सूत्रकार जैमिनि ने अपने मूलग्रन्थ का प्रारम्भ 'अथ' शब्द से किया है। उसी तरह भाष्यकार शबर स्वामी ने अपने भाष्य की शुरूआत 'लोक' शब्द से की है। भूलना नहीं चाहिए 'अथ' शब्द स्वयं मंगलवाचक है, उसी में सन्निहित 'धर्म' शब्द है, जो परमेश्वर का नाम है। भाष्य के आरम्भ में 'लोक' शब्द है जो परमेश्वर का नाम है। इस तथ्य की पुष्टि 'विष्णु सहस्रनाम' से हो जाती है। उनके परवर्ती सभी ग्रन्थकारों ने उन्हीं दोनों को मीमांसा दर्शन को मूल पुरुष मानकर अपने-अपने ग्रन्थों की रचनाएँ की है तथा उनके आरम्भ में, अन्त में कहीं-कहीं मध्य में भी मंगलाचरण पाये जाते हैं। प्रभाकर मतानुयायी नन्दीश्वर ने 'प्रभाकर विजय' में स्पष्ट कहा है कि "ईश्वर के अस्तित्व में श्रेष्ठतम प्रमाण वेद ही हैं। मीमांसा ग्रन्थों में जिसे ईश्वर का खण्डन माना जाता है वह ईश्वर का खण्डन न होकर नैयायिकों के अनुमान का खण्डन है।"[३३] नैयायिकों ने अपने कल्पित अनुमान से ईश्वर की सिद्धि की थी। सम्भव है बाद के समय में कोई अधिक बुद्धिमान इस अनुमान का खण्डन कर दे, और अनीश्वरवाद को ही अपने अनुमान से पुष्ट कर उसका प्रचार करने लगे। इस अनर्थ से समाज को बचाने के लिए अनुमान का खण्डन करना पड़ा। समाज को कर्मठ बनाने के लिए कर्म की प्रधानता बताना इस दर्शन का प्रधान लक्ष्य था, जिसे उसने पूर्ण रूप से निभाया।[३४]

इसका निर्वाह करते हुए "मीमांसा दर्शन की भूमियों में परमात्मा के ऐश्वर्य, माधुर्य और ज्ञानभाव की क्रमशः पूर्णतया सिद्धि की गई है। ऐश्वर्य, परमात्मा, अदृष्ट के विधाता पुण्य के फलदाता, पापियों के शासनकर्त्ता और धर्म के प्रतिष्ठाता, सर्व शक्तिमान ईश्वर है। यज्ञ उनका स्वरूप है, वेद उनकी वाणी है या निश्वास है।"[३५] इस तत्त्व को समझकर ही कुमारिल और प्रभाकर परम्परा के विचारकों- जैसे खण्डदेव, शालिकानाथ तथा नन्दिकेश्वर आदि ने ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में अपनी स्पष्ट स्वीकारोक्ति व्यक्त की है।

---

३०. यस्य हि न कदाचिदपि प्रधानसाम्य न तत्प्राधानिकम्। तत्त्ववैशारदी, पृ. ६९
३१. ईश्वरोपाधेज्ञानिलक्षणावृत्ति. प्रलयेऽप्यस्ति। -योगवार्तिक, पृ. ६८
३२. आचार्य श्रीराम शर्मा- मीमांसा दर्शन, भूमिका प्रकरण, पृ. २५
३३. प्रभाकर विजय, पृ. ७६-८३,
भाट्टचिन्तामणि, गागाभट्ट, पृ. ४२-४३
३४. न्यायकणिका- पृ. २१२-२१९
३५. स्वामी जी श्री दयानन्द जी- दर्शनों में ईश्वर, कल्याण ईश्वरांक, पृ. ३१०

◆ वेदान्त दर्शन का ईश्वर ज्ञान

''वेदान्त सूत्र बहुत ही संक्षेप में लिखे गये हैं और उसमें प्रतिपाद्य विषय का बहुत सूक्ष्म संकेत पाया जाता है। जिससे कई प्रकार के अर्थ निकाले जा सकते हैं। इसके सिवाय जिस समय इन सूत्रों की रचना हुई थी, उस समय लिखने में विराम, अर्द्ध विराम, पूर्ण विराम आदि चिह्न लगाने का नियम न था, जिससे किसी वाक्य को इच्छानुसार तोड़ा और विभाजित किया जा सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक विद्वान ने अपनी बुद्धि और अपने मत के अनुकूल सूत्रों का भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ करके उनके भाष्य लिखे। इस तरह के भाष्यों में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य के भाष्य अधिक प्रसिद्ध हैं।''[३६] इनमें से प्रत्येक ईश्वर के स्वरूप के बारे में क्या ज्ञान प्राप्त किया, उसकी विविधता मनन करने योग्य है। इस विविधता में मूल सूत्रों में समाहित वास्तविक तत्त्व की कोई न कोई विशेषता जरूर प्रकाशित हुई है।

◆ आचार्य शंकर का अद्वैतवाद

''अद्वैत सिद्धान्त का सारांश यह है कि इस जगत् में हमको नेत्रों से जो कुछ दिखाई दे रहा है वह सत्य नहीं है। इस समस्त विश्व प्रपंच में यदि कोई वस्तु सत्य है तो वह ब्रह्म की चैतन्य सत्ता है। जो अपनी माया या अविद्या नाम वाली शक्ति से इस दृश्य जगत् की उत्पत्ति पालन और संहार करती है। वह माया न सत् है न असत् वरन् उसे हम अनिर्वचनीय ही कह सकते हैं। इस माया द्वारा जगत् की उत्पत्ति में किसी तरह की वास्तविकता नहीं है, वरन् उसके द्वारा निर्मित यह जगत् एक प्रकार का भ्रम या स्वप्न सदृश है, जो सत्य जान पड़ता है, पर जिसकी सत्ता रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाने से अधिक नहीं है। इस सिद्धान्त को 'विवर्तवाद' कहा जाता है। माया के सम्पर्क से ही 'ब्रह्म' ईश्वर कहा जाता है और अविद्या में पड़कर वह जीवात्मा कहलाने लगता है। इस प्रकार जगत् के मूल में ब्रह्म को छोड़कर और कोई तत्व सत्य नहीं है।''[३७] यह ब्रह्म नित्य विभु, सनातन, अपरिवर्तनीय, अविभाजित स्वयं ज्योति स्वरूप और देश-काल से परे है। उसमें कोई सजातीय-विजातीय अथवा स्वगत भेद नहीं है। वह मन से परे है लेकिन असत् नहीं है। वह अनावरित, विकसित, व्यक्त, उदित, प्रस्फुटित अथवा परिवर्तित नहीं होता क्योंकि वह स्वयं परिपूर्ण है।

''पर वर्तमान समय में जिन देशी और विदेशी विद्वानों ने विभिन्न भाष्यों की तुलना करके आलोचना की है, उनका मत है कि शंकराचार्य ने वेदान्त सूत्रों का जो अर्थ अपने भाष्य में प्रतिपादित किया है, वह अनेक अंशों में सूत्रों के वास्तविक आशय के प्रतिकूल है। .....जर्मन के एक विद्वान् थीबो ने वेदान्त दर्शन के अपने अनुवाद की भूमिका में लिखा है कि बादरायण का सिद्धान्त शंकराचार्य के सिद्धान्त से बहुत भिन्न था। इसलिए शांकर भाष्य को पढ़ने से बादरायण के सिद्धान्त का ज्ञान नहीं हो सकता।''[३८] कहने का आशय यही है कि सूत्रों में समाहित मूल तत्त्व भाष्य के माध्यम से अपने को पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं कर सका।

◆ विशिष्टाद्वैत

इसके मतानुसार- ''माया-मिथ्यावाद और अद्वैत सिद्धान्त दोनों गलत है। ब्रह्म के अतिरिक्त जीव और जड़ जगत् अर्थात् चित और अचित भी नित्य और स्वतंत्र तत्त्व हैं। यद्यपि वे ब्रह्म के ही अंश हैं और ब्रह्म उनके भीतर अन्तर्यामी रूप में रहता है। ये दोनों तत्त्व ही ब्रह्म की विशेषता है जो प्रलय काल में तो ब्रह्म के भीतर सूक्ष्म रूप से रहते हैं और विश्वोत्पत्ति के अवसर पर स्थूल रूप में प्रकट हो जाते हैं। इसी से इसका नामकरण विशिष्टाद्वैत पड़ा।''[३९]

इसके प्रतिपादक रामानुज के अनुसार ब्रह्म असीम

---

३६. आचार्य श्रीराम शर्मा- वेदान्त दर्शन-भूमिका प्रकरण, पृ. २६
३७. वही, पृ २७
३८. आचार्य श्रीराम शर्मा- वेदान्त दर्शन-भूमिका प्रकरण, पृ. २८

गुण सहित नित्य है। एक है जो कि अनेक है। असीम व्यक्ति है जो कि सभी व्यक्तियों का उद्गम स्रोत और आधार है। वह सृष्टि का ईश्वर और समस्त कर्मों का अधिष्ठाता है। सत्-चित् और आनन्द ब्रह्म को एक चरित्र और व्यक्तित्व दे डालते हैं। वह सर्व व्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वोच्च व्यक्तित्व है।

निम्बार्क का द्वैताद्वैत सिद्धान्त

रामानुज जहाँ ब्रह्म और जीव में अभेद मानते हैं, वहाँ निम्बार्क का कहना है कि ''जीव और ईश्वर में एक दृष्टि से अभेद के साथ अन्य दृष्टि से भेद भी है। और प्रत्येक भेद अवस्था में मुक्त अवस्था में भी बना रहता है। ईश्वर प्रत्येक अवस्था में जीव का नियामक है और उसे सदा उसकी प्रेरणा के अनुसार चलना पड़ता है। जीव का उद्धार तभी होता है जब उस पर ईश्वर का अनुग्रह हो।''[४०]

मध्वाचार्य का द्वैत सिद्धान्त

''इस सिद्धान्त का पूरा परिचय निम्न श्लोक से मिल जाता है-

श्री मन्मध्वमतेन हरिः परतमः सत्यं जगत् तत्वतो।
भेदो जीवगण हरेसुचरा नीचोच्चभावं गतः॥
मुक्तिर्नैण सुखतुभूतिरमाला भक्तिश्च तत् साधन।
प्रत्यक्षादत्रयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

अर्थात्- श्री मध्वाचार्य के मत से हरि (विष्णु) ही परम तत्त्व है और जगत् सदैव सत्य है। जीव और परमात्मा का भेद वास्तविक है। परमात्मा स्वामी और जीव उसका दास है। यह जीव अपने कर्मों के अनुसार नीच और उच्च गति को प्राप्त हुआ करता है। अपने शाश्वत सुख की अनुभूति करना ही मुक्ति है और उस तक पहुँचने का उपाय भक्ति है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन ही प्रमाण हैं और वेदों में एकमात्र हरि (विष्णु) का ही विवेचन किया गया है।''[४१]

◆ वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत सिद्धान्त

शंकराचार्य ने जहाँ ब्रह्म के साथ माया को स्वीकार किया है और उसी के कारण जगत् का आविर्भाव स्वीकार किया है, वहाँ वल्लभाचार्य ने माया को सर्वथा अस्वीकार करके ब्रह्म को केवल एक शुद्ध तत्त्व माना है। इसी ब्रह्म से जीव और जगत् प्रादुर्भूत होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। भगवान् सच्चिदानन्द रूप है। जब उसकी इच्छा होती है तो वे अपने तीनों गुणों सहित ईश्वर के रूप में प्रकट होते हैं। अपने इन्हीं गुणों से जीव और जगत् की रचना करते हैं। ईश्वर में सत्-चित्-आनन्द तीनों तत्त्व उपस्थित रहते हैं पर आनन्द की प्रधानता रहती है। ईश्वर अपने आनन्द अंश को तिरोहित करके जीव की सृष्टि करते हैं। इसलिए जीव में चित् और सत् दो ही तत्त्व होते हैं, जिनमें से चित् (चैतन्यता) की प्रधानता रहती है। फिर ईश्वर ही चित् और आनन्द दोनों अंशों को तिरोहित करके जड़ तत्त्व की रचना करते हैं, जिससे उसमें केवल एक गुण (सत्ता) ही रहता है।[४२]

इस प्रकार विभिन्न आचार्यों ने वेदान्त सूत्रो में ईश्वर के स्वरूप की अलग-अलग व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। ये सभी व्याख्याएँ न केवल परस्पर विरुद्ध हैं, बल्कि समान रूप से एकांगी भी हैं। इनमें से प्रत्येक ने निरपेक्ष की एक अवस्थिति को पूर्ण सद्वस्तु मान लिया है। जबकि पूर्ण सत्ता का एक पहलू सर्वांग सत्य का बोध नहीं करा सकता। सर्वांग ब्रह्म तो अज्ञेय होते हुए भी ज्ञानमय, निर्विकल्प होते हुए भी सविकल्प, सगुण और निर्गुण, अन्तस्थ और सर्वातिशायी व्यक्तिगत और निर्वैयक्तिक है।

न केवल वेदान्त सूत्रों की व्याख्याओं में बल्कि षड् दर्शन के सूत्रकारों के मौलिक प्रतिपादन में यही एकांगिकता झलकती है। इनमें किए गए वर्णन और विवेचन की गहराइयों में प्रवेश करके यह तो कहा जा सकता है, कि ये सभी ईश्वर की सत्ता के बारे में निश्चित

---

४०. आचार्य श्रीराम शर्मा- वेदान्त दर्शन, भूमिका प्रकरण, पृ. २९
४१. वही, पृ ३०
४२. वही, पृ. ३०-३१

और एकमत है। पर उसके स्वरूप की समग्रता को अभिव्यक्ति नहीं दे सके। कहीं सत्य का एक पहलू प्रकट होता है तो कहीं दूसरा। कहीं एक विशेषता अपना प्रकाश बिखेरती है तो किसी अन्य स्थान पर दूसरी विशेषता अपनी झलक दिखाती है। किरणों का प्रकाश-सूर्य का अनुमान तो दे सकता है पर सूर्य की यथार्थ अनुभूति के लिए अधिक गहरे बोध और अभिव्यक्ति के लिए अधिक सार्थक प्रयास की आवश्यकता बनी हुई है।

समकालीन दार्शनिकों की ईश्वरानुभूति

समकालीन दर्शन का तात्पर्य है जीवित और नयी विचारधाराओं का वर्णन और विवेचन। स्वाभाविक है इसमें विगत् दर्शनों से भिन्नता और नवीनता देखने को मिले। समकालीन भारतीय दर्शन में भिन्नता और नवीन उपलब्धि अपने साथ उपर्युक्त वैदिक दर्शनों के मूल तत्त्वों को लेकर प्रकट हुई है। इस उपलब्धि ने ईश्वर के स्वरूप के बारे में विभिन्न प्रतिनिधि दार्शनिकों की अनुभूतियाँ किस तरह अपने में संजोया है। नीचे की पंक्तियों में इसी का शब्द चित्र प्रस्तुत किया गया है।

◆ स्वामी विवेकानन्द का ईश्वर साक्षात्कार

स्वामी विवेकानन्द के लिए ईश्वर न तो मन की कल्पना तरंगों का ढेर था और न ही बौद्धिक तर्कों का समूह। उनके लिए यह जीवन्त अनुभूति थी- जो जीवन साधना की उपलब्धि के रूप में उन्हें मिली। रोमां रोला ने उनके विषय में लिखा है- ''यह योद्धा और विजेता ईश्वर और जगत् सब कुछ प्राप्त करना चाहता था और सब का परित्याग करना चाहता था।''[४३] इस चिर अभीप्सा की पूर्ति का अलौकिक क्षण उनके जीवन में आ उपस्थित हुआ। ''एक दिन संध्या के बाद उनका मन निर्विकल्प भूमि में आरूढ़ हुआ, शरीर स्थिर और स्तब्ध पड़ा रहा। ...रात का एक पहर बीत जाने पर नरेन्द्र सहजावस्था को प्राप्त हुए और ठाकुर (श्री रामकृष्ण) के पास आए। ठाकुर ने कहा- क्यों? मैंने ने तो आज तुझे सब कुछ दिखा दिया।''[४४] ईश्वर के स्वरूप के इसी दिव्य अनुभव की उन्होंने ठीक वैदिक ऋषि के स्वरों की घोषणा की- हे अमृत के पुत्रो! सुनो हे दिव्यधाम वासी देवगण!! तुम भी सुनो- मैंने उस आदि पुरातन पुरुष को प्राप्त कर लिया है, जो समस्त अज्ञान-अन्धकार और माया से परे है।[४५] जिससे विश्व का जन्म स्थिति और प्रलय होता है।[४६] वही ईश्वर है। वह अनन्त, शुद्ध नित्य मुक्त, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, परम कारुणिक और गुरुओं का गुरु है, और सर्वोपरि वह ईश्वर अनिर्वचनीय प्रेम स्वरूप है।[४७]

तो क्या ईश्वर दो है? एक सच्चिदानन्द स्वरूप, जिसे ज्ञानी 'नेति-नेति' करके प्राप्त करता है और दूसरा भक्त का यह प्रेममय भगवान? इस सवाल के जवाब में स्वामी जी कहते हैं-. ''नहीं वह सच्चिदानन्द ही यह प्रेममय भगवान है, वह सगुण और निर्गुण दोनों है। यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि भक्त का उपास्य सगुण ईश्वर, ब्रह्म से भिन्न अथवा पृथक् नहीं है। सब कुछ वही एकमेवाद्वितीय ब्रह्म है। पर हाँ ब्रह्म का यह निर्गुण निरपेक्ष स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रेम व उपासना के योग्य नहीं। इसलिए भक्त ब्रह्म के सापेक्ष भाव अर्थात् परम नियन्ता ईश्वर को ही उपास्य के रूप में ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ, ब्रह्म मानो मिट्टी या उत्पादन के सदृश है, जिससे नाना प्रकार की वस्तुएँ निर्मित हुई हैं। मिट्टी के रूप में तो वे सब एक हैं, पर उनका आकार या अभिव्यक्ति उन्हें भिन्न कर देती है। उत्पत्ति के पूर्व वे सबकी सब मिट्टी में अव्यक्त भाव से विद्यमान थीं। उपादन की दृष्टि से वे अवश्य सब एक हैं, पर जब वे भिन्न-भिन्न आकार धारण कर लेती हैं और जब तक वह

४३. रोमां रोला- विवेकानन्द का जीवन और सार्वभौम सिद्धान्त, पृ ९
४४. स्वामी गम्भीरानन्द- रामकृष्ण भक्तमालिका, भाग १, पृ. ३४
४५. विवेकानन्द साहित्य खण्ड १, पृ. १२
४६. जन्माद्यस्य यत:- ब्रह्मसूत्र १/१/१/२
४७. स ईश्वर अनिर्वचनीय प्रेम स्वरूप: - नारद भक्तिसूत्र

आकार बना रहता है, तब तक वे पृथक् प्रतीत होती हैं। एक मिट्टी का चूहा कभी मिट्टी का हाथी नहीं हो सकता, क्योंकि गढ़े जाने के बाद उनकी आकृति ही उनमें विशेषत्व पैदा कर देती है, यद्यपि आकृति हीन मिट्टी की दशा में वे दोनों एक ही थे। ईश्वर उस निरपेक्ष सत्ता की उच्चतम अभिव्यक्ति है, या दूसरे शब्दों में मानव मन निरपेक्ष सत्य की जो उच्चतम धारणा कर सकता है, वही ईश्वर है।''[४८]

''ईश्वर व्यष्टियों की समष्टि है और साथ ही वह एक व्यष्टि भी है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि मानव शरीर इकाई होते हुए भी कोशिकाओं (Cells) रूपी अनेक व्यष्टियों की समष्टि है। समष्टि ही ईश्वर है और व्यष्टि ही जीव है। अतएव ईश्वर का अस्तित्व जीव के अस्तित्व पर निर्भर है, जैसा कि शरीर का कोशिकाओं पर और इसका विलोम भी सत्य है। इस प्रकार जीव और ईश्वर सह अस्तित्वमान है, यदि एक का अस्तित्व है, तो दूसरे का होगा ही। और चूँकि हमारी इस धरती को छोड़कर अन्य सब उच्चतर लोकों में अच्छाई या शुभ की मात्रा बुराई या अशुभ की मात्रा से बहुत ज्यादा है, हम इन सबकी समष्टि ईश्वर को सर्वशुभ कह सकते हैं। समष्टि रूप होने के कारण, सर्व शक्तिमत्ता और सर्वज्ञता ईश्वर के प्रत्यक्ष गुण हैं, इन्हें सिद्ध करने के लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं। ब्रह्म इन दोनों से परे है और निर्विकार है। ब्रह्म ही एक ऐसी इकाई है- जो अन्य इकाइयों की समष्टि नहीं वह अखण्ड है, वह क्षुद्र जीवाणुओं से लेकर ईश्वर तक समस्त भूतों में व्याप्त है, उसके बिना किसी का अस्तित्व सम्भव नहीं और जो कुछ भी सत्य है, वह ब्रह्म ही है। जब मैं सोचता हूँ 'अहं ब्रह्मास्मि' तब केवल मैं ही वर्तमान रहता हूँ, मेरे अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं रह जाता। यही बात औरों के विषय में भी है। अतएव प्रत्येक ही वह पूर्ण ब्रह्मतत्व है।''[४९] यह समुदाय जगत् मानो उस ब्रह्म का विशेष रूप है। ब्रह्म ही वह समुद्र है और तुम और मैं, सूर्य, तारे सभी उस समुद्र में विभिन्न तरंग मात्र हैं। तरंगों को समुद्र से पृथक् कौन कर सकता है? यह रूप। और यह रूप है केवल देश-काल निमित्त। यह देश-काल निमित्त भी सम्पूर्ण रूप से इन तरंगों पर निर्भर रहता है। ज्यों ही तरंगें चली जाती हैं, त्यों ही ये भी अन्तर्हित हो जाते हैं। जीयात्मा ज्यों ही इस माया का परित्याग कर देती है, त्यों ही वह उसके लिए अन्तर्हित हो जाती है और वह मुक्त हो जाती है।''[५०] सब कुछ ब्रह्ममय अनुभव होने लगता है। लेकिन स्वयं के अनुभव की इस अभिव्यक्ति को स्वामी जी ने सर्वांग नहीं माना। उन्हीं के शब्दों में- ''क्या ईश्वर की पुस्तक समाप्त हो गई? अथवा क्या अभी तक निरन्तर प्रकाशन चल रहा है? यह एक विलक्षण पुस्तक है। विश्व के आध्यात्मिक प्रकाशन बाइबिल, वेद, कुरान और अन्य धर्म ग्रन्थ केवल असंख्य पृष्ठ हैं और फिर भी अभी असंख्य पृष्ठ खुलने बाकी हैं।''[५१]

◆ महात्मा गांधी की ईश्वर आस्था

गांधी अपनी आत्म कथा के प्रारम्भ में ही अपने प्राप्तव्य के बारे में इस प्रकार लिखते हैं, ''मेरा प्राप्तव्य आत्म साक्षात्कार है, ईश्वर का आमने-सामने से दर्शन मोक्ष है।''[५२] वे पुनः लिखते हैं- ''मैंने ईश्वर को न तो देखा है औन न जानता हूँ, मैंने संसार की आस्था अपने ढंग से बनाई है और क्योंकि मेरा विश्वास अमिट है, अतः इसी विश्वास को मैं अनुभव की संज्ञा देता हूँ, यद्यपि इस विश्वास को अनुभव कहना सत्य के साथ अन्याय होगा, अतः यह कहना सम्भवतः अधिक यथार्थ होगा कि मेरे पास ईश्वर की इस प्रकार की आस्था का वर्णन करने के लिए शब्द नहीं है।''[५३] मानवीय भाषा

४८. स्वामी विवेकानन्द, विवेकानन्द साहित्य खण्ड ४, पृ. ९
४९. स्वामी विवेकानन्द, विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. ८३
५०. वही, खण्ड २, पृ. ९१
५१. बी. के आर. वी. राव- विवेकानन्द, पृ. १५४
५२. गांधी- ऐन ऑटोबायोग्राफी, पृ. ५
५३. गाधी- ऐन ऑटोबायोग्राफी, पृ. ३४

ईश्वर को व्यक्त करने में असमर्थ है।[५४] उनके शब्दों में- ''मेरे लिए ईश्वर सत्य एवं प्रेम है, ईश्वर नीतिशास्त्र एवं नैतिकता है। ईश्वर जीवन एवं प्रकाश का स्रोत है, ईश्वर अन्तःकरण है, तथापि इन सबसे परे है। वह उनके लिए सगुण है, जो उनकी सगुणात्मक उपस्थिति चाहते हैं। वह शरीरी है जो उसका स्पर्श चाहते हैं। वह पवित्रतम सत्ता है। वह मात्र सत्ता है- जिनका उसमें विश्वास है। वह सबमें है, हम सबके ऊपर है एवं हम सबके परे है।''[५५]

उनके ईश्वर का स्वरूप क्या है? उनके वाङ्मय का गम्भीर अध्ययन किए बगैर यह निश्चित करना मुश्किल है कि उनमें ज्ञान प्रधान अद्वैतवादी प्रवृत्ति की प्रधानता है अथवा भक्ति प्रधान भेदवादी प्रवृत्ति की, क्योंकि दोनों प्रकार की व्याख्याएँ दी गई हैं। उदाहरण के लिए एक समकालीन विचारक ने गांधी को अद्वैतवादी सिद्ध किया है। महात्मा गांधी के अद्वैतवादी होने में सन्देह नहीं है? उनके लिए मात्र ईश्वर ही सत्य है केवल उसी की सत्ता है, उससे अन्य सभी माया है। हम सभी उस सत्य के स्फुलिंग हैं। स्फुलिंगों का योग अनर्विचनीय है, अब तक का अज्ञात सत्य जो कि ईश्वर है।[५६] यह तर्क सशक्त लगता है। उन्होंने ईश्वर को 'सत्यस्य सत्यम्' के रूप में देखा है। यदि यह सवाल उठाएँ कि वे निर्गुण प्रधान है अथवा सगुण प्रधान? लेकिन इस समस्या पर विचार करें इससे पहले यह सोचना होगा कि उनका ईश्वर को सत्य कहने का क्या आशय था? गांधी ने ईश्वर को सत्य की संज्ञा दी है। ''मैं ईश्वर की सत्य के रूप में उपासना करता हूँ।''[५७] पुनः वे लिखते हैं- ''मैं अपने एक रूप अनुभव से विश्वस्त हो गया हूँ कि सत्य के अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर नहीं है।''[५८] इस प्रकार गांधी के अनुसार ''ईश्वर एवं सत्य पर्याय हैं किन्तु जहाँ पहले गांधी ईश्वर सत्य है कहा करते थे, इसे बदलकर 'सत्य ईश्वर है' यह रूप दे दिया। क्यों? 'ईश्वर सत्य है' इसकी व्याख्या इस प्रकार की है। 'ईश्वर सत्य है' में है शब्द निस्संदेह न तो 'बराबर' का अर्थ देता है और न 'सत्य पूर्ण है' का। सत्य ईश्वर का मात्र विशेषण नहीं है, वही सत्य ही है। वह कुछ भी नहीं है यदि सत्य नहीं है। 'सत्य' संस्कृत में 'सत्' है जिसका अर्थ है- 'अस्ति'। अतः हम जितना अधिक सत्यपूर्ण होंगे, उतना ही अधिक ईश्वर के निकट होंगे। हम उसी सीमा तक हैं, जिस सीमा तक सत्य पूर्ण है।''[५९] इस प्रकार सत्य ईश्वर का विशेषण भर नहीं है, बल्कि उसका स्वरूप है। वे लिखते हैं- यदि ईश्वर का पूर्ण वर्णन करना मानव वाणी के लिए संभव है तो हम ईश्वर को सत्य कह सकते हैं, किन्तु मैंने एक कदम आगे जाकर कहा- सत्य ईश्वर है सत्य को कभी मैंने उभयार्थक नहीं पाया एवं नास्तिकों ने भी सत्य की शक्ति को अथवा आवश्यकता को स्वीकार किया है। अतः सत्य ईश्वर है मुझे सर्वाधिक संतोषपूर्ण लगा है।[६०] यदि सत्य ईश्वर है, तो सत्य परायण नास्तिक की नास्तिकता में भी देवत्व है।[६१] यहाँ गांधी का ईश्वर विवेचन अत्यन्त शास्त्रीय हो गया है। उन्होंने सत्य को ईश्वर का स्वरूप माना है। यह स्पष्ट अद्वैतवाद है, किन्तु उनके अद्वैतवाद में सगुण की प्रधानता है। यही नहीं वे ज्ञानी की अपेक्षा एक भक्त हैं। वे अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि ईश्वर करूणानिधान है, भक्तवत्सल है, निर्बल का बल है, दीनबन्धु है। उसने मुझको हमेशा बचाया है, ईश्वर ने मुझे अपनी अनन्त कृपा से रक्षा की है।[६२] इस प्रकार गांधी का ईश्वर मीरा का गिरधर गोपाल है, अबला द्रोपदी के शील का

५४. वही, पृ. ५२४
५५. यग इण्डिया, मार्च ३, १९२५
५६. पी.टी राजू- आइडीयलिस्टिक थॉट ऑफ इण्डिया, पृ. २९७
५७. गांधी- एन आटोबायोग्राफी, पृ. ७
५८. वही, पृ. ६१५
५९. नरवणे मार्डन इण्डियन थाट, पृ. १८०
६०. वही, पृ. १८१
६१. वही,
६२. गांधी- एन आटोबायोग्राफी, पृ ३७

रक्षक है, डूबते गजराज को उबारने वाला है, निर्बल का बल है। गांधी साहित्य में भक्ति की अजस्र मंदाकिनी बही है, भक्ति की तन्मयता में गांधी को भी भक्त प्रह्लाद की भांति 'सियाराम मय सब जग जानी' एक ही सत्य का आभास होता है। मेघदूत का प्रेमोन्मत्त यक्ष 'प्रसादे सा पथि च सा...' सर्वत्र अपनी प्रेयसी को ही देखता है। ठीक इसी प्रकार भगवन्मय भक्त को भी मात्र भगवान् का ही भास होता है। एक स्थल पर वह कहते हैं कि यदि आप सत्य को ईश्वर के रूप में प्राप्त करना चाहते हैं तो एक मात्र अपरिहार्य साधन प्रेम अर्थात् अहिंसा है और मैं इस बात में विश्वास करता हूँ कि अन्ततः साध्य एवं साधन पर्यायवाची शब्द हैं, मैं बिना हिचक के कह सकता हूँ कि ईश्वर प्रेम है।[६३] एक समकालीन दार्शनिक की टिप्पणी सर्वथा अवधेय है, अतः पूर्ण सर्वेक्षण से यह सोचना अधिक युक्तिपूर्ण होगा कि गांधी अद्वैतवादी-शंकरानुयायी की अपेक्षा एक भक्त हैं, वैष्णव हैं।[६४]

उन्होंने स्वयं को वैष्णव स्वीकार किया है। यद्यपि एक स्थल पर वह स्वयं को अद्वैतवादी घोषित करते हैं, पुनः अनेकान्तवादी, किन्तु इस स्थल पर उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को अपने प्रेमालिंगन में समेटने की इच्छा व्यक्त की है। "मैं अद्वैतवादी हूँ, फिर भी द्वैत का समर्थन करता हूँ। यह विश्व प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है, अतः असत्य है और उसका चिरन्तन अस्तित्व नहीं है। किन्तु वह निरन्तर परिवर्तनशील होने पर भी उसमें कुछ ऐसा स्थाई तत्त्व विद्यमान है जिसके कारण उसी मात्रा में वह सत्य भी है, अतः उसे सत्य और असत्य कहने में और इस प्रकार अनेकान्तवादी या स्याद्वादी कहलाने में मुझे कोई आपत्ति नहीं, किन्तु मेरा स्याद्वाद विद्वानों के स्याद्वाद जैसा न होकर मेरा अपना ही है। मैं सम्पूर्ण विश्व को अपने प्रेमालिंगन में समेटना चाहता हूँ। मेरा अनेकान्तवाद सत्य और अहिंसा के द्विविध सिद्धान्त का परिणाम है।"[६५] गांधी के इन स्वरों में उनके हृदय में समेटी गई-संजोई गई आस्थाओं की गूँज है। वे विश्वासी भक्त हैं, ज्ञान के अभीप्सु हैं। पर उन्हें एक व्यापक अनुभूति की तलाश है। व्यापक अनुभूति ही ईश्वर के स्वरूप का सार्थक और यथार्थ वर्णन कर सकने में समर्थ है।

◆ रवीन्द्र नाथ ठाकुर की अनुभूतियों में ईश्वर

रवीन्द्र नाथ ठाकुर विश्व कवि थे। कवि अत्यन्त संवेदनशील होता है। अनुभूति की उसमें अद्भुत क्षमता होती है। उन्होंने औपनिषद 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' पर बल देते हुए कहा है कि मैं जो कुछ भी जानता हूँ, उसका आधार अनुभूति है। मैंने पहले ही स्वीकार किया है कि मेरा धर्म कविधर्म है। जो कुछ भी मैं अनुभव करता हूँ वह दृष्टि से न कि तर्कज्ञान से।[६६] वे पूर्ण विश्वास के साथ कहते हैं कि उनके जीवन में ऐसे क्षण आये हैं जब उनकी आत्मा ने परमात्मा का स्पर्श किया है एवं आनन्दातिरेक में उन्होंने उसकी अनुभूति की है।[६७] स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा है कि परमात्मा का दर्शन हमारी कल्पना के साक्षात्कार से सम्भव है न कि बुद्धि से।[६८] वे पुनः कहते हैं कि यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'अनन्त' भारत के लिए मात्र दार्शनिक परिकल्पना का विषय नहीं है, यह उसके लिए उतना ही सत्य है जितना कि सूर्य का प्रकाश। वह उसे अवश्य देखें, अनुभव करें, अपने जीवन में लाभ उठाएँ।[६९] क्योंकि सीमित, अपूर्ण एक ऐसा दिया है, जिसमें प्रकाश नहीं, एक ऐसी वीणा है, जिसमें संगीत नहीं।[७०]

रवीन्द्र का भगवान् संसार के कण-कण में व्याप्त

---

६३. तेंदुलकर- दि महात्मा, भाग-२, पृ. ३१२
६४. डी. एम. दत्त- दि फिलासफी ऑव महात्मा गांधी, पृ. २७
६५. यंग इण्डिया- २२-२-१९२६
६६. रवीन्द्र नाथ टैगोर- दि रिलीजन आफ मैन, पृ. ६७
६७. वही, पृ. ६७
६८. वही, पृ. ८०
६९. रवीन्द्रनाथ टैगोर- परसनैलिटी, पृ. २६-२७
७०. वही, पृ. ५६

है। उससे उनका हर प्रकार का मानवीय सम्बन्ध है। वह उनके घर का है, मंदिर का है। वही उनका मुख्य अतिथि है, जिसका वह सम्मान करते हैं। फूल-फलों की ऋतुओं में, वर्षा में, वसन्त के परमोत्कर्ष में उसी की पद-ध्वनि उन्हें सुनाई देती है।"[७१A] परम पुरुष प्रेममय है, इसी की अभिव्यञ्जना उनके काव्य में तरह-तरह से अभिव्यक्त हुई है। वे अपने परम पुरुष को अद्वैत कहते हैं। उनके अद्वैत में भक्ति को प्रधान स्थान प्राप्त है। अन्तिम सत्ता चाहे शंकर प्रतिपादित निरपेक्ष ब्रह्म हो, उससे उनका कोई तार्किक विरोध नहीं है। किन्तु मनुष्य का सम्बन्ध दृश्य जगत् से होने के नाते निरपेक्ष सत्ता का विवेचन हमारी पहुँच के परे हो जाता है। इसलिए टैगोर ब्रह्म को मानव रूप में परम पुरुष मानते हैं। वह एक वैयक्तिक सत्ता है। असीम का ससीम होना ही वैयक्तिकता है।"[७१B]

इसकी अनुभूति या इससे तादात्म्य किसी सांसारिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता है। इसका वर्णन "शांत, शिव, अद्वैत कह कर किया जा सकता है। पूरी गीतांजलि इन्हीं 'शिवम् एवं सुन्दरम्' रूपों से पिरोई है। उनकी अन्य कृतियों में भी 'शिवाय च शिवतराय च' 'आनन्द रूपं यद्‌विभाति' आदि की गूंज मिलती रहती है। इस अनुभूति का साधन है प्रेम। प्रेममय होकर आत्मा को अनन्ता में विहार करना चाहिए। अनन्त की अनन्ता का हर क्षण बोध ही परम सुख है, परम मुक्ति है।"[७२]

रवीन्द्र समन्वयवादी है, अतः उनमें निर्गुण, सगुण को लेकर विरोध नहीं है। उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी है। "तत्त्वमीमांसा में ईश्वर सगुण अथवा निर्गुण है अथवा निर्गुण साकार है अथवा निराकार, सवाल को लेकर विवाद चलता रहता है। किन्तु प्रेम में हां-नहीं दोनों साथ होते हैं। प्रेम में यदि एक ओर निर्गुण है तो दूसरी ओर सगुण।"[७३] इसे उन्होंने ईशोपनिषद के उद्धरण से भी सिद्ध किया है और कहा है कि असीम एवं ससीम दोनों वैसे ही एक हैं जैसे गीत एवं उसका गाया जाना।[७४] लेकिन पूर्णता का जितना अच्छा आभास सगुण रूप में है, उतना निर्गुण रूप में नहीं है। परम तत्त्व तत्त्वतः असीम है, किन्तु आभासतः ससीम है, वैयक्तिक है।[७५] रवीन्द्र में जीवन ब्रह्मलीन नहीं हो जाता। उसका भेद बना रहता है। ईश्वर पूर्णता का अनन्त आदर्श है, तो जीव उस आदर्श के साक्षात्कार करने की प्रक्रिया है।[७६] रवीन्द्र की भेदवादी आस्था का उभार अधिक स्पष्ट हो गया है, जब उन्होंने असीम के साथ ससीम को, एक के साथ अनेक को, ब्रह्म के साथ आत्मा को उतना ही सत्य माना है। वे कहते हैं "मात्र मृत्यु ही अद्वैत है, जीवन द्वैत है।"[७७] एकम् विना द्वितीयम् के शून्य है, क्योंकि द्वितीयम् ही इसे सत्यता प्रदान करता है।[७८] अनन्त के संगीत की संगीतात्मकता सांत द्वारा ही गुंजित है। इस प्रकार टैगोर का कथन है कि ईश्वर ही सत् है सब कुछ है, किन्तु सब कुछ ईश्वर नहीं है। इसका मतलब यह है कि सत् के विभिन्न अंश या स्तर है। सांसारिक वस्तुओं और जीवों में, मनुष्य में सत् का अंश सर्वाधिक है। वह परम पुरुष के सर्वाधिक नजदीक है। वे रहस्यवादी हैं- और उनका काव्य रहस्यवाद की अभिव्यक्ति है। ईश्वर के स्वरूप के बारे में उनकी रहस्यानुभूतियाँ काव्यात्मक संकेतों में तो झलकीं, पर बौद्धिक भाषा में नहीं अभिव्यक्त हो पाई।

◆ डॉ. राधाकृष्णनन् का ईश्वर चिन्तन

डॉ. राधाकृष्णनन् की सर्वोत्कृष्ट विशिष्टता है कि

७१A. रवीन्द्रनाथ टैगोर- परसनैलिटी, पृ. २७
७१B. मूरहेड एण्ड राधाकृष्णनन्- कनटेम्पोरेरी-इण्डियन फिलासफी, पृ. २५
७२. रवीन्द्रनाथ टैगोर- साधना, पृ. १०२
७३. नरवणे- मार्डन इण्डियन थाट, पृ. २९, साधना- पृ. ११४
७४. रवीन्द्रनाथ टैगोर- परसनैलिटी, पृ. ५७
७५. रवीन्द्रनाथ टैगोर- दि रिलीजन ऑफ मैन, पृ. ७४
७६. रवीन्द्रनाथ टैगोर- साधना, पृ. १५५
७७. वही, पृ. १८
७८. नरवणे- मार्डन इण्डियन थाट, पृ. १३०

उन्होंने दर्शन को जीवन से सम्बद्ध करने की अनवरत कोशिश की। अपने लेख प्रकृतिवाद की समीक्षा में उनके दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए 'बनार्ड फिलिप्स' का मत है कि उनके अध्यात्मवाद में जीवन शैली का एक अस्तित्ववादी पूर्वाभिमुखीकरण है। वस्तुतः राधाकृष्णनन् उपनिषदीय दर्शन को सर्वथा प्रामाणिक व ईश्वर साक्षात्कारोन्मुख मानते हैं। ईश्वर के स्वरूप का शब्दांकन करते हुए वह कहते हैं- "ईश्वर केवल अनुभवातीत दिव्य तत्त्व नहीं है, बल्कि विश्वव्यापी आत्मा भी है, जो मनुष्य के व्यक्तित्व और उसकी नित्य नवीन जीवनी शक्ति का आधार है।"[७९] उनके अनुसार विश्व का आदितत्त्व ब्रह्म मनुष्य की आन्तरिक आत्मा द्वारा जाना जाता है। वस्तुतः यह समस्त जगत् ब्रह्म है और यह कि हृदय के अन्दर जो यह मेरी आत्मा है, वह ब्रह्म है।

आधुनिक चिन्तन द्वारा प्रस्तुत कतिपय विकल्पों की अपर्याप्तता को सिद्ध करने के पश्चात् वह धर्म की, धर्म से होने वाली ईश्वरानुभूति की महत्ता को बताते हैं। उन्होंने इसे चेतना की समग्र अनुभूति के रूप में स्वीकार किया। चूँकि यह सत्य से सहज तादात्म्य की स्थिति है। अतः यह स्वतः सिद्ध, स्वसंवेद्य तथा स्वप्रकाश है। वह परम तत्त्व को सर्वोच्च आत्मा के रूप में स्वीकार करते हुए अद्वैतमत का समर्थन करते हैं। किन्तु ईश्वर को आराधना का विषय मानकर अद्वैत से भी आगे बढ़ जाते हैं। ब्रह्म को ही एक मात्र सत्ता घोषित कर उसे निर्गुण, निराकार, निर्वैयक्तिक सत्ता घोषित करते हैं। लेकिन ईश्वर और जगत् दोनों व्यावहारिक जीवन को सफल बनाने के लिए आवश्यक हैं। उनके अनुसार- "ईश्वर परमसत् के तात्विक स्वरूप की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। इस प्रतीक का महत्त्व ही इसमें है कि उसके माध्यम से हम निर्विशेष सत् की ओर उन्मुख होते हैं। अन्य प्रतीकों की अपेक्षा वह उक्त सत्य के निकटतम है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।"[८०] इस तरह ब्रह्म की प्राप्ति में ईश्वर सोपान का काम करता है।

इस सोपान पर चढ़कर ही परम सत् के निर्विशेष स्वरूप का अनुभव हो पाता है। उनके भावों में परम सत् अनंत सम्भावनाओं से युक्त एक सर्जनात्मक चेतना है। इनमें से केवल एक सम्भावना इस विश्व में अभिव्यक्त हो रही है। इस व्यंजित संभावना के संदर्भ में परमसत् सविशेष हो जाता है। इस व्याख्या में विश्व के मिथ्यात्व बोध का सवाल नहीं है। कलाकार की सभी कृतियाँ उसकी सर्जनात्मक क्षमता से सम्बद्ध होने के कारण यथार्थ हैं- उसके जीवन में उनका अपना मूल्य और स्थान है। सृजनात्मक क्षमता की वे उपपत्तियाँ हैं। इस दृष्टि से सर्जनात्मक क्षमता सापेक्षतः अनन्त है और वे सान्त हैं। सृजनात्मक क्षमता की निर्विशेषता का एक ही मतलब है- उसमें सविशेष होने की अनेक सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। अपनी सविशेष अभिव्यक्तियों द्वारा वह सम्पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं हो पाती, उस सविशेषों का वह एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में अतिक्रमण करती है।

इस विवेचन में विश्व की यथार्थता के साथ ही ईश्वर की, सविशेष की यथार्थता को राधाकृष्णनन् स्वीकार करते हैं। विशेष संदर्भ में, निर्विशेष परमसत् सविशेष हो जाता है।[८१] निर्विशेष की अनन्त सम्भावनाओं में से केवल एक इस विश्व के रूप में अभिव्यक्त हो रही है। इसी विशेष सम्भावना के संदर्भ में निर्विशेष परमसत्

७९. राधाकृष्णनन्- उपनिषदों की भूमिका, पृ. सं. ७८

८०. "There are certain vital values of religion which are met by the character of God as wisdom, love and goodness. Values acquire a Cosmic importance and eternal life becomes meaningful"

– राधाकृष्णनन्- आइडियलिस्ट व्यू ऑव लाइफ, पृ २७१

८१. "The way in which the relation between the absolute and God in here indicated is not the same as that either of Shankara or of Bradley, though it has apparent similarities to their doctrines ... Even as the world is a definite manifestation of one specific possibility of the absolute God with whom the worshipper stands in personal relation is the very absolute in the world context and is not a more appearance of the absolute"

कटेम्परेरी इण्डियन फिलासफी, आइडियलिज्म ऑफ प्रोफेसर- राधाकृष्णनन् – द कैलकटा रिव्यू, १९४०, पृ. २८९

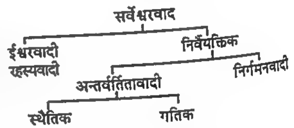
को ईश्वर की संज्ञा दी गई है। अतएव निर्विशेष से सम्बद्ध होने के कारण न ही विश्व ही मिथ्या है और न ही ईश्वर ही आभास है। उनके इस ईश्वर विषय चिन्तन के मूल निष्कर्ष कितने ही हृदयग्राही हों, पर निर्विशेष एवं सविशेष की ओर विश्व की भावात्मक संबद्धता की प्रस्तुति सर्वथा संतोषपूर्ण नहीं है। जो ईश्वर परमसत् का सोपान मात्र है। स्वाभाविक है यह सोपान प्रकृति की शक्तियों के सृजन का परिणाम हो। यह कैसे हमारी आस्था का स्थाई पात्र हो सकता है? इस कथन से स्पष्ट झलक मिलती है, ईश्वर के स्वरूप के बारे में उनका निर्धारण स्वयं की मानसिक संकल्पनाओं की बौद्धिक अभिव्यक्ति है। जबकि इसे अन्तरात्मा के व्यापक अनुभव में उपलब्ध परम सत्य की अभिव्यक्ति होना चाहिए।

पश्चिमी दर्शन का ईश्वर चिन्तन

अंतरात्मा की गहराइयों में होने वाले इस शाश्वत अनुभव की प्राप्ति ही जीवन को उसका वास्तविक अर्थ दे पाती है। ''दृश्यमान आकर्षण को तो चमड़े की आँख से भी देखा, जाना जा सकता है। उसे तो अर्ध विक्षिप्त तक परखने और अपनाने में कुशल होते हैं। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में प्रशिक्षित और अभ्यस्त होती है, वे रुचिकर और अरुचिकर का भेद सहज ही बता देती हैं। सुन्दर और असुन्दर खिलौने और कपड़े तो छोटे बच्चे भी जानते हैं तथा ललचाते हैं। चेतना की सौन्दर्य दृष्टि इससे गहरी होती है, उसकी परख की कसौटी भिन्न स्तर की रहती है। अन्तरंग की पवित्रता और शालीनता के आधार पर जो श्रद्धासिक्त पुलकन होती है, उसमें सौन्दर्य का यह तत्त्व रहता है, जिसके लिए अध्यात्म में 'सुन्दरम्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह परख आँखों के आगे की ही है।''[८२] पूर्व की भाँति पश्चिम भी जीवन के इस सौन्दर्य को पाने के लिए तप निरत रहा है। जिज्ञासा की परिपक्वता-अन्वेषण की गहनता, जिस क्रम में विकसित हुई, ईश्वर विषयक निष्कर्ष भी तदनुरूप ही मिल सके। पश्चिमी तत्त्व चिन्तन में इन्हें सर्वेश्वरवाद (पैन्थीइज्म), दैयवाद (डोइज्म) एवं एकेश्वरवाद का नाम दिया। इनके अध्ययन को गहराइयों में हमें पश्चिमी दर्शन में ईश्वर के स्वरूप की स्पष्ट झांकी मिल सकती है।

◆ सर्वेश्वरवाद

इस सिद्धान्त के मुताबिक ईश्वर ही सर्वस्व है और सर्वस्व ईश्वर है। इसकी दो मुख्य शाखाएँ हैं- निर्वैयक्तिक और ईश्वरवादी रहस्यवाद। निर्वैयक्तिक सर्वेश्वरवाद भी निर्गमनवादी और अन्तर्वर्तितावादी दो तरह का होता है। फिर अन्तर्वर्तितावादी सर्वेश्वरवादी भी स्थैतिक व गतिक दो तरह के होते हैं।



ईश्वरवादी रहस्यवाद

रहस्यवाद शब्द सामान्यतया दो तरह के विचारों को समाहित करता है।

१. परमात्मा के साथ प्रत्यक्ष संयोग का स्वंय अनुभव।[८३]

२. परम तत्त्व अथवा ईश्वर के साथ आत्मा के सम्भव एकात्म का तत्त्व वैज्ञानिक धर्म दर्शन सिद्धान्त।

बर्गसा प्रसिद्ध रहस्यवादी थे। उनके अनुसार ''ईश्वर के साथ केवल आंशिक तादात्मीयकरण हो सकता है।''[८४] फिर इनके अनुसार ''ईश्वर का प्रकाशन मात्र

८२. आचार्य श्रीराम शर्मा- चेतना की प्रगति का महत्व समझा जाय, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३९, अंक ७, पृ. १५
८३. डॉ. नगेन्द्रनाथ उपाध्याय- नाथ और संत साहित्य, पृ ५५१
८४. हेनरी बर्गसां- द सोर्सेज ऑफ मौरैलिटी एण्ड रिलीजन, पृ. १८८

होता है जिसके द्वारा विशेष भक्त में बोधि उद्‌भूत होती है।''[८५] इसी प्रकार विलियम जेम्स भी मानते हैं कि ''रहस्यवाद में संज्ञानात्मकता का अंश रहता है और इसीलिए ईश्वरवादी रहस्यवाद में ईश्वर और भक्त के बीच भेद रहता है।''[८६] और फिर कहते हैं कि ''ईश्वर के साथ तादात्मीयकरण को विषयीगत भाव मानना चाहिए।''[८७] इसमें होने वाली अनुभूतियों के अनुसार ईश्वर सर्वोच्च व्यक्तित्व सम्पन्न, सर्वशक्तिमान, कण-कण में परिव्याप्त सत्ता है। जिसकी अभिव्यक्ति शब्दों में नहीं की जा सकती। जिसका तात्त्विक विवेचन सम्भव नहीं। तात्त्विक विवेचन न होने पर भी रहस्यवाद अज्ञेयवाद से सर्वथा भिन्न है। अज्ञेयवादी के विरुद्ध रहस्यवादी का विश्वास है ईश्वर का स्वरूप यद्यपि वर्णनीय नहीं है। फिर भी एक प्रकार के अव्यवहत ज्ञान द्वारा उसका अनुभव किया जा सकता है।

निर्वैयक्तिक सर्वेश्वरवाद

इसमें ईश्वर को व्यक्तिपूर्ण नहीं माना जाता। इसके प्रकारों में प्रथम निगर्मनवादी सर्वेश्वरवाद नव प्लेटोवाद में देखने को मिलता है।

निर्गमनवादी सर्वेश्वरवाद

नव प्लेटोवाद के प्रचार-प्रसार का श्रेय प्लोटिनस को है। उनके अनुसार परम सत्ता अद्वैत है जो निर्गुण, सर्वव्यापी अनिभेदित तथा ज्ञाता-ज्ञात के भेद से परे शुद्ध चित्त है। यह परम सत्ता पूर्णत्व की अधिकता में आकर प्रस्फुटित तथा विकरित होने लगती है। इस प्रक्रिया में सबसे पहले बुद्धि, मन तथा आत्मा का उद्‌भव होता है। अन्त में पदार्थ की जड़ता जन्म लेती है। प्लोटिनस की यह बात सांख्य से मिलती-जुलती है। सांख्य दर्शन के अनुसार महत् बुद्धि में सबसे अधिक सत्व गुण पाया जाता है और इनकी तुलना में स्थूल वस्तुओं में सबसे कम सत्व गुण पाया जाता है।

प्लोटिनस यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रस्फुटन के बावजूद अद्वैत सत्ता की पूर्णता ज्यों की त्यों बनी रहती है। यही कारण है कि विश्व को अद्वैत सत्ता से विकीर्ण, प्रस्फुटित, निर्गमित तथा बहि:निर्वासित कहा जाता है। जिस प्रकार सूर्य से किरणें विकीर्ण होने पर भी साधारणतया सूर्य ज्यों का त्यों बना रहता है, उसी तरह विश्व और विश्व की सभी वस्तुएँ अद्वैत सत्ता से विकसित होने के बावजूद ज्यों की त्यों बनी रहती है। अतः निर्गमनात्मक सर्वेश्वरवाद में अद्वैत सत्ता विश्व में और विश्व से बाहर भी रहती है। आचार्य जी के शब्दों में प्लोटिनस के भाव कहें तो- ''परमात्म तत्त्व वह अनन्त जीवन, वह सर्वव्यापी चैतन्य और वह सर्वोपरि सत्ता है जो इस जगत् के पीछे अदृश्य रूप से काम करती, इसका नियमन करती है और जिससे दृश्यमान जीवन आता है और आता रहेगा।''[८८] प्लोटिनस ने परम सत्ता को अद्वैत माना है, परन्तु सृष्टि उसी सत्ता से उत्पन्न होती है, इसलिए अनेकता भी गर्भित रूप से उसमें पायी जाती है।

अन्तर्वर्तितावादी सर्वेश्वरवाद

सभी प्रकार के सर्वेश्वरवाद की तुलना में यह मुख्य है। इसके अनुसार परम सत्ता विश्व में अन्तर्व्याप्त है। इसे दो तरह से व्यक्त किया जा सकता है। एक मत के अनुसार परम सत्ता उसी प्रकार विश्व में अन्तर्व्याप्त है, जिस प्रकार बच्चे होने की प्रवृत्ति अण्डे में अन्तर्व्याप्त है। यह प्रवृत्ति केवल अण्डे के सभी अंगों में ही व्याप्त नहीं है, बल्कि यह अण्डे को बच्चे के रूप में लाने के लिए भी इसकी सर्जनात्मक शक्ति है। यदि हम परम सत्ता की अन्तर्वर्ती सर्जनात्मक शक्ति पर बल दें, तो इसे गतिक सर्वेश्वरवाद कहेंगे। क्योंकि इस दशा में इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व के सभी परिवर्तन और उद्‌भव-विकास इसी अन्तर्व्याप्त शक्ति के द्वारा होता है। ईश्वर के इस स्वरूप को बर्गसा के सर्जनवादी विकासवाद उन्मज्जनवादी विकासवादियों के दर्शन में देखा जा सकता है।

---

८५. वही, पृ १८३
८६. विलियम जेम्स- वैरायटीज ऑफ रिलीजस एक्सपीरियेन्स, पृ. ३८०
८७. वही, पृ. ५०१
८८. आचार्य श्रीराम शर्मा- ईश्वर और उसकी अनुभूति, पृ. ७०-७१

इस गतिक सर्वेश्वरवाद से भिन्न स्थैतिक सर्वेश्वरवाद है। जो स्पिनोजावाद में पाया जाता है। इसके अनुसार निर्गुण ब्रह्म एक परम सत्ता है, जो हमारे अज्ञान के कारण विशिष्ट रूप धारण कर विभिन्न और अनेक दीखता है। इस व्याख्या के अनुसार परम सत्ता निर्गुण है और वह ज्यों का त्यों निर्विकार रूप में रहता है। परन्तु जिस प्रकार एक ही चाँद जल तरंगों में अनेक दीखता है या एक ही सिक्का जादूगर के हाथ में अनेक दिखायी देता है, उसी प्रकार मिथ्या दृष्टिवश एक निर्विकार चैतन्य सत्ता जीवों को अनेक दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार परम सत्ता बिना किसी रूप-आकार की है। पर अज्ञान में पड़कर उसे अनेक और विविध वस्तुओं का नाम रूप देकर उस अद्वैत सत्ता को नाना रूप दिए जाते हैं। पर वास्तविकता क्या है ? अद्वैत सत्ता की। इस स्थैतिक सर्वेश्वरवाद के अनुसार ज्ञान अर्थात् सम्यक् दृष्टि प्राप्त होने पर नानात्व का विलयन हो जाता है और उसमें अन्तर्निहित ईश्वरीय स्वरूप का प्रत्यक्ष होने लगता है।

गतिक सर्वेश्वरवाद

गतिक सर्वेश्वरवाद, निरपेक्ष प्रत्ययवाद, बर्गसा के सृजनात्मक विकासवाद तथा उन्मजनवादी विकासवाद में देखने को मिलता है। हेगल, ब्रैडले, बोसाकें आदि को निरपेक्ष प्रत्ययवादी कहते हैं। इन पूर्ण प्रत्ययवादियों के अनुसार परम सत्ता विश्व में अन्तर्व्याप्त विकासात्मक गति शक्ति है। उदाहरण के लिए, अण्डे में निहित सर्जनात्मक प्राण शक्ति। यदि यह प्राण शक्ति अण्डे की सर्जनात्मक शक्ति हो तो यह शक्ति अण्डे के बाहर नहीं रह सकती। इसलिए यदि ईश्वर को विश्व में अन्तर्व्याप्त माना जाय तो अलैक्जेण्डर के अनुसार "इसे अन्तर्वर्तिता के साथ अतीत नहीं माना जाएगा।"[८९] पूर्ण प्रत्ययवादी के लिए परम सत्ता विश्व की अन्तर्वर्ती सर्जनात्मक शक्ति है जो विश्व के अन्तर्गत सभी नूतन विकास के आधार में रहती है।

हेगल का ईश्वर अनन्त संभावनाओं का आगार है और वह क्रमशः उनका वास्तविकीकरण करता रहता है। उदाहरण के लिए शुरूआत में केवल जड़ ▒ और केवल भौतिक-रासायनिक शक्तियों की चिल्ल-पों मची रहती थी। शुरूआत में जीव शक्ति अति क्षीण थी, परन्तु कालान्तर में जीव शक्तियाँ प्रबल होती गयीं और तब किसी प्रकार इन जीवों में चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। प्रारम्भ में चेतन प्राणियों, खासकर मानवों में आपसी संग्राम रक्तमय हुआ करता था। परन्तु काल गति के शिखर पर पहुँची। इस तरह हेगल ईश्वर को संसार का स्रष्टा मानते हैं। इसकी अभिव्यक्ति आत्मरूप में होती है। विश्व का जीवन इसी निरपेक्ष परमात्म चेतना में सम्मिलित है। ईश्वर नक्षत्रों के परे कोई आत्मा नहीं है। वह सभी आत्माओं में आत्मा है।

हेगल की 'फिलासफी ऑफ रिलीजन' से साफ

वह व्यक्ति नहीं बल्कि समाज ज्ञात होता है। इस प्रकार का ईश्वर धर्म तथा दर्शन की मांगों को पूरा नहीं कर सकता। क्योंकि दर्शन के निरपेक्ष को मानव, विश्व और ईश्वर, व्यक्तित्व, सामान्य तत्त्व और सार तत्त्व को अवश्य ही एक सूत्र में बांधना चाहिए, जबकि धर्म एक साकार ईश्वर को चाहता है, जिससे साक्षात्कार हो सके। वर्गों के मरे मराए ढाँचे में प्राण फूँकने के बावजूद भी उनका निरपेक्ष प्रत्यय तादात्म्य द्वारा अनुभूत सद्वस्तु से पूरी तरह अलग है। यदि तार्किक प्रक्रिया का अर्थ एक ऐसी व्यवस्था की खोज है जो कि हमें विश्वास की आत्मा का ज्ञान दे तो वह न तो इन्द्रियों, न प्रज्ञा और न इन दोनों पर बल्कि निरपेक्ष एक पूर्ण अनुभव पर आधारित होनी चाहिए। विचार और आत्मा के तादात्म्य से केवल एक स्थिर विश्व रूप ही पाया जा सकता है। इस तरह हेगल की निरपेक्ष दर्शन पर पहुँचने की बात वास्तविक दार्शनिक प्रवृत्ति की विरोधी है।

ब्रैडले परम सत्ता को सर्वग्राही आत्म संगत अनुभूति के रूप में स्वीकारते हैं। उनके अनुसार "परम सद्वस्तु इस प्रकार की है कि यह स्वयं का विरोध नहीं

८९. अलैक्जेण्डर- फिलासफिकल एण्ड लिटररी पीसेज, पृ. ३२२

करती।[९०] निरपेक्ष एक है *क्योंकि अनेक सद्‌वस्तु बिना* विरोध के रह नहीं सकती। निरपेक्ष एक सामंजस्य में समस्त भेदों को आत्मसात कर लेता है।[९१] अतः सत् व्यक्ति है।[९२] यह मूर्त विभु भी कहा जा सकता है। अर्थात् ऐसा सार्वभौम तत्त्व जो कि समस्त मूर्त वस्तुओं की विविधताओं को सम्मिलित कर लेता है। वह आगे कहते हैं- सद्‌वस्तु अनुभूति जन्य अनुभव है।[९३] इस तरह के अनुभव में हम टुकड़े नहीं पाते हैं, बल्कि हम जो कुछ पाते हैं यह एक पूर्ण होता है, जिसमें अन्तर किया जा सकता है, परन्तु जिसमें भेद नहीं रहता।[९४] ब्रैडले ईश्वर को सिर्फ बौद्धिक तत्त्व के रूप में नहीं, बल्कि समग्र सत्ता के सन्तुष्टिदायक तत्त्व के रूप में मानते हैं। उनके अनुसार बुद्धि को पूरी तरह सन्तुष्ट करने के लिए आध्यात्मशास्त्र को हमारी सत्ता के सभी पहलुओं पर विचार करना चाहिए।[९५] इस प्रकार निरपेक्ष सुख का सन्तुलन[९६] है। यह पूर्णतया शुभ भी है।[९७] और अन्त में निश्चित ही निरपेक्ष केवल वैयक्तिक नहीं है। वह वैयक्तिक नहीं है क्योंकि वह वैयक्तिक भी है तथा और भी कुछ है एक शब्द में वह अतिवैयक्तिक है।[९८]

परन्तु यहाँ एक सवाल उठता है कि क्या धर्म में यथार्थ और आदर्श का अन्तर मिट नहीं पाता? क्या ईश्वर में सभी आदर्शों का साकारीकण नहीं होता है और क्या ईश्वर के साथ सायुज्यकर कुछ क्षणों के लिए भक्त ईश्वर तुल्य होकर सभी आदर्शों को नहीं प्राप्त कर लेता है? ब्रैडले इसके जवाब में कहते हैं, यदि हम ईश्वर के साथ तादात्मीकरण कर लेते हैं, तो भक्त-भगवान् का अन्तर समाप्त हो जाता है। परन्तु यदि भक्त-भगवान् का अन्तर रह जाता है, तो भक्त एक क्षण के लिए भी सभी आदर्शों को वास्तविक नहीं कर पाता। अतः उनके अनुसार परम सत्ता विश्व में अन्तर्व्याप्त होकर नित्य नूतन अनुभूतियों को क्रमशः परिपूर्ण करती रहती है। परन्तु हम आंशिक एवं पारस्परिक विरोधी अनुभूतियों के घेरे से कभी बाहर नहीं निकल पाते हैं। इस कथन से ऐसा लगता है कि उनका निरपेक्ष अनुभव निम्न सहज ज्ञान पर आधारित एक कल्पना मात्र है। अनुभूतिजन्य अनुभव के रूप में निरपेक्ष की व्याख्या द्वारा वे दो अत्यधिक भिन्न अनुभवों अनुभूतिजन्य एवं आध्यात्मिक को मिला देते हैं। पुनः उन्होंने निरपेक्ष को मूर्त सत्ता की समस्त विविधता पर बल देने वाला माना है। पर वह बहिर्व्याप्त है, इस पर उनका कोई बल नहीं है। जबकि सर्वांग निरपेक्ष एक है और अनेक भी वैयक्तिक के साथ सार्वभौम भी है। अन्तस्थ होने पर अतिशायी भी है।

बोसार्केट परम सत्ता को सम्पूर्णत्व की अनुप्रेरणा के रूप में देखते हैं। जो विश्व की सभी सीमित वस्तुओं में पाई जाती है, जिसके कारण प्रत्येक वस्तु अपने सीमित जन से असन्तुष्ट होकर सम्पूर्णत्व के प्रति अथवा सम्पूर्णत्व बनने के लिए कोशिश करती रहती है। यही कारण है जड़ से जीव का विकास होता है। जीव जिस भी दशा में रहता है सम्पूर्णत्व प्रकृति से ओत-प्रोत होकर चेतनामयी प्राणी का रूप धारण करता है। परन्तु सम्पूर्णत्व की भावना विशेषकर मानव में उद्बोधित होती है और मानव इस भावना से अनुप्रेरित होकर आदर्शों की स्थापना व विकास करते हुए परमात्म तत्त्व को प्राप्त कर सम्पूर्ण बनता है। इस तरह सम्पूर्ण विश्व में परम सत्ता अन्तवर्ती रूप धारण कर विश्व की प्रगति एवं उसका विकास करती रहती है।

---

९०. ब्रैडले एफ. एच.- एपीयरेन्स एण्ड रीयलिटी, पृ. १२०
९१. वही, पृ. १२५
९२. वही, पृ. ४०७
९३. वही, पृ. १२७
९४. वही, पृ. १२८
९५. ब्रैडले एफ. एच.- एपीयरेन्स एण्ड रीयलिटी, पृ. १३०
९६. वही, पृ. ४०६
९७. वही, पृ. ४३३
९८. वही. पृ. ४७६

स्थैतिक सर्वेश्वरवाद- स्पिनोजावाद

स्पिनोजा ने परम सत्ता को एक द्रव्य कहा है और फिर उसे ईश्वर की संज्ञा दी है। उनके अनुसार द्रव्य ईश्वर और प्रकृति सब एक ही है। इसलिए स्पिनोजा के लिए प्रकृति और ईश्वर को एक ही मानना तर्क संगत मालूम देता है। स्पिनोजा यहूदी थे और ईश्वर के प्रति उन्हें अगाध अनुराग था। यही कारण है कि वे ईश्वर की व्यक्तिपूर्णता को अस्वीकार करने के बाद भी अपने शैशव संस्कार से स्वयं को वंचित नहीं रख पाए। परन्तु इसके अतिरिक्त प्रकृति में अन्तर्व्याप्त प्राण शक्ति के अनुभव करने पर वास्तव में धार्मिक अनुभूति का लाभ होने लगा। विश्वव्यापी शक्ति के साथ आत्मसात् करने पर व्यक्ति के अन्दर स्वार्थभाव का लोप हो जाएगा और मनोवैज्ञानिक रूप से उसको अपना कोई भाव संवेग नहीं मालूम होने देगा। स्पिनोजा के अनुसार मानव को चाहिए कि वह अपने भाव को नित्यता एवं सर्वव्यापकता की दृष्टि से देखे (सबस्पिसी इटर्नी टैटिस)- तब विश्व का दुःख उसका अपना दुःख होगा, विश्व का हर्ष उसका अपना हर्ष होगा। स्वयं न तो वह किसी प्राप्ति से आनन्दित रहेगा और न किसी दुःख से दुःखी रहेगा। यही आत्म समर्पण भाव से उपजी अद्वैत तत्त्व की अनुभूति है।

इस अनुभव को पाने पर स्पष्ट होता है- यथार्थ अस्तित्व एक द्रव्य परम सत्ता का है। वस्तुएँ वास्तव में उसी एक परम द्रव्य के नित्य-क्षणभंगुर रूप है। जिनका अपना कोई स्थायित्व नहीं है। चूँकि उस द्रव्य को छोड़कर कोई अन्य सत्ताएँ नहीं हैं, इसलिए प्रकृति वास्तव में उसी एक द्रव्य का रूप है। दूसरे शब्दों में स्पिनोजा सिर्फ एक परम सत्ता को मानते हैं और वस्तुएँ तो उसी एक सत्ता के सीमायन, विशेषीकरण तथा नाम-रूपीकरण से उत्पन्न होती हैं। परन्तु स्वयं उन्होंने प्रकृति को वस्तुओं का योगफल, अर्थात् एक सत्ता के अनेक सीमित रूप का संकलन मात्र (नेतुरा नेतुराता) कहा है। फिर भी यह कहा गया है कि विश्व की सभी गतियां और परिवर्तन उसी एक परम सत्ता से ही उत्पन्न होते हैं और इस एक सत्ता को विश्व का अन्तवर्ती आधार भी कहा है। इस रूप में वह परम द्रव्य को (नेतुरा नेतुरैन्स) भी कहते हैं। यद्यपि वह मानते हैं कि परम सत्ता विश्व की अन्तर्व्याप्त प्राण शक्ति है जो उसे विभिन्न रूप से उद्वेलित करती है, तो भी स्पिनोजा का सर्वेश्वरवाद स्थैतिक इसलिए कहा गया है क्योंकि इसमें उद्विकास का कोई स्थान नहीं है।

देववाद (डीइज्म)

इस सिद्धान्त का प्रारम्भ चखरी के 'हर्वट' साहब ने किया था। इनके अनुसार श्रुति धर्म से स्वतंत्र प्राकृतिक धर्म है। यदि श्रुति धर्म आस्था एवं विश्वास का विषय है तो प्राकृत धर्म अनुभव एवं तर्क बुद्धि का। इनके अनुसार ईश्वर ने प्रत्येक मनुष्य को ज्ञान ज्योति प्रदान की है, जिससे वह अपना धर्म जान सकता है। फिर उन्होंने माना है कि धर्म एवं नैतिक कर्त्तव्यों के बीच अवियोज्य सम्बन्ध है, और इसी प्राकृतिक ज्ञान ज्योति के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों को निश्चित कर सकता है।[११] इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर इस विश्व का सृजेता है। जिसने अतीत में इस विश्व को रचा है। चूँकि वह सर्वशक्तिमान यंत्रकार है- इसलिए यह विश्व सर्वथा दोषरहित यंत्र है। जिसकी कार्यवाही के लिए निरीक्षण की कोई जरूरत नहीं। इसलिए ईश्वर को तटस्थ मानना चाहिए।

इस सिद्धान्त के विकास के पीछे धर्म एवं विज्ञान दोनों को अबाधित गति देने का रहस्य छुपा है। विज्ञान के निष्कर्ष प्रारम्भ से ही ईसाई धर्म के लिए शंका के विषय बन गए थे। इसलिए ईसाई धर्म ने विज्ञान की रोकथाम के लिए कुछ कोशिशें भी की। लेकिन विज्ञान की प्रगति को जारी रखने के लिए दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि धर्म एवं विज्ञान का क्षेत्र अलग-अलग है। इसलिए वैज्ञानिक खोज के द्वारा धार्मिक मूल्यों पर आघात नहीं पड़ सकता है। विचारकों ने स्पष्ट करना चाहा कि विश्व को ईश्वर ने ही रचा है। और इस कार्यवाही में ईश्वर हस्तक्षेप नहीं करता है। और विश्व का ज्ञान प्राप्त करने में मानव को उस चरम उद्देश्य

११. एन साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड इथिक्स, भाग ४, पृ. ५३३

को जानने में सहायता मिलेगी, जिसके कारण ईश्वर ने इस विश्व की सृष्टि की है। इन्हीं विचारों ने डीइज़्म को जन्म दिया। डीइज़्म शब्द लैटिन भाषा के डायस से आया है। यह शब्द अठारहवीं शताब्दी के उन चिन्तकों की आस्थाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। जिन्होंने ईश्वर को सृजनकर्त्ता तथा नियामक के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु जिन्होंने व्यष्टिगत सम्बन्धों पर विश्वास नहीं किया और अनहोनी का खण्डन किया है।

इस मत को स्वीकार कर ईश्वर के स्वरूप को समझाने का एक प्रयास देकार्ते ने किया। उन्होंने अपने दर्शन में बताया कि विश्व वास्तव में यांत्रिकी से संचालित होता है। इनके अनुसार पशु पक्षी भी वास्तव में जटिल यंत्र ही हैं। केवल मानव में ही चेतना देखने को मिलती है। ईश्वर इस विश्व का यंत्र का यंत्रकार है। जो बात देकार्ते ने दिखाने की कोशिश की थी। उसे विश्व विख्यात वैज्ञानिक न्यूटन ने कम से कम जड़ जगत् के संदर्भ में वैज्ञानिक रीति से स्पष्ट कर दिया। न्यूटन स्वयं ईश्वर भक्त थे। उन्होंने चाहा कि ईश्वर को जगत् से पूरी तरह तटस्थ नहीं माना जाय। इसलिए उनके अनुसार ईश्वर जगत् का रचनाकार ही नहीं संचालक भी है। उसने कुछ ऐसी व्यवस्था कर दी है, जिस हेतु उसे बीच-बीच में इस विश्व की गति में हस्तक्षेप करना पड़ता है। न्यूटन के अनुसार सूर्य के चारों ओर ग्रहों के परिक्रमा पथ में चलते-चलते गति विकृतियाँ चली आती हैं। यदि ईश्वर ग्रहों को पथ-भ्रष्ट होने से न बचाए तो ग्रह सूर्य में ही गिरकर विनष्ट हो जायेंगे। अथवा वे सूर्य मण्डल से स्वतंत्र होकर अनियमित रूप से विचरने लगेंगे।

एकेश्वरवाद (मोनोथीज़्म)

पश्चिमी एकेश्वरवाद के अनुसार एक सर्व-शक्तिमान, सर्वज्ञ, व्यक्तित्वपूर्ण, अत्यन्त शुभ सत्ता ने इस विश्व की सृष्टि इसलिए की है कि अन्त में इच्छा स्वातंत्र्य पूर्ण सृष्ट मानव ईश्वराज्ञायों का पालन कर सत्संकल्पी जीव बन सके। एकेश्वरवाद में वर्णित ईश्वर के स्वरूप में दो तत्त्व विशेष हैं-

१. ईश्वर की व्यक्तित्व पूर्णता

व्यक्तित्वपूर्ण होने से ईश्वर सृष्टि सम्बन्धी सभी घटनाओं को जानता है। और उसमें निहित आदर्शों को पूरा करता है। यह ठीक है कि मानव की तुलना में ईश्वर की चेतना का विस्तार अनन्त है। लेकिन ईश्वर के व्यक्तित्व में यह विशेषता है कि मानव ईश्वर से संगोष्ठी कर सकता है, ईश्वर भी उसकी प्रार्थना पर ध्यान देता है। यदि ईश्वर में व्यक्तित्व न होता तो उसे चेतन विहीन सत्ता समझा जाता और चेतन विहीन सत्ता से क्षमा, सहानुभूति, सहायता तथा आर्तक्रन्दन का प्रत्युत्तर प्राप्त करना असंगत मालूम देता है। व्यक्तित्वपूर्णता के बिना ईश्वर उपास्य नहीं हो सकता। लेकिन व्यक्तित्वपूर्णता होने पर ईश्वर में सीमितपन अर्थात् अपूर्णता ध्वनित होती है और अपूर्ण ईश्वर की युक्ति संगत रूप से उपासना सम्भव नहीं है। अर्थात् भक्त का सम्पूर्ण आत्म समर्पण नहीं हो सकता। अतः उपास्य ईश्वर का सम्प्रत्यय आत्म विरोधी है।

२. ईश्वर-सृष्टिकर्त्ता

सृष्टिकर्त्ता और शिल्पी में बड़ा भेद है। शिल्पी पहले से वर्तमान सामग्री लेकर किसी उद्देश्य पूर्ति के लिए नयी वस्तुओं का निर्माण करता है। सृष्टिकर्त्ता वह है जो सामग्री को भी उत्पन्न करता है, अर्थात् जो अन्तिम अवस्था में शून्य से ही सभी उपादान और वस्तुओं को उत्पन्न करता है। इस शून्यतः सृष्टि का मतलब क्या है?

यदि ईश्वर से परे और स्वतंत्र कोई अन्य सत्ता न हो और केवल ईश्वर ही एक निरपेक्ष परम सत्ता हो तो जो कुछ भी सृष्ट करना होगा- उसे ईश्वर स्वयं अपनी सत्ता से ही सर्जन करेगा, अर्थात् सभी सृष्ट वस्तुएँ ईश्वर से ही निकलेंगी। इससे यह समझ में आता है कि या तो विश्व ईश्वर का ही एकरूप (जैसे सुराही मिट्टी का) है, यह विश्व ईश्वर से उसी प्रकार निकलता है, जिस प्रकार सुगन्ध गुलाब से। अब चाहे विश्व को ईश्वर रूप समझा जाय या उसे ईश्वर का निःसृत गुण माना जाय- दोनों ही दशाओं में विश्व को ईश्वर के साथ आत्मसात हो जाना है। यदि विश्व और ईश्वर एक हो जाएँ तो भक्त और भगवान् भी एक हो जायेंगे। तब कौन किसकी उपासना करेगा? उपासना के लिए ईश्वर को भक्त से परे, अतीत एवं बहिर्निष्ठ होना चाहिए। इसलिए यदि ईश्वर को शून्यतः सृष्टिकर्त्ता माना जाय, तो उपास्य नहीं रह जाता। यदि किसी पूर्वस्थिति उपादान से ईश्वर इस विश्व की रचना

करता है तो सीमित होने के कारण उपास्य नहीं। अत: एकेश्वरवाद अन्तर्विरोधों से ग्रस्त एकांगी मतवाद ही है। इसमें इस तथ्य का कोई तर्क पूर्ण व अनुभव सम्मत आधार नहीं है कि किस तरह दैवी सत्ता सच्चिदानन्द एक साथ निर्वैयक्तिक भी है और वैयक्तिक भी, वह एक सत्ता है जो समस्त सत्यों, शक्तियां और सत्ताओं का स्रोत और आधार है। परन्तु वह एक सर्वातिशायी चेतन सत् भी है और सर्वपुरुष भी, जिसके कि समस्त चेतन प्राणी आत्माएँ एवं व्यक्तित्व हैं क्योंकि वह उनकी सर्वोच्च आत्मा अन्त:करण में उपस्थित है।[१००]

ईश्वर का प्रत्यय

ईश्वर का प्रत्यय ही वह मर्म स्थल है, जहाँ दर्शन और धर्म स्वयं को एकाकार हुआ अनुभव करते हैं। दर्शन मूलत: इस 'सत्यस्य सत्यं' को बौद्धिक रीति से समझने का प्रयास है और धर्म उस सत्यं की हृदय के अन्तर्तम में अनुभूति। यदि दर्शन धर्म में परिणत न हो तो वह शब्दों की क्रीड़ा मात्र है। और यदि धर्म के पीछे दार्शनिक पृष्ठभूमि न हो तो वह रुढ़ियों, रिवाजों, पोथियों, मंदिरों, मस्जिदों से परिचालित आचरण मात्र बन जाएगा। सदियों पूर्व काण्ट ने कहा था कि ईसा ईश्वर का राज्य पृथ्वी के पास लाए हैं। किन्तु उन्हें गलत समझा गया और (परिणाम स्वरूप) ईश्वर के राज्य के स्थान पर हम पादरी के राज्य को अपने बीच में प्रतिष्ठित पाते हैं।[१०१]

भारतीय जगत् में ईश्वर तत्त्व को लेकर धर्म व दर्शन में टकराहट नहीं रही। यहाँ 'ईश्वर' प्रत्यय के प्रत्येक विचारक ने इस तत्त्व को धार्मिक साधनाओं के द्वारा स्वयं के अस्तित्व की गहराइयों में अनुभव किया है। यह बात याज्ञवल्क्य से लेकर गौतम बुद्ध, महावीर, शंकर, कुमारिल, रामानुज, श्री अरविन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द और स्वयं आचार्य श्रीराम शर्मा में देखने को मिलती है। तत्त्वज्ञान ही नहीं तत्त्वदर्शन भी भारतीय जीवन में आवश्यक माना गया है।[१०२]

धर्म एवं दर्शन के इस अटूट सम्बन्ध के कारण धार्मिक अनुभूतियों में प्रत्यक्ष होने वाला ईश्वर तत्त्व, ईश्वर का प्रत्यय कहलाकर, दार्शनिकों के विचारों का केन्द्र बन गया। देकार्त अपने विचारों की शुरूआत सन्देह से करते हैं। उनके अनुसार मैं प्रत्येक वस्तु पर संदेह कर सकता हूँ, किन्तु अपने आप पर नहीं, क्योंकि मैं ही तो सन्देह करता हूँ। यदि उसी का अस्तित्व अस्वीकृत हो गया, तो सन्देह रहेगा कहाँ। इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा कि जो सन्देह कर रहा है, उस पर भी शंका नहीं की जा सकती। सन्देह एक प्रकार का विचार है इस पर भी शंका नहीं की जा सकती। यही विचार हमें बतलाता है कि पूर्णता जैसी वस्तु होनी चाहिए। यही पूर्ण सत्ता ईश्वर है। पूर्णता का अर्थ ही है, जहाँ कोई कमी न हो। इसलिए ईश्वर सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान तथा शुद्ध है। मालब्राक ने बताया कि हमारी सारी विचारधाराएँ ईश्वर से ही समुत्पन्न होती हैं, क्योंकि उसमें सभी विचार तथा वस्तुएँ अवस्थित हैं। किन्तु ईश्वर को उसने न तो सशरीर माना और न आध्यात्मिक। वह तो एकमात्र सर्वोच्च शुभ है। इसलिए भौतिक तथा इसी जगत् के पदार्थों की ईश्वर से प्रार्थना करने पर भी व्यक्ति ईश्वर की ही अभ्यर्थना करता है, क्योंकि सभी कुछ तो उसमें ही स्थित है।

स्पिनोजा ने ईश्वर को केवल एक तत्त्व माना, जिसमें अनेक गुण हैं, जिनमें से केवल विचार व विस्तार को हम जान सकते हैं। सम्पूर्ण विश्व का नियन्ता वही है। सारा जगत् उसी से नि:सृत हुआ है। जिस तरह यूक्लिड के साध्य स्वयं सिद्ध सिद्धान्तों से नि:सृत होते हैं, वैसे ही सारा संसार उस एक तत्त्व से निकला है।[१०३] स्पिनोजा सम्पूर्ण जगत् में ईश्वर को पाते हैं। "सभी कुछ

---

१००. श्री अरविन्द- द लाइफ डिवाइन भाग २, पृ. ४५१

१०१. "Christ has brought the kingdom of God nearer to earth, but he has been misunderstood and in place of God "Kingdom the Kingdom of the priest has been established among us"
Chamberloin, Immunal Kant, Vol. I, p. 510

१०२. सम्यक् - दर्शन सम्पन्न: कर्म भिर्न निबध्यते दर्शनेन विहीनस्तु संसार प्रतिपद्यते। -मनुसंहिता-६.७४

१०३. स्पिनोजा इथिक्स-१, पृ.१७

ईश्वर में है और सभी कुछ ईश्वर में ही रहता है तथा गतिशील रहता है, यही उनकी कल्पना है।"[१०४]

लाक ने यह मान्यता प्रकट की कि ईश्वर को जानना सम्भव है, क्योंकि हमारे मन में ईश्वर की प्रतिमाएँ तथा धारणाएँ स्थित हैं। जब हम बाह्य जगत् की गुंफित रचना को परखते हैं या अपने अस्तित्व या अपनी शक्ति के विषय में सोचते हैं, ईश्वर के विषय में आश्वस्त हो जाते हैं, क्योंकि इन सबकी सर्जक कोई शक्तिशाली तथा बुद्धिमान सत्ता ही हो सकती है। बर्कले ने ईश्वर को सभी प्राणियों के मन को नियंत्रित करने वाली शक्ति के रूप में देखा। वही सबको ज्ञान प्रदान करता है। हमारे संवेदनों की सुव्यवस्था ही ईश्वर के अस्तित्व का सबसे बड़ा प्रमाण है। हम ईश्वर के उस स्वरूप को तो कभी जान नहीं पायेंगे, जो उसका असली स्वरूप है। हम केवल उसके विषय में उतना ही समझ सकते हैं, जितना वह स्वयं हमें समझाना पसन्द करता है।

जान कॉल्विन, जॉन टोलेण्ड, तिण्डल आदि विचारकों ने ईश्वर को एक ऐसा नियन्ता माना जिसने घड़ी साज की तरह इस विश्व की घड़ी का निर्माण कर उसे कुछ नियमों के अन्तर्गत कार्य करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया। जो कुछ व्यवस्था विश्व में दिखाई देती है, वह ईश्वर के ही कारण है। संशयवाद के वातावरण के बावजूद रुसो ने ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास व्यक्त किया, किन्तु उसकी बौद्धिकता ने बतलाया कि ईश्वर को मान लेने पर भी उसके अस्तित्व को सिद्ध करना सरल नहीं है। उसने लिखा कि "ईश्वर के अनन्त अस्तित्व को सिद्ध करने का जितना अधिक मैं प्रयास करता हूँ उतना ही कम उसे समझ पाता हूँ, किन्तु मैं अनुभव करता हूँ कि वह है। यह अनुभूति ही मेरे लिए पर्याप्त है। मैं जितना कम समझ पाता हूँ, उतनी ही अधिक भावना के साथ मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ। ईश्वर मनुष्यों से हार्दिक भक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहता। बुद्धि प्रदत्त ज्ञान की सत्यता का निर्णय करने में अक्षम है।"[१०५]

लाइबनित्ज ने ईश्वर को चिद्बिन्दुओं का चिद्बिन्दु माना। काण्ट ने ईश्वर को केवल इस आधार पर मान्यता दी कि यदि उसे नहीं माना जाएगा तो पूर्ण नैतिकता का आदर्श अपूर्ण रहेगा। अच्छे कर्मों का फल देने वाली तथा कुकर्मों को दण्डित करने वाली कोई सत्ता तो होनी ही चाहिए। ईश्वर ही वह सत्ता है। हीगल द्वन्द्वात्मक पद्धति के प्रशंसक थे। वैसे यह रीति पुरानी ही है। एम्पेडोक्लीज में इसकी ध्वनि मौजूद है। अरिस्टॉटल के 'सुनहरा माध्यम' में भी इसी को खोजा जा सकता है। शेलिंग तथा फिक्टे में भी इसे हम पाते हैं। किन्तु हेगल ने इस नियम को अपनी रचनाओं का मूल आधार ही बना डाला। ईश्वर को हेगल, सम्बन्धों की ऐसी समष्टि के रूप में स्वीकार करते हैं जिसके कारण सभी वस्तुओं को गति तथा महत्त्व मिलता है। हेगल की दृढ़ धारणा थी बुद्धि विश्व का तत्त्व है और विश्व की संरचना नितान्त बुद्धि संगत है।

ब्रेडले के अनुसार- "यदि आप निरपेक्ष का ईश्वर से तादात्म्य कर लेते हैं, तो वह धर्म का ईश्वर नहीं है। यदि फिर आप उन्हें पृथक् कर देते हैं तो ईश्वर पूर्ण में एक सीमित तत्त्व बन जाता है।"[१०६] इस तरह ईश्वर का प्रत्यय कई अन्तर्विरोधों से भरा है। ईश्वर को सम्पूर्ण सीमित आकांक्षाओं का पूर्ण सन्तुष्टीकरण होना चाहिए और साथ ही उसे मेरी इच्छा से सम्बन्धित भी होना चाहिए। धर्म व्यावहारिक होता है और दूसरी ओर उच्चतम धर्म का उद्देश्य अपरिमित अच्छाई तथा शक्ति होता है। हमारे सामने एक परिपूर्ण वास्तविक इच्छा है और मेरी इच्छा भी। इन दोनों के व्यावहारिक सम्बन्ध को ही धर्म का नाम दिया जाता है। किन्तु पूर्णता को वास्तविक रूप से सम्पादित कर लिया जाता है, तो मेरी इच्छा का क्या होगा? यह विसंगति दुर्निरोध है और प्रथम दृष्टि में हमें

---

१०४. Spinoza in his correspondance: Epistle 21
१०५. हेगल- फिलासफी ऑफ हिस्ट्री
१०६. ब्रेडले एफ. एच. – एपीयरेन्स एण्ड रीयलिटी, पृ. ३९५

विनाश से भयभीत कर डालती है।[१०७]

रायस ईश्वर को सर्वान्तर्यामी मानते हैं। सर्वान्तर्यामी से उनका भाव यह है कि उसे अपने सत्य के विषय में प्रत्यक्ष एवं अलौकिक दृष्टि प्राप्त है। रायस का मत है कि परम अनुभव में विचारों का पूर्ण पूर्णीकरण होता है। चेतना की परम एकता में आत्म चेतना की विविधताएँ ही नहीं होती, व्यक्ति तथा उससे इतर पदार्थों के सान्त विरोध ही नहीं होते। इससे भी अधिक उसमें स्वयं के विचारक, अनुभवकर्त्ता, द्रष्टा, प्रेम, संकल्प आदि विरोधों की चेतना को हम एक स्फूर्त एकता में विगलित पाते हैं। परम एकता में इस तरह रायस के मतानुसार परम आत्म-चेतना के परस्पर सम्बन्ध विविध प्रकार वर्तमान होते हैं। रायस तथा ब्रैडले में अन्तर यह है कि रायस आत्म-चेतना के विचार प्रकारों को माया नहीं मानते, जबकि ब्रैडले उन्हें सिर्फ माया मानते हैं।

हॉबिसन आध्यात्मिक जगत् की सत्यता को दो पक्षों के सामंजस्य में पाते हैं- प्रथम पक्ष है ईश्वर और दूसरा पक्ष है मनुष्य समाज। हाविसन ईश्वर के पितृत्व तथा मनुष्यों के भ्रातृत्व को मानते हैं। रैशडल ने निरपेक्ष तथा ईश्वर में अन्तर किया है और ईश्वर को ससीम तथा अन्य आत्माओं से सीमित माना है। इस प्रकार सद्वस्तु व्यक्तियों की एक बिरादरी अथवा मैक्टैगार्ट के शब्दों में एक समाज है। प्लेटो ने उसे शुभ प्रत्यय कहा है। अरिस्टॉटल ने प्रथम गतिदाता माना है। काण्ट ने उसे नैतिकता के धारक के रूप में जाना। हर्बर्ट स्पेन्सर उसे अज्ञेय सत्ता या शाश्वत शक्ति के रूपमें देखते हैं।[१०८]

अलैग्जैण्डर एक आदर्श अस्तित्वहीन देवता के रूप में ईश्वर की एक विशेष कल्पना उपस्थित करते हैं। संसार अपने असीमत्व में असीम देवता की ओर जाता है अथवा उसको गर्भ में धारण करता है, परन्तु असीम देवता का कोई अस्तित्व नहीं है।[१०९] ईश्वर यथार्थ नहीं बल्कि आदर्श है, केवल उसकी ओर प्रेरणा यथार्थ है। बर्गसा उसको 'शुद्ध संकल्प' के रूप में चैतन्य मानते हैं, शुद्ध प्रवृत्ति जिससे कि हमारी संकुचित चेतना और जड़ पदार्थ के प्रत्यक्ष निकलते हैं। यह शुद्ध क्रिया का सिद्धान्त विश्व में समस्त सृष्टि का स्रोत और केन्द्र है। अतः बर्गसां उसको ईश्वर कहते हैं। बर्गसां के शब्दों में "इस प्रकार से परिभाषित ईश्वर में पहले से ही बना कुछ नहीं है। वह अविच्छिन्न जीवन, कर्म और स्वातन्त्र्य है।"[११०]

व्हाइटहेट ने ईश्वर की प्रकृति को दो अर्थों में समझाया है- आदिम (*Primordial*) और परिभाषात्मक (*Consequent*) विश्व का आदि और अन्त। ईश्वर विश्व का स्रष्टा, पालक और विनाशक है। जगत् न केवल उससे निकलता है, बल्कि उसी में लौट भी जाता है। व्हाइटहेट के अनुसार विश्व का विकास ईश्वर का विकास। विश्व ईश्वर के सहज अनुभव में नित्य और अपरिवर्तनीय रूप में रहता है। धार्मिक अर्थों में जैसा कि व्हाइटहेट ने समझाया है, इस प्रकार ईश्वर संसार को अमर कर देता अथवा विनाश से बचाता है। परन्तु फिर "न तो ईश्वर और न संसार ही एक स्थिर पूर्णता पर पहुँचते हैं। दोनों ही एक परम आध्यात्मिक आधार, नवीनता में एक रचनात्मक प्रगति के वश में हैं। उनमें से प्रत्येक ईश्वर और विश्व, एक दूसरे के लिए नवीनता का साधन हैं।"[१११] इस प्रकार ईश्वर निरपेक्ष नहीं है। ईश्वर ओर विश्व दोनों ही रचनात्मकता के नियम के आधीन हैं। ईश्वर ससीम और साकार है।

---

१०७. "God must be at once the complete satisfaction of a.. ....finite aspiration, and yet on the other side must stand in relation with my will. Religion is practical and on the other hand in the highest religion *the object is* supreme goodness and power. We have a perfect real will, and we have my will, and the practical relation of there wills is what we meen by religion. And yet if perfection is actually realized, what becomes of my will which is ever against the compleet Good will? The inconsistency seems irrenovable at first sight may threoten with ruin."

१०८. हर्बर्ट स्पेन्सर- प्रिन्सिपल ऑफ सोशियोलॉजी

१०९. अलैग्जेण्डर- स्पेस टाइम एण्ड डी टी, भाग २, पृ. ३८०

११०. बर्गसां- क्रिएटिव एवाल्यूशन, पृ. २६२

१११. व्हाइटहेड ए. एन.- प्रोसेस एण्ड रीयलिटी, पृ. ४९३-९४

भारतीय दर्शन में भी ईश्वर के प्रत्यय को इसी तरह स्पष्ट किया गया है। न्याय वैशेषिक दर्शन के अनुसार षड् ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य, मोक्ष आदि से परिपूर्ण सत्ता को ही ईश्वर का नाम दिया गया है। योगदर्शन में ईश्वर को क्लेश, कर्म, फल आदि से विमुक्त सत्ता के रूप में स्वीकारा गया है। शंकर ब्रह्म को परम सत्ता मानते हैं। ईश्वर को माया से युक्त ब्रह्म के रूप में चित्रित किया गया है। इसलिए उसे अपर ब्रह्म भी कहा गया है। वह सत्-चित्-आनन्द रूप है। माया का अधिपति है। रामानुज सगुण ब्रह्म को मानते हैं। वह परम सत्ता ही है। चित-अचित उसके शरीर हैं। प्रलयावस्था में ईश्वर कारण ब्रह्म रहता है। सृष्टि के सृजन से वह मूर्त रूप में प्रकट हो जाता है।

इस तरह ईश्वर के प्रत्यय के अनेक पहलुओं को उजागर करते हुए अनेक विचार पाश्चात्य तथा भारतीय दर्शन में मिलते हैं। विचारों के ये बहुआयाम, एक तरह के वाद-विवाद का रूप ले लेते हैं। आचार्य जी की व्यापक और पक्षपात रहित दृष्टि ही इसका निर्णय करने में सक्षम है। साथ ही इसी प्रकार की व्यापकता में ईश्वर के स्वरूप को पूर्णतया स्पष्ट ढंग से समझा और अनुभव किया जा सकता है।

आचार्य श्रीराम शर्मा का व्यापक दृष्टिकोण

आचार्य जी की दृष्टि की व्यापकता में अनुभव करने पर पाते हैं कि अणु-अणु का मूलाधार वह परमात्व तत्त्व ही है। सब कुछ उसी से बनता और उसी चेतन शक्ति से गतिशील होता है। आकार-प्रकार में भिन्न दिखते हुए भी प्रत्येक पदार्थ एवं प्राणी एक उसी तत्त्व के अंश हैं। जिस प्रकार समुद्र से उठाया हुआ एक जलबिन्दु भिन्न दीखता हुआ भी मूलतः उसी का संक्षिप्त स्वरूप होता है और समुद्र की सारी विशेषताएँ उसमें समाहित होती हैं, उसी प्रकार व्यक्तिगत जीवन समष्टिगत जीवन सीमित और असीमित के मिथ्या भेद के बावजूद तत्त्वतः एक ही हैं।[११२] सत् एक है, परन्तु यह एकता असीम है और स्वयं में स्वयं का एक असीम बहुतत्व या विविधता रखती है। एक सब कुछ है, वह केवल एक सार भूत सत्ता ही नहीं, बल्कि समग्र सत्ता है।[११३] उपनिषदों की तरह आचार्य जी परमात्म तत्त्व को 'सच्चिदानन्द' मानते हैं। उनके शब्दों में- "परमात्मा को सच्चिदानन्द स्वरूप कहा गया है। ...सत् अर्थात् शाश्वत् अजर-अमर और अविनाशी स्वरूप। चित् अर्थात् चेतना अर्थात् दिव्य गुणों से सुसज्जित, उच्चस्तरीय आदर्शों आस्थाओं से युक्त। आनन्द अर्थात् भाव संवेदनाओं, सरसता, मृदुलता से सिक्त।"[११४] यह सच्चिदानन्द सत्ता, उपास्य के रूप में ईश्वर, निराकार व्यापकता के रूप में ब्रह्म, चेतन धाराओं की अधिष्ठातृ शक्तियों के रूप में देवता, जीवों के अस्तित्व केन्द्र के रूप में विराजमान अन्तरात्मा तथा सृष्टि की गड़बड़ियों को सुधारने, इसे सौन्दर्य मण्डित करने आए अवतार के रूप में, अपनी अनुभूति देती है। आचार्य जी इस तत्त्व को बुद्धि और तर्क से परे मानते हुए भी बुद्धि और तर्क युक्त स्वीकार करते हैं। उनके शब्दों का ईश्वरीय संगीत निम्न बिन्दुओं में गाया गया है।

◆ सर्वंखल्विदं ब्रह्म

ब्रह्म... एक ऐसी चेतन सत्ता है जिससे संसार का न तो एक कण रिक्त है और न एक क्षण। वह ब्रह्म की सूर्य रूप में (आत्मा रूप में) तत्त्व रूप में प्रतिभासित होता है और प्रकृति के संयोग से भिन्न शरीरों और वासनाओं वाले जीवों का निर्माण करता है। जिस प्रकार एक सूर्य-एक आत्मा के अनन्त जीव हैं, जो उस मूल चेतना आद्य शक्ति से प्राण पाते हैं, उसी प्रकार अनेक आत्माएँ ब्रह्म से जीवन और चेतना प्राप्त करती हैं, जिस प्रकार समुद्र नदी, नद और ताल, पोखरों में एक तत्त्व जल ही सर्वत्र है उसी प्रकार जीव आत्मा ब्रह्म में एक ही प्राण तत्त्व का विकास, एक ही मनोदय चेतना कर रही है। अपने

११२. आचार्य श्रीराम शर्मा- ईश्वर और उसकी अनुभूति, पृ. ७१

११३. श्री अरविन्द- द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृ. ४४८

११४. आचार्य श्रीराम शर्मा- सच्चिदानन्द स्वरूप अन्तरात्मा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४५, अंक ५, पृ. ३

जीवन तत्त्व को भाप नदी में बदलकर नदी हो जाती है और नदी समुद्र। उसी प्रकार प्राणों का जीव से आत्मा में आत्मा से ब्रह्म में विकास और उसी में मानसिक चेतना या संकल्प की स्थिरता ही जीव का आत्मा और आत्मा का ब्राह्मीभूत होना है।[११५]

प्रकृति की समस्त हलचलों का केन्द्र विन्दु (यही) एक केन्द्रीय शक्ति है। वही विविध रूप धारण करती तथा संसार को रचती है। सम्पूर्ण सृष्टि में यही संव्याप्त है। ....इस महाशक्ति को ब्रह्म कहा गया है। ....ब्रह्म के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड में और कुछ नहीं है। 'एको ब्रह्म द्वितीयोनास्ति' की उक्ति इसी तथ्य पर आधारित है। उसके प्रकाश से ही तारे, ग्रह, नक्षत्र, सूर्य सभी प्रकाशित हैं। जीव जन्तु वनस्पतियों में उसकी चेतन तरंगें ही क्रीड़ा कल्लोल कर रही हैं।[११६]

जिस प्रकार सूर्य ओस की असंख्य बूंदों में असंख्य प्रतीत होता है। उसी प्रकार देश काल की परिधि में आकर उसके परे रहते हुए भी वह असंख्यों नाम रूपों में प्रतिभासित होता है। स्वरूप में भिन्नता होते हुए भी कारण भूत सत्ता की दृष्टि से समस्त जड़ चेतन में वही विद्यमान है। सृष्टि की समस्त रचनाएँ उसी की क्रमिक अभिव्यक्तियाँ हैं।[११७] शास्त्र ने इस विराट् ब्रह्म का वर्णन कितने ही अलंकारिक रूप में किया है। ऋग्वेद १०/९०/१२ 'ब्रह्मणोस्य मुखमासीत बाहु राजन्यकृतः..' मंत्र में चारों वर्णों को ब्रह्म शरीर कहा गया है। ऋग्वेद १०/९०/१ में इसका उल्लेख 'सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात...' के रूप में मिलता है। उसे सहस्त्र अनन्त सिर, हाथ, पैर वाला बताया है। उसने न केवल मनुष्य वरन् समस्त पृथ्वी, समूचे ब्रह्माण्ड को घेर रखा है, 'सः भूमिं विश्वतः कृत्वा' जिस प्रकार शरीर के भीतर अगणित कोशाओं और तन्तुओं का अस्तित्व और बाहर बाल, रोम-कूप आदि का विस्तार है, उसी प्रकार विराट् ब्रह्म के अवयवों की तरह अनेकानेक प्राणी और पदार्थ देखे जा सकते हैं।[११८] इस प्रकार आचार्य जी के स्वरों में ब्रह्म सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। सर्वव्यापी क्योंकि सभी रूप देश और काल के उसके स्वयं अपने विस्तार में उसकी अपनी गति की शक्ति से उत्पन्न उसकी चेतन सत्ता के रूप हैं। सर्वज्ञ क्योंकि सभी वस्तुएँ उसकी चेतना में रहती हैं, उसके द्वारा बनायी जाती और उसी के अधिकार में रहती हैं। सर्वशक्तिमान क्योंकि यह सर्वाधिकारी चेतना है एक सर्वाधिकारी शक्ति और सर्वसूचक संकल्प है।[११९]

◆ साकार और निराकार

पर ब्रह्म साकार है या निराकार? इस प्रश्न को लेकर विवादास्पद चर्चाएँ चलती रहती हैं। चिन्तन का सूत्र सही न होने से गुत्थी सुलझने के स्थान पर और उलझ जाती है। यदि लक्षणों की विचारपूर्वक गवेषणा की जाय तो वस्तुस्थिति को समझने में तनिक भी कठिनाई न पड़े और दोनों ही पक्षों को अपने-अपने अनुकूल समाधान मिल जाये।

सर्वव्यापक वस्तुओं को आकाश की, वायु की, ईथर की, प्राण की उपमा दी जा सकती है। वे निराकार हैं। सृष्टि की नियति और व्यवस्था भी अदृश्य रहकर अपना काम करती है। उनका व्यापक होना स्वाभाविक है। व्यापक तत्त्व एक देशीय नहीं हो सकते। यदि एक स्थान पर एक स्वरूप में वे बन्ध जायेंगे तो फिर अन्यत्र उनकी उपस्थिति कैसे देखी जा सकेगी? इसलिए पर ब्रह्म को स्रष्टा, नियन्ता, पोषक मानते हुए उसे घट-घट व्यापी सर्वत्र समाहित ही माना जा सकता है। यह निराकार पक्ष है।[१२०]

परमात्मा का साकार रूप देखना हो तो यह विश्व ही परमेश्वर माना जा सकता है। मूर्तियाँ और प्रतिमाएँ

११५. आचार्य श्रीराम शर्मा- ब्रह्म एक समष्टि चेतना और जीव व्यष्टि, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३३, अंक १०, पृ. ४३
११६. आचार्य श्रीराम शर्मा- जड़ चेतन मे समाई हुई परम शक्ति, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४५, अक ७, पृ. ७
११७. वही, पृ
११८. आचार्य श्रीराम शर्मा- ईश्वर दर्शन इस प्रकार होता है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४१, अक ३, पृ. ६
११९. श्री अरविन्द- द लाइफ डिवाइन, भाग १, पृ. १७५
१२०. आचार्य श्रीराम शर्मा- ईश्वर के साकार और निराकार रूप की विवेचना, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक ३, पृ. ७

ध्यान साधना की एकाग्रता के लिए मनुष्य की अपनी सूझ बूझ है। देवता और अवतारों के जैसे चित्र दिखाए या बताए जाते हैं, वे सब मानवी कल्पनाएँ हैं। विभिन्न देश, धर्म के लोगों ने अपने रूप और स्वभाव वाले परमात्मा बनाए हैं। उनमें इतनी भिन्नता है कि उनमें कौन वास्तविक है यह निर्णय कर सकना शक्य नहीं। ......तब क्या ब्रह्म साकार नहीं है। निश्चित रूप से वह निराकार होने की तरह साकार भी है। इस विश्व में जो कुछ दृश्यमान हो रहा है, उसे 'भगवान्' ही कहना चाहिए।[१२१]

◆ तर्कों से परे है और तर्क सम्मत भी

ईश्वर और उसका सृष्टि प्रवाह अनन्त है। यदि उसे अनादि के स्थान पर सादि मान भी लिया जाय तो फिर प्रश्न उठेगा कि ईश्वर को किसने बनाया? जिसने उसे बनाया, उसे किसने बनाया? इस प्रकार के प्रश्नों का कोई अन्त नहीं होगा। यदि यह माना जाय कि ईश्वर को किसी ने बनाया नहीं, वह स्वतः उत्पन्न हो गया, तो सृष्टि रचना के लिए उसकी आवश्यकता क्यों? वह भी स्वयं क्यों नहीं हो जाती। फिर तो यह तर्क भी प्रस्तुत किया जाने लगेगा कि जिस ईश्वर को स्वयं उत्पन्न होने की आवश्यकता पड़ती है, वह इतनी सुन्दर और सुव्यवस्थित दुनिया कैसे बना सकता है? यह सही भी है। इस प्रकार इन तर्कों से ईश्वर की उत्पत्ति किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती। जो वस्तु उत्पन्न नहीं है वह अवश्य ही अनादि और अनन्त है। उसकी अनन्तता उसके अमृतत्व में समाहित है। क्योंकि मृतत्व परिमितता की निशानी है। अथर्ववेद इसी का उद्घोष करते हुए कहता है कि यों 'भूतं च भाव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति' अर्थात् ईश्वर तीनों कालों से परे है।[१२२] साथ ही तर्कों से परे भी।

नास्तिकवाद के मतावलम्बियों का मानना है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर जिसकी सत्ता सिद्ध हो उसे ही माना जाय। परन्तु यह तर्क उचित नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण को आधार मानकर हर चीज को सिद्ध कर सकना असम्भव है। उसके द्वारा तो यह भी सिद्ध किया जा सकना असम्भव है कि हमारा पिता कौन है? पर माता की साक्षी को इसके लिए पर्याप्त प्रमाण मान लिया जाता है।[१२३] तर्क शास्त्र में प्रमाण के आठ आधार बताए गए हैं १. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान, ४. शब्द, ५. अर्थोत्पत्ति, ६. ऐतिह्य, ७. सम्भव, ८. अभाव। इनमें से एक प्रत्यक्ष ही इन्द्रिय गम्य है। शेष सात के लिए बुद्धि पर निर्भर रहना पड़ता है। जब भौतिक जगत् की जानकारियां प्रत्यक्ष के आधार पर नहीं मिल पाती, तो ईश्वर जैसे अति सूक्ष्म तत्त्व को आँख से देखने पर ही विश्वास करने का आग्रह करना बाल हठ जैसा ही कुछ कहा जा सकता है।[१२४] प्रत्यक्ष प्रमाण आज के अर्ध विकसित विज्ञान से नहीं मिल पाते, इस कारण यह मान लिया जाय कि ईश्वर का अभाव है, यह युक्ति संगत नहीं है।[१२५]

सृष्टि की गहराई में उतरने पर स्पष्ट हो जाता है कि उसके कण-कण में नियम और नियंत्रण संव्याप्त है। यहाँ सब कुछ अंधाधुंध नहीं चल रहा है, वरन् एक सुव्यवस्थित 'आर्डर' के आधार पर सारा सूत्र संचालन इस प्रकार हो रहा है मानों किसी बाजीगर की उंगलियों में बंधे धागे सारी कठपुतलियों को तरह-तरह के नाच नचा रहे हों। छोटे जीवाणु-परमाणुओं से लेकर आकाश में परिभ्रमण करने वाले तारामण्डलों और नीहारिका समूहों के बीच एक अत्यन्त सजग सुव्यवस्था काम कर रही है। वे सभी अपने-अपने लिए निर्धारित सुनिश्चित नियमों से बंधे हुए हैं। इन नियमों की जानकारी में ही विज्ञान के प्रयास नियोजित हैं। विज्ञान अपने को सत्यान्वेषी कहता है। सृष्टि के नियम ही उसके लिए शोध विषय है। इस नियामक सत्ता को विज्ञान का ईश्वर कह सकते

१२१. आचार्य श्रीराम शर्मा- परमेश्वर का निराकार और साकार रूप, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३५, अंक ९, पृ. ३६
१२२. आचार्य श्रीराम शर्मा- तर्कों की भाषा के परे है ईश्वर की सत्ता, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक ८, पृ. २४
१२३. आचार्य श्रीराम शर्मा- तद् विज्ञानेन परयन्ति धीरा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४१, अंक १२, पृ. ९
१२४. आचार्य श्रीराम शर्मा- क्या ईश्वर सचमुच ही मर गया? अखण्ड ज्योति, वर्ष ४१, अंक २, पृ. ५
१२५. आचार्य श्रीराम शर्मा- तद् विज्ञानेन परयन्ति धीरा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक १५, पृ. १०

हैं।[१२६] कर्त्ता के बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती। पेन्ट, ब्रश, बोर्ड आदि सभी सामान यदि इकट्ठे कर दिए जायें तो भी बिना चित्रकार के कोई चित्र बन सके यह असम्भव है। समग्र सृष्टि का संचालन करने वाला कोटि-कोटि जीवों में चेतना का संचार करने वाला सर्वशक्तिमान, नियन्ता एक ही कारीगर है।[१२७] विश्व के अन्तराल में काम करने वाला (इसका) शक्ति प्रवाह ज्ञान युक्त ही नहीं न्याय (तर्क) और औचित्य के तथ्यों से भी ओत-प्रोत है।[१२८]

◆ ईश्वरानुभव

सर्वत्र सब प्राणियों में व्याप्त ईश्वरीय सत्ता के दर्शन स्थूल नेत्रों से नहीं किए जा सकते उसका दर्शन और आनन्द पाने तथा लाभ उठाने के लिए तो अपनी ही अन्तः चेतना का विकास करना होगा। अतः चेतना को विकसित करने का आधार अपने स्वार्थों की संकीर्ण सीमा तोड़कर समष्टि चेतना तक अपनी भाव की परिधि व्यापक बनाना है। अपने ही समान आत्मा है, सबमें एक ही परमात्मा का वास है, आस्थाओं का विकास जब इस स्तर तक कर लिया जाता है तो व्यक्ति ईश्वर सामीप्य की आनन्दानुभूति करने योग्य बन जाता है।[१२९]

इस आनन्दानुभूति में आचार्य जी अनुभव करते हैं, विश्व में रंच मात्र भी स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ ईश्वर न हो। अणु-अणु में उसकी महत्ता व्याप्त हो रही है।[१३०] ईश्वर आदर्शों का समुच्चय है।[१३१] हम ईश्वर को जिस गज से नापते हैं, वह बहुत छोटा है। अपने गज से महामानवों तक को लोग न नाप सके, उनके रहते उनका उपहास और असहयोग करते रहे फिर इतने विशाल परमेश्वर को अपना छोटा पात्र रहते किस प्रकार जानें? उसे कैसे पावें? और कैसे अपनायें? ईश्वर का स्वरूप है- महानता। इस विशाल ब्रह्माण्ड को उसकी छवि के रूप में देखा जा सकता है और इस सुविस्तृत विस्तार के अन्तर्गत हो रही ज्ञात और अविज्ञात हलचलों को उस महासागर की तरंगें समझा जा सकता है। इसे प्राप्त करने को हमें अपनी संकीर्णता छोड़नी पड़ेगी और उतनी महानता अपनानी पड़ेगी जिसके सहारे उस महान् परमेश्वर को देखा जा सके।[१३२]

◆ रसो वै सः

अपनी महानता और व्यापकता में परमेश्वर संवेदनाओं का संगीत बन झरता, प्रेम का गीत बन गूंजता, भावनाओं का प्रवाह बन बहता और आनन्द रूप हो अन्तःकरण को रस विभोर करता है। प्रेम परमेश्वर का शब्द चित्रांकन करते हुए आचार्य जी कहते हैं "वस्तुतः प्रेम ही प्रभु है। प्रेम ही संसार में अकेली अपार्थिव वस्तु है। मनुष्य का सारा दर्शन, सारा काव्य, सारा धर्म एवं सारी संस्कृति इसी एक शब्द से अनुप्रेरित है।"[१३३] जो चैतन्य सत्ता इस स्थूल संसार का धारण पोषण कर रही है, जो आत्म रूप में सब में व्याप्त है, वह प्रेम ही है। व्यष्टि और समष्टि में आत्मा का यह प्रेम प्रकाश ही ईश्वर की मंगलमयी रचना का सन्देश दे रहा है।[१३४] यह प्रेममय परमेश्वर ही "सम्पूर्ण जड़ चेतन शक्ति का निर्माण, नियंत्रण, संचालन और व्यवस्था"[१३५] करने वाली चेतना है।

◆ सृजेता

"सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने अपनी इच्छा शक्ति से जीवों को उत्पन्न किया।"[१३६] कोई भी कार्य

१२६. आचार्य श्रीराम शर्मा- क्या ईश्वर सचमुच ही मर गया? अखण्ड ज्योति, वर्ष ४१, अक २, पृ. ३
१२७. आचार्य श्रीराम शर्मा- तद् विज्ञानेन पश्यन्ति धीरा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक १५, पृ. १०
१२८. आचार्य श्रीराम शर्मा- क्या ईश्वर सचमुच ही मर गया? अखण्ड ज्योति, वर्ष ४१, अक २, पृ. ६
१२९. आचार्य श्रीराम शर्मा- विवाद से परे ईश्वर का अस्तित्व, पृ. ९९
१३०. आचार्य श्रीराम शर्मा- ईश्वर कौन है? कहाँ है? कैसा है? पृ. ६-७
१३१. आचार्य श्रीराम शर्मा- ईश्वर से साझेदारी-हर दृष्टि से नफे का सौदा, पृ. ४२
१३२ आचार्य श्रीराम शर्मा- ईश्वर का द्वार सबसे लिए खुला है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३८, अंक ८, पृ. २
१३३. आचार्य श्रीराम शर्मा- प्रेम ही परमेश्वर है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४४, अंक ७, पृ. ११
१३४. आचार्य श्रीराम शर्मा- प्रेम ही परमेश्वर है, पृ. ११
१३५. आचार्य श्रीराम शर्मा- ईश्वर कौन है? कहाँ है? कैसा है? पृ. ७-८
१३६. आचार्य श्रीराम शर्मा- विवाद से परे ईश्वर का अस्तित्व, पृ १६

बिना कारण नहीं होता, कोई भी रचना बिना रचनाकार के अस्तित्व नहीं प्राप्त करती, इस संसार में जो कुछ भी दृश्य दिखाई देता है, उसके पीछे कुछ न कुछ अदृश्य सूत्र अवश्य समझ पड़ते हैं। जिनमें बुद्धि तत्त्व का अभाव है, वे भले निश्चेष्ट रह जाएँ अथवा जिनमें थोड़ी भी समझदारी है, वे किसी चित्र को देखकर चित्रकार की, अपनी कलाकृति में सौन्दर्य की जीवन्तता भरने वाले कलाकार की सराहना बिना किए नहीं रहते।

जब संसार की हर छोटी-बड़ी रचना के पीछे रचनाकार की चेतना सक्रिय समझ पड़ती है, तब स्वयं संसार के बारे में संसार के रचनाकार के बोध से वंचित रह जाना विडम्बना ही कही जाएगी। सृष्टा की सृजन शक्ति का मूर्त रूप ही सृष्टि है। 'एकोऽहं बहुस्यामः' के संकल्प ने ही विश्व ब्रह्माण्ड के सौन्दर्य का रूप लिया है। इसी यथार्थता को शब्द देते हुए आचार्य जी कहते हैं, उसने सृष्टि बनायी है और बनाकर नियम सूत्रों से इसे बांध दिया है कि सब कार्य यथावत् चल रहा है। घड़ी बनाने वाला कुछ विशेष नियमों के आधार पर घड़ी के पुर्जे फिट कर देता है फिर वह घड़ी अपने आप चलती रहती है। घड़ी और संसार के उदाहरण में इतना ही अन्तर है कि घड़ी बनाने वाले का पीछे उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। परन्तु ईश्वर और संसार का सम्बन्ध ऐसा नहीं है। ईश्वर सृष्टि में व्यापक है।[१३७]

◆ नियामक सत्ता

नियामक के बिना नियम व्यवस्था, प्रशासक के बिना प्रशासन तो चल सकते हैं पर कुछ समय से अधिक नहीं, जब कि पृथ्वी को अस्तित्व में आए करोड़ों वर्ष बीत चुके। परिवार के वयोवृद्ध के हाथ सारी गृहस्थी का नियंत्रण होता है। गांव का एक मुखिया होता है, तो कई गांवों के समूहों से बनी तहसील का स्वामी तहसीलदार, जिले का मालिक कलेक्टर, राज्य का गवर्नर, राष्ट्र का राष्ट्रपति। मिलों तक के लिए मैनेजर, कम्पनियों के डाइरेक्टर न हों तो उनकी ही व्यवस्था ढप पड़ जाती है और उनका अस्तित्व डांवाडोल हो जाता है, फिर इतनी बड़ी और व्यवस्थित सृष्टि का प्रशासक, स्वामी और मुखिया न होता तो संसार न जाने कब का विनष्ट हो चुका होता। जड़ में शक्ति हो सकती है व्यवस्था नहीं। नियम सचेतन सत्ता ही बना सकती है, सो इन तथ्यों के प्रकाश में परमात्मा का विरद चरितार्थ हुए बिना नहीं रहता। ...संसार का हर परमाणु एक निर्धारित नियम पर काम करता है, यदि इसमें रत्ती भर भी अव्यवस्था और अनुशासन हीनता आ जाये तो विराट् ब्रह्माण्ड एक क्षण को भी नहीं टिक पाता। एक क्षण के विस्फोट से अनन्त प्रकृति में आग लग जाती और संसार अग्नि ज्वालाओं के अतिरिक्त कुछ न होता।[१३८]

नियामक सत्ता की विधि व्यवस्था का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य जी चार तत्वों का उल्लेख करते हैं १.नियम व्यवस्थाएँ सृष्टि क्रम की ऐसी हैं, जो पदार्थ से लेकर चेतन प्राणियों में दृष्टिगोचर होती हैं। विवेक दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो कोई कारण नहीं कि परमात्म सत्ता के अस्तित्व से इन्कार किया जा सके।

पिण्ड से लेकर ब्रह्माण्ड तथा चेतन जगत् में एक *नियम व्यवस्था कार्य कर रही है। प्राणी पैदा होते क्रमशः* युवा होते तथा वयोवृद्ध होकर विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रक्रिया में एक निश्चित उपक्रम दिखाई पड़ता है। ऐसा कभी नहीं होता कोई वृद्ध रूप में पैदा हो और युवा होकर बच्चे की स्थिति में पहुँचे। प्रत्येक जीव चाहे मनुष्य हो अथवा छोटे प्राणी सभी इस व्यवस्था के अन्तर्गत ही गतिशील हैं। वृक्ष वनस्पतियों का भी यही क्रम है।

न केवल जीव जगत् वरन् अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक सुव्यवस्थित क्रम में गतिशील है। प्रत्येक ग्रह नक्षत्र एक निश्चित एवं निर्धारित कक्षा में परिक्रमा करते देखे जाते हैं। भौतिक विज्ञान के ज्ञाता इस तथ्य से परिचित हैं कि इनकी गति में थोड़ा भी अन्तर आ जाए अथवा अपनी कक्षाओं से थोड़ा हटकर घूमने लगें तो सारी ब्रह्माण्ड-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो सकती है। ...विराट् ब्रह्माण्ड ही नहीं बल्कि पदार्थ सत्ता का सबसे छोटा कण परमाणु भी एक सुदृढ़ व्यवस्था का परिचय देता

१३७. आचार्य श्रीराम शर्मा- ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ? पृ. ९
१३८ आचार्य श्रीराम शर्मा- तत्त्व दृष्टि से बंधन मुक्ति, पृ. ६८-६९

है। नाभिक में रहने वाले प्रोटान तथा बाहर कक्षों में घूमने वाले इलेक्ट्रान का सन्तुलन कक्षाओं में घूमने की प्रक्रिया भी पूर्णरूपेण व्यवस्थित है। गहराई तक दृष्टि दौड़ाई जाय तो ज्ञात होता है कि व्यवस्था, नियम, व्यवस्थापक, नियामक के अभाव में सम्भव नहीं। ...मानवाकृति रचनाएँ भी कुशल मस्तिष्क सम्पन्न कर्त्ता का प्रमाण देती है, तो इस विराट् सृष्टि जिसकी कल्पना कर सकने में भी मस्तिष्क असमर्थ है, का सुनियोजन एवं व्यवस्थित रूप अपने आप कैसे विनिर्मित हो सकता है। दृष्टि दौड़ाई जाय तो सम्पूर्ण सृष्टि में नियमबद्धता देखी जा सकती है। यह हुई नियम की बात जिसे सृष्टि के कण-कण में सन्निहित देखा जा सकता है और किसी सुयोग्य नियामक के अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है।

दूसरा भिन्न आधार जिसके द्वारा परमात्मा के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है वह है सहयोग। इसी पर ही सृष्टि की व्यवस्था टिकी है। सहयोग की परम्परा जड़-चेतन सबमें देखी जा सकती है। जड़-चेतन में विभेद दीखता तो है, किन्तु दोनों के बीच अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। एक के ऊपर दूसरे का अस्तित्व टिका है। जीवन चक्र चल रहा है। सूर्य उगता है, प्रकाश बखेरता है, सभी जीव-जन्तु पेड़ पौधे उससे जीवन प्राप्त करते हैं। अपनी प्रकाश सम्पदा को सूर्य समेट ले तो पृथ्वी पर से जीवन लुप्त हो जाएगा। सहयोग की प्रवृत्ति सृष्टि के कण-कण में देखी जा सकती है। पदार्थ का स्थूल स्वरूप अणुओं के परस्पर सम्बद्ध रहने से ही दिखाई पड़ता है, यदि अणु बागी हो जाय तो उसका स्वरूप बिखर जाएगा। शरीर तंत्र को ही लिया जाय तो स्पष्ट होगा कि सुगठित स्वस्थ शरीर अंग-प्रत्यंगों के परस्पर सहयोग पर ही गतिशील है। यहां तक कि शरीर की इकाई कोशिकाएँ भी पूरी मुस्तैदी के साथ इस प्रवृत्ति को अपनाए हुए हैं। ...विशाल ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड सभी के अस्तित्व को व्यवस्थित बनाए रखने में सहयोगिता का सिद्धान्त ही कार्य करता है। ...सहयोगिता पर सृष्टि की सुव्यवस्था टिकी है।

तीसरी विशेषता है विशालता। ...भीमकाय पर्वत, अथाह समुद्र, रहस्यों से भरा अनन्त अन्तरिक्ष, असंख्यों ग्रह-नक्षत्र, तारा-पिण्डों को देखकर बुद्धि आश्चर्यचकित रह जाती है। ...अनन्त विस्तार व अनेकों सूर्यों, ग्रह, नक्षत्रों से युक्त ब्रह्माण्ड की कल्पना मात्र से बुद्धि चकित हो जाती है। ...यह तो जड़ जगत् की बात हुई। अदृश्य सूक्ष्म की चेतन परतें और भी अद्‌भुत हैं। स्थूल तो मात्र कलेवर है, जो कठपुतली के धागे के समान चेतन परतों द्वारा संचालित है। स्थूल कलेवर की हलचलें सूक्ष्म चेतना द्वारा ही नियंत्रित की जाती हैं। सामान्य जीवन क्रम में उसका एक नगण्य सा भाग व्यक्त होता है। उतना ही सारा परिणाम प्रदर्शित करता है। अव्यक्त की अनन्त परतें और भी विलक्षण हैं। उसकी सम्भावनाएँ असीम हैं।

जहाँ विराट् का असीम क्षेत्र मानवी मस्तिष्क आश्चर्यचकित कर रहा है, वहीं सूक्ष्मता की ओर बढ़ने पर शक्ति का लहलहाता हुआ सागर दिखाई पड़ता है। शास्त्रकारों ने परमात्मा के विराट् एवं सूक्ष्म स्वरूप को देखकर कहा- "अरणोरणीयान् महतो महीयान्।"

सबसे प्रमुख और अन्तिम बात रह जाती है, जिसके बिना उपरोक्त तीनों प्रतिपादन अधूरे रह जाते हैं। वह है सृष्टि रचना का उद्देश्य। न केवल जड़ प्रकृति बल्कि चेतन प्राणियों के निर्माण में भी स्रष्टा का एक सुनिश्चित प्रयोजन है। अन्यान्य जीव जन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी क्षमता के अनुरूप संलग्न हैं। सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ विचारशील प्राणी मनुष्य का निर्माण भी एक महान् उद्देश्य के लिए हुआ है, वह है अपने छोटे प्राणियों का सहयोग करना तथा विश्व वसुन्धरा को श्रेष्ठ समुन्नत बनाना। नियम, व्यवस्था, सहयोग, विशालता, उद्देश्य इन सिद्धान्तों के पीछे उस अदृश्य सत्ता का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। जिसे सृष्टा, नियामक, परिवर्तनकर्त्ता एवं सर्वव्यापी परमात्मा कहा जा सकता है। यह चार सिद्धान्त ऐसे हैं, जिसे सृष्टि के कण-कण में व्याप्त देखा जा सकता है। दुराग्रह छोड़ा जाय तथा दूरदृष्टि अपनाई जाय तो सृष्टि के इन चार सिद्धान्तों में परमात्म सत्ता का इतना अधिक प्रमाण बिखरा पड़ा है जिसे देखकर कोई भी विचारशील व्यक्ति परमात्मा के अस्तित्व से इन्कार नहीं कर सकता।[१३९]

१३९. डॉ. प्रणव पण्ड्या- नियामक सत्ता एवं उसकी विधि व्यवस्था, पृ. ३-१०

◆ देवता

''आद्य बीज शक्ति ईश्वर की अनेक शक्तियां हैं।''[140] देवता किसी की प्रतिकृति नहीं वरन् विशिष्ट गुण या शक्ति के प्रतीक मात्र हैं और वह शक्तियाँ सूक्ष्म जगत् में सचमुच क्रियाशील हैं।[141] सभी देवता परमात्मा की विभिन्न अलौकिक शक्तियाँ हैं। किसी के भी आश्रय से उस परम प्रभु को प्राप्त करने का विज्ञान था।[142] देव शक्तियों का यह विज्ञान अपने आप में वैज्ञानिक सिद्धान्तों से अलग नहीं है। उस विज्ञान को आध्यात्मिक दृष्टि से विकसित किया जा सके तो मनुष्य की सुख-सुविधाओं में अनन्त गुनी वृद्धि की जा सकती है। यह देव शक्तियां अन्तरिक्ष में अनन्त काल से विद्यमान हैं और उनका सूक्ष्म प्रतिनिधित्व मानव शरीर में भी भरा पड़ा है। भारतीय तत्ववेत्ता इन शक्तियों के साथ सम्पर्क बनाने में आध्यात्मिक स्तर पर प्रयत्न करते रहे हैं।[143]

◆ आत्मा

वही एक देव सब भूतों में ओत-प्रोत होकर सबकी अन्तरात्मा के रूप में सर्वत्र व्याप्त है। वह इस कर्म रूप शरीर का अध्यक्ष है। निर्गुण होते हुए भी चेतना शक्ति युक्त है।[144] आचार्य जी के शब्दों में कहें तो ''आत्मा चिनगारी है और परमात्मा ज्वाला। ज्वाला की समस्त सम्भावनाएँ चिनगारी में विद्यमान है। अवसर मिले तो वह सहज ही अपना प्रचण्ड रूप धारण करके लघु से महान् बन सकता है। बीज में वृक्ष की समस्त सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। अवसर न मिले तो बीज चिरकाल तक उसी क्षुद्र स्थिति में पड़ा रह सकता है। किन्तु यदि परिस्थिति बन जाय तो वही बीज विशाल वृक्ष के रूप में विकसित होता हुआ दृष्टिगोचर हो सकता है। छोटे से शुक्राणु में एक पूर्ण मनुष्य अपने साथ अगणित वंश परम्पराएँ और विशेषताएँ छिपाए रहता है अवसर न मिले तो वह उसी स्थिति में बना रह सकत है। किन्तु यदि उसे गर्भ के रूप में विकसित होने की परिस्थिति मिल जाय तो एक समर्थ मनुष्य का रूप धारण करने में उसे कोई कठिनाई नहीं। अणु की संरचन सौर मण्डल के समतुल्य है। अन्तर मात्र आकार विस्तार का है। जीव ईश्वर का अंश है। अंश में अंशी के समस्त गुण पाए जाते हैं। सोने के बड़े और छोटे गण में विस्तार भर का अन्तर है। तात्त्विक विश्लेषण में उनके बीच कोई भेद नहीं किया जा सकता। ....आत्म साक्षात्कार एवं ईश्वर दर्शन का इन दोनों का अर्थ एक ही है। आत्मा में परमात्मा की झांकी अथवा परमात्मा में आत्मा की सत्ता का विस्तार।''[145]

◆ ईश्वरावतार

विश्व के प्रभु-स्वयं विश्वातीत है, विश्वमय हैं, सर्वेश्वर हैं तब भी वे अपनी प्रकृति को अधिष्ठान बनाकर, उसे अपने संकल्प के आधीन रखकर व्यक्ति भावापन्न हो जाते हैं। देखा जाय तो सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृति की सभी घटनाएँ परमेश्वर की ही अभिव्यक्ति हैं, किन्तु किसी को भी इस सत्य का जाग्रत् अनुभव नहीं होता। यही प्रकृति जब विशेष भागवत संकल्प के आधीन सजग होकर सक्रिय हो जाती है, तब किसी विशेष देह, प्राण, मन, बुद्धि सम्पन्न व्यक्तित्व में भागवत अवतरण सचेतन होता है, आत्म चेतन होता है और यही पर्सोनीफाइड चेतना अवतार की संज्ञा पाती है।[146]

कहना नहीं होगा कि परमात्मा की इस सुन्दर सृष्टि की सुव्यवस्था और सुन्दरता अनुपम तथा अद्वितीय है। इसकी प्रगति प्रक्रिया का एक इतिहास है। जिसमें नए अध्याय जुड़ते ही जाते हैं। इस प्रगति प्रक्रिया के

---

१४०. आचार्य श्रीराम शर्मा- ईश्वर कौन है ? कहाँ है ?, कैसा है ? पृ.४७
१४१. आचार्य श्रीराम शर्मा- देवता तथ्य और विज्ञान की कसौटी पर, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अक ४, पृ. १२
१४२ वही, पृ ११
१४३. वही, पृ. १३
१४४. आचार्य श्रीराम शर्मा- श्वेताश्वतर उपनिषद, ६/११
१४५. आचार्य श्रीराम शर्मा- तत्त्वदृष्टि से बन्धन मुक्ति, पृ. ८९-९०
१४६. आचार्य श्रीराम शर्मा- ईश्वर का अवतार क्या, क्यों, कैसे ? अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अक ६, पृ ४२

ऊर्जा है, अस्तु उसे निराकार ही कहा जाएगा पर उसका प्रभाव सम्बद्ध व्यक्तियों में साकार रूप में भी देखा सकता है।[१५१] वर्तमान में इस सत्य का प्रत्यक्ष प्रकटीकरण सामने ही विद्यमान है। ज्ञानवानों की सूक्ष्म दृष्टि युग परिवर्तन की इस पुण्यबेला में प्रज्ञावतार की सक्रिय भूमिका सरलता से देख सकती है।[१५२]

आचार्य जी की ईश्वरानुभूति न तो अन्ध श्रद्धा युक्त है और न अज्ञेयवादी। उनके अनुसार ईश्वर तत्त्व न तो पूर्णतया ज्ञात है और पूर्णतया अज्ञात। जैसे-जैसे हम अपने अनुभव में बढ़ते हैं उसे अधिकाधिक जानते जाते हैं। इसी कारण दर्शन में व्यवस्था बनाना अदार्शनिक है। फिर वह एक व्यवस्थाकार नहीं बल्कि एक द्रष्टा है, ईश्वर के स्वरूप के बारे में उपर्युक्त विवरण उनकी स्वयं की अनुभूति है। उपनिषदों के द्रष्टा ऋषियों की भाँति वह सदैव अधिकाधिक सर्वांग अनुभव के लिए प्रयत्नशील और सदैव निरीक्षण, परीक्षण तुलना उन्नति और परिवर्तन तक के लिए सन्नद्ध है। उदारता और सहिष्णुता की प्रवृत्ति उनकी दार्शनिक विशेषता है। इसी विशेषता ने उनके सर्वांग अनुभव की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों का सौन्दर्य धारण किया है।



१५१. आचार्य श्रीराम शर्मा- युग परिवर्तन में जाग्रत् आत्माओं की भूमिका, युग शक्ति गायत्री, वर्ष १६, अंक २, पृ. ३६
१५२. आचार्य श्रीराम शर्मा- युग परिवर्तन का स्वर्णिम प्रभाव, युग शक्ति गायत्री, वर्ष १६, अंक २, पृ. १

साथ अवगति क्रम का भी अन्त नहीं। उत्थान और पतन के यह पन्ने समष्टि प्रवाह में उलटते-पलटते रहते हैं। इस प्रवाह में सृजन प्रमुख है, उत्कर्ष प्रमुख है। व्यवस्था-शालीनता के साथ जुड़ी हुई है और यही जीवन है तथा यही विस्तार है फिर भी पतन और पराभव से छुटकारा नहीं। विश्व के इतिहास में भी ऐसे संकट की घड़ियाँ अनेकों बार आई हैं। जब विनाश की तांडव लीला अपनी पूरी गति से नर्तन करती रही है। सर्वनाश की आशंका से उन घड़ियों ने जन-जन को भयाक्रान्त भी किया है। यह सब होते हुए भी स्रष्टा अपनी इस अद्‌भुत कलाकृति को, विश्व वसुधा को, मानवी सत्ता को सर्वनाश के गर्त में गिरने से पूर्व ही अपनी सजगता और सक्रियता का परिचय देते हुए परिस्थितियों को उलटने का चमत्कार प्रस्तुत करता है। यही अवतार है।[१४७]"

गीता में अवतार प्रक्रिया को समझाते हुए ईश्वर को 'मानुषी तनुमाश्रितं' बताया गया है। इस कथन में एक दार्शनिक अन्तर्विरोध है। व्यापकता- किसी मनुष्य विशेष के शरीर तक किस तरह सिमट सकी। अनन्त ने सीमा बन्धन किस तरह माना। इस समस्या के समाधान में पुराणों ने अंशावतार-कलावतार की बात कही है। अर्थात् ईश्वर स्वयं मनुष्य का रूप नहीं धारण करता बल्कि उसका कोई अंश, मानव शरीर का उपयोग दिव्य जन्म और दिव्य कर्म में करता है। इस कथन से समस्या सुलझती हुई प्रतीत होने पर भी कहीं अधिक उलझ जाती है। अखण्ड-खण्डित किस तरह से हुआ? इन सभी समस्याओं के उत्तर में आचार्य जी अपनी स्वानुभूति को शब्द देते हैं- ''परमात्मा सर्वव्यापक अनन्त और अखण्डित ही है। अवतार भी एक निराकार चेतना ही होती है। जब जिस प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं, तब उसी का समाधान करने के लिए सूक्ष्म जगत् में एक दिव्य चेतना प्रादुर्भूत होती रही है। इस दिव्य चेतना को ही भगवान् का अवतार कहा जाता है।''[१४८] इस दिव्य चेतना में सर्वव्यापकता, अनन्तता, अखण्डता जैसी सभी बातें स्वभावतया विद्यमान हैं।

इस तत्व को स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं ''सूक्ष्म जगत् में निवास करने वाली अदृश्य शक्तियाँ निराकार होती हैं और उनका कार्य क्षेत्र भी अदृश्य ही रहता है पर उसके परिणाम और प्रतिक्रियाएँ देखी व अनुभव की जा सकती हैं। व्यापक युग असन्तुलन को साधने, सम्हालने, सुधारने के लिए ईश्वर सत्ता अवतरित होती है। तो अपना कार्य उन्हीं लोगों से कराती हैं, जिनमें दैवी तत्वों का बाहुल्य हो और इस प्रयोजन के लिए दी जाने वाली विशेष क्षमताओं के सत्पात्र हों। अवतार तो एक शक्ति, एक चेतना, एक प्रवाह है। उसका प्रभाव सारे वातावरण को झिंझोड़ता झकझोरता है। जाग्रत् आत्माओं पर तो उसका विशेष प्रभाव पड़ता ही है। लोक मानस भी उससे अप्रभावित नहीं रह जाता। उस प्रवाह के परिणाम स्वरूप अवांछनीयता की जड़ें खोखली होने लगती हैं और औचित्य की स्थिति दिनों दिन सुदृढ़ तथा प्रबल होती जाती है। यह परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, पर इनका सूत्र संचालन अदृश्य और सूक्ष्म सत्ता के द्वारा ही होता है।''[१४९]

फिर 'मानुषी तनुमाश्रितं' का क्या रहस्य है? इसके उत्तर में आचार्य जी के शब्द हैं ''मनुष्य के रूप में जो अवतार के दर्शन करना चाहते हैं। वे उस समय के श्रेष्ठ सज्जनों में, उदात्त चरित्रों में उसका विकास विस्तार भली-भांति देख सकते हैं। युगान्तर चेतना से प्रभावित आदर्शवादी व्यक्ति सृजन साधनों में अधिक तत्परतापूर्वक लगे हुए दिखाई दे तो उसे अवतार की प्रेरणा ही मानना चाहिए। संत, सुधारक और शहीदों की संख्या बढ़ने लगे तो समझना चाहिए वह अवतारी सत्ता की अदृश्य हलचलों का प्रभाव है।''[१५०] यानि कि अपनी अवतार प्रक्रिया में भी ईश्वर निराकार, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और अखण्डित रहता है। अवतार एक प्रकार की चेतन

---

१४७. आचार्य श्रीराम शर्मा- सृष्टि का गतिक्रम और अवतार प्रक्रिया, युग शक्ति गायत्री, वर्ष १६, अंक २, पृ. २

१४८. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपने युग का अवतार, युग शक्ति गायत्री, वर्ष १६, अक २, पृ. २२

१४९. आचार्य श्रीराम शर्मा- अवतार प्रक्रिया का विधान और प्रमाण, युग शक्ति गायत्री; वर्ष १६, अंक २, पृ. [illegible]

१५०. वही, पृ. ७

ऊर्जा है, अस्तु उसे निराकार ही कहा जाएगा पर उसका प्रभाव सम्बद्ध व्यक्तियों में साकार रूप में भी देखा सकता है।[१५१] वर्तमान में इस सत्य का प्रत्यक्ष प्रकटीकरण सामने ही विद्यमान है। ज्ञानवानों की सूक्ष्म दृष्टि युग परिवर्तन की इस पुण्यवेला में प्रज्ञावतार की सक्रिय भूमिका सरलता से देख सकती है।[१५२]

आचार्य जी की ईश्वरानुभूति न तो अन्ध श्रद्धा युक्त है और न अज्ञेयवादी। उनके अनुसार ईश्वर तत्त्व न तो पूर्णतया ज्ञात है और पूर्णतया अज्ञात। जैसे-जैसे हम अपने अनुभव में बढ़ते हैं उसे अधिकाधिक जानते जाते हैं। इसी कारण दर्शन में व्यवस्था बनाना अदार्शनिक है। फिर वह एक व्यवस्थाकार नहीं बल्कि एक द्रष्टा है, ईश्वर के स्वरूप के बारे में उपर्युक्त विवरण उनकी स्वयं की अनुभूति है। उपनिषदों के द्रष्टा ऋषियों की भाँति वह सदैव अधिकाधिक सर्वांग अनुभव के लिए प्रयत्नशील और सदैव निरीक्षण, परीक्षण तुलना उन्नति और परिवर्तन तक के लिए सन्नद्ध है। उदारता और सहिष्णुता की प्रवृत्ति उनकी दार्शनिक विशेषता है। इसी विशेषता ने उनके सर्वांग अनुभव की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों का सौन्दर्य धारण किया है।



१५१. आचार्य श्रीराम शर्मा- युग परिवर्तन में जाग्रत् आत्माओं की भूमिका, युग शक्ति गायत्री, वर्ष १६, अंक २, पृ. ३६
१५२. आचार्य श्रीराम शर्मा- युग परिवर्तन का स्वर्णिम प्रभात, युग शक्ति गायत्री, वर्ष १६, अंक २, पृ. १

आत्म सत्ता पर प्रकाश

सर्वव्यापक ईश्वर की एकता ही स्वयं को आत्मा के अनेक रूपों में प्रकट करती है। इस अनेकता और ससीमता में एकता और अनन्तता के सभी रहस्य समाये और संजोये हैं। जीव में शिव छुपा है। जीवन इसी की खोज का दूसरा नाम है। जीवन को आत्म जिज्ञासा का पर्याय माने तो अनुचित न होगा। यदि सवाल किया जाय कि "आत्मा को क्यों खोजना चाहिए और उसकी ही जिज्ञासा क्यों करनी चाहिए? इसका उत्तर यही है कि संसार का वास्तविक तत्त्व आत्मा ही है। जो जरा-मरण से रहित शोक से मुक्त और अविनाशी है। उसका ज्ञान हो जाने पर मनुष्य उसी की भाँति ही भय, शोक, चिन्ता और मरण धर्म से मुक्त हो जाता है। अजर और अमर होकर संसार के लोगों एवं अनुभवों से ऊपर उठकर चिर अविनाशी पद पा लेता है। इस नाशवान मानव की इससे बड़ी और इससे ऊँची उपलब्धि अन्य क्या हो सकती है?"

मनुष्य एक ऐसा आनन्द प्राप्त करना चाहता है जो सत्य अपरिवर्तनशील और अविनाशी हो।[1] आनन्द प्राप्ति की यह चाहत जाने अनजाने की गई आत्म जिज्ञासा ही है। जिज्ञासा जितनी गहरी और गहन होती जाती है, निष्कर्ष भी उसके अनुरूप मिलते जाते हैं। इस क्रम में कुछ ने उसे शरीर के रूप में जाना, कुछ ने जीव के रूप में अनुभव किया, कुछ अन्य मानसिक तरंगों को ही आत्मा समझ बैठे। कई हैं जो आत्मा और अहंकार को एक मान लेते हैं। दूसरे इसे पंचकोशों से परे काल्पनिक केन्द्र भर मानते हैं। स्वरूप की तरह स्वभाव के बारे में भी कई मत हैं। आत्मा स्थिर है या गतिशील, विशेष है अथवा विश्वमय, यथार्थ व्यक्ति है अथवा परमात्म तत्त्व की छाया मात्र। इस तरह आत्मा और वैयक्तिकता की प्रवृत्ति की ज्ञानात्मक, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक एवं धार्मिक इत्यादि अनेक दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर अध्ययन-अन्वेषण होता रहा है। इन सभी पर एक साथ समग्र रूप से चिन्तन करना, सर्वांग दर्शन का विशेषताओं भरा प्रयास है।

आत्म तत्त्व की गहराइयों में

आत्म तत्त्व को समझना सरल नहीं है। यद्यपि हम रोजमर्रा के जीवन क्रम में आत्मा के विषय की साधारणतया चर्चा करते रहते हैं। आत्मा हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान वस्तु है। क्योंकि इसी के लिए विश्व की प्रत्येक वस्तु प्रिय कही जा सकती है।[2]

सामान्य व्यक्ति के लिए आत्मा ही जीव है। जीव शब्द का अर्थ है, ऐसी वस्तु जिसमें विश्वास का आवागमन हो। इसलिए आम आदमी जीव को वह भौतिक पदार्थ समझ बैठता है, जो जाग्रत्, स्वप्न तथा निद्रावस्था में वर्तमान रहता है। किन्तु आध्यात्मिक जगत् में यह मत भ्रान्त समझा जाता है। उदाहरण के लिए भगवद्गीता में कहा है कि ईश्वर का एक अंश मात्र जीव के रूप में पाया जाता है।[3] भागवत का कथन है कि भगवान् का एक सूक्ष्म रूप है, जो शरीर आदि गुणों से रहित होता है और न तो जिसे देखा जा सकता है, न ही सुना जा सकता है। इसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। जब इसमें आत्म तत्त्व को देखा जाता है, तो इसे जीव कहते हैं।[4]

यदि हम असंख्य प्राणियों को जो हमारे इस भूतल पर विद्यमान हैं, देखें तो पाएंगे कि वे सब अलग हैं। उनका जन्म व्यवहार, सोना, उठना, सुख-दुख सब अलग हैं। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से यह तो उनका कृत्रिम रूप है। तात्त्विक रूप से वे सब एक हैं। मोटापन, दुबलापन, चिन्ता, व्याधि, भूख, प्यास, भय, विग्रह, इच्छा, वार्द्धक्य, निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान, दुःख आदि वस्तुएँ एक जीव अनुभव करता है, क्योंकि अज्ञानवश वह अपने शरीर को ही आत्मा समझ लेता है। वास्तव में ये सब

---

१. आचार्य श्रीराम शर्मा- आत्मा या अरे ज्ञातव्यः, पृ. २७-२८
२. आत्मनस्तु कामाय सर्वः प्रियोभवति –बृ. उ. २/४/५
३. गीता- १५/७
४. श्रीमद्भागवत – १/३/३२

वस्तुएँ आत्मा से सम्बन्धित नहीं हैं।[५] तात्त्विक दृष्टि से शरीर आदि में आत्मा है अवश्य। किन्तु वह उससे विलग है, पृथक् है तथा परमेश्वर और आत्मा में अन्तर नहीं है। ईश्वर तथा जीव में तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है।[६] उनमें एक ही अन्तर है और वह यह है कि जीवात्मा माया के वश में होता है और ईश्वर माया का अधिपति।[७] इसलिए जीव में जन्म, अनुभव, अस्तित्व, विकास, विनाश, ह्रास तथा लाभ की अनुभूति करना अज्ञान का ही प्रतीक है। वस्तुतः पूछा जाय तो आत्मा शाश्वत, विशुद्ध, एक द्रष्टा, शरीर का आधार, स्वयं प्रकाश, अपरिवर्तनशील आदि है। शरीर इसके विपरीत अशाश्वत, नश्वर, अपवित्र तथा अनेक है।[८]

शरीर को प्रकाशित करने वाली आत्मा ही है। वह शरीर से पूरी तरह अलग है। जिस तरह लकड़ी में अग्नि प्रकट होने पर उसमें नाश, दीर्घता, लघुता, अनेकता आदि गुण जो काष्ठ में पाए जाते हैं, अग्नि में भी प्रतीत होते हैं। जबकि वे गुण वस्तुतः अग्नि के नहीं होते। इसी तरह जब आत्मा अपने आप को शरीर समझ लेती, तो शरीर के गुणों को अज्ञानवश अपने गुण मानने लगती है। जिस तरह काष्ठ से मिलकर अग्नि प्रकट होती है और उससे अलग होने पर अदृश्य हो जाती है। इसी तरह आत्मा के जीव रूप में प्रकट होने को नया जन्म तथा अदृश्य होने को मृत्यु का नाम दिया जाता है।[९] जिस तरह कोई व्यक्ति गेहूँ बोता है तथा उन्हें पकने पर काटता है, किन्तु वस्तुतः वह उन्हें बोने तथा काटने से प्रभावित नहीं होता। वह तो उनका द्रष्टा मात्र रहता है। उसी प्रकार शरीर की समस्त क्रियाओं जैसे गर्भ में आना, जन्म लेना, बाल्यकाल, किशोरावस्था, यौवन, वृद्धावस्था तथा मृत्यु से आत्मा प्रभावित नहीं होती।[१०]

तात्त्विक रूप से ईश्वर तथा आत्मा एक ही हैं। उनमें अन्तर नहीं है।[११] उपनिषद इस बात को स्वीकार करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद कहता है- 'तत्त्वमसि।'[१२] बृहदारण्यक उपनिषद घोषणा करता है- 'अहं ब्रह्मास्मि।'[१३] श्वेताश्वतर उपनिषद जीव की एक ऐसे हंस से तुलना करता है, जो ऊँचा-ऊँचा ही उड़ता है और जब ब्रह्म से तदाकार हो जाता है तो अमर हो जाता है।[१४] वेदान्त सूत्र में भी आत्मा तथा परमात्मा की एकता पर जोर दिया गया है।[१५] एक ही तत्त्व अनेक रूप में इसलिए दिखाई देता है कि माया का प्रभाव दर्शन पर छा जाता है। जिस तरह एक चन्द्रमा सरिता की तरंगों में अनेक रूपों में प्रकाशित होता है। उसी तरह एक ही तत्त्व अनेक रूपों में प्रकट हो रहा है। जिस तरह चन्द्रमा अपने प्रतिबिम्ब की पीड़ा से असंपृक्त होता है उसी तरह परमेश्वर जीवात्मा की वेदना से अप्रभावित रहता है।[१६]

जीव अपने प्रारब्ध के अनुसार विभिन्न रूप ग्रहण करता है। जब तक कर्म का क्षय नहीं हो जाता, तब तक यह चक्र चलता रहता है। जब तक धर्म तात्त्विकता के इस धरातल पर नहीं पहुँचता तब तक मर्म की बात पकड़ में आती ही नहीं और सत्य उपासक से दूर रहता है। हमें अपनी पशु बुद्धि को छोड़ना चाहिए क्योंकि इसी के कारण हम भेदों के चक्कर में पड़ते हैं।[१७] और आन्तरिक

---

५. श्रीमद्भागवत ५/१०/१०
६. वही, ४/२८/४०-४१
७. वही, ४/२८/६३
८. वही, ७/७/४९
९. वही, ११/२२/४५
१०. वही, ११/२२/४९
११. वही, १२/१३/१२
१२. छान्दोग्य ६/८/७
१३. बृ. उ. १/४/१०
१४. श्वे. उ. १/६
१५. वे. सूत्र १/३/३३
१६. भागवत ३/७/१०
१७. भागवत -७/५/१२

सत्यों के सत्य को समझ नहीं पाते। छान्दोग्य उपनिषद में आत्म तत्त्व को समझाने के लिए एक आख्यायिका का वर्णन है। इन्द्र तथा विरोचन जो क्रमशः देवताओं तथा असुरों के प्रतिनिधि हैं, प्रजापति के पास आत्मा विषयक सत्य जानने के लिए जाते हैं। प्रजापति इन्द्र के अज्ञान को दूर करते हुए अन्त में कहते हैं आत्मा अजर-अमर तत्त्व है। यही वह तत्त्व है जो पुत्रों से भी प्रियतर है, भौतिक समृद्धि से भी उच्चतर है, प्रत्येक अन्य वस्तु से मूल्यवान है।[१८] हमें इस आत्म तत्त्व को समझना चाहिए और इसे अनात्म तत्त्व से अलग रखकर स्पष्टतापूर्वक हृदयंगम करना चाहिए, इसके बिना रहस्य समझ में नहीं आ सकता।[१९]

इस रहस्य को समझाते हुए न्याय दर्शन ने आत्मा को ज्ञान, इच्छा आदि गुणों का आधार कहा है। इसके अनुसार आत्मा निरवयव और विभु है। काल और देश से परे है। वैशेषिक दर्शन भी न्याय के समान ही है। कणाद और प्रशस्तपाद आत्मा का मानस प्रत्यक्ष नहीं मानते, पर शंकर मिश्र आत्मा का मानस प्रत्यक्ष मानते हैं। महर्षि कपिल द्वारा प्रतिपादित सांख्य दर्शन में आत्मा को पुरुष कहा है। वह स्वयं प्रकाश है, अमर है, नित्य है, मुक्त है, शुद्ध है, बुद्ध है। सांख्य के समान योग भी यही मानता है कि जीव स्वतंत्र पुरुष या आत्मा है। जीव सम्भवतः शुद्ध चैतन्य है। वास्तव में आत्मा में कोई विकार नहीं होता। चित्त में होने वाले विकारों में आत्मा का प्रकाश पड़ता और अज्ञानवश उन्हीं में स्वयं को देखने लगता है। यही आत्मा का बंधन है। चित्तवृत्ति निरोध होने पर आत्मज्ञान हो जाता है। आत्मज्ञान की आत्मा तो नित्य मुक्त, शुद्ध चैतन्य स्वरूप हैं। मीमांसा के अनुसार जितने जीव हैं, उतनी आत्माएँ हैं। आत्मा अमर है, शरीर से भिन्न है। वेदान्त के अनुसार आत्मा का अस्तित्व स्वप्रमाणित है। आत्मा विभु है, अद्वैत, निरवयव, देशकालातीत, परमार्थ और परम सत् है।

शंकर तथा देकार्ते दोनों ने यह सिद्ध किया है कि आत्मा को सिद्ध करने की जरूरत नहीं। वह तो स्वयंसिद्ध है।[२०] मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ। ह्यूम तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी आत्मा की स्थिति को नहीं मानते, क्योंकि इसे देखा नहीं जा सकता। बौद्ध दर्शन में आत्मा को अवस्थाओं का अनवरत प्रवाह माना गया है। जिस प्रकार दीपक की लौ का प्रकाश, प्रकाश किरणों का अनवरत प्रवाह है। उसी तरह आत्मा संवेदनों की संतति है। मानव काय, मनस तथा विज्ञान की समष्टि का व्यावहारिक तथा रुढ़िबद्ध नाम है। उसे पंच स्कन्धों रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान में विश्लेषित करने का प्रयास 'संयुक्त निकाय' में किया गया है।

काण्ट ने आत्मा के दो रूप माने हैं। विशुद्ध आत्मा तथा व्यावहारिक आत्मा। व्यावहारिक आत्मा हमारी जीवात्मा है। जिसे हम अनुभव करते हैं। यह अनित्य परिवर्तनशील तथा व्यक्तिगत है। परन्तु विशुद्ध आत्मा नित्य तथा सामान्य है। यह हमारे क्षणिक तथा बिखरे अनुभवों को नियमित तथा क्रमबद्ध करती है। काण्ट ने इसे 'ट्रांसन्डेण्टल सिन्थेटिक यूनिटी ऑफ ए परसेप्शन' का नाम दिया है। शंकर के आत्मा सम्बन्धी विचार से काण्ट की यह विचारणा मेल खाती है।

आत्मा की सत्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता। क्योंकि शुद्ध आत्मा के रूप में उसकी उपस्थिति विवादों से परे कही जा सकती है। किन्तु उसकी वास्तविक प्रकृति को हम इसलिए साधारण तौर-तरीकों से नहीं समझ सकते कि ज्ञाता को ज्ञेय नहीं बनाया जा सकता। उसके स्वरूप को तो अनुभव के प्रकाश में ही समझना होगा। चिन्तन तथा मनन के द्वारा उसे उन वस्तुओं से अलग करना होगा, जो आत्म-तत्त्व से सम्बद्ध नहीं है। किन्तु अज्ञानवश आत्म से संयुक्त मान ली गई है। इस प्रणाली से हम धीरे-धीरे विशुद्ध आत्मा को समझ सकेंगे। और उसे समझने से ही परमात्मा को भी समझ लेंगे। क्योंकि दोनों एक ही तो हैं। पहले ईश्वर तत्त्व को समझने के बाद कहा जाय कि तू वह है या अपने को पहचान कर कहा जाय कि मैं ब्रह्म हूँ। दोनों बातें एक ही हैं, दोनों का निष्कर्ष एक है।

---

१८. प्रेयो पुत्रात्, प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मात्

१९ पाल ब्रान्टन- द विज्डम ऑफ द ऑवर सेल्फ, पृ. ८३

२०. विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। बृ.उ.- २/४/१४

योरोपीय चिन्तन के पिता समझे जाने वाले सुकरात की नजर में जीवात्मा दैवी, नित्य, बोधगम्य, समान, अविनाशी और अजर है। जबकि शरीर विनाशी, जड़, बहुविध, परिवर्तनशील और छिन्न-भिन्न होने वाला है।[२१] आत्मा के विषय में प्लेटो का मत भारतीय विचारधारा के बहुत नजदीक है। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक फेडो में आत्मा के अमरत्व पर विचार किया गया है। उनके अनुसार आत्मा शाश्वत एवं सनातन है। प्लेटो की आत्मा में तीन अंश हैं। पहले अंश के अन्तर्गत वैचारिक क्षमता आती है। चारित्रिक गुण जैसे सज्जनता, विनम्रता, आदर भावना आदि विशेषताएँ इस वैचारिक क्षमता के कारण उत्पन्न होते हैं। दूसरा अंश संकल्प से सम्बद्ध रखता है। इसके कारण मनुष्य कोई कार्य व्यवहार में उतारता है। आत्मा का तीसरा अंश बुभुक्षा से सम्बन्ध रखता है। इसके अन्तर्गत सुख की इच्छा, धन की कामना, भोजन की इच्छा तथा इसी तरह के अन्य शारीरिक इच्छाओं को रख सकते हैं।

ईसाई धर्म के विद्वानों पर प्लेटो तथा अरस्तू का विशेष प्रभाव नजर आता है। संत आगस्टाइन तथा संत थामस अक्विनस इसके उदाहरण हैं। आगस्टाइन का कथन है कि मनुष्य में आत्मा तथा शरीर का मिश्रण है। आत्मा सरल चेतन तथा आध्यात्मिक तत्त्व है और शरीर से वास्तव में अलग है। अक्विनस अरस्तू से प्रभावित समझ पड़ते हैं। उनके अनुसार शरीर के प्रत्येक भाग में पूरी आत्मा मौजूद है। पशुओं की आत्मा, मानवीय आत्मा की तरह अमरशील नहीं है। बुद्धि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा का भाग है। स्पिनोजा के शब्दों में- "यदि मनुष्य के साधारण विचारों पर ध्यान दिया जावे तो प्रतीत होगा कि वे अपने जीव के अमरत्व से अभिज्ञ है।"[२२] इस तरह स्पिनोजा के लिए आत्मा जीवन का अमरत्व है। लॉक ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों सत्ता को मानते हैं। उनके अनुसार जीवात्मा का सारा ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है। जीवात्मा में वह छः प्रकार की शक्तियाँ मानते हैं। १. अलब्धि, २.स्मृति, ३. विवेक, ४. भेदाभेद विचार, ५. सम्पर्क, ६.व्यापकत्व। बर्कले के अनुसार जीवात्मा एक अमिश्रित पदार्थ है, इसलिए उसका विच्छेद नहीं हो सकता। यह जरूरी नहीं कि उसका सदैव शरीर से सम्बन्ध रहे। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह बना रहता है।

इस तरह आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न विचार देखने को मिलते हैं। इनमें से प्रत्येक का प्रयास आत्मा के सौन्दर्य को प्रकट करने के लिए सक्रिय है। आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति से भी कुछ परिचय मिलता है। शंकराचार्य ने एक प्राचीन श्लोक को उद्धृत कर समस्त व्युत्पत्तियों को एक साथ प्रदर्शित किया है। आत्मा जगत् के समस्त पदार्थों में व्याप्त रहती है। (आप्नोति) समस्त वस्तुओं को अपने स्वरूप में ग्रहण कर लेती है। (आदत्ते) स्थिति काल में वह विषयों को खाती है, अर्थात् अनुभव करती है। (अस्ति) तथा इसकी सत्ता निरन्तर रहती है। (सन्ततो भावः) इन्हीं कारणों से आत्मा का आत्मत्व है।

इस आत्म तत्त्व की अपनी अनुभूति को शब्दों में व्यक्त करते हुए आचार्य श्रीराम शर्मा कहते हैं- "आत्मा सत्य है, शाश्वत है, नित्य है, शक्ति का स्वरूप है।"[२३] विश्व के सम्पूर्ण प्राणियों में व्याप्त चेतना ही आत्मा है। वह अतिगूढ़ निर्गम तत्त्व है, इसलिए लोग प्रत्यक्ष नहीं देख पाते। स्पष्टतया चित्त वृत्तियाँ गतिशील जान पड़ती हैं। इसलिए मन या चित्त को ही आत्मा होने का भ्रम होता है। वस्तुतः चित्त आत्मा नहीं है। वह परम प्रकाश तत्त्व है।[२४]

◆ आत्मा की परिवर्तनशीलता

आत्मा के स्वरूप के साथ स्वभाव पर विचार करने पर हम पाते हैं कि न्याय, वैशेषिक, ह्यूम, जेम्स, बौद्ध, दार्शनिक, रामानुज, ब्रैडले आदि को परिवर्तन सहित नित्य चेतना के अस्तित्व पर विश्वास नहीं। रामानुज कहते हैं कि ज्ञान नित्य नहीं है। कणाद के मुताबिक आत्मा एक नित्य चेतना होती तो गम्भीर नींद व मूर्छा में भी चेतन रहती।[२५] जेम्स आत्मा को एक ऐसी चेतन धारा

२१. ट्रायल एण्ड डेथ ऑफ साक्रेटीज, पृ. १४६
२२ सर फेड्रिक पोलक- स्पिनोजा हिज लाइफ एण्ड फिलासफी, पृ. २७५
२३ आचार्य श्रीराम शर्मा- आत्मा व अरे ज्ञातव्य., पृ. १६
२४. वही, पृ. ४०
२५. शांकर भाष्य २, ३, १८

मानते हैं, जिसमें कि विभिन्न कण एक दूसरे से सहानुभूति पूर्वक जुड़े हैं। इनके मुताबिक गुजरते हुए विचार के परे कोई स्थाई आत्मा नहीं है। गुजरता हुआ विचार ही एकमात्र विचार है।

◆ ज्ञानमय आत्मा

परिवर्तनशीलता के सिद्धान्त की गहराइयों में जायें तो लगता है, इन्होंने आत्मा के ज्ञानात्मक महत्त्व को भुला दिया। परिवर्तन की समस्त चेतना एक अपरिवर्तनीय चेतना पर निर्भर है। जेम्स कहते हैं कि बेहोशी से जगा हुआ व्यक्ति बेहोशी से पहले और बाद की अवस्था में कोई अन्तर नहीं अनुभव करता। ये दोनों अवस्थाएँ क्रमबद्ध लगती हैं। उनका अन्तर केवल समय बीतने के विषयगत लक्षणों के अनुमान द्वारा मालूम होता है।[२६] लेकिन यह समझ पाना मुश्किल है कि नींद के पहले के अनुभव इतने देर के बाद भी किस तरह नींद के बाद की चेतना में चले जाते हैं। इस तथ्य को सिर्फ एक स्थाई आत्मा की उपस्थिति से ही समझा जा सकता है। यथार्थ ज्ञान का अनुभावक मनुष्य का अन्तरात्मा ही है।[२७] यही वह नित्य विषय है जिसके द्वारा कोई विषय अथवा विषयी-विषय सम्बन्ध को बुद्धि समझ सकती है। इतना ही नहीं आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है।[२८] सर्वव्यापी नित्य तत्त्व है।[२९]

◆ सर्व प्रत्ययवाद

हमारी चेतना, विश्व चेतना का एक सीमित प्रकार है। थामस हिल ग्रीन के अनुसार मनुष्य में दो तत्त्व हैं- १. नित्य अपरिवर्तनीय चेतना का आध्यात्मिक तत्त्व। २. प्राकृतिक तत्त्व, जिससे सिलसिलेवार परिवर्तनशील अनुभूतियाँ अथवा इन्द्रिय जन्य अनुभव उत्पन्न होते हैं। परन्तु दोनों ही समान ढंग से विश्वमय मानस के परिवर्तनशील प्रकार भर हैं। सारी दुनिया अमूर्त सम्बन्धों से बनी है। इसमें मुक्त व्यक्तियों के लिए कोई जगह नहीं। ग्रीन का यह विवेचना समग्र नहीं है। इसके विरोध में एस. एलिओटा कहते हैं "चैत्य तथ्य में सहज रूप में अनुभव किया हुआ बहुत कुछ ऐसा है, जिसको कि द्वन्द्ववाद का कोई प्रयत्न प्रत्यय जनित सम्बन्धों की व्यवस्था से कभी एक रूप नहीं कर सकता।"[३०] विश्व और व्यक्ति सिर्फ अमूर्त सम्बन्धों की व्यवस्था भर नहीं हैं।

◆ अद्वैत मत

अद्वैत मत के प्रमुख आधार ब्रह्मसूत्र दर्शन और उपनिषद दर्शन हैं। यह स्वाभाविक है कि अध्यात्म विद्या के अनेकों अनुशीलनकर्त्ताओं- उपनिषदवर्ती तत्त्ववेत्ताओं एवं उपनिषदवर्ती सिद्धान्तों के सूत्ररूप में प्रस्तुतकर्ता बादरायण के विचारों में अनेकता एवं सूत्ररूपता के कारण कुछ असामंजस्य एवं संदिग्धता बनी रहे। उपनिषद एवं ब्रह्मसूत्र दर्शन की पूर्ति शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में प्रस्तुत समन्वयात्मक सिद्धान्त के आधार पर की है। अतएव शंकराचार्य द्वारा प्रस्तुत उपनिषदों की व्याख्या को थीवो[३१], गफ[३२] एवं जैकोब[३३] आदि विद्वानों ने सर्वाधिक सन्तोषजनक कहा है। आचार्य शंकर ने आत्मा को परम प्रकृति माना है। उनके अनुसार आत्मा विषय नहीं है फिर भी अन्तस्थ आत्मा के साक्षात्कार की सहजता के कारण[३४] ज्ञेय है। वह आधारभूत चेतना है और स्वयं अपना विषय नहीं हो सकती। व्यक्तिगत वस्तुओं की चेतना अस्थाई और परिवर्तनशील है, परन्तु हमारी सत्ता की चेतना नित्य है।[३५] अद्वैत मत में आत्मा के स्वरूप की

---

२६. विलियम जेम्स- प्रिन्सिपल्स ऑफ साइकोलॉजी, भाग १, पृ. २३७-२३८
२७. आचार्य श्रीराम शर्मा- आत्मा वा अरे ज्ञातव्यः, पृ. १३
२८. वही, पृ. ४३
२९. वही, पृ. ४५
३०. एस. एलिओटा- आइडियलिस्टिक रिएक्शन अगेन्स्ट साइंस, पृ. ९९
३१. थीवो- इन्ट्रोडक्शन, एस. बी. ई., vol. xxxiv
३२. गफ- पिलासफी ऑफ उपनिषद, पृ. viii
३३. कर्नज जैकब- इन्ट्रोडक्शन टू वेदान्त सार
३४. अपरोक्ष त्वाच्च प्रत्यागत्म प्रसिद्धे : शांकर भाष्य
३५. भगवद्गीता- शांकर भाष्य २/१६

कहीं अधिक स्पष्ट झाँकियाँ निम्न झरोखे से देखी जा सकती हैं।

◆ ब्रह्म और आत्मा

शंकर ने विविधता में सत्य का निषेध किया है। जीव ब्रह्म के केवल प्रतिबिम्ब मात्र है। अपने वास्तविक स्वरूप में आत्मा ब्रह्म ही है। आत्मा और ब्रह्म की इस एकात्मता को बताने के लिए वह स्थान-स्थान पर अहं ब्रह्मास्मि (बृ.उ.१/४/१०), तत्त्वमसि (छा.उ. ६/८/७), अयमात्मा ब्रह्म (बृ. उ. २/५/१९) आदि श्रुतियों का उल्लेख करते हैं। नित्य चेतना भ्रम के विभिन्न रूपों में प्रकट होती है।[36] क्योंकि वह माया वचनादि में कूटस्थ है।[37] शंकर के अनुसार प्रपञ्चात्मक जगत् असत्य है। लेकिन इसका आधार सत्य है। अनेक की सत्ता अविद्या के कारण है।

◆ आत्मा की स्वयं सिद्धता

भाष्यकार शंकर आत्मा की नित्य चेतना को स्वप्रमाणित, स्वत:सिद्ध मानते हैं। उनके अनुसार 'आत्मा होने के कारण ही आत्मा का निराकरण सम्भव नहीं है। आत्मा बाहर की चीज नहीं है, वह स्वयंसिद्ध है। आत्मा तो प्रमाणादि व्यवहार का आश्रय है। और प्रमाणों के व्यवहार से पहले ही सिद्ध है। यह आत्मा तो निराकरण करने वाले का अपना स्वरूप है। अग्नि अपनी उष्णता का निराकरण कैसे कर सकती है।'[38]

◆ आत्मा की सुखरूपता

सत् और चित् होने के साथ आत्मा आनन्द स्वरूप भी है। संक्षेप शारीरिक के रचनाकार सर्वज्ञात्म मुनि ने आत्मा की आनन्द रूपता सिद्ध करने के लिए दो युक्तियाँ दी हैं।

१. आत्मा सुख स्वरूप इसलिए है कि उसका और सुख का लक्षण एक ही है। सुख का लक्षण आत्मा में घटता है। जो वस्तु अपनी सत्ता से ही परार्थता को छोड़ देती है, उसे सुख कहते हैं। सब पदार्थों की कामना सुख के लिए की जाती है। परन्तु सुख की कामना किसी अन्य वस्तु के लिए नहीं होती, स्वयं सुख के लिए होती है। इसलिए सुख वह है, जो दूसरे के लिए नहीं है। सुख का यह लक्षण आत्मा में भी वर्तमान है। इसलिए आत्मा सुख स्वरूप है। सब चीजें आत्मा के लिए है, आत्मा किसी के लिए नहीं।[39]

२. सुख का दूसरा लक्षण यह है कि उसमें भी उपाधिहीन प्रेम होता है। अन्य वस्तुओं का प्रेम औपाधिक है। आत्मा में भी उपाधिशून्य प्रेम होता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आत्मा के लिए ही सब वस्तुएँ- पिता, पुत्र, भार्या, धन आदि प्रिय होती हैं। इस युक्ति से भी आत्मा आनन्द स्वरूप है।[40]

लेकिन यह समझना कठिन है कि इस तरह के दर्शन में स्वयं दर्शन, दार्शनिक अथवा मोक्ष इत्यादि की क्या सत्यता है? आचार्य शंकर और उनके मतानुयायी तार्किक प्रतिभा का प्रदर्शन कितना ही क्यों न करें पर मानव जीवन के महत्त्वपूर्ण मूल्यों को तर्क की वेदी पर बलिदान होने से रोक नहीं सकते। अद्वैत मत में स्वयं इस मत का प्रतिपादन करने वाले के लिए कोई स्थान नहीं है। इसमें मानव की सामाजिक प्रकृति से सम्बन्धित सभी बातों का महत्व समाप्त हो जाता है। क्योंकि शंकर के अनुभव में व्यक्ति सद्वस्तु की प्रतिच्छाया भर है और ईश्वर केवल एक प्रपञ्च। लेकिन यह ज्ञान का सिर्फ एक पहलू है। परिवर्तन विकास, विविधता आदि अनुभव के दूसरे पहलू हैं। आचार्य श्रीराम शर्मा के दर्शन की आचार्य शंकर से भिन्नता का कारण उनके अनुभव की समग्रता है। जिसमें हमारी सर्वोच्च आध्यात्मिक आकांक्षाएँ और

---

३६. अनेक माया वंचनादि प्रकारेण स्थित: कूटस्थ:– गीता शांकर भाष्य १५/१७

३७. कूट माया वंचना, जिह्मता कुटिलता, कूटेस्थित:, वही

३८. आत्मत्वाच्चात्मनो निराकरणं शंकानुपत्ति। न ह्यात्मागन्तुक: कस्यचित् स्वयं सिद्धत्वात्। आत्मा तु प्रमाण दिव्यव्यवहाराश्रयत्वात्प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिद्धयति। न चेदृशस्य निराकरणं संभवति। आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम। य एव द्वि निराकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम्। न ह्यग्रेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते। ब्र.सू.भाष्य– २/३/७

३९. सर्वज्ञात्म मुनि- संक्षेप शारीरक, १/२४

४०. सर्वज्ञात्य मुनि-संक्षेप शारीरिक-१/२५

मानव जाति की भविष्यत् आशाएँ संजोई हैं।

◆ व्यक्तिवादी एवं एकेश्वरवादी

शंकर और ब्रैडले के निरपेक्षवाद के विरोध में, नैतिक और धार्मिक मूल्यों के समर्थक दार्शनिकों ने व्यक्ति की यथार्थता को स्वीकार किया है। मानव ईश्वर के लिए उतना ही जरूरी है, जितना कि ईश्वर मानव के लिए। आचार्य रामानुज के शब्दों में– अनेक एक की आत्माभिव्यक्ति, विशेष और प्रकार है। जो कि अपने सभी परिवर्तनों में ईश्वर द्वारा नियंत्रित होकर भी यथार्थ व नित्य है। व्यक्ति की यथार्थता को मानने में प्रो. प्रिंगिल पैटीसन रामानुज से भी कहीं आगे हैं। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की एक तात्त्विक सत्ता होनी चाहिए। अस्तित्व में रहने का मतलब है, गुणों का विषय होना, एक स्वभाव रखना।[४१] आखिर आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित भ्रम की सत्ता भी तभी रह सकती है, जब जो कोई वास्तविक व्यक्ति हो, जिसको कि भ्रम होता है। यदि व्यक्ति केवल परमात्मा प्रवाह के नल अथवा फौवारे की टोटियाँ भर हैं, तो फिर सृष्टि का औचित्य ही निरर्थक हो जाएगा।

लेकिन पैटीसन अपने इस एकांगी मत के प्रतिपादन में आचार्य शंकर के ठीक दूसरी छोर पर जा खड़े होते हैं। जबकि एकता उतनी ही वास्तविक है, जितनी की विविधता। नित्य विश्व में सार्वभौम और उसके जीवों में व्यक्ति रूप में आत्मा, ये सब चीजें वह एक साथ हो सकता है। वह चेतना को भी उनमें से किसी में भी प्रकृति के कार्य को त्यागने, शासन करने अथवा जवाब देने को स्थापित कर सकता है। अन्यों को उसके पीछे अथवा उससे दूर रख सकता है। स्वयं को एक शुद्ध, नित्यता, आत्म निर्भर, सार्वभौमिकता अथवा विशेष व्यक्तित्व के रूप में जान सकता है।[४२]

आचार्य श्रीराम शर्मा का सर्वांग मत

◆ आत्म जिज्ञासा

निर्मल अन्त:करण को गहराइयों से उभरी आत्म जिज्ञासा ही आचार्य जी के दार्शनिक चिन्तन का उद्गम विन्दु बनी। वह अपनी पहली दार्शनिक रचना- 'मैं क्या हूँ?' की शुरूआत ही इस आत्म जिज्ञासा से करते हैं- मैं क्या हूँ? मेरी क्या शक्ति है? मैं कौन हूँ?[४३] वास्तविक अर्थों में कहा जाय तो सवाल किसी व्यक्ति विशेष के न होकर, समूचे मानवीय अस्तित्व से ध्वनित हो रहे हैं। हर विचारशील मन आकुल होकर इनके उत्तर खोज रहा है।

किसी व्यक्ति से पूछा जाय कि आप कौन हैं? तो वह अपने वर्ण, कुल, व्यवसाय, पद या सम्प्रदाय का परिचय देगा। ब्राह्मण हूँ, अग्रवाल हूँ, बजाज हूँ, तहसीलदार हूँ, वैष्णव हूँ आदि उत्तर होंगे। अधिक पूछने पर अपने निवास स्थान, वंश, व्यवसाय आदि का अधिकाधिक विस्तृत परिचय देगा। प्रश्न या उत्तर के लिए ही यह सब वर्णन हो सो नहीं, उत्तर देने वाला यथार्थ में अपने को वैसा ही मानता है। शरीर भाव में मनुष्य इतना तल्लीन हो गया है कि अपने आपको वह शरीर ही समझने लगा है।

वंश, वर्ण, व्यवसाय या पद शरीर का होता है। शरीर मनुष्य का एक परिधान या औजार है। परन्तु भ्रम और अज्ञान के कारण मनुष्य अपने-आप को शरीर ही मान बैठता है। और शरीर के स्वार्थ तथा अपने स्वार्थ को एक कर लेता है। इसी गड़बड़ियों में जीवन अनेक अशान्तियों, चिन्ताओं और व्यथाओं का घर बन जाता है।

मनुष्य शरीर में रहता है, यह ठीक है, पर यह भी ठीक है कि वह शरीर नहीं है। ...शरीर में निवास तो करता है पर वस्तुत: वह शरीर से भिन्न है। इस भिन्न सत्ता को आत्मा कहते हैं। वास्तव में यही मनुष्य है। मैं क्या हूँ? इसका सही उत्तर है कि- मैं आत्मा हूँ।[४४]

---

४१. प्रिंगल पैटीसन- आइडिया ऑफ गाड, पृ. २८२
४२ श्री अरविन्द- सिन्थेसिस ऑफ योग, पृ ७१७-१८
४३. आचार्य श्रीराम शर्मा- मैं क्या हूँ? पृ. ३
४४. वही, पृ. ४-५

आचार्य जी आत्मा के स्वरूप का विवेचन कुछ उदाहरणों द्वारा इस प्रकार करते हैं- "आत्म स्वरूप को पहचानने से मनुष्य समझ जाता है कि मैं स्थूल शरीर व सूक्ष्म शरीर नहीं हूँ। यह मेरे कपड़े हैं। मानसिक चेतनाएँ भी मेरे उपकरण मात्र हैं। इनसे मैं बंधा हुआ नहीं हूँ। ठीक बात को समझते ही सारा भ्रम दूर हो जाता है और बन्दर मुट्ठी का अनाज छोड़ देता है। आपने यह किस्सा सुना होगा कि एक छोटे मुँह के बर्तन में अनाज जमा था। बन्दर ने उसे लेने के लिए हाथ डाला और मुट्ठी में भर कर अनाज निकालना चाहा। छोटा मुँह होने के कारण वह निकाल न सका। बेचारा पड़ा-पड़ा चीखता रहा, कि अनाज ने मेरा हाथ पकड़ लिया है, पर ज्यों ही उसे असलियत का बोध हुआ, कि मैंने मुट्ठी बांध रखी है, इसे छोड़ूं तो सही। जैसे ही उसने इसे छोड़ा कि अनाज ने बन्दर को छोड़ दिया। काम, क्रोधादि हमें इसलिए सताते हैं कि उनकी दासता हम स्वीकार करते हैं। जिस दिन हम विद्रोह का झण्डा खड़ा कर देंगे, भ्रम अपने बिल में धंस जाएगा। भेड़ों में पला हुआ शेर का बच्चा अपने को भेड़ समझता था। परन्तु जब उसने पानी में अपनी तस्वीर देखी तो पाया कि मैं भेड़ नहीं शेर हूँ। आत्म स्वरूप का बोध होते ही उसका सारा भेड़पन क्षण मात्र में चला गया।"[४५]

◆ अयमात्मा ब्रह्म

आत्म स्वरूप का बोध होते ही यह अनुभव हो जाता है, कि मैं आत्मा हूँ। आत्मा शाश्वत और अविनाशी है। आत्मा ही जरा-मरण, भूख-प्यास, समस्त भय, सन्देह, संकल्प-विकल्पों से रहित, नित्य-मुक्त, अजर-अमर, अविनाशी तत्त्व है। उसे जान लेने पर ही मनुष्य समस्त भय-शोक, चिन्ता, क्लेशों से मुक्त हो जाता है। आत्मा के प्रकाश में ही बाह्य संसार और मानव जीवन के कार्यकलापों का अस्तित्व है। आत्मा के पटल पर ही संसार और दृश्य जीवन का छाया नाटक बनता बिगड़ता रहता है। संसार जो कुछ भी है वह आत्मा की अभिव्यक्ति और उसका विस्तार है। ...आत्मा के धरातल पर ही दृश्य जगत् के घरौंदे बनते और बिगड़ते रहते हैं। सृजन और संहार का चक्र चलता रहता है। किन्तु यह आकाश के मध्य ग्रह-नक्षत्रों का क्रिया-कलाप चालू रहता है। अनेकों उल्काएँ, नक्षत्र बनते बिगड़ते रहते हैं। किन्तु आकाश अपने गुरु गम्भीर अविचल स्वरूप में नित्य ही स्थिर रहता है। इसी तरह सर्वत्र व्याप्त आत्म तत्त्व के मध्य पदार्थों का सृजन और विनाश होता रहता है, किन्तु आत्म तत्त्व पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह सदा सर्वदा नित्य है।

आत्मा ही परमात्मा है। आत्म तत्त्व जब जगत्, देह, इन्द्रिय तथा संसार के पदार्थों को प्रकाशित करता है, तो अनेक रूपों में दिखाई देता है। जिस तरह जल की बूँदें समुद्र पर गिरते समय अलग-अलग दिखाई देती हैं, किन्तु गिरने से पूर्व और गिरने पर वह अथाह समुद्र के रूप में ही होती हैं। आत्मा भी आदि-अन्त में हमेशा ही स्थिर रहने वाला नित्य तत्त्व है। जो विराट् है, भूमा है ...जिस तरह घड़े को प्रकाशित करने वाला सूर्य घड़े के नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता उसी तरह देह के नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता। सूर्य का प्रकाश विभिन्न घड़ों में पड़ते समय अलग-अलग सा जान पड़ता है। लेकिन सूर्य अखण्डित ही रहता है। इसी प्रकार आत्मा भी विभिन्न देह पदार्थों को प्रकाशित करते हुए खण्ड-खण्ड नहीं होता। अथाह धरती के धरातल पर बच्चे मिट्टी के छोटे-छोटे अनेकों घरोंदे बनाते हैं। मिट्टी धरती अपने नित्य स्वरूप में ही स्थिर रहती है। ठीक इसी तरह आत्मा के पटल पर संसार और उसके पदार्थों का बनना-बिगड़ना जारी रहता है। किन्तु आत्मतत्त्व अपने नित्य स्वरूप में स्थिर रहता है।[४६] इस तरह ब्रैडले की तरह आचार्य जी भी यही मानते हैं कि असलियत में व्यक्ति विश्वमय है। वेदान्त की परम्परा में वह आत्मा को समान रूप से यथार्थ और यथार्थ रूप में व्यक्ति मानते हैं। मैक्टेगार्ट का आत्माओं की एकता को निरपेक्ष आत्मा कहने की पहेली के पीछे बुद्धि का अड़ियलपन है। द्वन्द्वों में फँसा हुआ मन पूर्णताओं से बनी एक पूर्णता को समझ नहीं सकता। परन्तु यही तो चेतना का विधान है। पूर्ण व्यक्ति विश्वमय व्यक्ति है, क्योंकि हमारा व्यक्तित्व तभी पूर्ण हो सकता है, जबकि हम विश्वमय को अपने में ले लें और उसके

४५. आचार्य श्रीराम शर्मा- मैं क्या हूँ? पृ. १०-११

४६. आचार्य श्रीराम शर्मा- जीवन की सर्वोपरि आवश्यकता आत्मज्ञान, पृ. ८८, ८९, ९०

पार भी निकल जायें।

लेकिन पूर्णता में अपूर्णता का किस तरह भ्रम हुआ ? सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों, विकारों की आतंकवादी दुनिया से दूर रहने वाला आत्मा इन उलझनों में किस तरह उलझ गया। मुक्त तत्त्व को बद्धता की अनुभूति किस तरह हुई, इन सवालों के हल के लिए हमें आत्मा के उस स्वरूप पर विचार करना होगा, जिसमें वह प्रकृति के गुणों से सम्पृक्त है।

◆ जीवात्मा की अनुभूतियाँ

प्रकृति के गुणों से जुड़कर ही आत्मा कर्त्ता, भोक्ता बनता और जीवात्मा की संज्ञा प्राप्त करता है। ''जीव क्या है ? चेतना के विशाल सागर की एक छोटी सी बूँद अथवा लहर। हर शरीर में थोड़ा आकाश भरा होता है, उसका विस्तार सीमित है, उसे नापा और जाना जा सकता है। पर वह अलग दीखते हुए भी ब्रह्माण्ड व्यापी आकाश का ही एक घटक है। उसका अपना अलग से कोई अस्तित्व नहीं। जब तक वह काय-कलेवर से घिरा है, तभी तक सीमित है।''[४७] आचार्य श्रीराम शर्मा के ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध को इन शब्दों में कहें तो- ''जीव अर्थात् ईश्वरीय सत्ता का परिस्थिति वश स्वतंत्र दिखाई पड़ने वाला एक छोटा और अस्थाई घटक। चेतना का असीम समुद्र लहलहा रहा है। हम सब उसी में जन्मने-मरने वाले जल जन्तु है। यह उपमा अधूरी लगती हो तो सागर और उसकी लहरों का उदाहरण ठीक समझा जा सकता है। हर लहर पर एक स्वतंत्र सूर्य चमकता देखा जा सकता है। पर उतने सूर्य हैं नहीं। वस्तुतः एक ही सूर्य के पृथक् प्रतिबिम्ब भर चमकते हैं।''[४८]

आग की छोटी सी चिन्गारी में वे सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं, जो विशालकाय भट्टी में पायी जाती हैं। चिन्गारी में गर्मी भी है और रोशनी भी। यदि अवसर मिले तो उपयुक्त ईंधन पाकर उसकी लघुता सुविस्तृत हो सकती है। आकार की लघुता-विशालता तो यथार्थ है, पर संभावना तात्त्विकता एवं एकता में कोई अन्तर नहीं। जीवात्मा उन्हीं विशेषताओं से भरा-पूरा है, जो परमात्मा में विद्यमान है। इतना होते हुए भी चिन्गारी अपने छोटेपन के कारण दुर्बल और अशक्त दिखाई पड़ती है। कई बार तो यह दुर्गन्धियुक्त ईंधन के साथ रहने पर हेय और घृणित भी प्रतीत होती है। चन्दन की लकड़ी में और मल के ढेर में जलने वाली अग्नियों में से एक आनन्ददायक होती है, और सुगन्ध कहलाती है। दूसरी कष्टकारक दुर्गन्ध के रूप में तिरस्कृत होती है। यद्यपि मूलतः एक ही अग्नि तत्त्व इन दोनों स्थानों में काम कर रहा होता है।[४९] आत्मा भी इसी तरह प्रकृति से संयुक्त होकर जीवात्मा बनता और प्रकृति के गुणों के अनुरूप सुख और दुख का अनुभव करता है।

संकट प्रसुप्त स्थिति का है। सोया हुआ मनुष्य अर्धमृतक स्थिति में पड़ा रहता है। उस स्थिति में उसे गन्दगी, दुर्गन्ध, अपमान, दुर्गति का बोध नहीं होता। कुछ भी भला बुरा होता रहे, गहरी नींद में उसे कुछ सूझता ही नहीं। ठीक आत्मबोध से रहित स्थिति में जीव की असीम दुर्गति होती है। खुमारी यह विदित नहीं होने देती।[५०] प्रसुप्त स्थिति का मतलब है- अवास्तविक बोध स्वयं को शरीर या मन मान लेना। अथवा अहंकार के विकृत बोध से उलझ जाना। जबकि यथार्थ बोध में जीवात्मा को यह अनुभूति होती है कि यह शाश्वत चैतन्य स्वरूप आत्मा है, अहं का वह झरोखा है, जिसके द्वारा उसे प्रकृति को देखना। प्रकृति द्वारा सौंपे गए शरीर व मन के यंत्रों के माध्यम से सृष्टि में परमात्मा के सौन्दर्य को अभिव्यक्त करना है।

◆ माया

खुमारी के कारण उत्पन्न हुई अर्धमूर्छित स्थिति को 'माया' कहते हैं। माया को ही जीव की दयनीय दुर्गति का कारण बताया गया है। 'माया' ग्रसित स्थिति में जीव अपने को आत्मा न मानकर शरीर अनुभव करने

४७. आचार्य श्रीराम शर्मा- आस्तिकता की उपयोगिता और आवश्कता, पृ. ३-४
४८. वही,
४९. वही, पृ. ४
५०. वही, पृ. ५

लगता है। और उसी के लाभ-हानि को अपना मानने लगता है। इसकी इच्छा, आकांक्षा, अभिरुचि इन्हीं बातों में सीमाबद्ध हो जाती हैं, जो शरीर और मन को प्रिय हैं। अपने स्वरूप को भूला हुआ आत्मा अपने लक्ष्य और हित को भी भूल जाता है। और मात्र उतना ही सोचता है, जितना शरीर को रुचिकर लगे। यह विचित्र स्थिति है कि कोई अपने वाहन, उपकरण, वस्त्र, घर आदि को सुसज्जित रखने के लिए तो समय, बुद्धि और धन को खर्च करता रहे। किन्तु अपनी भूख-प्यास का, आरोग्य-आजीविका का कुछ भी विचार न करे। शरीर और मन जीवन रथ के दो पहिए हैं। इन्हें दो घोड़े, दो सेवक भी कहा जा सकता है। इनके सहारे जीवन यात्रा सुविधापूर्वक सम्पन्न हो सके, इसलिए परमपिता ने अपने राजकुमार के लिए इन बहुमूल्य साधनों की व्यवस्था की है। इन्हें संभालकर रखा जाना चाहिए और सदुपयोग किया जाना चाहिए, यह बुद्धिमत्तापूर्ण है। किन्तु जब जीव अपना लक्ष्य भूलकर मात्र इन दो वाहनों की साज-सज्जा में लगे रहने के अतिरिक्त और कुछ सोचता नहीं तो इस स्थिति को माया-मूढ़ता कहते हैं।

जीव की उत्कृष्ट और असीम सम्भावनाओं से भरी-पूरी स्थिति को दीन-दयनीय स्थिति से घिरा देखा जाये तो यह उसकी स्वाभाविक स्थिति नहीं मानी जानी चाहिए, वरन् माया मूढ़ता का अभिशाप समझा जाना चाहिए। बन्धनों की जकड़न शरीर और मन के लिए इतनी कष्टकारक होती है उसे कोई भुक्तभोगी समझ सकता है। किसी के हाथ-पैर कस कर मुँह में पट्टी बांधकर अंधेरी कोठरी में डाल दिया जाय तो उसे कितनी शारीरिक पीड़ा और मानसिक व्यथा होगी। इसकी सहज कल्पना की जा सकती है। ईश्वर के अंश जीव की दुर्गति का कारण यही माया बन्धन है।[51]

◆ आचार्य जी की माया की अवधारणा

भाष्यकार शंकर के मायावाद से पर्याप्त भिन्न है। आचार्य शंकर ने केनोपनिषद भाष्य में लगभग तीन बार, कठोपनिषद भाष्य में चार बार, ऐतरेयोपनिषद भाष्य में तीन बार, मुण्डकोपनिषद भाष्य में चार बार, प्रश्नोपनिषद भाष्य में चार बार, तैत्तिरीय उपनिषद भाष्य में दो बार, छान्दोग्य उपनिषद भाष्य में दो बार तथा वृहदारण्यक उपनिषद भाषा के अन्तर्गत तीन बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार कुल मिलाकर उपनिषद भाष्य में लगभग पच्चीस बार माया शब्द प्रयोग किया है। गौड़पादाचार्य की माण्डूक्य कारिका में भी लगभग पच्चीस बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रीमद्भगवद् गीता के अन्तर्गत लगभग चालीस बार 'माया' सम्बन्धी विवेचन मिलता है। ब्रह्मसूत्र भाष्य के अन्तर्गत लगभग तीन बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है।[52] इन अर्थों पर माया की चर्चा अविद्या, इन्द्रजाल और मिथ्यात्व के अर्थ में की गई है।

यानि कि भाष्यकार शंकर के अनुसार सृष्टि और सृष्टि के सभी पदार्थ यहाँ तक कि शरीर और मन सभी मिथ्या है। सिरे से इनका अस्तित्व नहीं। इस मिथ्याबोध में क्रिया, कर्त्ता, कर्म सभी अपना अस्तित्व गंवा बैठते हैं। भ्रम में कौन पड़ा? माया किसे व्यापी यह भी समझ में नहीं आता। जबकि आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार माया महज अज्ञान है। मिथ्या तादात्म्य बोध का भ्रम है। आचार्य जी के माया तत्त्व को यदि उदाहरण से समझने की कोशिश करें, तो कुछ इस प्रकार होगा, जैसे कोई साइकिल सवार स्वयं को साइकिल मान बैठे। साइकिल के अनुसार ही बर्ताव करने लगे। यह स्वयं को साइकिल मान बैठने का भ्रम ही माया है। यह भ्रम टूटने पर माया से उबरने पर साइकिल सवार स्वयं को चालक और साइकिल को अपना वाहन मानने लग जाएगा। आचार्य जी के अनुसार यही यथार्थ बोध है। इसके विपरीत आचार्य शंकर के अनुसार माया का भ्रम टूटने पर सवार तो रह जाएगा, लेकिन साइकिल गायब हो जाएगी। क्योंकि वह सिरे से मिथ्या थी। इस तरह आचार्य शंकर के अनुसार ज्ञान की अवस्था में नैतिक मर्यादाएँ, मानव मूल्य, सामाजिक विकास का न तो कोई औचित्य है और न अस्तित्व। लेकिन आचार्य श्रीराम शर्मा हमें ज्ञान की अवस्था में हमें ज्ञानमय विश्व प्रदान करते हैं, जिसमें

---

५१. वही, पृ. ६-७
५२. डॉ. रामानन्द तिवारी– शंकराचार्य का आचार दर्शन, पृ. ५८

मानवीय मूल्य, सामाजिक विकास, वैयक्तिकता आदि सभी कुछ विश्व में भागवत सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के साधन हैं। यह विविधता अपने आप में परम एकता भी है। इस ज्ञान को हृदयंगम न किया जा सके, तो माया के बन्धन जकड़े ही रहेंगे, स्व का विकृत बोध बना ही रहेगा।

❖ स्व का विकृत बोध अर्थात् अहंकार

स्व के विकृत बोध को ही अहंकार कहते हैं। वह आत्म तत्त्व से न जुड़कर भौतिक सम्पदाओं से जुड़ा होता है। दूसरों की तुलना में अपने को विशिष्ट मान बैठने पर अहंता की उत्पत्ति होती है। बलिष्ठता, सुन्दरता, सम्पन्नता, पद, अधिकार आदि उसके कारण हो सकते हैं। कई बार भ्रम भी उसका निमित्त बना हुआ होता है। जाति-पांति के आधार पर कई अपने को ऊँचा मानते हैं। इस आधार पर दूसरे नीच या हेय प्रतीत होने लगते हैं। और अहंकार जड़ जमा लेता है।

इस तरह अहंकार का अर्थ है अनन्तता के टुकड़े करने का मिथ्या भ्रम। आचार्य जी के शब्दों में कहें तो "अहंकार एक भ्रान्ति है, जो आत्म प्रदर्शन करने के लिए पग-पग पर पाखण्ड रचने के लिए प्रेरित करती है। इस तथ्य से जो अवगत हैं, उसी को यथार्थवादी या बुद्धिमान् कहा जाता है।"[५३] यहाँ अहं और अहंकार का भेद अवश्य जान लेना होगा। अहं है आत्मा और प्रकृति का सम्बन्ध सूत्र, दोनों के बीच की गांठ। या यों कहें कि अहं वह झरोखा है जिससे आत्मा प्रकृति को सौन्दर्यमय बनाती है। जबकि अहंकार का अर्थ है स्वयं को अहं से तदाकार कर लेना। स्वयं को झरोखा मान बैठना। यही विकृत बोध है। इसी के कारण व्यक्ति को बहुधा अहंकार माना गया। इसकी अधिकता ही व्यक्तित्व का विनाश है। जबकि अहं अधिक से अधिक जीवन के व्यावहारिक पहलू के लिए केन्द्र मात्र है। उसके पीछे है आत्मा, पुरुष अथवा यथार्थ व्यक्ति, जो कि इसको बनाता, साधता और फिर भी उसे पार कर जाता है।"[५४]

आचार्य श्रीराम शर्मा की मनोवैज्ञानिक सर्वांगता

यह आत्म चेतना ही शरीर और मन के झरोखों से जिन्दगी को सक्रियता, संवेदना और विचारशीलता के अगणित उपहार सौंपती रहती है। जिन्दगी को दिखाई देने वाली हलचलों के पीछे इसी का अदृश्य किन्तु अपरिसीम प्रवाह है। जिसकी खोज-बीन में आज की वैज्ञानिक दुनिया भी अपने समय श्रम को खपा रही है। मनोविज्ञान खोज-बीन के ऐसे ही सुव्यवस्थित प्रयास का नाम है। आज की विज्ञान की दुनिया में इसका महत्त्व और स्थान किसी से छुपा नहीं है।

यों इसकी सुव्यवस्थित शुरुआत उन्नीसवीं सदी में हुई। इस समय के आधार स्तम्भ माने जाने वाले हरबार्ट ने चेतना के स्वरूप के बारे में कहा- कि आत्मा का स्वरूप मन की ही भाँति है। वह इसे चेतन तथा शरीर से श्रेष्ठ तो मानते हैं, किन्तु आत्मा की मन से भिन्नता नहीं स्वीकार करते। यद्यपि वह चेतना की अवसीमा को भी स्वीकारते हैं। उनके शब्दों में- चेतना की अवसीमा से मेरा तात्पर्य उन सीमाओं से है, जिनसे एक प्रत्यय पूर्ण अवरोध की दशा से गुजर कर प्रत्यय की वास्तविक दशा में उपस्थित होता है।"[५५] जर्मनी के मनोवैज्ञानिक एवाल्ड हेरिंग के अनुसार चेतना व्यक्ति के संवेदनों से सम्बन्धित है। प्रो. मैक्डूगल ने इस विषय में एक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसे मन, ऊर्जा सिद्धान्त कहते हैं। उन्होंने मन की तीन शक्तियों संज्ञान, भावना और उद्यम का उल्लेख किया है।

---

५३. आचार्य श्रीराम शर्मा- भव बन्धनों से मुक्त हों, पृ. १४

५४. वही, पृ. १६

५५ तुलना करें-
अतः व्यक्ति अस्तित्व रखता है, यद्यपि तुच्छ विभक्तकारी अहं का उत्क्रमण करता है, विश्वमय है और उसके द्वारा आत्मसात किया जाता है। परन्तु वह समस्त व्यक्तिगत भिन्नताओं को आत्मसात अथवा उन्मीलन नहीं करता। यद्यपि उसके अपने को विश्वमय बनाने से सीमितता जिसको कि हम अहं कहते हैं, पार कर ली जाती है।
– श्री अरविन्द- लाइफ डिवाइन, भाग २, पृ. ९३

अमेरिकन मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स के अनुसार चेतना की पहली विशेषता यह है कि वह वैयक्तिक (Personal) होती है। यदि व्यक्ति न रहे तो चेतना का सवाल ही नहीं उठता। दूसरी विशेषता- उसकी परिवर्तन-शीलता है। तीसरी विशेषता- सातत्य है। जिस तरह नदी का प्रवाह अविराम बहता रहता है। उसी प्रकार चेतना भी बहती रहती है। चौथी विशेषता यह है कि उसका सम्बन्ध किसी विषय अथवा वस्तु से होता है। इसकी पांचवी खासियत 'चयन' है। चेतना उन्हीं वस्तुओं की ओर आकर्षित होती है, जिसकी उसे जरूरत होती है। और अन्त में उनके अनुसार मन ही वह चेतना का प्रवाह है।

मनोवैज्ञानिक जगत् में अपने 'मनोविश्लेषण' सिद्धान्त से व्यापक उथल-पुथल करने वाले फ्रायड ने मन को तीन भागों में बाँटा है- अचेतन, अवचेतन एवं चेतन। चेतन मन का सम्बन्ध व्यक्ति की जाग्रत् अवस्था से है। होशो-हवास के अलावा जो कुछ भी मानसिक है, उसका सम्बन्ध अचेतन से है। अवचेतन मन को फ्रायड ने स्मृति- याददाश्त के रूप में स्वीकार किया है। कार्ल गुस्ताव युंग ने मन के स्थान पर चित्त (Psyche) शब्द का प्रयोग किया है। चित्त की खासियत यह है कि इसमें चेतन तथा अचेतन दोनों मिले-जुले हैं। जबकि मन कहने से सिर्फ चेतन मन का बोध होता है।

पश्चिमी मनोवैज्ञानिक जिसे बोध कहते और समझते हैं, आचार्य जी के अनुसार वह बाल-बोध है। उनके शब्दों में "मनोवैज्ञानिक खोजें अभी अविकसित स्थिति में हैं। इनके द्वारा अभी मानवीय चेतना के बाहरी और छिछले रूपों का ही अध्ययन बन सका है। जबकि वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति तब होती है, जब हम बाहरी सतह से आन्तरिक गहराइयों में प्रवेश करते हैं। मानवी चेतना जल में पड़ी बर्फ शिला की भाँति है। इसका जितना हिस्सा जागते समय बाहरी क्रिया-कलापों के माध्यम से प्रकट होता है, उससे कई गुना अन्दर है।"[५६] जिन थोड़े से लोगों ने आन्तरिक गहराइयों में झांकने की कोशिश की, वे अन्तराल के किसी कोने की धुंधली और अस्पष्ट झलक ही पा सके। जबकि अन्तराल के किसी कोने को देखकर समूचे के बारे में कोई राय नहीं दी जा सकती।[५७] वर्तमान मनोवैज्ञानिक अध्ययन में इस तरह की भूले सामान्य बात है। इन्हें भूल कहें या भ्रम आचार्य जी के शब्दों में निम्न हैं-

१. मन और आत्मा को एक ही चीज मान लेना।

२. मन को समस्त चेतना के रूप में मान्यता देना।

३. शरीर के चेतनात्मक (आध्यात्मिक) महत्त्व को अस्वीकृत कर देना।

इन भूलों और भ्रमों के कारण ही आधुनिक मनोवैज्ञानिक अध्ययन एकांगी और अविकसित स्थिति में है। वैज्ञानिक अध्यात्म के प्रणेता आचार्य जी आत्म चेतना की गहराई और व्यापकता की अनुभूति का शब्दांकन करते हैं- "शरीर और मन की जितनी भी महान् शक्तियाँ हैं, वे तुम्हारे (आत्मा के) औजार हैं। इन्द्रियों के तुम (आत्मा) गुलाम नहीं हो, आदतें तुम्हें मजबूर नहीं कर सकती। मानसिक विकारों का कोई अस्तित्व नहीं। अपने को और अपने वस्त्रों को ठीक तरह से पहचान लो।"[५८] एक अन्य स्थान पर वह स्पष्ट करते हैं- "यह आत्मा, मन और अहंकार से अलग रहकर अपना काम किया करती है।"[५९] यह आत्मा ही यथार्थ व्यक्ति है, और शरीर और मन के माध्यम से प्रकट होने वाली इसकी प्रकाश रश्मियों का समुच्चय व्यक्तित्व है।

◆ व्यक्ति और व्यक्तित्व

परमात्म चेतना का अभिन्न अंश आत्मा ही वास्तविक अर्थों में व्यक्ति है। इसी की चेतन किरणें शरीर और मन के माध्यम से विभिन्न गुणों के रूप में प्रकट होती है। यही कारण है आचार्य जी ने व्यक्तित्व

---

५६. डॉ. सीताराम जयसवाल- मनोविज्ञान की रूपरेखा, पृ. १७३

५७. आचार्य श्रीराम शर्मा- चेतना की परतें व उनका रहस्योद्‌घाटन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अक २, पृ. ४५

५८. वही, पृ. ४५

५९ आचार्य श्रीराम शर्मा- मैं क्या हूँ? पृ. १६

को पर्सोना अर्थात् मुखौटा के स्थान पर गुणों के समुच्चय के रूप में मान्यता दो।[६०] इस तत्त्व को न समझने की वजह से ही व्यक्तित्व का मूल्यांकन सामान्यतया शरीर की सुडौलता, सुन्दर चेहरे से किया जाता है, पर यह मान्यता भ्रान्ति युक्त है।[६१] इस भ्रान्ति का निराकरण करते हुए उन्होंने बताया- यदि व्यक्तित्व का मापदण्ड शरीर संरचना को माना जाय, तब तो पहलवान और जंगलों में रहने वाले कबीले के लोग ही भारी-भरकम व्यक्तित्व वाले साबित होंगे।[६२] यदि मानदण्ड वेशभूषा रहे, तब तो सर्वथा नग्न रहने वाले महावीर, लंगोटीधारी ऋषि दयानन्द को व्यक्तित्वहीन कहना पड़ेगा। वस्तुतः अन्तःकरण की उत्कृष्टता ही व्यक्तित्व का वास्तविक मापदण्ड है।[६३] इसी के आधार पर उन्होंने व्यक्तित्व के तीन वर्ग किए, पहले में औसत व्यक्ति, दूसरे में मनोरोगी, तीसरे में महामानवों को रखा।[६४]

◆ व्यक्तित्व की चिकित्सा

आत्मा के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में अवरोध कितना है, व्यक्तित्व का स्तर उसी के अनुरूप होता है। औसत व्यक्ति में यह सौन्दर्य थोड़े बहुत अर्थों में प्रकट होता रहता है। इस प्रकटीकरण के अवरोधों में जैसे-जैसे बढ़ोत्तरी होती जाती है। व्यक्तित्व रोगी होता जाता है। मनोरोग और कुछ नहीं कुचली-मसली रौंदी गई भावनाएँ हैं।[६५] वह कारण अर्थात कालिमा है, जिसकी वजह से अन्तरात्मा का प्रकाश प्रवाह अवरुद्ध प्राय हो गया।

यदि इन अवरोधों को हटा दिया जाय तो व्यक्तित्व सर्वांगीण बन सकता है। जिस क्रम में ये अवरोध हटते जाते हैं। व्यक्तित्व सर्वांग सुन्दर बनता जाता है। इन अवरोधों को हटाने की साधना व्यक्तित्व की चिकित्सा है। इसमें रोगी की नहीं चिकित्सक की कुशलता लाभप्रद होती है। चिकित्सक अर्थात् गुरु। ...साधना का अर्थ जप, ध्यान, प्राणायाम, आसन नहीं है, जैसा कि प्रचलित अर्थ में समझा जाता है। ये तो व्यक्तित्व के चिकित्सा शास्त्र जिसे अध्यात्म कहते हैं, उसमें वर्णित कुछ औषधियाँ हैं। ...जिस तरह से रोगी अपने लिए औषधि का चुनाव नहीं कर सकता, उसी तरह साधक से साधना पद्धतियों का अन्वेषण सम्भव नहीं।[६६] चिकित्सक वही होगा जो मनुष्य प्रकृति का पूर्ण जानकार हो। उसकी संरचना क्रिया पद्धति में निष्णात हो। जिसे विकृति की क्रिया और उसके स्थान की भली प्रकार जानकारी हो। इन सबके बिना तो 'नीम हकीम खतरे जान' वाली उक्ति ही चरितार्थ होगी। शरीर शास्त्री सिर्फ शारीरिक गतिविधियों की जानकारी भर रखते हैं। फिर भी उन्होने भ्रम पाल रखा है कि मन भी शरीर का ही एक टुकड़ा है। रही मनोचिकित्सकों की बात तो उनके अध्यवसाय से इनकार नहीं किया जा सकता। पर अपने अधूरेपन को वह स्वयं स्वीकारने लगा है। मन तो मानव चेतना का एक छोटा सा हिस्सा भर है। समग्र की जानकारी प्रवीणता हासिल किए बगैर क्या उसके एक अंग को सुधारा जा सकता है ?[६७] मनोविज्ञान की पूर्णता और अध्यात्म की वैज्ञानिकता इसी बिन्दु पर आकर मिलती है।[६८]

◆ व्यक्तित्व की परतें

जिस प्रकार प्याज की गांठ में एक के बाद एक पर्त निकलते हैं, जिस प्रकार केले के तने को खोलने पर उसमें एक के भीतर एक कलेवर लिपटे हुए हैं। उसी तरह जीवात्मा (व्यक्ति) के ऊपर भी एक के बाद एक क्रमशः पांच आवरण हैं। इनमें सबसे ऊपर दिखाई देने वाले का नाम है अन्नमय कोश। अन्नमय कोश का अर्थ है

---

६०. आचार्य श्रीराम शर्मा- आत्मा वा अरे ज्ञातव्यः, पृ. ४४
६१. मनश्चिकित्सक के रूप में पूज्य आचार्य श्री, अखण्ड ज्योति, अंक ५३, अंक १०, पृ. ५१
६२. आचार्य श्रीराम शर्मा- व्यक्तित्व के विकास का उद्गम केन्द्र, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५०, अंक ६, पृ. २०
६३. आचार्य श्रीराम शर्मा- कैसे होते हैं व्यक्तित्व सम्पन्न महामानव, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५४, अंक ११, पृ. ३१
६४. मनश्चिकित्सर्क के रूप में पूज्य आचार्य श्री, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक १०, पृ. ५१
६५. वही,
६६. वही, पृ. ५०
६७. आचार्य श्रीराम शर्मा- सिद्धि का रहस्य, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ७, पृ. २८
६८. मनःचिकित्सक के रूप में पूज्य आचार्य श्री, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक १२, पृ. ४९

इन्द्रिय चेतना, प्राणमय कोश अर्थात् जीवनी शक्ति, मनोमय कोश अर्थात् विचारशीलता विवेक बुद्धि, विज्ञानमय कोश अर्थात भाव प्रवाह, आनन्दमय कोश अर्थात् आत्म बोध-आत्म स्वरूप में स्थिति। यह पांच चेतना स्तर हैं।"[69]

व्यक्तित्व की इन परतों का विकास जिस स्तर तक हुआ है। जीवन का वैभव भी उस अनुपात में निखरता है। जिनका विकास सिर्फ अन्नमय कोश तक हुआ है। वे अपने को परिस्थितियों के प्रवाह में जिस तिस दिशा में उड़ने वाला तिनका भर मानते हैं। उनकी अन्तःचेतना कोई ऊँची प्रेरणा या दिशा नहीं देती। वे इन्द्रिय उत्तेजना से ही प्रेरित होकर विविध कर्म करते हैं। ...सुख की परिभाषा स्वादिष्ट भोजन, कामोपभोग, श्रम से बचने की सुविधा आदि में जिनकी आवश्यकता इच्छा एवं प्रसन्नता सीमित है, उन्हें इसी वर्ग का कह सकते हैं।

प्राणमय कोश की क्षमता जीवनी शक्ति के रूप में प्रकट होती है। जीवित रहने की सुदृढ़ और सुस्थिर इच्छा शक्ति के रूप में उसे देखा जा सकता है। स्वस्थ सुदृढ़ और दीर्घ जीवन का लाभ शरीर को इसी आधार पर मिलता है। मनोमय कोश का अर्थ है-विचार शीलता, विवेक बुद्धि। यह तत्त्व जिसमें जितना सजग होगा, उसे उसी स्तर का मनस्वी या मनोबल सम्पन्न कहा जाएगा। विज्ञानमय कोश को सामान्य भाषा में भावना प्रवाह कह सकते हैं। यह चेतना की गहराई में अवस्थित अन्तःकरण से सम्बन्धित है। विचार शक्ति से भाव शक्ति कहीं गहरी है, साथ ही उसकी क्षमता एवं प्रेरणा भी अत्यधिक सशक्त है। मनुष्य विचारशील भी नहीं, संवेदनशील भी है। विज्ञान मय कोश की सन्तुलित साधना मनुष्य को दयालु, उदार, सज्जन, सहृदय, संयमी एवं शालीन बनाती हैं। ऐसे व्यक्तियों की आत्म भावना सुविस्तृत होते-होते अतीव व्यापक बन जाती है। आनन्दमय कोश का विकास यह देखकर परखा जा सकता है कि मनुष्य उद्विग्न क्षुब्ध, चिन्तित, खिन्न, रुष्ट असन्तुष्ट रहता है अथवा हंसती, मुस्कराती, हल्की-फुल्की, सुखी-सन्तुष्ट जिन्दगी जीता है। "मोटी मान्यता यह है कि वस्तुओं, व्यक्तियों, परिस्थितियों के कारण मनुष्य सुखी-दुखी रहते हैं। पर गहराई से विचार करने पर यह मान्यता सर्वथा निरर्थक सिद्ध होती है। एक ही बात पर सोचने के अनेकों दृष्टिकोण होते हैं। सोचने का तरीका किस स्तर का अपनाया गया है यही है मनुष्य के खिन्न अथवा प्रसन्न रहने का कारण। अपने स्वरूप का संसार की वास्तविकता का बोध होने पर सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है।"[70]

◆ मन की बातें

व्यक्तित्व की जिस गहरी परत से प्रायः सब का सहज परिचय है, वह है मन। पश्चिमी जगत् में मन की गहराइयों को समझने का श्रेय फ्रायड को मिला है। फ्रायड के अनुसार अचेतन गतिशील और आदिम है तथा शैशव के अनुभवों और प्रवृत्तियों से पूर्ण है। वह दमित इच्छाओं और स्मृतियों का भण्डार है। मानव में बर्बर, बालक और पशु का प्रतिनिधि है। युंग ने इसे और भी विस्तृत अचेतन प्रदेश की खोज की है। उनके अनुसार इस अचेतन में सभी अचेतन चैत्य क्रियाएँ शामिल हैं। यह व्यक्तिगत और सामूहिक भी। व्यक्तिगत अचेतन में फ्रायड के अधोचेतन और अचेतन समाए हैं। सामूहिक अचेतन में मूल प्रवृत्तियाँ आदिम विचार और प्रतीक हैं।

आचार्य जी के अनुसार पश्चिम ने मन को दो भागों में बांटा है-बहिर्मन (चेतन मन) -अन्तर्मन (अचेतन मन)। परन्तु भारतीय मनोवैज्ञानिक चार भाग करते हैं, मन, बुद्धि, चित्त, अहं। ...जगते समय हम संकल्प करते हैं और उसके अनुसार काम करे या न करे यह निर्णय भी करते हैं। पश्चिम ने इन दोनों को बहिर्मन का काम माना है। पर भारतीय मानते हैं कि संकल्प करना मन का काम है और निर्णय करना बुद्धि का। अन्तर्मन को भारतीय चित्त कहते हैं। उसकी व्याख्या और कार्य की मान्यता में कोई मतभेद नहीं। वह संस्कारात्मक स्मृतियों का भण्डार है। सपने में वही कार्यरत होता है। परन्तु उसमें कोई निर्णय की शक्ति न होने से स्वप्नों में कोई क्रम, कोई ठीक व्यवस्था नहीं रहती। स्वप्न में ऊंट के धड़ पर बकरी का सिर इसी अव्यवस्था की उपज है। ...सामान्य अवस्था में

---

६९. आचार्य श्रीराम शर्मा- महामानवों की ढलाई करने वाला उच्चस्तरीय मनोविज्ञान, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५४, अंक १२, पृ. २४
७०. आचार्य श्रीराम शर्मा- पंचमुखी गायत्री - पंच कोशों की साधना, युग साधना गायत्री, वर्ष १६, अंक, ३, पृ. ४२

बहिर्मन और निर्णायक मन (बुद्धि) सो जाते हैं। अन्तर्मन भी सो जाय तो प्रगाढ़ निद्रा आएगी। अन्तर्मन जागता रहे तो स्वप्न दीखेंगे। परन्तु किसी कारण केवल बहिर्मन सो जाय और अन्तर्मन के साथ निर्णायक मन (बुद्धि) भी जागता रहे तो मनुष्य जाग्रत् के समान व्यवस्थित रूप से काम करने लगेगा। अहं को समझना कठिन है। जब कोई समाधि लगा लेता है तब हृदय की गति और खून का प्रवाह तक बन्द हो जाता है। समाधि का अर्थ है मन के सभी कार्यालय को बन्द कर देना। शरीर का अन्तर्हित संचालन मन के द्वारा ही होता है। मन के इस संचालक भाग को, जो गहरी नींद में सदा जागता रहता है, अहं कहते हैं।"[71]

◆ समष्टि मन

मन यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग होता है। परन्तु सब मनों को अपने आप में समेटने वाला विपुल ब्रह्माण्ड व्यापी समष्टि मन भी है। इसी की संचालक है वैश्व चेतना जो प्रत्येक व्यक्ति को समय-समय पर संकेतों द्वारा जीवनोद्देश्य बताती है।"[72]

◆ स्वप्नों के झरोखे

स्वप्नों के माध्यम से तीन चीजें उजागर होती हैं, वर्तमान चिन्तन, गहरे पड़े भले-बुरे संस्कार और मनोभूमि की उर्वर या बंजर स्थिति। यही तीन भिन्न रूपों, झांकियों के माध्यम से स्वप्नों के झरोखे प्रकट होते, अपनी झलक दिखाते रहते हैं। ...आन्तरिक चेतना की एक और खूबसूरती है, विचारों को आकार का रूप देना। मान लीजिए किसी व्यक्ति के मन में किसी रोगी की सेवा करने का विचार आया तो वह स्वप्न में अपने को रोगी की सेवा करते हुए देखेगा। विचार ऊपरी सतह पर होते हैं और संस्कार गहराइयों में। यही कारण है स्वप्नों में इनका आकारों के रूप में उभरना कहीं अधिक अस्पष्ट प्रतीकात्मक धुंधला यहाँ तक कि कभी-कभी बेतुका सा लगता है। ...इस बारीकी को न समझ पाने के कारण मनोविज्ञान के आचार्य सिगमण्ड फ्रायड सारे स्वप्नों को दमित वासनाओं का उभरना मान बैठे।"[73] वह अपनी किताब 'इन्टरप्रिटेशन ऑफ ड्रीम्स' में कहते हैं कि हमारी वे सभी इच्छाएं अथवा मनोकामनाएँ जिनकी तृप्ति जगने की हालत में नहीं हो पाती। मन की गहराइयों में चली जाती हैं। सामाजिक मर्यादाओं अथवा साधनों के अभाव के कारण इनकी पूर्ति साधारण ढंग से नहीं हो पाती। फलतः ये नष्ट न होकर गहरे में चली जाती हैं और स्वप्नों के माध्यम से अपना प्रदर्शन करती रहती हैं।

फ्रायड के इस कथन में सच्चाई तो है पर थोड़ी। उसी की बेटी अन्ना फ्रायड और शिष्य एडलर ने बात साफ की है। इन दोनों के अनुसार वह मनोरोगियों, अपराधियों की मनोदशा का अध्ययन करते रहने की वजह से मन के गंदले कोने को बार-बार देखते-झांकने के कारण समूचे मन को गंदला समझने की भूल कर बैठे। कुछ भी हो भूल तो भूल ही है, इसे संभालना-संवारना ही उचित है।"[74]

आचार्य जी के अनुसार- "कुछ सपने ऐसे होते हैं, जिनमें किन्हीं लोगों के भविष्य में घटित होने वाली अनेक घटनाओं के पूर्व संदेश इतने सच्चे निकलते हैं मानों वह सब कुछ अदृश्य जगत् में कहीं पहले ही सृजित हो चुके हों। वैज्ञानिकों के पास तो अभी इसका कोई उत्तर नहीं। परन्तु भारतीय आर्षग्रन्थों जैसे- अथर्ववेद, दैवज्ञ कल्पद्रुम, सुश्रुत संहिता, अग्नि पुराण आदि में इसका विस्तृत उल्लेख है। उसके अनुसार अचेतन का सम्बन्ध विराट् चेतना से रहता है। अतः घटित अघटित घटनाओं का विवरण शीशे में पड़ने वाले दृश्यों की तरह उस पर अंकित होता रहता है। और यदाकदा उसके संकेत सपनों के माध्यम से मिलते रहते हैं। उपनिषदों के अनुसार मन जिस भी क्षण आत्मा से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, उसे भूत, भविष्य और वर्तमान की काल, सीमा और स्थान की मर्यादा से बाहर की घटनाएँ एवं वस्तुएँ दीखने लगती हैं।"[75]

---

७१. वही, पृ. ४२-४३-४४
७२. आचार्य श्रीराम शर्मा- उठो यह समय सोने का नहीं है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक ७, पृ. २२
७३. आचार्य श्रीराम शर्मा- उठो यह समय सोने का नहीं है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक ७, पृ. २२
७४. आचार्य श्रीराम शर्मा- चेतना की परतें व उनका रहस्योद्घाटन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक २, पृ. ४५
७५. आचार्य श्रीराम शर्मा- स्वप्न संकेतों से प्रेरणा लें, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५२, अंक २, पृ. २२

स्वप्न मानव जीवन की एक महत्त्वपूर्ण अवस्था है। यदि मन शुद्ध, सात्विक, निर्मल और परिष्कृत हो तो सूक्ष्म जगत के स्पन्दनों को पकड़ने में वह उतना ही सक्षम होगा। इसके लिए जहाँ तक सम्भव हो चेतन मन को वासनाओं, तृष्णाओं और अनावश्यक कुकल्पनाओं से बचाया जाना चाहिए। जिससे अतृप्त आकांक्षाएँ अचेतन में जाकर डेरा न डाल सकें। चिन्तन, मनन, विचार, व्यवहार में सरलता-उत्कृष्टता का समावेश होने पर जीवन भी परिष्कृत बनेगा, साथ ही मन भी अनगढ़ और कुसंस्कारी न रह सकेगा। अध्यात्म उपचारों का अवलम्बन इसमें सर्वोत्तम परिणाम प्रस्तुत करता है।[७६]

साधना से एक विशेष दिशा में मनोभूमि का निर्माण होता है। श्रद्धा, विश्वास तथा साधना विधि की कार्य प्रणाली के अनुसार आन्तरिक क्रियाएँ उसी दिशा में प्रवाहित होने लगती हैं, जिससे मन, बुद्धि और चित्त, अहंकार का चतुष्टय वैसा ही रूप धारण करने लगता है। भावनाओं के संस्कार अन्तर्मन की गहराई में प्रवेश कर जाते हैं। गायत्री साधक की मानसिक गतिविधि में आध्यात्मिक एवं सात्विकता का प्रमुख स्थान बन जाता है। इसलिए जाग्रत् अवस्था की भाँति स्वप्नावस्था में भी उसकी क्रियाशीलता सारगर्भित ही होती है। उसे प्रायः सार्थक स्वप्न ही आते हैं।[७७]

साधकों के सार्थक स्वप्नों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है- १. पूर्व संचित कुसंस्कारों का निष्कासन, २. श्रेष्ठ तत्त्वों की स्थापना का प्रकटीकरण, ३.किसी भी भविष्य संभावना का पूर्वाभास, ४. दिव्य दर्शन। इन चार श्रेणी के अन्तर्गत विविध प्रकार के सभी सार्थक स्वप्न आ जाते हैं।[७८] कुसंस्कारों को नष्ट करने वाले स्वप्न पूर्व संचित कुसंस्कारों के निष्कासन में इसलिए होते हैं कि गायत्री साधना द्वारा आध्यात्मिक नए तत्त्वों की वृद्धि साधक के अन्तःकरण में हो जाती है। जहाँ एक वस्तु रखी जाती है, वहाँ से दूसरी को हटाना पड़ता है। इसी प्रकार कुसंस्कार भी मानस लोक से प्रयाण करते समय मस्तिष्कीय तन्तुओं पर आघात करते हैं। और उन आघातों की प्रतिक्रिया स्वरूप जो विक्षोभ उत्पन्न होता है, उसे स्वप्नावस्था में भयंकर अस्वाभाविक अनिष्ट एवं उपद्रव के रूप में देखा जाता है। दबी हुई वृतियां गायत्री की साधना करने के कारण उखड़कर अपना स्थान खाली करती हैं। इसलिए परिवर्तन काल में वे अपने गुप्त रूप को प्रकट करती हुई विदा होती हैं। तदनुसार साधना काल में प्रायः इस प्रकार के स्वप्न आते हैं। किसी मृत प्रेमी का दर्शन, सुन्दर दृश्यों का अवलोकन, स्त्रियों से मिलना-जुलना आदि की घटनाओं के स्वप्न भी विशेष रूप से दिखाई देते हैं। इनका अर्थ है अनेकों दबी हुई तृष्णाएँ धीरे-धीरे करके विदाई की तैयारी कर रही हैं।[७९]

दूसरी श्रेणी के स्वप्न वे होते हैं, जिनसे इस बात का पता चलता है कि अपने अन्दर सात्विकता की मात्रा में लगातार अभिवृद्धि हो रही है। सतोगुणी कार्यो को स्वयं करने या किसी अन्य के द्वारा होते हुए स्वप्न ऐसा ही परिचय देते हैं। तीसरे प्रकार के स्वप्न भविष्य में घटित होने वाली किन्हीं घटनाओं की ओर संकेत करते हैं। कभी-कभी अस्पष्ट और उलझे हुए ऐसे दृश्य दिखाई देते हैं। जिनसे मालूम होता है कि भविष्य में होने वाले किसी लाभ या हानि के संकेत हैं, पर स्पष्ट रूप से नहीं विदित हो पाता कि इनका वास्तविक तात्पर्य क्या है ? ऐसे उलझन भरे स्वप्नों के कारण होते हैं १. भविष्य का विधान प्रारब्ध कर्मों से बनता है, पर वर्तमान कर्मों से उस विधान. में हेर-फेर हो सकता है। कोई पूर्व निधारित विधि का विधान साधक के वर्तमान कर्मों के कारण कुछ परिवर्तित हो जाता है, तो उसका निश्चित और स्पष्ट रूप दिखाकर अनिश्चित और अस्पष्ट हो जाता है। तदनुसार स्वप्न में उलझी हुई बात दिखाई पड़ती है। २. कुछ भावी विधान ऐसे हैं, जो नए कर्मों के नई परिस्थिति के अनुसार बनते और परिवर्तित होते रहते हैं। पूर्ण रूप से उसकी स्पष्टता नहीं हो पाती, तब तक उसका पूर्वाभास साधक को मिले तो वह एकांगी व अपूर्ण होता है। ३. अपनेपन

---

७६. वही, पृ २३
७७. आचार्य श्रीराम शर्मा- गायत्री महाविज्ञान, भाग १, पृ. २४१-२४२
७८. वही, पृ. २४२-२४३,
७९. वही, पृ. २४३-२४४-२४५

की सीमा जितने क्षेत्र में होती है, वह व्यक्ति के 'अहम्' की एक आध्यात्मिक इकाई होती है। इतने विस्तृत क्षेत्र का भविष्य उसका अपना भविष्य बन जाता है। भविष्य सूचक स्वप्न इस 'अहम्' की सीमा क्षेत्र तक अपने को दिखाई पड़ सकते हैं। इसलिए ऐसा भी हो सकता है कि जो सन्देश स्वप्न में मिला है वह अपनेपन की मर्यादा में आने वाले किसी कुटुम्बी, पड़ोसी, रिश्तेदार या मित्र के लिए हो। ४. साधक की मनोभूमि पूर्ण रूप से निर्मल न हो गई हो तो आकाश के सूक्ष्म अन्तराल में बहने वाले तथ्य अधूरे या रूपान्तरित होकर दिखाई पड़ते हैं।

स्वप्न केवल रात्रि में या निद्राग्रस्त होने पर ही नहीं आते। वे जाग्रत् अवस्था में भी आते हैं। जाग्रत् अवस्था में साधक के मनोलोक में नाना प्रकार की विचारधाराएँ और कल्पनाएँ घुड़दौड़ मचाती हैं। यह भी तीन प्रकार की होती हैं, पूर्व संस्कारों के निष्कासन, श्रेष्ठ तत्त्वों के प्रकटीकरण तथा भविष्य की सूचना देने के लिए मस्तिष्क में विविध प्रकार के विचार, भाव एवं कल्पना चित्र आते हैं। जो फल निद्रित स्वप्नों का होता है, वही जाग्रत् स्वप्नों का होता है। कभी-कभी जाग्रत् अवस्था में कोई चमत्कारी, दैवी, अलौकिक दृश्य किसी-किसी को दिखाई दे जाते हैं। कई मनुष्यों के अन्तःकरण में एक प्रकार की आकाशवाणी सी होती है और वह कई बार इतनी सच्ची निकलती है कि आश्चर्य से दंग रह जाना पड़ता है।[80] इस तरह आचार्य जी का स्वप्न विज्ञान, उनके द्वारा स्पष्ट की गई व्यक्तित्व की परतों के अनुरूप ही व्यापक और समग्र है। स्वप्नों में आत्म निरीक्षण और जागरण में आत्म सुधार का क्रम चल पड़े तो, व्यक्तित्व में काया पलट होते देर नहीं लगेगी।[81]

◆ अतीन्द्रिय बोध

मनुष्य की अतीन्द्रिय सम्भावनाओं को स्वीकारते हुए सर ओलीवर लॉज ने कहा था- कि निकट भविष्य में विज्ञान पदार्थ की दुनिया आत्मा की दुनिया में प्रवेश कर जाएगा। फ्रायड भले कुछ समय तक अतीन्द्रिय क्षमताओं को मानने से हिचकिचाते रहे हों, पर बाद के दिनों में उन्होंने टेलीपैथी के सत्य को स्वीकार किया। लेकिन अब तो ई.एस.पी. (अतीन्द्रिय क्षमताओं) की वैज्ञानिकता प्रतिष्ठापित हो चुकी है। राइन और दूसरे परामनोवैज्ञानिकों ने इस क्षेत्र में शोध करके पर्याप्त तथ्य आधुनिक मनोविज्ञान को देने में सफलता प्राप्त की है।[82] अतीन्द्रिय बोध को स्वीकार करने के बावजूद परामनोवैज्ञानिक उन तकनीकों, उस विज्ञान को खोजने, विकसित करने में असमर्थ रहे हैं, जो किसी सर्वमान्य को अतीन्द्रिय क्षमता सम्पन्न बना दे। आचार्य जी के सर्वांग मनोविज्ञान का वैशिष्ट्य है- अतीन्द्रिय बोध की समर्थ प्रणाली का विकास। इसकी वैज्ञानिकता का प्रकटीकरण। उनके शब्दों में- "अतीन्द्रिय सामर्थ्य एक तथ्यपूर्ण सत्य है। योग साधनाओं के द्वारा आत्मशोधन तथा आत्मपरिष्कार के माध्यम से उन्हें विकसित किया जाना सम्भव है। व्यष्टि मन द्वारा विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त परम चेतना से तादात्म्य स्थापित करना और अनेकों लौकिक समस्याओं का समाधान खोज लेना, कष्ट-कठिनाइयों की पूर्व सूचना प्राप्त कर लेना सम्भव है।"[83]

योगाभ्यास की प्रणालियाँ भले जटिल व रहस्यमय हों पर कुछ सुगम तरीके भी हैं, जिनके द्वारा सामान्य मन विशिष्ट क्षमताएँ अर्जित कर सकता है। उदाहरण के लिए कोई भी व्यक्ति यदि मन को क्षुद्र विषयों से हटाकर निरन्तर उच्चस्तरीय चिन्तन करना प्रारम्भ कर दे, तो लम्बे अभ्यास के बाद उसमें अन्तरिक्षीय हलचलों को ग्रहण करने की क्षमता विकसित होने लगती है। यदि यह सूक्ष्म हुआ मन संकीर्ण दायरों से उठकर विराट् का चिन्तन करने, उसमें स्वयं को समाहित करने की कोशिश करने लगे, तो उसमें अन्तरिक्षीय हलचलों को ग्रहण करने के साथ एक ऐसी समर्थता विकसित होती है, जिसके द्वारा

---

८०. वही, पृ. २४५-२४६-२४७

८१. आचार्य श्रीराम शर्मा- चेतना की परतें व उनका रहस्योद्घाटन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक २, पृ. ४६

८२. How ever the discovery of E.S.P. faculty is by now scientificaly established. The researches of *Rhine* and other para psychologist have presented such facts which are in explicale by modern psychology.
-I.P. Sachdeva- Yoga and depth Psychology, p. 176

८३. आचार्य श्रीराम शर्मा- मनोनिग्रह से सम्भव है अतीन्द्रिय क्षमताओं का विकास, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक ८, पृ ४३

वह, दूसरे के मन में प्रवेश करने दूर बैठे हुए किसी व्यक्ति के मन को प्रभावित करने, विचार सम्प्रेषित करने जैसी बातों को सहजता से कर सकता है।

मन को यदि अनावश्यक संग्रह और तुच्छ इन्द्रिय भोगों से विरत किया जा सके, ऊर्ध्वगामी बनाया जा सके तो वह ऐसी विलक्षण शक्ति से सम्पन्न हो सकता है जो साधारण लोगों को चमत्कृत कर सके। किन्तु उन्हें उच्चस्तरीय प्रयोजनों में लगाकर आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त किया जा सकता है। मन आकाश में भ्रमण कर सकता है। और उन घटनाओं को ग्रहण कर सकता है, जिन्हें हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर पाती तथा जिन्हें हमारा तर्क व्यक्त करने में असमर्थ है।[८४] अतीन्द्रिय मन में वे समस्त संभावनाएँ विद्यमान हैं, जिनका योगी तपस्वी तथा सिद्ध पुरुषों के चमत्कारों तथा सिद्धि साधनों के सन्दर्भ में वर्णन किया जाता है। जो उसे जाग्रत् कर लेते हैं वे उस अद्भुत का भी प्रत्यक्ष करते रहते हैं, जो साधारणतया असम्भव और अप्रत्याशित समझा जाता है।

◆ अन्तःकरण एवं पर्यावरण

आचार्य जी के मनोवैज्ञानिक शोध निष्कर्षों की सर्वाधिक महान् उपलब्धि है अन्तःकरण और पर्यावरण के घनिष्ठ सम्बन्धों का रहस्योद्घाटन। मनोविज्ञान के इतिहास में पहली बार उन्होने घोषित किया कि मानवी व्यक्तित्व मात्र जैविक एवं सामाजिक आयामों में ही नहीं सिमटा, उसका एक इकोलाजिक आयाम भी है। इसकी स्वाभाविक अभिन्नता के कारण इसके सुप्रभाव व कुप्रभाव भी अभिन्न ही होंगे।[८५] मानवीय व्यक्तित्व त्रिविध आधारों पर अवलम्बित हैं- भौतिक, जैविक, मानसिक। किन्तु मनीषी दार्शनिकों ने मानवीय श्रेष्ठता उसके व्यक्तित्व का सफलता का एक मात्र आधार मानसिक माना है, कहा है कि इसी धुरी के चारों ओर वैयक्तिक सामाजिक जीवन गतिशील होता है, जो विशिष्टता इस केन्द्र को सर्वाधिक आकर्षित करती है, वह हमारा अपना परिवेश पर्यावरण है। इस परिवेश में नदी, निर्झर, उपवन, वृक्ष, वनस्पतियाँ, पशु-पक्षी, विराट् ब्रह्माण्ड सभी आ जाते हैं।

आज मनुष्य ऐसी बिखराव की स्थिति में जी रहा है। कुछ अपने व्यक्तित्व की मणियों को बिखेर चुके हैं, कुछ बिखेर रहे हैं, कुछ बिखेरने वाले हैं। मानव अपनी इन अमूल्य मणियों को खोकर मनोशारीरिक रोगों, मनोविकारों से ग्रसित होता जा रहा है। इस तरह रोगियों की बढ़ती आ रही दर का कारण परिवेश-पर्यावरण में उत्पन्न की गई विकृतियाँ हैं।[८६] इस तत्त्व को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं। पर्यावरण के घटकों के साथ भावनात्मक सम्बन्धों की बात कहने भर से काम न चलेगा। इसके लिए एक ऐसी 'बिहेवियर थेरेपी' स्पष्टतया समझानी होगी, जिसके द्वारा मानव स्वयं अपनी प्रजाति तथा पर्यावरण के साथ बिगड़े सम्बन्धों को मधुर बना सके। पर्यावरण अनुकूलता या प्रतिकूलता हमारी भावनाओं में अनुकूल या प्रतिकूल परिवर्तन लाने वाली होती है। जहाँ का इकोसिस्टम ध्वस्त हो चुका है, जाने पर मन सहज ही विक्षुब्ध हो जाएगा, किन्तु किसी सुरम्य घाटी में जिसका इकोसिस्टम समृद्ध है, में जाने पर मन भी सहज प्रसन्न हो जाएगा। इसी मनोवैज्ञानिक घनिष्टता के कारण ही हिमालय को, उत्तराखण्ड को धरती के स्वर्ग के नाम से जाना जाता है।[८७]

मनोवैज्ञानिक शोध की गहराइयों में प्रवेश कर वह स्पष्ट करते हैं- "प्राच्य ऋषियों के अध्ययन में मनुष्य की परा प्रकृति (जीवसत्ता)" एवं अपरा प्रकृति के सूक्ष्म एवं स्थूल सम्बन्धों पर व्यापक चिन्तन करके प्रकृति के विकास क्रम को पूर्ण करके इससे ऊर्ध्व स्तरों पर आरोहण का निर्देश दिया गया है। पश्चिम का दार्शनिक चिन्तन ऊर्ध्व स्तरों की चर्चा न कर मात्र मानव तथा प्रकृति के सम्बन्धों को सूक्ष्म व स्थूल स्तर पर लेता है। जबकि आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन में इन सम्बन्धों का दायरा केवल स्थूल स्तर तक ही सिमट जाता है। अध्ययन के

८४. आचार्य श्रीराम शर्मा- मनोनिग्रह से सम्भव है अतीन्द्रिय क्षमताओं का विकास, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक ८, पृ. ४६
८५. आचार्य श्रीराम शर्मा- नैतिकी एवं परिस्थिति की परस्पर अन्योन्याश्रित, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अक ९, पृ. २७
८६. आचार्य श्रीराम शर्मा- मनुष्य पर्यावरण से जुड़े तो व्यक्तित्व का बिखराव रूके, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अक ११, पृ. ३६
८७. वही, पृ. ३७-३८

इस क्रम में प्राप्त तथ्यों पर विचार करने पर स्पष्ट होता है कि प्राच्य ऋषियों का उद्देश्य वाह्य प्रकृति से अन्त:प्रकृति में प्रवेश कर तथा उसे पाकर आनन्द पाना था। पश्चिमी दार्शनिकों में से अधिकांश का लक्ष्य वाह्य प्रकृति के साथ अन्त: प्रकृति का सम्बन्ध स्थापित कर अन्तरंग में रमण कर सुख की प्राप्ति था। जबकि आज वैज्ञानिक चिन्तन में यह लक्ष्य वाह्य प्रकृति से अधिकाधिक उपलब्ध कर मात्र उसका उपभोग करना रह गया है।[८८] वैज्ञानिक चिन्तन में इस तत्त्व को पूरी तरह भुला दिया गया, कि पर्यावरण में विघटन का तात्पर्य है अन्त:करण में विघटन। इस विघटन को मनोविद फ्रस्टेशन का नाम देते हैं। पर्यावरण के विघटन के कारण हुआ अन्त:करण का विघटन अपनी अभिव्यक्ति विविध रूपों में कर सकता है। प्रथम तो यह कि अन्त:करण के विघटन का ज्वालामुखी व्यक्ति के अन्त:करण को नष्ट करने के साथ बाहर उभर कर दूसरों को चपेट में ले ले। हिंसा आदि की अधिकांश घटनाएँ प्राय: उपरोक्त कारण की उपज होती हैं।

द्वितीय यह कि इस विघटन में व्यक्ति अन्दर ही अन्दर घुटता हुआ, अपने को नष्ट करता रहे। व्यवहार विज्ञानियों का मानना है कि ऐसा व्यक्ति हिंसा भले न करे किन्तु वह पारिवारिक व सामाजिक स्तर पर टूटने के साथ स्वयं अपने से भी टूट जाता है। इन दोनों में कौन-सा प्रकार किस व्यक्ति में कैसे, कब घटित होता है ? वह व्यक्ति की अन्त:करण की संरचना तथा निकटस्थ पर्यावरण के विघटन की स्थिति पर निर्भर करता है। संक्रामक रोग की तरह जनमानस में फैल रहा विघटन फ्रायड द्वारा बताई गई कामुक वासनाओं के दमन के कारण नहीं, अपितु पर्यावरण तथा अन्त:करण के सम्बन्धों को विस्मृत करने तथा पर्यावरण में विघटन उत्पन्न करने के कारण है।[८९] उन्मादग्रस्त मन:स्थिति की विडम्बना से मुक्ति पानी है तो उन मधुर सम्बन्धों को पुन: स्थापित करना होगा, जो मानवी अन्त:करण, मानव शरीर को उसके चहुँ ओर के पर्यावरण से जोड़ते हैं। इन सूत्रों के जुड़ जाने से व्यक्तित्व का बिखराव रुकेगा तथा एक तनाव रहित प्रगतिशील मानव जाति विकसित होगी।[९०]

◆ सुपर चेतन

मानव जाति की प्रगतिशीलता व विकास की प्रेरणाओं का स्रोत क्या है ? इस सवाल के समाधान के लिए मनोविश्लेषणवादी अचेतन से व्याख्याएँ करते हैं। उनके अनुसार उत्कृष्ट, निकृष्ट सभी तरह के व्यवहारों का मूल स्रोत यही अचेतन है। इनके मुताबिक धर्म, कला, साहित्य गुह्य व्यवहार और मानव जीवन की समस्त उच्च क्रियाएँ दमित वासनाओं से ही पैदा होती हैं। फ्रायड के शब्दों में- धर्म शैशव के पिता के प्रति आग्रह की सन्तुष्टि है, जो कि पिता विरोधी गांठ (Oedipus Complex) एवं प्राचीन काल में पिता के वध के अपराध की चेतना में उत्पन्न होता है। कला यौन वासनाओं के दमन का परिणाम-है। सभ्यता तथा संस्कृति आदर्श चिह्नों और निषेधों की बनावटी व्यवस्था है। एडलर की हर व्याख्या अधिकार की प्रेरणा व क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त से प्रेरित है। युंग की व्याख्या का स्रोत जातीय अचेतन है।

यहाँ मनोविश्लेषणवादियों के प्रयास और योगदान को नकारने की कोशिश नहीं है। बल्कि इनकी अपूर्णताओं को पूर्णता में बदलना तथा एकांगिता को सर्वांगीणता का सौन्दर्य प्रदान करना वांछित है। उच्च और निम्न क्रियाएँ एक ही प्रेरक स्रोत की उपज नहीं है। कामुकता और ईश्वर भक्ति फ्रायड को भले समान लगें, पर मानवीय चेतना के मर्मज्ञों के लिए दो अत्याधिक भिन्न प्रक्रियाएँ है। मनोविश्लेषणवादियों के विपरीत आचार्य जी ने कला, धार्मिक एवं गुह्य अनुभवों, साहित्य, काव्य आदि का प्रेरणा स्रोत सुपर चेतन को माना है।

उनके अनुसार- मन:संस्थान की इस सबसे गहरी परत को सुपर चेतन कहा गया है। सुपर इसलिए कि उसकी मूल प्रवृत्ति उत्कृष्टता से ही भरपूर है। उसे यदि अपने वास्तविक स्वरूप में रहने दिया जाय, अवांछनीयताओं के घेरे में जकड़ा जाय तो वहाँ से अनायास

८८. आचार्य श्रीराम शर्मा- परस्पर जुड़े हुए हैं अन्त:करण एवं पर्यावरण, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५२, अंक १, पृ. २३
८९. आचार्य श्रीराम शर्मा- परस्पर जुड़े हुए हैं अन्त:करण एवं पर्यावरण, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५२, अंक १, पृ. २४
९०. आचार्य श्रीराम शर्मा- मनुष्य पर्यावरण से जुड़े तो व्यक्तित्व का बिखराव रुके, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक ११, पृ ३८

ही ऊँचे उठने, आगे बढ़ने की ऐसी प्रेरणाएँ मिलेंगी, जिन्हें आदर्शवादी या उच्चस्तरीय कहा जा सके। प्रकारान्तर से सुपर चेतन को ईश्वरीय चेतना का प्रतीक प्रतिनिधि माना जा सकता है।[11] उच्च चेतन पर शरीर एवं व्यक्तित्व का अतिसूक्ष्म एवं उच्चस्तरीय भाग है। ज्ञानेन्द्रियों और तर्क बुद्धि से जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं उससे भी कहीं *अधिक महत्त्वपूर्ण समाधान सुपर चेतन मन की सहायता* से मिल जाता है। इस तंत्र के उजागर कर लेने का अर्थ है, एक ऐसे देवता को साथ पा लेना, जो उपयोगी सलाह *ही नहीं देता। वरन् महत्वपूर्ण सहायता भी करता है।*[12] श्रेष्ठता की भावना का उद्‌भव ही मानवी विकास का सही अर्थों में कारण बनता है। ऐसी सम्भावनाएँ सुपर चेतन से ही समय-समय पर निःसृत होती रहती हैं। जिसे अधिकांश व्यक्ति प्रायः अनसुनी कर देते हैं। फलतः व्यक्तित्व विकास की सम्भावनाएँ धूमिल पड़ी रहती हैं।[13] यदि ये उच्चस्तरीय प्रेरणाएँ जीवन में सक्रिय हो सके तो व्यक्तित्व के पूर्ण होते, समग्र, सर्वांगीण बनते देर नहीं।

❖ सर्वांगीण व्यक्तित्व अर्थात् ब्राह्मणत्व

व्यक्तित्व विकास इस समय जिन्दगी की सबसे गहरी जरूरत बन गई है। इसकी अवहेलना, अवमानना करने वाले तो आज हर कहीं पिछड़े-उपेक्षित समझे जाते हैं। जिन्दगी के हर किसी क्षेत्र में उन्हें प्रवेश निषेध की तख्ती का सामना करना पड़ता है। यों इस बारे में हर कोई अपने-अपने ढंग से कोशिश करता है, किन्तु यह प्रक्रिया कहाँ अपनी पूर्णता प्राप्त करती है, इसका सांगोपांग विधान क्या है? इसे जानने वाले विरल हैं। प्राच्य मनोविज्ञान ने इसकी पूर्णता को 'ब्राह्मणत्व' नाम दिया है। ब्राह्मण होने की साधना व्यक्तित्व के परिष्कार, परिमार्जन एवं विकास की पूर्णता को पाने की साधना है।

ब्राह्मण शब्द सम्भव है, अनेकों को भ्रम में डाल दे। भ्रम का यह उद्दीपन गलत अवधारणा का परिणाम है। यदि अवधारणा सही होती तो वैदिक वाङ्मय के पारिभाषिक शब्दों का सम्यक् ज्ञान होने पर इन विवादों का कोई फेर न पड़ता। प्राच्यविद् आई. ए. रोजेट ने भी अपनी रचना 'वैदिक इण्डिया' में इस तथ्य का स्वीकरण किया है। उनके अनुसार यह शब्द जाति, कुल, गोत्र, रूप, रंग का द्योतक न होकर एक मनोवैज्ञानिक अवस्था का द्योतक है। इसका ठीक-ठीक समानार्थी शब्द जब यहाँ के प्राचीन-अर्वाचीन चिन्तन में नहीं है, तब पश्चिम के रीते कोश से कुछ *आशा करना व्यर्थ है।*

वैसे भी पश्चिमी मनोविज्ञान के ज्यादातर रोगियों की छान-बीन की है। बीमार, भग्न मानसिकता इन विचारकों के कार्य की सीमा रेखा बन गई। स्वस्थ लोगों *के अभाव में उनकी सारी खोजें रोग अध्ययन पर आधारित* है और एक स्वस्थ व्यक्ति नितान्त अलग होता है, अस्वस्थ व्यक्ति से। फ्रायड का कभी सामना नहीं पड़ा स्वस्थ व्यक्तित्व से। *पड़ता भी कैसे? सही सलामत आदमी* को क्या पड़ी है, वैद्य डाक्टर के पास जाने की। इसी कारण उसने समूचे व्यक्तित्व को मुख, गुदा, लिंग प्रधान, काम *प्रसुप्ति एवं जननांगीय अवस्थाओं में समेट दिया। यही* हाल उस जैसे अनेकों का है। इनका विवेचन करने से लगता है जैसे आदमी के जीवन में कामुकता के सिवाय *और कुछ बचा ही नहीं। लेकिन इस सिद्धान्त रचना में* उसकी गलती भी क्या? यदि मानसिक रूप से बीमार न हो तो उसे मनःचिकित्सक के पास जाने की क्यों सूझेगी? *यही कारण है कि फ्रायड, एडलर, जैनेव इस सभी ने* अपने सिद्धान्त की इमारत बीमार मन की जमीन पर खड़ी की थी। समग्रता के परिप्रेक्ष्य में देखने पर समूचा व्यक्तित्व परक अध्ययन तीन वर्गों में बँटा दीखता है। एक रोगात्मक, सारा पश्चिमी अध्ययन इसी खाने में समा जाता है। केवल अभी-अभी इधर कुछ सम्पूर्ण धारणाएँ मजबूती पकड़ती जा रही हैं जो कि स्वस्थ व्यक्ति के बारे में सोचती हैं। लेकिन वे एकदम आरम्भ पर ही हैं। पहले कदम भी नहीं उठाए गए। दूसरे प्रकार के अध्ययन वे जो स्वस्थ व्यक्ति के विषय में सोचते हैं स्वस्थ मन पर आधारित हैं। ये हैं पूरब के मनोविज्ञान- बौद्ध, पातंजलि,

---

११. आचार्य श्रीराम शर्मा- अन्तराल की सत्ता का परिवर्धन-परिष्कार, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक २, पृ. २५

१२. *आचार्य श्रीराम शर्मा- सामर्थ्य सम्पदा से भरा पूरा मानवी अन्तराल, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक ८, पृ. ६*

१३. वही,

झेन, सूफी, इन्होंने इस पर गहरी ढूँढ-खोज की है। इनकी मदद व्यक्तित्व विकास की पूर्णता पाने के लिए है।

फिर एक तीसरा प्रकार है, जिसे गुरजिएफ 'परम मनोविज्ञान' कहते हैं। इसकी दशा अविकसित है। इसमें विकास की पूर्णता पाए हुए व्यक्तित्वों का अध्ययन करने की चेष्टा है। श्री अरविन्द की पुस्तक 'सीक्रेट ऑफ द वेद' में वैदिक ऋषियों के इन प्रयासों पर संकेत है। उनका खुद का भी थोड़ा बहुत प्रयास है। ब्राह्मणत्व की साधना के चरम शिखर पर पहुँचने वाला कैसा होगा? यहीं पर उसकी एक झलक देखने को मिलती है।

स्वस्थ व्यक्तित्व की अगर बखूबी जाँच करें, उसकी विकास यात्रा के आरम्भिक बिन्दु की ओर देखें तो वह अवस्था है जड़ता की। एक तमस उनको घेरे रहता है। इस आवरण के कारण इनको न तो सोचने का मन करता है। और न कुछ करने का। चिन्तन और कर्म दोनों से विरति एक मात्र लक्षण है इनका। इसे तोड़ने आगे बढ़ने का उपाय सिर्फ एक है कठोर श्रम। श्रम का कुठार ही इस तमस की कारा को तोड़ने में सक्षम है। इस ओर प्रयत्न करने का मतलब है- ब्राह्मणत्व की ओर उन्मुख होना।

श्रम होगा तो अर्जन होगा। फिर शुरूआत भले शरीर करे, देरे-सबेर साथ तो मन को भी देना पड़ेगा। कर्म और चिन्तन इन दोनों पैरों में एक के बिना ब्राह्मणत्व की राह पर कैसे चला जा सकेगा। इस अर्जन की अवस्था में होता है- रजस का जागरण। कामनाओं, इच्छाओं का उदय, भावनाओं का अनियंत्रित बहाव, अतृप्ति की जलन का अहसास, इसी अवस्था की देन है। अर्जन का सदुपयोग अपने लिए नहीं औरों के लिए हो। पनपती विचारणा धीरे-धीरे व्यक्तित्व को उस धरातल पर ला खड़ा करती है, जहाँ वह अनेकों को संरक्षण देने लगता है।

पर जहाँ तक संरक्षण के साथ मार्गदर्शन का सवाल है, उसके लिए ऐसी अवस्था चाहिए जिसमें तम और रज पुरी तरह सन्तुलित हो। सही सन्तुलन सधने पर व्यक्ति अपने को जानता है। आज का मनोविज्ञान भी इस तथ्य से सहमत है। तभी उसने आत्म निरीक्षण को मनोवैज्ञानिक की अनिवार्य अवस्था बतलाया है। अपने को भली प्रकार जानने वाला, स्वयं के प्रकृति से, समाज से अपने सम्बन्ध को पहचानने वाला ही सही मार्गदर्शक हो सकता है।[१४] यही व्यक्तित्व विकास का उत्कर्ष है। इस अवस्था में व्यक्तित्व की सभी परतें पूरी तरह सक्रिय और जाग्रत् हो जाती हैं। व्यक्तित्व विकास की अपनी इसी निष्ठा की बदौलत क्षत्रिय विश्वामित्र, धीवर कन्या के पुत्र व्यास, दासी पुत्र सत्यकाम जाबाल ब्राह्मणत्व की परमावस्था पा सके। आज के जमाने में भी कायस्थ घराने में जन्म लेने वाले श्री अरविन्द, विवेकानन्द, वैश्य कुल में जन्म लेने वाले गांधी जैसे अनेको हैं, जिन्होंने अपनी व्यक्तित्व विकास की साधना द्वारा ब्राह्मणत्व उपलब्ध किया। विदेशों में यह नाम भले प्रचलित न हो, पर इसका मतलब यह नहीं कि वहाँ ब्राह्मण नहीं हुए। सुकरात, थोरो, इमर्सन, आइन्टीन सौ टंच खरे ब्राह्मण थे। ब्राह्मणत्व का अर्थ है व्यापक और समग्र व्यक्तित्व। इस अवस्था को पाने वाले व्यापकता और समग्रता में जीते हैं। तभी तो यह कहा गया है- 'ब्राह्मणस्य नहि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेप्यते' अर्थात्, ब्राह्मण का जीवन क्षुद्र कामनाओं के लिए नहीं है, यानि कि समष्टि से एकात्म होकर जीने के लिए है।

यह है आचार्य श्रीराम शर्मा का सर्वांगीण मनोविज्ञान। इसकी समग्रता दो अर्थों में है। सबसे पहले- इसमें मानवीय चेतना के किसी अंग-उपांग का अध्ययन न होकर समूची चेतना- सम्पूर्ण मानवीय प्रकृति का विशद् अध्ययन है। इसके साथ ही इसमें चेतना के व्यक्तिगत स्तरों के विश्वमय सम्बन्धों की व्याख्या है। फिर इसका लक्ष्य केवल व्यक्तित्व संकलन नहीं बल्कि इसका आध्यात्मिक रूपान्तरण तथा चरम और परम विकास है। इस तत्त्व को आचार्य जी के शब्दों में कहें तो- "मनुष्य का व्यक्तित्व भी अपने आप में एक छोटा विश्व है। उसकी भीतरी और बाहरी सत्ता में इतना कुछ विद्यमान है, जिसके सहारे आज का दयनीय दुर्दशाग्रस्त जीव कल सर्व समर्थ ब्रह्म बन सके। पर वह दिव्य वैभव प्रसुप्त पड़ा है। उसे कैसे जगाया और कैसे प्रयोग किया जाय, यह (सर्वांग मनोविज्ञान) ऐसा विज्ञान है, जिसे जानने पर

१४. आचार्य श्रीराम शर्मा- स्वस्थ व्यक्तित्व बनाम ब्राह्मणत्व, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक ११, पृ. ४३-४४

विश्व की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियाँ करतलगत होती हैं।''[95]

इस तरह यह सर्वांग मनोविज्ञान उनके सर्वांग दर्शन के सर्वथा अनुरूप और उपयुक्त है। इसे आत्म सत्ता की अभिव्यक्ति हेतु वैज्ञानिक प्रणाली कहें तो अधिक सार्थक और औचित्यपूर्ण होगा।

कर्म का विज्ञान एवं विधान

सर्वांग मनोविज्ञान व सर्वांग दर्शन दोनों का ही लक्ष्य व्यक्तित्व का विकास और इसकी पूर्णता है। व्यक्ति विकसित हो पूर्ण बने, इसके लिए आवश्यक है कर्म का रहस्य ज्ञान। कर्म अपने आप में विलक्षण पहेली है। कब यह पाप बनता है, कब पुण्य? कब यह तप और योग का बाना पहनकर स्वर्ग की सृष्टि करता है? कब इसके परिणाम यम के दण्ड विधान और नर्क वास के रूप में सामने आएँगे? क्या करें, क्या न करें? के चक्रव्यूह में फँसकर न जाने कितनी व्यथा वेदना सहने के लिए विवश होते हैं। ऐसा भी नहीं कि कर्म करने से बचा जा सके। गीताकार के शब्दों में कहें तो 'नहि कश्चितक्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्मकृत' एक क्षण भी काम किए बिना नहीं रहा जा सकता। शरीर और मन की हरकतें सोते-जागते किसी न किसी रूप में हमेशा होती रहती हैं।[96]

◆ कर्म क्या है?

इस सवाल का जवाब देते हुए महर्षि कणाद स्पष्ट करते हैं कि कर्म वह है जो द्रव्य के आश्रित हो, गुण न हो और संयोग तथा विभाग में अनपेक्ष कारण हो।[97] तर्क दीपिका में अन्नभट्ट के अनुसार- कर्म वह है जो संयोग तो न हो परन्तु संयोग का समवायि कारण अवश्य हो। आचार्य जी के चिन्तन में कर्म का स्वरूप बहुत उदात्त है, वह प्रचलित दायरों से ऊपर उठकर कहते हैं -''जीवन शाश्वत अस्तित्व अविरल चेतना का प्रवाह है। शरीर की नावें उसमें बदले रूपों में प्रकट होती रहती हैं। इन्हीं के द्वारा जीवन अभिव्यक्त होता है और यह अभिव्यक्ति है कर्म। दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। जीवन संवेदना बाह्य जगत् में स्वयं को कर्म के रूप में प्रकट करती है। कर्म का यही उदात्त स्वरूप हमें पूर्ण बने के लिए बाध्य करता है।''[98] बाध्यता इन अर्थों में कि सुख-दुःख की अनुभूतियाँ प्रकृति की शक्तियाँ जाने-अनजाने रूप से मानवीय व्यक्तित्व को गढ़ती-संवारती रहती हैं। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक हमारे प्रत्येक कर्म में अन्तरात्मा की उज्ज्वल ज्योति प्रकाशित न हो उठे। यह प्रक्रिया अपने विकास के किस स्तर पर है, इसे यह देखकर अनुभव किया जा सकता है, कि कर्म के प्रेरक तत्त्व क्या है?

◆ कर्म के प्रेरक तत्त्व

सामान्यतया व्यक्ति दो ही कारणों से कर्मों में प्रवृत्त होते देखे जाते हैं। ये दो कारण है लोभ और भय।[99] कुछ पाने का लालच अथवा खोने का भय व्यक्ति में कर्म की प्रेरणा का संचार करता है। यह पाने का लालच, धन, यश, वैभव, श्रेय, स्वर्ग किसी का भी हो सकता है। इसी प्रकार अपमान तिरस्कार, पद प्रतिष्ठा छिनने, दण्डित होने से भयभीत होकर कर्मों में प्रवृत्ति देखने को मिलती है। लेकिन यह कर्म की अपूर्णता है, दूसरे शब्दों में यह कर्म की निम्न अवस्था है। गीताकार की भाषा में-प्रकृतेर्गुण समूढ़ा सज्जनते गुणकर्मसु- अर्थात् प्रकृति के गुणों से मोहित हुए पुरुष गुण और कर्मों में आसक्त होते हैं।[100] अन्य शब्दों में ये अज्ञान में होने वाले कर्म हैं। लोभ और भय की प्रेरणा से प्रेरित कर्म करने वालों के लिए गीता- 'तानकृत्स्नविदो'[101] उन अच्छी तरह न समझने वाले मूर्ख कहकर सम्बोधित करती है।

ज्ञान में होने वाले कर्मों का प्रेरक तत्त्व स्वयं

---

९५. श्रीमद्भागवत् -११/१२/४२
९६. आचार्य श्रीराम शर्मा- कर्म कब पाप बनता है, कब पुण्य?, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अक ८, पृ. ३५
९७. 'एक द्रव्यमगुणं संयोग विभागेष्वनपेक्षं कारणमिति कर्मलक्षणात्' - वैशेषिक दर्शन- १/१/१७
९८. आचार्य श्रीराम शर्मा- योगी कर्म का भाष्यकार बना, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५४, अंक ३, पृ. ४२
९९. आचार्य श्रीराम शर्मा- देव संस्कृति की अनुपम स्थापना- कर्मयोग-कर्मसाधना, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ६, पृ. ५०
१००. गीता-३/२९
१०१. वही,

रमात्मा है। ऐसी अवस्था में कर्त्ता लोभ और भय के कारण नहीं, परमात्मा से प्रेरित होकर परमात्मा के लिए परमात्मा में कर्म करता है। इस स्थिति में कर्त्ता अपनी शक्ति विश्व के निर्माता या नियामक में समाहित कर देता है, तो वह अनन्त शक्तिवान हो जाता है। सिन्धु में बिन्दु की तरह मिलकर पूर्णता को प्राप्त कर लेता है।[१०२]

◆ कर्म-अकर्म और विकर्म

जो कर्तव्य है, मानवी गरिमा की परिधि में आता है, वह कर्म कहलाता है। इसके भी तीन भेद हैं, नित्य, नैमित्तिक व काम्य कर्म। नित्य कर्म जिनके न करने पर पाप का भोगी मनुष्य होता है, पर पुण्य मिले यह जरूरी नहीं। नैमित्तिक कर्म वे जो किसी निमित्त के उपस्थित होने पर किए जाते हैं, जैसे अतिथि के आने पर, पर्वों पर ज्योतिर्विज्ञान की विशिष्ट युतियों ग्रहण आदि पर, इन्हें न करने से पाप होता है व करने से पुण्य मिलता है। काम्य कर्म वे हैं जो किसी कामना से किये जाते हैं, काम्य कर्मों को न करने से पाप नहीं लगता। करने पर पुण्यों की प्राप्ति होती है।

अकर्म उन्हें कहते हैं, जिनके न करने से पुण्य नहीं होता, परन्तु करने पर पाप लगता है। जो मानवी गरिमा की परिधि में नहीं आते, जिनकी उससे अपेक्षा नहीं की जाती। विकर्म वे हैं जो परिस्थिति के अनुसार वास्तविकता से बदल चुके हैं व कर्म या अकर्म बन गए हैं, जैसे कुपात्र को दान देना, हिंसा करना, गौर ब्राह्मण या नारी सम्मान की रक्षा के लिए। कर्म-अकर्म और विकर्म का यह भेद बड़ा गूढ़ है व परिस्थिति विशेष पर भेद करने वाले की अन्तर्प्रज्ञा पर निर्भर करता है।[१०३]

◆ कर्म स्वातंत्र्य

यों प्रत्यक्ष में हरेक अपनी मनमर्जी के अनुसार कर्म करने के लिए स्वतंत्र है, कहीं कोई बन्धन नहीं दिखाई पड़ता। पर गहराई में प्रवेश करें तो पाएँगे, हर कोई अपनी अभिरुचि, इच्छा, प्रारब्ध, प्रवृति के कारण विवश है। आचार्य जी के शब्दों में- ''सामान्य मानव में कर्म के प्रेरक तत्त्व अभिरुचि, आदत, जन्मातर की प्रवृत्तियाँ होती हैं। इन्हीं सबके अनुसार वह अपनी जीवन ऊर्जा को नष्ट करता बिखेरता रहता है। उसके लिए कर्म स्वातंत्र्य की बात एक अच्छा-खासा मजाक भर है।''[१०४] गीता इसी तत्त्व को- 'सदृशं चेष्टते स्वस्या प्रकृते' अर्थात् अपने स्वभाव से परवश हुए कर्म करते हैं।[१०५] जबकि साधनारत व्यक्ति विधाता द्वारा दी गई कर्म की स्वतंत्रता का ठीक-ठीक उपयोग करने में समर्थ होता है। वह स्वयं की अभिरुचियाँ, आदतों, प्रवृत्तियों को नए सिरे से गढ़ता है। कर्म के प्रेरक तत्त्व स्वार्थों का जखीरा जमा करने की लालसा, अहंकार का झण्डा ऊँचा रखने की चाहत नहीं रह जाती। प्रत्येक काम लोक के प्रति करुणा, आत्म विकास के सोपानों पर चढ़ने के उद्देश्य से होता है।[१०६] इसकी उच्चतम स्थिति में 'अहं' कर्त्ता न होकर आत्मा कर्त्ता होता है। अर्थात् प्रत्येक कर्म उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम बनता है। पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी का एक सूत्र है 'स्वतंत्रः कर्त्ता' कर्त्ता वह है जो स्वतंत्र हो। यह वह अवस्था है, जब अभिरुचि, आदतों का बन्धन नहीं रह जाता, आत्म सत्ता की स्वतंत्र अभिव्यक्ति प्रवाहित होने लगती है।

◆ कर्त्तव्य की खोज

तो हम क्या करें? माथे पर बनती-मिटती रेखाओं, मन की उधेड़-बुन के बीच उपजा यह सवाल अभी भी अनसुलझा है। कर्म से घिरे होने पर भी हम स्वयं के कर्त्तव्य को कहाँ ढूँढ सके हैं? धार्मिक उपदेशों के बीच रहने पर भी स्वधर्म की खोज आज तक अधूरी है। मैं क्या करने को पैदा हुआ था? परम सत्ता ने किस अभियान पर भेजा था? कौन सी यात्रा पर आया था? न पता चलने में सबसे बड़ी बाधा है अपनी मौलिकता नष्ट कर दूसरों की कार्बनकापी होने का प्रयास। होना तो यह चाहिए कि

---

१०२. आचार्य श्रीराम शर्मा- कर्म योग और कर्मकौशल, पृ १२९-१३०
१०३. आचार्य श्रीराम शर्मा- देव संस्कृति की अनुपम स्थापना-कर्मयोग-कर्मसाधना, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ६, पृ. ५०
१०४. आचार्य श्रीराम शर्मा- कर्म कब पाप बनता है, कब पुण्य? अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ८, पृ. ३६
१०५ श्रीमद्भगवद्गीता- ३/३३
१०६. आचार्य श्रीराम शर्मा- कर्म कब पाप बनता है कब पुण्य? अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ८, पृ. ३६

हम अपनी गहराइयों में झांकते। स्वयं की संभावनाओं पर विचार करते। अभिरुचियों एवं मानसिकता का विश्लेषण कर परिवेश से सामंजस्य बिठाते हुए नैसर्गिक क्षमताओं को विकसित करते।

पर करने लगते हैं वह जो स्वयं की मौलिकता के विपरीत है। आज इसी उलटबांसी से पनपी मुश्किलों के कारण चारों ओर शोर सुनाई देता है। जीवन अर्थहीन है। अर्थहीन नहीं है जीवन का सिर्फ स्वधर्म (कर्त्तव्य) खो गया है। दूसरे के काम में भला अर्थ कहा? अब जो गणित बना सकता है, कविता कर रहा है। अर्थहीन हो जाएगी कविता। सिर्फ बोझ मालूम पड़ेगा कि इससे मर जाते तो अच्छा था। यहाँ-कहाँ का नारकीय काम मिल गया। कहाँ गणित की दो और दो चार की सख्ती, कहाँ काव्य का बहाव। इसी प्रकार की परेशानी तब है जब कवि गणितज्ञ हो जाय। ऐसे में जीवन भर भुनभुनाता रहेगा किस मुसीबत से पाला पड़ा है, कैसे छुटकारा मिले इस बला से। क्योंकि इन दोनों के जीवन को देखने का ढंग ही अलग है। एक सी दिखाई पड़ने पर भी इनकी आँखो में मिलता है। इनमें से प्रत्येक एक अद्वितीयता लेकर आया है, अनूठी प्रकृति लेकर आया है, जिसका अपना स्वर है, अपना संगीत है, जिसकी सुगंध है अपना जीने का ढग है, उसी को विकसित करना होगा। इसी की अनिवार्यता बतलाते हुए गीताकार का कहना है 'श्रेयान् स्वधर्मोविगुणः परधर्मास्त्वनुतिष्ठतात्।'

इसकी खोज के दो चरण हैं, पहला- दूसरों के कर्त्तव्य कर्म उनकी प्रतिलिपि बन जाने के लालच को छोड़ें। दूसरा स्वयं की जांच-परख गहराई और सूक्ष्मता से करें। लगातार के प्रयत्न के बाद एक-एक करके अपने में बीज रूप में निहित क्षमताओं का पता लग जाएगा। इनकी अभिव्यक्ति के लिए क्या करना है यह भी स्पष्ट हो सकेगा। कर्त्तव्य के पालन का मतलब है व्यक्ति रूपी बीज का व्यक्तित्व के पुष्पित, सुरभित पादप में परिवर्तित होने के लिए भरपूर प्रयत्न।[१०७]

❖ कर्मफल का सिद्धान्त

हर कर्म का प्रतिफल होता है। जड़-जीवन मानव अथवा चेतना के उच्च स्तरों में, देश, काल की परिस्थितियों के अनुरूप इसका स्वरूप भले बदलता रहे, पर सिद्धान्त यही काम करता है। जड़ पदार्थों पर इसी का अध्ययन कर सर आइज़ाक न्यूटन ने क्रिया-प्रतिक्रिया का यांत्रिक सिद्धान्त दिया। बाद में आइन्स्टीन ने अपने शोध निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहा कि न्यूटन का नियम सापेक्षित सत्य है। अर्थात् देश, काल के अनुरूप इसका स्वरूप भिन्न हो जाएगा। कर्म का जो स्वरूप जड़ स्तर में लागू होता है, वह जीवन में लागू नहीं हो सकता है। उदाहरण के लिए जड़ में आदत, रुचियाँ, प्रवृत्तियाँ न होने से कर्म और उसके परिणाम जटिल नहीं होते, इन्हें आसानी से समझा जा सकता है। जीवन में प्राण की हलचलें, प्रकृति की प्रेरणाएँ कर्म को बहुरंगा बना डालती हैं, परिणाम भी तदनुरूप होते हैं। मन के धरातल पर इच्छा और संकल्प के जुड़ जाने से कर्म जहाँ अधिक समर्थ हो उठता है, वहीं परिणाम अधिक प्रभावी हो जाते हैं। परन्तु इनके अन्तर्सम्बन्ध कहीं अधिक गहन हो जाते हैं। चेतना के उन्नत स्तरों पर जहाँ तक स्वयं की पृथकता का बोध होता रहता है, कर्म भी किसी न किसी रूप में बने रहते हैं, इनके परिणाम भी अपेक्षाकृत समर्थ और प्रभावी होते जाते हैं। जैसे-जैसे चेतना के उन्नत स्तरों में बढ़ते जाते हैं देश और काल, सूक्ष्म किन्तु व्यापक होते जाते हैं। यहाँ पर सम्पन्न होने वाले कर्म और उनके प्रतिफल तथा इनके अन्तर्सम्बन्ध तभी जाने जा सकते हैं, जब जानने वाले की प्रज्ञा तदानुरूप सूक्ष्म और व्यापक हो चुकी है। लेकिन एक स्थिति ऐसी भी है, जहाँ देश और काल अनन्तता में खो जाते हैं, शून्यता में विलीन हो जाते हैं। इस निरपेक्ष, निर्विशेष, निर्विकल्प स्थिति में कर्म के स्पन्दन नहीं उठते, सत्ता का पार्थक्य नहीं रहता, फलतः प्रतिफल की हलचलें भी नहीं होती। परन्तु जहाँ तक सापेक्षिता है, देश और काल की स्थिति है, सत्ता का पार्थक्य है, वहाँ तक कर्म और फल का सिद्धान्त भी सक्रिय है। इस सक्रियता का बोध कराते हुए महाभारतकार का मत है कि मनुष्य जो शुभ या अशुभ कार्य करता है, उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है, इसमें संशय नहीं है।[१०८]

---

१०७. आचार्य श्रीराम शर्मा- स्वधर्म की खोज और उसका परिपालन

१०८. यत् करोत्यशुभ कर्म शुभ वा यदिसत्तम्।
अवश्यं तत् समाप्नोति पुरुषो नात्र सशयः॥ महाभारत, वन. अ. २०८

अक्ष्युपनिषद् के अनुसार- ज्ञान का उदय हो जाने पर भी पूर्वकृत कर्मों के प्रारब्ध भोग तो भोगने ही पड़ते हैं। उनका नाश नहीं होता। धनुष से छूटा हुआ तीर प्रहार करता ही है।[१०९]

इस संसार में शुभ और अशुभ कर्मों का नाश नहीं होता। यथा खेत-खेत को प्राप्त कर पकता जाता है, फल लाता जाता है। इसी प्रकार कर्मों के पाप या फल का भी क्रम चलता रहता है। तदानुसार ही शुभ एवं अशुभ को मनुष्य कर्मानुसार प्राप्त किया करता है।[११०]

महर्षि वाल्मीकि का मत है कि हे कल्याणी! यदि जो कुछ भी शुभ-अशुभ करता है, करने वाला वही अपने किए कर्मों के फल को प्राप्त होता है। करने वाला अपने पाप कर्मों का फल घोर काल आने पर अवश्य प्राप्त करता है। जैसे मौसम आने पर वृक्ष फूलों को प्राप्त होते हैं।[१११]

आचार्य जी के शब्दों में- "मनुष्य का जीवन एक खेत है, जिसमें कर्म बोये जाते हैं और उन्हीं के अच्छे-बुरे फल काटे जाते हैं, जो अच्छे कर्म करता है, वह अच्छे फल पाता है, बुरे कर्म करने वाला, बुराई करने वाला बुराई समेटता है। कहावत् है- आम वोयेगा वह आम खाएगा, बबूल बोयेगा वह कांटे पाएगा। बबूल बोकर जिस तरह आम प्राप्त करना प्रकृति का सत्य नहीं, उसी प्रकार बुराई का बीज बोकर भलाई पा लेने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।"[११२] कर्म और फल के सम्बन्धों में यदि कहीं कोई व्यवधान दिखाई पड़ता है तो वह व्यवधान नहीं बल्कि चेतना के विभिन्न स्तरों के पारस्परिक सम्बन्धों, इन विविध स्तरों की देश, काल, व्यवस्था की सूक्ष्मता को न परखना है। इसे समझने और परखने पर कर्म और फल के सूत्र सम्बन्ध स्पष्ट दीखने लगते हैं। आचार्य जी के अनुसार इस विश्व का निर्माण कर्त्ता बहुत ही दूरदर्शी और व्यवहार कुशल है। उसने इतना बड़ा सृजन किया है। जड़ में हलचल चेतन में चिन्तन की इतनी अद्भुत सत्ता का समावेश किया है कि किसी सूक्ष्मदर्शी को आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। निर्माण, व्यवस्था और परिवर्तन की जो रीति-नीति विनिर्मित की है, उसके तारतम्य को देखते हुए मनीषियों ने कला की कल्पना की और विज्ञान की धारणा को मूर्तरूप दिया। ऐसे सर्व सम्पन्न स्रष्टा से कर्म व्यवस्था के सम्बन्ध में चूक होना, यह सोचना अपनी ही बाल-बुद्धि का खोखलापन दर्शाता है।[११३]

◆ पाप-पुण्य

आचार्य जी ने पाप-पुण्य की समस्या को नीति शास्त्रीय समस्या की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक समस्या अधिक माना है। उनके चिन्तन की समग्रता के साथ तादात्म्य स्थापित करें तो पायेंगे, नीति-नियमों का उद्देश्य-मानवीय व्यक्तित्व का विकास एवं मानव व समाज के बीच मधुर सम्बन्धों की स्थापना है। स्वाभाविक है यह सम्बन्धों की मधुरता सामाजिक विकास में भी सहायक बनें। नीति का उद्देश्य तो स्थाई है, पर देश काल की विभिन्नता के अनुसार नियम परिवर्तनशील है। नीति-नियमों में परिवर्तन के तीन आन्तरिक (मानवीय) और तीन बाह्य सामाजिक कारक हैं। मानवीय कारक है- आयु, वर्ग और योग्यता। इनके बदलते क्रम में नीतियाँ भी बदलती हैं। तीन बाह्य

---

१०९. ज्ञानोदयात् पुराऽऽरब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति।
यदत्वा स्वफलं लक्ष्युमुद्दिश्यात्सृष्ट वाणवत्॥ -अक्ष्युपनिषद् २/५३

११०. शुभानाम शुभाना च नेह नशोस्ति कर्मणाम्।
प्राप्यप्राप्यानुपच्यन्ते क्षेत्र क्षेत्र यथा तथा।
क्षेत्रं कर्मनमाप्नोति शुभं वा यदि वाऽशुभम्॥ -महाभारत आश्वमेधिक प. अ. १८/५

१११. यदा चरति कल्याणि शुभं वा यदि वा शुभम्।
तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मणमात्मनः॥
अवश्यं लभते कर्ता फलं पापस्य कर्मणः।
घोरं पर्यागते काले द्रुम पुष्पनिवार्तपम्॥ -बाल्मीकीय रामायण, आरण्य. स. २९

११२. आचार्य श्रीराम शर्मा- कर्मों की फूलती-फलती खेती, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५२, अंक ७, पृ. १

... श्रीराम शर्मा- स्वर्ग और नरक की स्वसचालित प्रक्रिया, पृ. १२

कारक हैं- सांस्कृतिक धरातल, सामाजिक स्थिति, भौगालिक परिस्थिति। इन तीनों में आने वाले बदलाव भी नीति-नियमों को बदल डालते हैं। फलतः एक स्थिति में जो पाप कहलाता। वही दूसरी स्थिति में पुण्य बन जाता है। उदाहरण के लिए किसी शरीर को चाकू से चीर देना पाप है, पर चिकित्सक द्वारा किसी के कोमल अंगों पर चाकू से चीरा पुण्यदायक प्रक्रिया कहलाती है। यह और कुछ नहीं योग्यता और सामाजिक स्थिति के बदले मानदण्डों के परिणाम हैं।

पाप और पुण्य के उलझे हुए सवाल का सहज और सरल समाधान करते हुए वह कहते हैं- "किसी भी क्रिया के साथ दो चीजें अनिवार्य रूप से जुड़ी होती हैं- भाव और विचार। इनकी उत्कृष्टता और निकृष्टता अपने स्वरूप के आधार पर दो परिणाम प्रस्तुत करती है गौरव बुद्धि और आत्म ग्लानि। एक में हमारा व्यक्तित्व समग्र बनता है, ईश्वरीय सत्ता से अपना तादात्म्य बिठाता है। दूसरे में हमारा अस्तित्व टुकड़े-टुकड़े होकर पशुता के गर्त में गिर जाता है। मनुष्य शरीर धारण करने के बावजूद 'नर पशु' 'नर पिशाच' बनने के लिए विवश होते हैं।"

दर्शन शास्त्री काण्ट की उलझन का समाधान यही है। लेकिन गौरव बुद्धि उन्हीं कामों में जाग्रत् हो सकती है जो हमारी आत्म चेतन को समग्र बनाकर ईश्वरोन्मुख करने वाले हैं। जिन्हें सामाजिक स्वीकृति प्राप्त हो। उदाहरण के लिए कोई चोरी, डकैती, व्यभिचार, हत्या आदि नृशंस, बर्बर काम करके स्वयं को गौरवान्वित नहीं अनुभव कर सकता। दूसरों के सामने बाहरी तौर पर वह कितना ही कुछ क्यों न कहता फिरे पर अन्तर्मन में उसे ग्लानि, कुण्ठा, हीनता की चोट सहनी पड़ेगी। क्योंकि प्रश्न समाज के सामूहिक मन का है- जिसका विरोध किसी भी एकाकी मन के द्वारा सम्भव नहीं।

यदा-कदा हमें इसके अपवाद देखने को मिलते हैं पर ये अपवाद दीखते भर हैं- होते नहीं। जैसे लड़ाई के मोर्चे पर किसी सिपाही द्वारा शत्रुओं से जूझने, उन्हें पराजित करने का कार्य प्रत्यक्ष में नृशंस लगने पर वे भी यथार्थ में करूणा और सहृदयता से प्रेरित हैं। उसके पीछे अनेकों दुर्बलों की रक्षा करने, राष्ट्र की अस्मिता को बचाने का भाव है। यही गौरव बोध उसे पुण्यात्मा बनाता, आत्म चेतना को विकसित करने में सहायक बनाता है। कौन सा काम गौरव बोध जाग्रत् करेगा? इसका उत्तर है- जिसके पीछे स्वार्थ और अहं की प्रेरणा न हो। जो काम लोकादर्श की रक्षा के लिए, भगवान् के प्रति समर्पित होकर किए गए जाते हैं। वे छोटे हो या बड़े उनमें से प्रत्येक का परिणाम पुण्य के रूप में सामने आता है।[११४] इसके विपरीत अन्तर्मन में हीनता, कुण्ठा, ग्लानि की गांठों को जन्म देने वाले कर्म पाप हैं।

◆ सुख-दुःख

पुण्य और पाप के परिणाम जीवन में सुख-दुख के रूप में उभरते-उतरते और अनुभव होते हैं। पुण्य सामाजिक प्रतिष्ठा और मानसिक प्रसन्नता व सन्तोष का कारण बनता है। इसके विपरीत पाप से उभरे दुःख की अनुभूति सामाजिक विपन्नता, मानसिक खिन्नता के रूप में अनुभव होती है। आचार्य जी समस्या के गहरे तल को स्पर्श कर स्पष्ट करते हैं, वास्तव में सुख-दुःख की समस्या सामाजिक कम मनोवैज्ञानिक अधिक है। उनके अनुसार 'कौन सुखी? कौन दुःखी?' इसका निर्णय किसी की मनःस्थिति के आधार पर किया जा सकता है।[११५] लेकिन सामान्य स्थिति है, जिसमें मनुष्य को सुख के क्षण-प्रसन्नता और दुःख के क्षण पीड़ा का अनुभव कराते हैं। सुख के क्षणों का उपयोग वह भोग में और दुःख के क्षणों को रोग में गुजार देता है। आचार्य जी सर्वांग चिन्तन की विशिष्टता, उस तकनीक को खोजने, पाने और सामान्यीकृत करने में, जिसके द्वारा सुख-दुःख का आध्यात्मिक रूपान्तरण किया जा सकना सम्भव है। आध्यात्मिक रूपान्तरण में सुख योग बनता है और दुःख तप। इनके परिणाम भी जीवन में योग और तप की विभूतियाँ उड़ेलने वाले होते हैं। आध्यात्मिक रूपान्तरण हो जाने पर मिलने वाली अनुभूति को शब्द बद्ध करते हुए वह कहते हैं- "भगवान् की दया सुखों और कृपा दुखों के बीच देखी

---

११४. आचार्य श्रीराम शर्मा- कर्म कब पाप बनता है, कब पुण्य? अखण्ड ज्योति, अंक ५५, अंक ८, पृ. ३५

११५. आचार्य श्रीराम शर्मा- कौन सुखी कौन दुखी? अखण्ड ज्योति, वर्ष ४०, अंक ८, पृ. १२

जा सकती है, इन दोनों का समन्वय उचित ही हुआ है। सुख-दुःख के दो पहियों पर जीवन रूपी रथ ठीक तरह चल सकता है। दोनों की सुविधा देकर भगवान् ने हमारे ऊपर दया और कृपा की दुहरी अनुकम्पा की है।''

सुख इसलिए कि उसके सहारे हमें हँसने, प्रमुदित होने के अवसर मिले और वैसे ही अवसर अधिक उपार्जित करने की प्रेरणा मिले। सत्कर्मों के सत्परिणाम पर हमारा विश्वास दृढ़ होता चला जाय। अपनी शक्ति और सामर्थ्य पर विश्वास बढ़े साथ ही यह दिखता रहे कि ईश्वर का वरद हस्त हमारे सिर पर है वह हमें आगे बढ़ाने और सुखी रखने के लिए निरन्तर अनुग्रह की वर्षा कर रहा है।

दुःख इसलिए कि हमें कठिनाइयों से जूझने का और उन्हें नगण्य समझने का अभ्यास बढ़े। साधारणतया कठिनाइयों की आशंका हमें उतना ही भयभीत कर देती है, जितना कि स्वयं कष्ट। वस्तुतः वे उतनी कष्टकर नहीं होती। सच तो यह है कि जटिल परिस्थितियों से निपटने में मनुष्य के साहस, आत्म विश्वास, पौरुष, धैर्य जैसे अनेक सद्गुणों को विकसित करने का लाभ मिल जाता है। और मनुष्य इतना पराक्रमी बन जाता है कि आगे चलकर बड़े काम कर सके।[११६]

◆ स्वर्ग नरक की स्वसंचालित प्रक्रिया

सुख और दुःख यदि आध्यात्मीकृत न हो सके, तो इनके स्वाभाविक परिणाम स्वर्ग और नरक के रूप में जीवन में बरबस आ घुलते हैं। आध्यात्मिक कृत होने की दशा मोक्ष की है। इस तत्त्व को उनके शब्दों में कहें तो-
''बुरे कर्म के दुखद परिणाम जिन्हें नरक कहते हैं, निश्चित रूप से मिलते हैं और भले कर्मो का परिणाम जिन्हें स्वर्ग कहा जाता है मिलना भी उतना ही निश्चित है। आलसी दरिद्री रहते हैं, प्रमादी के लिए प्रगति के द्वार बंद हो जाते हैं, क्रोधी शत्रुओं से घिर जाता है, धूर्त मित्रों से वंचित हो जाता है, बेईमान के सहयोगी बिछुड़ जाते हैं। यह दण्ड व्यवस्था हर किसी को पग-पग पर अनुभव होती है। पापी, दुष्ट, दुरात्मा घृणास्पद बनते और स्नेह सहयोग से वंचित होकर मरघट के प्रेत-पिशाच बने एकाकी घूमते हैं। यह घृणित स्थिति नरक नहीं है तो और क्या है? सेवा भावी, सद्गुणी सज्जन धरती के देवता समझे जाते हैं और मरने के बाद भी वन्दनीय और श्रद्धास्पद ही बने रहते हैं। उनकी यश-गाथाएँ अनेकों को प्रेरणा भरा प्रकाश देती रहती हैं। इसे स्वर्ग प्राप्ति न कहें तो और क्या कहें।''[११७]

इस बोध के अतिरिक्त स्वर्ग और नरक का एक गुह्य और गहन पक्ष भी है, जो उनके चिन्तन में ध्वनित होता है। स्वर्ग और कुछ नहीं हमारा परिमार्जित, परिशोधित मन है। यह कथन सिर्फ आलंकारिक सत्य नहीं साधन जगत् का गुह्य रहस्य है, जिसे कोई भी सुपात्र अनुभ[illegible] कर सकता है। मनुष्य जहाँ व्यष्टि है वहीं विराट् भी है वह स्वयं में जब जैसा होता है चेतना के उन्हीं स्तर[illegible] शक्तियों की अनुभूति उसे होती रहती है। शरीर के स[illegible] पर की गई साधना उसे पार्थिव चेतना से एकत्व [illegible] आभास करा सकती है। यही 'भू' तत्त्व की अनुभूति [illegible] 'भुव' तत्त्व के निम्न और उच्च स्तरों के अनुरूप प्रे[illegible] पिशाचों की भयंकरता और यक्ष आदि प्राणिक शक्ति[illegible] की सौम्यता के दर्शन के रूप में हो सकती है। दैनन्दिन जीवन क्रम में स्वप्न के माध्यम से इसे यत्किंचित अनुभव करते हैं। जागरूकता का अभाव इसे स्पष्ट नहीं होने देता। 'स्वः' तत्त्व जिसे मन कहेंगे जहाँ अपनी अपरिमार्जित स्थिति में अच्छा रहकर पशु प्रवृत्तियों के दासत्व का नर्कवास भुगतता है, वहीं परिशोधित संस्कारित होने पर उसके सामने देवलोक का राज्य खुल जाता है। देवी-देवताओं की स्पष्ट अनुभूति होने लगती है।

मन के अन्धे होने, पशु प्रवृत्तियों के दासत्व को हम स्वयं के औरों के जीवन में अनुभव कर सकते हैं। जिनकी मनःस्थिति ओछी है, घटिया है उन्हें दैन्य-दारिद्र्य, दुःख-दुर्बलता, कुण्ठा, क्लेश, अवहेलना, अवमानना के पाप समूहों में जकड़े, घिरे रहना पड़ता है। यम दण्ड और नर्कवास के इस काल में भौतिक सम्पदाएँ उन्हें मिल भी जायें तो उनसे सुख-शान्ति नहीं मिल पाती उल्टे उनकी दूषित प्रवृत्तियों का दारूण विस्फोट होने में

---

११६. आचार्य श्रीराम शर्मा- सुख भगवान की दया- दु.ख उनकी कृपा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३५, अक ९, पृ. १६

[illegible] स्वर्ग नरक की स्वसंचालित प्रक्रिया, पृ. ४५-४६

हो बढ़ी हुई सम्पदा आधार बनती है और उनके व्यक्तित्व के अधिकाधिक क्षय के साथ ही वह सम्पदा भी क्षयीभूत होती है।[११८]

◆ अपने भाग्य के निर्माता हम स्वयं

कर्म का नियम यथार्थ है। केवल कर्म ही नहीं विचार और अनुभूतियों के भी अपने अनुरूप परिणाम होते हैं। यद्यपि कर्म जीवन का सर्वाधिक भाग होने के कारण सर्वाधिक परिणामदायक होता है। इतने पर भी कर्म का नियम आत्मा का भाग्य निर्णय नहीं करता, बल्कि आत्मा कर्म को अपने साधन के रूप में प्रयोग करती है। भाग्यवाद के विरुद्ध आचार्य श्रीराम शर्मा का मत है- "भाग्यवाद हमारी दार्शनिक भ्रष्टता है, जिसने हमारी कर्त्तव्य निष्ठा को बुरी तरह कुचल-मसल कर फेंक दिया और हम किसी समय के विश्व मूर्धन्य आज दुःख-दारिद्र की हीन परिस्थितियों में पड़े बिलख रहे हैं। इसका एक बहुत बड़ा कारण हमारी दार्शनिक पराधीनता है।"[११९] जबकि यथार्थ में आत्मा परम स्वतंत्र व नित्य मुक्त है। कर्म आध्यात्मिक स्वतंत्रता का हरण नहीं करता। बल्कि जैसे हम चेतना के उन्नत स्तरों पर पहुँचते जाते हैं, यांत्रिक नियमों का अधिकार क्रमशः क्षीण होता जाता है। कर्मफल की प्रक्रिया निरपेक्ष तक पहुँचने का मार्ग है। जिसमें स्थित होकर अनुभव होता है। प्रकृति नियम और प्रक्रिया का क्षेत्र है, परन्तु आत्मा अथवा पुरुष अनुमति का देने वाला अनुमन्ता है। और यद्यपि वह साक्षी रहना पसन्द करता है, तो भी यदि वह चाहे तो अपनी प्रकृति का स्वामी ईश्वर हो सकता है।[१२०] इस अनुभूति में यह स्पष्ट हो जाता है- "संसार में जो कुछ क्रिया-कलाप दृष्टिगोचर होता है, उसका मूल प्रेरणा स्रोत ईश्वर ही है।"[१२१] अनुभव की इस व्यापकता में वे छोटी-बड़ी सभी अनुभूतियाँ समाहित हो जाती हैं। जो अन्तःसत्ता जन्मान्तर प्रवाह में पुनर्जन्म की प्रक्रिया को अपनाकर पाती है। और इस सत्य को प्रत्यक्ष करती हैं कि "मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है।"[१२२]

पुनर्जन्म की विचारभूमि

जन्म और मृत्यु सिर्फ संयोग मात्र नहीं हैं। मानव जीवन केवल आकस्मिक उत्पत्ति नहीं है। वह एक क्रमिक शृंखला में कड़ी है, जिसके द्वारा विश्व में व्यापक आत्मा अपने प्रयोजन को क्रमशः विकसित करती और विस्तृत होती हुई मानव आत्म चेतना के द्वारा कार्य करती है। आत्म चेतना के शाश्वत काल में जीवन और मृत्यु दिवस-रात्रि की तरह घटित होते रहते हैं। ऋग्वेद के ऋषि इसी तत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि-

मृत्यु के उपरान्त जब पंच तत्त्व अपने-अपने में मिल जाते हैं, तब जीवात्मा बचा रहता है और यह जीवात्मा ही दूसरी देह धारण करता है।[१२३]

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राण पुनरात्मा म आगत्। पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगत्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नपातु दुरितादवद्यात्।[१२४]

जीवात्मा के आगमन की बात स्पष्ट रूप से कही गई है। इतना ही नहीं कर्मगति के विश्लेषण की ओर भी संकेत है।

अथर्ववेद तो ऐसे मंत्रों से परिपूर्ण है, जिनसे पुनर्जन्म की समस्या पर किसी न किसी तरह प्रकाश पड़ता है। मंत्र में तत्व का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं कि-

अपाङ् प्राङ् एति स्वधया गृभीतो अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः। ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्तायन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्।।[१२५]

---

११८. आचार्य श्रीराम शर्मा- कर्म कब पाप बनता है, कब पुण्य, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ८, पृ. ३५-३६

११९. आचार्य श्रीराम शर्मा- भाग्यवाद हमें नपुंसक और निर्वीर्य बनाता है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ८, पृ. ५४

१२०. श्री अरविन्द- द लाइफ डिवाइन, भाग १, पृ ६२९

१२१. आचार्य श्रीराम शर्मा- कर्मयोग और कर्मकौशल, पृ. १२७

१२२. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपने भाग्य का विधाता मनुष्य स्वयं, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५०, अंक ६, पृ. १४

१२३. अवसृण पुनरग्ने पितृभ्यो यस्य आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उपवेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः ॥ ऋग्वेद- १०/१६/५

१२४. यजुर्वेद- ४/१५

१२५. अथर्ववेद-९/१५/१६

अमर जीवात्म मरण धर्मा शरीर के साथ संयुक्त होता है। इसका कारण है स्वयं अपने को धारण करने की भावना। स्वधा से गृहीत हुआ जीव 'सु' अच्छी, किन्तु 'अधा' नीची प्रकृति के प्रपंच में पड़ता है।

गीता में पुनर्जन्म के ध्रुव सत्य को "जातस्यहि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च"[१२६] कह कर स्वीकारोक्ति मिली है। योगदर्शन के अनुसार- "सतिमूले तद्विपाको जात्युर्भोगा।"[१२७] अविद्या आदि क्लेशों के जड़ होते हुए उसका परिणाम जन्म, आयु और भोग होता है। सांख्य का प्रथम मंत्र यही है- "अथ् त्रिविध दुःखादत्यन्तनिवृत्ति-रत्पन्त पुरुषार्थ।"[१२८] पुनर्जन्म के कारण ही आत्मा के शरीर, इन्द्रियों तथा विषय से सम्बन्ध जुड़ते रहते हैं। न्याय दर्शन में 'पुनरूत्पत्ति प्रेत्यभाव'[१२९] कहा गया है- जिसकी व्याख्या करते हुए श्रीवात्स्यायन मुनि ने कहा है- उत्पन्नस्य (पैदा हुए प्राणी का) क्वचित सत्वनिकाये (किसी शरीरेन्द्रिय समुदाय में) मृत्वा (मरकर) या पुनः उत्पत्ति (जो फिर देहादि से सम्बन्ध है) स प्रत्यभावः (इसका नाम प्रेत्यभाव है) इतना कहकर भाष्यकार फिर प्रेत्यभाव को स्पष्ट करते हैं। प्रेत्यभावः- मृत्वापुनर्जन्मः (मर कर फिर जन्म होना- यह प्रेत्यभाव होता है)।

पश्चिमी तत्वज्ञ प्लेटो ने तो दर्शन की व्याख्या ही 'मृत्यु तथा मरण का प्रदीर्घ अभ्यास (on lang study of death and dying)' कहकर की है। प्लूटार्क तथा सोलोमन भी पुनर्जन्म पर आस्था रखते थे। पाइथागोरस का विचार था कि साधुता का पालन करने पर आत्मा का जन्म उच्चतर लोकों में होता है और दुष्कृत आत्माएँ निम्न पशु आदि योनियों में आती हैं। स्पिनोजा, हर्टली तथा प्रीस्टले का आत्मा के अमरत्व पर विश्वास था। रूसो को नित्य नरक पर आस्था नहीं थी। उसने लिखा कि वास्तविक जीवन का प्रारम्भ मृत्यु के बाद होता है। क्रिस्टन बुल्के के अनुसार आत्मा सूक्ष्म होता है, और हमारे गुप्त कर्म ही वर्तमान जीवन के कारण हैं। काण्ट के मत में- प्रत्येक आत्मा मूलतः शाश्वत है। फिक्टे का कथन है- मृत्यु आत्माओं के जीवन प्रवाह में एक विश्राम स्थिति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। शेलिंग का विचार था- उच्च आत्मा उच्च नक्षत्रों में जन्म लेते हैं। नोवालिस की दृष्टि में जीवन है कामना और कर्म है उसके परिणाम। जीवन और मृत्यु एक ही वस्तु है और इनमें से होता हुआ आत्मा अमरता को प्राप्त करता है। हीगल के मतानुसार- सभी आत्मा पूर्णता की ओर बढ़ रहे हैं तथा जीवन और मृत्यु इनकी अवस्थाएँ हैं।

मनोविज्ञान की नवीन शाखा परामनोविज्ञान की खोजों द्वारा प्राप्त तथ्यों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मृत्यु केवल स्थूल शरीर को ही समाप्त कर पाती है, मरने के बाद भी मृत व्यक्ति की आत्मा इस संसार के व्यक्तियों पर प्रभाव डालती रहती है।[१३०] इस कारण स्थूल शरीर को ही व्यक्तित्व मानना तथा यह कहना कि स्थूल शरीर के समाप्त होने पर व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है, ठीक उसी प्रकार से है जिस प्रकार से यह कथन कि बिजली के बल्ब फूट जाने या फ्यूज हो जाने पर बिजली ही नहीं रह जाती तथा उस बल्ब के स्थान पर कोई बल्ब ही नहीं जल सकता। व्यक्तित्व की इस प्रकार की धारणा मूर्खतापूर्ण धारणा है।[१३१] हैरवार्ड केरिंगटन ने भी मृत्यु के बाद व्यक्तित्व को सिद्ध किया है।[१३२] प्रो. एस. सी. नारथ्राप कहते हैं कि "आत्मा के अमरत्व का निषेध करने वाले पाश्चात्य जड़वादी भी भौतिक शास्त्रान्तर्गत शक्ति तथा अचेतन द्रव्य की अध्यक्षता को मानकर एक तरह से अमरत्व को ही स्वीकृति देते हैं।" नारथ्राप के अलावा अन्य आधुनिक

१२६. गीता २/२०
१२७. योगदर्शन- साधनपाद, १३ वां सूत्र
१२८. सांख्य दर्शन-१/१
१२९. न्याय दर्शन-१/१/१९
१३०. डॉ. भीखनलाल आत्रेय- परामनोविज्ञान, अ. ६
१३१. डॉ. शान्ति प्रकाश आत्रेय- योगमनोविज्ञान, पृ. २८७
१३२. हैरवार्ड कैरिंगटन- द स्टोरी ऑव साइकिक साइन्स, पृ. सं. ३२३, ३२४, २८२, ४२५

वैज्ञानिक भी मृत्यु के बाद व्यक्तित्व विद्यमान रहता है, इस तथ्य की पुष्टि करने लगे हैं।[133]

आचार्य जी के अनुसार जन्म लेने, जीवन धारण करने का एक ही मौलिक प्रयोजन है, जीवन और सृष्टि में भागवत् सौन्दर्य को परिपूर्ण अभिव्यक्ति। इस हेतु व्यक्तिगत आत्मा विभिन्न रूपों में विकसित होती है, जब तक कि वह मानव तक नहीं पहुँच जाती, जो कि और भी उच्चतर स्तरों के लिए एक सीढ़ी मात्र है। निम्न से उच्च तक, पशु से मानव तक प्रगति सुनिश्चित है। जीवात्मा मानव शरीर में आकर भी बार-बार इसे धारण करती रहती है। इस क्रम में शरीर भले मानवाकार ही बना रहता है। पर हर बार भगवान् के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति बढ़ती जाती है। यह विकास की सामान्य प्रक्रिया है जो महामानव, देवमानव, ऋषि के क्रम में उत्तरोत्तर गतिशील रहती है।

मानव सामान्यतया अगला जन्म मानव के रूप में ही प्राप्त करता है। मानवीय चेतना इतनी उत्कृष्ट एवं परिष्कृत कोटि की है कि उसका निचली योनियों में जाना लगभग असम्भव है। तो भी यदि कोई मनुष्य अपनी संकल्प शक्ति का इतना भीषण दुरुपयोग करे कि वह मानवीय सद्गुणों से निरन्तर दूर ही हटता जाय। मानवीयता की संज्ञा से जुड़े भाव स्पन्दनों को कुचलता ही रहे और पाशविक प्रवृत्तियों को ही अपनाकर उन्हीं को अपना साध्य, इष्ट, लक्ष्य समझने लगे तो क्या किया जाये? ऐसे नर पशुओं, नर कीटकों का निम्नतर योनियों में जाना उचित भी है, स्वाभाविक भी। परन्तु इस कोटि का पतन कम ही मनुष्यों का हो पाता है। जिस प्रकार देवोपम स्तर बहुत थोड़े लोग ही प्राप्त कर पाते हैं, उसी प्रकार पुनः नीचे की ओर जाने को विवश कर देने वाली हीनतर प्रवृत्तियाँ उससे भी कम ही लोग पूरी तरह अपनाते हैं। अधिकांशतः लोग अपनी शक्ति भर ऊपर उठने का ही प्रयास करते हैं। क्योंकि आनन्द प्राप्त करने की प्रत्येक जीवात्मा की मूलभूत इच्छा होती है और मनुष्य योनि में आने तक जीवात्मा इतनी विकसित तो हो ही चुकी होती है कि वह आनन्द के नाम पर नारकीय दुःखों को ही अपनाने में न जुट जाये। फिर जब कभी वह मोह तथा वासना के आवेग में उधर अधिक मुड़ता भी है तो उसका मानवीय अन्तःकरण उसे ही कचोटने लगता है वह छटपटाने लगता है और तब तक सामान्य स्थिति में नहीं आ जाता जब तक प्रायश्चित और भूल सुधार कर वह पुनः सामान्य एवं सहज मानवीय स्तर को न प्राप्त कर ले उसी राह पर न चलने लगे जो मनुष्यता के अनुकूल है।[134]

आत्म सत्ता के संकल्प एवं कर्म ही प्रत्येक मनुष्य की प्रगति या पतन के आधार बनते हैं। मनुष्य की अपनी इच्छा शक्ति एवं उसके कर्म ही जीवन प्रवाह के नए-नए मोड़ों का कारण बनते रहते हैं।[135] यह इच्छा ही कर्म का स्वरूप गढ़ती है। कर्म और कर्म विषयक चिन्तन संस्कारों का रूप ले लेते हैं। कर्मफल एवं संस्कार- प्रारब्ध का निर्माण करते हैं, प्रारब्ध जन्मान्तर के स्वरूप का निर्धारण करता है। इन सबके मूल में इच्छा ही है। गीताकार के शब्दों में- "यं यं वापि स्मरन्भाव त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः।"[136]

अर्थात्- कुन्ती पुत्र! यह मनुष्य अन्तकाल में जिस-जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है, उस-उस को प्राप्त होता हुआ, परन्तु सदा उस ही भाव को चिन्तन करता हुआ, क्योंकि सदा जिस भाव का चिन्तन करता है अन्तकाल में भी प्रायः उसी का स्मरण होता है।

इस प्रकार इच्छा का स्वरूप और कर्म के संस्कार अगले जन्म में विकास क्रम के मानक के रूप में उभरते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य जी ने पूर्व प्रचलित मानकों से हटकर प्रारब्ध के अच्छे और बुरे होने का मापन वर्तमान

१३३. लॉज- द सरवाइवल ऑव मैन, पृ. २२१, आसबोर्न- द सुपर फिज़िकल, पृ. २५०, सर अ. कानन डायल- सरवाइवल, पृ. १०४
१३४. आचार्य श्रीराम शर्मा- पुनर्जन्म का ध्रुव सत्य, पृ. १०८
१३५. आचार्य श्रीराम शर्मा- पुनर्जन्म का ध्रुव सत्य, पृ. १०८
१३६. गीता- ८/६

जीवन में प्राप्त होने वाली साधन-सुविधाओं के आधार पर नहीं बल्कि विकसित गुणों के आधार पर किया है। उनके शब्दों में- "साधन-सुविधाओं की प्रचुरता उपलब्ध होना न तो किसी के पिछले जन्म में पुण्यात्मा होने का प्रमाण है, न ही किसी के व्यक्तित्व की श्रेष्ठता का परिचायक है। प्रवृत्तियाँ दूषित या पतनशील हुईं तो परिस्थितियों की यह अनुकूलता और साधनों की प्रचुरता बौद्धिक-नैतिक एवं चारित्रिक पतन में भी सहायक सिद्ध होती है। साधन सम्पन्नता से बढ़-चढ़कर उत्कृष्ट संवेदना, आदर्शवादी आस्था, सात्विकता, प्रसन्नता, धैर्य, साहस, शौर्य, सूझ-बूझ, स्वाध्याय परायणता, कला कौशल, व्यवहार कुशलता, भावनात्मक श्रेष्ठता, करूणा, निरहंकारिता, अन्तर्दृष्टि, कुशाग्र बुद्धित्व, प्रखर धारणा शक्ति सहयोग वृत्ति, आदि सैकड़ों, हजारों मानवीय विशेषताएँ हैं। इनमें से प्रत्येक का अपना महत्त्व है और उपयोगिता है। प्रत्येक से अनेक प्रकार की उपलब्धियाँ सम्भव हैं।"[१३७]

अतः किसी व्यक्ति के पिछले जन्मों की प्रवृत्तियों, संस्कारों का लेखा-जोखा यदि करना ही हो तो ऐसा उसकी वर्तमान प्रवृत्तियों गतिविधियों के आधार पर किया जाना ही उचित है न कि सफलता के आधार पर।... यह मन बुद्धि, अंतःकरण की प्रवृत्तियाँ और स्तर ही हैं जो अगले जन्म में भी काम आता है। साधन सामग्रियाँ तो छूट जाती हैं।[१३८] भौतिक साधन-सुविधाओं की घट-बढ़ नहीं बल्कि एक अधिक उत्तम आध्यात्मिक साधना की अन्तरंग जरूरत ही आत्मा को शरीर का परित्याग करने को प्रेरित करती है। इसे यों भी कह सकते हैं कि पुनर्जन्म एक शाश्वत व्यक्तित्व के सतत् नए-नए रूप धारण करने अथवा लम्बे समय तक जिन्दा रहने वाला उपकरण न होकर प्रकृति में आध्यात्मिक विकास का साधन है। भगवान् के मञ्जुल सौन्दर्य को नए-नए ढंग से अभिव्यक्त करने का माध्यम है।

परम एकत्व - मोक्ष

अपनी अभिव्यक्ति हेतु जन्म-जन्मान्तर की कोशिशों के बाद जीवात्मा विकास को पूर्णता, परम एकत्व-मोक्ष के रूप में प्राप्त करती है। गीताकार के शब्दों में- 'अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।'[१३९] अनेक जन्मों से अन्तःकरण की शुद्धि रूप सिद्धि को प्राप्त हुआ योगी परम गति को प्राप्त होता है। वैदिक दर्शन ने इसे मानव जीवन का परम लक्ष्य माना है। मुक्ति वह अवस्था है जिसमें मनुष्य सब वासनाओं को त्याग कर पूर्णकाम हो जाता है और सब प्रकार के कष्टों से दूर विशुद्ध दिव्य आनन्द के महासमुद्र में हिलोरें लेने लगता है। वेद में कहा गया है- जिसमें सुकर्मचारी लोग ज्ञान से अमृत के प्रसाद को निरन्तर प्राप्त करने की घोषणा करते हैं, वह समस्त संसार का स्वामी और रक्षक अपने ज्ञान में रमने सहारे उस परम आनन्द का भोग करता है।[१४०] अविनाशी, परम रक्षक जिस परमात्म देव में सब जड़ और चेतन देव निवास करते हैं, वेद की ऋचाएँ उसी का बखान करती हैं। जिसने उसे नहीं जाना वह वेद की ऋचाओं से क्या करेगा? जो उसे जानते हैं, वे ही आनन्दपूर्वक रहते हैं।[१४१] वह परमात्म देव कामनाओं से रहित हैं, धीर हैं, अमृत हैं, स्वयंभू हैं, आनन्द से तृप्त हैं, उसमें कहीं से भी कोई कमी नहीं है, उसे जान लेने वाला मृत्यु से नहीं डरता,

---

१३७. आचार्य श्रीराम शर्मा- पुनर्जन्म सिद्धान्त को भलीभाँति समझा जाय, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४२, अंक २, पृ ३३

१३८. वही, पृ. ३८

१३९. श्रीमद्भगवद्गीता-६/४५

१४०. यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥ -
ऋ. १/१६४/२१

१४१. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥
- ऋ. १/१६४/३९

वह सर्वव्यापक है, धीर है, अजर है और युवा है।[142] मैंने इस परमात्म देव रूप पुरुष को जान लिया है, जो महान् है, सूर्य जैसा तेजस्वी है और अन्धकार से परे है। उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु को जीत सकता है। अमरता की ओर जाने का और कोई दूसरा मार्ग नहीं है।[143] वेदों के अनुसार वह उस प्रसाद को न प्राप्त करेगा जो उस (जगत्पिता) को नहीं जानता।[144] मुक्ति का साधन ब्रह्म साक्षात्कार है। यह साक्षात्कार बाह्य इन्द्रियों द्वारा नहीं किया जा सकता। वह तो अन्तःकरण में आत्मा की एकात्मता द्वारा किया जाता है। परमात्म दर्शन सद्‌विचार, सतत् व्यवहार और श्रद्धा से ही सम्भव है।[145] व्यक्ति परोक्ष तथा प्रत्यक्ष दुष्कृतों से हटकर ही मोक्ष भागी बनता है।[146] इसी प्रकार अहिंसा आदि धर्माचरण तथा योगाभ्यास, ध्यान उपासना भी मोक्ष के आवश्यक साधन हैं।[147]

उपनिषदों में मोक्ष सम्बन्धी विचारों की परिपक्वता देखने को मिलती है। मुण्डक उपनिषद में कहा गया है कि जो परब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म रूप हो जाता है।[148] छान्दोग्य कहता है कि यहाँ से रवाना होने पर मैं ब्रह्म में, जो मेरी आत्मा है विलीन हो जाऊँगा।[149] कौशितकी उपनिषद का कथन है कि जब व्यक्ति सभी इच्छाएँ छोड़ देता है, उन्हें हृदय से निकाल देता है, तब एक मर्त्यशील व्यक्ति अमर हो जाता है। वही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[150] वृहदारण्यक उपनिषद कहता है कि उसके प्राण कहीं नहीं जाते। ब्रह्म होने के कारण वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[151] मोक्ष परम आनन्द की स्थिति होती है। यह तो सत्य प्रकाश तथा अमरत्व का लोक होता है।[152]

भारतीय दर्शन में मोक्ष को मूल्य के रूप में स्थान मिला हुआ है। इसकी यही विशेषता इसे पश्चिमी तत्त्व चिन्तन से विलग करती है। पश्चिमी चिन्तन के मुताबिक मानव जीवन का लक्ष्य नैतिक या धार्मिक जीवन तथा मानवता की सेवा है। परन्तु भारतीय ऋषियों के अनुसार केवल साधना मूल्य है, साध्य मूल्य मोक्ष है। न्याय दर्शन के अनुसार यह दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति है।[153] वैशेषिक सूत्र के अनुसार कर्मों के अन्त हो जाने पर आत्मा का शरीर से सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। जीवन-मरण के चक्र की यही समाप्ति मोक्ष है।[154] सांख्य के अनुसार मुक्ति के दो भेद हैं- जीवन मुक्ति, इसमें पुरुष को यह दृढ़ ज्ञान हो जाता है कि मैं स्वभावतः निष्क्रिय हूँ, अकर्ता हूँ, सेवा रहित हूँ।[155] विदेह मुक्ति में जब भोग से प्रारब्ध कर्म भी समाप्त हो जाते हैं तो पुरुष इस शरीर को छोड़ देता है और नित्य तथा पूर्ण कैवल्य को प्राप्त कर लेता है।[156] पतंजलि ने अपने योगसूत्र में मुक्ति की परिभाषा

---

१४२. अकामो धीरो अमृतः स्वयंभूः रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥ -अथर्व. १०/८/४४

१४३. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसःपरस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
- यजु. ३१/१८

१४४. तत्रोप्रशाद्यः पितरं न वेद - ऋ. १/१६४/२२

१४५. ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुतः - ऋ. ९/११३/२

१४६. स्वामी ब्रह्ममुनिः - वैदिक वन्दन, पृ. ११९ पर (ऋ. १०/६) की व्याख्या।

१४७. वही, पृ. ४२० पर, सुकृतस्य लोकं धर्मस्य व्रतेन तपसा - अथर्व. ४/११/६

१४८. मुण्डक -३/२/९

१४९. छा. उ. -३/१४/४

१५०. कौशितकी उ. -६/१४

१५१. बृ. उ. -४/४/६

१५२. बृ. उ -१/३/२८

१५३. आत्यन्तिकी दुःख निवृत्तिः (मोक्ष)

१५४. तदभावे सयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः - वै. सू. ५/२/१८

१५५. साख्य कारिका-६४

१५६. वही, पृ ६८

देते हुए कहा है, कि बुद्धि सत्व तथा पुरुष की जो शुद्धि एवं सादृश्य है वही कैवल्य है।[१५७] मीमांसकों के अनुसार मोक्ष का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि आत्मा के प्रपंच सम्बन्ध के विलय का नाम ही मोक्ष है।[१५८] अद्वैत वेदान्त के आचार्य शंकर के अनुसार- यह परमार्थ है, कूटस्थ नित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सभी विकारों से शून्य है, नित्य तृप्त है, अवयवों से रहित है, स्वभाव से स्वयं प्रकाश है, यह ऐसी स्थिति है जहाँ तक पाप और पुण्य अपने फल सहित त्रिकाल में नहीं पहुँच सकते।[१५९] रामानुज के अनुसार मोक्ष पी.एण. श्री निवासाचारी के शब्दों में वैयक्तिक दृष्टिकोण से मुक्ति तथा दिव्य दृष्टि और दिव्य आनन्द की प्राप्ति है। उस स्थिति में जीव स्वयं नहीं बल्कि केवल उसका पृथकत्व भाव ही समाप्त होता है।[१६०] निम्बार्क के भेदाभेद वेदान्त में मोक्ष का स्वरूप बताते हुए श्रीधर मजूमदार लिखते हैं कि मोक्ष का अर्थ वैयक्तिकता की समाप्ति नहीं है, बल्कि वैयक्तिकता का उस सीमा तक विस्तार है जहाँ मेरा-तेरा की भावना समाप्त हो जाती है।[१६१] मध्व के अनुसार मुक्ति 'पूर्ण आत्माभिव्यक्ति, आत्मप्रकाशन और आत्म साक्षात्कार, संक्षेप में कहें तो आत्मा की सभी क्षमताओं एवं शक्तियों का प्रकटीकरण है।'[१६२] भगवान् बुद्ध के अनुसार निर्वाण (मोक्ष) उच्छेद है। परन्तु यह उच्छेद साधक का नहीं बल्कि लालसा, तृष्णा, जिजीविषा का तथा उसकी तीनों जड़ों (राग, जीवन धारण की इच्छा और अज्ञान) का है।[१६३] जैन दर्शन के अनुसार-पहले से सम्बद्ध कर्मों से जीव को छुड़ाना ही निर्वाण (मोक्ष) कहलाती है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चरित्र तीनों ही मोक्ष साधन हैं।[१६४]

आधुनिक चिन्तकों में स्वामी विवेकानन्द अनुसार आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य की अवस्था ह मोक्ष है। महात्मा गांधी के अनुसार यह व्यक्तिगत अ को सामाजिक अहं में मिला देना है। स्वामी रामतीर्थ आत्मा और ब्रह्म को एक ही मानते हैं और आत्मज्ञान ही मोक्ष है। रमण महर्षि के शब्दों में अहं ब्रह्मास्मि की प्रतीति होना मुक्ति है। श्री अरविन्द के शिष्य डॉ. इन्द्रसेन मोक्ष को ऐसी स्वतंत्रता मानते हैं, जो अपने स्वामित्व का पाती है।[१६५]

आचार्य जी- मोक्ष के चिन्तन में एक नयी व्यापकता विकसित करते हैं। ऐसी व्यापकता जिसमें उपरोक्त सभी निष्कर्षों को अपना-अपना स्थान स्वभावतः मिल जाता है। उनके अनुसार आत्मा प्रकृति के बन्धनों से तोड़कर सम्भव है अपना कल्याण कर ले, पर स्व" प्रकृति कब मोक्ष पाएगी? मोक्ष की सर्वांगीण धारण वही होगी, जिसमें हमारी सम्पूर्ण सत्ता मोक्षमय हो जाये। अतएव अपने चिन्तन में वह आत्मा के शिवत्व की अभिव्यक्ति के साथ प्रकृति के परिशोधन, परिमार्जन व रूपान्तरण पर बल देते हैं। उनके शब्दों में- "अपने असंयम, असन्तोष, अनाचरण से यदि छुटकारा प्राप्त कर लिया जाय तो समझना चाहिए कि अवांछनीयता से छुटकारा मिल गया। देवत्व की उत्कृष्ट आदर्शवादिता व्यक्तित्व में सामहित हो गई। इसी को मुक्ति समझा जा सकता है।"[१६६]

---

१५७. सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् - योग सूत्र ३/५६
१५८. प्रपच सम्बन्ध विलयो मोक्षः - शास्त्रदीपिका, पृ. ३५७
१५९. इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थनित्यं व्योमवत्सर्वव्यापि सर्वविक्रमारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयं ज्योतिः स्वभावम् यत्र धर्माधर्मा सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तते।- ब्र. सू. - शा.भा. १/१/४
१६०. पी.एन. श्रीनिवासाचारी- हेरिटेज, पृ. ३१२
१६१. Sridhar Majumdar- The Vedanta Philosophy, p.xiv
१६२. B.N.K. Sharma- Philosophy of Sri Madhwacharya, p.339
१६३. धम्मपद १५४, तथा ओधतरण सुत्त, निमोक्ख सुत्त सयाजन सुत्त तथा बन्धन सुत्त।
१६४. सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः। त. सू -१.१
१६५. डॉ. इन्द्रसेन- व्हाट इज मोक्ष, जर्नल ऑफ इन्डियन कौन्सिल ऑफ फिलासफिकल रिसर्च vol iv No 1, p. 15
१६६. आचार्य श्रीराम शर्मा- स्वर्ग कहीं अपने ही इर्द-गिर्द, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अक ९, पृ. ८

मोक्ष का शब्दार्थ है-बन्धन मुक्त होना। बन्धन तीन ही है- लोभ, मोह, अहंकार। इन्हीं को वासना, तृष्णा, संकीर्णता (अहंता) भी कहते हैं। यही वास्तविक बन्धन है। इन लिप्सा लालसाओं से जो अपने को मुक्त कर लेता है, समाज का एक विनम्र घटक बनकर सेवा साधना में संलग्न रहता है। उसी के बारे में यह समझना चाहिए कि जीवित रहते ही उससे मुक्ति प्राप्त कर ली। जीवन मुक्त होने का तात्पर्य बन्धन मुक्त होना ही है।[१६७] इन बन्धनों का कारण अज्ञान है। आन्तरिक अज्ञानता के कारण अपनी कामनाओं, वासनाओं की आंधी में उड़ते-फिरने को ही स्वतंत्रता समझे रहना है। मोह, माया, तृष्णा, अहंता, वासना-कामना की आकर्षक मादक मदिरा अन्तश्चेतना को सदा लुभाती रहती है। शरीर और मन को रुचिकर इन मदिराओं और मादकताओं का त्याग ही मुक्ति है।[१६८] भव बन्धन, माया पाश आदि के नाम से जिस तमिस्रा का अध्यात्म क्षेत्र में हेय वर्णन किया जाता है वह और कुछ नहीं मात्र विलास और स्वामित्व की तृष्णा भर है। इस भार से हल्का होते ही आत्मा विश्व आकाश में स्वच्छन्द पक्षी की तरह विचरने का आनन्द लेने लगता है। इसी को जीवन मुक्ति कहते हैं।[१६९]

मुक्ति का वास्तविक सम्बन्ध अन्तश्चेतना से ही है। आत्म चेतना में ही आत्म स्वातन्त्र्य निहित है। बिना आत्म चेतना के बाहरी स्वतंत्रताएँ बहुधा परतंत्रताओं का ही छद्म रूप धारण करती हैं।[१७०] मुक्ति का एक मात्र उपाय यही है कि हम आत्म सत्ता को सत्यतः स्वीकारें, उसे यथार्थतः जानें, उनके प्रति अज्ञान भाव न पाले रहें। जीवन के प्रत्येक क्रियाकलाप उसी केन्द्रीय प्रकाश से निर्देशित, नियंत्रित हों, वासनाओं के अधंड़ आवेग से नहीं। तभी हम सर्वोच्च पुरुषार्थ मुक्ति के अधिकारी होंगे।[१७१] यह कोई चमत्कार या रहस्य नहीं है। यह तो जगत् और आत्मा दोनों का वास्तविक तत्त्व जानने तथा इस बोध को व्यक्ति चेतना की सहज स्थिति बना डालने की साधना है।[१७२] बाह्य स्वतंत्रताएँ आन्तरिक मुक्ति से गुंथी रहती हैं। जिस सीमा तक आन्तरिक मुक्ति होगी, उसी सीमा तक बाह्य स्वतंत्रता भी विकसित होगी।[१७३]

◆ जीवन मुक्ति की श्रेष्ठता

आचार्य जी विदेह मुक्ति से जीवन मुक्ति को श्रेष्ठ मानते हैं। देह छोड़कर किसी अवान्तर लोक में पलायन करने से मिलने वाली मुक्ति सर्वांगीण नहीं हो सकती। जन्म-मरण बन्धन नहीं, आत्मा के अनन्त जीवन इतिहास के अध्याय हैं। उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति के सोपान हैं। उनके शब्दों में- जन्म-मरण से मुक्त होना कोई महत्त्व नहीं रखता। भगवान् के सभी अवतार माता के गर्भ से उत्पन्न हुए और अन्त समय आने पर मरे भी। महापुरुष भी इसी स्रोत से धरती पर अवतीर्ण होते रहे हैं। जीवन का धारण और विसर्जन तो हर्षोल्लास का समय है। उससे छूटने को मुक्ति नहीं कहा जा सकता।[१७४]

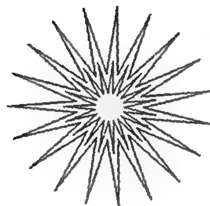
◆ वैश्व मुक्ति का वैशिष्ट्य

आचार्य जी के तत्त्व चिन्तन में मोक्ष की समग्रता वैयक्तिक जीवन की सीमाओं में सिमटी-सिकुड़ी, बँधी-फँसी नहीं रहती। इसकी समग्रता वैश्व व्यापकता में संव्याप्त है। उनके शब्दों में- "जीवन का एक लक्ष्य है ज्ञान और द्वितीय सुख। ज्ञान और सुख के समन्वय का ही नाम

---

१६७. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४९, अंक १०, पृ ६
१६८. आचार्य श्रीराम शर्मा- जीवन का परम पुरुषार्थ मुक्ति, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४३, अंक ४, पृ. ३०
१६९. आचार्य श्रीराम शर्मा- विवेकवान अपना जीवन दर्शन बदलें, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४३, अक ४, पृ. ३१
१७०. आचार्य श्रीराम शर्मा- जीवन का परम पुरुषार्थ मुक्ति, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४३, अंक ४, पृ. ३०
१७१. वही, पृ. ३०,
१७२. वही, पृ. २९
१७३. वही, पृ ३०
१७४. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४९, अंक १०, पृ. ६

मुक्ति है। आत्म चिन्तन के द्वारा हम माया बन्धनों सांसारिक अज्ञान को काट लेते हैं और विषय-वासनाओं से छूट जाते हैं, तो हम मुक्त हो जाते हैं। किन्तु ऐसी मुक्ति तब तक नहीं मिल सकती जब तक सृष्टि के शेष प्राणी बन्धन में हैं।"[१७५] इस तरह उनके सर्वांग दर्शन में सर्वांग मुक्ति का स्वरूप है- प्रकृति का रूपान्तरण, आत्म सौन्दर्य की ज्ञान, प्रेम-आनन्द के रूप में परमात्मा की व्यापकता में शाश्वत अनुभव। साथ ही इस अनुभव की समग्रता में समूचे विश्व को मोक्ष धाम बना देगा। समूची सृष्टि माया की अन्धता में डूबी न रहकर मोक्ष के उज्ज्वल आलोक से परिपूरित हो जाये।



१७५. आचार्य श्रीराम शर्मा- आत्म विस्तार ही सर्वोच्च धर्म, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक ५, पृ. १

अध्याय ५

सृष्टि - विचार

आत्म सत्ता अपने व्यक्तित्व के झरोखे से इस सृष्टि के अनन्त विस्तार, अपरिमित वैभव को देखकर आश्चर्य में पड़ जाती है। इस आश्चर्य से जन्मती है- जिज्ञासा "इस विश्व की रचना कैसे हुई, किसने की ?"[१] परिपक्व जिज्ञासा उन विचारों का रूप ले लेती है, जो अपने और सृष्टि के बीच सम्बन्ध सूत्रों की खोज में आगे बढ़ते हैं। सृष्टि के स्वरूप और रहस्य को जानने की यह अकुलाहट जिज्ञासु के अन्त:करण में अनुभवों की उपलब्धियाँ बिखेरती जाती हैं। विचारों का यह अनुभव ही ज्ञान है।

इसी तत्व को स्वीकार करते हुए प्लेटो ने कहा है कि दर्शन का प्रारम्भ आश्चर्य से होता है। "ब्रह्माण्ड के विस्तार, स्वरूप, आयुष्य एवं प्राविधान खोजने की मनुष्य की उत्सुकता का होना स्वाभाविक है। क्योंकि अन्तत: वह उसी का एक छोटा घटक है। आग और चिन्गारी के विस्तार में तो अन्तर है, पर गुण-धर्म में नहीं। समुद्र का पानी खारा है तो उसकी लहरें या बूंद भी उस गुण-धर्म से पृथक् नहीं हो सकती। चिन्गारी का तात्त्विक विश्लेषण छोटे रूप में नहीं हो सकता। उसमें सन्निहित विशेषताओं को समग्र रूप से समझने के लिए प्रकृति कलेवर में संव्याप्त अग्नि तत्त्व का स्वरूप एवं क्रिया-कलाप समझना होगा।"[२] इसी तरह आत्म सत्ता भी विश्व की व्यापकता और अनन्तता में ही अपने रहस्य की समग्रता को पा सकती है।

प्राच्य दर्शन में सृष्टि प्रक्रिया

◆ वैदिक चिन्तन में सृष्टि रहस्य

वैदिक साहित्य में यह रहस्य काव्य बनकर ऋचाओं में मुखरित हुआ है। जगत् की सृष्टि को चमस् निर्माण के सदृश मानते हुए ऋषि आश्चर्य प्रकट करता है, कि "वह कौन सा काष्ठ है, अथवा कौन सा वृक्ष है, जिसमें से द्यावा पृथिवी का निर्माण हुआ ?"[३] नार्वेजियन तथा अवेस्तिक परम्परा[४] की भाँति वेद में भी प्राय: एक संसार वृक्ष[५] का उल्लेख मिलता है। जिससे प्रतीत होता है कि सृष्टि क्रिया को विश्व प्ररोहन के समान समझा जाता है। अर्थात् जिस तरह एक छोटे से बीज से अंकुर निकलकर एक विशाल वृक्ष के रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार विश्व का भी सूक्ष्म से विराट् नाम-रूप हो जाता है। कभी-कभी विश्व सृष्टि को गृह निर्माण के रूपक[६] द्वारा व्यक्त किया जाता है और इस प्रसंग में नापना स्थान को पवित्र करना, छत बनाना, गृह की दृढ़ता का ध्यान रखना, उसमें अग्नि का प्रवेश कराना आदि साधारण गृह निर्माण की क्रियाएँ विश्व गृह निर्माण में आरोपित की जाती है।[७]

एक अत्यन्त प्रचलित रूपक में विश्व सृष्टि को देवों तथा असुरों जैसी दो विरोधी शक्तियों के संघर्ष का परिणाम समझा जाता है। भारोपीय परम्परा में इस प्रकार का एक संघर्ष विश्व वृक्ष के प्रसंग में भी आता है। नार्वेजियन अस यज्ञ द्रसील[८] तथा ईरानी गवो करेन[९] तथा

---

१. आचार्य श्रीराम शर्मा- ईश्वर है या नहीं, है तो कैसा है ?, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४०, अंक १२, पृ. ३
२ आचार्य श्रीराम शर्मा- विलक्षणताओ से भरी हमारी पृथ्वी, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४५, अक ५, पृ २६
३ ऋग्वेद १०, ३१, तु क. ८, ८१, ४, १०, २८८ आदि
४. Thrope; N M pp.5, ff H.A.G M N pp 12, 14, 13-33, 146-120, Cox; M.A. pp 331-2; Corony I.M Fatahsingh, Poona Orientalist V I.I.
५. ऋग्वेद १, २४, ७, १, १६१; १०, १३५ तु. क. अ वे ८०, ७, ३८; Wallis; C R.V. p. 15 ff
६ Wallis, C R.V. pp 16, 36
७. वही,
८ H A.G ; M N. pp. 12, 13, 14, 31, 33, 60, 100, 147, 160, 185, 331
९ Dr Corony, Iranian Mythology, Myths of creation.

वैदिक सोमवृक्ष[10] एक ही तथ्य के भिन्न स्पष्टीकरण भर हैं। वैदिक कथाओं में ऐसे ही संघर्ष का उदाहरण इन्द्र-वृत्र का युद्ध है। साधारण दृष्टि से देखें तो वृत्त प्रकाश तथा 'आप:' को चुरा ले जाता है, तो इन्द्र अपने वज्र से उसके ऊपर आघात करता है, और आप: सूर्य तथा उषा की उससे मुक्ति हो जाती है।[11] दार्शनिक दृष्टि से वृत्र वाक् या प्रकृति की निष्क्रिय अवस्था है और इन्द्र (परमात्मा) उसी में से सूर्यादि को निकाल कर उसकी सृष्टि कर देता है।[12] अत: वृत्र वध के बाद मुक्त होने वाले 'आप:' वही आप हैं जो सृष्टि के कारण बताए गए हैं।[13] जिस प्रकार वाक् या प्रकृति को शबलो या विराज नामक विश्व रूप गाय कहा गया है,[14] उसी प्रकार वृत्र को भी विश्व रूप नाम दिया गया है।[15] जिसको मार कर इन्द्र विश्वकर्मा या प्रजापति हो जाता है।[16] इसलिए इस कल्पना के अनुसार निष्क्रिय प्रकृति को वृत्र और सक्रिय प्रकृति (शक्ति) को वज्र माना गया है। अत: वृत्र वध को प्रकृति क्षोभ कहा जाएगा, जिसके परिणाम स्वरूप सृष्टि होती है।

इस प्रकार ऐसा लगता है कि अनादिकाल से दो पदार्थ एक ही चरम आधार भूत सत्ता के विकसित रूप हैं। यह एक परवर्ती सूक्त में वर्णित सिद्धान्त है, जिसे नासदीय सूक्त कहते हैं और जिसका अनुवाद स्वामी विवेकानन्द ने किया है।[17]

---

१०. 'सोम' उ.उ.

११. ऋग्वेद १, १५१, ४; ५२, ८; २, १९, ३; ३, ३४, ८, ९; १, ३२, ४ आदि तु क. Bergaine. L. Religion Vedique. 2, 2000 Maxmullar LL. 476

१२. वही,

१३. वरुण और आप: ऊपर

१४. ऋग्वेद ४/३०/८; ९/५/१०; तै. ब्रा. १/७/६/७ म.भा. १०२/९/१०; ता. म. ब्रा. २१/३/१-२ तु. क. एम. १/५३

१५. ऐ. ब्रा.१/७/२८; श. ब्रा. २/२/३/२; ५/५४/३; १/६/३/२; १/२/३/२ आदि

१६. ऐ. ब्रा. ४/२२ तै. ब्रा १/२/३/३ ऐ. ब्रा. ४/२२ तु. क. श. ब्रा. ७/४/२/५; ८/२/१/१०; ८/२/३/१० वा. सं. १३/१६

१७. ''तब न सत् था, न असत् ही,
न यह संसार था, न ये आकाश
इस धुन्ध का आवरण क्या था? वह भी किसका?
गहन अन्धकार की गहराईयों में क्या था?
तब न मरण था न अमरत्व ही
रात्रि दिवा से पृथक् नहीं थी,
किन्तु गति शून्य वह स्पन्दित हुआ था
तब केवल वह था, जिसके परे
कोई अन्य अस्तित्व नहीं
वही चराचर था।
तब तम में छिप कर तम बैठा था,
जैसे जल में जल समाहित हो, पहचाना न जाय
तब शून्य में जो था,
वह तप की गरिमा से मण्डित था।
तब मानस के आदि बीज के रूप में
प्रथम आकांक्षा जगी
(जिसका साक्षात्कार ऋषियों ने अपने अन्तर में किया, असत् से सत् जन्मा)
जिसकी प्रकाश किरण
ऊपर नीचे चारों ओर फैली।
यह महिमा सर्जनमयी हुई
स्वत: सिद्ध सिद्धान्त पर आधारित

इस सूक्त में सृष्टि-विज्ञान के विषय का एक उन्नत सिद्धान्त दिखाई देता है। शुरूआत में 'न तो सत् था न ही असत्।' सत् भी उस समय अपने अभिव्यक्ति रूप में नहीं था। केवल इसीलिए हम उसे असत् नहीं कह सकते, क्योंकि वह एक निश्चित सत्ता है, जिससे सब सत् पदार्थ आविर्भूत हुए। पहली पंक्ति में बौद्धिक सिद्धान्तों की अपूर्णता प्रदर्शित की गई है। परम सत्ता को जो समस्त विश्व, सृष्टि की पृष्ठभूमि में है, हम सत् अथवा असत् किसी भी रूप में ठीक-ठीक नहीं जान सकते। वह ऐसी सत्ता है जो अपने ही सामर्थ्य से बिना श्वास-प्रश्वास की क्रिया के जीवित है।[१८] उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु उसके परे नहीं थी। इन सबका आदि कारण समस्त विश्व से प्राचीन है। जो सूर्य, चन्द्रमा, आकाश और नक्षत्रों से युक्त है। यह काल की, देश की, मृत्यु और अमरता आदि सबकी पहुँच से बाहर और उनसे परे है। हम इसकी ठीक-ठीक व्याख्या नहीं कर सकते, सिवाय इसके कि यह अस्तित्व रखती है। उस सत्स्वरूप के आदिम और अनिर्वचनीय रूप की प्रारम्भिक और मूलभूत भूमिका है।

उस परम चेतना के अन्दर सबसे पहले स्वीकृति सूचक 'अहं' का भाव आता है। इस प्रकार के सांकेतिक विकास को ही तपस् कहा गया है। तपस् का अर्थ है-बाहर निकल पड़ना, एक अन्य सत्ता को बाहर प्रकट करना। इस तपस् के द्वारा ही हमारे सामने सत् और असत् दो विविध वस्तुएँ आती हैं। अर्थात् अहं और अहं भिन्न, सक्रिय पुरुष और निष्क्रिय प्रकृति, रचनात्मक तत्त्व और व्यवस्था में स्थित भौतिक प्रकृति। शेष चीजें इन्हीं दोनों परस्पर विरोधी तत्त्वों के एक-दूसरे के प्रति घात-प्रतिघात रूपी क्रिया का परिणाम है। इस सूक्त में इच्छा में ही सृष्टि विज्ञान का रहस्य छिपा है। इच्छा, आत्मा-चेतना का लक्षण है, जो मानस का बीज है, 'मनसो रेत:' यही उत्पत्ति और उन्नति की प्रेरणा है। यह कामना विचार से बढ़कर है।[१९] यही वह सूत्र है, जिससे सत् और असत् का सम्पर्क सम्भव होता है। और सृष्टि मूर्त होती है।

इसके अलावा ऐसे सूक्त हैं, जिसका अन्त दो तत्त्वों पुरुष एवं प्रकृति के साथ होता है। दशम मण्डल के ८२-५-६ सूक्तों में जो सूक्त विश्वकर्मा को सम्बोधित करके लिखा गया है। उसमें मिलता है कि समुद्र के जलों ने सबसे पहले प्रथम आदिकालीन बीज को धारण किया। यह आदिम बीज संसार के उत्पादक अण्डे के रूप में अव्यवस्था के आदिकालीन जलों के ऊपर तैरता था और यही जंगम विश्व का आदि तत्त्व है। इसी में से विश्वकर्मा, जो विश्व में सबसे पहले उत्पन्न हुए, प्रकट हुए। यहाँ वर्णित जल वही है, जिसे बाद के यूनानी विद्वानों ने सृष्टि के पूर्व की विश्रृंखलता कहा है। और जिसे बाइबिल के प्रथम अध्याय 'जेनेसिस' में आकार विहीन और शून्य कहा गया है। जिसके ऊपर असीम

और सर्जन शक्ति से स्फुरित।
किसने पथ जाना ? कहाँ अथ है, जहाँ से यह फूटा ?
सर्जन कहाँ से हुआ ?
सृष्टि के बाद ही तो देवों ने अस्तित्व पाया,
अत: उद्‌भव का ज्ञान किसे प्राप्त है ?
यह सर्जन कहाँ से आया
यह कैसे ठहरा, ठहरा भी है या नहीं ?
वह सर्वोच्च आकाशों में बैठा हुआ महाशासक
अपना आदि जानता है या नहीं ? शायद।''

स्वामी विवेकानन्द- विवेकानन्द साहित्य खण्ड १०, पृ. १९६-९७, मूल - ऋग्वेद १०/१२९/१-७

१८. इस तत्त्व की तुलना अरस्तू के 'अविचल चालक' से की जा सकती है।

१९. ग्रीक पुराणों में इच्छा (काम) के देवता ईरोस को विश्व की सृष्टि के सत्य से जोड़ा है। प्लेटो अपने सिम्पोजियम मे कहता है, ''ईरोस के कोई माता-पिता नहीं थे, न ही कोई शिक्षित व्यक्ति अथवा उसके माता-पिता का वर्णन करना है। ....अरस्तू के अनुसार ईश्वर इच्छावश गति करता है।''

की इच्छा का आधिपत्य था।[20] इच्छा, काम, स्वयं चेतना, मानस-वाक् अथवा शब्द ये सब उस अनन्त बुद्धि के गुण हैं, जो अवतार रूप ईश्वर के रूप में समुद्र पर विद्यमान है। और जिसे नारायण कहा गया है, जो अनन्त शैय्या पर विश्राम करता है। जेनेसिस में इसके प्रभावों को स्वीकार करते हुए कहा गया- ''सृष्टि हो जाय, सृष्टि हो गई।'' उसने विचार किया कि मैं संसार की रचना करूँगा, तब उसने इन विविध प्रकार के संसारों, जल, प्रकाश आदि को रचा।

सृष्टि की रचना कभी-कभी एक आदि पदार्थ से हुई भी कही जाती है। पुरुष सूक्त[21] में हम देखते हैं कि देवतागण सृष्टि के साधक मात्र हैं, जबकि वह सामग्री जिससे संसार उत्पन्न हुआ, परम पुरुष का शरीर है। सृष्टि रचना रूप कर्म को एक प्रकार का यज्ञ बताया गया है, जिसमें पुरुष बलि का पशु है। यह सब भूत, भविष्यत-जगत् पुरुष ही है।[22] यही नहीं कवि हृदय ऋषिगण विस्तृत छन्दात्मक मंत्रों की रचना करके सृष्टि और सृजेता दोनों की एकात्मता का बोध कराते हैं।

◆ भ्रम का भ्रम जंजाल नहीं

वैदिक चिन्तन ने इस दृश्यमान जगत् को छाया या माया अथवा भ्रम नहीं माना है। इसमें प्रकृति भी विश्वात्मा और जीवात्मा की भाँति अनादि और अनन्त है। इसमें उत्पन्न होने वाले जीवों की परमार्थिक सत्ता है। ''जो दर्शन परमात्मा को सब विश्व में सम्पूर्णतया ओत-प्रोत और व्यापक मानते हैं। वे विश्व को दुःखदायी नहीं मान सकते। इसी तरह जो यह मानते हैं कि यह विश्व परमात्मा का वैसा ही स्वरूप है, जैसे सोने के स्वरूप में आभूषण होता है। वे भी विश्व को दुःखदायी नहीं मान सकते। एक ही ब्रह्म सत् है, और ज्ञानी लोग उसी सत् को अग्नि, जल, सूर्य, वायु आदि कहते और वैसा वर्णन करते हैं।'' इस वेद वचन से यह सिद्ध है कि यह सम्पूर्ण विश्व भी ब्रह्म का रूप है। और ब्रह्म तो सच्चिदानन्द स्वरूप है ही। तो यह विश्व भी सत्, चित् और आनन्द स्वरूप हुआ। अतः यह विश्व दुःखरूप, मिथ्या अथ भ्रान्ति नहीं हो सकता।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-प्रकृति के गर्भ में मैं अपना बीज रखता हूँ, उससे सब भूतों की उत्पत्ति होती है। मैं बीज देने वाला पिता हूँ।[23]

परमेश्वर सारे विश्व का बीज देने वाला पिता है। परमेश्वर के बीज का विस्तार होकर यह सब विश्व बना है। अतः कहा है कि -

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। (ऐ ब्रा.

वह ब्रह्म पूर्ण है, यह विश्व भी पूर्ण ही है, क्योंकि पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण विश्व उत्पन्न हो सकता है, पूर्ण ब्रह्म से अपूर्ण दुःखदायी पदार्थ कैसे उत्पन्न होगा?

इसलिए यह सब विश्व, सृष्टि या जगत् भ्रम नहीं है, मिथ्या नहीं है। मन कल्पित नहीं है, मृग जलवत् आभास मात्र नहीं है, परन्तु सुवर्ण के आभूषणों के समान वह ब्रह्म का ही प्रत्यक्ष रूप है। ब्रह्म का स्वभाव ही विश्वाकार होकर विराजता है। परम कारुणिक परमात्मा ने इस विश्व में भरपूर आनन्द फैलाने के लिए विश्व रूप में स्वयं आत्मार्पण किया है।[24]

उपनिषदों का सृष्टि चिन्तन

वैदिक चिन्तन की परम्परा ही उपनिषदो मे प्रवाहवान हुई है। ऋचाओं के द्रष्टाओं ने ही श्रुतियो का उद्बोधन किया है। इनमें सृष्टि तत्त्व का ज्ञान, विज्ञान

---

२०. इसकी तुलना जेनेसिस के इस वृतान्त से की जा सकती है ''समुद्र के ऊपर अन्धकार था और ईश्वर की आत्मा समुद्र के ऊपर गतिमान थी।'' जेनेसिस (१/२) और भी ऋग्वेद १०/१२१; १०/७२

२१. ऋग्वेद -१०/९०

२२. ऋग्वेद -१०/९०/२

२३. मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
अह बीज प्रदा पिता॥ श्रीमद्भगवद्गीता -१४/३-४

२४. दामोदर सातवलेकर- क्या यह सम्पूर्ण विश्व मिथ्या है? पृ. १३-१५

किस तरह है ? इस सम्बन्ध में गौड़पाद ने अनेक सिद्धान्तों का लेखा-जोखा किया है।[25] उनका कहना है कि सृष्टि असत् से उत्पन्न होती है या सत् से इस सम्बन्ध में उपनिषद् के वचन निर्णायक नहीं है, क्योंकि दोनों पक्ष के सिद्धान्त यहाँ मिलते हैं। अतएव जो सिद्धान्त युक्तियुक्त लगे वही उपनिषद् का सृष्टि विज्ञान है।[26]

परन्तु प्रो.रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे[27] ने उपनिषदों का जो गम्भीर मनन-चिन्तन किया, उनके अनुसार उपनिषदों में सृष्टि तत्त्व के सम्बन्ध में निम्न बातें मिलती हैं।

१. सृष्टि का मूल तत्त्व अप् (जल) है। जल से सत्य उत्पन्न हुआ। सत्य ने ब्रह्म को जन्म दिया। ब्रह्म ने प्रजापति को उत्पन्न किया और प्रजापति ने देवों को पैदा किया।[28] तत्पश्चात् सृष्टि हुई।

२. उपनिषद् के दार्शनिक रैक्व का मत है कि मूल तत्त्व वायु है। वायु सभी वस्तुओं का संवर्ग है। इसी संवर्ग विद्या ने परवर्ती काल में ग्रीक दार्शनिक अनेक्सीमिनीज़ को प्रभावित किया।

३. कठोपनिषद् में कहा गया है कि अग्नि ही सम्पूर्ण भुवन में विभिन्न रूप से प्रविष्ट है।[29] इस विचार की तुलना प्रो. रानाडे ने ग्रीक दार्शनिक हेरक्लाइट्स के सृष्टि विज्ञान से की है, जिसके अनुसार अग्नि समस्त वस्तुओं का मूल कारण है।

४. प्रवाहण जाबालि का मत है कि आकाश सभी वस्तुओं का मूल स्रोत है। सभी भूतों की उत्पत्ति आकाश से होती है।[30]

५. सृष्टि का मूल असत् है। ऐसा उल्लेख छान्दोग्य, तैत्तिरीय और बृहदारण्यक की श्रुतियों में मिलता है। असत् से सत् उत्पन्न हुआ। वह सत् एक ब्रह्माण्ड हो गया। इस ब्रह्माण्ड के दो भाग हो गए, पृथिवी और द्यौ। फिर इसके अंशों से पर्वत, मेघ, नदियाँ और समुद्र उत्पन्न हुए। ब्रह्माण्ड से आदित्य उत्पन्न हुआ।[31] आदित्य से अन्य सब वस्तुएँ उत्पन्न हुईं।

६. छान्दोग्य उपनिषद् में सृष्टि का मूल सत् को माना गया है। सत् से तेज उत्पन्न हुआ। तेज से जल उत्पन्न हुआ। जल से अन्न उत्पन्न हुआ। अन्न से अण्डज, जीवज् और उद्भिज पैदा हुए।[32] यहाँ कहा गया है कि तेज् अप् और अन्न अर्थात् अग्नि, जल और पृथ्वी परस्पर मिलकर त्रिवृत होकर सभी वस्तुओं के कारण हैं। इसी त्रिवृत्तकरण के सिद्धान्त ने बाद में वेदान्त के पंचीकरण का रूप लिया।

७. कौषीतकी उपनिषद् के अनुसार प्राण परम तत्त्व है।[33] प्राण का यह संप्रत्यय बर्गसां के 'इलोन पायटल' से मेल खाता है। इसी प्राण तत्त्व ने सृष्टि को जन्म दिया।

८. श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर है। नारायण सृष्टि के मूल कारण हैं। वे भगवान् हैं उन्होंने अपने संकल्प से सृष्टि को उत्पन्न किया है। ऐसा नारायणोपनिषद् का कथन है। प्रश्नोपनिषद् के अनुसार प्रजापति सृष्टि के कर्त्ता हैं। नारायण उपनिषद् में प्रजापति को भी नारायण से उत्पन्न माना गया है।

९. मुण्डकोपनिषद् में सृष्टि का मूल कारण निर्गुण तथा सगुण ब्रह्म दोनों को कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में सृष्टि का मूल कारण ब्रह्म या ईश्वर को माना गया है।

---

२५. गौड़पाद- माण्डूक्य कारिका -२/२०/२८
२६. भूततोऽभूततो वापि सृज्यमाने समा श्रुतिः।
निश्चितं युक्तियुक्तं च यत् तद् भवति नेतरत्॥ गौड़पाद- माण्डूक्य कारिका, ३/२३
२७ रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे- ए कान्सट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषद् फिलासफी, पृ. ७६-१०५
२८. बृहदारण्यक उपनिषद -५/१
२९ कठोपनिषद -२/५
३०. छान्दोग्य उपनिषद -१/९/१
३१. वही, ३/१९/१/२
३२. वही, ६/६/२३
३३. कौषीतकी उपनिषद् ३-९

ईशावास्य उपनिषद् में सृष्टि संभूति और प्रलय को असंभूति कहा गया है। इससे क्रमशः जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव माना गया है। मुण्डक उपनिषद् में ईशावास्य के आविर्भाववाद और श्वेताश्वतर के सृष्टिवाद का समन्वय मिलता है।

१०. कहीं-कहीं काल को समस्त भूतों की योनि कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि सृष्टि विज्ञान के छह मत हैं- काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पंचमहाभूत या पुरुष को भिन्न-भिन्न लोग समस्त भूतों की योनि मानते हैं। इन छह मतों की आलोचना करके वहाँ दिखलाया गया है कि सृष्टि का कारण स्वयं भगवान् है।

११. सारी सृष्टि निर्गुण ब्रह्म या आत्मा से उत्पन्न हुई, ऐसा वर्णन ऐतरेय उपनिषद् में मिलता है। आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है, ऐसा तैत्तिरीय उपनिषद् का कथन है।

उपनिषदों के कथनों में पारस्परिक भिन्नता दिखते हुए भी वस्तुतः ये आत्मवाद की भिन्न प्रक्रियाएँ हैं। अनुभूतियों के अनेक स्तर अनेक ढंग से कहे गये हैं। इन सबके बावजूद ऐसा लगता है कि ठीक-ठीक अभिव्यक्ति नहीं हो सकी। यही स्थिति वेदों में सृष्टि चिन्तन की है। अनुभूति की समग्रता अपने को समग्र अभिव्यक्त नहीं कर पाई। बौद्धिक रीति-नीति और विश्लेषण की वैज्ञानिकता का अभाव होने के कारण ऋषियों के निष्कर्ष अभी भी रहस्य ही बने हुए हैं।

◆ षड् दर्शनों एवं बौद्ध विचार भूमि में सृष्टि विकास

न्याय दर्शन के अनुसार प्रलय और सृष्टि की परम्परा बीज-अंकुर की परम्परा के समान अनादि है। ऐसा कोई प्रलय नहीं, जिसके पहले एक सृष्टि न हुई हो और ऐसी कोई सृष्टि भी नहीं जिसके पूर्व प्रलय न रहा हो। इसलिए प्रलय की स्थिति को ध्यान में रखकर ही सृष्टि-प्रक्रिया को स्पष्ट कर पाना सम्भव है।

न्याय सूत्र के अनुसार ईश्वर सभी प्राणियों को शान्ति और विश्राम देने के लिए प्रलय की इच्छा करता है- 'संहारेच्छो भवति।' इसके साथ ही सारी आत्माओं, शरीर, इन्द्रियादि स्थूल तत्त्वों में निवास करने वाली अदृष्ट शक्ति का लोप हो जाता है। जिसे न्याय में शक्ति प्रतिबन्ध कहा है। इसके साथ ही प्रलय का क्रम शुरू हो जाता है। प्रलय क्रम में सृष्टि की समस्त वस्तुओं का आण्विक विघटन होने लगता है। सारी पृथ्वी और सारी सृष्टि विघटित होकर अणुओं में बदल जाती है। फिर ये अणु, जल, तेजस और अन्ततः वायु के रूप में स्थित हो जाते हैं। ये पार्थिव अणु और आत्म तत्त्व धर्म, अधर्म और पूर्व संस्कारों के साथ निष्क्रिय अवस्था में अवस्थित रहते हैं।

सृष्टि रचना के समय ईश्वर सृष्टि के निर्माण की इच्छा करता है। वह ईश्वरेच्छा सारी आत्माओं में अदृष्ट रूप में व्याप्त होकर एक नवीन स्पन्दन को प्रारम्भ करती है। इस अदृष्ट के स्पन्दन से सर्वप्रथम वायु के अणु प्रभावित होते हैं। आत्मा के साथ इन अणुओं का संयोग होता है। गतिज अदृष्ट ऊर्जा से अणु मिलकर द्व्यणुक और ये मिलकर त्र्यणुक की सृष्टि करते हैं। इनके द्वारा वायु का संचरण होता है। वायु के पश्चात् जलाणुओं के समुच्चय से जल और फिर तेजस की सृष्टि होती है। इसके पश्चात् पृथ्वी तत्व का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार अणुओं के संयोग से जब इन चार तत्त्वों का निर्माण हो जाता है। तो फिर ईश्वर सारे स्थूल ब्रह्माण्ड और ब्रह्मा की सृष्टि करता है। ईश्वर द्वारा नियोजित ब्रह्मा पुनः सृष्टि क्रम के संचालन का कार्य भार ग्रहण करता है।[३४]

वैशेषिक के रचयिता महर्षि कणाद ने समस्त जगत् की रचना परमाणुओं से बतलाई है। जब परमाणु एक दूसरे से पृथक् अवस्था में रहते हैं तब प्रलयावस्था होती है। और जब वे परस्पर मिलकर भिन्न-भिन्न प्रकार के रूपों व नामों की रचना करने लगते हैं तो जगत् का आविर्भाव हो जाता है। सृष्टि निर्माण की क्रिया को स्पष्ट करने के लिए वैशेषिक ने छः प्रकार के पदार्थों की कल्पना की है। जिनको कि १. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म,

---

३४. एस.एन.दास गुप्त- भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग १, पृ. ३३६

४. सामान्य, ५. विशेष, ६. समवाय कहा गया है।[35] सृष्टि निर्माण के इस क्रम में वायु, जल, पृथिवी, तेज की उत्पत्ति होती है। इन सब भूतों में वायु का आकाश, जल का वायु, पृथिवी और तेज का जल आधार माना गया है।

इस प्रकार महाभूतों की उत्पत्ति हो जाने पर परमेश्वर की इच्छा से तेजस् परमाणुओं में से एक महान् अण्ड उत्पन्न होता है। इसमें पृथिवी के परमाणु भी लगे रहते हैं। यही कारण है यह अण्ड अग्नि की तरह नहीं हो पाता। इसी अण्ड में ईश्वरेच्छा से ही समस्त विश्व के उत्पादक (पितामह) चतुर्मुख ब्रह्मा का सभी भुवनों-भुः भुवः आदि सात उर्ध्व तथा अतल-वितल आदि सात अधो लोकों के साथ-साथ उत्पादन होता है। ब्रह्मा का आधार होने के कारण इसे ब्रह्माण्ड भी कहा जाता है।[36] यही वैशेषिक शास्त्र में वर्णित सृष्टि प्रक्रिया है।

सांख्य दर्शन के अनुसार परम सद्वस्तु के दो रूप हैं- एक पुरुष, दूसरी प्रकृति। पुरुष भोक्ता, द्रष्टा, चेतन, मुक्त, निर्गुण और स्थिर है। दूसरी ओर प्रकृति मुक्त, दृश्य, अचेतन, सगुण और गतिशील है। पुरुष और प्रकृति स्वभाव में एक दूसरे के विपरीत हैं। और इसी कारण इनको आपस में सम्बन्धित करने के सांख्य दार्शनिकों के सारे प्रयास बनावटी लगते हैं।

पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध को समझाने के लिए इस मत के चिन्तकों ने अंधे लगड़े की उपमा दी है। परन्तु आचार्य शंकर के शब्दों में वह सांख्य की इस मौलिक मान्यता के खिलाफ है कि प्रकृति स्वाभाविक रूप से गतिशील है। फिर जब पुरुष स्थिर है और प्रकृति अचेतन ऐसी स्थिति में उनमें किसी प्रकार आदान-प्रदान कैसे सम्भव है। ब्रैडले के अनुसार अलग-अलग वस्तुएँ सिर्फ एक पूर्ण में मिल सकती हैं। सांख्य दार्शनिक के अनुसार "प्रकृति से अधिक नम्र और कोई नहीं है, जो कि यह मानने पर कि वह देखी जा सकी है, वह पुनः स्वयं को पुरुष की दृष्टि के सन्मुख नहीं करती।"[37] परन्तु अचेतन प्रकृति भला कैसे जान सकती है कि पुरुष ने उसकी ओर देखना बन्द कर दिया है?

सांख्य के अनुसार यह मूल प्रकृति ही तीन गुणों सत्त्व, रज, तम की न्यूनाधिकता के कारण जगत् के विभिन्न तत्त्वों तथा नाम रूपों में प्रकट होकर विश्व रचना करती है।[38] प्रकृति के इस विकास के लिए उसका सामीप्य आवश्यक है। लेकिन यदि प्रकृति स्वभाव से ही गतिशील है, तो पुरुष से स्वतंत्र उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। आग और उसकी जलाने की शक्ति, पुरुष और प्रकृति अलग-अलग नहीं हो सकते। सांख्य की इन समस्याओं का समाधान तभी सम्भव है, जब एक सर्वांग दर्शन की खोज हो।

योग दर्शन का तत्त्वविज्ञान सांख्य के समान होते हुए भी मौलिक भेद लिए हुए है। इसके अनुसार प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है, और उनके विच्छेद से प्रलय। प्रकृति-पुरुष दोनों अलग-अलग तत्त्व हैं। इसलिए बिना किसी मध्यस्थ के न तो दोनों का मिलन सम्भव है, न विछोह ही। यह मध्यस्थ ही प्रकृति-पुरुष के संयोग-वियोग का निमित्त कारण है। और क्योंकि वह जीवों अदृष्ट के अनुसार ही संसार की रचना तथा संहार करता है। अतः वह सर्वज्ञ भी है। योग ने इसी को ईश्वर कहा है। यह सृष्टि का मूल कारण है।

सृष्टि रचना के सम्बन्ध में मीमांसक सांख्य से लगभग एक मत हैं- मीमांसाकारों ने आत्मा तथा परमाणुओ को नित्य माना है। और सृष्टि रचना के मूल में_कर्मों के संचय को कारण रूप स्वीकार किया है। मीमांसा के मत से इस जगत् में तीन प्रकार की वस्तुओं का हमें ज्ञान होता है। १. इस भोगायतन शरीर में आत्मा अपने संचित पूर्वकर्मों का फलोपभोग करता है। २. ये ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय आत्मा के सुख-दुःखों के फलोपभोग के साधन हैं और ३. जितने भी बाह्य पदार्थ

३५. आचार्य श्रीराम शर्मा- वैशेषिक दर्शन- भूमिका प्रकरण, पृ. ५
३६. विस्तृत विवरण- प. ध. सं. प. १२७-१३१
३७. ईश्वरकृष्ण- सांख्य कारिका, ६१
३८. आचार्य श्रीराम शर्मा- सांख्य दर्शन, भूमिका प्रकरण, पृ. ७

हैं वे आत्मा के भोग के विषय हैं। भोगायतन, भोग साधन और भोग विषय यह नाना रूप संसार अनादि तथा अनन्त है। सांख्य के विपरीत मीमांसक प्रलय को नहीं मानते। वल्कि उनकी दृष्टि में जगत् सत्ता नित्य है। जीवात्माओं के उपभोग के लिए परमाणु स्वाभाविक रूप से परिवर्तित होते रहते हैं। कर्मों के फलोन्मुख होने पर अणु संयोग से जीव उत्पन्न होते हैं और फलों की समाप्ति होने पर उनका नाश होता है। हमारे नेत्रगोचर कण ही परमाणु हैं। उनके सूक्ष्म कणों की कल्पना का कोई आधार नहीं है। इसलिए जगत् और परमाणु अनुमान गम्य न होकर प्रत्यक्षगम्य है। वे ईश्वर द्वारा भी संचालित नहीं होते। इस दृष्टि से मीमांसक वस्तुवाद के समर्थक हैं।

वेदान्त की सृष्टि प्रक्रिया का विषय अत्यन्त सूक्ष्म तथा जटिल है। इस सृष्टि प्रक्रिया के सम्बन्ध में श्रुति एक सामान्य सा अभिमत प्रकट करती है। वह कहती है "जैसे जीवित मनुष्य के शरीर में केश-नाखून आदि उत्पन्न होते रहते हैं, वैसे ही अक्षर ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होती रहती है। आचार्य शंकर ने भी जगत् की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं बताया है। इस सम्बन्ध में वह कहते हैं कि जगत् का कारण होने पर भी ईश्वर लीला मात्र के लिए स्वभावतः बिना प्रयोजन के उसी प्रकार सृष्टि करता है, जैसे मनुष्य शरीर में किसी बाहरी प्रयोजन के बिना श्वास-प्रश्वास चलते रहते हैं।"

ब्रह्म नित्य, अपरिणामी, कूटस्थ और चैतन्य है। उसके स्थूल सूक्ष्म रूप नहीं होते। ये स्थूल, सूक्ष्म रूप माया या अज्ञान के होते हैं। इसलिए सूक्ष्म से लेकर स्थूल पर्यन्त जो परिणाम या विकार दिखाई देता है, वह जड़ माया का मिथ्या विस्तार है, चैतन्य का नहीं। यह अव्यक्त सृष्टि शक्ति माया पहले सूक्ष्म विषयों के रूप में व्यक्त होती है और तब स्थूल विषयों का रूप धारण करती है। माया को त्रिगुणात्मिका कहा गया है। सत्त्व, रजस और तमस ये तीनों गुण सतत् परिणामी हैं। इनमें जब रजोगुण की प्रधानता होती है, तब माया की विक्षेप शक्ति से युक्त चैतन्य ब्रह्म द्वारा आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी की क्रमशः उत्पत्ति होती है। इन उत्पन्न भूतों में तीनों गुण अपने-अपने कारण (माया) से अपने-अपने कार्य में आ जाते हैं। इन्हीं पाँच भूतों को वेदान्त ने पंच तन्मात्राएँ भी कहा है। इन्हीं से सृष्टि विस्तार हुआ। शंकराचार्य इसे माया से उत्पन्न होने के कारण माया का विस्तार मानते, मिथ्या कहते और भ्रम सावित करते हैं। लेकिन ब्रह्म में माया किसे व्यापी और क्यों? इस प्रश्न का समाधान न तो आचार्य शंकर देते हैं और नहो कोई अन्य भ्रमवादी।

रामानुज के मतानुसार परमात्मा में आश्रित जड़ रूप मूल प्रकृति, ईश्वर की इच्छा से तेज, जल और पृथ्वी इन तीन तत्त्वों में विभाक्त हुई। इन तीन तत्त्वों से क्रमशः सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण पैदा हुए और इन तीनों गुणों की समष्टि से समस्त भौतिक जगत् की उत्पत्ति हुई। इस सृष्टि-प्रक्रिया में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से अन्तःकरण की उत्पत्ति बताई गई है। उस अन्तःकरण में आत्मा के रूप में परमात्मा का प्रवेश हुआ। तब यह भौतिक शरीर सचेतन होकर विभिन्न नाम रूपों में व्यवहृत हुआ। यद्यपि सांख्य और विशिष्टाद्वैत दोनों दर्शनों में सृष्टि का विकास प्रकृति के द्वारा माना गया है। लेकिन सांख्य दर्शन में जहाँ प्रकृति स्वतंत्र है। इस प्रक्रिया में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। वहाँ विशिष्टाद्वैत दर्शन में प्रकृति को ईश्वर का अंग मानकर परमेश्वर की इच्छा से ही सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है।

आचार्य नागार्जुन का दार्शनिक दृष्टिकोण 'शून्यवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। 'शून्य एवं धर्मा' माध्यमिको का मूल मंत्र है। शून्य के परिचायक पंच विधि धर्मों का विस्तृत निरूपण नागार्जुन ने 'माध्यमिक कारिका' में किया है। इनका परम तत्त्व अष्ट निषेधयुक्त, अर्थात् अविरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थ, अनागम, अनिर्गम और अनानार्थ है। किन्तु वह सत्तात्मक है। ऐसा सत्तात्मक शून्य कि जो स्वयं में कल्पनातीत, अशब्द, अनक्षर और अगोचर है।

शून्यवाद के अनुसार समझा जाता है, कि यह सम्पूर्ण चराचरमय जगत् शून्य है। ये सम्पूर्ण दृश्यमान वस्तुएँ असत्य हैं। उदाहरण के लिए जब हम किसी रस्सी को भ्रमवश या अज्ञानवश सांप समझ बैठते हैं। उस समय ज्ञात वस्तु रस्सी के असत्य होने पर हम और हमारा ज्ञान दोनों स्वतः असत्य सिद्ध हो जाते है। इसलिए

शून्यवादियों की दृष्टि में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की स्थिति न होने के कारण सब असत्य है। तब संसार की सत्ता शून्य है।

सृष्टि प्रक्रिया के इस निरूपण में न्याय, वैशेषिक का कथन कि परमाणु ही सभी कार्यों का उपादान है, विवेक सम्मत नहीं है। फिर इसमें परमाणु के जिस स्वरूप की विवेचना है, वह आधुनिक वैज्ञानिक निष्कर्षों से पर्याप्त भिन्न है अतएव इसे विज्ञान सम्मत भी नहीं कहा जा सकता। सांख्य और योग का प्रकृति-पुरुष निरूपण, अपनी पूर्णता के लिए सर्वांग अद्वैत की अपेक्षा करता है। परन्तु यह सर्वांग अद्वैत आचार्य शंकर के माया के भ्रमजाल से जिस तरह भिन्न होगा, उसी तरह रामानुज के विशिष्टाद्वैत से। षड् दर्शन की एकांगिता की भाँति ही बौद्ध दर्शन की शून्यता भी एकपक्षीय है। इसमें केवल जब संसार स्वयं के अस्तित्व को ही शून्य में गवाँ बैठता है। तब मानव के आचार-व्यवहार, सत्य-नीति की यहाँ खोज सर्वथा अविवेक पूर्ण होगी। आखिर इस शून्यता में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, नीति-धर्म आदि की बातें सर्वथा शून्य जो हैं।

पश्चिमी दर्शन का सृष्टि अन्वेषण

शुरूआत से ही दार्शनिक अभिरुचि सृष्टि की उत्पत्ति और स्वरूप को जानने की रही है। स्वरूप की वास्तविकता क्या है ? इतिहास, दर्शनशास्त्र और विज्ञान में वास्तविकता और आभास में भेद करने वाली बात सामान्य है। पानी में डूबी हुई छड़ी झुकी दिखाई देती है, जबकि वास्तव में वह सीधी होती है। यह आदमी ईमानदार दिखाई देता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि वह बदमाश है। यह फर्श ठोस दिखाई देता है, किन्तु भौतिक विज्ञानियों के अनुसार वह वास्तव में इलेक्ट्रानों के नाचते बादल हैं। इसी तरह यह सृष्टि वैसी ही है, जैसी हमें दिखाई देती है। अथवा यह ऐसे किसी गुप्त वास्तविकता की अभिव्यक्ति है, जिसकी प्रतीति बिलकुल अलग है।

पश्चिमी चिन्तन में सृष्टि जिज्ञासा की शुरूआत यूनानी दर्शन में देखने को मिलती है। इसे भारत की पश्चिम को देन कहें तो अत्युक्ति न होगी। भारत आए यूनानी जितने भारतीय दर्शन पद्धति से प्रभावित हुए, उतने किसी और शास्त्र या अन्य व्यापार से नहीं। इसको स्पष्टतया स्वीकार करते हुए आचार्य मैक्समूलर ने लिखा है- "यूनानियों को जितना अधिक भारत की दार्शनिक प्रवृत्ति ने प्रभावित किया, उतना किसी अन्य ने नहीं। यह प्रवृत्ति रहस्यमय देश को व्याप्त किए हुए प्रतीत होती थी।"[३९] यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने भी जो ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में भारतवर्ष आये थे, इस देश की आध्यामिकता का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। उसने भारत वर्ष के उन आध्यात्मिक मनुष्यों का वर्णन किया है, जो पर्वतों, मैदानों और कुञ्जों में निवास करते थे।[४०] भारत और यूनान का दार्शनिक सम्बन्ध काफी पुराना है। ग्रीक दार्शनिकों के जीवनवृत्त लेखक डायोजिनीज तथा प्लेटो के परवर्ती अनुयायी जेम्बलीकस ने प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों की ब्राह्मणों से भेंट की कथाएँ लिखी हैं। ब्राह्मणों से भेंट करने वाले ग्रीक दार्शनिकों में थेलीज्त तथा पाइथागोरस हैं।

इसी दार्शनिक सम्बन्ध के क्रम में भारत ने यूनान को जो अनेकों अनुदान दिए उनमें से सृष्टि-शास्त्र मुख्य है। बृहदारण्यक उपनिषद् की जल के मूल तत्त्व होने की कल्पना का प्रतिरूप माइलेटस निवासी थेलीज के सिद्धान्त में है। छान्दोग्य उपनिषद् के वायु के परम निलय होने की कल्पना अनेकजैमिनी (Anaximenes) के सिद्धान्त में है। कठोपनिषद् के अग्नि के सर्वपरिणति सिद्धान्त को हैराक्लाइट्स के अग्नि के मूल तत्त्व मानने की कल्पना में देखा जा सकता है। मुण्डकोपनिषद् की पृथ्वी के सृष्टि विधान के आधार होने की कल्पना की प्रतिध्वनि 'हीसियड्' महाग्रन्थ में मिलती है। तैत्तिरीयोपनिषद् के पंचमहाभूत होने की कल्पना के समानान्तर कल्पना फिलेलोज के सिद्धान्त में मिलती है। इसी तरह तैत्तिरीय और छान्दोग्य उपनिषदों की असत्

३९. Nothing struck the Greeks so much as the philosophical sprit which seemed to pervade that mysterious country. Max Muller - Indian philosophy, Vol. p. 25

४०. J.W. Mccrindle- Ancient India, p. 17

और सत् की कल्पना गोर्जियस और पार्मेमिडीज़ के सिद्धान्तों में अपना समानान्तर रखती है। तैत्तिरीयोपनिषद् के अधोमार्ग और उर्ध्वमार्ग की आवृत्ति हैराक्लाइट्स के सिद्धान्त में हुई है। छान्दोग्य उपनिषद् के त्रिवृत्तकरण सिद्धान्त का साम्यभाव अनैक्सागोरस के 'प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक वस्तु का कुछ अंश है' इस सिद्धान्त में मिलता है। परवर्ती काल में यूनानी दर्शन के इन्हीं तत्त्वों ने अनेकानेक रूपों में पश्चिमी सृष्टि चिन्तन को विस्तार दिया।

इस क्रम में पश्चिमी दर्शन में सृष्टि विषयक तीन सिद्धान्त देखने को मिलते हैं। एकतत्त्ववाद, द्वितत्त्ववाद और बहुतत्त्ववाद। जैसा प्लेटो ने कहा है- अनेकता में से एकता को खोजने की और अनेक में से एक को ढूँढने की प्रवृत्ति इन्सान के मन में बराबर बनी हुई है। इसलिए दार्शनिकों को सृष्टि विस्तार का कोई एक प्रारम्भिक तत्त्व प्राप्त करने की तीव्र जिज्ञासा हमेशा से रही है। या किसी न किसी प्रकार दो की, जिसकी बहुमुखी अभिव्यक्ति हमारे अनुभव जगत् का निर्माण करती है। इन दोनों के अलावा नवीनतर बहुतत्त्ववाद का सिद्धान्त भी है। जिसके दायरे में अनेकों आधुनिक मत स्वयमेव समाविष्ट हो जाते हैं।

❖ एकतत्त्ववाद

इसके तीन प्रकार हैं, जो दर्शन के इतिहास में प्रमुख रूप से सामने आते हैं- भौतिकवाद, आदर्शवाद और तटस्थवाद। भौतिकवाद के प्रतिपादक यूनानी दार्शनिकों में से थे। आधुनिक जमाने से भी उसके अनेक प्रतिनिधि रहे हैं। डिमोक्रीट्स और ल्यूक्रेटिअस जैसे दार्शनिक भी आश्वस्त थे कि जगत् को उसी प्रकार भौतिक तत्त्वों और उसके नियमों में आँका जा सकता है, जैसे कि उन्नीसवीं शताब्दी के विचारक हैकल के विचार थे। भौतिकवाद का सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि अन्त में वास्तविकता एक है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि मन जैसी कोई वस्तु है भी तो अधिक से अधिक पदार्थ का ही कार्य है।

आदर्शवाद भी सृष्टि की वास्तविकता एक को ही मानता है। लेकिन यह मन अथवा आत्मा की सत्ता है। आदर्शवादी के लिए पदार्थ से अधिक मन की रचना है। एडिंगटन के अनुसार भौतिकविदों द्वारा बताया, समझा जाने वाला जगत् ''छाया जगत्''[४१] है। वास्तविक जगत् तो आत्मिक है। इनके अनुसार विश्व पहियों का मृत यांत्रिक अथवा नियम चक्र नहीं है, जहाँ पर मूल्य, धर्म और नैतिक आस्थाएँ केवल मूर्खतापूर्ण भ्रम हैं। बल्कि वह ऐसी गतिमान वास्तविकता है जो मनुष्य के संघर्ष को सांसारिक महत्त्व का आश्वासन देती है। और जगत् की व्याख्या आध्यात्मिक मूल्यों के आधार पर करती है।

तीसरे प्रकार का एक और भी एकतत्त्ववाद है, जिसे तटस्थवाद कहा जाता है। इसके अनुसार सृष्टि का वास्तविक स्वरूप न तो मन है न पदार्थ। बल्कि एक ऐसा तत्त्व है, जिसके मन और पदार्थ दो पहलू भर हैं। इस मत का श्रेष्ठतम प्रतिनिधित्व स्पिनोजा करते हैं। स्पिनोजा के अनुसार केवल एक ही सत्ता है, जिसे हम द्रव्य कहते हैं। जगत् अपने विभिन्न पहलुओं में उसमें ही गुण अथवा पर्याय के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जिन्हें देकार्ते मन तथा द्रव्य कहते हैं, वे स्पिनोजा के लिए एक द्रव्य के ही दो गुण मात्र हैं। ये ही वे दो तरीके हैं, जिनके माध्यम से द्रव्य की प्रतीति होती है।

❖ द्वितत्त्ववाद

दार्शनिकों और मनोवैज्ञानिकों के बीच जगत् की समस्या ऐसी ''सात पहेलियों''[४२] में से एक मानी गई है जिसका हल निकलना मुश्किल है। द्वितत्त्ववाद इसी पहेली को सुलझाने का प्रयास है। अमेरिका में जहाँ पर हमारी दार्शनिक परम्पराएँ स्कॉट सम्प्रदाय से अन्तरित हुई हैं, इस मत के प्रोत्साहन में विश्वास किया जाता है। द्वितत्त्ववाद का सिद्धान्त यह है कि मन और पदार्थ सृष्टि की दो मौलिक वास्तविकताएँ हैं। इन्हीं दोनों मौलिक तत्त्वों की परस्पर क्रिया और सहयोग के विधान ने सृष्टि को वर्तमान स्वरूप दिया है।

---

४१. एडिंगटन- दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड, p. xv
४२. Emil du Dois-Reymond, Ueber die grenzen des Naturer Kennens and Die Sieben Weltratsel

थैलीज और उनके अनुगामी आयोनियनों ने भी वास्तविकता को जल, वायु अथवा अग्नि तक ही सीमित किया है। यद्यपि ये एकतत्त्ववादी ही प्रतीत होते हैं, तथापि ये विश्वास करते थे कि भौतिक वस्तुएँ भी जीवन अथवा दैवी और चेतन नियम से प्रेरित हैं। जिससे परिवर्तन तथा परिवर्धन सम्भव होता है। एम्पीडॉक्लीज ने अग्नि, जल, पृथ्वी और वायु को सभी वस्तुओं का मूल मानने के पश्चात् दो अन्य मानसिक अथवा आध्यात्मिक लक्षणों को जोड़ना आवश्यक समझा, अर्थात् प्रेम और घृणा को, इनमें से घृणा चालक कारणों का कार्य करती है। एनाक्सागोरस ने परमाणु जगत् के अलावा एक अन्य वस्तु का भी प्रतिपादन किया, जिसे उन्होंने नाउस (Nous) अथवा अन्य तत्त्वों के साथ सहअस्तित्व रखने वाली शाश्वत वास्तविकता कहा। मध्यकालीन दर्शन इसी प्रकार सन्त ऑगस्टाइन के बाद द्वितत्त्ववादी हुआ। जिसने मनुष्य में पिण्ड तथा आत्मा का मिलन माना था।

आधुनिक विचार में जो शक्तिशाली द्वितत्त्ववादी प्रवाह उमड़ा है, उसका उद्‌गम देकार्ते के दर्शन में देखने को मिलता है। इनके द्वारा सत्रहवीं सदी के मध्य में फ्रांसीसी और लैटिन भाषा में प्रकाशित 'मेडीटेशन्स' ने आधुनिक विचार प्रणाली को निर्विवाद रूप से प्रभावित किया है। देकार्ते का मत था कि जगत् में दो नितान्त भिन्न प्रकार की मौलिक वास्तविकताएँ हैं। इन्हें विचार और विस्तार अथवा मन और पदार्थ कह सकते हैं। समस्त दृश्यमान सृष्टि मनुष्यों और पशुओं के पिण्डों के समेत विस्तारित द्रव्य है- पुद्‌गल द्रव्यमान। यह निरपेक्ष रूप से यांत्रिक नियमों द्वारा परिचालित होता है। गतिमान द्रव्य से ही सृष्टि बनती है। निम्नतर पशु केवल यंत्रवत होते हैं। पशु में आत्मा नहीं होती। उसका केवल द्रव्य पिण्ड रहता है। मनुष्य ऐसा नहीं होता। क्योंकि उसके भौतिक विस्तारित पिण्ड में एक विचारशील द्रव्य अनश्वर आत्मा होती है। विचार करना ही जिसके होने का प्रमाण है। देकार्ते के अनुसार भौतिक तंत्र (शरीर, पदार्थ अथवा विस्तार) पूर्णतः यांत्रिक है। प्रत्येक भौतिक घटना का कारण भौतिक होता है तथा भौतिक तंत्र में यांत्रिक नियम के अतिरिक्त किसी अन्य नियम का पालन नहीं होता।

देकार्ते की इन बातों को स्वीकार कर लेने पर हम कैसे कह सकते हैं कि विस्तार रहित विचारशील वस्तु शरीर की यांत्रिक व्यवस्था में प्रभावकारी नियंत्रण रखती है? किसी भी विस्तार रहित वस्तु की स्थिति विस्तार में कैसे हो सकती है? पुनः प्रत्येक भौतिक कारण इतना अधिक मौलिक कार्य उत्पन्न करता है कि गति का परिमाण (वैज्ञानिक भाषा में ऊर्जा) स्थिर है, कम अथवा अधिक स्थिर नहीं पूरी तरह स्थिर है। ऊर्जा का सूक्ष्मतम भाग भी महान् यांत्रिक व्यवस्था से नहीं बच सकता। तब हम कैसे कह सकते हैं कि भौतिक घटनाएँ मानसिक घटनाओं को जन्म देती हैं तथा मानसिक घटनाएँ भौतिक घटनाओं का कारण बनती हैं? मात्र अन्योन्य क्रियावाद के द्वारा हल करने के देकार्ते के प्रयासों में अनेक आपत्तियाँ हैं। उदाहरण के लिए यह माना गया है कि दो नितान्त भिन्न तथा स्वतंत्र पदार्थों का अन्योन्य क्रिया करना कल्पना के परे है। अतः स्पष्ट है कि मन और पदार्थ की निरपेक्ष स्वतंत्रता, सृष्टि शास्त्र की समस्याओं का समाधान नहीं कर सकती।

◆ बहुतत्त्ववाद

इसके अनुसार जगत् इतना सरल नहीं है कि इसे केवल एक या दो तत्त्वों में समझा दिया जाय। जगत् की वास्तविकता बहुमुखी है। इस अर्थ में इसके अनगिनत उदाहरण हैं। आरम्भिक यूनानी दार्शनिक एम्पीडोक्लीज बहुतत्त्ववादी थे। उन्होंने कहा था कि सृष्टि की उत्पत्ति अग्नि, जल, पृथ्वी तथा वायु इन चारों तत्त्वों से मिलकर हुई। प्लेटो भी अपने दृष्टिकोण में बहुतत्त्ववादी थे। उनके लिए भी चीजें वास्तविक थीं- प्रत्यय, आकार, सिद्धान्त और नियम। यहाँ तक असत्ता को भी उन्होंने वास्तविक माना है।[४३]

इसी का एक उदाहरण लायबिनित्ज का चिदणु दर्शन है। चूँकि ये चिदणु अपने अन्तिम स्वभाव में मनोवैज्ञानिक हैं। अतएव इसे आध्यात्मिक एकतत्त्ववाद भी कहा जा सकता है। लेकिन वे सभी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। उनमें से प्रत्येक की अलग-अलग

---

४३. विलियम जेम्स- द विल टू बिलीव

वैयक्तिकता होती है। इस कारण उसे बहुतत्त्ववाद कह सकते हैं।

साफ जाहिर है कि ऐसे भेद दार्शनिक चिन्तन में बहुत महत्त्व के हैं। जब हम विभिन्नता में एकता पाते हैं तो हमारी एकतत्त्ववादी इच्छा को सन्तोष होता है। और जब इस एकता का अभाव हो तो उस दर्शन को बहुतत्त्ववादी कहना ही श्रेयस्कर है। सवाल यह पैदा होता है कि लाइबिनित्ज के आध्यात्मिक दर्शन को बहुतत्त्ववाद कहा जाय अथवा एकतत्त्ववाद। जहाँ तक चिदणु की विलक्षण तथा स्वतंत्र आत्म सीमित सत्ताएँ होने का सम्बन्ध है वह बहुतत्त्ववादी है। कोई भी दो एक जैसे चिदणु नहीं हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि लायबिनित्ज ने जगत् के उस सिद्धान्त को माना है जो उसे विभिन्न चरम सत्ताओं की अनन्तता में घटा देता है। किन्तु कुछ अन्य विचारकों के दृष्टिकोण से विचार करने पर लायबिनित्ज एकतत्त्ववादी ठहरते हैं। जगत् के चिदणु एक अव्यवस्था नहीं बल्कि व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं, उनमें एक महान् सामंजस्य है। वे एक तर्क संगत नियम से प्रभावित हैं तथा उनमें से प्रत्येक एक निश्चित दृष्टिकोण से तथा एक निश्चित स्तर से वस्तुओं की तर्क संगत-व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करता है। लेकिन तत्त्व की गहराई में जायें तो पायेंगे कि चिदणु में एकता तथा सामञ्जस्य पर्याप्त रूप से नहीं दर्शाए गए हैं, अतः इसे मूलतः बहुतत्त्ववादी कहना ही उचित है।

आधुनिक समय के दार्शनिकों में विलियम जेम्स को बहुतत्त्ववाद का सबसे बड़ा संरक्षक माना जा सकता है। जेम्स की एक छोटी सी पुस्तक 'ए प्लुरलिस्टिक यूनिवर्स', जिसने उनके अन्य लेख 'रेडिकल इम्पीरिसिज़्म' तथा 'विल टू बिलीव' के साथ मिलकर दर्शन जगत् को एकतत्त्ववादी निद्रा से जगा दिया। दर्शन तथा मनोविज्ञान में जेम्स का ध्येय परम्परागत मार्ग छोड़कर नए मार्गों को खोजना था। पुराने अर्थ में भले उनका कोई दार्शनिक तंत्र न हो, किन्तु उनकी लेखनी से दर्शन तथा मनोविज्ञान दोनों ही बिजली के धक्कों के समान पुनर्जीवित हो गए।

जेम्स की रुचि एक की जगह अनेक में थी। समष्टि रूप नहीं वरन् प्रत्येक रूप। यहाँ तक कि उनका पृथकत्व, उनका अलग होना, उनकी स्वतंत्रता, उनकी नवीनता, उनकी स्वाधीनता, उनकी आकस्मिकता, उनकी स्वतःचालिता, उनके अनेकत्त्व, उनके अव्यवस्थित लक्ष्[illegible] ने भी उन्हें प्रभावित किया। उन्होंने पूरी-पूरी एकता [illegible] किसी 'शिलाकल्प विश्व' को नहीं देखा। उन्होंने कहा है कि वास्तविकता डोरी की तरह बँटी हुई है। शब्द उसके प्रत्येक वाक्य के साथ जुड़ा रहता है। वास्तविकता एकत्रित होने के बजाय वितरित है। स्वतंत्रता, यदृच्छा, नवीनता तथा प्रगति का अस्तित्व होता है। नए पुरुष तथा स्त्रियाँ पुस्तकें, दुर्घटनाएँ, घटनाएँ, अन्वेषण तथा अनेक साहसी कृत्य जगत् पर निरन्तर वर्षा करते रहते हैं। जेम्स के शब्दों में ''ऐसा कोई संभाव्य विचार बिन्दु नहीं है, जिसमे कि जगत् पूर्ण रूप से एक एकाकी तथ्य प्रतीत हो। वास्तविक सम्भावनाएँ, वास्तविक अनिश्चय, वास्तविक प्रारम्भ, वास्तविक अन्त, वास्तविक अशुभ, वास्तविक संकट, विपत्तियाँ तथा बचाव एक वास्तविक ईश्वर तथा वास्तविक नैतिक जीवन, जैसा कि सामान्य विचार से इन्हें समझा जाता है, केवल इन्द्रियानुभूत संप्रत्ययों के रूप में ही रह जायेंगे। जिन्हें वह दर्शन एकतत्त्ववादी रूप को जीतने अथवा नए सिरे से उसकी व्याख्या करने के लिए छोड़ देता है।''[५४]

ब्रह्माण्ड एक शब्द में संयोग पर आश्रित है। यदृच्छा उसमें यथार्थ है। विनाश उसमें उतना ही सम्भव है जितनी कि मुक्ति और अशुभ उतना [illegible] है जितना शुभ है। इसमें विशेषता की बात [illegible] कि अशुभ तथा शुभ सम्बन्धी है, द्रव्य नहीं। और यह कि प्रत्येक संघर्ष करने वाली सत्ता अपने आप में तथा अपने हक में सदा होने वाली निन्दा अथवा जगत् की शाश्वत मुक्ति में योगदान देती है। यहाँ कोई शाश्वत नियम नहीं है, कोई सीमा से पार जाने वाला प्रारब्ध नहीं है, कोई दूरदर्शिता नहीं है। नियम स्वयं भी ब्रह्माण्डीय प्रवृत्ति होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह उसकी अभिव्यक्ति का रूप है। जिसके कारण वस्तुएँ संयोग से

---

५४. विलियम जेम्स- द विल टू बिलीव, पृ. IX

एकत्र हो गई हैं और विकल्प के कारण एक साथ बनी हुई हैं। उनका निर्माण इसी प्रकार हुआ है जैसे कि मनुष्य के सम्पर्क स्थापित करने के लिए जातीय परम्परा का निर्माण किया है। भले ही गुरुत्वाकर्षण हो या धूम्रपान, इनके विस्तार क्षेत्र में अन्तर है, इतिहास में नहीं। स्वतः प्रवृत्त सत्ताएँ जिनकी सामूहिक प्रवृत्तियाँ 'प्राकृतिक नियमों' में व्यक्त होती हैं, उक्त नियमों की अपेक्षा अधिक महान् और वास्तविक है। ये सत्ताएँ अपनी एकगोचरता तथा अपने अन्तर में इस शब्द के पूरे-पूरे अर्थों में वास्तविक हैं। और उन्हीं पर वृहत्तर सत्ताओं की धुरी घूमती है। अन्यथा ब्रह्मांड का इतिहास हमारे समक्ष और किस रूप में प्रकट हो सकता है।[४५]

जेम्स द्वारा प्रस्तुत किए गए उस बहुतत्त्ववादी, व्यावहारिकतावादी, उत्कट इंद्रियानुभववादी दर्शन में वह मसालेदार और उत्तेजनात्मक स्वाद है, जो हमारी कुछ और जानने की बुभुक्षा को और तेज कर देता है। किन्तु जो कुछ हमें प्राप्त होता है, वह सब एक ही प्रकार का होता है। ओर अन्त में हम यह अनुभव करते हैं कि किसी चीज की कमी है। सम्भवतः मन की लगातार जगत् विषयक विचारों की एकरूपता की मांग के कारण व्यक्ति 'द प्लूरलिस्टिक यूनिवर्स' के लेखक से कुछ अधीरता का अनुभव इसलिए करता है कि वह विश्व तथा उस वास्तविकता की प्रकृति के विषय में निश्चित मत नहीं देता, जो इस सतत् परिवर्तन के नीचे कार्य करती है।

समीक्षात्मक दृष्टि से देखें तो बहुतत्त्ववाद कुछ तत्त्वों को अधूरा और उपेक्षित छोड़ देता है। पहले तो चेतना तथा मानसिक जीवन के लिए एक और सन्तोपजनक संप्रत्यय की आवश्यकता है। दूसरी कमी जो दर्शन के इस बहुतत्त्ववादी सिद्धान्त में है, वह है स्वयं सृजनात्मक संश्लेषण के स्रोतों का और भी सन्तोपजनक ढंग से निर्धारण करना। हम सृजनात्मक संश्लेषण तथा संघठन की चर्चा बहुत सुनते हैं। किन्तु उसका आधार निर्धारित नहीं है। आखिरकार इस बहुतत्त्वादी विश्व को एक आत्मा की आवश्यकता है। ऐकिक नियम वाली आत्मा की नहीं, अपितु जीवन देने वाली शक्ति स्वरूप आत्मा की। हर तरह से इस दिक् और काल वाले स्थिति जगत् में किसी न किसी विकासात्मक प्रवेच्छा, किसी जीवन शक्ति, सृजनात्मक कारक अथवा विश्वव्यापी संकल्प की आवश्यकता प्रतीत होती है।

◆ वैज्ञानिकों की सृष्टि-दृष्टि

"सृष्टि क्रम के अनुसंधानी बताते हैं कि आरम्भ में मात्र अनगढ़ पदार्थ यत्र-तत्र बिखरा पड़ा था। न उसका कोई व्यवस्थित स्वरूप था और न निश्चित क्रियाकलाप। लक्ष्य विहीन पथहारे की तरह वह ऐसे ही निरुद्देश्य भटकता था। कहते हैं कि अनगढ़ पदार्थ में विस्फोट हुआ, उसकी खपच्चियाँ दिशा विशेष में दौड़ लगाती चली गईं। उनने प्रस्तुत ब्रह्माण्ड का स्वरूप एवं कार्यक्रम निर्धारित किया।"[४६] वैज्ञानिकों ने सृष्टि सृजन के इस तथ्य को 'बिग-बैंग' नाम देकर समझाया है।[४७]

इस दृष्टि से सृष्टि सृजन का मूल तत्त्व पदार्थ है। पर पदार्थ स्वयं में क्या है? कौतूहल भरे इस सवाल ने लम्बे अर्से से चली आ रही वैज्ञानिक शोध को असमंजस में डाल रखा है। शोध के इस क्रम में उन्नीसवीं सदी की शुरूआत में रसायनशास्त्री डाल्टन ने यूनान के प्राचीन सिद्धान्त को जीवित किया और यह बतलाया कि पदार्थ को कणिकामय होना चाहिए, अविछिन्न नहीं। डाल्टन के समय से पदार्थ का परमाणुवादी सिद्धान्त हर कहीं स्वीकार कर लिया गया। परमाणुओं का अस्तित्व है, किन्तु वे किस प्रकार के होते हैं? इसके जवाब में प्रोट्रान, न्यूट्रान, इलेक्ट्रान की धारणा उभरी। नील्सबोर

४५ Horace, Mayer Kallen, Willam James and Henri Bergson, pp. 182-183
४६. आचार्य श्रीराम शर्मा, डॉ प्रणव पण्ड्या- यह सृष्टि न अनगढ़ है न अनियंत्रित, पृ. ६४
४७. The present expansion of the universe is seen as the remaining thrust of this initial explosion. According to this 'big bang' model the moment of the 'big bang' marked the beginning of the Universe and the begining space and time
-Fritjof Capra- The Tao of Physics, p 208

ने अपने परमाणु मॉडल के द्वारा इस तत्त्व का सौन्दर्य अभिव्यक्त किया।

कणों की इस खोज ने क्वांटम सिद्धान्त को जन्म दिया। इसमें पाया गया कि प्रकाश में कण तथा तरंग के गुण दोनों ही चीजें विद्यमान रहती हैं। यह कणों, क्वांटम, छोटी-छोटी बूंदों, गोलियों शस्त्र अथवा तरंगों के पुलिंदें के स्रोत की भाँति बर्ताव करता है। इस प्रकार कण को फोटॉन कहते हैं। एक फोटॉन एक सेकण्ड में पृथ्वी के सात चक्कर लगाता है।[४८] किन्तु यह भी पूरी कहानी नहीं है। यह देखा गया कि प्रकाश किरणें कणों के समान बर्ताव करती हैं, अब ये भी देखा गया है कि इलेक्ट्रान जैसे कण तरंगों के समान बर्ताव करते हैं। दूसरे शब्दों में तरंगों को कणों के सब गुण बतलाने के लिए बाध्य किया जाय, वरन् कणों को भी तरंगों के गुणों को बतलाने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए। किसी भी विज्ञान द्वारा परिस्थिति का सामना करने में अभी तक यह सबसे अधिक विस्मयजनक स्थिति है।[४९]

खोज-बीन के इस क्रम में ''हाइजनबर्ग के अनिश्चित सिद्धान्त'' की बड़ी चर्चा हुई। उनके मतानुसार एक ही समय में एक साथ एक ही तरह के कण किस तरह का व्यवहार करेंगे यह नहीं जाना जा सकता। कण विशेष की गति और परिस्थिति के सम्बन्ध में भी कुछ कह पाना सम्भव नहीं है। केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। और अनुमान कोई सही निकले यह कोई जरूरी नहीं है। अनेक प्रयोग किए गए कि किन परिस्थितियों में कौन से कण किस तरह का व्यवहार करते हैं? एक ही परिस्थिति में एक ही प्रक्रिया से एक ही तरह के कणों का हजारों बार अध्ययन किया गया। लेकिन यह जानकर हैरानी हुई कि प्रत्येक बार हर कण का व्यवहार अनुमान से भिन्न था। यही नहीं पिछली प्रतिक्रिया भी नहीं दोहराई गई। इस आधार पर घोषणा की गई कि पदार्थ की जैसी परिभाषा की जाती रही है वैसा कोई पदार्थ इस जगत् में है ही नहीं। दूसरे शब्दों में यह घोषणा की गई कि पदार्थ मर गया है।[५०] इसे यों भी कह सकते हैं कि वैज्ञानिक सृष्टि के कारण के बारे में अनिश्चित और अनभिज्ञ है। मैक्स प्लैंक के शब्दों में ''कारणता का संप्रत्यय कुछ ऐसा इन्द्रिय अनुभवातीत है, जो अनुसंधानकर्त्ता की प्रकृति से बिलकुल स्वतंत्र है।''[५१]

इसे यों भी कहा जा सकता है कि आधुनिक विज्ञान न केवल सृष्टि के कारण के बारे में, बल्कि सृष्टि के स्वरूप के बारे में भी अनिश्चित है। ''यद्यपि पिछले बीस-तीस वर्षों में इतनी अधिक वैज्ञानिक जानकारियाँ एकत्रित की गई हैं, जितनी अब तक कभी नहीं हुई। इन अनुसंधानों और जानकारियों के आधार पर गत दो-तीन दशकों को वैज्ञानिक प्रगति का युग कहा जा सकता है। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि इन दो तीन दशकों में विज्ञान अपने आपको जितना अपूर्ण और अधूरा अनुभव करने लगा है, उतना पहले कभी नहीं था। वैज्ञानिकों की वर्तमान पीढ़ी निःसंकोच भाव से यह कह रही है कि हमने अब तक जितने रहस्य सुलझाएँ हैं, रहस्यों को सुलझाने की इस प्रक्रिया में उससे कहीं अधिक रहस्य पैदा हो गए हैं।'' रहस्यों के उलझते जाने की इस प्रक्रिया का मूल कारण चेतना के नियमो की अनभिज्ञता है।[५२] इस अनभिज्ञता के कारण वैज्ञानिकों का जगत् तरंगित कणों का बेतरतीब गुबार होकर रह गया है। इसमें मानवीय व्यवहार, जीवन के स्वरूप और उद्देश्य जैसे महत्त्वपूर्ण सवालों का न तो कोई स्थान है और न हल। आवश्यकता उस सार्वभौम जीवन दर्शन की है, जो सृष्टा और सृष्टि के सम्बन्धों, सृष्टि की संचालन विधियों को खोले, जीवन का मर्म समझाए।

---

४८. C.G. Darwin- The New Conceptiones of Matter, p.23
४९. Robert A. Milikan- Time, Matter and Value, pp. 61, 62
५०. आचार्य श्रीराम शर्मा, डॉ. प्रणव पण्ड्या- स्रष्टा का अस्तित्व सृष्टि के कण-कण में प्रमाणित, पृ. १८
५१. मैक्स प्लैंक- व्हेयर इज साईंस गोइंग? पृ. १५६-१५७
५२. आचार्य श्रीराम शर्मा, डॉ. प्रणव पण्ड्या- स्रष्टा का अस्तित्व सृष्टि के कण-कण में प्रमाणित, पृ १६

आचार्य श्रीराम शर्मा का सर्वांग विचार भूमि में सृष्टि चिन्तन

सृष्टि का सृजन कैसे हुआ? इस उलझन भरी पहेली को आचार्य जी अपने समीक्षात्मक चिन्तन के उजाले में हल करते हुए कहते हैं "सृष्टि रचना को लेकर समय-समय पर इसी प्रकार के प्रश्न उठते रहे हैं? मानवकृत रचनाओं के सन्दर्भ में तो सबका ही एक मत होगा। किन्तु सृष्टि रचना के विषय में विभिन्न प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हैं जो निराधार हैं। पर आश्चर्य यह है कि तथाकथित अपने को बुद्धिमान कहने वाले व्यक्ति इस प्रकार की मान्यताओं के प्रति दुराग्रहपूर्ण समर्थन करते देखे जाते हैं। सृष्टि के उद्‌भव के सन्दर्भ में प्रचलित मान्यताएँ निम्न हैं-

१. सृष्टि अपने-आप बन गई। अनादि काल से यह अपने आप बनती बिगड़ती चली आ रही है।

२. सृष्टि अकस्मात बन गई।

३. सृष्टि का कारण प्रकृति (नेचर)है।

४. इसको बनाने वाली कोई समर्थ ज्ञानमय सत्ता है।

यथार्थ की जानकारी के लिए इन मान्यताओं की विवेचना आवश्यक है। कारण सत्ता के बिना कार्य सम्भव नहीं, इस तथ्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता चाहे वह नास्तिक हो अथवा आस्तिक। किन्तु देखा यह जाता है कि यह सिद्धान्त मानवकृत रचनाओं, क्रियाओं के लिए तो स्वीकार किया जाता है, किन्तु सृष्टि के लिए नहीं। विशाल सृष्टि एवं उसकी सुव्यवस्थित क्रियाप्रणाली देखकर यह प्रश्न उठता है कि क्या इसको बनाने एवं संचालन करने वाली कोई कारणभूत सत्ता है?

एक मान्यता यह है कि सृष्टि अपने आप बन गई। वैज्ञानिकों के अनुसार सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व एक सूक्ष्म द्रव्य आकाश में फैला था। सूर्य चन्द्रमा किसी का भी अस्तित्व नहीं था। कुछ काल बाद यह द्रव्य केन्द्र स्थानों पर सघन हो गया। केन्द्रों में गति उत्पन्न हो गई। गति से प्रत्येक केन्द्र गोले में परिवर्तित होकर अपनी धुरी पर तेजी से घूमने लगा। तीव्र गति के कारण गोले के भाग टूट कर अलग होने लगे। इन अंशों से ग्रह, उपग्रह का निर्माण हुआ। जो बाद में निर्धारित कक्षा में घूमने लगे। सूर्य, चन्द्रमा, मंगल आदि ग्रहों का निर्माण आदि काल के विशाल गोलों से हुआ।

प्रकृति के परमाणुओं के गतिशील होने तथा गतिशील होकर सृष्टि निर्माण की बात यदि स्वीकार भी कर ली जाय तो भी समाधान इतने मात्र से नहीं हो जाता। परमाणुओं में गति कैसे उत्पन्न हो गई, इसका उत्तर विज्ञान के पास नहीं है। उपरोक्त कथन उसी प्रकार है, जैसे मकान को देखकर कहा जाय कि मिट्टी के कणों में गति उत्पन्न हो गई। ये कण पानी के साथ मिलकर ईंटों में परिवर्तित हो गए। इन ईंटों को शान्त बैठे रहना अच्छा नहीं लगा, उनमें पुनः गति उत्पन्न हुई। सीमेन्ट-लोहे से समझौता किया। परस्पर एक दूसरे के ऊपर सजते हुए चले गए। सीमेन्ट ने जोड़ने का कार्य आरम्भ किया। लोहे ने इस त्याग वृत्ति का अनुसरण किया तथा मकान के बोझ को सम्भालने का उत्तरदायित्व वहन किया। जिसके फल-स्वरूप मकान बनकर तैयार हो गया। मनुष्य द्वारा बनाई गई वस्तुओं के सन्दर्भ में इस प्रकार का यदि प्रतिपादन किया जाय तो उसे अविवेकपूर्ण कहा जाएगा। पर सृष्टि रचना के विषय में इस प्रकार का प्रतिपादन किया जाता है, तो उसे क्या कहा जाय?

सृष्टि के अपने आप बनने बिगड़ने की मान्यता में एक तर्क यह दिया जाता है कि यह परमाणुओं का स्वभाव है। किन्तु कोई भी स्वभाव क्रिया में परिणत तभी हो सकता है, जबकि उसमें कोई गति देने वाला हो। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है, चीनी का स्वभाव है मीठा होना, नमक का नमकीन। आटा, पानी, घी का अपना अलग-अलग स्वभाव है। इन वस्तुओं को यदि एक स्थान पर रख दिया जाय और सोच लिया जाय कि ये वस्तुएँ अपने स्वभाव से प्रेरित होकर गतिशील हो जाएंगी। इस प्रकार मिष्ठान्न अथवा पक्वान्न बनकर तैयार हो जाएगा। यह सर्वथा असम्भव है। वस्तुओं के अन्दर अपनी विशेषताएँ तो हैं, किन्तु उनके स्वयं के अन्दर कोई प्रेरक शक्ति नहीं है, जो गति दे सके। मिठाई तो तभी बनती है जब हलवाई एक निश्चित मात्रा में, उन वस्तुओं को एक निश्चित क्रम से

ने अपने परमाणु मॉडल के द्वारा इस तत्त्व का सौन्दर्य अभिव्यक्त किया।

कणों की इस खोज ने क्वांटम सिद्धान्त को जन्म दिया। इसमें पाया गया कि प्रकाश में कण तथा तरंग के गुण दोनों ही चीजें विद्यमान रहती हैं। यह कणों, क्वांटम, छोटी-छोटी बूंदों, गोलियों शस्त्र अथवा तरंगों के पुलिंदें के स्रोत की भाँति बर्ताव करता है। इस प्रकार कण को फोटॉन कहते हैं। एक फोटॉन एक सेकण्ड में पृथ्वी के सात चक्कर लगाता है।[४८] किन्तु यह भी पूरी कहानी नहीं है। यह देखा गया कि प्रकाश किरणें कणों के समान बर्ताव करती हैं, अब ये भी देखा गया है कि इलेक्ट्रान जैसे कण तरंगों के समान बर्ताव करते हैं। दूसरे शब्दों में तरंगों को कणों के सब गुण बतलाने के लिए बाध्य किया जाय, वरन् कणों को भी तरंगों के गुणों को बतलाने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए। किसी भी विज्ञान द्वारा परिस्थिति का सामना करने में अभी तक यह सबसे अधिक विस्मयजनक स्थिति है।[४९]

खोज-बीन के इस क्रम में ''हाइजनबर्ग के अनिश्चित सिद्धान्त'' की बड़ी चर्चा हुई। उनके मतानुसार एक ही समय में एक साथ एक ही तरह के कण किस तरह का व्यवहार करेंगे यह नहीं जाना जा सकता। कण विशेष की गति और परिस्थिति के सम्बन्ध में भी कुछ कह पाना सम्भव नहीं है। केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। और अनुमान कोई सही निकले यह कोई जरूरी नहीं है। अनेक प्रयोग किए गए कि किन परिस्थितियों में कौन से कण किस तरह का व्यवहार करते हैं? एक ही परिस्थिति में एक ही प्रक्रिया से एक ही तरह के कणों का हजारों बार अध्ययन किया गया। लेकिन यह जानकर हैरानी हुई कि प्रत्येक बार हर कण का व्यवहार अनुमान से भिन्न था। यही नहीं पिछली प्रतिक्रिया भी नहीं दोहराई गई। इस आधार पर घोषणा की गई कि पदार्थ की जैसी परिभाषा की जाती रही है वैसा कोई पदार्थ इस जगत् में है ही नहीं। दूसरे शब्दों में यह घोषणा की गई कि पदार्थ मर गया है।[५०] इसे यों भी कह सकते हैं कि वैज्ञानिक सृष्टि के कारण के बारे में अनिश्चित और अनभिज्ञ है। मैक्स प्लैंक के शब्दों में ''कारणता का संप्रत्यय कुछ ऐसा इन्द्रिय अनुभवातीत है, जो अनुसंधानकर्त्ता की प्रकृति से बिलकुल स्वतंत्र है।''[५१]

इसे यों भी कहा जा सकता है कि आधुनिक विज्ञान न केवल सृष्टि के कारण के बारे में, बल्कि सृष्टि के स्वरूप के बारे में भी अनिश्चित है। ''यद्यपि पिछले बीस-तीस वर्षों में इतनी अधिक वैज्ञानिक जानकारियाँ एकत्रित की गई हैं, जितनी अब तक कभी नहीं हुई इन अनुसंधानों और जानकारियों के आधार पर गत दो-तीन दशकों को वैज्ञानिक प्रगति का युग कहा जा सकता है। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि इन दो तीन दशकों में विज्ञान अपने आपको जितना अपूर्ण और अधूरा अनुभव करने लगा है, उतना पहले कभी नहीं था। वैज्ञानिकों की वर्तमान पीढ़ी निःसंकोच भाव से यह कह रही है कि हमने अब तक जितने रहस्य सुलझाएँ हैं, रहस्यों को सुलझाने की इस प्रक्रिया में उससे कहीं अधिक रहस्य पैदा हो गए हैं।'' रहस्यों के उलझते जाने की इस प्रक्रिया का मूल कारण चेतना के नियमों की अनभिज्ञता है।[५२] इस अनभिज्ञता के कारण वैज्ञानिकों का जगत् तरंगित कणों का बेतरतीब गुबार होकर रह गया है। इसमें मानवीय व्यवहार, जीवन के स्वरूप और उद्देश्य जैसे महत्त्वपूर्ण सवालों का न तो कोई स्थान है और न हल। आवश्यकता उस सार्वभौम जीवन दर्शन की है, जो सृष्टा और सृष्टि के सम्बन्धों, सृष्टि की संचालन विधियों को खोले, जीवन का मर्म समझाए।

---

४८. C.G. Darwin- The New Conceptiones of Matter, p 23
४९. Robert A. Milikan- Time, Matter and Value, pp. 61, 62
५०. आचार्य श्रीराम शर्मा, डॉ. प्रणव पण्ड्या- स्रष्टा का अस्तित्व सृष्टि के कण-कण में प्रमाणित, पृ १८
५१. मैक्स प्लैंक- व्हेयर इज साईंस गोइंग? पृ. १५६-१५७
५२. आचार्य श्रीराम शर्मा, डॉ. प्रणव पण्ड्या- स्रष्टा का अस्तित्व सृष्टि के कण-कण में प्रमाणित, पृ. १६

हुए उन्होंने न केवल सृष्टि की आदिकारण सत्ता को जाना वरन् उसके सान्निध्य का लाभ भी उठाया।''[५६]

◆ विश्वमाता का विश्व सृजन

आचार्य जी के अनुसार विश्व असीम देश और नित्य काल में स्वयं को उड़ेलती हुई असीम अस्तित्व, असीम गति और अपरिमित क्रिया की एक असीम शक्ति है। यूनानी तत्त्ववेत्ता हेराक्लाइटस की तरह उन्होंने यह माना कि जगत् एक शक्ति की सृष्टि है। उनके शब्दों में ''सृष्टि का आरम्भ करते समय परमात्मा ने अपने भीतर से शक्ति तत्त्व प्रादुर्भूत किया और सृष्टि संचालन की सारी व्यवस्था उसे सौंपकर निश्चिन्त हो गया। इस प्रकार वह ब्रह्म निर्लिप्त, निरधिष्ठ, निरवद्य एवं अव्यय बना रहा और संसार का सारा कार्य उस प्रादुर्भूत शक्ति तत्त्व के द्वारा संचालित होने लगा।''[५७]

ब्रह्मवैवर्त पुराण में इस तत्त्व का स्पष्टीकरण इस तरह है- तुम्हीं विश्वजननी, मूल प्रकृति ईश्वरी हो। तुम्हीं सृष्टि की उत्पत्ति के समय आदिशक्ति के रूप में विराजमान रहती हो और स्वेच्छा से त्रिगुणात्मिका बन जाती हो। यद्यपि वस्तुतः तुम निर्गुण हो तथापि प्रयोजनवश सगुण हो जाती हो। तुम परब्रह्म स्वरूप सत्य नित्य और सनातनी हो। परम तेजस्वरूप और भक्तों पर अनुग्रह करने के हेतु मानव शरीर धारण करती हो, तुम सर्वस्वरूप, सर्वेश्वरी सर्वाधार एवं परात्पर हो। तुम सर्व बीजस्वरूप, सर्व पूज्य एवं आश्रय रहित हो। तुम सर्वज्ञ, सब प्रकार से मंगल करने वाली और सर्वमंगलों की मंगल हो।[५८]

नारायणोपनिषद् का कथन है-

आदित्य देवा गन्धर्वः मनुष्यः पितरो सुराः तेषां सर्वभूतानां माता मेदिनी माता मही सावित्री गायत्री जगत्पुर्वी बहुला विद्या भूता।

अर्थात्- देव गन्धर्व मनुष्य पितर असुर इनका मूल कारण अदिति अविनाशी तत्त्व है। वह अदिति सब भूतों की माता मेदिनी और माता मही है। उसी विशाल गायत्री के गर्भ में विश्व के सम्पूर्ण प्राणी निवास करते हैं।

यह आदिशक्ति विश्वमाता गायत्री ब्रह्म से सर्वथा अभेद है। कुण्डली मार कर बैठा हुआ सांप और चलता हुआ सांप वास्तव में दो नहीं है। अग्नि और उसकी जलाने की शक्ति को दो नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार आदिशक्ति गायत्री और ब्रह्म तत्त्वतः अभेद है। आचार्य जी के शब्दों में ''ब्रह्म एक है, उसकी क्रीड़ा कल्लोल की हुई। उसने एक से बहुत बनना चाहा। यह चाहना, इच्छा ही शक्ति बन गई। इच्छा शक्ति ही सर्वोपरि है। उसी की सामर्थ्य से यह संसार बनकर खड़ा हो गया। जड़ चेतन सृष्टि के मूल में पर ब्रह्म की जिस आकांक्षा का उदय हुआ, उसे ब्राह्मी शक्ति कहा गया। यह गायत्री है।

इसी सामर्थ्य का प्रेरणा से सृष्टि की समस्त हलचलें किस विशिष्ट उद्देश्य के लिए गतिशील रहती हैं। साक्षी, द्रष्टा, निर्विकार, निर्विकल्प, अचिन्त्य, निराकार, व्यापक ब्रह्म की सृष्टि व्यवस्था जिस सामर्थ्य के सहारे चलती है, वही गायत्री है।''[५९] गायत्री ब्रह्म चेतना है। समस्त ब्रह्माण्ड के अन्तराल में वही संव्याप्त है। जगत् का समस्त संचालन उसी की प्रेरणा एवं व्यवस्था के अन्तर्गत हो रहा है।[६०]

---

५६ वही,

५७. आचार्य श्रीराम शर्मा- विराट् सत्ता का आत्म उद्बोधन, युग शक्ति गायत्री, वर्ष १५, अंक ७, पृ. ४२

५८. त्वमेव सर्वजननी मूल प्रकृतिरीश्वरी।
त्वमेवाद्या सृष्टि विधौ स्वेच्छये त्रिगुणात्मिका॥
कायार्थे सगुणा त्वं च वस्तुतो निर्गुणा स्वयं।
पर ब्रह्म स्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी॥
तेजः स्वरूपा परमा भक्तानुग्रह विग्रहा।
सर्वस्वरूपा सर्वेशा सर्वाधारा परात्परा॥
सर्व बीज स्वरूपा च सर्वपूज्या निराश्रया।
सर्वज्ञा सर्वतो भद्र सर्व मङ्गल मङ्गला॥ -ब्रह्मवैवर्त पुराण, प्रकृति २१/६६/७/१०

५९. आचार्य श्रीराम शर्मा- गायत्री की चौबीस शक्ति धाराएँ, पृ. ६

६०. वही, पृ. ३,

मिलाता है। प्रकृति के परमाणुओं में स्वभाव की विशेषता होते हुए भी अपने को निश्चित आकार प्रकार से परिवर्तित कर सकने की असमर्थता है। उन्हें संयुक्त करने, अभीष्ट आकार प्रदान करने में किसी समर्थ विचारशील चेतन सत्ता के हाथ होने की बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

सृष्टि रचना के सन्दर्भ में दूसरे प्रकार की मान्यता है कि यह अकस्मात् बन गई। इसके पूर्व इसका विवेचन की जाय, अकस्मात् शब्द की व्याख्या करना कहीं अधिक आवश्यक है? इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। एक व्यक्ति मुम्बई पहुँचा, वहाँ पर उसकी भेंट अपने पुराने मित्र से हुई, जो दिल्ली में रहता था। प्रचलित मान्यता इसी को अकस्मात की संज्ञा देती है। किन्तु गहराई में जाने का प्रयत्न करें तो स्पष्ट होगा कि आकस्मिक मिलन का निमित्त कारण दोनों की इच्छा शक्ति थी जिससे प्रेरित होकर वे मुम्बई पहुँचे। स्पष्ट है कि कोई भी घटना अकस्मात नहीं घटित होती, उसके पीछे कोई न कोई कारण होता है। तूफान अचानक आता है, किन्तु उसकी भूमिका वायु मण्डल में पहले ही बन जाती है। वर्षा होती है, लगता है कि यह आकस्मिक घटना है, किन्तु इसके पूर्व बादलों का बनना, हवा का चलना आदि प्रक्रिया सम्पन्न होती है, तब कहीं वर्षा होती दिखाई देती है। घटनाएँ तो विभिन्न क्रियाओं की शृंखला का परिणाम है। पहले सम्पन्न हुई क्रियाओं को न देख पाने के कारण ही कहा जाता है कि अमुक घटना आकस्मिक घटित हो गई।

सृष्टि रचना के विषय में अकस्मात की मान्यता कुछ इसी प्रकार है। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह होगा कि सृष्टि की विभिन्न घटनाएँ स्वतंत्र तथा असम्बद्ध इच्छा शक्तियों द्वारा नियंत्रित एवं संचालित हैं, जो परस्पर मिलकर सृष्टि बनाती हैं। एक शक्ति बादल बना रही है, तो दूसरी नदी एवं समुद्र। तीसरी पहाड़ बनाने में संलग्न है, चौथी ग्रह-नक्षत्र। पाँचवीं हवा चलाने में व्यस्त है। इस क्रम में बढ़ते जायँ तो असंख्यों प्रकार की रचनाओं के लिए असंख्यों तरह की शक्तियों की आवश्यकता होगी। इस पर विवेक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि इच्छा शक्ति की बात विभिन्न प्रकार की शक्तियों में परोक्ष रूप से स्वीकार की गई है। इस प्रकार एक सृष्टिकर्ता की बात को स्वीकार न करके ऐसे प्रतिपादन द्वारा असंख्यों प्रकार के इच्छा शक्ति वाले ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। सृष्टि रचना में किसी समर्थ विचारशील सत्ता के अस्तित्व का समर्थन यह प्रतिपादन स्वयं करता है। स्पष्ट है कि परमाणुओं के आकस्मिक संयोग से इतनी सुन्दर, व्यवस्थित सृष्टि का निर्माण सम्भव नहीं। इसे विज्ञान एवं विचारशीलता का अन्धविश्वास ही कहा जाना चाहिए, जिसमें सृष्टि के अकस्मात सृजन की बात कही जाती है।

तीसरे प्रकार के समर्थकों का कहना है कि संसार का निर्माण स्वयं प्रकृति करती है? यह मान्यता उपरोक्त दोनों से भी अधिक अविवेकपूर्ण है। आकार-प्रकार की दृष्टि से प्रकृति की अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। प्रकृति से अभिप्राय यहाँ सृष्टि नियम से माना जाय, तो सृष्टि नियम को सृष्टिकर्ता मानना बहुत बड़ी भूल होगी।[53] सांख्य के अर्थों में प्रकृति को स्वतंत्र सत्ता माने भी तो भी आचार्य जी के अनुसार यह स्वातंत्र्य देर तक टिकने वाला नहीं, क्योंकि "प्रकृति अचेतन है, वह तभी ठीक कार्य कर सकती है जब कोई उसका संचालन करने वाला हो।"[54] उपरोक्त मान्यताओं के विवेचन से स्पष्ट है कि सृष्टि को बनाने वाली कोई चेतन सत्ता है जो विचारशील ही नहीं शक्ति सम्पन्न भी है। चौथी प्रकार की मान्यता की पुष्टि इन तीनों की विवेचना द्वारा होती है। सृष्टि स्वयं प्रमाण है कि सृष्टि कर्ता है।[55] आचार्य जी के अनुसार स्रष्टा और सृष्टि के सम्बन्धों का रहस्यमय ज्ञान आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा पाया जा सकता है। उनके शब्दों में- "जिन्होंने अन्वेषण किया, साधना में प्रवृत्त

---

५३. आचार्य श्रीराम शर्मा- सृष्टि के स्वरूप मे झांकती अदृश्य सत्ता, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४५, अंक ५, पृ ५-६, ७
५४. आचार्य श्रीराम शर्मा- साख्य दर्शन, भूमिका प्रकरण, पृ. ८
५५. आचार्य श्रीराम शर्मा- सृष्टि के स्वरूप में झाकती अदृश्य सत्ता, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४५, अंक ५, पृ. ७

हुए उन्होंने न केवल सृष्टि की आदिकारण सत्ता को जाना वरन् उसके सान्निध्य का लाभ भी उठाया।''[५६]

◆ विश्वमाता का विश्व सृजन

आचार्य जी के अनुसार विश्व असीम देश और नित्य काल में स्वयं को उड़ेलती हुई असीम अस्तित्व, असीम गति और अपरिमित क्रिया की एक असीम शक्ति है। यूनानी तत्त्ववेत्ता हेराक्लाइटस की तरह उन्होंने यह माना कि जगत् एक शक्ति की सृष्टि है। उनके शब्दों में ''सृष्टि का आरम्भ करते समय परमात्मा ने अपने भीतर से शक्ति तत्त्व प्रादुर्भूत किया और सृष्टि संचालन की सारी व्यवस्था उसे सौंपकर निश्चिन्त हो गया। इस प्रकार वह ब्रह्म निर्लिप्त, निरधिष्ट, निरवद्य एवं अव्यय बना रहा और संसार का सारा कार्य उस प्रादुर्भूत शक्ति तत्त्व के द्वारा संचालित होने लगा।''[५७]

ब्रह्मवैवर्त पुराण में इस तत्त्व का स्पष्टीकरण इस तरह है- तुम्हीं विश्वजननी, मूल प्रकृति ईश्वरी हो। तुम्हीं सृष्टि की उत्पत्ति के समय आदिशक्ति के रूप में विराजमान रहती हो और स्वेच्छा से त्रिगुणात्मिका बन जाती हो। यद्यपि वस्तुतः तुम निर्गुण हो तथापि प्रयोजनवश सगुण हो जाती हो। तुम परब्रह्म स्वरूप सत्य नित्य और सनातनी हो। परम तेजस्वरूप और भक्तों पर अनुग्रह करने के हेतु मानव शरीर धारण करती हो, तुम सर्वस्वरूप, सर्वेश्वरी सर्वाधार एवं परात्पर हो। तुम सर्व बीजस्वरूप, सर्व पूज्य एवं आश्रय रहित हो। तुम सर्वज्ञ, सब प्रकार से मंगल करने वाली और सर्वमंगलों की मंगल हो।[५८]

नारायणोपनिपद् का कथन है-

आदित्य देवा गन्धर्वः मनुष्यः पितरो सुराः तेषां सर्वभूतानां माता मेदिनी माता मही सावित्री गायत्री जगत्पुर्वी बहुला विद्या भूता।

अर्थात्- देव गन्धर्व मनुष्य पितर असुर इनका मूल कारण अदिति अविनाशी तत्त्व है। वह अदिति सब भूतों की माता मेदिनी और माता मही है। उसी विशाल गायत्री के गर्भ में विश्व के सम्पूर्ण प्राणी निवास करते हैं।

यह आदिशक्ति विश्वमाता गायत्री ब्रह्म से सर्वथा अभेद है। कुण्डली मार कर बैठा हुआ सांप और चलता हुआ सांप वास्तव में दो नहीं है। अग्नि और उसकी जलाने की शक्ति को दो नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार आदिशक्ति गायत्री और ब्रह्म तत्त्वतः अभेद है। आचार्य जी के शब्दों में ''ब्रह्म एक है, उसकी क्रीड़ा कल्लोल की हुई। उसने एक से बहुत बनना चाहा। यह चाहना, इच्छा ही शक्ति बन गई। इच्छा शक्ति ही सर्वोपरि है। उसी की सामर्थ्य से यह संसार बनकर खड़ा हो गया। जड़ चेतन सृष्टि के मूल में पर ब्रह्म की जिस आकांक्षा का उदय हुआ, उसे ब्राह्मी शक्ति कहा गया। यह गायत्री है।

इसी सामर्थ्य का प्रेरणा से सृष्टि की समस्त हलचलें किस विशिष्ट उद्देश्य के लिए गतिशील रहती हैं। साक्षी, द्रष्टा, निर्विकार, निर्विकल्प, अचिन्त्य, निराकार, व्यापक ब्रह्म की सृष्टि व्यवस्था जिस सामर्थ्य के सहारे चलती है, वही गायत्री है।''[५९] गायत्री ब्रह्म चेतना है। समस्त ब्रह्माण्ड के अन्तराल में वही संव्याप्त है। जगत् का समस्त संचालन उसी की प्रेरणा एवं व्यवस्था के अन्तर्गत हो रहा है।[६०]

---

५६. वही,
५७. आचार्य श्रीराम शर्मा- विराट् सत्ता का आत्म उद्‌बोधन, युग शक्ति गायत्री, वर्ष १५, अंक ७, पृ. ४२
५८. त्वमेव सर्वजननी मूल प्रकृतिरीश्वरी।
त्वमेवाद्या सृष्टि विधौ स्वच्छये त्रिगुणात्मिका॥
कायार्थे सगुणा त्वं च वस्तुतो निर्गुणा स्वयं।
पर ब्रह्म स्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी॥
तेजः स्वरूपा परमा भक्तानुग्रह विग्रहा।
सर्वस्वरूपा सर्वेशा सर्वाधारा परात्परा॥
सर्व बीज स्वरूपा च सर्वपूज्या निराश्रया।
सर्वज्ञा सर्वतो भद्र सर्व मङ्गल मङ्गला॥ –ब्रह्मवैवर्त पुराण, प्रकृति २१/६६/७/१०
५९. आचार्य श्रीराम शर्मा- गायत्री की चौबीस शक्ति धाराएँ, पृ ६
६० वही, पृ ३,

यही असीम चेतना शक्ति समस्त वस्तुओं की स्रष्टा-पालक नाशक है। गुण और मात्रा में भेद केवल इस शक्ति को एकत्रीकरण की तीव्रता में भिन्नता के कारण है। अन्य प्राणियों में उसका उतना ही अंश है, जिससे अपना जीवन निर्वाह सुविधापूर्वक चला सकें, मनुष्य में उसकी यह विशेषता सामान्य रूप से अधिष्ठात्री बुद्धि के रूप में दृष्टिगोचर होती है। तथ्य को समझने में बिजली के उदाहरण से अधिक सरलता पड़ेगी। बिजली सर्वत्र संव्याप्त ऊर्जा तत्त्व है। स्विच के साथ जिस प्रकार का यंत्र जोड़ दिया जाता है, बिजली उसी प्रयोजन को पूरा करने लगती है। बत्ती जलाकर प्रकाश, पंखा चलाकर हवा, हीटर से गर्मी, कूलर से ठंडक, रेडियो से आवाज, टेलीविजन से दृश्य, मोटर से गति, स्पर्श से झटका जैसे अनेकानेक प्रयोजन पूरे होते हैं। इनमें सबके यंत्र भी अलग-अलग प्रकार के होते हैं। इतने पर भी विद्युत शक्ति के मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता।[61] इसी तरह यह चेतना शक्ति अविभाज्य है। और मानसिक चेतना के समान प्रत्येक वस्तु में एक साथ और एक ही समय में पूर्ण रूप से उपस्थित है। क्रिया की शक्ति का रूप प्रणाली और परिणाम अगणित प्रकार से परिवर्तित होता रहता है। परन्तु नित्य मौलिक असीम शक्ति सबमें वही है।

आचार्य जी ने इस असीम शक्ति की सृष्टि सृजन प्रक्रिया का बड़ा ही मनोरम शब्द चित्र प्रस्तुत किया है। इसमें न केवल वैज्ञानिकता का समावेश है बल्कि गहराइयों में छुपे अध्यात्मिक रहस्य भी प्रकट हुए बिना नहीं रहे। उन्हीं के शब्दों में "सृष्टि के आदि में हुआ विस्फोट कहीं बाहर से नहीं भीतर से ही उभरा। चेतना के क्षेत्र में इसे अदम्य अभिलाषा कह सकते हैं। इसके उपरान्त जब छितराया हुआ पदार्थ अनगढ़ स्थिति को छोड़कर सुव्यवस्थित रहने की स्थिति तक पहुँचा तो उसमें दो शक्तियाँ काम करने लगीं, एक आकर्षण की दूसरी विकर्षण की। ग्रह-पिण्डों में पाई जाने वाली गुरुत्वाकर्षण शक्ति, अनेक साधनों को बाहर से खींचकर अपने वैभव में सम्मिलित करती है। विकर्षण आगे बढ़ने के पुरुषार्थ और अवरोध को चीर डालने की भूमिका बनाता है। इसके लिए उन्हें अतिरिक्त ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है। यह आदिम विस्फोट से उसे उपलब्ध है। यह आरम्भ ऐसी घड़ी में हुआ कि उसका अन्त कभी भी न हो सकेगा। इसी प्रकार गुरुत्वाकर्षण सृष्टि की उद्गम वेला में ही प्रादुर्भूत हुआ और वह भी जब तक ब्रह्माण्ड का अस्तित्व है तब तक यथावत ही बना रहेगा।

सृष्टि के आधारभूत कारणों को तीन हिस्सों में विभाजित किया जा सकता है। एक वह, जब गुम-सुम पड़े द्रव्यमान को यह 'ऊत'‌ सूझी कि यह जड़ जैसी नीरस निस्तब्ध स्थिति स्वीकार नहीं। इससे सन्तुष्ट नहीं बैठा जा सकता है। आगे बढ़ना और क्रीड़ा कल्लोल करना ही चाहिए। यह एक आधारभूत कारण है। जिसने निस्तब्ध घनीभूत पदार्थ को वर्तमान ब्रह्माण्ड के रूप में विकसित, परिणित होने का कौतूहल खड़ा कर दिया।

इसके उपरान्त दूसरी प्रक्रिया है विस्फोट के साथ गति का जुड़ा होना। यदि विस्फोट के साथ गति न होती तो एक धमाका भर होने और उसी समय कुछ उछल-कूद होने के उपरान्त बात सदा-सर्वदा के लिए शान्त हो जाती और उसका एक घटना मात्र के रूप में ही विवरण मिलता और समय के साथ विस्मृति के गर्त में गिरता चला जाता। किन्तु ऐसा हुआ नहीं। विस्फोट धमाका भर नहीं रहा, वरन् एक गतिशीलता बनकर ब्रह्माण्ड के उसके घटक अवयवों का स्वभाव बनकर रह गया। स्वभाव ही आगमन के रूप में परमाणुओं से लेकर नीहारिकाओं तक में अविच्छिन्न रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है। सृजन अभिवर्धन और परिवर्तन उसी गोलाकार गतिशीलता का उतार-चढ़ाव है।

तीसरा गुरुत्वाकर्षण बल सर्वविदित है। यदि वह न हो तो ग्रह तारक एक दूसरे के साथ रस्सी से जकड़े हुए किस प्रकार अधर में टँगे हैं वैसा शक्य ही न हो सके। उनके बीच कोई ताल-मेल ही न बैठे। धुरी पर घूमने और कक्षा में परिक्रमा करने का अनुशासन ही न रहे। यह ग्रह-पिण्ड स्वेच्छाचारी यायावरों की तरह इधर-उधर भटकने, एक दूसरे से टकराने, चिपकने लगें।

६१. आचार्य श्रीराम शर्मा- गायत्री की चौबीस शक्ति धाराएँ, पृ. ३, ४, ५

फिर दिन मान रात्रि मान के रूप में जो काल मान एक सुनिश्चित स्थिति बनाए हुए है, उसका भी कोई अस्तित्व न रहे। ऐसी दशा में जीवधारियों की न तो कोई उत्पत्ति हो हो सकती है और न उसके निर्वाह की साधना व्यवस्था। ऐसी दशा में ब्रह्माण्ड का स्तर भी अलाव से उठने वाले और इधर-उधर छितराने वाले धुएँ से अधिक और भी कुछ बन पड़ेगा। गुरुत्वाकर्षण को एक प्रकार से नीतिमत्ता एवं अनुशासन जैसी मानवीय विशिष्टता के समतुल्य गिना जा सकता है। विस्फोट की मूल स्थिति को उमंग की आकांक्षा कह सकते हैं। विस्फोट का साहस पराक्रम। गुरुत्वाकर्षण का सहकार अनुशासन। सृष्टि के यह तीन आधार ही ब्रह्माण्ड की संरचना के मूलभूत कारण हैं।

पदार्थ और प्राणी की प्रगति का इतिहास जिस कागज, कलम और स्याही से लिखा गया उसे आकांक्षा, साहसिकता एवं सहकारिता के रूप में माना जा सकता है। आकांक्षा को ही 'सत्' सहकारिता को ही 'रज' और साहसिकता को 'तम' प्रकारान्तर से कहते हैं।[६२] आचार्य जी के इस सृष्टि सिद्धान्त में एकतत्त्ववाद, द्वितत्त्ववाद तथा बहुतत्त्ववाद का बड़ा ही मुग्धकारी समावेश अनुभव किया जा सकता है। प्रकृति का स्वतंत्र अस्तित्व न स्वीकार करने, परमात्मा को मूल कारण मानने के कारण यह एकतत्त्ववादी समझ पड़ते हैं। लेकिन साथ ही उन्होंने शक्ति और शक्तिमान का व्यावहारिक भेद स्वीकारना, गायत्री को परा प्रकृति मानना, प्रत्यक्ष में द्वितत्त्ववाद का बोधक है। विश्वमाता की अनन्त शक्तियों द्वारा सृष्टि सृजन करने में बहुतत्त्ववाद की रहस्यात्मकता छुपी है। लेकिन यथार्थ में वे एकतत्त्ववादी, द्वितत्त्ववादी अथवा बहुतत्त्ववादी न होकर सर्वांग चिन्तन के उद्बोधक हैं, जिसमें प्राचीन और आधुनिक सभी चिन्तनधाराएँ स्वयमेव अपना स्थान प्राप्त कर लेती हैं।

◆ देश और काल

देश और काल विश्वगत चिन्तन की आत्माभिव्यक्ति के दो पहलू हैं। रूप और विषयों को इकट्ठा रखने के ब्रह्म का विस्तार देश है। काल भी रूप और विषयों को ले जाते हुए आत्मशक्ति की गति विस्तार के लिए आत्म विस्तृत ब्रह्म है। आचार्य जी देश और काल को ताने-बाने की तरह आपस में गुँथा हुआ मानते हैं। दोनों ही सापेक्ष सत्ताएँ हैं। देश की अवस्था के अनुरूप काल का स्वरूप रहता है। एक ही अवस्था बदलने का मतलब है, दूसरे का स्वरूप बदल जाना। उदाहरण के लिए जाग्रत् अवस्था में जिस देश (दिक्) में निवास करते हैं, काल का परिमाण भी तदनुरूप रहता है। घटनाओं के अन्तर्सम्बन्धों का बोध भी वैसा ही होता है। किन्तु स्वप्न में देश अपेक्षाकृत सूक्ष्म और विस्तृत हो जाता है। तदनुरूप काल भी सूक्ष्मता और विस्तार पा लेता है। जो घटनाएँ जाग्रत् में दो दिनों में घटती है वही स्वप्न में दो घण्टे में अनुभव हो जाता है। चेतना के बदलते आयामों के अनुरूप यह सूक्ष्मता और विस्तार भी बढ़ता जाता है। अन्ततः देश और काल दोनों अनन्तता में स्वयं को विसर्जित और विलय कर देते हैं। फिर यही कहा जा सकता है, परम सत्य चेतना के लिए काल एक नित्य वर्तमान है और देश एक अविभाज्य आत्मगत विस्तार।

यह सिद्धान्त आधुनिक भौतिक शास्त्र के देश, काल सिद्धान्त का विरोधी नहीं है। बल्कि उससे भी आगे जाता है। भौतिक शास्त्र में सापेक्षता और परिमाण (क्वांटम) के सिद्धान्तों ने अच्छी तरह दिखला दिया है कि इस समृद्ध जगत् की विवेचना करने के लिए अन्तिम शब्द विज्ञान के पास नहीं है। हाइज़ेनबर्ग के शब्दों में कहें तो "सब से कठिन समस्या है, तो अभिव्यक्ति के लिए भाषा की समस्या।"[६३] यहाँ भाषाएँ मौन हैं। आइन्स्टीन के भावों को व्यक्त करें तो "एक अगणितज्ञ जब 'चतुर्विमीय' वस्तुएँ सुनता है तो एक गुह्यवादी विचारों द्वारा सजग कर दिए जाने की भाँति रहस्यात्मकता से भर जाता है।"[६४] इस तरह आधुनिक भौतिक शास्त्र एक बलशक्ति (Energy Force) के सिद्धान्त पर पहुँचता है, जिसकी गतिविधियाँ यांत्रिक रूप से निश्चित नहीं है। सेमुअल अलैक्जैण्डर ने इसी को अपने दर्शन का आधार बनाया है।

---

६२. आचार्य श्रीराम शर्मा, डॉ. प्रणव पण्ड्या- यह सृष्टि न अनगढ़ है न अनियंत्रित, पृ. ६५, ६६, ६७

६३. वारनर हाइज़ेनबर्ग- फिजिक्स एण्ड फिलासफी, पृ. १७७

६४. अल्बर्ट आइन्स्टीन- रिलेटिविटी, राबर्ट डब्ल्यू. लायसन द्वारा अनूदित, पृ. ६५

आचार्य जी ने विज्ञान के इस चतुर्विमीय सिद्धान्त से आगे चलकर सप्त आयामीय संसार की खोज की है। साथ ही अनिर्वचनीय असीम देश और कालातीत सत्ता की ओर संकेत किया है। उनके शब्दों में "सामान्यतया तीन आयाम तक ही हमारा बोध क्षेत्र है। लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई अथवा गहराई के अन्तर्गत समस्त पदार्थ सत्ता का अस्तित्व है। इन्द्रियों की बनावट भी कुछ ऐसी है कि वह तीन आयामों का अनुभव कर पाती हैं। लम्बाई, चौड़ाई-ऊँचाई (या गहराई) जो भी पदार्थ स्थूल नेत्रों को दृष्टिगोचर होते हैं उनके ये तीन परिमाण हैं। चतुर्थ आयाम की ऊहापोह वैज्ञानिक क्षेत्रों में चल रही है, काल-दिक् के रूप में पाश्चात्य दार्शनिकों एवं पूर्वार्त दर्शन के मनीषियों द्वारा वर्णित यह आयाम अनेक रहस्य अपने अन्दर छिपाये आइन्स्टीन से लेकर नार्लीकर व अबदुस्सलाम तक कई वैज्ञानिकों को शोध हेतु आकर्षित करता रहा है। चतुर्थ आयाम में पहुँचने पर हमारी पूर्व स्थापित धारणाओं एवं जानकारियों में आमूल-चूल परिवर्तन होने की पूरी-पूरी सम्भावना है। सम्भव है जो दूरी हमें दो चार हजार मील मालूम पड़ती है, चतुर्दिक जगत् में पहुँचने पर कुछ गज रह जाय। चौथे आयाम में पहुँचकर प्राणी के कुछ पल में अमेरिका व ब्रिटेन पहुँचकर भारत वापस लौट आने की पूरी-पूरी सम्भावना है। भारतीय ऋषियों-योगियों के विषय में ऐसे अनेकों प्रमाण समय-समय पर सामने आते रहे हैं। चतुर्थ आयाम का बोध होते ही हमारे सामने ज्ञान का एक अनन्त क्षेत्र खुल सकता है। तब यह संसार भिन्न रूप में दिखाई पड़ने लगता है। उन मान्यताओं को जिन्हें हम सत्य यथार्थ मानते हैं, सम्भव है भ्रान्ति मात्र समझने लगें। आइन्स्टीन की कल्पना के अनुसार काल को भूत, वर्तमान भविष्य की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। हाइजेनबर्ग जैसे वैज्ञानिक ने सिद्ध किया कि 'काल' भूत, वर्तमान और भविष्य की ओर ही नहीं, भविष्य से भूत काल की ओर भी चलता है।"

पाँचवां आयाम विचार जगत् से सम्बन्धित है। विचार जगत् में उठने वाली तरंगें वातावरण एवं मनुष्यों को प्रभावित करती हैं तथा अपने अनुरूप लोगों को चलने के लिए बाध्य करती हैं। महामानव, ऋषि, महर्षि, अवतार अपने सशक्त विचारों का सम्प्रेषण सूक्ष्म अन्तरिक्ष में करते रहते हैं। इस आधार पर वे असंख्य मनुष्यों की मन:स्थिति एवं परिस्थिति को प्रभावित करते हैं। जन प्रवाह उन विचारों के अनुकूल चलने के लिए विवश होता है। पंचम आयाम की रहस्यमय शक्ति को जानने एवं उसको करतलगत कर सदुपयोग करने से ही बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ सम्भव हो सकी हैं। कन्दरा में बैठे ऋषि एक स्थान पर बैठ कर अपने विचारों को पंचम आयाम में प्रस्फुटित करते रहते हैं तथा अभीष्ट परिवर्तन कर सकने में समर्थ होते हैं।

छठा आयाम भावना जगत् है। कहते हैं इस लोक में देवता निवास करते हैं। इस अलंकारिक वर्णन में एक ही तथ्य छुपा है कि भावों में देवता निवास करते हैं, अर्थात् भाव सम्पन्न व्यक्ति देव तुल्य है। भावना की शक्ति असीम है। इसे ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ जीव चेतना को जोड़ने, उससे लाभ उठाने का सशक्त माध्यम कहा जा सकता है। तत्त्वज्ञानी उसी आनन्द की मस्ती में डूबे रहते हैं तथा जनमानस को उसे प्राप्त करने की प्रेरणा देते रहते हैं। शिव-शक्ति का, प्रकृति-पुरुष का, जड़-चेतन की, जीव-ब्रह्म की एकरूपता सातवें आयाम में दिखाई पड़ने लगती है। इसी को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। सप्त लोक, सप्त आयाम, चेतना की सात परतें एक के भीतर एक छुपी हैं। उसमें से तो मात्र तीन को ही अनुभव किया जा सकता है। चौथे लोक में यदि प्रवेश सम्भव हो सके तो इन्हीं इन्द्रियों और इन्हीं यंत्र-उपकरणों से ऐसा कुछ देखा-समझा जाएगा, जिसे आज की दुनिया में अकल्पनीय और अप्रत्याशित एवं अद्भुत ही कहा जाएगा। यह चौथा आयाम चेतना जगत् एवं भौतिक जगत् का घुला-मिला रूप है। इसे तपलोक कहा गया है। तपस्वी इनमें अभी भी प्रवेश पाते और अतीन्द्रिय क्षमताओं से सम्पन्न सिद्ध पुरुष कहलाते हैं। इसके ऊपर के जन: मह: सत्य लोक विशुद्ध चेतनात्मक हैं, उनमें प्रवेश पाने वाला देवलोक में विचरण करता है, दैवी शक्तियों से सम्पन्न होता है।[६५]

६५. आचार्य श्रीराम शर्मा, डॉ. प्रणव पण्ड्या- यह सृष्टि न तो अनगढ़ है न अनियंत्रित, पृ. ९१ से ९६

विकासवाद का सिद्धान्त यह दिखलाता है किस तरह प्रकृति, जो कि अपने प्रारम्भिक रूप में अचेतन है क्रमशः चेतन और आत्म चेतन स्तरों पर विकसित होती है। यदि प्रकृति पूरी तरह अचेतन है तो उससे महत् और अहंकार कैसे निकलते हैं ? जो कुछ विवर्तित होता है, वह निवर्तित भी होना चाहिए। चेतना की सप्त आयामीय विकास निवर्तन क्रम में होने वाली सचेतन प्रक्रिया है। प्रकृति की अचेतनता भी आवरण मात्र है, जिसको वह क्रमशः हटाती है। आचार्य जी के अनुसार द्वैत अन्तिम नहीं है। आत्मा और आत्मा, आत्मा और प्रकृति निरपेक्ष सत्ता में दोनों की एकता है। पुरुष और प्रकृति केवल तभी सम्बन्धित हो सकते हैं, जबकि वे एक ही सद्वस्तु के दो पहलू हों। परन्तु यह अद्वैत शंकर का निषेधात्मक अद्वैत नहीं हो सकता।

शंकर के अध्यासवाद के विरुद्ध आचार्य जी का दृष्टिकोण है- ''शंकर का प्रतिभासित होने वाला स्वरूप मिथ्या है। इसी सीमा तक तो बात ठीक भी है, किन्तु इसके पीछे चल रहे प्रवाह को ही इन्कार कर देना विवेक संगत नहीं है। प्रवाह ही जीवन है जो अनन्त काल से प्रवाहित होता चला आ रहा है तथा अनन्त काल तक प्रवाहित होता रहेगा। पिण्ड से लेकर ब्रह्माण्ड तथा प्राणी जगत् में उस चेतन प्रवाह के अस्तित्व को इन्कार कर दिया जाय तो भयंकर भूल होगी।''[६६] वे विश्वगत यथार्थवाद के संस्थापक हैं। वह जगत् को स्वप्नवत न मानकर स्वप्न की भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इसी तरह निर्वाण का अनुभव संसार के अनुभव की असत्यता नहीं सिद्ध करता, जैसा कि शून्यवादी भूल कर जाते हैं। वस्तुतः न तो स्वप्न असत्य है और न जीवन ही असत्य है। उनके अनुसार ''जड़ वस्तुओं की हलचलों का जो कारण है, वही चेतन प्राणियों के जीवन का आधार है। उसी को आध्यात्मिक भाषा में आत्मा कहा गया है। वह सबके परिवर्तन का हलचलों का कारण है। उसकी प्रकाश किरणें ही वस्तुओं पर प्रतिबिम्बित होकर उनके स्वरूप का आभास कराती है। सब परिवर्तनों का कारण होते हुए भी वह सदा अपरिवर्तित रहती है।''[६७] इसी तत्त्व को स्वीकारते हुए श्री अरविन्द के शब्द हैं- ''चेष्टा, गति, क्रिया सृष्टि में जो कुछ है वह ब्रह्म है, संभूति सत् की एक गति है, काल सनातन की एक अभिव्यक्ति है।''[६८] अतएव माया के स्रष्टा के रूप में ईश्वर यथार्थ प्रतीतियों के रूप में संसार और मोक्ष की खोज करते हुए व्यक्ति असद् नहीं हो सकता।

◆ सृष्टि माया नहीं-मिथ्या नहीं

भौतिक जगत् का निषेध करने वाला दर्शन हमारे युग धर्म के खिलाफ है। दार्शनिक चिन्तन की गरिमा सृष्टि प्रवाह के प्रत्येक पहलू में उपजी समस्याओं का अभी और यहीं हल खोजने में है न कि उन्हें असद् कहकर छोड़ भागने में है। सृष्टि को माया और मिथ्या ठहराने वाली दार्शनिक प्रवृत्ति को यदि वैचारिक पलायनवाद कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। आचार्य जी के शब्दों में ''संसार को स्वप्न, माया, बंधन, भवसागर कहकर पारिवारिक तथा सामाजिक कर्त्तव्यों की उपेक्षा करने एवं भिक्षाजीवी निरर्थक जीवन बिताने की पलायनवादी मान्यता अध्यात्म के साथ जब से जुड़ी तब से साधु, ब्राह्मणों और वानप्रस्थों का अति महत्त्वपूर्ण लोकसेवी वर्ग मिथ्या आडम्बरों में फँसकर तरह-तरह की भ्रान्तियाँ फैलाने वाला समाज के लिए भारभूत बन गया। अध्यात्मवाद की उपयोगिता अनुपयोगिता में बदल गई।''[६९] आज आवश्यकता चिरन्तन सत्य के विविध रूपों को हमारे युग की मांगों के अनुसार नया जामा पहनाने की है। आचार्य जी के स्वरों में कहें तो- ''इस दयनीय दुर्दशा से अब निकलना ही होगा। दार्शनिक विकृतियों से पिण्ड छुड़ाने के लिए आगे बढ़ना ही होगा। अन्यथा हमारी दुर्दशाग्रस्त मनोदशा व्यक्ति और समाज का स्तर दिन-दिन गिराती और बिगाड़ती ही

---

६६. आचार्य श्रीराम शर्मा- विश्व का तात्त्विक स्वरूप जानने की आवश्यकता, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४४, अंक १, पृ. ३
६७. वही, पृ. ३, ४
६८. श्री अरविन्द- द लाइफ डिवाइन, भाग २, पृ २०२
६९. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपनों से अपनी बात, अध्यात्म विकृत नहीं-परिष्कृत रूप में ही जी सकेगा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३१, अंक २, पृ. ६३

चली जाएगी और इस पतनोन्मुख पथ पर चलते हुए अन्ततः हम कहीं भी न रहेंगे।'[७०]

अपने इन्हीं प्रयासों में आचार्य जी का दार्शनिक चिन्तन शंकर एवं अन्य पूर्ववर्ती दार्शनिकों से श्रेष्ठ है। उन्होंने मानव, प्रकृति, समाज एवं ईश्वर के अन्तर्सम्बन्धों को न केवल बारीकी से समझा है, बल्कि मर्मज्ञ एवं निष्णात चिकित्सक की तरह काल के प्रवाह में उपजी विकृतियों के निदान प्रस्तुत किए हैं। उनका दार्शनिक चिन्तन अध्यात्मशास्त्र की ही नहीं बल्कि व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन की समस्याओं को भी हल करता है। इसे व्यावहारिकता एवं आध्यात्मिकता के बीच की गहरी और चौड़ी खाई को पाटने वाला दुःसाध्य किन्तु सफलतम प्रयास कहना न्यायोचित होगा। भौतिक शास्त्र वस्तु जगत् के रहस्यों को प्रकट करता है। मनोविज्ञान के प्रयास की गति और दिशा मानव के व्यवहार एवं अन्तर्जगत का अध्ययन करने की ओर है। अध्यात्मशास्त्र की गरिमा इन सभी तथ्यों का एक उच्चतर सत्य में समावेश करने में है। आचार्य जी के दार्शनिक चिन्तन में अपने युग की ज्ञान-विज्ञान की अनेकानेक शाखाओं द्वारा अर्जित सत्यों का निषेध नहीं है और न ही पूर्ववर्ती शोध चिन्तन के किसी निष्कर्ष का विरोध। बल्कि सर्वांग दर्शन उन सबको समाहित करके एक मौलिक व्याख्या का प्रस्तुतीकरण है।

जबकि मायावाद अथवा शून्यवाद सृष्टि की समस्या का कोई सुलझाव नहीं है। इसमें ग्रन्थियों की जटिलता को हल करने की कोई चेष्टा नहीं, बल्कि इनकी तिरस्कारपूर्ण उपेक्षा है। इसके विपरीत आचार्य जी ने अपनी गहन और गुह्य साधनाओं में प्रवेश करके सृष्टि के तात्त्विक स्वरूप को समझने एवं गुत्थियों के समाधान का सफल प्रयोग किया है। उनके अनुसार- ''सैद्धान्तिक समाधान दार्शनिक विवेचनाओं द्वारा हो भी जाय तो भी मन को सन्तोष नहीं मिल सकता। सत्य को जानने एवं अनुभव करने के लिए साधना के प्रयोग-परीक्षणों से होकर ही गुजरना होगा। वास्तविक सत्य की अनुभूति तभी सम्भव है। यह दिव्य दृष्टि एवं संवेदन क्षमता आत्म परिष्कार के फलस्वरूप भीतर से उभरती और ऊपर से बरसती है। इसी के माध्यम से उस यथार्थ को जान सकना सम्भव होता है, जो इस विश्व का तात्त्विक स्वरूप एवं आधारभूत कारण है।''[७१]

❖ माता की शक्तिधाराएँ

स्वयं के साधनात्मक अनुभवों के आधार पर आचार्य जी ने सृष्टि के अन्तराल में प्रवाहित दैवी चेतना के प्रवाह को माता कहा है। उनके इस कथन में तंत्र एवं शक्ति दर्शन की गूँज को स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है। माता सच्चिदानन्द की चेतना शक्ति हैं और सृष्टि के बहुत ऊपर है। अपने व्यक्तिगत, सार्वभौम और सर्वातिशायी रूपों में वह मानव और प्रकृति की मध्यस्थता करती, जगत् की सृष्टि करती और उसको परम से जोड़ती है। आचार्य जी के शब्दों में- ''आद्यशक्ति गायत्री को संक्षेप में विश्व व्यापी ब्रह्म चेतना समझा जाना चाहिए। उसकी असंख्य तरंगें हैं।''[७२] इनमें भी चौबीस की प्रमुखता है।[७३] इन शक्ति धाराओं के नाम हैं- १. आद्यशक्ति, २. ब्राह्मी, ३. वैष्णवी, ४. शाम्भवी, ५. वेदमाता, ६. देवमाता, ७. विश्वमाता, ८. ऋतम्भरा, ९. मन्दाकिनी १०. अजपा, ११. ऋद्धि, १२. सिद्धि, १३. सावित्री, १४. सरस्वती, १५. लक्ष्मी, १६. दुर्गा, १७. कुण्डलिनी, १८. प्राणाग्नि, १९. भवानी, २०. भुवनेश्वरी, २१. अन्नपूर्णा, २२. महामाया, २३. पयस्विनी, २४. त्रिपुरा।[७४] हमारा समृद्ध जगत् अणु, परमाणु और शक्ति भाव की असंख्य रचनाओं का परिणाम नहीं है। वह महामाता गायत्री की सृष्टि है, जो कि केवल ऊपर से शासन नहीं करती बल्कि साकार और निराकार दोनों ही रूपों में नीचे भी उतरती है। यही नहीं ''यह

---

७०. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपनों से अपनी बात, अध्यात्म विकृत नहीं-परिष्कृत रूप में ही जी सकेगा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३१, अंक २, पृ. ६४

७१. आचार्य श्रीराम शर्मा- विश्व का तात्त्विक स्वरूप जानने के लिए साधना की आवश्यकता, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४४, अंक १, पृ ४

७२. आचार्य श्रीराम शर्मा- गायत्री की चौबीस शक्ति धाराएँ, पृ. ४

७३. वही, पृ. १

७४. वही, पृ. २, ३

समस्त ब्रह्माण्ड गायत्री ही है।'[75] गायत्री अर्थात् वह आत्म चेतना जो ब्रह्माण्ड व्यापी परा और अपरा प्रकृति पर नियंत्रण कराने में सक्षम, समर्थ और शक्ति से ओत-प्रोत कर देने वाली है।[76] इन भावों में आचार्य जी ने सृष्टि में भगवद् कृपा के अवतरण का स्पष्टीकरण किया है।

◆ स्रष्टा की लीला

पूर्ण सत् में यदि प्रयोजन की ढूँढ-खोज की जाय तो इस सृष्टि की पृष्ठभूमि में मूल प्रयोजन लीला है। इसे शक्ति और सनातन की अमर क्रीड़ा कहा जा सकता है। आचार्य जी के शब्दों में "अपने आप से भी बड़ा है अपना भगवान्। उसके एक विनोद कल्लोल भर का प्रयोजन पूरा करने के लिए इतना बड़ा विश्व बनकर खड़ा हो गया है। इतने विशाल वैभव से भरे हुए विश्व को एक विनोद उल्लास की तरह बनाने और चलाने वाला परमेश्वर समग्र रूप से मनुष्य की कल्पना में आ सका होता तो कितना सुखद होता। पर कहाँ मनुष्य, कहाँ उसकी कल्पना, इनकी तुच्छता और भगवान् की विशालता की आपस में कोई संगति नहीं बैठती। उसका समग्र स्वरूप तो सत्-चित्-आनन्द से, सत्यं शिवं सुन्दरं से इतना ओत-प्रोत है कि उसकी एक बूँद पाकर मनुष्य कृतकृत्य हो सकता है।'[77] परम की लीला इच्छा पूर्ति की कोई क्रिया नहीं है। ऐसा मानने पर तो ईश्वर अपूर्ण सिद्ध होगा। लेकिन यह कोई अर्थहीन क्रीड़ा नहीं है, ऐसा कहने पर भी सच्चिदानन्द दोषपूर्ण हो जाता है। स्रष्टा न तो अपूर्ण व्यक्ति है, न संसार से परे कोई देवता। जगत् उसकी लीला है। इसकी वजह संकल्प की चेष्टा नहीं, बल्कि स्वयं के स्वभाव के कारण परमात्म चेतना की सहज अभिव्यक्ति है।

◆ सृष्टि सृजन-सृजेता की आत्माभिव्यक्ति

"जिस प्रकार सूर्य ओस की असंख्य बूंदों में असंख्य प्रतीत होता है, उसी प्रकार देश-काल की परिधि में आकर उससे परे रहते हुए भी वह शक्ति असंख्यों नाम में प्रतिभासित होती है। स्वरूप की भिन्नता होते हुए भी कारणभूत सत्ता की दृष्टि से समस्त जड़-चेतन में वही विद्यमान है। सृष्टि की समस्त रचनाएँ उसकी ही क्रमिक अभिव्यक्तियाँ हैं।'[78] संसार अपने विरोधी में अपना साक्षात्कार करने के लिए भगवान् का आत्मगोपन है। यद्यपि सच्चिदानन्द असीम सत्, चिद्, आत्मपालक शक्ति, आनन्द एवं एकता है। इसके बावजूद हमें संसार में आत्माओं की ससीमता, चेतना की सीमाबद्धता, सुख-दुःख का द्वन्द्व और तटस्थता और शक्तियों और जीवों में असामञ्जस्य देखने को मिलता है। ये दोनों उसी परम प्रभु के दो रूप हैं। "यह सम्पूर्ण संसार परमात्मा की ही सावरण अभिव्यञ्जना है।'[79] इसे अपने विरोधी में स्वयं का साक्षात्कार करने के लिए परमात्मा के आनन्द की अभिव्यक्ति कह सकते हैं। "निर्माण करने अथवा निर्मित करने के सामान्य अर्थों में निरपेक्ष न तो सृष्टि रह सकता है और न सृजित ही है।'[80] इस तरह आचार्य जी के सृष्टि सिद्धान्त के समक्ष सभी परम्परा आक्षेप स्वयमेव तिरोहित हो जाते हैं। साथ ही परमात्मा की सावरण अभिव्यञ्जना-साधनात्मक पुरुषार्थ से निरावरण होते ही अपने वास्तविक स्वरूप आनन्द को प्रकट करने लगती है।

◆ आनन्दरूपममृतं यद्विभाति

स्वयं की अनुभूति को शब्द देते हुए आचार्य जी कहते हैं- "अध्यात्म का निर्झर फूटते ही एक नई दृष्टि उत्पन्न हुई, संसार कितना सुन्दर और कितना भला है। इसमें कितनी सद्भावना और सेवा अनुकम्पा भरी पड़ी है। यहाँ जो कुछ है जिसके आधार पर कृतज्ञता ही अनुभव की जाती रहेगी। जो कडुआ लगता है, अप्रिय प्रतीत होती है, उसमें भी बहुत कुछ ऐसा होता है, जो

---

७५. गायत्री व इदं सर्वं ब्रह्माण्डं ब्राह्मणानि तु, बृहद योगि याज्ञवल्क्य -४/६/७
७६. युग शक्ति गायत्री, वर्ष १८, अक १, पृ. १
७७. आचार्य श्रीराम शर्मा- मनुष्य महान् है और उससे भी महान् है उसका भगवान्, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३३, अंक १२, पृ. ३, ४
७८. आचार्य श्रीराम शर्मा- जड़ चेतन में समाई हुई परम शक्ति, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४५, अंक ७, पृ. ७
७९. आचार्य श्रीराम शर्मा- ईश्वर और उसकी अनुभूति, पृ २९
८०. श्री अरविन्द- द लाइफ डिवाइन, भाग १, पृ. ४७

आज न सही अपने लिए कल शिक्षाप्रद अनुभव हो सके, सुधारात्मक सेवा साधना करने का अवसर प्रदान कर सके। फिर जो प्रिय है, उपयोगी है, सहयोगी है उसके गुणानुवादों को यदि थोड़ा बढ़ाकर देखा जा सके तो प्रतीत होगा कि आत्मीयता और सेवा सद्भावना ही चारों ओर से बरस रही है। यदा-कदा जो कटुता प्रतीत होती है, उसमें भी अपने उस सुधार का तारतम्य छिपा पड़ा है, जो अधिक पवित्र, अधिक जागरूक, अधिक प्रखर बनने का अवसर प्रदान करता है। यदि प्रतिकूलता न हो तो अपनी जागरूकता ही खो बैठे। सुधार के लिए भी और प्रगति के लिए भी जागरूकता आवश्यक है और वह बिना प्रतिकूलता से पाला पड़े किसी प्रकार उत्पन्न ही नहीं होती। सुविधा सम्पन्न तो विलासी और आलसी बनकर रह जाते हैं। उन्हें सम्भालने, सीखने, सुधरने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। फलतः वे अभागों की तरह जहाँ के तहाँ जड़वत् बने रह जाते हैं। सुविधा और प्रगति में एक को चुनना हो तो समझदारी सदा असुविधाएँ अपनाकर ऊँचे उठना, आगे बढ़ना स्वीकार करेगी। अपनी मनःस्थिति अध्यात्मवादी दृष्टिकोण ने कुछ ऐसी ही बदल दी जिसमें जहाँ भी नजर उठाकर देखा गया, 'आनन्द से भरा-पूरा वातारण ही दीख पड़ा।' इस विराट् विश्व के कण-कण से अपने को अजस्र अनुकम्पा बरसती दीखी और उसकी सघन अनुभूति निरन्तर होती रही। लम्बा जीवन इसी उल्लास का रसास्वादन करते हुए बीता है।''[८१]

सृष्टि अपने वास्तविक स्वरूप में आनन्दमय ही है। हमारे ऋषि कह गए हैं ''आनन्द से ही सभी जीवों की उत्पत्ति होती है। उसी से वे विकास पाते और अन्त में आनन्द में ही लीन हो जाते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि ऋषियों को प्रकृति के नियमों का ज्ञान नहीं था अथवा वे कल्पना जगत् में इतना विचरण करते थे कि उन्हें वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं रहता था। वायु, अग्नि और मृत्यु भी प्रकृति के कठोर अनुशासन में बँधे हैं, यह भी वे जानते थे। फिर भी उनका अन्तः कवि हृदय आनन्द विभोर होकर यह गीत गाता था- आनन्द से ही सब जीव उत्पन्न होते हैं, विकास पाते हैं और आनन्द में ही लीन हो जाते हैं। 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' यह कहते हुए वे सृष्टि के आनन्द स्वरूप का ही वर्णन करते थे। आनन्द की पूर्णता की स्वाभाविकता ही इसी में है कि वह इस रूप में जो नियम व्यवस्था है, विधि-अनुशासन है, अपनी अनुभूति करे, स्वयं को प्रकट करे। रूपहीन आनन्द रूप में प्रकट होने के लिए रचना करता है।''[८२]

◆ सृष्टि की भवितव्यता और आचार्य जी की तप साधना

आचार्य जी की तप साधना, आध्यात्मिक प्रयोगों की शृंखला वैयक्तिक हितों के सम्पादन के लिए कभी नहीं रही। इसका एकमेव प्रयोजन समष्टि का हित साधन, प्रचलित परम्पराओं से अलग हटकर भी महान् सत्य है। उनके शब्दों में ''ईश्वर दर्शन, आत्म साक्षात्कार, ऋद्धि, सिद्धि के लिए उनके अभाव में जो आकर्षण रहता है, वह भी लगभग समाप्त हो चला। अपनी कुछ कामना नहीं। भावी तपश्चर्या का प्रयोजन उपरोक्त कारणों में से एक भी नहीं है।''[८३] हमारी आगामी तपश्चर्या का प्रयोजन संसार के हर देश में, जन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भागीरथों का सृजन करना है। उसके लिए अभीष्ट शक्ति सामर्थ्य का साधन जुटाना है। रसद और हथियारों के बिना सेना नहीं लड़ सकती। नव निर्माण के लिए उदीयमान नेतृत्व के लिए पर्दे के पीछे रहकर हम आवश्यक शक्ति तथा परिस्थितियाँ उत्पन्न करेंगे। अपनी भावी प्रचण्ड तपश्चर्या द्वारा यह सम्भव हो सकेगा और कुछ ही दिनों में हर क्षेत्र में, हर दिशा में सुयोग्य लोकसेवक अपना कार्य आश्चर्यजनक कुशलता तथा सफलता के साथ करते दिखाई पड़ेंगे।''[८४]

८१. आचार्य श्रीराम शर्मा- हमने आनन्द भरा जीवन जिया, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अंक ६, पृ. ४५, ४६
८२. आचार्य श्रीराम शर्मा-आनन्दरूपममृतं यद्विभाति, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४५, अंक ९, पृ. १
८३. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपनों से अपनी बात, विदाई की घड़ियाँ और हमारी व्यथा वेदना, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक २, पृ ६३
८४. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपनों से अपनी बात, हमारे शेष जीवन का कार्यक्रम और प्रयोजन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक १२, पृ ६१

इतना ही नहीं इस तप के प्रभाव से "सन् २००० तक वह सब कुछ दीखने लगेगा, जिसके अनुसार युग परिवर्तन का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सके। इसी बीच महती घटनाएँ घटेंगी, भारी संघर्ष होंगे, पाप बढ़ेगा और उसकी प्रतिक्रिया नए सिरे से सोचने और नई रीति-नीति अपनाने के लिए जन साधारण को विवश करेगी। बदलाव के अतिरिक्त और कोई मार्ग न रहेगा। मनुष्य को अपने तौर-तरीके बदलने होंगे। युग निर्माण की वर्तमान चिनगारियाँ विश्व व्यापी दावानल की तरह प्रचण्ड होंगी और उसमें आज की अनीति एवं अवांछनीयता जल-बलकर होलिका दहन की तरह नष्ट हो जाएगी। नया युग प्रातः काल के उदीयमान सूर्य की तरह अपनी अरूणिमा अब कुछ ही समय में प्रकट करने जा रहा है।"[८५] उनके तप प्रयोगों की यह शृंखला सृष्टि सन्तुलन तक ही नहीं थमी। इसके बढ़ते क्रम में यों तो उन्होंने सृष्टि के अन्तराल में अनेकानेक रहस्यमय प्रयोग सम्पन्न किए। इनमें से सबका उल्लेख करना तो सम्भव नहीं। पर दो ऐसे हैं- जिनमें न केवल आध्यात्मिक रहस्य का उत्कर्ष समाया है, बल्कि दिव्य द्रष्टाओं, सृष्टिवेत्ता दार्शनिकों के लिए नवीन और विलक्षण आयाम का उद्‌घाटन है। ये दोनों ही प्रयोग १९८४ से १९८७ के बीच चली सूक्ष्मीकरण साधना के दौरान सम्पन्न हुए।

◆ विश्व कुण्डलिनी का जागरण

सामान्य क्रम में व्यक्ति की कुण्डलिनी की चर्चा पढ़ने को, सुनने को मिलती है। लेकिन आचार्य जी ने अध्यात्म के इतिहास में यह एक ऐसा प्रयोग सम्पन्न किया जो न केवल प्रक्रिया की दृष्टि से रहस्यमय है, बल्कि प्रभावों की दृष्टि से भी आश्चर्यजनक है। प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं- "जैसी व्यवस्था स्थूल रूप में समाज तंत्र की है वैसी ही कुछ परोक्ष जगत् की भी है, जहाँ सतत् अदृश्य सहायक पितरगण सूक्ष्म रूप धारी आत्माएँ दिक्-काल से परे परिभ्रमण करती रहती हैं। वे अपने क्रियाकलापों से समष्टि जगत् को प्रभावित करती हैं, भले ही दृश्यरूप में उन्हें देखा न जा सके। सूक्ष्मीकरण साधना के उपरान्त साधक उसी श्रेणी में आ जुड़ता है।"[८६] उनकी यह साधना रहस्य और रोमांच से भरी थी। उन्हीं के शब्दों में "जिस आवास स्थली में, कोठरी में रहा जा रहा है, जहाँ तक एक दो का ही प्रवेश वांछित समझा गया है, उसे अभिमंत्रित कीलित किया गया है। इसमें जो प्रयोग चल रहे हैं, वे अद्‌भुत हैं। कुछ ऐसे हैं जो रात्रि को करने पड़ते हैं, तब दिन में सोकर काम चलाया जाता है। कुछ दिन में करने के हैं। कुछ मंत्र ऐसे हैं जिनमें तनिक भी एक शब्द की भी भूल हो जाने पर उच्चारण तंत्र ही उलट-पुलट सकता है। इसलिए प्रयोग चलाते समय क्षण-क्षण में वह देखभाल करनी पड़ती है कि शरीर और मस्तिष्क का संतुलन ठीक रह रहा है या नहीं। बिगड़ता है तो उसे हाथों हाथ सुधारना पड़ता है।"[८७]

प्रयोग के इस क्रम में वह विश्व का हृदय बन गए। विश्व के स्पन्दन उनमें स्पन्दित होने लगे। इसके परिणाम उन्हीं के शब्दों में- "शान्तिकुञ्ज में सामयिक परिस्थितियों को देखते हुए जो विशिष्ट साधना चली है, उसे विश्व का, राष्ट्र का कुण्डलिनी जागरण कह सकते हैं। हिमालय की पुरातन ऋषि ऊर्जा का पुनर्जागरण हरिद्वार के सप्तधारा क्षेत्र में नियोजित हुआ है। उसका प्रभाव राष्ट्र में समीपता की दृष्टि से अधिक और जल्दी दृष्टिगोचर होगा। दूरी बढ़ते जाने से विश्व के अन्य क्षेत्रों में उसका प्रभाव क्रमशः परिलक्षित होता जाएगा। परिवर्तन किस क्रम से होगा? इस सन्दर्भ में यह समझ कर चलना चाहिए कि सर्वप्रथम जो जमा हुआ है, जड़ जमाए हुए है, उसे उखाड़ना पड़ेगा। भले इसमें राहत के स्थान पर असुविधाएँ ही क्यों न सामने आयें?

(बाद में) विश्व की कुण्डलिनी जाग्रत् होन का प्रभाव इस रूप में देखा जा सकेगा कि उससे जड़ पदार्थ, जीवधारी मनुष्य एवं परिस्थितियों के प्रवाह प्रभावित होगे। मृतिका की उर्वरता बढ़ेगी, खनिजों के भण्डार तथा उत्खनन का अनुपात बढ़ जाएगा। धातुएँ मनुष्य की आवश्यकताओं से अधिक उत्पन्न होंगी।

---

८५. आचार्य श्रीराम शर्मा- अपनों से अपनी बात, हमारे शेष जीवन का कार्यक्रम और प्रयोजन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक १२, पृ. ६१
८६. आचार्य श्रीराम शर्मा- आत्म सत्ता में निहित विभूतियों का रहस्योद्‌घाटन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अंक ७, पृ ३३
८७. आचार्य श्रीराम शर्मा- एकान्त साधना में विक्षेप न किय जाय, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अंक १०, पृ. १४

खनिज तेलों की कमी न पड़ेगी। रसायनें प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होंगी। वृक्ष, वनस्पति उगाने के लिए मनुष्य को अधिक प्रयास नहीं करना पड़ेगा। वे प्रकृति की हलचलों से ही उपजते और बढ़ते रहेंगे। जलाशयों में कमी न रहेगी। वनौषधियाँ फिर प्राचीनकाल की तरह इतनी गुणकारक होंगी कि चिकित्सा के लिए बहुमूल्य उपचार न ढूँढने पड़ेंगे। उपयोगी प्राणी बढ़ेंगे और दीर्घकाल तक जीवित रहेंगे। हानिकारकों की वंश वृद्धि रूक जाएगी और वे जहाँ-तहाँ ही अपना अस्तित्व बचाते हुए दीख पड़ेंगे। जलवायु में पोषक तत्त्व बढ़ेंगे और वे प्रदूषण को परास्त करेंगे। मलीनता घटेगी और शुद्धता अनायास ही बढ़ेगी। प्रकृति प्रकोपों के समाचार यदा कदा ही सुनने को मिलेंगे। बाढ़-सूखा, अकाल, महामारी, भूकम्प, ज्वालामुखी विस्फोट, ओलावृष्टि, टिड्डी इत्यादि हानि-कारक उपद्रव प्रकृति के अनुकूलन से सहज ही समाप्त होते चले जायेंगे।

मनुष्य की आकृति तो वैसी ही रहेगी जैसी अब है। पर अगली शताब्दी में उसकी प्रकृति असाधारण रूप से बदल जाएगी। दुर्व्यसन हर किसी को अरुचिकर लगेंगे और न उनमें जन साधारण की प्रीति रहेगी न प्रतीति। चोरी, ठगी, निष्ठुरता, क्रूरता, पाखण्ड, प्रपंच, अपने लिए न अनुकूलता देख पाएंगे न अवसर प्राप्त करेंगे। अधिकांश जब गुण, कर्म, स्वभाव में सज्जनता भरी होगी तो दुष्ट दुर्जनों की करतूतें न तो बन पड़ेंगी और न सफल होंगी।'[८८] ये प्रभाव प्रकृति की व्यवस्था में हुई उस व्यापक फेरबदल के होंगे, जो आचार्य जी ने अपनी विशिष्ट साधना उपक्रमों से सम्पन्न की हैं। और ''जिसे विश्व कुण्डलिनी जागरण नाम दिया गया है।''[८९]

◆ ब्रह्माण्ड के पंचकोशों का जागरण

ब्रह्माण्ड को परम सत्ता का शरीर रूप माना गया है एवं इसमें संव्याप्त चेतन सत्ताओं को उसी का एक घटक माना गया है। मान्यता है जिस प्रकार सारे वृक्ष की सत्ता एक बीज में, मानवी सत्ता शुक्राणु में तथा पदार्थ की सत्ता अणु में छिपी होती है, उसी प्रकार इस निखिल ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण हर चेतन सत्ता में देखा जा सकता है। मानवी चेतन सत्ता के सूक्ष्म शरीर में पांच कोश अवस्थित बताए गए हैं। आप्त वचनों के अनुसार क्रमशः अन्नमय कोश से विकसित होते-होते चेतना का ऊर्ध्वारोहण होता जाता है एवं आनन्दमय कोश की स्थिति में यह मुक्ति की स्थिति में पहुँच जाता है।

अपनी सूक्ष्म दृष्टि से सारे ब्रह्माण्ड के विकास में व्यष्टि सत्ता का विकास मानते हुए समष्टि के भी पाँच भाग किए हैं। उनके अनुसार वनस्पति जगत् एक विशेष योनि है, जिसे हम ब्रह्माण्ड का अन्नमय कोश कह सकते हैं। प्राणिजगत् इससे भी ऊँची योनि है, जिसे ब्रह्माण्ड का प्राणमय कोश का नाम दिया गया है। मनुष्य के अवतरण के रूप में मनोमय कोश विकसित हुआ है। सृष्टि के विकास की दृष्टि से सोचा जाय तो अभी तीन ही कोश सक्रिय हैं। चौथा विज्ञानमय कोश अतिमानस की सत्ता के रूप में माना है, जिसका अवतरण होना बाकी है। अन्तिम आनन्दमय कोश ब्रह्माण्ड के पूर्ण विकास की स्थिति होगी। मानव में देवत्व तथा धरती पर स्वर्ग का अवतरण होने से सतयुगी परिस्थितियाँ होंगी।

विकासवाद की यह परिभाषा अपने में विलक्षण है एवं विज्ञान सम्मत है। पौधे वनस्पति पशु, पक्षी, मनुष्य ये तीनों इस जगत् में आए, किन्तु उनका स्तर अलग-अलग था। मनुष्य स्वभावतः शाकाहारी है। उदरपूर्ति वह वनस्पति समुदाय से करता है। ब्रह्माण्ड के प्रथम कोश, अन्नमय कोश के रूप में इस प्रकार वनस्पति जगत् ने स्थान लिया। पादप वनस्पतियों में चेतना होते हुए भी हलचल नहीं होती, इसी कारण वे प्रारम्भिक योनि के स्तर पर माने गए। प्राणियों में चेतना है, हलचल भी। दैनन्दिन जीवन के उदरपूर्णा एवं प्रजनन सम्बन्धी क्रियाकलाप भी वे चलाते रहते हैं। प्राण विद्युत का स्थूल नियोजन भर कर पाने वाले इन जीवों-पशु पक्षियों को ब्रह्माण्ड का प्राणमय कोश माना गया। इससे ऊँची स्थिति तक वे पहुँच नहीं पाते।

श्री अरविन्द के अनुसार मानवी चेतना के

---

८८. आचार्य श्रीराम शर्मा- राष्ट्र कुण्डलिनी का परिवर्तन प्रक्रिया, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५७, अंक १, पृ. ५९, ६०-६१
८९. वही, पृ. ६२

अन्तराल में ही ब्राह्मी चेतना की परम सत्ता अतिमानस का अवतरण होगा। तब सभी मनुष्य देव पुरुष होंगे। उनकी भावनाएँ उदात्त होंगी। वे संकीर्ण स्वार्थपरता कुतर्कवाद, द्वेष-कलह, मनोविकारों से मुक्त होंगे और अन्ततः मोक्ष का द्वार खोलेंगे जो आनन्दमय कोश की स्थिति होगी।

सूक्ष्मीकरण प्रकरण में व्यष्टि सत्ता की चर्चा के अन्तर्गत पांच वीरभद्रों के रूप में पांच कोशों की चर्चा स्थान-स्थान पर की गई है। ये हर व्यक्ति के अन्तराल में प्रसुप्त पड़ी चेतन जगत् के भण्डारागार की अमूल्य निधि हैं। जिनकी जागृति हेतु साधना पुरुषार्थ का अवलम्बन लिया जाता है। अभी हम चेतना बोध के तीन आयामों को ही जान पाए हैं। समष्टिगत स्तर पर ब्राह्मी चेतना के पाँच आयामों की जानकारी हमें विलक्षण लगने लगती है। योगी दिव्य दृष्टि सम्पन्न होते हैं। योगीराज अरविन्द ने मानवीय विकास को जिन पाँच योनियों का वर्णन ब्रह्माण्डीय पंचकोशों के रूप में किया है, वह एक अभूतपूर्व किन्तु यथार्थ प्रतिपादन है। जिस दिन मानव अतिचेतन, अतिमानस की स्थिति को प्राप्त कर लेगा, वह चतुर्थ आयाम में पहुँच जाएगा। प्रस्तुत सन्धिकाल मानवीय सत्ता के अतिमानवीय सत्ता में हस्तान्तरित होने का संक्रान्ति काल है। आनन्दमय कोश की स्थिति, मानव में देवत्व के जागरण की स्थिति इसी का उत्तरार्ध है। जो नियन्ता द्वारा निर्धारित मानव के विकास का चरम बिन्दु है।"[९०]

आचार्य जी के द्वारा किए गए इस विस्तृत विवेचन में न केवल ब्रह्माण्ड के पंचकोशों के स्वरूप का मर्मोद्घाटन है, बल्कि इस सत्य की स्पष्ट स्वीकारोक्ति है कि उनकी सूक्ष्मीकरण साधना का उद्देश्य श्री अरविन्द के कार्य के उत्तरार्ध को पूरा करना था। इसी के परिणाम भविष्य में जगत् में स्वर्ग की सृष्टि के रूप में देखे जा सकेंगे। और धरती आनन्द भुवन बन सकेगी। स्वयं की भूमिका की ओर संकेत करते हुए उनके शब्द हैं- "मनुष्य ईश्वर का ज्येष्ठ पुत्र युवराज है और उसकी विश्व वाटिका को समुन्नत, सुविकसित करने के लिए एक कुशल माली की भूमिका निभाने आया है।"[९१] उनकी तप साधना का प्रयोजन यही था। जिसकी पूर्णता ने न केवल समग्र सृष्टि - सिद्धान्त दिया, बल्कि ब्रह्माण्डीय विकास में नए आयाम जोड़े। यह तत्त्व व्यापक बोध की वस्तु बने इसके लिए जरूरी है सृजेता के विश्व उद्यान के विकास का तत्त्वज्ञान।



९०. आचार्य श्रीराम शर्मा- ब्रह्माण्ड का पंचकोशी शरीर, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अंक १२, पृ. १२
९१. आचार्य श्रीराम शर्मा- मानव के परिष्कार एवं उत्कर्ष की भावी सम्भावनाएँ, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४८, अंक ३, पृ. २८

अध्याय ६

विकास की ओर

विकास जगत् की मूलभूत प्रकृति है।[1] विश्व की व्यापकता में हो रहे हर स्पन्दन, प्रत्येक हलचल की गति इसी ओर प्रेरित है। आचार्य जी के शब्दों में कहें तो "यह संसार अपूर्ण है। उसके सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि वह अपूर्णता से पूर्णता की ओर चल रहा है।"[2] विकास का अर्थ पूर्णता की प्राप्ति का अनवरत प्रयत्न है। चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने, चेतन या अचेतन रूप से हर पग इसी ओर बढ़ रहा है। जड़ पदार्थ हो या चेतन कहे जाने वाले प्राणी सभी इसी अदम्य लालसा, उत्कट आकांक्षा से संजोये हैं। स्वयं में अन्तर्निहित सत्य को पूर्णतया अभिव्यक्त करने के लिए सक्रिय हैं। परमाणु अपने विकास के इसी क्रम में अनेक रूप और आकारों को ग्रहण करता और स्वयं में समाए तत्व को कई आयामों से अभिव्यक्त करने की कोशिश में जुटा रहता है। बीज विकास की इसी चेष्टा में स्वयं को गलाता और पल्लव-पुष्प और फलों से लदे वृक्ष की प्राण चेतना प्राप्त कर लेता है। प्राणियों के जीवन की हलचलें प्राण से मन तक पहुँचने की अविराम कोशिश है। "फिर मानव में तो अद्‌भुत चिन्तन सामर्थ्य है।"[3] यहाँ मन और बुद्धि ने अपने विकास की परिपक्वता पायी है। विकास पथ पर बढ़ते कदमों के साथ मन से आत्मा तक विकसित होने की अनन्त सम्भावनाएँ साकार होने को है।

विकास का यह क्रम, इसमें निहित तत्व, एक ऐसा तथ्य बनकर उजागर हो गया है, जो स्वयं में अपना प्रमाण है। विकास विरोधी तर्क देने वाले ओसवाल्ड स्पैंग्लर जैसे दार्शनिक अब गए गुजरे जमाने के व्यक्ति हो गए। विकास के सिद्धान्त को मानवीय ज्ञान के लगभग सभी क्षेत्रों ने ससम्मान अपनाया है। दार्शनिक जगत् में इसके अनेक रूप देखने को मिलते हैं। आवश्यकता है इनकी तर्क पूर्ण समीक्षा की; ताकि बुद्धि सम्मत और अनुभव से प्रतिपादित समग्र सिद्धान्त की खोज की जा सके। आज यह कहने भर से छुटकारा नहीं मिल सकता कि "विकास वह नाम है जो कि हम सभी प्राकृतिक घटनाओं में क्रम की विस्तृत योजना को देते हैं।"[4] बल्कि इस योजना को सर्वग्राही बनाने के लिए इस व्याख्या को आगे बढ़ाकर उसमें मन और आत्मा की घटनाओं को भी शामिल करना पड़ेगा। इसे ऐसी समग्रता देनी होगी, जिसके द्वारा सत्ता के सभी स्तरों जड़, प्राण, मन एवं आत्मा का क्रम एवं प्रयोजन खोजा जा सके। साथ ही अतीत में हुए, वर्तमान में हो रहे और भविष्य में होने वाले विकास का समुचित मूल्यांकन किया जा सके।

पूर्वी चिन्तन में विकास की अवधारणा

◆ वैदिक ऋषियों की दृष्टि में विकास

सतत् विकसित हो रही सृष्टि को देखकर ऋषियों के अन्तर्मन में आश्चर्य मिश्रित जिज्ञासा उपजी-

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥[5]

अर्थात्- कौन जानता है, इसे कौन कह सकता है कि यह सृष्टि किससे विकसित हुई। किससे यह विविध रचना हुई। इस जगत् के विकसित हो जाने के पश्चात् विद्वान् लोग हुए, तो फिर कौन जानता है कि यह विश्व किस निमित्त और उपादान कारण से भली प्रकार विकसित हो सका।

ऋषियों की यही जिज्ञासा वेदों में विकासवाद के दार्शनिक चिन्तन का बीज बनी। बाद में अपने व्यवस्थित शोध प्रयत्नों से उन्होंने अनुभव किया कि "आदि सृष्टि काल में भौतिक उपादान कारण रूप त्रिवर्गी प्रकृति तथा

---

१. डॉ. इन्द्र सेन- जीवन और साधना, पृ. ५
२. आचार्य श्रीराम शर्मा- सन्तोष की सांस लें, आशावान रहें, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४०, अंक १२, पृ. ४४
३. डॉ. इन्द्र सेन- जीवन और साधना, पृ. ५
४. लायड मार्गन- एमर्जेन्ट एवाल्यूशन, पृ. १
५. ऋग्वेद- १०/१२९/६

ईश्वरीय ईक्षण शक्ति का संयोग हुआ।'[6] ज्ञानवान् सर्वज्ञ ईश्वर ने भौतिक प्रकृति के गुण, स्वभाव के ज्ञान को यथावत नियोजित करके सृष्टि की योजना बनाकर उसके विकास की नींव डाली। सृष्टि विकास के बीजारोपण के इस काल में प्रकृति ने अपने सर्वांगीण स्वरूप को ईश्वर के समक्ष अपने सत्य स्वरूप में प्रस्तुत किया और ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञता से प्रकृति को यथावत जाना। आदि काल में जब प्रकृति में सृष्टि विकास का बीजारोपण हुआ तब अत्यन्त भीषण क्रिया हुई अर्थात् वृहदाग्नि काण्ड हुआ, जिसमें पकाया जाकर[7] मूल तत्त्व प्रारम्भिक रस[8] रूप में तैयार किया गया, जो सृष्टि विकास का आधारभूत द्रव्य था।

यहाँ ज्ञातव्य है कि अनादि मूल भौतिक कारण प्रकृति को वेदों में माता Mother Cause कहा गया है। तथा अनादि निमित्त कारण सर्वव्यापी चैतन्य प्रकृति के शाश्वत स्वामी सर्वेश्वर को पिता कहा गया है। इन दोनों के सम्मिलित प्रभाव से सृष्टि कैसे विकसित हुई। इसी का रोचक विवरण ऋचाओं में है।

वेद में प्रकृति शब्द नहीं है। सृष्टि विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ होने से पूर्व प्रकृति या मूल भौतिक त्रिवर्गी तत्त्व संघात ब्राह्मी अवस्था में ईश्वर के गर्भ में रहता है। तत्त्व की उस अवस्था को वेद में 'अदिति' प्रतीक से प्रतिष्ठित किया गया है। सृष्टि विकास हेतु नियोजित होते ही उस मूल तत्त्व की संज्ञा 'आपः' माया या असत् हो जाती है। ये नाम मूल तत्त्व की व्यापकता 'आप्लृ व्याप्तौ' अनेक रूपों में प्रकट होने की शक्ति 'माया-मीयते अपरौक्षवत् प्रदरयतेनया इति माया' जिससे मूल से भिन्न लुभावने रूपों में होती है। और 'असत्' मानव द्वारा अविज्ञेय स्थिति अतएव न होने जैसी सत्ता में विद्यमान होने के लक्षण के परिणाम के आधार पर बने हैं।

विकास के प्रारम्भ में त्रिवर्गी मूल तत्त्व उद्वेलित हो परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप विस्तार को प्राप्त होता है। प्रकृति की इस विस्तृत अवस्था में विकास क्रम में सर्वप्रथम यौगिक उत्पन्न होते हैं। इस अवस्था को 'बृहतोः आपः' कहते हैं। बृहती का अर्थ (धातु भ्वाः तुदा. पर बृह- बढ़ना, फैलना) विस्तृत प्रशस्त है। बृहती शब्द आपः का मात्र विशेषण नहीं है। वरन् वैदिक दृष्टाओं के अनुसार आपः से परवर्ती अवस्था बृहती आपः की है। उपनिषद् एवं दर्शनकारों ने इसी को महत् तत्त्व कहा है। महत् का अर्थ भी प्रशस्त है। इसे विज्ञान की प्लाज्मा अवस्था.के समकक्ष[9] कह सकते हैं।

इस विषय पर यथेष्ठ प्रकाश डालते हुए ऋग्वेद के ऋषि कहते हैं-ईश्वर ने बृद्धिशील आपः को पुष्ट किया था। वही उसे मूल प्रकृति के दिव्य आवास में धारण करता है। मूल आधशक्ति के मौलिक गुणों द्वारा उत्पन्न आपः मौलिक गुण स्वभावानुरूप निश्चय ही तीन मूलतत्त्वों का प्रचुरता से विशिष्ट विस्तार करता है।[10]

आपः के इसी विस्तार को बृहती आपः कहते हैं। इस अवस्था में हुए महाविस्फोट[11] के बाद विकास का भावी पथ प्रशस्त हुआ। महाविस्फोट की इस घटना का सजीव वर्णन करते हुए ऋषि कहता है- जब निश्चय ही बृहती आपः की विकृतियाँ अपने अन्तर में धारण किए समग्र अग्नि पिण्ड को उत्पन्न करती आयी थी। तब समस्त देवों भौतिक शक्तियों का जीवन रूप अर्थात्

---

६. माता पितरमृत आबभाज धीत्यग्रे मनसा स हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भर सा निविद्धा नमस्वन्त इद्पवाकमीयुः॥ ऋग्वेद- १/१६४/१

७. ब्रह्मणस्पति सं कर्मार इवाधमत्। ब्रह्माण्ड का स्वामी लोहार की तरह मूल तत्त्व को पकाता है। ऋग्वेद-१०/७२/२

८. आधुनिक कास्मोगेनी में इस फ्लुईड को क्वार्क सूप कहते हैं।

९. डॉ. विष्णुकान्त वर्मा- वैदिक सृष्टि उत्पत्ति रहस्य, भाग १, पृ ६०

१०. अहमपो अपिन्वमुक्षमाण धारयं दिव सदनं ऋतस्य।
ऋतेन पुत्रो अदितेर्ऋतावोत त्रिधातु प्रथयद्वि भूम॥ऋग्वेद- ४/४२/४

११. सर आइन्स्टीन के सूत्रों के अनुसार आधुनिक विज्ञान ने सृष्टि विकास का प्रतिमान तैयार किया है। इस प्रतिमान के अनुसार सृष्टि आरम्भ एक महाविस्फोट से होता है जिसे big bang कहते हैं। उस समय सर्वप्रथम क्वांटम क्रियाएँ होती हैं। आरम्भ से क्षण के हजारवे भाग पर तरल प्लाज्मा तैयार होता है।

– डॉ. विष्णुकान्त वर्मा- वैदिक सृष्टि उत्पत्ति रहस्य, भाग १, पृ. ६२

प्राणप्रदाता केवल एक अद्वितीय सहा अस्तित्ववान था, अन्य कोई नहीं। तब किस देव की उपासना करें, वस्तुतः उसी एक अद्वितीय की।[12]

बृहती आपः से महान् अग्नि पिण्ड की बात मंत्रोक्त है। स्पष्ट है आपः जल नहीं है। जल से बृहत अग्नि पिण्ड की उत्पत्ति असम्भव है। बृहती आपः मूल तत्त्व आपः का प्रशस्त रूप है।

बृहती आपः के अनन्तर सृष्टि विकास की अगली अवस्था 'अपां नपात्' कही गयी है। "यह विज्ञान की नाभिक अवस्था है, जो परमाणु रचना की पूर्ववर्ती अवस्था है। इस अवस्था में द्रव्य में दो प्रमुख नाभिक रहते हैं, ये हैं हाइड्रोजन नाभि एवं हीलियम नाभि, जिसका अनुपात ७४, २६ होता है। इस द्रव्य को कास्मिक मैटर कहते हैं।"[13] इस अवस्था वाले तत्त्व बड़े अस्थिर स्वभाव वाले होते हैं। इस अवस्था के इस गुण को समाहित करने के अभिप्राय से ही इस अवस्था का नाम 'अपां नपात्' है।[13अ]

विज्ञान के अनुसार प्लाज्मा अवस्था के अनन्तर नाभि रचना होती है, जिसमें प्रमुख नाभि हीलियम २६ प्रतिशत व हाइड्रोजन नाभिक ७४ प्रतिशत होती है। शेष द्रव्य एलीमेन्ट्री कणों के रूप में रहता है जिनका जीवन काल अत्यन्त लघु भाग के बराबर होता है। पदार्थ की यह अवस्था परमाणु रचना की पूर्ववर्ती है, जिसे कास्मिक मैटर कहते हैं। ऋग्वेद के अनुसार बृहतीः आपः के बाद तथा परमाणु (अर्धगर्भाः) रचना के पूर्व की अवस्था 'अपां नपात्' है। जो विज्ञान के कास्मिक मैटर का द्योतक है।[14]

ऋग्वेद के मण्डल दो के पैंतीसवें सूक्त में इस अवस्था को भली प्रकार स्पष्ट किया गया है। इस सूक्त के देवता अपां नपात् है। अपां नपात् का एक अर्थ द्रव्य की अविनश्वरता भी है। इस तरह इस सूक्त में विज्ञान के ऊर्जा संरक्षण के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन हुआ है। सूक्त की दूसरी ऋचा है– इस मंत्र को हम अच्छी तरह कहें। इसके लिए पुत्र के पुत्र पौत्र को अथवा निचोड़े गए सार को बुद्धि के द्वारा समझकर इसके भाव को अच्छी तरह जाने। जगत् का स्वामी अपनी महिमा से प्राणरूप मौलिक बीज रूप अपां नपात् रूपी अक्षय नाभिक तत्त्व से समस्त लोक समूहों को उत्पन्न करता है।[15]

अपां नपात् से विकसित होती हुई, अर्ध गर्भाः (परमाणु) अवस्था जो अपने अगले क्रम में (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश) पांच महाभूतों के दृश्य जगत् का निर्माण करती है। इसे स्पष्ट करते हुए सूक्त की तीसरी ऋचा में वर्णित है– जैसे अनेकों नदियाँ एक ही समुद्र के पास जातीं व उसको भरती हैं वैसे ही पवित्र जल तत्त्व, द्रव अवस्था निश्चय ही उस पवित्र तेजस्वी अक्षय नाभिक तत्त्व को चारों ओर से घेरकर स्थित है। अन्य महाभूत पृथ्वी तेजादि भी उसी प्रकार जाते हैं।[16]

---

१२. आपोहयद् बृहतीर्विश्वमायन गर्भमुद्धाना जनयन्तीरग्निं।
तलो देवानाम् समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
ऋग्वेद- १०/१२१/७

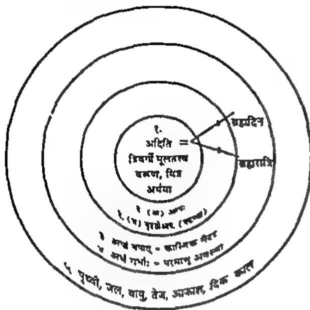
१३. डॉ. विष्णुकान्त वर्मा– वैदिक सृष्टि उत्पत्ति रहस्य, भाग १, पृ. ६४

१३अ. जिसका अर्थ है (अदादि /पा॰ रक्षणे के आधार पर 'स्वे स्वरूपं न पाति, न रक्षति, आशु विनाशित्वात् इति नपात्'-अमरकोष) अपने स्वरूप की रक्षा नहीं करता शीघ्र तिरोभाव को प्राप्त करता होता है, रूपान्तरित होता है, अस्थाई आयु वाला है।

१४. वही, पृ. ६५

१५. इमं स्वस्मै हृद सतुष्टं मंत्र वोचेम कुविदस्यवेदत्।
अपांनपाद्सूर्यस्य महा विश्वान्यर्यो भुवना जजान॥
ऋग्वेद-२/३५/२

१६. समन्या यन्त्युप यन्त्यन्याः समानमुर्वम् नद्यः पृणन्ति।
तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसमपां नपातं परितस्थुरापः॥
ऋग्वेद-२/३५/३



वैदिक सृष्टि विकास चक्र- वेदों में विकासवाद की व्याख्या में जिन मंत्रों का उल्लेख किया गया है। उनके आधार पर सृष्टि विकास चक्र का जो चित्र उभरता है, उसे नीचे प्रस्तुत किया जाता है-

१. नाभिचक्र का आन्तरिक भाग- ब्राह्मी स्थिति अदिति से विज्ञेय मूल सत्ता त्रिनाभि चक्रं अजरं अनर्वं।

२. नाभिचक्र नेमि-

अ. पूर्वार्ध भाग- आपः प्रतीक से विज्ञेय मूल तत्त्वों की क्रियाशील अवस्था।

ब. उत्तरार्ध भाग- आपः का विस्तृत रूप बृहती आपः मूल से उद्भूत प्राथमिक तरल- उक्षमाण अपः प्रथयत् विभूम्, नाभिचक्र नेमि व बाह्य चक्र नेमि के मध्य का रिक्त स्थान।

३. अन्तरिक पूर्वार्ध कक्ष- अपां नपात् प्रतीक से विज्ञेय नाभिक अवस्था कास्मिक मैटर।

४. अन्तरिम उत्तरार्ध कक्ष- परमाणु अवस्था, सप्त अर्धगर्भाः- तन्मात्रा अवस्था।

५. बाह्य चक्र नेमि- सप्त वर्गो दृश्य जगत् - सप्त युञ्जन्ति रथमेक चक्रं।

वैदिक ऋषियों के अनुसार विकास के इस क्रम में मूल प्रकृति का एक भाग ही पूर्ण रूप से जगत् रूप में विकसित होता है। शेष अधिकांश भाग कास्मिक विकिरण व कास्मिक मैटर के रूप में रहता है।[17] प्रकृति का, समग्र मूल तत्त्व का एक अंश ही विकसित हो अन्तिम द्रव्य सत्ता, ठोस, द्रव, गैस में परिणित होता है। ऋषियों के इस मत को आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी स्वीकारा है। उनके अनुसार भी प्रकृति का अंशमात्र ही पूर्ण जगत् रूप में अर्थात् अणु रूप में होता है।

विकास के अगले चरण में भौतिक कार्य शक्ति के दो भेद हो जाते हैं। एक भेद के द्वारा भौतिक एवं रासायनिक जगत् धारण किया जाता है तथा दूसरे भाग से वनस्पति व जैविक द्रव्य धारण किया जाता है। इन दो भागों को ऋग्वेद में क्रमशः सोम व पूषा शक्ति के अन्तर्गत विभाजित किया गया है। इसमें सोम प्रकृति का विकिरण अंश है। इस विकिरण अंश में समस्त भौतिक रासायनिक द्रव्य समुच्चय निहित कर दिया गया है। तथा इसके स्वरूप से भिन्न भौतिक सत्ता के उस भाग को, जिससे वनस्पति व जीवनी शक्ति उद्गत होती है, पूषा भाग में सन्निहित किया गया है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए ऋषि गृत्समद कहते हैं- क्रियात्मक मूलतत्त्वों में दिव्य प्रेरणा से जो पवित्र सत्य प्राकृतिक नियमों द्वारा निरन्तर विविध रूपों में प्रकाशित होता है। उसकी समस्त लोक यहाँ शाखाएँ हैं। प्राणियों के साथ वनस्पति भी अन्य प्राणरूप शाखाओं से विविध रूपों में उत्पन्न होते हैं।[18]

---

१७. युक्तमातासीद् धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भोवृजनीष्वन्तः।
अमीमेद वत्सो अनुगामपश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु॥
-मूल तत्त्व अदिति अक्ष के चरम दक्षिण भाग में जुड़ी हुई है। उसके गर्भ के अन्तस गमन करने वाला एक भाग ठहरता है। गाय की नकल कर जैसे बछड़ा रंभाता है, उसी प्रकार गमन करने वाला मूल तत्त्व का भाग मूल से विश्व रूप में विकास करता हुआ देखा जाता है। जन्म, नाम, रूप तथा लय इन तीन को योजना में बंधा हुआ उत्तरी धुरी में। ऋग्वेद-१/१६४/९

१८. यो अप्स्वा शुचिना दैव्येन ऋतावाजस्र उर्विया विभाति।
वया इदन्या भुवनान्यस्य प्रजायन्ते वीरुधश्च प्रजाभि॥ ऋग्वेद-२/३५/८

क्रम विकास की इस परम्परा में मूल द्रव्य एवं शक्तियाँ, वनस्पतियाँ एवं प्राणियों के जीवन के बाद एक नया आयाम विकसित हुआ मन का। विकास के जिस स्तर पर इस मन का आविर्भाव हुआ, उसे मनुष्य कहा गया। यहाँ ऋषि को सब कुछ नजर आया, जड़, जीवन, मानस और साथ ही नए आयामों के विकास की असीम सम्भावनाएँ। इसे देखकर वह कह उठा-

पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानं षडाश्रयं षडगुण योगयुक्तम्।
तत् सप्तधातुम् त्रिमलं द्वियोनिं चतुर्विधा आहारमय शरीरं॥[19]

परन्तु वैदिक ऋषि 'आहारमय शरीर' का यह वर्णन करके ही नहीं ठहर जाते। उनको उसके रोम-रोम में रहस्य और कण-कण में अचम्भा दिखता है। वह एड़ी से लेकर सिर तक के अंगों का निरीक्षण करता है और उनकी अद्भुत रचना को देखकर मुग्ध हो जाता है। बार-बार वह उसी प्रश्न को दुहराता है- अमुक अंग किसने बनाया? इसको बनाने वाला कौन सा देव है?[20] उसकी दृष्टि शरीर के आठ केन्द्र स्थानों पर जाती है। वह शीर्ष स्थान के सात[21] तथा मध्य भाग के दो[22] छिद्रों को देखता है और उनमें रहने वाली दिव्य शक्तियों पर विचार करता है, तो उसे यह आठ चक्रों वाली और नौ द्वारों वाली, देवों की अयोध्यापुरी[23] मालूम पड़ता है।

इस प्रकार विकास वर्तमान समय में जिस अवस्था में पहुँचा है, वहाँ आपततः ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य ही अब उसका चरमोत्कर्ष है, किन्तु यथार्थ में वह उसका चरम शिखर नहीं है, कारण मनुष्य एक संक्रमणशील प्राणी है और ऐसे बिन्दु पर खड़ा है जहाँ से विकास की सम्पूर्ण धारा एक नवीन दिशा की ओर घूमने वाली है।[24] आचार्य जी के शब्दों में कहें तो "विकास क्रम में आज मनुष्य उस परम लक्ष्य की ओर गतिशील है जिसका प्रतिपादन अध्यात्मवेत्ता वैज्ञानिक ऋषि-मनीषियों से लेकर महर्षि अरविन्द तक ने किया है। यह लक्ष्य देवत्व को प्राप्त करना है।"[25] इसी की ओर संकेत करते हुए ऋषि कहता है- "जब वह एक शिखर से दूसरे शिखर पर आरोहण करता जाता है, तो इन्द्र उसे उसकी गति के उस लक्ष्य की चेतना प्रदान करता है।"[26] एक अन्य स्थान पर उसकी उक्ति है "दो माताओं का पुत्र, वह अपनी ज्ञान की प्राप्तियों में सम्राट्त्व प्राप्त करता है, वह शिखर पर विचरण करता है, अपने ऊँचे आधार में निवास करता है।"[27] मानस से आत्मा तक विकास को प्राप्त कर चुका ऋषि स्वयं की अनुभूति को व्यक्त करते हुए कहता है- "मैंने पृथ्वी से अन्तरिक्ष या मध्यवर्ती लोक में आरोहण किया है। अन्तरिक्ष लोक से द्युलोक में आरोहण किया है। द्युलोक के आकाश के स्तर से मैं सूर्यलोक को गया हूँ, जो ज्योति स्वरूप है।"[28]

इस तरह वैदिक ऋषियों के विकास सिद्धान्त के अनुसार विकासशील चेतना इस परम्परा में जिस भूमिका को प्राप्त करती है, उस भूमिका के अनुरूप सत्ताओं की एक श्रेणी होती है, इस प्रकार एक के अनन्तर दूसरी सत्ताएँ, भौतिक रूप एवं शक्तियाँ, वनस्पति, जीवन, पशु और अर्धपशु, मनुष्य, उन्नत मनुष्य, अपूर्णतया विकसित अथवा अधिक विकसित आध्यात्मिक प्राणी प्रकट होते हैं। परन्तु चूँकि विकास प्रक्रिया अविच्छिन्न होती है, इसलिए इन सत्ताओं के बीच कोई कठोर अलगाव नहीं है। हर नयी अग्रगति पहले वाली को अपने अन्तर्गत कर लेती

१९. ग. उ.-१/१
२०. अथर्ववेद- १०/२/१-२५
२१. वही, १०/२/६
२२. वही, १०/२/६
२३. अष्ट चक्रा नवद्वारा देवाना पूरयोध्या - अथर्ववेद- १०/२/३१
२४. श्री अरविन्द - दिव्य जीवन, द्वितीय भाग - द्वितीय खण्ड, पृ. ११३
२५. आचार्य श्रीराम शर्मा- उज्ज्वल भविष्य की ओर बढ़ती मानव जाति, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५६, अक २, पृ ९
२६. यत्सानोः सानुमारूहत तदिन्द्रो अर्थ चेतति - ऋग्वेद- १/१०/२
२७. द्विमाता होता विदथेषु सम्राळत्वग्रंचरति क्षेति बुध्नः -ऋग्वेद- ३/५५/७
२८. पृथिव्याऽहमुदन्तरिक्षमारूहमन्तरिक्षाद्दिवमारूहत।
दिवोनाकस्यपृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥ - यजुर्वेद- १७/६७

है। पशु अपने भीतर सजीव या निर्जीव भौतिक द्रव्य को ग्रहण कर लेता है। मनुष्य सजीव और निर्जीव भौतिक द्रव्य के साथ पशु सत्ता को ग्रहण कर लेता है, एक भूमिका से जब दूसरी भूमिका में संक्रमण होता है तो प्रकृति के चिर अभ्यास के कारण हलकी रेखा के समान गहरी झिर्रियाँ रह जाती हैं। ये झिर्रियाँ या रेखाएँ एक श्रेणी को दूसरी से पृथक् करती हैं, सम्भवत: जो विकसित हुआ है उसे फिर नीचे गिरने से रोकती हैं, लेकिन ये विकास की अविच्छिन्नता को नष्ट करती या काटती नहीं हैं। वह जो कुछ पहले था, जो कुछ वर्तमान में है, उसके भीतर अन्तर्गत कर लेती हैं और इन दोनों को जो भविष्य में होने वाले हैं उसमें अन्तर्गत करने की तैयारी कर रही होती हैं।[29] विकास के इस वैदिक सिद्धान्त में विकास के क्यों? क्या? और कैसे? को समुचित व्याख्याएँ देखने को मिलती हैं। परन्तु वैदिक मंत्रों की भाषा बड़ी रहस्यमयी व दुर्बोध है। आवश्यकता ऐसे प्रतिपादन की है, जो आधुनिक वैज्ञानिक मन के लिए तर्क सम्मत व सहज बोधगम्य हो।

◆ उपनिषदों में विकास सिद्धान्त

उपनिषदों में भी हमें वैदिक ऋषियों की चिन्तन शैली देखने को मिलती है। आखिर कैसे विकसित हुए जीवन के विविध रूप? यह जिज्ञासा ही उपनिषदों में विकास सिद्धान्त की बीज है। श्वेताश्वर उपनिषद् का ऋषि कहता है- इस जगत् का मुख्य कारण कौन है? लोग किससे उत्पन्न हुए हैं? किससे जी रहे हैं और किसमें हमारी सम्यक् प्रकार की स्थिति है तथा किसके आधीन रहकर हम लोग सुख और दु:ख में वर्त रहे हैं?[30]

इस जिज्ञासा के समाधान के लिए उन्होंने ध्यान योग में स्थित रहकर सृष्टि विकास के मूल कारण परमात्मा का साक्षात्कार किया।[31] और पाया कि उसकी इच्छा ही इस बहुविध विकास का बीज है।[32] इस इच्छा के फलस्वरूप आदि कारण प्रजापति ने संकल्प रूप तप किया। तप से उन्होंने सर्वप्रथम रयि और प्राण को विकसित किया। उसे उत्पन्न करने का उद्देश्य यह था कि दोनों मिलकर सृष्टि के नाना आयामों को विकसित करेंगे।[33] इस मंत्र स्थूल भूत समुदाय जड़ पदार्थ का नाम 'रयि' रखा गया है और समष्टि जीवनी शक्ति का नाम प्राण है। अर्थात् सृष्टि में पहले रयि प्रकाश में आया फिर प्राण विकसित हुआ। इन दोनों के सम्मिलित प्रभाव से वनस्पति और प्राणी जगत् के अनेक आयाम विकसित हुए। वेदों में इसी रयि और प्राण को 'सोम' और 'पूषा' नाम दिया गया है। वैदिक ऋषि कहते हैं-

अर्थात्- सोम-पूषन समस्त भौतिक पदार्थों को उत्पन्न करने वाले, द्युलोक को उत्पन्न करने वाले, पृथ्वी को उत्पन्न करने वाले हैं। वे दोनों समस्त लोकों की रक्षा करने वाले हैं। विद्वानों ने नाश रहित पदार्थ के मूल स्रोत, मूलाधार के विषय में प्रकाश डाला है।[34]

उपनिषदकारों के अनुसार विकास का जो पहला आधार है, वह है भूत समुदाय (जड़ द्रव्य) अर्थात् 'रयि' के विविध रूपों की सृष्टि। इनमें पहले निश्चेतन और निर्जीव जड़ पदार्थ सृष्ट होते हैं। इसके अनन्तर ऐसे

---

२९. श्री अरविन्द- दिव्य जीवन, द्वितीय भाग, द्वितीय खण्ड, पृ ११२-११३

३०. किं कारणं ब्रह्म कुत: स्म जाता
जीवाम् केन क्व च सम्प्रतिष्ठा.।
अधिष्ठाता: केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥-श्वेताश्वतर उपनिषद्- १/१

३१. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन, देवात्म शक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्। - श्वेताश्वतर उपनिषद्- १/३

३२. स ईक्षत लोकान्नु सृजाइति - ऐतरेय उपनिषद्- १/१

३३. तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापति: स तपोऽत्प्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजा: करिष्यत् इति॥ - प्रश्नोपनिषद्-१/४

३४. सोमा पूषणा जनना रयीणां जनना दिवो जनना पृथिव्या:।
जातौ विश्वस्य भुवनस्य गोपौ देवा अकृण्वन्नमृतस्य नाभिम्॥ -ऋग्वेद-२/४०/१

अधिकाधिक संगठित देह प्रकट होते हैं, जो चेतना की महत्तर शक्ति की अभिव्यक्ति के अनुकूल होते हैं। वैज्ञानिकों ने इस प्रथम आधार का, रूप निर्माण के पथ का अध्ययन किया है। परन्तु इसका जो भीतरी पक्ष चेतना रूप पक्ष है उसकी ओर नजर डालना भूल गए हैं। यदि यत्किंचित प्रेक्षण किया भी है तो वह चेतना के अपने निजी स्वरूप की प्रगतिशील क्रियाओं का होने की अपेक्षा उसके भौतिक आधार का और उसके स्वयं उपकरण होने का है।

रयि के अगले क्रम में प्राण का उदय सृष्टि में एक चमत्कारी आयाम का विकास है। यों धातुओं में प्राणिक प्रतिक्रिया के प्रारम्भिक रूप में विराजमान है। इस लिए वह सारातमना वनस्पति में प्राणिक प्रतिक्रिया के समान हो सकती है। लेकिन जिसे हम प्राणिक भौतिक भेद कहते हैं वह इतना अधिक है कि इनमें से एक से एक हमें निष्प्राण प्रतीत होता है और दूसरा ठीक-ठीक सचेतन न होने पर भी सप्राण जीव कहा जा सकता है। वनस्पतियों से कहीं अधिक क्रियाशील प्राण के चमत्कारी अनुभव हमें जीव-जन्तुओं में मिलते हैं, शायद इसीलिए उन्हें प्राणी की संज्ञा प्रदान की गई है। प्राण के विकास से सृष्टि में मोहकता अनेक गुना बढ़ गई। इसी कारण उपनिषद् के ऋषिगण प्राण की महिमा गाते नहीं थकते।

इसे सृष्टि में जीवन तत्त्व का पर्याय मान लिया गया। जब छान्दोग्य उपनिषद् में उपस्ति चकायण से पूछा गया कि समस्त पदार्थों का परम तत्त्व क्या समझा जा सकता है, तो उन्होंने उत्तर दिया 'प्राण' क्योंकि वस्तुतः प्राण में ही समस्त सत्ताएँ प्रवेश करती हैं और प्राण से ही इनका मूल उद्भव हो सकता है।[३५] छान्दोग्य उपनिषद् में रैक्व के सिद्धान्त का भी यही अभिप्राय है। प्राण की श्रेष्ठता का अनुभव कर लेने के बाद छान्दोग्य उपनिषद् को, सनत्कुमार द्वारा नारद को सिखाए गए सिद्धान्त में इसका प्रतिपादन करने में कठिनाई नहीं होती कि "जिस प्रकार चक्र की समस्त तालिकाएँ नाभि केन्द्र में केन्द्रित हैं, उसी प्रकार समस्त पदार्थ वस्तुतः समस्त सत्ता प्राण में केन्द्रीभूत हैं।"[३६] कौषीतकी ऋषि कहते हैं कि "प्राण चरम सत्य है।"[३७] प्रश्नोपनिषद् में पिप्पलाद ऋषि के अनुसार "रथ के पहिए की नाभि में लगे हुए अरों की भाँति सब कुछ प्राण में प्रतिष्ठित है।"[३८]

विकास की इस श्रेणी परम्परा में जब हम ऊपर चढ़ते हैं, तो नए-नए आयाम प्रकट होते नजर आते हैं। इसका रहस्य है 'मन' में। वनस्पति में मानस चेतना का तत्त्व अजाग्रत् है, यद्यपि वहाँ प्राणिक प्रतिक्रियाओं वाला जीवन है, जबकि पशु में एक सचेतन जीवन है। एक गहरा संक्रमण घटित हो गया है। वनस्पति और पशु के गठन चाहे जितने भिन्न क्यों न हों उनमें जो जीवन व्यापार की समानता है वह इन दोनों के बीच खाई की गहराई को भरती नहीं है, किन्तु फिर भी उसकी चौड़ाई को कम कर देती है। उच्चतम पशु और निम्नतम मनुष्य के बीच में पार की जाने वाली खाई और भी अधिक गहरी है, यद्यपि कम चौड़ी है। जहाँ पशु सचेतन है- वहाँ मनुष्य आत्मचेतन है। यह है मन के उदय का चमत्कार। इसके महत्त्व को बताते हुए उपनिषद्कार कहते हैं- "जो यह अन्तःकरण है, यही मन भी है। सम्यक् ज्ञान शक्ति, आज्ञा देने की शक्ति, विभिन्न रूप से जानने की शक्ति, तत्काल जानने की शक्ति, धारण की शक्ति, देखने की शक्ति, धैर्य, मति, मनन शक्ति, वेग, स्मरण शक्ति, संकल्प शक्ति, मनोरथ शक्ति, प्राण शक्ति, कामना शक्ति, ये सब के सब उसकी सत्ता के बोधक लक्षण हैं।"[३९]

विकास के इस चमत्कारी आयाम से अभिभूत हुए ऋषि कहते हैं- "मन ब्रह्म है। क्योंकि सचमुच मन

---

३५. कतमा सा देवतेति। प्राण इति होवाच सर्वाणि ह्वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसं विशंति, प्राणमभ्युज्जिहते॥
- छान्दोग्य उ.- १/२/५

३६. अथ या अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मि प्राणे सर्वं समर्पितम् - छा.- ७/१५/१

३७. प्राणो ब्रह्मेतिह स्माह कौषीतकिः -कौषीतकी उपनिषद्-२/१

३८. अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् -प्रश्नोपनिषद्- २/६

३९. यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति। - ऐतरेय उपनिषद्-३/१/२

(संकल्प) से ही ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होकर मन से ही जीते हैं। तथा इस लोक से प्रयाण करते हुए मन में ही सब प्रकार से प्रविष्ट हो जाते हैं।''[४०] मैत्री उपनिषद् में भी एक स्थान पर इसी सिद्धान्त का समर्थन किया गया है। वहाँ उपनिषद्कार मन को समस्त कामनाओं, इच्छाओं, गति-प्रगति का स्रोत बताता है। ''वह मनुष्य केवल मन से ही देखता है, मन से ही सुनता है, जिन्हें हम इच्छा, संकल्प, सन्देह, विश्वास, अविश्वास, अनिश्चय, लज्जा, विचार, भय कहते हैं। ये सब केवल मन है।''[४१]

मन के स्तर पर आकर विकास के गतिमान चरण रूकते नहीं। यहाँ से एक नए आयाम का विकास होता है। जिसे उपनिषद्कार 'प्रज्ञा' अथवा बुद्धि की संज्ञा प्रदान करते हैं। उनका यह कथन इस बात की ओर भी संकेत है कि मन के आगे का विकास क्रम शरीर क्रिया वैज्ञानिक (Physiological) कम मनोवैज्ञानिक (Psychological) अधिक है। यही वह तत्व है, जो चाहे जितनी सीमाओं के भीतर क्यों न हो मनुष्य को निर्णय लेने, चिन्तन करने, सचेतन अविष्कार करने, धार्मिक एवं नैतिक विचार करने, उस प्रत्येक मूलभूत वस्तु को रखने और करने की क्षमता रखता है, जिसके लिए जाति रूप मनुष्य स्वतंत्र है। इसके महत्त्व को स्पष्ट करते हुए उपनिषद्कार यह निर्देश करने लगता है कि किस प्रकार प्रज्ञा केवल मानसिक प्रक्रियाओं का ही नहीं वरन् स्वयं सत्य का मेरूदण्ड है। ''यह ब्रह्मा और यह इन्द्र, ये पंचमहाभूत, अण्डज, जारूज, स्वेदज, उद्भिज प्राणी, अश्व, गाय, हाथी आदि पशु और मनुष्य जैसे समस्त श्वसनशील जंगम, तथा नभचर और स्थावर सब कुछ 'प्रज्ञा' से ही अनुशासित तथा प्रज्ञा में प्रतिष्ठित हैं। प्रज्ञा जगत् का नेत्र है, प्रज्ञा जगत् का अधिष्ठान है, प्रज्ञा ब्रह्म है।''[४२] गीताकार ने भी इसे मन की आगामी आयाम स्वीकारते हुए कहा है- ''मनसस्तु परबुद्धिर्यो''[४३] यानि कि मन से श्रेष्ठ बुद्धि है।

यह वर्तमान विकास जहाँ तक हुआ है, लगता यही है कि यह सब कुछ चरमोत्कर्ष है। परन्तु वस्तुतः यह उस भावी विकास की तैयारी है, जिसके लिए अभीप्सारत उपनिषद्कार ऋषि परमात्मा से प्रार्थना करते हैं- ''असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतंगमय''[४४] असत् से सत की ओर, अन्धकार से ज्योति की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर विकास के भावी कदम बढ़ सकें। ऋषियों के इस भाव से अपनी सहमति व्यक्त करते हुए आचार्य श्रीराम शर्मा कहते हैं- ''बौद्धिक विकास के बाद अब आत्मिक प्रगति का युग आ रहा है। भावी मनुष्य सुनिश्चित रूप से दिव्य शक्तियों से सम्पन्न होगा, जिसकी चेतना देवस्तर की होगी, जो इस धरती पर उदार आत्मीयता, स्नेह सौजन्य और सहकार की अमृतधारा बहाने और स्वर्ग का वातावरण बना सकने में समर्थ होगा।''[४५]

इस तरह उपनिषदों के इस विकास सिद्धान्त में मूल कारण से उद्भूत रयि, प्राण, मन और प्रज्ञा तक के विकास को स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है। साथ ही ऐसे पर्याप्त संकेत मिलते हैं, जो भावी विकास की ओर निर्देशित करते हैं। यहाँ विकास क्या है? क्यों हुआ? और यह सब कैसे सम्भव हो सका? इन प्रश्नों के सांकेतिक उत्तर देखने को मिलते हैं। इतने पर भी भाषा

---

४०. मनोब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसविशन्तीति॥
– तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, चतुर्थ अनुवाक्

४१. मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति, कामः संकल्पो विचिकित्सा, श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।
-मैत्री उपनिषद्- ६/३०

४२. एष ब्रह्मा एष इन्द्र ....इमानि च पंचमहाभूतानि ......अण्डजानि च जारूजानि च स्वेदजानि च उद्भिज्जानि च अश्वा, गावः पुरुषा, हस्तिनो, यत्किचेदं प्राणिजंगमं च पतत्रि च, यच्च यथावरं, सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं। प्रज्ञानेत्री लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा, प्रज्ञानं ब्रह्म। – ऐतरेयोपनिषद्- ३/३

४३. श्रीमद्भगवद्गीता- ३/४२

४४. बृहदारण्यक उपनिषद्- १/३/२८

४५. आचार्य श्रीराम शर्मा- कैसा होगा भविष्य का मानव?, अखण्ड ज्योति वर्ष ५६, अंक ११, पृ. १३

की रहस्यमयता, तथ्यों का बिखराव कुछ इस तरह से हैं, जो उसे दुर्बोध बना देता है। समग्र सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए आवश्यक है- उसका वैज्ञानिक तर्क सम्मत और आधुनिक मन के लिए बोधगम्य होना। इसके होने पर ही विकास का सिद्धान्त अपनी समग्रता सत्यापित कर सकता है।

षड्दर्शनों में 'विकास' सूत्र

न्याय-वैशेषिक का परमाणुवाद- न्याय और वैशेषिक दोनों ही दर्शन सृष्टि का विकास परमाणु से मानते हैं। इनके अनुसार सृष्टि विकास का मूल उपादान कारण यही है। परमाणुओं के बारे में न्याय-वैशेषिक निम्न तथ्यों को बताते हैं- १. परमाणु केवल चार भूतों, पृथ्वी, जल, तेज और वायु के हैं। २. ये नित्य तथा अविभाज्य हैं।[४६] ३. पृथ्वी, परमाणु के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श तेज के संयोग से बदल जाते हैं, अन्य परमाणुओं के नहीं। ४.पृथ्वी परमाणुओं के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के अतिरिक्त सभी परमाणुओं के ये सभी गुण नित्य हैं।

ईश्वर की चेतना शक्ति से इन परमाणुओं में क्रियाशीलता आती है और इनके आपसी संयोग से द्वयणुक और त्रयणुक का विकास होता है। इसी क्रम में क्रमशः पंचमहाभूतों का विकास होता है। महाभूतों के विकास के अगले चरण में तेजस्-परमाणुओं से महान् अण्ड (*Cosmic egg*) उत्पन्न होता है। जिससे विविध रूपों वाली सृष्टि अपने अस्तित्व को विकसित करती है।

यहाँ न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार द्वयणुक का विकास दो विजातीय परमाणुओं से, एक पृथ्वी के और एक जल के परमाणुओं से नहीं होता। न्याय-वैशेषिक का यह सिद्धान्त-इस सिद्धान्त से सम्बन्ध रखता है कि उपादान कारण गुणों से कार्य में गुणों से उत्पत्ति होती है। यह स्वाभाविक है, उजले धागे से बना कपड़ा उजला होता है, पीला या नीला नहीं। ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि दो विजातीय परमाणुओं से द्वयणुक की उत्पत्ति नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ यदि एक पृथ्वी और एक जल के परमाणु से एक द्वयणुक की उत्पत्ति मान ली जाय तो द्वयणुक के एक अंग जलीय परमाणु के स्वाभाविक रूप से गन्धहीन होने से वह द्वयणुक गन्धयुक्त न हो सकेगा और ऐसे द्वयणुकों से बने त्रयणुक में भी गन्ध की सत्ता नहीं मानी जा सकेगी। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि पृथ्वी और जल के परमाणुओं से एक द्वयणुक की उत्पत्ति स्वीकार करने पर इसके सभी परवर्ती रूप गन्ध शून्य हो जाएँगे। इसी प्रकार पृथ्वी और तेज के परमाणुओं से बने द्वयणुक में गन्ध और रस को, पृथ्वी और वायु के परमाणुओं से विकसित द्वयणुक में गन्ध, रूप और रस की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। अतः सजातीय परमाणुओं के सही द्वयणुक का विकास मानना होगा।[४७]

न्याय-वैशेषिक के अनुसार मानव शरीर पृथ्वी के परमाणुओं से द्वयणुक, त्रयणुक आदि के माध्यम से बना है। इसके उपादान कारण पार्थिव तत्त्व हैं। लेकिन शरीर में जल, तेज आदि भूतों के भी गुण पाए जाते हैं। इसलिए न्याय वैशेषिक को पार्थिव शरीर में भी जल आदि के परमाणुओं का संयोग मानना पड़ता है।[४८] अन्तर इतना ही है कि पार्थिव शरीर में लगे जलीय परमाणु आदि इस शरीर के निमित्त कारण हैं, पार्थिव परमाणुओं की तरह उपादान कारण नहीं। यह विजातीय परमाणुओं का मिश्रण भूत विकास की प्रक्रिया में किस अवस्था में सम्भव है, त्रयणुक की अवस्था में अथवा उसके बाद की अवस्था में, यह विषय न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में स्पष्ट नहीं किया गया है। विकास की यह अधूरी व्याख्या अपनी पूर्णता के लिए किसी समग्र सिद्धान्त की अपेक्षा करती है।

---

४६. न्याय. भा.- ४/२/२०; न्याय वा.- ४/२/२५, न्या. क, पृ. २६२-६३
४७. न्या. वा.- ३/१/२८; ता. टी.- ३/१/२८; वै. सु.- ४/२/२
४८. वै. सु - ४/२/४

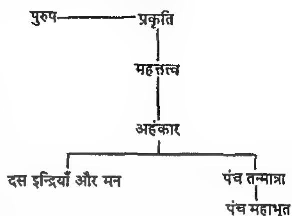
सांख्य में क्रम विकास

सांख्य के अनुसार प्रकृति वह मौलिक द्रव्य है, जिसमें से जगत् विकसित होता है। अव्यक्त दशा में प्रकृति के तीनों गुणों में साम्यावस्था रहती है। इस अवस्था में उनमें कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। इस अवस्था को प्रकृति की स्वाभाविक दशा कहा गया है। पुरुष की दृष्टि पड़ने पर यह सामञ्जस्य टूटता है और क्रम विकास का सिलसिला शुरू हो जाता है। इस क्रम में सबसे पहले 'महत्' का उदय होता है। यह पहला प्रकटन सत्त्वगुण की प्रधानता का फल है। इसके बाद रजस् के प्रभाव में 'अहंकार' प्रकट होता है। 'महत्तत्व' में बोध तो होता है, परन्तु इस बोध में 'मैं' का ख्याल सम्मिलित नहीं होता। अहंकार में यह सम्मिलित होता है और ज्ञान को आत्मज्ञान में बदल देता है।

अहंकार रजस् प्रधान है ही, आगे के क्रम विकास में इसकी प्रमुख भागीदारी होती है। सत्त्व के योग में यह इन्द्रियों को जन्म देता है और तमस् के योग में पंच तन्मात्राओं को उत्पन्न करता है। इन्द्रियाँ ग्यारह हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन। मन का काम दोनों प्रकार की इन्द्रियों का एकीकरण है। इसीलिए जहाँ उन इन्द्रियों को बाह्य करण कहते हैं, मन को अन्त:करण का नाम दिया जाता है। दूसरी ओर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पंच तन्मात्राएँ प्रकट हुईं। इन्हीं पाँच तन्मात्राओं से यथाक्रम आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी पाँच स्थूल भूत उत्पन्न हुए।

यह सात विवरण सांख्य दर्शन में इन शब्दों में दिया गया है "सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों की सम अवस्था को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार, अहंकार से तन्मात्र और दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ और तन्मात्राओं से स्थूल भूत उत्पन्न हुए। इनके अतिरिक्त पुरुष है। यह पच्चीस तत्त्वों का समुदाय है।"[४९]

इसे निम्न रूप में देखा जा सकता है-



सांख्य द्वारा प्रस्तुत विकास के इस विवरण में क्या? और कैसे? के उत्तर तो खोजे जा सकते हैं, किन्तु इस बात का कोई सन्तोषजनक व्याख्या नहीं दिखाई देती कि "विकास के जो ऐसे विभिन्न डग हैं, वे ऐसे क्यों हैं?"[५०] आचार्य विज्ञानभिक्षु भी सांख्य सूत्रों के इस दोषों के जानकार लगते हैं, तभी वह सांख्य के विकास विषयक विवरण को तर्क की कसौटी पर न परखकर केवल शास्त्र प्रमाण के आधार पर स्वीकार करने की सम्मति देते हैं।[५१] लेकिन यह तो दार्शनिक व्याख्या का अधूरापन ही कहा जाएगा- जिसे पूरा करने के लिए किसी सर्वांगीण सिद्धान्त की आवश्यकता अनिवार्य है।

योगदर्शन में 'विकास' सिद्धान्त

प्रकृति के विकास में योग का मत है कि विकास की दो समानान्तर पद्धतियाँ हैं जो चित् से आरम्भ करती हैं और एक पक्ष में अहंकार, मन, पंच ज्ञानेन्द्रियों तथा पंच कर्मेन्द्रियों के रूप में विकसित होती हैं। तथा दूसरे पक्ष में पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओं द्वारा पंच महाभूतों के रूप में विकसित होती हैं। योग की इस विचारभूमि के पीछे सांख्य के तत्वज्ञान की झलक देखी जा सकती है।

---

४९ सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पचतन्मात्राण्युभयमिन्द्रिय तन्मात्रेभ्य· स्थूलभूतानि पुरुष इति पंचविंशतिर्गण: ॥ – *साख्य सूत्र- १/६१*

५०. डॉ. एस राधाकृष्णनन्– भारतीय दर्शन, भाग २, पृ. २३७

५१. अत्र प्रकृतेर्महान् महतोऽहकार इत्यादि सृष्टिक्रमे शास्त्रमेय प्रमाणम् –साख्य सार, जयन्त कृत न्यायमञ्जरी, पृ. ४५२-४६६

अन्तर सिर्फ इतना है कि सांख्य जिसे महत् कहता है, योग में उसी को चित्त कहा गया है। यद्यपि इसे सर्वतोग्राही अर्थों में लिया जाता है, जिससे इसके अन्तर्गत बुद्धि तथा अन्तःकरण भी सम्मिलित है।[५२]

व्यास के अनुसार महाभूत पंच सार तत्त्वों से निकले हैं और ग्यारह इन्द्रियाँ अहंकार अथवा अस्मिता से निकली हैं। तन्मात्राएँ अहंकार से नहीं निकलीं, बल्कि वे अस्मिता के साथ छः अविशेष कहलाती हैं और उनकी उत्पत्ति महत् से हुई। विज्ञान भिक्षु का विचार है कि व्यास ने केवल बुद्धि के परिवर्तनों को दो विभागों में वर्णित किया है, किन्तु उनका तात्पर्य इस प्रकार का सुझाव देने से नहीं है कि महत् से तन्मात्राओं की उत्पत्ति अहंकार पर आश्रित नहीं है।[५३] योगदर्शन के अनुसार ईश्वर तथा अविद्या इन दो प्रेरक शक्तियों के बल पर विकास होता है। अविद्या के बल से प्रकृति की सदाचक्र में रहने वाली शक्ति स्वयं को मानसिक तथा भौतिक जगत् के विकास में बदल देती हैं। अविद्या बुद्धिशून्य होने के कारण असंख्य पुरुषों की इच्छाओं से अनभिज्ञ है। ईश्वर प्रज्ञा सम्पन्न होने के कारण प्रकृति के विकास क्रम को पुरुषों के लक्ष्यों के अनुकूल बनाता रहता है। योगदर्शन के अनुसार मनुष्य प्रकृति के उतना आधीन नहीं, जितना सांख्य के अनुसार है। उसे अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है, और वह स्वयं का सचेतन विकास करने, स्वयं की अन्तर्निहित शक्तियों को जाग्रत् करने में समर्थ है। इतना ही नहीं वह स्वयं को प्रकृति के बन्धन से सर्वथा मुक्त कर सकता है। इन अर्थों में योग को सचेतन विकास की सार्थक प्रणाली भी कहा जा सकता है।

योगदर्शन के इस विकास सिद्धान्त में जहाँ, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि जैसी प्रक्रियाओं के आधार पर सचेतन विकास कर सकने का वैशिष्ट्य प्राप्त है वहाँ सृष्टि विकास क्यों हुआ? इसका कोई सार्थक समाधान नहीं मिलता। इस सार्थक समाधान के लिए योगदर्शन को अपने विकास सिद्धान्त की पूर्णता के लिए किसी सर्वांगीण पद्धति की आवश्यकता है।

◆ मीमांसा दर्शन में 'विकास'

सृष्टि के क्रम विकास में मीमांसकों की दृष्टि उतनी परिपक्व व गम्भीर नहीं है। सत्य तो यह है कि "तत्त्व मीमांसा मीमांसा की प्रमुख वृत्ति नहीं रही है।"[५४] फिर भी कुछ मीमांसक[५५] वैशेषिकों की तरह परमाणुवाद को मानते हैं। फिर भी दोनों में भेद यह है कि मीमांसकों के मत में परमाणु ईश्वर द्वारा संचालित नहीं होते। कर्म के स्वाभाविक नियम के अनुसार ही वे इस तरह प्रवर्तित होते हैं, जिससे जीवात्माओं को कर्मफल का भोग कराने योग्य संसार विकसित हो जाता है। न्याय-वैशेषिक के मत में परमाणु प्रत्यक्ष योग्य न होकर अनुमेय माने गये हैं। लेकिन मीमांसक के मत में नेत्रगोचर होने वाले कण ही परमाणु हैं। इन्हीं की अन्तर्क्रिया से सृष्टि और जीवन का विकास होता है।

विकास के सम्बन्ध में मीमांसकों का यह मत सर्वथा अपूर्ण है। परम यथार्थता की ओर आत्माओं तथा प्राकृतिक जगत् के साथ उसके सम्बन्ध की समस्याओं की यहाँ कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं मिलती है। मीमांसकों की इस अपूर्णता को किसी सर्वांगीण सिद्धान्त में ही अपनी पूर्णता मिल सकती है।

◆ वेदान्त दर्शन में विकास का स्वरूप

वेदान्त दर्शन सृष्टि और जीवन के विकास का मूल कारण ब्रह्म के संकल्प को मानता है।[५६] इसके अनुसार प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है। बल्कि वह परमात्मा के आधीन[५७] होकर उसकी इच्छा के अनुरूप सृष्टि का विकास करती है। लेकिन इस विकास का स्वरूप क्या

---

५२. चित्तशब्दे नान्तः करणं बुद्धिमुपलक्षयति, वाचस्पति, योग सूत्र- १/२ पर
५३. योग वार्तिक- १/४५
५४. डॉ. श्रीकृष्ण सक्सेना- भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप, पृ. ५४
५५. प्रभाकर विजय- पृ. ४३-४६
५६. तदधीनत्वादर्थवत्॥ – वेदान्त सूत्र- १/४/३
५७. वेदान्त सूत्र- १/१/२

है, इसके बारे में ब्रह्म सूत्र के अलग-अलग भाष्यकारों के अलग-अलग मत हैं।

आचार्य शंकर के अनुसार 'विकास' अज्ञान की अवस्था से ज्ञान की अवस्था में स्थित होना है। यद्यपि भाष्यकार शंकर 'विकास' शब्द को स्वीकार नहीं करते। क्योंकि उनके अनुसार सृष्टि और जीवन एक प्रकार का भ्रम या स्वप्न के सदृश है, जो सत्य जान पड़ता है। पर जिसकी सत्ता रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाने से अधिक नहीं है।[58] लेकिन विवर्तवाद के प्रवर्तक आचार्य शंकर इतना तो मानते ही हैं, कि स्वप्न एक अवस्था है और जागरण दूसरी। और एक अवस्था से दूसरी अवस्था में क्रमिक एवं व्यवस्थित ढंग से परिवर्तन होना ही विकास का सिद्धान्त है।[59] इसलिए न चाहते हुए भी आचार्य प्रकारान्तर से विकास के तथ्य को स्वीकार करते हैं।

आचार्य रामानुज अव्यक्त का विकास लगभग उसी क्रम से मानते हैं, जिस क्रम का विवरण सांख्य दार्शनिकों ने प्रस्तुत किया है। अव्यक्त का प्रथम विकास महत्तत्त्व है। महत् से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार तीन प्रकार का होता है- सात्त्विक अथवा वैकारिक, राजस अथवा तैजस और तामस अथवा भूतादि। अहंकार के सात्त्विक रूप से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं मन, कुल ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। रामानुज और शंकर दोनों ही मन को, जब यह निर्णय करता है, बुद्धि कहते हैं, अज्ञान से शरीर को जब आत्मा समझता है, तब उसे अहंकार कहते हैं और जब चिन्तन या विचार करता है, तब चित्त कहते हैं। सांख्य और रामानुज में क्रम विकास के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण मतभेद भी है। सांख्य दार्शनिकों के अनुसार तामस अहंकार से पंच तन्मात्राओं का और पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूतों का विकास होता है। परन्तु रामानुज क्रमिक विकास मानते हैं। सबसे पहले भूतादि से शब्द तन्मात्रा उत्पन्न होता है। शब्द तन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति होती है। आकाश से स्पर्श तन्मात्र और स्पर्श तन्मात्र से वायु महाभूत की उत्पत्ति होती है। वायु से रूप तन्मात्र का उद्भव होता है, जिससे तेज (अग्नि) की उत्पत्ति होती है। तेज रस तन्मात्र को उत्पन्न करता है, जो आप: (जल) की उत्पत्ति करता है। जल से गन्ध तन्मात्र उत्पन्न होता है और गन्ध तन्मात्र से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। इन चौबीस तत्त्वों से जीवात्मा और परमात्मा के लिए भोग्य वस्तुओं, भोग के साधन और मोक्ष के स्थानों का निर्माण करता है।

आचार्य निम्बार्क के अनुसार ईश्वर की इच्छा से प्राकृत तत्त्व में विक्षेप एवं साम्यावस्था का भंग होकर गुण वैषम्य होता है। गुणों की विषमता से कार्योन्मुख प्रकृति महत्तत्त्व को व्यक्त करती है। महत्तत्त्व अध्यवसाय में हेतु होने से बुद्धि कहलाता है, जो सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकार की होती है। इससे अहंकार की उत्पत्ति होती है, जो वैकारिक, तैजस एवं भूतादि भेद से तीन प्रकार का है। प्रथम से इन्द्रियाँ, अधिष्ठान देवता और मन उत्पन्न होता है। तैजस, अहंकार से दस बाह्येन्द्रियाँ उन्पत्र होती हैं। जो ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय भेद से दो प्रकार की होती हैं। तामस अहंकार से पंच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। इनसे क्रमश: पंच महाभूतों की सृष्टि होती है। ये चौबीस अचेतन प्राकृत तत्त्व हैं, जिनसे ईश्वर की इच्छा से सृष्टि का बहुविधि विकास होता है।

वेदान्त दर्शन के इस सिद्धान्त में विकास कैसे? इस प्रश्न की व्याख्या तो मिल जाती है। लेकिन क्या? और क्यों? के प्रश्न चिह्न अपना उत्तर नहीं खोज पाते। इनके उत्तर की खोज ही सर्वांगीण चिन्तन प्रणाली का उद्देश्य है।

पश्चिमी चिन्तन में क्रम विकास सिद्धान्त

◆ यंत्रवादी विकास

चार्ल्स डार्विन- चार्ल्स डार्विन ने अपने यंत्रवादी सिद्धान्त की व्याख्या 'ओरिजन ऑफ स्पीशीज' एवं 'डिसेंट ऑफ मैन' में की है। उनके सिद्धान्त के मुख्य

५८. आचार्य श्रीराम शर्मा- वेदान्त दर्शन, भूमिका प्रकरण, पृ. २७

५९. जार्ज टामस व्हाइट पैट्रिक- दर्शन शास्त्र का परिचय, पृ. १२१

सूत्र 'अस्तित्व के लिए संघर्ष और योग्यतम की विजय' है। डार्विन के अनुसार प्राणियों की प्रत्येक जाति बहुत संतान उत्पन्न करने वाली है और ज्योमितिय अनुपात में बढ़ने की वृत्ति रखती है। एक तरह की कॉड मछली होती है, जो बीस करोड़ अण्डे देती है। यह अनुमान लगाया गया है कि एक अकेले डॅंडिलयन के पौधे के सभी बीजों को प्रस्फुटित होने दिया जाय तो अपनी चौथी पीढ़ी में वे इतने अधिक हो जायेंगे कि संयुक्त राज्य अमेरिका के क्षेत्रफल से २४५ गुना अधिक स्थान घेर लेंगे। अकेला एक बैक्टीरिया एक दिन में दस लाख बैक्टीरिया पैदा कर सकता है।''[६०] और लिनाओस ने कहा है कि तीन मक्खियाँ और उनके बच्चे घोड़े के शव को उतनी ही तेजी के साथ खा सकते हैं जितनी तेजी से कोई सिंह खाएगा।

इसलिए चूँकि पौधे और प्राणियों की जातियाँ इतनी उर्वरक हैं, उन सबके लिए न तो पर्याप्त स्थान है और न भोजन। अतः इसके परिणामस्वरूप अस्तित्व के लिए संघर्ष होगा और 'योग्यतम की विजय' होगी। योग्यतम कौन होंगे? वे जो परिवेश के अनुकूल हैं। जिनमें परिवेश के अनुरूप उचित परिवर्तन हो सकेंगे, वे चुने जायेंगे और उनकी सुरक्षा होगी। इसे 'प्राकृतिक चुनाव' कहा जाता है। वे जीवित रहेंगे, उन्नति करेंगे और अपना विस्तार करेंगे। सम्भवतः अपने अनुकूल परिवर्तनों को आगे की पीढ़ी में भी लाएँगे। इस तरह क्रमशः संरचना में सुधार होंगे और पर्याप्त समय के अन्तर, इतना परिवर्तन हो जाएगा कि उसके परिणाम स्वरूप नई जाति पैदा हो जाएगी। इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि डार्विन के अनुसार, वातावरण का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप अर्थात् विशेष वातावरण के प्रतिकूल गुणों के उन्मूलन और अनुकूल गुणों की प्रतिष्ठा के द्वारा होता है। इस प्रकार छोटे और अस्पष्ट परिवर्तन होते हैं, जिनके समयानुसार क्रमशः एकत्रित हो जाने से एक ही उद्गम से निकली अनेक शाखाओं में बड़ा अन्तर पड़ जाता है।

लेकिन वाइजमैन और ह्यूगो दे व्रीज़ आदि वैज्ञानिकों की शोध ने यह दर्शाया कि एक पीढ़ी के [illegible]

[illegible]

नव्योत्क्रान्ति की पुष्टि होती है। मूल्यों की नवीनता के लिए नव्योत्क्रान्ति जरूरी भी है। इस सिद्धान्त में एक अन्य दोष विभिन्न स्तरों को जोड़ने वाली कड़ियों की अनुपस्थिति भी है, जिससे कि निरन्तरता में व्यवधान उत्पन्न हो जाता है। और डार्विन अपनी समस्त संग्रहीत सामग्री द्वारा इन कड़ियों को जोड़ने में असमर्थ रहते हैं। इसके अलावा यंत्रवादी विकास क्रम में सिर्फ भौतिक स्तरों की ही व्याख्या हो सकती है। जे.एस. हाल्डेन के अनुसार- ''यह प्रकल्पना जीवन के विषय को लेकर भंग हो जाती है। क्योंकि जीवन की बात में सत्ता का एक दूसरा ही मौलिक संप्रत्यय सम्मिलित होता है।''[६१] जे. आर्थर टामसन के अनुसार- ''यह सिद्धान्त स्पष्टतः जैविक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए पर्याप्त नहीं है।''[६२] क्योंकि जीवन जड़ तत्त्वों और भौतिक-रासायनिक प्रक्रियाओं के साथ कुछ और भी है।''[६३] जिसका नाम 'भाव संवेदना है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति दूसरों के दुःख को बँटा लेता है और अपने सुख को बाँट लेता है।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

का कहीं अधिक विकास होता है।''[६५]

हर्बर्ट स्पेन्सर- स्पेन्सर की कृति 'फर्स्ट प्रिन्सिपल्स' का प्रथम प्रकाशन, डार्विन की पुस्तक 'ओरिजिन ऑफ स्पीशीज़' के तीन वर्ष बाद सन् १८६२ में हुआ था। उनके अनुसार- जगत् एक महान् विकासकारी प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में भूतत्त्व, गति और बल आदि द्रव्य पाए जाते हैं, जो स्वयं चरम

६०. विलियम एम. गोल्डस्मिथ- द लॉज ऑफ लाइफ, पृ. १८६
६१. जे. एस. हाल्डेन- मेकेनिज्म, लाइफ एण्ड पर्सनेलिटी, पृ. १०१, १०४
६२. जे. आर्थर, टामसन- द सिस्टम ऑफ एनीमेट नेचर, पृ. १४३-६०
६३. डब्लू. ई. रिट्टर- द यूनिटी ऑफ द आर्गेनिज्म, पृ. १९८
६४. आचार्य श्रीराम शर्मा- जीवन एक अमूल्य सम्पदा, पृ ७
६५. आचार्य श्रीराम शर्मा- मनुष्य ईश्वर की श्रेष्ठतम कृति, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५६, अंक ४, पृ. २७

वास्तविकताएँ नहीं हैं। वह इन्हें 'अज्ञेय' कहता है। इन्हीं के पुनर्वितरण का परिणाम यह संसार है।

लेकिन यह पुनर्वितरण होता किस तरह से है? इसके जवाब में स्पेन्सर ने अपने विकास के दार्शनिक सिद्धान्त को 'यंत्रवाद' के आधार पर प्रस्तुत किया है। उनके शब्दों में- ''विकास, भूतत्त्व का समाकलन और उसी समय गति का विसरण होना है। उस काल में भूतत्त्व एक अनिश्चित असम्बन्ध सजातीयता से सम्बद्ध विजातीयता की ओर अग्रसर होता है, और उसी काल में संचित गति में समानान्तर परिवर्तन होता है।''

इस बात को आसान ढंग से कहें तो इसका मतलब यह होगा कि समस्त परिवर्तन समाकलन तथा विभेदीकरण की प्रक्रिया को ही प्रदर्शित करता है। शुरूआत में संसार एक अग्निपुंज था जो सभी ओर से एक जैसा ही था। धीरे-धीरे वह ठोस, एकीभूत तथा विभेदी होने लगा। ग्रह सूर्य से अलग हो गए, पृथ्वी और जल, पर्वत और घाटियाँ दिखाई देने लगीं। जिससे विभेदन और स्पष्ट होने लगा। स्पेन्सर के अनुसार यह कोई भी देख सकता है कि विकास के प्रत्येक क्षेत्र में किस प्रकार समाकलन तथा विभेदीकरण की प्रक्रिया ने काम किया। प्राणियों में सर्वप्रथम एक जीव द्रव्य था, उसमें कोई विभेदन नहीं था। धीरे-धीरे यह भेदहीन द्रव्य अनेक भेदों वाले द्रव्य में परिवर्तित हो गया। उसके कुछ अंग पाचन के लिए कुछ चलने-फिरने के लिए तथा अन्य देखने-समझने के लिए अलग बन गए। विकास के बढ़े हुए एक स्तर को इस प्रकार बताया जा सकता है कि चार पैरों वाला प्राणी सीधा खड़ा होने लगता है और वह दो अगले पैर चलने-फिरने के लिए नहीं बल्कि ऊपर चढ़ने और भोजन प्राप्त करने के लिए प्रयोग में लाने लगता है। विकास के एक अन्य चरण में भेद तब आता है जब अगूंठा अन्य चार उंगलियों के विपरीत हो जाता है। समाज में यही प्रक्रिया श्रम विभाजन में दृष्टिगत होती है, वर्तमान समय में दिन-प्रतिदिन श्रम अधिक विशेषोपयुक्त होता जा रहा है। भाषा में हुए परिवर्तन भी इसी नियम को प्रदर्शित करते हैं।

स्पेन्सर ने अपने प्रिय सिद्धान्त का विस्तार तो भरपूर किया, परन्तु वह यह नहीं बता पाए कि इस यंत्रवत प्रगति का प्रयोजन क्या है? न ही उन्होंने भूतत्त्व, गति और बल का यथार्थ परिचय दिया, जो समस्त विकास का आधार है। उनका यह 'अज्ञेयतावाद' आधुनिक जिज्ञासु को प्रभावित नहीं करता क्योंकि दर्शनशास्त्र का जन्म ही जिज्ञासा से होता है, अतः अज्ञेयतावाद दर्शन की सत्ता का ही निषेधक हो जाता है। इसके अतिरिक्त आन्तरिक सम्बन्धों की बाह्य सम्बन्धों से सतत् अनुकूलता के रूप में जीवन की व्याख्या करना इस बाह्य रूप से निष्प्रयोजन प्रगति के पीछे छिपे प्रकृति के यथार्थ प्रयोजन को खो देता है। मानसिक और आध्यात्मिक तथ्यों की व्याख्या करने के लिए शक्ति को आध्यात्मिक होना चाहिए जिसकी गति यंत्रवत् संगठन और विशृंखलता से कहीं अधिक गहन है।

नव्योत्क्रान्तिवादी विकास

क्रम विकास की विभिन्न भूमिकाओं में नवीनताओं का आविर्भाव होता है। इन नवीनताओं की दार्शनिक व्याख्या के मनोरम प्रयत्न कतिपय दार्शनिकों ने किए हैं।

एस. अलैक्जेण्डर

अलैक्जेण्डर के अनुसार विकास का आधार भूत तत्त्व देश-काल है। यह देश-काल जन साधारण के देश-काल से भिन्न है। यह एक ऐसा तत्त्व है, जो विशुद्ध गत्यात्मक है। उनके मत में देश और काल मिलकर एक ही तत्त्व हैं, जिसमें बिन्दु क्षण अंशभूत है। इन बिन्दु क्षणों से क्रमशः जड़ तत्त्व की उत्पत्ति होती है, जो मौलिक गुणों से युक्त होता है। विकास में और उन्नति होने पर ऐसी दशाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनसे जीवन अथवा प्राण शक्ति का आविर्भाव होता है। इसके बाद चेतना का विकास होता है। इसी का नाम मन है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि संसार में मानस ही अन्तिम सृष्टि है, क्योंकि कोई कारण नहीं है कि विकास यहीं पर थम जाय। मानस से देवता का उदय होता है और देवता से देवता के देवता का, तथा इस प्रकार विकास का यह क्रम चलता रहता है। यहाँ देवता से अलैक्जेण्डर का तात्पर्य सृष्टि के भावी क्रम विकास से है।

इस सिद्धान्त में सबसे पहली समस्या 'विकास'

के क्या? को लेकर खड़ी होती है। क्योंकि देश-काल से विकास के सभी स्तरों की व्याख्या सम्भव नहीं। यदि प्रत्येक नवीनता देश-काल की गहनता के कारण पैदा होती है तो विकसित पदार्थों में गुण के आधार पर कोई मौलिक अन्तर नहीं रहता। एक चीज जिसकी दूसरी चीज के द्वारा भली प्रकार व्याख्या की जा सकती है, निश्चिय ही उससे ऊँची नहीं है, भले वह कितनी ही गहरी क्यों न हो। उच्च की निम्न व्याख्या सच्चाई से नितान्त विपरीत है। फिर अचेतन से चेतन का विकास सम्भव नहीं, जब तक वह उसमें पहले से उपस्थित नहीं। आदिशक्ति का अचेतन होना सम्भव नहीं, क्योंकि ऐसी दशा में वह उस समस्त संसार का आधार नहीं बन सकती, जिसमें न केवल जड़ पदार्थ, बल्कि प्राण, मन तथा अस्तित्व के अन्य उच्च स्तर शामिल हैं। अलैक्जेण्डर का देश-काल गति रूप होते हुए भी अचेतन है। अचेतन काल किस तरह से मानस और देवता के उद्भव का प्रेरक हो सकता है? इसकी कोई समीचीन व्याख्या अलैक्जेण्डर के चिन्तन में नहीं मिलती।

ए. एन. व्हाइटहेड

व्हाइटहेड का दृष्टिकोण भी अलैक्जेण्डर की तरह ही प्रकृतिवादी है। लेकिन अपनी दार्शनिक व्याख्या में वह उनसे पर्याप्त भिन्न है। वह सृष्टि विकास की प्रक्रिया को जीवन और 'मानस' के शब्दों से समझाने की कोशिश करते हैं। अपनी इस कोशिश में वह उच्च के प्रकाश में निम्न की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार जड़ प्रकृति बीज रूप में प्राण और मन को अपने में समाए हैं और इनको विकसित करने के लिए प्रयत्नशील है। इस प्रयत्न को वह 'रचनात्मकता' (Creativity) की संज्ञा प्रदान करते हैं। रचनात्मकता उनके दार्शनिक चिन्तन का बहुमूल्य शब्द है। तभी तो वह कहते हैं "रचनात्मकता के इस परम तत्त्व को उससे उत्पन्न प्रत्येक नवीन परिस्थिति में प्रयोग करना है।"[६६] यहाँ तक कि उन्होंने ईश्वर को भी रचनात्मक की आदिम कालीन घटना कहा है। उनके अनुसार संसार की रचना यथार्थ अवसरों अथवा यथार्थ बिन्दुओं अर्थात् प्रक्रिया के सूक्ष्मतम अंशों से हुई है। लेकिन ये यथार्थ अवसर हर बार नए ढंग से प्रयोग में लाए गए हैं। अतः "क्रियात्मकता नवीनता का तत्त्व है।"[६७] क्रियात्मकता और यथार्थ अवसर नित्यवस्तु कहलाने वाले संभावित रूपों के अनुरूप जगत् का निर्माण करते हैं। ये "नित्यवस्तुएँ ही विश्व के शुद्ध बीज रूप हैं।"[६८] अलग-अलग तरह के यथार्थ बिन्दुओं के अनुसार व्हाइटहेड ने आत्मगत और वस्तुगत विश्व बीजों में भेद किया है। ये विश्व बीज अथवा नित्य वस्तुएँ किसी विशेष वस्तु अथवा अनुभूति को बनाने के लिए यथार्थ बिन्दु में प्रवेश कर जाती हैं। व्हाइटहेड के अनुसार- "यह प्रवेश शब्द उस विशेष पर्याय का निर्देश करता है, जिसमें एक नित्य वस्तु की गुप्त शक्ति किसी एक विशेष यथार्थ बिन्दु में उस यथार्थ बिन्दु को निश्चित बनाते हुए प्रकट होती है।"[६९]

विकास की यह प्रक्रिया निरन्तर बढ़ोत्तरी करती रहती है। रचनात्मकता की यह गति एक बर्फ की गेंद की तरह है जो कि परिधि से केन्द्र की ओर बढ़ने में उभरती जाती है। यह प्रगति व्यक्तिगत नहीं बल्कि सार्वभौम है। व्हाइटहेड का विश्वास यंत्रवाद पर नहीं है वह "प्रकृति के नियमों में कोई भी बाध्यता का तनिक भी प्रमाण नहीं देते।"[७०] सार्वभौम स्तर पर दिखाई पड़ने वाली एकमात्र सच्चाई केवल नव विकसित वस्तु की आत्मसृष्टि के आनन्द के उद्देश्य से रचनात्मक प्रगति है।

अपने विकास सिद्धान्त में क्यों? का उत्तर देने के लिए वहाँ ईश्वर की व्याख्या सम्मिलित करते हैं। यद्यपि हर यथार्थ बिन्दु अपने आत्मगत प्रयोजन से ही प्रेरित है। फिर भी सार्वभौम स्तर पर ईश्वर ही परम तत्त्व एवं निर्देशक शक्ति है। इसी कारण वह "मूर्तता (Concretion) का तत्त्व"[७१] कहलाता है। यही नहीं वह

---

६६. ए. एन. व्हाइटहेड- प्रोसेस एण्ड रियलिटी, पृ. २७
६७. वही,
६८. वही, पृ. २०८
६९. वही, पृ. ३१
७०. व्हाइटहेड- नेचर एण्ड लाइफ, पृ. ६७
७१. व्हाइटहेड- प्रोसेस एण्ड रियलिटी, पृ. ३४५ एवं ४४७

नित्य वस्तुओं का आधार भी है। "ईश्वर की प्रकृति आदर्श रूपों के राज्य का प्रत्यय के रूप में पूर्ण साक्षात्कार है।"[७२] वह केवल संसार का स्रष्टा ही नहीं बल्कि उसका साथी भी है। दोनों ही परम आध्यात्मिक आधार नवीनता में, रचनात्मक प्रगति के बन्धन में बन्धे रहते हैं। दोनों ही साथ-साथ विकसित होते हैं और दोनों ही एक-दूसरे के लिए नवीनता का साधन हैं।

लेकिन ईश्वर का संसार से सम्बन्ध, संसार के ईश्वर के सम्बन्ध जैसा नहीं है। संसार ईश्वर पर आधारित हो सकता है, पर इसका यह मतलब तो नहीं कि ईश्वर भी संसार पर आधारित है। आचार्य श्रीराम शर्मा इस ओर संकेत करते हुए बताते हैं "ईश्वर ने सृष्टि रचना करने तक ही अपने कर्त्तव्य को सीमित नहीं रखा। उसने अपनी सृष्टि का पालन भी अपने कर्तव्यों में सम्मिलित किया हुआ है।"[७३] अर्थात् जगत् उसके कारण रहता है, यह जगत् के कारण नहीं रहता। व्हाइटहेड का जगत् के साथ ईश्वर का विकास एक ऐसे द्वैतवाद की स्थापना है, जिसके उनकी रचनात्मकता की आध्यात्मिक भूमि नहीं भर पाती है। इसके अतिरिक्त यहाँ विकास के प्रयोजन की भी स्पष्ट व्याख्या भी नहीं मिलती है। असीम स्वयं सीमित नित्य वस्तुओं के विश्व का प्रत्यक्ष स्रष्टा नहीं हो सकता, क्योंकि उनके किसी विशेष नित्य वस्तु के किसी विशेष यथार्थ बिन्दु में आने का निर्देश हेतु एक निर्देशक शक्ति की आवश्यकता है। आदिम और परिणामस्वरूप ईश्वर का भेद इस प्रयोजन को पूरा नहीं कर पाता। विकास के इस सिद्धान्त में विकास के स्तरों में स्पष्ट भेद भी नहीं बताया गया है। ऐसा लगता है मानो विकास की समूची गति मनुष्य के स्तर पर आकर रूक गयी हो। 'प्रवेश' के बहुमूल्य विचार के होने पर भी निम्न का उच्च में कोई समावेश नहीं होता जो कि ऐसे सिद्धान्त के लिए निहायत जरूरी है। जो कि यह भरोसा रखता है कि प्रगति के साथ विकास का क्रम फैलता है। इस तरह यहाँ ईश्वर और जगत् का सम्बन्ध रचनात्मकता रहस्यमय ही बना रहता है। किस सिद्धान्त पर ईश्वर किसी विशेष नित्यवस्तु को किसी यथार्थ बिन्दु में उतरने के लिए प्रेरित करता है? यह स्पष्ट न होने के कारण विकास के क्यों? की व्याख्या नहीं हो पाती। यद्यपि व्हाइटहेड 'रचनात्मकता', प्रवेश ईश्वर का निर्देश आदि के द्वारा क्रम विकास का समाधान पाने के लिए पर्याप्त अन्तर्दृष्टि देते हैं। लेकिन इसके बावजूद इसमें और अधिक सूक्ष्मता एवं अधिक सामञ्जस्य की जरूरत है।

रचनात्मक विकासवाद

हेनरी बर्गसां

बर्गसां योरोपीय दर्शन में एक नई प्रवृत्ति के प्रतिनिधि हैं। ज्ञान मीमांसा में वह अनुभववादी हैं और इस तरह योरोपीय मस्तिष्क की सामान्य प्रवृत्ति के विरोधी हैं। यह यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद दोनों को ही नहीं मानते। हेराक्लाइटस की भाँति वह विश्व तत्त्व को गति और प्रवाहमय मानते हैं। विश्व तत्त्व का प्रधान धर्म सतत् गति अथवा अनवरत परिवर्तन है। नियतिवाद और प्रयोजनवाद दोनों ही काल संक्रमण को एक मिथ्या प्रतिभास बना देते हैं, दोनों के अनुसार विश्व प्रक्रिया का क्रम पहले से निश्चित है।

बर्गसां को सृष्टि विकास की ये दोनों 'व्याख्याएँ' ग्राह्य नहीं है। ये दोनों व्याख्याएँ यंत्रवाद और प्रयोजनवाद काल या समय को निरर्थक बना देती हैं। यान्त्रिक व्याख्या का मुख्य तत्त्व यही है कि वस्तु जगत् का भविष्य वर्तमान द्वारा निर्धारित है। लाप्लास ने इनका ठीक प्रतिपादन किया था- यदि कोई बुद्धि वस्तु जगत् को प्रेरित करने वाली सब वर्तमान शक्तियों को जानती हो, तो यह वस्तु जगत् के सारे भविष्य और अतीत को भी उसकी सम्पूर्णता में देख या जान सकेगी। उसके लिए अतीत और भविष्य में वर्तमान की तरह कुछ भी अनिश्चित या अज्ञात नहीं होगा।"[७४] यंत्रवाद के अनुसार संसार में कोई नितान्त नयी घटना नहीं हो सकती।

---

७२. व्हाइटहेड- रिलीजन इन द मेकिंग, पृ. १३८
७३. आचार्य श्रीराम शर्मा- हम महान् ईश्वर के पुत्र हैं, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अक १, पृ. ३
७४. हेनरी बर्गसां- क्रिएटिव इवाल्यूशन, पृ. ४०

इसे मानकर हम नवीन योनियों की कभी ठीक व्याख्या नहीं कर सकते।

बर्गसां के अनुसार प्रयोजनवाद में भी दोष है। यदि विश्व नियमित गति से एक उद्देश्य की ओर बढ़ रहा है, तो यह स्पष्ट है कि उसमें अप्रत्याशित नवीनताओं के लिए कोई स्थान नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार भी काल-संक्रमण निरर्थक है।[७५] क्या नीची योनियों से ऊँची योनियों का विकास प्रयोजनवाद के सिद्धान्त की पुष्टि नहीं करता? बर्गसां का उत्तर नकारात्मक है। उन्होंने जीवन विकास से सम्बद्ध घटनाओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करके यह परिणाम निकाला कि योनियों का विकास की दिशा में नहीं बल्कि तीन दिशाओं में हुआ है।[७६] ऐसा प्रतीत होता है कि अपने विकास में प्राणशक्ति किसी खास उद्देश्य को लेकर अग्रसर नहीं होती। यही कारण है कि हम विकास को तीन दिशाओं में प्रवर्तित हुआ पाते हैं। एक दिशा के विकास का परिणाम वनस्पति जगत् है। दूसरी दिशा में उन जन्तुओं का विकास हुआ है, जिनमें नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ बहुत पूर्ण रूप से विकसित हुई हैं। तीसरी दिशा में रीढ़दार पशुओं का विकास हुआ है। जिनमें मनुष्य मुख्य है। रीढ़दार पशुओं में क्रमशः बुद्धि का विकास हुआ है।

विकास सम्बन्धी घटनाओं पर विचार करके बर्गसां ने यह परिणाम निकाला कि विकास का कारण न तो कार्यकारण नियम है और न और कोई अन्तिम प्रयोजन। जीवन विकास का पुष्कल हेतु प्राण शक्ति की सृजनशीलता है। इस प्राण शक्ति को वह विश्वप्राण (Elan-vital) कहते हैं। यही विश्व का चरम तत्त्व है, जो सृजनात्मक है। यह प्राणशक्ति न आगे के नियमों से बँधी है, न पीछे के, वह अपने सृजनशील विकास में न कार्य कारण भाव से प्रेरित होकर चलती है न किसी पूर्व-विचारित प्रयोजन से। वह अविच्छिन्न भाव से बदलती और सृष्टि करती है।

बर्गसां का यह रचनात्मक विकास का सिद्धान्त अपने पूर्वगामी सिद्धान्तों में निश्चित ही श्रेष्ठ है। जड़ और मन के बीच की खाई को भरने में जीवन को विकास का आधार मानने वाला यह सिद्धान्त देश-काल के सिद्धान्त से कहीं अधिक समर्थ है। लेकिन फिर भी ऐसा बहुत कुछ है, जो रचनात्मक-विकास की इस व्याख्या में नहीं समाता है। यह ठीक है कि जीवन जड़ और मानस के बीच की कड़ी है, लेकिन दोनों की व्याख्या करने के लिए इसे इन दोनों से ऊपर उठना होगा। विकास की समस्त योजना की केवल प्राणात्मक व्याख्या करना विकास की समस्त प्रक्रिया को अति साधारण मान लेना है, जो कि यंत्रवादी सिद्धान्तों से अधिक सफलता के साथ इस समृद्ध जगत् की व्याख्या नहीं करती। बर्गसां के सिद्धान्त में प्राणात्मक प्रवृत्ति प्रक्रिया का नियंत्रण करती है, लेकिन निष्प्रयोजन होने के कारण एक अन्ध प्रवृत्ति जैसी लगती है, जो कि जगत् के सामञ्जस्य की व्याख्या नहीं करती। ईश्वर की आत्माभिव्यक्ति लक्ष्य नहीं हो सकती, क्योंकि वह तो स्वयं प्रक्रिया में है। फिर क्या कोई उच्च और निम्न स्तरों में कोई सम्बन्ध है? यदि नहीं तो सारी तारतम्यता खण्डित हो जाती है। और यदि हाँ तो फिर इस सम्बन्ध का स्वरूप क्या है? ऐसी तमाम बातें हैं, रचनात्मक सिद्धान्त जिनकी व्याख्या नहीं करता।

◆ लायड मार्गन का सिद्धान्त

लायड मार्गन डार्विन-स्पेन्सर के सिद्धान्त एवं रचनात्मक विकास के सिद्धान्त में सामञ्जस्य लाने की चेष्टा करते हैं। उनके अनुसार मूल तत्त्व न चित् (चेतन) है और न अचित् (अचेतन)। वह चिद्‌चिदात्मक है। जगत् दो नहीं एक है, जड़ जगत् एवं चेतन जगत् अलग-अलग नहीं है। विश्व विकास प्रक्रिया गतिमयी है। चिद्‌चिदात्मक घटना समूहों को ही कभी वस्तु कभी जीव कहकर वर्णित किया जाता है। विकास के क्रम में नए-नए गुण उद्‌भूत होते हैं। जीवन एक इसी प्रकार का गुण है। इसी प्रकार जीवित प्राणियों में मानस (चेतना) नामक गुण का आविर्भाव हो जाता है। किन्तु नया गुण उत्पन्न होकर पुराने गुणों को नष्ट नहीं कर डालता है।

---

७५. हेनरी बर्गसां- क्रिएटिव इवाल्यूशन, पृ. ४१

७६. वही, अध्याय २

वह केवल गुणों की संख्या में वृद्धि कर देता है। जिस घटना समूह को हम जीवन कहते हैं वह चिद्चिदात्मक तो रहता ही है, उसमें जीवन नामक गुण और आ जाता है। भेद यही है कि जीवित प्राणी की गतियाँ या क्रियाएँ जीवन शून्य वस्तुओं से कुछ भिन्न होती हैं। इसी प्रकार चेतन प्राणियों में जीवन क्रियाएँ भी होती रहती हैं। बाद में विकसित होने वाला गुण पहले विकसित हुए गुणों का बाधक नहीं होता। इन नए-नए विकतिस होने वाले गुणों को लायड मार्गन आविर्भूत गुण (Emergent Qualities) कहते हैं।

उन्होंने इस समस्त विश्व की प्रेरक शक्ति को 'ईश्वर' कहकर स्वीकार किया है। उनके अनुसार- "यदि वह कहीं हो तो हमें अपने अन्दर ही उसे प्रेरणा का या उसे जो भी नाम दिया जाय, अनुभव करना चाहिए, जो वह आधार दे सके, जिस पर क्रियाशीलता की प्राप्ति, स्वीकृति की धारणा को स्थापित किया जा सके।"[७७] ईश्वर विकास प्रक्रिया का प्राण है। वह विकास प्रक्रिया से बाहर कोई चीज नहीं है, अपितु उसमें पूर्णतया परिव्याप्त है। मार्गन के प्रकृतिवादी दृष्टिकोण में ईश्वर की यह अकस्मात् उपस्थिति कुछ विदेशी प्रतीत होती है। वह अपने प्रकृतिवाद और दैवी प्रेरणा में कुछ सामञ्जस्य नहीं बिठा पाते।

द्वन्द्वात्मक विकास

◆ हेगल का सिद्धान्त

हेगल के अनुसार विकास क्रम प्रतिवाद और संवाद द्वारा चलता है। एक धारणा, दूसरी धारणा का विरोध करती है, उसे काटती है। वह निषेध या विरोध ही धारणाओं के विकास की प्रेरक शक्ति है। धारणा जगत् की ही भाँति प्रकृति जगत् एवं मानव समाज में भी द्वन्द्व नियम चल रहा है। वस्तुतः मूर्त जगत् अमूर्त प्रत्यय जगत् का ही शरीर या बाहरी रूप है। इसलिए क्योंकि प्रत्यय जगत् में द्वन्द्व न्याय चल रहा है। अतएव यह जरूरी है कि मूर्त जगत् में भी इसी का आधिपत्य हो। हेगल की प्रसिद्ध उक्ति है कि जो कुछ वास्तविक या तात्त्विक है वह बुद्धिमय है और जो बुद्धिमय है, वही वास्तविक है। आशय यह है कि अनुभव जगत् के सब क्षेत्रों में बुद्धि का राज्य है।

वैज्ञानिक लोग मानते हैं कि जड़ जगत् अखण्ड नियमों के आधीन है। हेगल ने इस सिद्धान्त को व्यापक रूप दिया है। उनके अनुसार जड़ जगत् की ही तरह चेतना जगत् भी बुद्धि तत्त्व (नियमशीलता) के आधीन है। जीवित प्राणियों का विकास और चेतन मनुष्य की कुटुम्ब, समाज, राज्य आदि संस्थाओं का विकास भी द्वन्द्व नियम के अनुसार हुआ है। राजनैतिक क्षेत्र में क्रान्तियाँ तथा युद्ध होते हैं और कभी-कभी एक जाति का दूसरी जाति पर आधिपत्य हो जाता है। हेगल के अनुसार यह सब अखण्ड द्वन्द्व न्याय का निदर्शन है। विजयी जाति निषेधक धारणा के समान होती है। उसमें विजित जाति के तो गुण रहते ही हैं, कुछ अन्य गुण भी होते हैं। वह विजित जाति की अपेक्षा पूर्णता के ज्यादा करीब होती है। इसी प्रकार कला, धर्म एवं दर्शन के क्षेत्रों में होने वाले सैद्धान्तिक परिवर्तन भी द्वन्द्व नियम को चरितार्थ करते हैं। तात्पर्य यह कि हमारी सीमित दृष्टि को भले ही विश्व की कोई घटना आकस्मिक प्रतीत हो, किन्तु वास्तव में विश्व में कुछ भी अहैतुक नहीं है। कोई तुच्छ से तुच्छ या बड़ी से बड़ी घटना भी द्वन्द्व नियम के ही अनुसार होती है।

निषेध या विरोध को विश्व विकास का नियामक कह करके हेगल ने विश्व विकास का एक गतिमय चित्र उपस्थित किया है। निषेध या विरोध जगत् की प्रेरक शक्ति है, उसके अस्तित्व का व्यापक नियम है। इस नजर से देखने पर हेगलीय दर्शन यंत्रवाद का विशेष संस्करण लगता है। किन्तु यह निषेध या विरोध स्वयं विरोधों को हटाकर सामञ्जस्य रूप पूर्णता प्राप्त करने के लिए है।[७८] इसलिए सामञ्जस्य पूर्णता, हेगल के पूर्ण प्रत्यय या परमात्मा को भी विश्व विकास का नियामक कहा जा सकता है। क्योंकि यह विकास का लक्ष्य अर्थात् चरम हेतु है। इस तरह हेगल की पद्धति भी यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद के सामञ्जस्य का प्रयत्न है।

---

७७. सी. लायड मार्गन- एमर्जेन्ट इवाल्यूशन, पृ. २०८
७८ मैक्टेगार्ट- स्टडीज इन हेगेलियन कास्मोलॉजी

अब सवाल यह उठता है कि क्या परब्रह्म या पूर्ण प्रत्यय पहले से पूर्ण विकसित नहीं है जो उसे विश्व विकास की अपेक्षा होती है ? हेगल के सिद्धान्त में इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं है। यही नहीं विश्व के विकास को मात्र बुद्धिगत ठहराने से ऐसा लगता है जैसे यह विकास वास्तविक घटना नहीं है। अन्यत्र वह कहते हैं कि विश्व प्रक्रिया का पूर्ण लक्ष्य की प्राप्ति केवल उस भ्रम को हटाने में है, जो उसे अभी तक अप्राप्त प्रदर्शित करती है।[७९] इसका अर्थ यह हुआ कि विश्व की विकास प्रक्रिया मात्र भ्रम है, वास्तविक नहीं। इस तरह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया विकास को भ्रम या अवास्तविक कहकर अपने सिद्धान्त की अपूर्णता को स्वयं सिद्ध कर देती है।

◆ क्रोचे का सिद्धान्त

क्रोचे त्रिविध गति की जगह द्विविध गति पर भरोसा रखते हैं। उनके सिद्धान्त में द्वितीय पद पहले का विरोधी न होकर उसका आश्रित है। इस तरह व्यावहारिक मौखिक पर, और आर्थिक नैतिक पर निर्भर है। उन्होंने हेगल की भाँति ही इतिहास दर्शन से और सद्वस्तु का मूर्त विचार से तादात्म्य किया है। उनके अनुसार- ''आध्यात्मिक विकास का इतिहास में आध्यात्मिक क्रियाओं की गति केवल क्रमिक नहीं है। उसमें विकास ही नहीं बल्कि प्रगति में अधिकाधिक संश्लिष्टता भी है।''[८०] इस तरह यहाँ विवर्तन के साथ निवर्तन शामिल है। और उच्च में निम्न समावेशित है। ज्ञान क्रिया के रूप में प्रकट होता है, जो कि उसमें पहले से ही है।

अपने सिद्धान्त की व्याख्या में कई जगह क्रोचे हेगल से आगे हैं। लेकिन विरोधी तत्त्वों के आधार को छोड़ देने के कारण विकास की योजना में विकास के प्रेरक तत्त्व का पूरी तरह अभाव हो जाता है। यही वजह है कि उसके आलोचक यहाँ तक कह डालते हैं कि क्रोचे हेगल से आगे नहीं जा पाते और जहाँ कहीं भी वह उससे भिन्न मत की स्थापना करने की चेष्टा करते हैं वहीं उनके दर्शन में दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

सर्वांगीण विकास आचार्य श्रीराम शर्मा का सिद्धान्त

आचार्य श्रीराम शर्मा की दार्शनिक तत्त्व मीमांसा में विकास के सिद्धान्त का बहुमूल्य स्थान है। ''जहाँ पाश्चात्य विकासवादियों का दृष्टिकोण मुख्यतः बौद्धिक एवं वैधिक है, वहाँ पूर्वी, विशेषतः भारतीय विकासवादी सिद्धान्त मूलतः आध्यात्मिक है, परन्तु वे व्यक्ति परक हैं और उनमें जागतिक दृष्टिकोण का सर्वथा अभाव है।''[८१] आचार्य जी का मकसद इन दोनों सिद्धान्तों की कमियों-कमजोरियों का परिमार्जन करते हुए एक समष्टिवादी गतिशील विकासवादी सिद्धान्त प्रस्तुत करना है। उन्होंने दार्शनिक संसार के समक्ष एक ऐसा सर्वांगपूर्ण विकासवादी सिद्धान्त प्रस्तुत करने की कोशिश की है, जिसमें विश्व मुक्ति की उदार शिक्षा तथा समूचे अस्तित्व के रूपान्तर द्वारा देव मानव बनने की उदात्त प्रेरणा विराजमान है।

यों तो कई पश्चिमी विचारक भी सप्रयोजन विकासवाद का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु आचार्य जी के दर्शन में विश्व का विकास है। उसका परम लक्ष्य अनन्त पूर्णत्व की प्राप्ति है। उन्हीं के शब्दों में- ''जीवन चक्र की यथार्थता इस दृष्टि से भी है कि पूर्ण से उत्पन्न हुआ है और फिर एक यात्रा पूरी करके पूर्ण में ही जा मिलता है।''[८२] अर्थात् विकास की चरम सीमा पर विश्व जिस अवस्था को पहुँचेगा, ठीक वहीं से पूर्व में उसका उद्गम हुआ था। उस पूर्णावस्था से ही निकलकर वर्तमान क्रम विकास से गुजरते हुए उसी पूर्णावस्था में उसे वापिस होना है। अपने विचारों को अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य जी कहते हैं- ''जीवन सत्ता के बारे में हमारा दार्शनिक प्रतिपादन इन विकासवादियों से सर्वथा

---

७९. The Consummation of the infinite and consists merely in removing the illusion which makes it seem yet unaccomplished. - *Wallace- Logic of Hegel. p. 351*
८०. विल्डन कार- द फिलासफी ऑफ क्रोचे, पृ. १३
८१. आर. एस. श्रीवास्तव- द इटियल थ्योरी ऑफ इवाल्यूशन, पृ. ११३
८२. आचार्य श्रीराम शर्मा- जीवन विकास का चक्र क्रम, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३७, अंक ९, पृ. ४

भिन्न है। तत्त्वदर्शन ने जीवन को एक चक्र माना है, जिसका न आदि है न अन्त। वह एक गोल घेरे की तरह है, जिसका यदि आदि और अन्त मानना हो तो दोनों को एक दूसरे के साथ विलकुल सटा हुआ ही कहना पड़ेगा।''[८३] आचार्य जी का यह विकास सिद्धान्त प्रमुख भारतीय विचारधारा के अनुरूप ही है। अद्वैत वेदान्त में भी मोक्ष प्राप्ति मूलतः कोई नई उपलब्धि न होकर दरमियानी अज्ञान से आवृत्त शुद्धावस्था को ही पुनर्प्राप्ति है। हां अन्तर व्यष्टि और समष्टि का जरूर है। वेदान्ती इसे 'विकास' कहने के स्थान पर 'अज्ञान निवृत्ति' कहते हैं।

आचार्य जी के विकास सिद्धान्त की मौलिकता को इन शब्दों में कहा जा सकता है। कि उनके अनुसार यह विकास संयोग की अध्यक्षता में चलने वाला पदार्थ और गीत का कोई अधिकाधिक जटिल होता हुआ संरूपण मात्र नहीं है। न वे असंख्यों वर्ष पूर्व गढ़ी गई ऐसी शृंखला की खड़खड़ है, जो किसी अति ब्रह्माण्डीय दिव्य मन की अध्यक्षता में हो रही है और न ही वह शून्य में से अचानक नए गुणों और अपेक्षाकृत श्रेष्ठतर मूल्यों का क्रमशः प्रकटन हो है। वस्तुतः विकास की प्रक्रिया मूलतः अनिर्धारणीय सत्ता का असीम रूप से विविधीकृत आत्म निर्धारण है। हम विकास की तुलना एक सृजनात्मक साहसिक यात्रा से कर सकते हैं। सम्भवतः विकास अचेतनता के अपरिचित समुद्र में विश्व आत्मा की सृजनात्मक साहसिक यात्रा है। जिसका लक्ष्य है सत्ता में निहित अनन्त सम्भावनाओं को भौतिक परिस्थितियों में अनन्त रूप से अभिव्यक्त करना।

आचार्य जी ने अपने विकास सिद्धान्त की तीन मौलिक विशेषताएँ मानी हैं–

१.विस्तारण
२. उर्ध्वीकरण
३. समग्रीकरण

विस्तारण का मतलब है, विभेदीकरण, संगठन तथा अभिव्यक्ति की विविधता। आचार्य जी के अनुसार ''जीवन विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति पाता है। कर्मों का सम्बल पाकर वह विकास की अगणित अवस्थाओं से होकर गुजरता है।''[८४]

विकास के इस क्रम के साथ ऊर्ध्वीकरण की प्रक्रिया भी चलती रहती है। ऊर्ध्वीकरण का अर्थ है– रूपायन के स्तर में चेतना की शक्ति का अधिकाधिक ऊर्ध्व होते जाना। ''विकास कभी भी यथास्थिति में रूकता नहीं, वह सतत् गतिशील रहता है।''[८५] यह गति ऊर्ध्व है, ऊपर की ओर है। ''मनुष्य जीव चेतना से ऊपर उठकर अर्ध देवता बन चुका है और अब आगे पूर्ण देवत्व की ओर अग्रसर है।''[८६] यानि कि ऊर्ध्वीकरण का मतलब फैलाव या विस्तार नहीं है, बल्कि चेतना का एक से दूसरे स्तर पर आरोहण है।

विकास प्रक्रिया की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है, उसकी समग्रता एवं अखण्डता। इसका मतलब यह है कि जब निम्न तत्त्व का विकास होता है या जब निम्न तत्त्व उठकर उच्च बनता है, तब वह नष्ट नहीं होता, बल्कि वह उच्च स्तर में उठकर अनुप्राणित और संस्कारित हो जाता है। यह सब अकारण नहीं है। अभिवृद्धि के साथ विकृतियाँ भी घुसती हैं। उनकी मात्रा में जब तक उपयोगिता का अंश अधिक बना रहता है तब तक उसमें स्थायित्व बना रहता है, पर जब अनुपयोगिता का भार बढ़ने लगा, तो उसके परिवर्तन का अदृश्य क्रम चल पड़ता है। समयानुसार वही दृश्य रूप में परिणित होता है। सामान्य क्रम से चल रहे परिवर्तन तो बहुत प्रभावित नहीं करते, पर जब रूपान्तरण का अन्तिम चरण आता है,[८७] तो उसकी दृश्य विचित्रता एक नए विकास के रूप में सामने आती है। उदाहरणार्थ– जड़ पदार्थ से जीवन प्रकट होने पर जड़ पदार्थ नष्ट नहीं होता, बल्कि अनूठे ढंग से परिवर्तित या रूपान्तरित होता

८३. आचार्य श्रीराम शर्मा– जीवन विकास का चक्र क्रम, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३७, अंक ९, पृ. ४
८४. आचार्य श्रीराम शर्मा– ईश्वर विकास का चरम बिन्दु है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अंक ४, पृ. ३
८५. वही, पृ. ४
८६. आचार्य श्रीराम शर्मा– अब बारी देवत्व के विकास की है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५७, अंक ९, पृ. २४
८७. आचार्य श्रीराम शर्मा– विकास और विनाश की गतिचक्र, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४०, अंक १, पृ. ३९

है। यही बात मन के प्रकट होने पर प्राण के साथ होता है, उसका स्वरूप नए ढंग से बदल जाता है। अनुपयोगी अंश संस्कारित हो जाते हैं। इस तरह उच्चतर तत्त्व के प्रकट होने पर निम्नतर तत्त्व का संशोधन, परिष्कार तथा उद्धार हो जाएगा।

आचार्य जी की विकास प्रक्रिया न सिर्फ निम्नतर तत्त्वों के उठाव से स्पष्ट हो सकती है और न ही केवल उच्चतर तत्त्वों के अवतरण से। दोनों क्रियाएं जरूरी हैं। विकास प्रक्रिया के अन्तर्गत जैसे-जैसे निम्नतर तत्त्व उच्चतर तत्त्वों के अवतरण के लिए तैयार होते जायेंगे, उच्चतर तत्त्वों का अवतरण तथा प्रकटीकरण निम्नतर तत्त्वों में होता जाएगा। निम्नतर तत्त्व अगर उच्चतर मूल्यों के स्वागत के लिए तैयार ही न हों तो उच्चतर तत्त्वों का आगमन बेकार जाएगा। भगवान् हमारे घर आएँ, हमारा दरवाजा खटखटाएँ परन्तु हम सोते रहें, तो वह लौट जाएँगे। इसलिए उच्चतर मूल्यों के प्रकट होने के लिए पर्याप्त तैयारी होनी चाहिए। बगैर तैयार की गई भूमि में बीज डालने से क्या लाभ? इस स्थिति को आचार्य जी टालना चाहते हैं। इसलिए निम्नतर तत्त्वों की पर्याप्त तैयारी पर वे विशेष बल देते हैं, ताकि उच्चतर तत्त्व उनमें विकसित हो सकें। उनके द्वारा प्रतिपादित साधना प्रक्रियाएँ, विचार क्रान्ति आन्दोलन और कुछ नहीं वस्तुतः समष्टि मन की तैयारी है, ताकि ईश्वरीय चेतना के अवतरण के द्वारा मनुष्य में देवत्व का नया आयाम विकसित हो सके। ठीक भी है कि मूर्ति का उचित मूल्य तभी होगा, जब उसके लिए मन्दिर पहले से ही तैयार हो।

इस तथ्य को एक और तरह से स्पष्ट किया जा सकता है। मान लें कि मानवी स्तर की आत्मा किसी जानवर में या वृक्ष में डाल दी जाय। तो स्वाभाविक है कि वह आत्मा वहाँ घुटन अनुभव करेगी। वृक्ष की जैसी अलचीली छाल या पशु के जैसा कम लचीला चमड़ा मानवी आत्मा के लिए बाधित होंगे। उसकी शक्तियों के उचित प्रकटीकरण की एवज में वृक्ष या पशु का शरीर मानवी आत्मा की शक्तियों को शायद ढँक ही देंगे। मानव आत्मा के समुचित प्राकट्य के लिए शरीर भी समुचित तरह का होना जरूरी है। शरीर आत्मा का उपकरण मात्र है। परन्तु आत्मा का तो विकास हो और शरीर अविकसित हो रहे यह सम्भव नहीं है। यही कारण है कि आचार्य श्रीराम शर्मा की विकास की अवधारणा समग्र विकास की है। ऐसा नहीं है कि मन का तो निर्माण हुआ, परन्तु भौतिक द्रव्य उसी अवस्था में रहे जिस अवस्था में वह मन के विकास के पहले केवल प्राण के समय था अथवा उससे भी पहले निर्जीवत्व के समय था। आज का भौतिक द्रव्य वह नहीं है, जो करोड़ों सालों पहले था। जीव की आज वही स्थिति नहीं है, जो मन के विकास के पहले थी। आचार्य जी के अनुसार विकास की प्रक्रिया में हम ऊपर तो उठते ही हैं, परन्तु विकास हमारे साथियों में भी होना आवश्यक है, इतना ही नहीं हमसे निम्नतर तत्त्वों को भी साथ ले चलना है। उनमें भी उचित परिष्कार करना है।

जब परिस्थितियाँ पूरी तरह तैयार हो जाती हैं, तब उच्चतर मूल्यों का अवतरण होगा। उच्चतर मूल्यों के अवतरण से हमारा उठाव होगा, विकास होगा। उच्चतर की अभिव्यक्ति से निम्नतर का नाश नहीं होता, उसमें भी समुचित विकास हो जाता है। पाश्चात्य विकास सिद्धान्त का दोष दर्शाते हुए आचार्य जी कहते हैं कि उनके अनुसार उच्चतर तत्त्वों का आविर्भाव होने पर निम्नतर तत्त्वों का नाश होना या अपनी पूर्व स्थिति में बना रहना अनिवार्य है। इसका कारण बताते हुए वह कहते हैं- "डार्विन के विकासवाद के समर्थक, लैमार्क के पक्षधर एवं जातियों प्रजातियों का गम्भीर अध्ययन करने वाले एन्थ्रापालॉजिस्ट शरीर और मन के विकास के इस सीमित परिकर में ही ऊहापोह करते दृष्टिगोचर होते हैं। अध्यात्म की विकासवाद की परिभाषा में एक और तीसरा पक्ष भी आता है जो शरीर और मन से कहीं और उच्च स्थान लिए है। आत्मिकी के प्रतिपादक इसे आध्यात्मिक विकास कहते हैं, जो मनोआत्मिक क्रम से आरम्भ हो कर पूर्णता पर समाप्त होता है। इसकी बहिरंग की अभिव्यक्ति नैतिक एवं सामाजिक विकास के रूप में सुसंस्कारिता, सहकारिता की भावना के उत्कर्ष के रूप में देखी जा सकती है।"[८८] बहिरंग की ये अभिव्यक्तियाँ

८८. आचार्य श्रीराम शर्मा- आध्यात्मिक विकासवाद एवं जीवन मुक्ति का तत्त्वदर्शन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अंक ८, पृ. ३-४

उच्च तत्त्वों के अवतरण से हुए निम्न तत्त्वों के रूपान्तरण ही हैं। पश्चिमी विकासवादी इस अनूठी धारणा से सर्वथा अपरिचित लगते हैं। भारत का अद्वैत वेदान्त भी इसी दोष से दूषित है, क्योंकि उसके अनुसार मानव को अपने विकास के निमित्त आत्मा से शरीर तथा जीवन के निम्न तत्त्वों से सर्वथा पृथक् कर देना चाहिए। उनके प्रति विरक्ति अद्वैत वेदान्त के अनुसार मोक्ष की पहली सीढ़ी है। आचार्य जी इस तरह की निवृत्ति का विरोध करते हैं।

आचार्य जी के अनुसार विकास प्रक्रिया के चार सोपान होते हैं- १. जड़ पदार्थ, २. जीवन, ३. मन, ४. आत्म चेतना। वस्तुतः विकास का प्रारम्भ जड़ पदार्थ से होता है, क्योंकि पदार्थ के स्तर पर जाने पर परम चैतन्य को यह अनुभूति होती है कि आवरण की प्रच्छन्नता की प्रक्रिया अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुकी है। अतः स्वयं चैतन्य ही पदार्थ को विकास के लिए प्रेरित करता है। जिसके परिणाम स्वरूप जीवन का उदय होता है। तत्पश्चात चैतन्य वनस्पति जगत् में स्वयं अभिव्यक्त करता हुआ पशु जगत् में घूमता है। वहाँ पर वह अधिक स्वतंत्र हो जाता है एवं संवेदनशील शरीरधारी प्राणी में अपनी मानसिकता को प्रकट करता है। किन्तु परम चैतन्य इस अवस्था मे भी पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं होता है। और स्वयं को स्वचेतन, विश्लेषण प्रधान एवं विवेकशील मानव मन में व्यक्त कर देता है। अभी तक विकास इसी अवस्था तक पहुँचा है, परन्तु आचार्य जी की अटूट विश्वास है कि विकास के अगले चरण में चैतन्य, देव मानव के स्तर पर जरूर पहुँचेगा।

विकास का यह अगला चरण आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार रूपान्तरण की त्रिविध प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न होगा। रूपान्तरण के इन तीन पहलुओं को वह व्यवहार परिवर्तन, चरित्र परिवर्तन एवं चिन्तन परिवर्तन की संज्ञा देते हैं। व्यवहार में उदारता, चरित्र में पवित्रता एवं चिन्तन में उदात्तता होने से व्यक्तित्व का सम्पूर्ण रूपान्तरण हो जाएगा। परन्तु यह सब होगा व्यक्तित्व में परमात्म चेतना के अवतरण से जिसका स्पर्श, शरीर, प्राण एवं मन के स्वरूप व गतिविधियों को रूपान्तरित कर देगा।

इस तरह यदि विशुद्ध तत्त्व चिन्तन की दृष्टि से आचार्य श्रीराम शर्मा के विचारों का अध्ययन किया जाय तो मूलतः वे वेदान्त दर्शन के ही समर्थक हैं। लेकिन कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की तरह वह शांकर वेदान्त का समर्थन नहीं करते। बल्कि अपने विचारों में प्रत्येक कदम पर शांकर वेदान्त के सन्दर्भ में उसी की सीमाओं को प्रस्तुत करते हुए विकसित होते हैं। आचार्य श्रीराम शर्मा ने अपने पूर्ववर्ती भारतीय दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए भी उसका सम्पूर्ण रूप से निषेध नहीं किया है। उनकी नजर में भारतीय दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व बाहर पश्चिमी देशों में और भीतर भारत में शताब्दियों से शांकर वेदान्त ने किया है। जिसमें ब्रह्म की सत्ता का एकमात्र समर्थन और विश्व की सत्ता का सम्पूर्ण निषेध है। लेकिन इस तरह सत्ता को उसकी सम्पूर्णता में प्रस्तुत कर पाने में अद्वैत वेदान्त सर्वथा असमर्थ है। अपने इस निष्कर्ष के समर्थन में वह कहते हैं कि आध्यात्मिक जीवन की सम्भावनाओं को जीवन में स्वीकार करने के लिए यह पूरी तरह जरूरी है कि हम केवल आध्यात्मिक तत्त्व को ही सत् रूप में स्वीकार न करें बल्कि भौतिक तत्त्व को भी उसकी व्यञ्जना हेतु समुचित माध्यम के रूप में समर्थित विश्व के भौतिक स्वरूप के मूल एकत्व का भी उपनिषद् की भाँति समर्थन करें। आध्यात्मिक दृष्टि की व्यापकता में- "विराट् ब्रह्म को विशाल विश्व के रूप में देखा जा सकता है।"[८९]

जड़ तत्त्व भी ब्रह्म है- जड़ पदार्थ अथवा भौतिक द्रव्य सदियों से तत्त्वचिन्तकों-अध्यात्मवादियों की नजर में हेय और निम्न समझा जाता जा रहा है। भौतिक द्रव्य से बने शरीर से हमेशा-हमेशा के लिए जान छुड़ाकर भागना मोक्ष अथवा जीवन की पूर्णता की संज्ञा प्रदान की की गई है। आचार्य जी के दृष्टिकोण में इन निषेधात्मक विचारों के लिए कोई स्थान नहीं है। वह भौतिक द्रव्य की सघन ठोस अवस्था पृथ्वी को वैदिक ऋषि की तरह- 'मातः भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः' माता के रूप में

---

८९. आचार्य श्रीराम शर्मा- इस संसार की यथार्थता समझे और तत्त्वदृष्टि प्राप्त करे, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४०, अंक १, पृ ४

स्वीकारते हैं, क्योंकि इसी से विकास के अन्य सभी स्तरों की क्रमिक अभिव्यक्ति हुई है। यही नहीं पार्थिव देह उनके लिए भगवान् का मन्दिर है। अपनी एक रचना में वह कहते हैं- ''शरीर को भगवान् का मन्दिर समझकर आत्म संयम और नियमितता द्वारा आरोग्य की रक्षा करेंगे।''[90] उनके अनुसार परमात्मा की ही सत्ता इस संसार के कण-कण में समायी है, प्रत्येक वस्तु में ओत-प्रोत है।[91]

पिछले दिनों कण भौतिकी (पार्टिकल फिजिक्स) के क्षेत्र में हाइजनबर्ग के अनिश्चित सिद्धान्त की बड़ी चर्चा हुई। उनके अनुसार एक ही समय में एक साथ एक ही तरह के कण किस तरह का व्यवहार करेंगे, यह नहीं जाना जा सकता। कण विशेष की गति और परिस्थिति के सम्बन्ध में भी कुछ कह पाना सम्भव नहीं है। केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है और अनुमान कोई सही निकले यह कोई जरूरी नहीं है। अनेक प्रयोग किए गए कि किन परिस्थितियों में कौन से कण किस तरह का व्यवहार करते हैं ? एक ही परिस्थिति में, एक ही प्रक्रिया से, एक ही तरह के कणों का हजारों बार अध्ययन किया गया। लेकिन यह जानकर हैरानी हुई कि प्रत्येक बार हर कण का व्यवहार अनुमान से भिन्न था। यही नहीं, पिछली प्रतिक्रिया भी नहीं दोहराई गयी। इस आधार पर घोषणा की गई कि पदार्थ की जैसी परिभाषा की जाती रही है वैसा कोई पदार्थ इस जगत् में है ही नहीं। दूसरों शब्दों में यह घोषणा की गई कि पदार्थ मर गया है।[92] आधुनिक वैज्ञानिकों की दृष्टि में जिसे हम पदार्थ, जड़ मानकर चैतन्य से अलगाव करते हैं, वह भी वस्तुतः 'परमात्मा की चैतन्य ऊर्जा'[93] ही है। आचार्य जी के शब्दों में- ''स्वरूप में भिन्नता होते हुए भी कारण भूत सत्ता की दृष्टि से समस्त जड़ चेतन में वही विद्यमान है।''[94] तो जिसे हम जड़ समझते हैं, वह भी वस्तुतः ब्रह्म ही है।

जीवन- जीवन का सार तत्त्व प्राण है।[95] सृष्टि में जो चैतन्यता दिखाई पड़ रही है, उसका मूल कारण अनन्त सृष्टि प्रवाह में प्राण तत्त्व ही हिलोरें ले रहा है। यही संसार की उत्पत्ति का कारण है। यही सृष्टि में प्राण तत्त्व ही अभिव्यक्त होकर विभिन्न संरचनाओं के रूप में दृष्टिगोचर होता है। पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण एवं अणुओं की चुम्बकीय शक्ति में प्राण शक्ति ही क्रीड़ा-कल्लोल कर रही है। चेतन जीवों की हलचलों में वही प्रेरणा भर रही है। उत्पादन-अभिवर्धन का मूल कारण प्राण स्पन्दन ही है।[96] सूक्ष्म दृष्टि से प्राण का अर्थ ब्रह्माण्ड भर में संव्याप्त ऐसी ऊर्जा है जो जड़ और चेतन दोनों का समन्वित रूप है। जीवधारियों की दो हलचलें हैं एक ज्ञान परक, दूसरी क्रिया परक, दोनों को ही गतिशील रखने के लिए संव्याप्त प्राण ऊर्जा से पोषण मिलता है।[97] यही जीवों को नवीन सृष्टि के लिए परस्पर आबद्ध करता, प्रेरणा भरता तथा संतति उत्पादन का अतिरिक्त दायित्व वहन करने के लिए बाध्य करता है। काम की प्रचण्ड शक्ति प्राण का ही एक भाग है। इसका निम्न स्तरीय पक्ष है- काम वासना से संतति उत्पादन तथा उच्च स्तरीय स्वरूप है- विचारों की उत्कृष्टता, भावनाओं की उदात्तता, ईश्वरीय प्रेम, आदर्शों सिद्धान्तों के प्रति असीम प्रेम।

---

९०. आचार्य श्रीराम शर्मा- गायत्री यज्ञ और षोडश संस्कार, भाग १, पृ. ८४
९१. आचार्य श्रीराम शर्मा- जो कुछ है सब तोहि, अखण्ड ज्योति, वर्ष २६, अंक ९, पृ ५
९२. आचार्य श्रीराम शर्मा, डॉ. प्रणव पण्ड्या- स्रष्टा का अस्तित्व सृष्टि के कण-कण में प्रमाणित प. १८
९३. continuous dance of energy
Dr. Fritjof Capra- The Tao of Physic p 214
९४. आचार्य श्रीराम शर्मा, डॉ. प्रणव पण्ड्या- स्रष्टा का अस्तित्व सृष्टि के कण-कण में प्रमाणित, पृ. १९
९५. आचार्य श्रीराम शर्मा, प्राणायाम से आधि-व्याधि निवारण, (प्रथम संस्करण) पृ. ११
९६. वही, पृ. ५

विचारों की प्रखरता एवं वाणी की तेजस्विता प्राण तत्त्व की बहुलता का परिचायक है। विचार इसी से सशक्त बनते तथा दूसरों पर प्रभाव छोड़ते हैं। विचारक, मनीषी, संत, महापुरुषों के विचार एवं उपदेश निकट के ही नहीं दूरवर्ती व्यक्तियों को भी प्रभावित करते हैं। उन्हें श्रेष्ठता की ओर बढ़ चलने की प्रेरणा देते हैं। यह प्राण शक्ति का प्रभाव है, जो अपने विचारों के अनुसार अन्यों को चलने अनुगमन करने को बाध्य करती है।[९८]

व्यक्ति का व्यक्तित्व ही नहीं, इस सृष्टि का कण-कण प्राण शक्ति की ज्योति से ज्योतिर्मय हो रहा है। जहाँ जितना जीवन है, प्रकाश है, उत्साह है, आनन्द है, सौन्दर्य है, वहाँ उतनी ही प्राण की मात्रा विद्यमान समझनी चाहिए। उत्पादन शक्ति और किसी में नहीं, केवल प्राण में ही है। जो भी प्रादुर्भाव, सृजन, निर्माण और विकास क्रम चल रहा है, उसके मूल में पर ब्रह्म की यही परम चेतना काम करती है।[९९] यह विश्वव्यापी प्राण शक्ति जहाँ जितनी अधिक मात्रा में एकत्रित हो जाती है, वहाँ उतनी ही सजीवता दिखाई देने लगती है।[१००]

इसी के द्वारा विशृंखलन और प्रतिष्ठापन, स्थिरता और परिवर्तन, जीवन एवं मृत्यु की प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं। रूपों में तरह-तरह से नयापन आता रहता है, कुछ नष्ट नहीं होता। अव्यक्त, व्यवस्थित अथवा मौलिक निर्वर्तित अथवा विवर्तित जीवन सब जगह है। वह सार्वभौम, सर्वव्यापी और अविनाशी है, केवल उसके रूपों और व्यवस्थाओं में अन्तर पाया जाता है। प्रत्येक रूप प्राण शक्ति को सतत् ग्रहण कर रहा है और बाहर निकल रहा है। पौधे, पशु और मानव के जीवन में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। सब वही जन्म, वृद्धि और मृत्यु, पोषण, उत्पत्ति, निद्रा और जागृति, शक्ति और जीवन गति की न्यूनता, शिशुपन से वृद्धावस्था की ओर गति और उत्तेजनाओं के प्रति प्रतिक्रया पाते हैं। इस मौलिक समानता के बावजूद इसके विकास की अवस्थाओं अथवा अभिव्यक्ति की दशाओं में अन्तर जरूर है।

❖ जीवन के विकास स्तर

अपने शुरूआती दौर में वह एक विभाजित और अवचेतन संकल्प है जो कि रूप तथा उसके वातावरण के अन्तर्परिवर्तन पर शासन करने वाली यान्त्रिक शक्तियों के वश में है। मध्य में है मौत, इच्छा और सामर्थ्यहीनता, जो कि वातावरण के विषय आत्मा के विस्तार, अधिकार तथा नियन्त्रण की ओर सुरक्षा की एक स्थिति के हेतु अस्तित्व के लिए संघर्ष की ओर प्रेरित होता है। इसकी व्याख्या करने में चार्ल्स-डार्विन से यह भूल हो गई कि यह जीवन का केवल एक पहलू है। जैसे-जैसे जीवन मानस की ओर बढ़ता है, वैसे-वैसे आत्मरक्षा और संघर्ष की प्रवृत्तियाँ प्रेम, सहयोग और पारस्परिक सहायता के आधीन होती जाती है, जो कि स्वयं भी क्रमशः ज्यादा से ज्यादा परिष्कृत, सार्वभौम और आध्यात्मिक होती जाती है। अपने अन्तिम रूप में वह एक सन्तुलन प्राप्त कर लेता है, जो कि चेतन मानस की और उसके विकास के साथ-साथ बढ़ता है। इस तृतीय अवस्था में व्यक्ति की आत्मा की प्रतिष्ठा, पारस्परिक अनुकूलता, अन्तर्परिवर्तन और तादात्म्य के साथ होती है। मानस के बढ़ते प्रभाव के कारण ऐसा होता है, जिसमें भौतिक जीवन के नियम के विरुद्ध दान के द्वारा समृद्धि, आत्म त्याग के द्वारा आत्म सन्तोष है। जीवन के इन तीन स्तरों को हम जड़ जीवन, प्राणात्मक जीवन और मानसिक जीवन भी कह सकते हैं। जिसमें प्रथम अवचेतन, दूसरा चेतन और तीसरा आत्म चेतन है। निम्नतम वह है जिसमें कि स्पन्दन अब भी जड़ की निद्रा में पूरी तरह अवचेतन है। मध्यम स्थिति वह है जिसमें कि एक प्रतिक्रिया के योग्य हो जाता है, जो अब भी अवमानसिक है, परन्तु उसकी सीमा पर है जिसको हम चेतना कहते हैं। सर्वोच्च वह है जिसमें जीवन मानसिक प्रत्यक्ष के योग्य संवेदन के रूप में चेतन मानसिकता विकसित करता है, जो कि इस परिवर्तन में इन्द्रिय-मानस अथवा बुद्धि के विकास का आधार बन जाता है।

---

९८. आचार्य श्रीराम शर्मा, प्राणायाम से आधि-व्याधि निवारण, (प्रथम संस्करण) पृ. ५
९९. आचार्य श्रीराम शर्मा- काया में समाया प्राणाग्नि का जखीरा, पृ. १२
१००. आचार्य श्रीराम शर्मा- गायत्री की प्रचण्ड प्राण ऊर्जा, पृ ३

मानस- जीवन के विचार तंत्र को मन कहते हैं। अन्तःकरण की जितनी उथल-पुथल है, उसका कारण मन ही है। अन्तर्जगत में क्रियाओं को प्रेरणा देने की शक्ति का नाम मन है।[१०१] मन की शक्तियाँ विलक्षण हैं। मनुष्य का सुख-दुःख, बन्धन और मोक्ष मन के आधीन है। संसार में कोई ऐसा स्थल नहीं, जहाँ मन न जा सके, लोक-परलोक में भी मन एक पल में जा सकता है। जिसे आँखें देख नहीं सकती, कान सुन नहीं सकते, मन उसे भी सरलता से ग्रहण कर सकता है।[१०२] प्रत्यक्ष प्रमाणों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान वस्तुतः मन के द्वारा ही उत्पन्न होता है। जब शरीर को कोई कष्ट होता है, भूख लगती है, सर्दी या गर्मी की पीड़ा होती है, तब बुद्धि में ज्ञान की स्फुरणा बन्द हो जाती है। यद्यपि ज्ञान ही मनुष्य की विशेषता है, ज्ञान ही से मनुष्य का जीवन मधुर है, पर ज्ञान अपने आप में कोई वस्तु नहीं, वह मन की शक्ति है।[१०३] मानवी ज्ञान-विज्ञान की जितनी शाखाएँ-प्रशाखाएँ, उपलब्धियाँ, आविष्कार दिखाई देते हैं, उसे मन का चमत्कार ही समझा जा सकता है।

अपनी इस चमत्कारिक क्षमता के कारण ही 'मानस' हमारे वर्तमान मानव जीवन का मालिक है। लेकिन अपनी सारी उपलब्धियों के बावजूद अभी तक वह शृंखलाबद्ध और अवरुद्ध है। अपने सार रूप में मन एक ऐसी चेतना है, जो कि अविभाजित पूर्ण से पदार्थों के रूपों को नापती, काटती और सीमित करती है। और उन्हें इस प्रकार धारण करती है मानों उनमें से प्रत्येक एक अलग समूचा पदार्थ हो। यहाँ तक कि जो स्पष्टतया अंशों, खण्डों के रूप में है, उनके साथ भी मन अपने इसी साधारण स्वभाव को लादने-थोपने की कोशिश करता है। उदाहरण के लिए मानवी शरीर का अध्ययन करते समय ज्ञान-विज्ञान के पण्डित यह भुला बैठते हैं कि यह अकेले में समग्र या सम्पूर्ण नहीं है, बल्कि समाज, संसार, प्रकृति का एक हिस्सा है। शरीर ही क्यों नेत्र विज्ञान, अस्थि विज्ञान के विद्वान् अपने अध्ययन की विषय वस्तुओं आँखों एवं हड्डियों को पूर्ण मानकर ही सोच, विचार करते हैं। यही नहीं कोशिका विज्ञान, एक

चिकित्सा शास्त्र अथवा शरीर विज्ञान तक सीमित नहीं है। इसे ज्ञान-विज्ञान की समस्त शाखाओं में देखा जा सकता है। इसका एक मात्र कारण यह है कि सारे वर्तमान ज्ञान-विज्ञान का आधार मन है और मन की अपनी सीमाएँ हैं, वह एक बारगी समग्र सत्य को अनुभव नहीं कर सकता है।

अपनी अध्ययन वस्तु को यदि वह जान भी लेता है कि वे स्वतंत्र पदार्थ नहीं हैं, तो भी उनसे इस तरह व्यवहार करना पड़ता है, मानो वे स्वतंत्र पदार्थ हों। मन का यह मूलभूत स्वभाव उसकी समस्त कार्यकारी शक्तियों की क्रियाओं पर अर्थात् अवधारणा, प्रत्यक्ष संवेदन, चिन्तन, कल्पना और रचनात्मक विचारों पर शासन करता है। मन की यही सीमाबद्धता उसके द्वारा अर्जित ज्ञान को भी सीमित और अधूरा बना देती है। इसी कारण इसका महत्त्व कितना ही क्यों न हो वह चेतना के स्वरूप को समझने और उसकी समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ ही रहेगा।[१०४] क्योंकि ज्ञान की समग्रता के लिए अनुभव की समग्रता भी चाहिए जो कि मन के धरातल पर नहीं संवेदना के विस्तार में सम्भव है।

सम्वेदना- सम्वेदना के विकास-विस्तार के साथ

है, वहाँ बोध भी नगण्य है। यही कारण है पशु-पक्षी ज्ञान के एक संकरे दायरे में जीवन व्यतीत करते हैं। उनकी जानकारी प्रायः आत्म रक्षा और उदर पूर्ति तक सीमित रहती है। मानवीय स्तर पर इसके विस्तार के साथ सृष्टि और समष्टि के गहन ज्ञान के लिए जिज्ञासाएँ पनपती हैं। जीवन की परिधि का दायरा आत्म रक्षा और उदर पूर्ति से बढ़कर शोध और अन्वेषण तक जा पहुँचता है।

---

१०१. आचार्य श्रीराम शर्मा- मन और उसकी प्रचण्ड शक्ति, पृ. ८
१०२. वही, पृ. ७
१०३. वही, पृ. ८
१०४. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं पूरक, पृ ६२

भाव सवेदनाओं की भूख बुझाने के लिए त्याग, बलिदान की मांग करती है और अनेकों सद्भाव सम्पन्न उसकी पूर्ति भी करते हैं।"[१०८]

विकास क्रम हलचलें मन को समझदारी की मंजिलें पार करते हुए भाव संवेदना के उच्च शिखर पर पहुँचता है।[१०९] महात्मा बुद्ध ने विकास के इसी शिखर पर पहुँच कर अपनी संवेदना का अनन्त विस्तार कर बोधि-ज्ञान पाया था। और करूणा के अवतार के रूप में लोक विख्यात हुए थे। वर्तमान मानव में अभी इसका पूर्ण विकास होना बाकी है। धर्म-अध्यात्म इसी को विकसित करने-व्यापक बनाने का सचेतन प्रयास है। आचार्य जी के शब्दों में- "सम्वेदना प्राण है धर्म का। हरेक धार्मिक यहाँ एक है और जो यहाँ एक है वही धार्मिक है। यही सम्वेदना महावीर में अहिंसा बनकर अभिव्यक्त होती है। पग घुघुँरू बांधे हुए मीरा के नृत्य में, शंकर में विवेक, और बुद्ध में करूणा, ईसा में यही प्रेम है। गंगा की तरह हिमालय से सागर पर्यन्त धर्म की शाश्वत धारा समूचे विश्व में एक है। हां घाट जरूर अलग-अलग हैं, भेद घाटों का है जलधारा का नहीं।"[११०] विकास की अन्तिम सीढ़ी भाव सम्वेदनाओं को मर्माहत कर देने वाली करूणा के विस्तार में ही है। इसी को आन्तरिक उत्कृष्टता भी कहते हैं। संवेदना उभरने पर ही सेवा-साधना बन पड़ती है। धर्म धारणा का निर्वाह भी इससे कम में नहीं होता। तपश्चर्या और योग साधना का लक्ष्य भी यही है कि किसी प्रकार संवेदना जगाकर उस देवत्व का साक्षात्कार हो सके।[१११] मानव अपने सचेतन प्रयास से इसका असीम और अनन्त विस्तार कर सकने में सक्षम है।

❖ मानव की श्रेष्ठता

इसीलिए "मनुष्य इस सृष्टि में महान् है।"[११२] क्योंकि "मनुष्य तत्त्व वस्तुतः भावनात्मक स्तर पर खड़ा है।"[११३] इसे स्वीकारते हुए महाभारतकार ने कहा है कि "ब्रह्म का रहस्य यही है कि सृष्टि में मानव ही सर्वश्रेष्ठ है।"[११४] मानव का स्वरूप बड़े व्यापक अर्थ का परिचायक है। मानव की श्रेष्ठता का अनुभव करते हुए ही पुरुष सूक्त[११५] में ईश्वर के लिए पुरुष संज्ञा का उपयोग किया गया है। निसर्ग की शक्तियों का दिव्य स्वरूप धीरे-धीरे विकसित होता गया और उसके विकास को

पौर्वात्य दार्शनिकों के समान ही पश्चिमी चिन्तकों ने भी यही कहा है कि इस सृष्टि में मानव से अद्भुत और श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है।[११७] मनुष्य ही इस सृष्टि की पूर्ण अभिव्यक्ति करने में समर्थ है। इस सृष्टि के रहस्य का ज्ञाता भी वही है। पास्कल नामक पाश्चात्य विद्वान् का मत है कि मनुष्य ही इस संसार का सर्वश्रेष्ठ बौद्धिक जीव है।[११८] ज्ञान का अधिकारी मनुष्य ही है। मनुष्य

---

१०८. वही, पृ. ६६
१०९. आचार्य श्रीराम शर्मा- चेतना का विकास संवेदना के स्तर पर निर्भर, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक ३, पृ. २६
११०. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म एवं धर्म निरपेक्षता, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५४, अंक ४, पृ ३५
१११. आचार्य श्रीराम शर्मा- सतयुग की वापसी, पृ. १
११२. आचार्य श्रीराम शर्मा- न मनुष्यात् श्रेष्ठतरम् किंचित्, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४६, अंक २, पृ ४०
११३ आचार्य श्रीराम शर्मा- मनुष्य का भौतिक मूल्यांकन न किया जाय, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३६, अंक १, पृ. २०
११४. गुह्य ब्रह्म तदिद ब्रवीमि, न मानुषात्श्रेष्ठतरं हि किंचित्। - महाभारत, शान्ति पर्व- १८०/१२
११५. सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्ष, सहस्रपात्।
स भूमिम् विश्वतौ वृत्वा त्यतिष्ठद्दशागुलम् ॥१॥
पुरुष ऐवदं सर्वे यद्भूत यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्ये शोनो भदन्तो नाति रोहति ॥२॥ - ऋ. वै.- १/९०
११६ तर्क तीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी- वैदिक संस्कृति का विकास, पृ. ३२, अनुवादक डॉ. मोरेश्वर दिनकर पाड़कर
११७. Many are the wonders of world. And none so wonderful as man, (sophocles) Carliss Lamount- Humanism as Philosophy. p. 80
११८ S Radhakrishnan and P.T. Raju (Eds.), The Concept of man. p. 9

ज्ञान को प्राप्ति और उसकी अभिव्यक्ति कर सकता है तथा वही कर्म का कर्त्ता है।[119] धार्मिक और नैतिक भावनाओं को सूचित करने का माध्यम मनुष्य ही है। ऐतरेय उपनिषद् का वचन है "मनुष्य विश्व शक्ति की सुकृति है। मनुष्य का अर्थ है सुकृत या पुण्य।"[120]

मानव जन्म प्राप्त करके ही इस संसार के रहस्य का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और सिद्धि उपलब्ध हो सकती है। ब्रह्म का रहस्य मानव में ही निहित माना गया है क्योंकि नर ही नारायण के समीप है।[121] इस संसार में वही परम सत्ता का साकार रूप है। बाइबिल में इस तथ्य का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है।[122] कुरान में लिखा है कि मनुष्य पृथ्वी पर अल्लाह का प्रतिनिधि है।[123] तथा अल्लाह ने मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ आकार का बनाया है।[124]

मानव शरीर प्राप्त करने की महत्ता के सम्बन्ध में श्री गोपीनाथ कविराज लिखते हैं- "प्राचीन हिन्दूशास्त्र में, केवल हिन्दू शास्त्र में ही नहीं, अन्यान्य देशों के धर्मशास्त्रों में भी इतर प्राणियों की जीव देह की अपेक्षा मानव देह को अधिक उत्कृष्ट माना गया है। आचार्य शंकर ने मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व तथा महापुरुष संश्रय, इन तीनों का दुर्लभ पदार्थ के रूप में वर्णन किया है। कहने की आवश्यकता नहीं, कि इन तीनों में भी मनुष्यत्व ही प्रधान है, क्योंकि मनुष्य देह की प्राप्ति हुए बिना मुक्ति की इच्छा तथा महापुरुष या सद्गुरु का आश्रय प्राप्त करना सम्भव ही नहीं है। चौरासी लाख योनियों में स्थावर, जंगम सबका समावेश है। स्वेदज, उद्भिज और जरायुज इन त्रिविध प्राणियों में जरायुज श्रेष्ठ है तथा जरायुजों में मनुष्य श्रेष्ठ होता है।"[125]

मनुष्य जन्म की श्रेष्ठता के विषय में श्रीमद्भागवत में अनेक जन्मों के पश्चात् मनुष्य शरीर की प्राप्ति होती है।[126] इसी कथन को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मानव शरीर को बनाकर पर ब्रह्म भगवान् अपनी कृतकृत्यता अनुभव करते हैं। भगवान् ने अपनी शक्ति माया के द्वारा जड़ सृष्टि वृक्षादि तथा चेतन सृष्टि पशु, मृग आदि को बनाया किन्तु इससे सन्तुष्ट न होकर मनुष्य को बनाकर अपनी कार्यकुशलता से सन्तोष प्राप्त किया कि मुझे और मेरी सृष्टि को समझने वाला अब उत्पन्न हो गया है।[127] इसे बताते हुए विदेह राज निमि नौ योगियों से कहते हैं- "मनुष्य जन्म की प्राप्ति सहज नहीं है।"[128]

जैन दर्शन में भी मनुष्य जन्म के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। मानव जीवन शुभ का लक्षण है। क्योंकि उसका उदय शुभ की सिद्धि के लिए होता है। इस विषय में भगवान् महावीर कहते हैं कि जब अशुभ कर्मों का विनाश होता है तभी आत्मा शुद्ध, निर्मल और पवित्र बनती है और तभी प्राणी मनुष्य योनि को प्राप्त करता है।[129] उत्तराध्ययन सूत्र में एक स्थान पर गौतम गणधर को उपदेश देते हुए भगवान् महावीर मानव देह की महत्ता का वर्णन इस प्रकार करते हैं, "संसारी जीवों

---

११९. C. Kunhan Raja- Some Fundamental Problems in Indian Philosophy p. 321
१२०. ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति। पुरुषो वाव सुकृतम्। - ऐत. उ.- १/२/३
१२१. पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् - शतपथ ब्राह्मण- २/५/१/१
१२२. बाइबिल, जेनेसिस, १/२, ६/२७, ५/१, ९/६
१२३. कुरान- सूरा २ व ३५/३५
१२४. कुरान- सूरा ९५/४, ६४/३, ४०/९६
१२५. श्री गोपीनाथ कविराज- मनुष्यत्व, कल्याण, मानवता अंक, पृ. १४८
१२६. श्रीमद्भागवत् - १/९/२९
१२७. सृष्ट्वा विविधान्य जयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशुन खगदशमत्स्यान्।
तेस्तेरतुष्ट हृदयः पुरुष विधाय
ब्रह्मावलोक विषण मुदमाप देवः॥ - श्रीमद्भागवत् -१/९/२८
१२८. दुर्लभो मानुषो देहा- श्रीमद्भागवत् -१/२/२९
१२९. कम्माणं तु पहाणए आणुपुव्वी कयाइउ।
जीवा सौहिमणुप्पत्ता आययति मनुस्सयं॥ - उत्तराध्ययन सूत्र ३/७

को मनुष्य का जन्म चिरकाल तक इधर-उधर भटकने के पश्चात् बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है, वह सहज नहीं है। दुष्कर्म का फल बड़ा भयंकर होता है। अतएव हे गौतम! क्षण भर के लिए भी प्रमाद न कर।"[130]

मानव जीवन और देह प्राप्ति के सम्बन्ध में बौद्ध धर्म का मत भी वैदिक मान्यता तथा दर्शनों से भिन्न नहीं है। इन्होंने मानव को ही देव स्वरूप स्वीकार किया है और मानव शरीर को उत्तम माना है। इसके अनुसार मानव रूप प्राप्त होने पर ही सत्य ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है।[131]

मानव जीवन बड़ा श्रेष्ठ है। वह पशुता, मानवता और देवत्व का संयोग है।[132] इतना ही नहीं, मानव को निर्विवाद रूप से इस संसार की क्रियाओं का मूल और स्रोत माना गया है। कन्फ्यूशियस कहते हैं कि चाहे हम किसी भी दृष्टि से विचार करें, मानव इस विश्व का सूत्र है।[133] प्राय: सभी चिन्तक इस विषय में एक मत हैं कि समस्त सृष्टि की विकास प्रक्रिया में मानव ही सर्वश्रेष्ठ है और वही इस संसार में सब वस्तुओं पर राज्य करता है। इस प्रकार मनुष्य ईश्वर से तनिक ही नीचे है।[134] वास्तव में मानव में दिव्यता मिलती है।

मानव में ईश्वरीय गुण निरूपण की कामना से ही अवतारवाद की भावना प्रादुर्भूत होती है। जन साधारण श्रेष्ठ पुरुषों में श्रद्धातिरेक के कारण उन्हें ब्रह्म रूप मानकर उनके प्रति प्रबल आस्था और गहन विश्वास प्रकट करते हैं। पुराण और इतिहास में राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर जैसे अनेक महापुरुषों का चरित्र इसका प्रमाण है।[135] अवतारवाद ने मानव शरीर को प्राप्त करने के दुर्लभ अवसर की महत्ता का प्रतिपादन पौराणिक, ऐतिहासिक एवं दार्शनिक आधारों पर बड़े सबल रूप से किया है।

अवतारी महामानव ने अपने आचरण, लोक कल्याण की भावना तथा अधर्म और दुख से मुक्त[136] कराने की साधना द्वारा विश्व में मानव का चरित्र प्रस्तुत किया। निरपेक्ष भाव से समदृष्ट रखते हुए ये महामानव सत्कर्मों द्वारा समाज के लिए पूज्य बन जाते हैं। जिस प्रकार भगवान् निष्काम भावना से सृष्टि में प्राणिमात्र का कल्याण करते हैं, उसी प्रकार श्रेष्ठ जन विश्व में कल्याण और सद्भाव का प्रसार करते हैं।[137]

मानव को उत्तम कार्यों के लिए प्रेरित करना ही महामानव (अवतारों) का लक्ष्य होता है। धर्म संस्थापना तथा सद्ज्ञान-प्रचार के निमित्त भगवान् को मानव शरीर धारण करना पड़ता है। अवतारों की समस्त दैहिक क्रियाएँ सामान्य मनुष्य के समान ही होती है, किन्तु उसके पीछे एक दिव्य शक्ति कार्य करती है।[138] मानव गुणों की दिव्यता एवं श्रेष्ठता एक लोकप्रिय और श्रद्धेय व्यक्तित्व में मिलती है। इस प्रकार मानव के शरीर तथा उसके सांसारिक रूप का बड़ा महत्त्व है। नारायण का मानव रूप में अवतरित होना मनुष्य और ईश्वर के सामीप्य को सिद्ध करता है। मानव को इसी श्रेष्ठता और गौरव के कारण सांसारिक प्राणियों में प्रधानता और आदर प्रदान किया जाता रहा है। मानव का ईश्वर से ऐक्य ईश्वरीय सत्य को स्वीकार करना है।[139] अमरीकी समाजशास्त्री अर्नेस्ट कैजिरर का यह विचार अत्यन्त समीचीन प्रतीत होता है कि ईश्वर ने मानव को अपने ही प्रतिरूप में बनाया है, अतः वास्तव में यह उस स्रष्टा का समरूप ही

१३०. दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणे, संयम गोयम। मा पमायए॥ - उत्तराध्ययन सूत्र १०/४
१३१. S. Radha Krishnan and PT Raju (Eds) - The Concept of man, p 256
१३२. The Complete works of Swami Vivekanand, Vol. VI, p 123
१३३. Lui Wuchi - Confucious: His life and Time, p. 155
१३४ S E. Frost - Ideas of the Great Philosophers pp. 56-57
१३५. Aldous Huxley - The Perennial Philosophy, p. 34
१३६ S Radhakrishnan and P.T Raju (Eds) - The Concept of man, p 256
१३७ Aldous Huxley - The Perennial Philosophy, p 287
१३८ Letters of Aurobindo - Fourth series. p. 641
१३९. Aldous Huxlay - The Perennial Philosophy, p. 68

है।[140] आचार्य जी के शब्दों में- "मनुष्य निस्संदेह इस सृष्टि की सबसे बड़ी विभूति है।"[141] यह विधाता की रचना का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। अव्यवस्थित धरती को सुव्यवस्थित रूप देने का श्रेय उसे ही प्राप्त है। ज्ञान-विज्ञान, भाषा, लिपि, स्वर आदि की जो विशेषताएँ उसे प्राप्त हैं उनसे निस्संदेह उसकी महत्ता ही प्रतिपादित होती है। मनुष्य इस संसार में समग्र सम्पन्न प्राणी है।[142] उसमें विकास के समस्त स्तर, जड़, प्राण, मन, संवेदना अत्युत्तम रीति से सँजोये हैं। इतना ही नहीं वह अपने सचेतन प्रयास से आत्मा के शीर्ष स्तर पर पहुँच सकता है। "मानव में विकास की अनन्त सम्भावनाएँ हैं।"[143] इन्हें साकार कर पाना तभी सम्भव है जब मनुष्य अपने आपको ईश्वर का राजकुमार मानकर तदनुरूप अपने क्रिया कलापों का निर्धारण करे। हर प्रतिष्ठित कलाकार-मूर्तिकार अपनी कलाकृतियों में गरिमा का ध्यान रखता है। यदि वह भौंड़ी-भद्दी होती है, तो उसे कृति का ही तिरस्कार या उपहास नहीं होता वरन् उसके सृजेता-कलाकार का भी गौरव गिरता है। मनुष्य ईश्वर की सर्वोत्तम कृति है। इसे बनाने तराशने में उसने अपनी कलाकारिता को चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। शरीर के एक-एक कलपुर्जे की रचना और कार्य शैली पर विचार करते हैं तो विदित होता है कि सारे वैज्ञानिक एक साथ बैठ जाएँ तो भी किसी अकेले अवयव की सही प्रतिकृति नहीं बना सकते। मानवी बुद्धि को एक क्यारी में उगे पुष्पों की फसल कह सकते हैं। शारीरिक और बौद्धिक क्षमता के अतिरिक्त एक भावना क्षेत्र भी इस ईश्वरीय कृति की विशेषता है, जो मानवी अन्तःकरण में उत्कृष्टता के सार तत्त्व के रूप में विद्यमान है।[144] इसी की बदौलत वह "ईश्वर का श्रेष्ठ पुत्र युवराज है।"[145]

◆ नर से श्रेष्ठ नारी

मानव के दो रूप होते हैं नर और नारी। नर और नारी के युग्म में प्रकृतितः वरिष्ठता नारी की है। वही समस्त मनुष्य जाति को अपने उदर में से जन्म देती है। उसे अपना लाल रक्त सफेद दूध के रूप में परिणित करती और बिना किसी प्रकार का अहसान जताए परिपूर्ण स्नेह-वात्सल्य के साथ पिलाती है। छोटे से मांस पिण्ड को अपने समर्पण जल से सींचती और विकसित वृक्ष बनाकर मानव समाज की श्री समृद्धि बढ़ाती है। अपनी भावना और गतिविधियों की दृष्टि से नारी सचमुच ही देवी है। माता के रूप में सन्तान को वह जीवन प्रदान करती है। पिता के एक नगण्य से बिन्दु कण को आत्म सत्ता से सींच कर सुयोग्य नागरिक बना देना उसी का चमत्कार है। पिता को वह नारी के प्रति पवित्रता, मृदुलता, कोमलता और ममता उभारने के लिए गंगा जैसी निर्मलता का प्रतिनिधित्व करती हुई नन्हीं सी गुड़िया बनकर उसकी गोदी में खेलती है। भाई के लिए उसकी ममता, आत्मीयता, सरलता, सहृदयता देखते ही बनती है। भाई के लिए वह क्या सोचती है, उसे कितना चाहती है, किस दृष्टि से देखती है, इसका कोई सजीव चित्र बना सके तो प्रतीत होगा प्रेम की पवित्रता दुनिया में अन्यत्र ढूँढे भले ही न मिलती हो, पर बहिन के मन में भाई के लिए अभी भी विद्यमान है। पति के लिए वह स्वर्ग की अप्सरा से अधिक मनोरम, दाहिनी भुजा के तरह साथी, काया की तरह सहचरी और हृदय की धड़कन जैसी जीवनदात्री है।[146]

"नारी की तुलना में नर अधिक बलिष्ठ परिपुष्ट पाया जाता है। पर क्या यह प्रकृति की देन है ? क्या यह उसका अपना उपार्जन है ? गहराई से देखने पर पता चलेगा कि यह बलिष्ठता उसे माता के, पत्नी के, भगिनी के, पुत्री के अजस्र अनुदानों से ही सम्भव हुई है। परिपुष्ट वृक्षों की समृद्धि वस्तुतः पवन का, भूमि का, जल का, बीज का, अनुदान मात्र है। उन चारों सत्ताओं ने

१४०. Ernst Cassirer- An Essay on man, p 25
१४१. आचार्य श्रीराम शर्मा- जीवन की श्रेष्ठता और उसका सदुपयोग, अखण्ड ज्योति, वर्ष २४, अंक ३, पृ ४
१४२. आचार्य श्रीराम शर्मा- मनुष्य और उसकी महान् शक्ति, अखण्ड ज्योति, वर्ष २५, अंक ११, पृ. ४
१४३ आचार्य श्रीराम शर्मा- मनुष्य से महान् और कुछ भी नहीं, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४४, अंक ११, पृ ४४
१४४. वही, पृ. ४४
१४५ आचार्य श्रीराम शर्मा- बड़े भाग मानुष तन पावा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५४, अंक १२, पृ ३७
१४६. आचार्य श्रीराम शर्मा- नारी की वरिष्ठता स्वीकारें, महिला जागृति अभियान, वर्ष ४, अंक ८, पृ १

अपना स्नेहसिक्त सहयोग समर्पित न किया होता, तो वृक्ष का अस्तित्व भी प्रकाश में न आया होता, उसका विकास-विस्तार, वैभव तो पीछे की बात थी। नारी के सहयोग के अभाव में नर की बलिष्ठता तो दूर उसको सत्ता तक की भी संभावना नहीं होती।''[१४७] फिर ''नर में संघर्ष की बलिष्ठ क्षमता का बाहुल्य भले ही हो उसमें सृजन की सर्वतोमुखी प्रतिभा, क्षमता और प्रकृति प्रदत्त विशिष्टता वैसी नहीं जैसी नारी को उपलब्ध है। नारी सृजन की मूर्तिमान अधिष्ठात्री है। उसे धरित्री की उपमा दी जा सकती है। अपनी काया का सत्त्व निचोड़कर वह अभिनव मनुष्य प्राणियों को उत्पन्न करती है। धरती से वनस्पति-खनिज पैदा होते हैं, पर वह भी प्राणियों के उत्पादन में समर्थ नहीं। सृष्टि का मुकुटमणि समझा जाने वाला मनुष्य प्राणी जिस जननी की कोख से उत्पन्न होता है, उसे पृथ्वी से भी महान् माना जाएगा।''[१४८] वह ''अपने शरीर का एक अंश सृष्टि संचालन के लिए निरन्तर समर्पित करती रहती है, उसके इस त्याग-बलिदान ने ही सृष्टि क्रम को जीवन रखा है। दानी अपेक्षाकृत निर्धन ही रहता है। ऋषि और सन्त लेते कम, देते ज्यादा थे। इसीलिए उनके शरीर दुर्बल रहते थे। तपस्वियों की काया नहीं आत्मा बलिष्ठ होती है। नारी की गणना इसी वर्ग में आती है।''[१४९]

उसके जीवन में पाना कम और देना अधिक है। श्रम से लेकर भाव अनुदानों तक उसी का ऋण नर के ऊपर लदा रहता है। स्वभावतया नारी में दया, करूणा, ममता, सेवा, सद्भावना, उदारता, क्षमा जैसी देववृत्तियों का बाहुल्य रहता है। यह देव वृत्ति उसे जन्मजात रूप से ईश्वर प्रदत्त उपहार के रूप में मिली है। अस्तु देवी शब्द का सम्बोधन हर दृष्टि से उचित ही है।[१५०] मूर्तिकार तो वे अद्वितीय हैं। पत्थर की नहीं वे प्राणवान प्रतिमाएँ अपने शरीर की प्रयोगशाला में बनाकर प्रस्तुत करती हैं। उनके समान मूर्तिकार, कलाकार, चित्रकार कौन हो सकता है? उनके अधिक आकर्षक, सुन्दर, कलात्मक कोमल कलाकृति इस संसार में दूसरी नहीं है। परमेश्वर ने अपना सारा दृश्यमान और चेतनात्मक सौन्दर्य उसी में उड़ेल दिया है।[१५१] वह ''इस सृष्टि का सौन्दर्य है। उसे जीवन्त कलाकृति के रूप में देखा जा सकता है। स्नेह उसकी प्रवृत्ति है और अनुदान उसका स्वभाव। उसमें जीवन संचार के सभी तत्त्वों को स्रष्टा ने कूट-कूट कर भरा है और सृजन की अनगढ़ कुरूपता को सुगढ़ता के रूप में परिणित कर सकने की क्षमता से नारी को संजोया है।''[१५२]

चेतन जगत् में संव्याप्त उत्कृष्टता की यदि दृश्यमान प्रतिमा ढूँढनी हो तो उसे स्रष्टा की सर्वोपरि कलाकृति नारी के रूप में देखा जा सकता है। उसकी समूची सत्ता में वे तत्त्व समाए हुए हैं, जिनका नीतिशास्त्री उत्कृष्टता और दर्शनशास्त्री दिव्यता के नाम से भाव भरा निरूपण करते-करते थकते नहीं। नारी का काय कलेवर सुन्दरता से, सरसता से, चिन्तन, सहयोग, श्रम और सृजन से, अन्तःकरण करूणा, सेवा और समर्पण से निरन्तर अनुप्राणित होते देखा जा सकता है। वह अपने आप में पूर्ण है। अपनी इस पूर्णता से वह स्वजन-सम्बन्धियों की अभाव- ग्रस्तता और आवश्यकता पूर्ण करती है।

देवी का निवास उच्च लोकों में भी हो सकता है, पर उसका प्रत्यक्ष दर्शन करना हो तो नारी के कलेवर में विद्यमान उस दिव्य चेतना की झाँकी की जा सकती है। जिसमें आदि से अन्त तक देवत्व की गरिमा भरी पड़ी है। मातृशक्ति में कला और क्षमता का कैसा अद्भुत समन्वय है, उसे देखकर स्रष्टा और उसकी अद्भुत सृष्टि के सामने सहज ही मस्तक झुक जाता है।[१५३] नारी धरती है- नर उससे उत्पन्न होने वाले पौधे। नर बढ़ता है, कितनी उसकी जड़ें सींचने में नारी का सरस समर्पण

---

१४७ आचार्य श्रीराम शर्मा- नारी को अभिनन्दनीय वरिष्ठता, महिला जागृति अभियान, वर्ष १, अंक १, पृ ३
१४८ आचार्य श्रीराम शर्मा- नारी इस धरती का श्रेष्ठतम सारतत्त्व, महिला जागृति अभियान, वर्ष ५ , अंक २, पृ. १
१४९ आचार्य श्रीराम शर्मा- नारी की वरिष्ठता नकारी न जाय, महिला जागृति अभियान, वर्ष ४, अंक ९, पृ. ५
१५०. आचार्य श्रीराम शर्मा- नारी की अभिनन्दनीय वरिष्ठता, महिला जागृति अभियान, वर्ष १, अंक १, पृ. ४
१५१. आचार्य श्रीराम शर्मा- यह बेड़ियाँ कटनी ही चाहिए, महिला जागृति अभियान, वर्ष १, अक १, पृ. १०
१५२. आचार्य श्रीराम शर्मा- नारी स्रष्टा की जीवन्त कलाकृति, महिला जागृति अभियान, वर्ष २, अक ५, पृ. १
१५३. आचार्य श्रीराम शर्मा- कला और करूणा की जीवन्त प्रतिमा नारी, महिला जागृति अभियान, वर्ष ४, अक १०, पृ. १

ही आदि से अन्त तक भरा रहता है।[१५४] तथ्य को अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य जी कहते हैं कि "मनुष्य को एक अणु कहा जा सकता है। नर उसका कलेवर और नारी उसकी नाभिक है। उत्पादन की समग्र क्षमता उसी में है। परिपोषण, संरक्षण और अभिवर्धन भी उसी के माध्यम से होता है।"[१५५] सच तो यह है कि "वृक्ष की जड़ के समान समाज की जड़ नारी है।"[१५६]

इतनी तमाम विशिष्टताओं, भाव संवेदनाओं के व्यापक विस्तार के कारण यह कहा जा सकता है "स्त्री शान्ति स्वरूपा और पूजनीया है, वह देवी है, ज्योति है। प्राणिमात्र के दुःख-दर्द को समझने, स्वार्थ को परमार्थ में ढालने की विराट् चिन्तन प्रवृत्ति पुरुष को नारी ने ही दी है।"[१५७] तभी तो वह "परब्रह्म की मूर्तिमान सत्ता है। वह समस्त सृजनात्मक संभावनाएँ अपने साथ लेकर जन्मती है। विभिन्न अनुदान देकर सम्बद्ध व्यक्तियों को, समस्त समाज को सर्वतोमुखी प्रगति की दिशा में अग्रसर करती है। कहते हैं कल्पवृक्ष पर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के चार फल लगते हैं। नारी प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष है।"[१५८]

यही नहीं "नारी ब्रह्म विद्या है, श्रद्धा है, शक्ति है, पवित्रता है, कला है और वह सब कुछ है जो इस संसार में सर्वश्रेष्ठ के रूप में गोचर होता है। नारी कामधेनु है, अन्नपूर्णा है, ऋद्धि है, सिद्धि है और वह सब कुछ है जो मानव प्राणी के समस्त अभावों, कष्टों और संकटों के निवारण में समर्थ है। यदि उसे श्रद्धासिक्त सद्भावना से सींचा जाय तो यह सोम लता विश्व के कण-कण को स्वर्गीय परिस्थितियों से ओत-प्रोत कर सकती है।[१५९] तभी तो प्राचीन शास्त्रों ने नारी को त्रैलोक्य जननी कहा है।[१६०]

और आगे चलकर फिर कहा-नारी की इस विशिष्टता का आधार[१६१] विकास क्रम में संवेदनाओं का उत्कर्ष है। इसी वजह से वह अब तक के क्रम विकास में सर्वश्रेष्ठता पा सकी है। यही वह कारण है जिसकी वजह से किसी भी समाज का सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक स्तर नारियों की स्थिति से निर्धारित होता है।[१६२]

जीवन का लक्ष्य- प्रकृति में उसका प्रयोजन

मानव, जिसका इतना महत्त्व है, जिसे सृष्टि का मूल केन्द्र माना गया है, क्या है उसका लक्ष्य? सवाल छोटा सा है पर जवाब ढूँढे नहीं मिलता। यूं कहने को हम बहुत बुद्धिमान हैं। अब तक न जाने कितने क्यूं? क्या? कैसे? किसलिए? की पहेलियाँ सुलझा चुके। धरती-आकाश का चप्पा-चप्पा छान डाला और प्रकृति के रहस्यों को प्रत्यक्ष करके सामने रख दिया। इस

---

१५४. आचार्य श्रीराम शर्मा- नारी की गरिमा नमन करने योग्य, महिला जागृति अभियान, वर्ष ४, अंक ९, पृ. २९
१५५ वही, पृ. २
१५६. आचार्य श्रीराम शर्मा- नारी समाज रूपी वृक्ष की जड़, महिला जागृति अभियान, वर्ष ४, अंक ६, पृ. २६
१५७. आचार्य श्रीराम शर्मा- मानवी मूर्छा को मानवी सुधारेगी, महिला जागृति अभियान, वर्ष २, अक ५, पृ. ९
१५८ आचार्य श्रीराम शर्मा- मूर्तिमान शक्ति सत्ता का अनन्त अभिवन्दन, महिला जागृति अभियान, वर्ष १, अक २, पृ. १
१५९. आचार्य श्रीराम शर्मा- नारी की अभिनन्दनीय वरिष्ठता, महिला जागृति अभियान, वर्ष १, अंक १, पृ ४
१६०. नारी त्रैलोक्य जननी, नारी त्रैलोक्य रूपिणी।
नारी त्रिभुवनाधारा, नारी देह स्वरूपिणी ॥ शक्ति संगम तंत्र, ताराखण्ड-१३/४४
१६१. न च नारी समं सौख्यं न च नारी समागति.,
न च नारी सदृशं भाग्यं न च भूत न भविष्यति।
न च नारी सदृशं राज्य न नारी सदृशं तपः,
न नारी सदृशं तीर्थं न भूत न भविष्यति।
न नारी सदृशो योगो न नारी सदृशो जपः,
न नारी सदृशो योगो न भूतो न भविष्यति।
न नारी सदृशो मन्त्र. न नारी सदृश तप.,
न नारी सदृश वित्तं, न भूतो न भविष्यति। वही, १३/४६-४८
१६२ आचार्य श्रीराम शर्मा- मानवी मूर्छा को मानवी सुधारेगी, महिला जागृति अभियान, वर्ष २, अंक ५, पृ ९

बौद्धिक कुशलता की खूब प्रशंसा भी हुई। लेकिन इस छोटे से सवाल का समाधान न हो पाने के कारण सारी बौद्धिक करामातें धरी की धरी रह गईं।[१६३] लक्ष्य के अभाव में "जाना पूर्व को है, चल पड़े पश्चिम को। उस पश्चिम दिशा में कितनी ही कुशलता क्यों न दिखाई जाय, कितना ही पुरुषार्थ क्यों न किया जाय, उससे सुख-शान्ति एवं प्रगति का लक्ष्य प्राप्ति में तनिक भी सहयोग नहीं मिल सकता।"[१६४]

"जीवन लक्ष्य का निर्धारण अनिवार्य प्रयोजन है। जिसे पूरे सोच-विचार के बाद, प्रतिक्रिया एवं परिणाम समझने के बाद निश्चित किया जाना चाहिए। क्रियाकलापों का आरम्भ विवेक पूर्ण निर्धारण के बाद करना चाहिए।"[१६५] "जीवन जिसे सौंपा गया है, वह असाधारण गरिमा सम्पन्न जीवात्मा है। उसे वरिष्ठता और विशिष्टता इसलिए दी गई है कि वह अपनी त्रुटियों का निष्कासन करते हुए पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचे।"[१६६] आचार्य जी के शब्दों में इसी पूर्णता के लक्ष्य का नाम है "मनुष्य में देवत्व का उदय।"[१६७] स्वयं के इस रहस्य को पाए बगैर वह स्वयं अपने लिए एक रहस्य सूत्र, एक प्रश्नचिह्न बन कर रह जाता है।[१६८] वह निरन्तर इसी की खोज में रहता है, अपने अस्तित्व में निहित इस सत्य के सम्बन्ध में उत्सुक होकर अपना और अपने परिवेश का परीक्षण करता है।[१६९] इसीलिए समस्त ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, इतिहास, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र, धर्म, नीतिशास्त्र के चिन्तन, मनन का केन्द्र बिन्दु मनुष्य ही रहा है।

आत्म प्रगति से दीप्त जीवन ही चेतना का लक्ष्य है। यह जीवन चेतना का प्रमाण और प्रतीक है। तथा सत्य एवं सौन्दर्य का स्वरूप है। मानवात्मा की अभिलाषा, प्रेम, इच्छा, आतुरता, चिन्तन, अन्वेषण और सृजन उसमें सर्वोच्च ज्ञान की स्थिति के सूचक हैं। मनुष्य का कल्याण, श्रेष्ठ जीवन में है। यदि वह मानवता और सभ्यता को चेतना के उच्चतम शिखर पर पहुँचाना चाहता है तो उसे चेतना के मूल्यों को जीवन के क्षितिज पर प्रस्फुटित करना होगा, जिसके निर्माणकारी तत्त्व संसार में बिखरे पड़े हैं और जिसकी नींव शाश्वत है।[१७०]

इस लक्ष्य को प्राप्त करने की शक्ति भी मानव में ही प्राकृतिक रूप से निहित है। मानव की रचना दो पक्षों को लेकर हुई है। सभी चिन्तन धाराएँ इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि एक स्थूल शरीर है जो मानव के बाह्य विधान का प्रतीक है, दूसरा प्राणतत्त्व है जो उसकी चेतना का द्योतक है।[१७१] पाश्चात्य दार्शनिक सार्त्र के मत में भी मनुष्य आत्माभिव्यक्ति में समर्थ और स्वतन्त्र है, प्रत्येक स्थिति में आत्म ज्ञान और स्वचिन्तन के अतिरिक्त उसका और कोई लक्ष्य नहीं है।[१७२] मनुष्य की गरिमा क्या है जो उसे अन्य प्राणियों से अलग करती है? वह यह है कि वह मुक्ति प्राप्ति की क्षमता रखता है। राल्फ बार्टन पेरी अपने इस कथन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मानव ज्ञान एवं आत्म दर्शन द्वारा मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ यही उसकी तीव्र इच्छा है।[१७३] आचार्य जी इस तत्त्व को अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं "भव-बन्धनों

---

१६३. आचार्य श्रीराम शर्मा- काश! मैं स्वयं को समझ पाता, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५८, अंक ७, पृ ३३
१६४. आचार्य श्रीराम शर्मा- नर पशु नहीं नर नारायण बनें, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अंक ५, पृ. ७
१६५. वही, पृ. ७
१६६. आचार्य श्रीराम शर्मा- अहमिन्द्रो न पराजिग्ये, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४१, अंक ७, पृ. २४
१६७ आचार्य श्रीराम शर्मा- अपना परिवार और भावी संगठन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३१, अंक ८, पृ. ६१
१६८. C. Kunhan Raju- Some Fundamental Problems in Indian Philosophy, p. 321
१६९. Marcus Aurelius- To Himsalf, p 20
१७०. शान्ति जोशी- राधाकृष्णन का विश्व दर्शन, पृ. ६३
१७१. C. Kunhan Raju- Some Fundamental Problems in Indian Philosophy, p. 321
१७२. Jean Paul Sartre- Existentualism, p. 53
१७३. What is in man that was considerd admirable that man's peculiar dignity, which makes him worthy of such distinction, lies in his capacity for freedom.......... It is here defined as man's exercise enlightened choice.
- Ralph Barton Perry, Humanity of Man, p. 6

के प्रसंग में दो प्रत्यक्ष है और एक परोक्ष। प्रत्यक्ष में लोभ और मोह की गणना करायी जा चुकी है। तीसरा छद्म दुरात्मा है- अहंकार।''[१७४] इससे छूटना ही मुक्ति है और यह तभी सम्भव है जब आत्मज्ञान हो। इसी कारण ''शास्त्रकारों ने अध्यात्म विज्ञान का सबसे महत्त्वपूर्ण आधार यह बताया है कि अपने को जानो, अपने को समझो।''[१७५] इसी भावना द्वारा ही मानव अपने जीवन के लक्ष्य को पूरा करता है तथा अपने गौरव की स्थापना करता है। वह आत्म-विश्लेषण एवं जीवन के प्रति विवेचनात्मक व्यवहार द्वारा मानव मूल्यों की खोज करता हुआ जीवन में उनकी स्थापना करता है।[१७६] यही मानव जीवन की लक्ष्य सिद्धि है। जब वह जीवन के यथार्थ मूल्यों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तथा जीवन के विभिन्न पक्षों के अन्तरंग में प्रवेश कर जाता है, तब आत्मज्ञान के प्रकाश में जीवन के रहस्यों से परिचित हो जाता है।

मानव अपना ज्ञाता, व्याख्याता और निर्णायक स्वयं ही है। वही अपने गुण, दोष, सत्-असत् , उचित-अनुचित का निर्णय करता है तथा अपने ज्ञान का साधन भी स्वयं ही है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्रोटोगोरस का यह कथन कितना संगत और विचारणीय है कि मनुष्य समस्त वस्तुओं का मापदण्ड है।[१७७] इस रहस्यमय विश्व की समस्त विभूतियों का मूल्यांकन मानव को मापदण्ड मानकर किया जाता है। रहस्य ही रहस्य को सुलझाने में सहायक एवं समर्थ है। चीन के प्रसिद्ध चिन्तक कन्फ्यूशियस का मत भी इसी प्रकार है। वे मानव का मापदण्ड मानव को ही बताते हैं।[१७८] इस बात से कि वधि का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मनुष्य ही है और सृष्टि का गौरव भी वही है।

यूनान के सोफिस्ट दार्शनिकों ने मानव को सृष्टि का केन्द्र एवं मापदण्ड मानकर मानव तथा प्रकृति के सम्बन्धों पर विचार किया। इनके विचार से मानव सृष्टि तथा अपने नियमों से बँधा नहीं है। वह स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है।[१७९] प्रसिद्ध यूनानी चिन्तक सुकरात ने मानव को सृष्टि का केन्द्र, आधार और चिन्तनीय प्राणी माना और कहा कि मानव सत्य ही सब वस्तुओं का मापदण्ड है, क्योंकि उसमें वे सार्वभौमिक सिद्धान्त, विचार, प्रत्यय और धारणाएँ उपलब्ध होती हैं, जो सत्य के निकट हैं और वही इस सृष्टि के रहस्य को समझने में समर्थ हैं।[१८०] सोफिस्ट दार्शनिकों ने मानव को सामाजिक परिवेश में देखा, जबकि प्लेटो, अरस्तू ने इसके साथ ही सृष्टि में व्यक्ति रूप में भी उसका अध्ययन किया।[१८१] इतना होने पर भी सुकरात की इस बात की अपेक्षा कोई नहीं कर सका कि आत्मज्ञान हीन मानव जीवन व्यर्थ है।[१८२] उस जीवन का कोई लाभ नहीं, क्योंकि वह जीवन मूल्यहीन है, सामर्थ्यहीन है।

मानव गौरव के वर्णन और उसके जीवन लक्ष्य के सम्बन्ध में मध्ययुगीन प्रसिद्ध इतालवी कवि और विचारक पिको-देला-मिरांदोला ने अपने ग्रन्थ 'मानव गरिमा प्रवचन' में अत्यन्त भव्य शब्दों में अपना यह मन्तव्य प्रस्तुत किया है। सृष्टि के अन्त में ईश्वर ने संसार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके (संसार) सौन्दर्य से प्रेम करने के लिए और प्रशंसा के निमित्त मानव की रचना की। उसने इस प्राणी (मानव) को सब प्रकार की स्वतन्त्रता प्रदान की जिससे वह सृष्टि का आनन्द भोग

---

१७४. आचार्य श्रीराम शर्मा- भव बन्धनों से मुक्ति, पृ. ३१
१७५. आचार्य श्रीराम शर्मा- आत्म साक्षात्कार-आत्मबोध, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४९, अंक ६, पृ १८
१७६ Mercus Aurelius- To Himself, p 21
१७७. "Man is the measure of all thing"
Corliss Lamount- Humanism as a Philosophy, p. 41
१७८. " The Measure of man is man"
Lin Yu Tang- The Wisdom of Confucius, p. 157
१७९ S.E. Frost- Ideas of Great Philosophers p 58
१८०. वही, पृ. ५९
१८१. वही, पृ ६०
१८२. Marus Aurelius- To Himself, p. 2

सके। ईश्वर ने आदम से कहा कि मैंने तुम्हें न तो स्वर्ग, न मृत्युलोक का प्राणी बनाया है और न नश्वर अथवा अमर बनाया है। तुम केवल इसलिए स्वतन्त्र हो कि आचार-विचार से संयमित होकर आत्मज्ञान द्वारा अपना उत्तरदायित्व वहन करो। इस प्रकार अपने कर्मों द्वारा तुम चाहो तो पशु और चाहो तो देवता बन सकते हो। तुम अपनी इच्छानुसार अपना निर्माण तथा विकास करो, तुम सृष्टि सृजन गुण से युक्त हो।

मानव प्रकृति से जिज्ञासु है। उसकी इच्छा, क्रिया और अनुभूति उसकी ज्ञान राशि में निरन्तर वृद्धि करती रहती है। उसमें अपनी शक्तियों की अनुभूति एवं उसके ज्ञान के लिए अपरिमित सामर्थ्य होती है।[१८३] वास्तव में इस संसार का क्षेत्र इतना ही है, जितना मानव ज्ञान है। मानव ज्ञान से बाहर कुछ नहीं है। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यही है कि संसार का ज्ञान मानव के सम्बन्ध में जाने बिना व्यर्थ है। संसार का सब कुछ जानकर भी वह स्वयं के ज्ञान के बिना अपने को सर्वथा अपूर्ण पाता है। इसलिए मानव का स्वयं को जानना अत्यावश्यक है।[१८४] मानव आत्म ज्ञान की उपलब्धि होने पर ही संसार के विभिन्न पक्षों के सम्बन्ध में जान सकता है और क्योंकि इससे श्रेष्ठ प्राणी और कोई नहीं है, इसलिए अपने गुण, दोष, प्रतिभा, शक्ति आदि को जानना उसका ही उत्तरदायित्व है। पाश्चात्य अंग्रेज कवि पोप ने मानव की व्याख्या तथा उसके गुणों का वर्णन करते हुए कहा है कि मनुष्य ही मनुष्य का ज्ञाता और व्याख्याता है।[१८५] फ्रांसीसी दार्शनिक ज्यां पाल सार्त्र का मत भी यही है[१८६] कि मानव का अस्तित्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, उससे पूर्व और पश्चात् अन्य कुछ भी नहीं है। इसलिए वह स्वयं ही अपना व्याख्याता और विवेचक है। तथा वही आदर्श व स्वरूप का निर्धारण करता है।

मानव व्यक्तित्व के विकास के दो पक्ष होते हैं, [illegible] तथा बोध दिशाओं में प्रसारित होना जिन्हें मानव चेतना ने संचित कर रखा है। दूसरे यह प्रगति अपने को, उस बढ़ते हुए विवेक में प्रकट करती है, जिसके द्वारा हम सांस्कृतिक अनुभव के उच्चतर तथा निम्नतर मूल्यों में भेद करना सीखते हैं और क्रमशः निम्नतर रूपों से विरत होकर, उच्चतर रूपों की ओर अग्रसर होते हैं।[१८८] मानव के जीवन का एकमात्र लक्ष्य यही है कि वह निम्नतर से उच्चतर की ओर बढ़ता जाय। इस साधना द्वारा वह अपने व्यक्तित्व में गुण सम्वर्धन कर लेता है और मानव जीवन के शाश्वत-मूल्यों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। यही [illegible] सुख-दुख के भोग के लिए इस प्रवृत्ति की आवश्यकता भी है। किन्तु सब भोगों को अनुभव करता हुआ भी वह जीवन के चरम लक्ष्य की खोज में व्यग्र रहता है।[१८९] मानव का प्रारम्भ से एकमात्र लक्ष्य रहता है, सुख प्राप्ति और दुःख निवृत्ति।

दुःख से मुक्ति प्राप्त करने का साधन क्या है? ऋषियों का कथन है कि वह आत्म ज्ञान है, स्वयं में देवत्व के रहस्य का बोध है। ज्ञानी लोग कहते हैं- "आत्मा को देखें। आत्मा को देखने का उपाय है, श्रवण, मनन, निदिध्यासन। वास्तव में आत्मा ही देखने का विषय है।"[१९०] यही परमानन्द का साधन है। आत्मज्ञान

१८३. S RadhaKrishnan and P.T Raju (Eds)- The Consept of Man, p. 92
१८४ C. Kunhan Raja- Some Fundamental Problems in Indian Philosophy, p 279
१८५. Know then thyself, Presume not God to scan, The Proper study of mankind is man
A Pope- An Essay on Man, Epistle II, p. 53
१८६ Jean Paul Sartre- Existentialism, p. 18
१८७. डॉ. देवराज- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ ३४
१८८. R N Tagore- Sadhana, p. 33-34
१८९. उमेश मिश्र- भारतीय दर्शन, पृ. ४
१९०. बृहदारण्यक उपनिषद्- ४-५

के लिए मानव को तत्त्वज्ञानियों से तथा श्रुतियों से सभी बातें जाननी चाहिए। इस ज्ञान प्राप्ति के लिए मनुष्य में श्रद्धा और अभय ज्योति होनी चाहिए।[191] उस अभय ज्योति को परमात्मा अथवा पुरुष की संज्ञा प्रदान की गई है। अभय ज्योति और आत्मज्ञान के लिए अभेद बुद्धि आवश्यक है।[192] मानव में यही अंश (आत्मा) सर्वश्रेष्ठ है। अत: ऋग्वेद में उसे तेजस्वी करने की प्रार्थना की गई है।[193] क्योंकि आत्मज्ञानी पुरुष भय से मुक्त हो जाता है।[194]

ज्ञानोपलब्धि का फल आत्म सुख है। इसीलिए आत्मा का ज्ञान कराना, चाहे वह ब्रह्म से भिन्न हो या अभिन्न, प्रत्येक दर्शन का लक्ष्य है, मानव जीवन का चरम लक्ष्य आत्मा का साक्षात्मकार, आत्मा का साक्षात् अनुभव है। वेद और उपनिषदों में आत्मा और उसके ज्ञान का विशद विवेचन मिलता है। यमराज के पास जाकर नचिकेता ने आत्मज्ञान ही मांगा था, क्योंकि वही मांगने योग्य है।[195] कठोपनिषद् में इसीलिए कहा गया है कि मनुष्यों! उठो, जागो, सावधान हो जाओ और श्रेष्ठ महापुरुष के पास जाकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करो।[196] सभी ऋषियों, महात्माओं, सन्तों, भक्तों और लोक-कल्याण करने वाले पुरुषों ने आत्मज्ञान-ब्रह्मज्ञान को श्रेष्ठ माना है। इसका कारण यह है कि ज्ञानी पुरुष अपने अन्दर रहने वाले परमात्मा को देखकर परम सुख की प्राप्ति करते हैं।[197] यम ने आत्मा को रथी बताकर उसकी सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की है।[198] बाह्य विषयों से प्रारम्भ कर श्रेष्ठता क्रम से विचार करने पर आत्मा सबसे श्रेष्ठ ठहरती है। आत्मा का रूप व्यापक है। वह जगत् के सभी पदार्थों में व्याप्त रहता है। समस्त वस्तुओं को अपने स्वरूप में ग्रहण कर लेता है। स्थिति-काल में वह विषयों को अनुभव करता है। तथा उसकी सत्ता निरन्तर रहती है। इन्हीं कारणों से आत्मा 'आत्मत्व' है।[199] आत्मा स्व चैतन्य तथा शुद्ध चैतन्य रूप है। अत: मनुष्य ही स्वयं इसका ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसी में उसकी पूर्णता है। इस "पूर्णता को प्राप्त करना ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।"[200]

❖ प्रकृति में प्रयोजन

मानव का लक्ष्य की ओर बढ़ना ही विकास की भवितव्यता है। इस तरह एक उच्चतर और आध्यात्मिक सृष्टि के रूप में समस्त सत् के जड़ जगत् में स्वयं अभिव्यक्त हो जाने तक सत्ता की उच्चतर शक्तियों की अभिव्यक्ति 'प्रकृति में प्रयोजन' के रूप में मानी जा सकती है। इस विकास की प्रक्रिया दोहरी है। यथा दृश्य और अदृश्य, भौतिक और आध्यात्मिक, सार्वभौमिक एवं वैयक्तिक। यद्यपि आचार्य जी ने सृष्टि को सृजेता की लीला माना है। लेकिन यह लीला निरर्थक-निष्प्रयोजन नहीं है। आनन्द में आन्तरिक सत्य की अवहेलना नहीं है। निराशावादी चिन्तक कुछ भी क्यों न कहें, विकास निश्चित रूप से सत्ता और मूल्यों के सभी क्षेत्रों अधिकाधिक गहनता, नमनीयता, गहराई और विस्तार की ओर बढ़ा है। अवनतियाँ भी वर्तुलाकार विकास की अधोमुखी गतियाँ हैं। मानव जाति में आध्यात्मिकता का जोर मानव के आध्यात्मिक भविष्य का सूचक है। आचार्य जी यह नहीं कहते कि विकास एक साथ और सार्वभौम होगा। जब मानव मन अपने विकास की एक विशेष अवस्था में पहुँच जाएगा तो दिव्य स्तर की ओर क्रमश:

---

१९१. ऋग्वेद- २/२७/११-१४
१९२. वही, १/७
१९३. अजो भागस्तपसा तं तपस्व। ऋग्वेद- १०/१६/४
१९४. तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्। अथर्ववेद- १०/८/४४
१९५. कठोपनिषद्- १/१/२९
१९६. उत्तिष्ठ, जाग्रत् प्राप्यवरान्निबोधत। कठोपनिषद्- १/३/१४
१९७. कठोपनिषद्- २/२/१३
१९८. कठोपनिषद्- १/३/३
१९९. बल्देव उपाध्याय- भारतीय दर्शन, पृ. ७२
२००. आचार्य श्रीराम शर्मा- पूर्णता की ओर अग्रसर हम सब, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ४, पृ ३५

विकसित होने की सम्भावना है। मानव की भौतिक, प्राणात्मक एवं मानसिक, सभी सत्ता का रूपान्तर होना चाहिए। परन्तु सबसे बड़ा परिवर्तन चेतना का परिवर्तन है। मानव मे विकास सचेतन हो गया है। शरीर के परिवर्तन द्वारा नहीं जैसा कि प्रारम्भिक अवस्थाओं में था, बल्कि चेतना के उत्थान से ही मानव में विकास आगे बढ़ेगा। लेकिन विकास सदैव आध्यात्मिक है। सिर्फ शुरूआत की अवस्थाओं में ही उसकी आध्यात्मिक प्रकृति निश्चेतन के कारण छिपी रहती है। मानव को अपने आध्यात्मिक एवं भौतिक विकास तथा रूपान्तर में सचेतन रूप से प्रकृति की सहायता करनी चाहिए। प्रत्येक जीवात्मा में निम्नतर से उच्चतर की ओर उठने की एक प्रवृत्ति है। लेकिन निम्न को अपने में समा लेने और उसे दिव्य बनाने की प्रवृत्ति भी उतनी ही मौलिक है। यहाँ तक कि यदि मानव उस स्तर तक नहीं उठ सकता तो उसे दूसरे प्राणियों के लिए स्थान छोड़ना पड़ेगा। लेकिन यदि वह उठ सकता है तो कोई कारण नहीं है कि वह क्यों न उठे। प्रकृति में तत्त्व बाह्य कारण से उपस्थित रहता है और केवल उपयुक्त समय पर ही अभिव्यक्त होता है। आत्मा अन्तिम विकासवादी उत्क्रान्ति है, क्योंकि वह विवर्तित तत्त्व है। ''मनुष्य जीवन की सार्थकता देवत्व की ओर बढ़ने में है। नर से नारायण, पुरुष से पुरुषोत्तम, तुच्छ से महान्, आत्मा से परमात्मा बनने में है।''[२०१] लेकिन यह तभी हो सकता है जबकि उसकी गति मानस से आत्मा की ओर हो।

मानस से आत्मा की ओर

मन को उत्पन्न हुए लाखों साल हो गए और इस बीच मन का विकास भी बहुत दूर तक हुआ है। किन्तु विकास की प्रक्रिया में मन ने मनुष्य के लिए भयानक समस्याएँ भी खड़ी कर दी है। पिछले दो सौ सालों से तो मनुष्य बुद्धिवाद को अपना सर्वस्व मान लिया है, लेकिन बुद्धि मनुष्य के आगे जो समस्याएँ खड़ी कर दी है, उन्हें सुलझाने में बुद्धि असमर्थ है। आचार्य जी के शब्दों में- ''बुद्धि की सामर्थ्य की एक सीमा है। बुद्धि से हम चित्र की लम्बाई-चौड़ाई नाप सकते हैं, उसमें लगे रंगों का विश्लेषण कर सकते हैं। यहीं उसकी सीमा समाप्त हो जाती है, चित्र में जो सौन्दर्य है, जो भाव अभिव्यञ्जना है, उसका लेखा-जोखा प्रस्तुत कर सकने का कोई मापदण्ड इसके पास नहीं है। ऐसी दशा में चित्रों का मूल्यांकन-क्या उसमें प्रयुक्त हुए पदार्थों को नाप-तौल कर करना ही ठीक रहेगा?''[२०२] इसीलिए तो आचार्य जी कहते हैं जो बुद्धि पहले सहायिका थी, वही अब मुख्य बाधा हो गयी। यहाँ पहले सहायिका कहने का तात्पर्य यह है, बुद्धि के कारण मानव ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अनेकों चमत्कार उत्पन्न किए हैं। लेकिन इन सबके व्यामोह में फँसकर विकास की आगामी यात्रा को भुला देना सर्वथा अनुचित ही कहा जाएगा।

समस्या का निदान समझे जाने वाले राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन, युद्ध और शान्ति के लिए किए जाने वाले सारे प्रयास, सरकारें तोड़ना और सरकारें बनाना, नाना प्रकार के वैचारिक आन्दोलन और अगणित मतवाद, ये सब के सब पैबन्दबाजी के काम हैं, जो समस्या को टालने के लिए किए जाते हैं। ये सारे बुद्धि के काम हैं, जिन्हें बुद्धि ही विफल कर देती है। मनुष्य बुद्धि के धरातल पर बहुत दिनों से ठहरा हुआ है। बुद्धि का प्रयोग करके उसने तरह-तरह के सुख भोगे हैं। किन्तु इसी बुद्धि की आग अब उसे जला रही है। बुद्धि के धरातल पर रूक कर अब वह अपनी समस्याओं का समाधान नहीं पा सकता।

आचार्य जी के अनुसार आवश्यक यह है वह मन के धरातल पर आगे बढ़ने की कोशिश करे और आत्मा के विकास तक पहुँच जाय। उसका समाधान यहीं पर सम्भव है। क्योंकि वर्तमान समय के विभिन्न सामाजिक तथा राष्ट्रीय संघर्ष, दुःख अन्याय, अत्याचार, विनाश इन सबसे मुक्ति पाने का निश्चित इलाज आत्मा के विकास को प्राप्त करने में है। मनुष्य में देवत्व को पाए बगैर अन्य सब उपाय तात्कालिक एवं आंशिक फलदायी होंगे। मानव संस्कृति इस युग में अब इतनी विकृत हो गयी है, कि उसका ठीक-ठीक नियंत्रण मानस के बस की बात नहीं। सामान्य मानस की भूमिका

२०१. आचार्य श्रीराम शर्मा- नर पशु नहीं नर नारायण बनें, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अंक ५, पृ. ८
२०२. आचार्य श्रीराम शर्मा- धर्म एवं विज्ञान विरोधी नहीं पूरक, पृ. ५७

से वर्तमान जागतिक संघर्षों का समाधान सम्भव नहीं, इसीलिए उस दिशा में किए जाने वाले सारे मानवी प्रयास एवं प्रयोग असफल हो रहे हैं। मनुष्य में देवत्व का अवतरण ही इस संसार को अब वास्तविक शान्ति प्रदान कर सकेगा। यही विकास का अगला सोपान है। प्रकृति उसे इसी सोपान पर ले जाने के लिए प्रयास कर रही है और यही परमात्मा की करूणा का भी संकेत है।

आचार्य जी के अनुसार- "मनुष्य के भीतर विश्व भर की सम्भावनाएँ उसी प्रकार प्रतीक्षा में है, जैसे बीज में छिपा वृक्ष अपने विकास की प्रतीक्षा करता है। आत्मिक चेतना मनुष्य के मन के भीतर छुपी हुई है। वह अब प्रकट होने के समीप है। मनुष्य अगर साधनापूर्वक उस चेतना को प्रकट करने का प्रयास करे, तो आत्म चेतना के प्रकाश में मनुष्य अपनी सभी समस्याओं का समाधान अपने आप पा लेगा।"

विकास के क्या ? क्यों ? और कैसे ?

आचार्य जी के विकासवादी चिन्तन में निषेध के लिए कोई स्थान नहीं है। चिन्तन के सभी पक्ष यहाँ अपनी-अपनी समग्रता खोजने में कामयाब हो जाते हैं। वह अपने पूर्ववर्ती चिन्तन को पूरी तरह से गलत नहीं मानते, हां उसकी सीमाओं और अपूर्णता के बारे में अवश्य संकेत करते हैं। और साथ ही इस अपूर्णता को पूरा करने का प्रयास भी। उदाहरण के लिए इलेक्ट्रान, प्रोट्रान की लीला न्यूटन द्वारा निरूपित नियमों से ठीक-ठीक समझी नहीं जा सकती और न ही हम इन नियमों से आइन्स्टीन के $E=mc^2$ का रहस्य समझ सकते हैं। फिर भी न्यूटन पूर्णतया गलत नहीं है, क्योकि परमाणु टूटने से पहले की सभी स्थितियाँ उन्हीं के नियमों से समझी जा सकती हैं। इसी प्रकार सम्भव है डार्विन भी एक हद तक (यानि निम्न स्तर तक) ठीक हों, किन्तु प्रश्न जब गहराई में जाता है, तब वह उसका जवाब नहीं दे पाते। उन्हे जवाब देना भी नहीं चाहिए, क्योंकि उत्तर उन्हें मालूम नहीं है, क्योकि यह विषय उनकी परिधि से बाहर पड़ता है।

अब सवाल यह है कि आखिर यह विकास है क्या ? आचार्य जी के अनुसार "विश्वात्मा की क्रमिक एवं व्यस्थित आत्माभिव्यक्ति विकास है।" विकास हुआ और होता जा रहा है, यह सही है। लेकिन पुराने और नए लोगों की मान्यताओं में भेद हो गया है। पुराने लोगों ने दार्शनिक सम्बुद्धि से काम लिया और नए लोग प्रयोगशाला में सत्य की परीक्षा करके बोल रहे हैं, किन्तु लुप्त कड़ी की खोज दोनों को परेशान किए हुए है।

आखिर विकास हुआ ही क्यों ? वह कौन सा कारण है जिसके चलते सृष्टि को विकसित होना पड़ा ? वैज्ञानिकों ने मान लिया है कि आदिकाल में कोई द्रव्य रहा होगा। सम्भव है वह परमाणु रहा हो, वाष्प रहा हो, विद्युत् रहा हो या ईथर रहा हो। उसके भीतर कोई ऊर्जा थी, जिससे वह द्रव्य विकास की ओर चलने लगा। या सम्भव है वह ऊर्जा कहीं अन्यत्र से आयी हो। आचार्य जी कहते हैं कि यह गड़बड़ घोटाला है। यह ऊर्जा कहाँ से आयी ? चिरकाल तक निश्चेष्ट क्यों रही और अचानक वह क्रियाशील क्यों हो उठी ? फिर इस द्रव्य की वास्तविकता क्या है ? इस ऊर्जा का स्वभाव क्या है ? वह वस्तु क्या है जो विकसित होती है ? और विकास हुआ ही क्यों है ?

विज्ञान को मानकर आचार्य जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मूल द्रव्य के भीतर से वही चीज प्रकट हो सकती है, जो उसमें पहले से मौजूद रही हो। जो चीज मूल द्रव्य में है ही नहीं, वह विकास के क्रम में उससे प्रकट कैसे हो सकती है ? जो तत्त्व जड़ था, उसमें से चेतन का विकसित होना बिल्कुल असम्भव बात है। इसीलिए आचार्य जी कहते हैं कि "हमें यह मानना पड़ेगा कि जो चीज विकसित हुई, वह पहले से ही क्रियाशील या अक्रिय रूप में मूल द्रव्य के भीतर मौजूद थी, भले ही वह प्रच्छन्न रही हो। आत्मा जो कण-कण में व्याप्त थी। इसी प्रकार जीवन और मन भी उस मैटर में छिपे हुए थे और मन से भी आगे जो शक्तियाँ है, वे मैटर में छिपी हुई हैं। आदि द्रव्य यदि जड़ था, तो उसमें से चेतन उत्पन्न कैसे हो सकता था ?"

यही अनुभूति नींव की वह ईंट है, जिस पर आचार्य जी के विकासवादी चिन्तन का भव्य मन्दिर खड़ा हुआ है। आचार्य जी विकासवाद का सर्वांगीण समाधान देते हुए कहते हैं "विलक्षण रचानाएँ पैदा करने वाली एकमात्र सत्ता परमात्मा ही हो सकता है। वही

अपने आप में एक परिपूर्ण सत्ता है, और वही विभिन्न इच्छा, अनुभूतियों, गुण, धर्म वाली परिपूर्ण रचनाएँ पैदा करता है।"[२०३] जिसे हम जड़ कहते हैं वह और कुछ नहीं परमात्मा की ही सुप्त अथवा निश्चेतन अवस्था है। इसी में से पहले जीवन की अभिव्यक्ति हुई। जीवन में मन अन्तर्हित था, वही मस्तिष्क बनकर प्रकट हुआ। मन से परे की शक्तियाँ भी मन में प्रच्छन्न हैं, ये भी धीरे-धीरे प्रकट हो जाएँगी। विकास हुए ही क्यों? इसके उत्तर में आचार्य जी कहते हैं, सृष्टि परमात्मा की लीला है। परमात्मा विविध रूपों में अपनी आत्माभिव्यक्ति का आनन्द लेने के लिए जगत् में अभिव्यक्त होता है। विकास के 'क्यों' यहाँ सवाल अलैक्जेण्डर, बर्गसां, सांख्य अथवा डार्विन के सिद्धान्तों में नहीं उठता, जहाँ पर कि मूल आधार अचेतन है। लेकिन जैसे ही हम सत्ता को चेतन् सत् के रूप में मान लेते हैं वैसे ही यह सवाल उठता है कि आखिर उसकी अभिव्यक्ति का प्रयोजन क्या है? चेतन सत्ता में इच्छानुसार अभिव्यक्ति करने की स्वतंत्रता होती है। ऐसे में आनन्द ही उसकी गति और रूप में क्रीड़ा का एकमात्र कारण है। आचार्य जी के चिन्तन में आनन्द का अर्थ सुख नहीं, जिसका उपभोग करने वाला सीमित और अपूर्ण होता है। सत् का आनन्द सार्वभौम, असीम, आत्मस्थित एवं विशेष कारणों से मुक्त होता है। यह तो समस्त पृष्ठ भूमि की पृष्ठभूमि है।

विकास का कैसे? के उत्तर में हम पाते हैं कि जड़ की प्रयोगशाला में प्रकृति ने काम करके जीवन उत्पन्न किया। जीवन वह जीवित प्रयोगशाला है, जिसमें काम करके प्रकृति ने मनुष्य उत्पन्न किया। मनुष्य वह चिन्तनशील प्रयोगशाला है जिसमें से प्रकृति अतिमनुष्य अथवा देवता उत्पन्न करने में लगी है। विकास की पहली प्रक्रियाएँ अवचेतन और चेतन रही है। लेकिन मनुष्य चूँकि खुद सोचने वाला जीव है, अतएव अगले विकास की प्रक्रिया के साथ उसे सहयोग करना पड़ेगा। विकास की भावी प्रक्रिया आत्मचेतन होगी। वैज्ञानिक अध्यात्म इसी को सम्पन्न करने की सार्थक प्रणाली है।

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य श्रीराम शर्मा का विकासवादी सिद्धान्त उनके दर्शन की ही भाँति सर्वांगीण है। उसमें एक ओर पूर्व (जिसका विस्तृत विवेचन वेदों, उपनिषदों, षड्दर्शनों में विकासवाद के सन्दर्भ में किया जा चुका है।) विशेषतया भारतीय विकासवादी सिद्धान्तों की आध्यात्मिकता एवं पाश्चात्य विकासवादी सिद्धान्तों की बौद्धिकता के बीच [illegible]

[illegible]
तत्व संजोये हैं।



२०३. आचार्य श्रीराम शर्मा- पूर्ण से ही पूर्ण उत्पन्न हुआ, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४०, अंक १०, पृ. ४

अध्याय ७ (अ)

वैज्ञानिक अध्यात्म

मनुष्य की विदित क्षमता सीमित है, किन्तु अविज्ञात सामर्थ्यों का कोई अन्त नहीं।[1] विकास की इन असीम सम्भावनाओं को साकार करने के लिए मनुष्य अपनी शुरूआत से ही प्रयत्नशील रहा है। प्रयत्नशील इसलिए क्योंकि मानव का भावी विकास क्रम उसके सचेतन प्रयासों की सार्थकता पर निर्भर है। पत्थर, पानी, पेड़ और पशु इस स्थिति में नहीं थे कि वे अपने विकास के लिए कोशिश करें। लेकिन मनुष्य चूँकि सोचने वाला प्राणी है, इसलिए उसके विकास की भवितव्यता उसके द्वारा किए गये प्रयासों पर निर्भर है। ये प्रयास जितने समग्र होंगे- विकास उतना ही सम्पूर्ण होगा।

'मानव ने अपने विकास के काल क्रम में अनेक अनुभव और प्रयोग करते हुए स्व-कल्याण एवं पर-कल्याण के लिए अपनी क्षमता एवं विवेक का उपयोग सर्वश्रेष्ठ मानव मूल्यों को खोजने के लिए किया है।'[2] इसी का परिणाम है कि 'आग जलाने से लेकर धातु गलाने तक के अनेकानेक वैज्ञानिक रहस्य उसके हाथ लगते गए और तदनुरूप प्रगति एवं सम्पन्नता के मार्ग पर वह बढ़ता चला आया।'[3] इसी क्रम में दर्शन और चिन्तन की, योग और अध्यात्म की अनगिनत विधाएँ प्रकाश में आयीं, जिनसे जीवन चेतना के नए आयाम खुले। लेकिन इन सारी कोशिशों में कुछ ऐसा छूट गया, जिसकी वजह से विकास के लिए किए गये प्रयास विनाश के सरंजाम जुटाने लगे।

आचार्य जी के अनुसार- यह छूटा हुआ तत्त्व है-'समग्रता-सर्वांगीणता'। इसी की वजह से मनुष्य के खण्ड-खण्ड का चिन्तन विश्लेषण चल रहा है।[4] बात चिन्तन-विश्लेषण तक सीमित रहती तो भी गनीमत थी, लेकिन अब तो स्थिति टकराव तक आ पहुँची है। धार्मिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन के खण्ड एक दूसरे से टकराने का परिणाम है, साम्प्रदायिक द्वेष, वैज्ञानिक खण्डों का आपसी टकराव ही प्रदूषण बनकर उभरा है। धर्म एवं विज्ञान को आपसी विरोध ने एक-दूसरे की गति को शून्य कर दिया है। समग्रता के अभाव में स्थिति यहाँ तक आ पहुँची है कि विकास की ओर बढ़ने वाले कदम अब विनाश की ओर मुड़ने लगे हैं।

समस्याओं के चक्रव्यूह में फँसी मानवता को सचेत करते हुए आचार्य श्रीराम शर्मा कहते हैं कि 'उस महाविद्या की ओर से क्यों उदासी है ? जिसे समग्र मानव का विज्ञान कहा जा सके।'[5] इसे अपनाकर खण्डों को- अपने अस्तित्व को सम्पूर्णता का बोध हो सकेगा। उन्हें यह अनुभव होगा कि सार्थकता आपसी टकराव में नहीं, बल्कि सहयोग में है। क्योंकि वे एक ही व्यापक अस्तित्व के मूल्यवान अंश हैं। ऐसा हो सकने पर मानवीय शक्तियों की आपसी टकराहट रुकेगी और वे फिर से एकजुट होकर विकास की ओर प्रवृत्त हो सकेंगी। आचार्य जी के शब्दों में 'यह उल्टे को उलटकर सीधा करने की विधि है।'[6] इसी का नाम वैज्ञानिक अध्यात्म है।

वैज्ञानिक अध्यात्म में- विरोध और निषेध को कहीं स्थान नहीं है। यहाँ ज्ञान और विज्ञान के सभी एकांगी पहलू 'समग्रता' में अपना रूपान्तरण करने में सफल होते हैं। आचार्य जी के शब्दों में- 'मानवी सत्ता दो हिस्से में बँटी हुई है। एक शरीर-पदार्थ। दूसरी- चेतना, मन-बुद्धि-अन्तस।'[7] आवश्यकता इन दोनों को पूर्णतया विकसित करने की है। किसी एक को उपेक्षित छोड़ देने पर विकास के स्थान पर समस्याएँ ही जन्म

---

१. आचार्य श्रीराम शर्मा-मानवी अंतराल में प्रसुप्त दिव्य क्षमता, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३९, अंक ८, पृ.३
२. डॉ०व्रजभूषण शर्मा-मानववाद एव मानवतावाद, पृ.९
३. आचार्य श्रीराम शर्मा-आत्मिकी का परिष्कार एवं उसकी चमत्कारी परिणतियाँ, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४८, अंक २, पृ ३
४. आचार्य श्रीराम शर्मा-वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के जन्मदाता परम पूज्य गुरुदेव, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अक १२, पृ ५४
५. वही
६. वही, पृ. ५५
७. आचार्य श्रीराम शर्मा-आत्मिकी का परिष्कार एवं उसकी चमत्कारी परिणतियाँ,अखण्ड ज्योति, वर्ष ४८, अक २, पृ ३

लेंगी। क्योंकि 'समग्र दृष्टि का अभाव और एकांगी प्रयत्नों के कारण ही अनेकानेक समस्याओं का जन्म होता है तथा वे संकटों का कारण बनती हैं।'[८] सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित विकास क्रम के लिए उन सभी पक्षों का समावेश करना होता है जो-शारीरिक-मानसिक एवं आत्मिक प्रगति के लिए जरूरी हों।

मानवी सत्ता की व्यापकता को बताते हुए कहते हैं कि मनुष्य सिर्फ शरीर की सीमा में सिमटा हुआ नहीं है। 'मनुष्य के जैविक आयाम, सामाजिक आयाम के साथ ही एक और इकालॉजिकल आयाम भी है। इन तीनों के साथ उसका एक-सा भावनात्मक सम्बन्ध है। इनमें से किसी के भी टूटने से गड़बड़ी का होना स्वाभाविक बन पड़ता है। इन त्रिविधि आयामों के सम्बन्धों का तात्पर्य है, जिस तरह मनुष्य अपने शरीर के साथ जुड़ा हुआ है, उसी तरह अन्य दोनों के साथ भी। शरीर की तरह अन्य के दो के प्रति भी उसके दायित्व हैं।'[९] इस तरह विकास की समग्रता का अर्थ है, वैयक्तिक के साथ वैश्विक विकास भी। इसी तथ्य को आचार्य जी ने 'मनुष्य में देवत्व का उदय और धरती में स्वर्ग का अवतरण' कहकर निरूपित किया है।

इन अर्थों में 'वैज्ञानिक अध्यात्म' जहाँ पूर्व की यौगिक प्रणालियों एवं अध्यात्मिक विधियों से भिन्न है। ठीक उसी प्रकार इसका पश्चिम के वैज्ञानिक और दार्शनिक चिन्तन से मेल नहीं खाता। योग पद्धतियों एवं प्रचलित आध्यात्मिक प्रणालियों का सारा जोर वैयक्तिक विकास पर है। समाज को प्रायः माया और स्वप्न कहकर उपेक्षा ही की गई है। इसी तरह वैज्ञानिक चिन्तन में सामाजिक समृद्धि के तत्त्व तो हैं लेकिन वैयक्तिक चेतना के उत्कर्ष का अभाव है। वैज्ञानिक अध्यात्म सामंजस्य एवं समग्रता की पद्धति है। यहाँ- भौतिकता का आध्यात्मिकता के साथ, व्यक्ति का समाज के साथ और श्रद्धा का तर्क के साथ अपूर्व स्नेह मिलन देखने को मिलता है। ऐसी ही किसी पद्धति व प्रक्रिया को मानवता की अनिवार्य आवश्यकता बतलाते हुए आर्थर कोसलर ने कहा था- 'हमें एक ऐसे रंगवीक्षक यंत्र, स्पेक्ट्रोस्कोप की आवश्यकता है, जिससे हम जीवन को नए सिरे से देख सकें, जिसके द्वारा जीवन का कीचड़ साफ-सुथरा और स्पष्ट रूप से दिखाई पड़े, जिसे हम सुधार कर, इन्द्रधनुषी बना सकें।'[१०] आचार्य जी ने अपने 'वैज्ञानिक अध्यात्म के द्वारा इसी अनिवार्य आवश्यकता को पूरा किया है।'

वैज्ञानिक अध्यात्म के दो चरण- तप और योग

'वैज्ञानिक अध्यात्म' सिर्फ कतिपय सिद्धान्तों अथवा तत्त्वदर्शन तक सीमित नहीं है। तत्त्वदर्शन तथा सिद्धान्त तो इसका ज्ञान पक्ष है। इसके अलावा इसका विज्ञान पक्ष भी है। लेकिन वर्तमान में यह लुप्तप्राय है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य जी के शब्द हैं- 'हमारे प्राचीन अध्यात्म की केवल ज्ञान शाखा जीवित है। विज्ञान शाखा लुप्त हो गई। धर्म नीति-सदाचरण आदि की शिक्षा देने वाले ग्रन्थ एवं प्रवक्ता तो मौजूद हैं, पर उस विज्ञान की उपलब्धियाँ हाथ से निकल गईं, जो शरीर में विद्यमान अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय शक्ति कोशों की क्षमता का उपयोग करके व्यक्ति और समाज की कठिनाइयों को हल कर सकें।'[११] इसी अभाव के कारण अध्यात्म विद्या कर्मकाण्डों एवं परम्पराओं का ढेर बन गई। यही नहीं 'चेतना को नरक से उबार कर स्वर्ग में पहुँचाने वाली इस विद्या को जादूगरी-बाजीगरी की पंक्ति में बिठा दिया गया है।'[१२]

अध्यात्म के इसी लुप्तप्राय विज्ञान पक्ष की शोध करने के लिए आचार्य जी ने हिमालय के गहन एकान्त में कठोर तप साधनाएँ सम्पन्न कीं। इस तथ्य को स्पष्ट

---

८. आचार्य श्रीराम शर्मा-विज्ञान को अध्यात्म के साथ मिलना होगा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४६, अंक १, पृ.१७
९. आचार्य श्रीराम शर्मा-मनुष्य पर्यावरण से जुड़े तो व्यक्तित्व का बिखराव रुके, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक ११, पृ ३७
१०. आर्थर कोसलर-द योगी एण्ड द कमिस्सार, पृ.१५-१८
११. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारे पाँच पिछले और पाँच अगले कदम, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ३, पृ.६१
१२. आचार्य श्रीराम शर्मा-साधना से सिद्धि का अकाट्य एवं शाश्वत सिद्धान्त, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४६, अंक ६, पृ.७

करते हुए उनके शब्द हैं- 'हिमालय, गंगातट, एकान्त, जन सम्पर्क पर प्रतिबन्ध जैसी कष्ट साध्य गतिविधियाँ अपनाने के पीछे एक रहस्य यह भी है कि वह प्रदेश एवं वातावरण ही उच्च आध्यात्मिक स्तर की शोधों के लिए उपयुक्त हो सकता है। स्थान की दृष्टि से यह स्थान अध्यात्म शक्ति तत्त्वों का केन्द्र या हृदय भी कहा जा सकता है, जहाँ हमें अगले दिनों जाना है, रहना है। वहाँ ऐसी विभूतियाँ अभी जीवित हैं, जो इस महान् कार्य में हमारा मार्गदर्शन कर सकें। इस प्रकार शोध-साधना अपने व्यक्तिगत वर्चस्व के लिए नहीं, विशुद्ध लोकमंगल के लिए करने जा रहे हैं। और जो कुछ हमें मिलेगा, उसकी राई रत्ती सार्वजनिक ज्ञान के रूप में प्रस्तुत करते रहेंगे।'[13]

अपने इस आश्वासन को निभाते हुए उन्होंने अपनी शोध परक हिमालय यात्रा से वापस लौटने पर उन्होंने हरिद्वार स्थित शान्तिकुञ्ज में वैज्ञानिक अध्यात्म के व्यावहारिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की। उन्होंने अध्यात्म विद्या के विज्ञान पक्ष को प्रकट करते हुए बताया- 'इसके दो प्रयोजन है। एक- अन्तराल की प्रसुप्त विभूतियों का जागरण, दूसरा अनन्त ब्रह्माण्ड में संव्याप्त ब्राह्मी चेतना का अनुग्रह अवतरण।'[14] इस तक 'पहुँचने के लिए जो कदम बढ़ाने पड़ते हैं- उनमें से एक का नाम है- परिशोधन। दूसरे का परिष्कार। परिशोधन अर्थात् संचित कषाय-कल्मषों का- कुसंस्कारों का- दुष्कर्मों के प्रारब्ध संचय का निराकरण। परिष्कार अर्थात् श्रेष्ठता का जागरण अभिवर्धन।'[15] परिशोधन को तपश्चर्या कहते हैं और परिष्कार को योग-साधना।'[16]

तप का स्वरूप

तप- आचार्य जी ने तप के संदर्भ में अपनी पूर्ववर्ती अनेक भ्रामक मान्यताओं का निराकरण करके इसे अपूर्व वैज्ञानिकता प्रदान की है। इस क्रम में तप की सीमा रेखा सिर्फ शरीर तक नहीं है, बल्कि इसमें प्राण और मन भी अपने समूचे रूप में सम्मिलित होते हैं। इसी कारण 'मानवी विकास के लिए तप-साधना का अत्यधिक महत्त्व है।'[17] आचार्य जी द्वारा प्रतिपादित तप की प्रक्रिया के तीन चरण हैं-

१. संयम

२. परिशोधन

३. जागरण

संयम- जीवन ऊर्जा का क्षरण दैनिन्दन क्रम में कई तरह से होता रहता है। इस क्षरण को रोक कर ऊर्जा को महत्त्वपूर्ण कार्यों में नियोजित करने का नाम संयम है। आचार्य जी ने संयम के चार प्रकार बताए हैं-

१. इन्द्रिय संयम, २. अर्थ संयम, ३. समय संयम, ४. विचार संयम।

इन्द्रिय संयम- 'ज्ञानेन्द्रिय पाँच और कर्मेन्द्रिय पाँच हैं। इन्द्रिय संयम में इन सभी की क्षमताओं को परिष्कृत, सुनियोजित करना होता है, ताकि शरीरगत, मनोगत, सामर्थ्य भण्डार के अपव्यय को रोककर उस प्रचण्ड ऊर्जा का संचय किया जा सके। इस संग्रह को आत्मबल सम्वर्द्धन के उच्च स्तरीय प्रयोजनों में नियोजित किया जा सके।'[18]

अर्थ संयम- इन्द्रिय संयम से ही अर्थ संयम उपजता है। धन एक शक्ति है, जो श्रम, समय एवं मनोयोग की सूक्ष्म विभूतियों का स्थूल रूप है। इसके संयम से इन सूक्ष्म विभूतियों का उच्च स्तरीय उपयोग सम्भव है। आचार्य जी के शब्दों में- 'धन को जीवनोपयोगी-समाजोपयोगी शक्ति माना जाना चाहिए और एक-एक पैसे का मात्र सत्प्रयोजनों में ही उपयोग होना चाहिए।'[19]

---

१३. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारे पाँच पिछले और पाँच अगले कदम, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ३, पृ ६१
१४. आचार्य श्रीराम शर्मा-आतरिक कायाकल्प का सरल किन्तु सुनिश्चित विधान, पृ.२५
१५ वही, पृ २९
१६. वही, पृ. २९
१७. आचार्य श्रीराम शर्मा-तपश्चर्या से प्रसुप्त शक्तियो का जागरण, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४०, अक ८, पृ ४१
१८. आचार्य श्रीराम शर्मा-तपश्चर्या सरल भी, सत्परिणामदायक भी, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४५, अंक १, पृ.४४
१९. वही, पृ. ४५

समय संयम- समय मनुष्य को सौंपी गई ईश्वरीय विभूति है। 'यही एकमात्र विशेषता है, जिसके आधार पर विभिन्न प्रकार की भौतिक एवं आत्मिक विभूतियाँ सफलताएँ-सम्पदाएँ अर्जित कर सकना सम्भव होता है।'[२०] इसके नियमन के अभाव में समूची जीवन ऊर्जा इधर-उधर बिखर कर नष्ट हो जाती है।

विचार संयम- मन की अपरिमित ऊर्जा विचार संयम के अभाव में बिखरती नष्ट होती रहती है। अनगढ़ और अनैतिक विचार न केवल मन को खोखला बनाते हैं, बल्कि ऐसी मनोग्रन्थियों को जन्म देते हैं, जिससे आत्म विकास का मार्ग सदा-सदा के लिए अवरुद्ध कर देते हैं। आचार्य जी के शब्दों में- 'विचार शक्ति को भी उच्चस्तरीय सम्पदा माना जाय और चिन्तन की एक-एक लहर को रचनात्मक दिशाधारा में प्रवाहित करने का जी तोड़ परिश्रम किया जाय।'[२१]

परिशोधन- परिशोधन तप का दूसरा महत्त्वपूर्ण चरण है। जीवन ऊर्जा की आवश्यक मात्रा संग्रहीत किए बिना इसे कर सकना सम्भव नहीं बन पड़ता। संग्रहीत प्राण ऊर्जा के द्वारा अचेतन की ग्रन्थियों को खोलना तथा जन्म-जन्मान्तर के कर्म बीजों को दग्ध करना इस प्रक्रिया में सम्मिलित है।

वर्तमान जीवन की शारीरिक-मानसिक परेशानियों का कारण अचेतन की ये ग्रन्थियाँ ही हैं। इनमें अवरुद्ध ऊर्जा विकास के स्थान पर विनाश के दृश्य उपस्थित करती रहती है। इस तथ्य को अब पाश्चात्य वैज्ञानिक भी स्वीकारने लगे हैं। 'द फील्ड ऑफ डिसीसेज' में सर बी. डब्ल्यू. रिचर्डसन ने लिखा है- कि 'मानसिक उद्वेग एवं चिन्ताओं के कारण प्रायः फुन्सियाँ निकल आती हैं। कैन्सर, मृगी, पागलपन आदि हालत में भी सबसे पहले मानसिक जगत् में ही विकार बढ़े होते हैं।'[२२]

अमेरिका में हुए मनोवैज्ञानिक शोध में डाक्टरों के एक चिकित्सा दल ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट इस प्रकार दी है- 'शारीरिक थकावट के १०० रोगियों में से ९० को कोई शारीरिक रोग न था, वरन् वे मानसिक दृष्टि से दूषित व्यक्ति थे। अपच के ७०, गर्दन के पीछे के दर्द के ७५, सिर दर्द और चक्कर आने के ८०, गले में दर्द के ९० और पेट में वायु विकार के ९९ प्रतिशत रोगी केवल भावनाओं के दुष्परिणाम से पीड़ित थे। पेट में अल्सर जैसे दर्द और मूत्राशय में सूजन जैसी बीमारियों के ५० प्रतिशत रोगी निर्विवाद रूप से अपने दुर्गुणों के कारण पीड़ित थे।'[२३] इसी तथ्य को योग वाशिष्ठकार ने बताते हुए कहा है- 'चित्त में उत्पन्न हुए विकार से ही शरीर में दोष पैदा होते हैं।'[२४]

चित्त की इन ग्रन्थियों के 'परिशोधन प्रयोजन के लिए तपश्चर्याओं के अनेक विधि-विधान हैं। उन सब में सर्व सुलभ एवं अनेक दृष्टियों से सत्परिणाम उत्पन्न करने-वाली साधना आध्यात्मिक कायाकल्प की कायाकल्प-चिकित्सा में शरीर में भरे हुए मल विकारों की पूरी तरह सफाई की जाती है तथा ऐसे उपचार अपनाए जाते हैं जिससे नए रक्त का नाड़ियों में संचार होने लगे, पाचन तंत्र नई स्फूर्ति के साथ काम करने लगे, मांस पेशियां फिर से कड़ी हो जाय और नाड़ियों में प्राण प्रवाह नयी चेतना के साथ बह निकले। चन्द्रायण तपश्चर्या को भी इसी स्तर का माना गया है।'[२५]

जागरण- अचेतन ग्रन्थियों में अवरुद्ध जीवन ऊर्जा के मुक्त होने पर अन्तर्निहित क्षमताओं के जागरण का क्रम शुरू हो जाता है। इसके प्रथम चरण में प्रतिभा, साहस, आत्मबल जैसी विभूतियाँ प्रस्फुटित होने लगती हैं। साथ ही मानवी अस्तित्व के उन शक्ति संस्थानों के जाग्रत् होने का क्रम प्रारम्भ हो जाता है, जिनके द्वारा

---

२०. वही पृ. ४५
२१. वही पृ.४६
२२. आचार्य श्रीराम शर्मा-रोगों की जड़ शरीर में नहीं, मन में, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ६, पृ.९
२३. वही
२४. चित्ते विधुरिते देहा संक्षोभमनयात्यलम। योग वशिष्ठ- ६/१/८१/३०
२५ आचार्य श्रीराम शर्मा-आंतरिक कायाकल्प का सरल किन्तु सुनिश्चित विधान, पृ. ३१

मनुष्य अनन्त ब्राह्मी चेतना के प्रवाह को स्वयं में धारण करने में सक्षम होने लगता है। वे समस्त शक्तियाँ मानवी सत्ता में प्रकट होने लगती हैं, जिनको शास्त्रकारों ने ऋद्धियों-सिद्धियों कहा है। 'मनुष्य के भीतर बहुत कुछ दिव्य अलौकिक एवं अद्भुत है। उसके उत्खनन के लिए यह तपश्चर्या अनिवार्य है।'[२६]

तप की बारह रश्मियाँ

आचार्य जो तप की बाह्य प्रक्रियाएँ बताई हैं- जिनको अपनाने पर 'अन्तःकरण में छुपी हुई सुप्त शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं, दिव्य सतोगुण का विकास होता है।'[२७]

१. अस्वाद तप- स्वाद की लालसा न केवल शारीरिक विकारों को जन्म देती है बल्कि मानसिक चंचलता में अभिवृद्धि करती है। स्वाद के दो ही स्रोत हैं- मीठा और नमक। इनको छोड़ देने से जो भोजन बनता है, उसे सात्त्विक प्रकृति वाला ही कर सकता है। जैसे-जैसे स्वाद रहित भोजन में सन्तोष पैदा होता है। वैसे-वैसे सात्त्विकता बढ़ती जाती है।[२८]

२. तितीक्षा तप- शीत-उष्ण को सहन करने का नाम तितीक्षा है। इसे करने से न केवल सहिष्णुता बल्कि संकल्प बल का विकास होता है।

३. कर्षण तप- शारीरिक सुविधाओं का त्याग, अपना काम स्वयं करने की आदत कर्षण तप के अन्तर्गत आता है। इससे आत्म निर्भरता एवं समानता की सद्वृत्तियाँ विकसित होती हैं।

४. उपवास- आचार्य जी उपवास को केवल एक दैहिक प्रक्रिया तक सीमित नहीं रखते। उनके अनुसार उपवास एक ऐसा गुह्य प्रयोग है जिससे व्यष्टि और समष्टि में व्यापक फेर बदल सम्भव है। इस क्रम में इनके पाँच भेद हैं- पाचक, शोधक, शामक, आनस एवं पावक। पाचक उपवास वे हैं, जो पेट के अपच, अजीर्णता, कोष्ठबद्धता को पचाते हैं। शोधक वे हैं जो रोगों को भूखा मारने के लिए किए जाते हैं। शामक उन्हें कहते हैं जो कुविचारों, मानसिक विकारों दुष्प्रवृत्तियों एवं विकृत उपत्यिकाओं का शमन करते हैं। आनस वे हैं, जो किसी विशेष प्रयोजन के लए दैवी शक्ति को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए किए जाते हैं। पावक वे हैं, जो पापों के प्रायश्चित के लिए होते हैं।

उपवास और उपत्यिकाएँ- योग शास्त्रों में ९६ उपत्यिकाओं का वर्णन किया गया है। 'इन्धिका' जाति की उपत्यिकाएँ-चंचलता, उद्विग्नता की प्रतीक हैं। 'दीपिका' जाति की जोश, क्रोध आदि उत्पन्न करती हैं। 'आप्यायिनी' जाति के गुच्छक आलस्य, निद्रा, भारीपन उत्पन्न करते हैं। 'पूषा' जाति के गुच्छकों का सम्बन्ध काम वासना से है। 'चन्द्रिका' जाति की उपत्यिकाएँ सौन्दर्य बढ़ाती हैं। ऐसी ही अन्य विशेषताएँ 'मोचिका, धूसार्चिः, ऊष्मा, अमाया, उद्गीथ, असिता' आदि नाड़ी गुच्छकों की हैं।

उपवास का इन उपत्यिकाओं के संशोधन, परिमार्जन और सन्तुलन से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। ऋतुओं के अनुसार शरीर की छः अग्नियाँ न्यूनाधिक होती रहती हैं। ऊष्मा, बाहुवृच, ह्रादि, रोहिता, आत्पता, व्याप्ति यह छः शरीरगत अग्नियाँ ग्रीष्म से लेकर बसन्त तक छः ऋतुओं में क्रियाशील रहती हैं। एक उत्तरायण-दक्षिणायन की गोलार्ध स्थिति, दूसरे चन्द्रमा की घटती-बढ़ती कलाएँ, तीसरे नक्षत्रों का भूमि पर आने वाला प्रभाव तथा चौथे सूर्य की अंश किरणों का मार्ग- इन सभी का शरीरगत ऋतु अग्नियों के साथ सम्बन्ध होने से क्या परिणाम होता है। इसका ध्यान रखते हुए उपवास का विज्ञान रचा गया है।

आचार्य जी के शब्दों में- 'उपत्यिकाओं के शोधन, परिमार्जन एवं उपयोगीकरण की साधना तथा पाँचों तरह के उपवासों के सूक्ष्म तत्त्व जिसमें समाहित हैं, वह रविवार का सूर्यव्रत है। उस दिन सातों ग्रहों की सम्मिलित शक्ति पृथ्वी पर आती है, जो विविध प्रयोजनों के लिए उपयोगी होती हैं।'[२९]

---

२६. आचार्य श्रीराम शर्मा-तप साधना ही शक्ति और सिद्धि का स्रोत है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३५ अंक १० पृ. २९
२७. आचार्य श्रीराम शर्मा-गायत्री महाविज्ञान-भाग १, पृ.१८१
२८. वही, पृ १८२
२९. आचार्य श्रीराम शर्मा-रविवार का उपवास क्यों व किसलिए? अखण्ड ज्योति, वर्ष ५६, अंक ६, पृ. ४६

५. गव्य कल्प तप- गौ के दूध, दही, घी, छाछ पर मनुष्य तीन मास निर्वाह करे, तो उसके शरीर का एक प्रकार से कल्प हो जाता है।[30]

६. प्रदातव्य तप- स्वयं कष्ट सहकर, अभावग्रस्त रहकर भी दूसरों की सहायता करना प्रदातव्य तप है।

७. निष्कासन तप- स्वयं की मनोग्रन्थियों को, छुपाए गए अपराध को मार्गदर्शक के समक्ष खोलना और फिर वैसा न करने के लिए संकल्पित होना निष्कासन तप है।

८. साधना तप- गायत्री का चौबीस हजार जप, नौ दिन में पूरा करना, सवालक्ष जप चालीस दिन में पूरा करना साधना तप है।

९. ब्रह्मचर्य तप- काम विकास पर काबू रखना ब्रह्मचर्य तप है। मानसिक काम सेवन-शारीरिक काम सेवन की ही भाँति हानिकारक है। ब्रह्मचर्य तप से प्राण ऊर्जा की बर्बादी रुकती है।

१०. चन्द्रायण तप- चन्द्रायण तप के दो भेद हैं- कृच्छ चन्द्रायण एवं मृदु चन्द्रायण। 'कृच्छ चन्द्रायण के चार भेद माने गए हैं'[31] १. पिपीलिका मध्य चन्द्रायण- जिसमें पूर्णमासी को १५ ग्रास खाकर क्रमशः एक-एक ग्रास घटाते हैं और अमावस्या व प्रतिपदा को निराहार रहकर दोज से एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए पूर्णिमा को पुनः १५ ग्रासों तक जा पहुँचते हैं। २. यव मध्य चन्द्रायण- इसका प्रारम्भ शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से होता है। अमावस्या के दिन उपवास करके शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को एक ग्रास लेकर क्रमशः एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए पूर्णिमा को १५ ग्रास भोजन लेना होता है। इसके बाद कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से एक-एक ग्रास घटाते हुए अमावस्या को निराहार की स्थिति तक जा पहुँचना होता है। ३. यतिचन्द्रायण- इसमें मध्याह्न को प्रतिदिन आठ-आठ ग्रास खाना होता है, न किसी दिन कम न किसी दिन अधिक। ४. शिशु चन्द्रायण- में प्रातः चार ग्रास और सायंकाल चार ग्रास खाए जाते हैं और यही क्रम नित्य चलता है।

मृदु चन्द्रायण- अपने पूर्ण आहार एक आहार का पिण्ड बनाकर पूर्णिमा के दिन पूरा आहार लिया जाता है। फिर कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा की एक-एक कला जिस प्रकार घटती है, उसी प्रकार एक-एक अंश घटना होता है। अमावस्या और प्रतिपदा को चन्द्रमा बिल्कुल नहीं दिखाई देता। उन दो दिनों में निराहार रहकर शुक्ल पक्ष की दोज से एक-एक अंश बढ़ाते हुए पूर्णिमा तक पूर्णाहार में पहुँच जाना चाहिए। मृदु चन्द्रायण के लिए जेष्ठ, श्रावण, आश्विन, मार्गशीर्ष और माघ मास उत्तम माने गये हैं।

चन्द्रायण प्राकृतिक चिकित्सा सिद्धान्त का उत्कृष्ट रूप है। आचार्य जी ने इसे पहले की अपेक्षा कहीं अधिक वैज्ञानिक बना दिया है। उन्हीं के शब्दों में 'चन्द्रायण की पद्धति को हम और अधिक वैज्ञानिक बना रहे हैं। उपवास के साथ ऐनेमा, मिट्टी की पट्टी, वाष्प स्नान, कटि स्नान, सूर्य किरण चिकित्सा, मृतिका लेपन आदि पंचकर्मों द्वारा पेट ही नहीं वरन् शरीर के अन्य अंगों का भी शोधन होता है। यह देखा गया है कि एक वर्ष तक किसी सुयोग्य चिकित्सक की औषधि चिकित्सा कराने की अपेक्षा एक महीने के चन्द्रायण व्रत से कहीं अधिक लाभ होता है।'[32]

११. मौन तप- मौन से शक्तियों का क्षरण रुकता है। आत्मबल संचय होता है, दैवी तत्त्वों की वृद्धि होती है, चित्त की एकाग्रता बढ़ती है, शान्ति का प्रादुर्भाव होता है, बहिर्मुखी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होने से आत्मोन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है। मौन का प्रारम्भ वाणी के मौन से होता है, किन्तु चरम परिणति मन के मौन में होती है।

१२. अर्जन तप- किसी भी प्रकार की उत्पादक, उपयोगी, शिक्षा प्राप्त करके अपनी शक्ति, योग्यता, क्षमता, क्रियाशीलता, उपयोगिता बढ़ाना अर्जन तप है।[33]

---

३०. आचार्य श्रीराम शर्मा-गायत्री महाविज्ञान-भाग १, पृ. १८४
३१. आचार्य श्रीराम शर्मा-कृच्छ और मृदु चन्द्रायण, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ६, पृ.५६
३२. आचार्य श्रीराम शर्मा-प्रभावशाली साधना की पृष्ठभूमि, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ६, पृ. ५३-५४
३३. आचार्य श्रीराम शर्मा-गायत्री महाविज्ञान-भाग १, पृ. १८८

अपने तीन चरणों और बारह प्रकारों वाली यह तप प्रक्रिया आचार्य जी के दार्शनिक सिद्धान्तों की भाँति ही समग्र है। इसमें शरीर क्रिया वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक सभी प्रकार के तत्त्वों का उचित समावेश है। आचार्य जी के शब्दों में 'यही वह तकनीकें हैं, जिनसे जीवन की पुरानी पड़ गई गाठों को खोला जा सकता है।'[३४] साथ ही उन शक्ति संस्थानों का जागरण होता है जिससे परमात्म चेतना के शक्ति प्रवाह को धारण किया जा सके।

परम तप- तप की उपरोक्त सामान्य प्रक्रिया के अलावा एक विशिष्ट स्तर भी है जिसे 'परम तप' की संज्ञा दी गई है। यह विशिष्ट स्तर, विशिष्ट प्रयोजन के लिए होने के कारण अपेक्षाकृत अधिक गुह्य और गहन है। इसका प्रयोग वैयक्तिक प्रयोजनों के लिए न होकर समष्टिगत प्रयोजनों के लिए होता है। आचार्य जी के शब्दों में- 'यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि पिछले दिनों रामकृष्ण परमहंस, योगी अरविन्द एवं महर्षि रमण की अनुपम साधनाएँ भारत के भाग्य परिवर्तन के लिए हुईं। उनने सूक्ष्म वातावरण को ऐसा गरम किया कि कितने ही आश्चर्यजनक चक्रवात अनायास ही प्रकट हो गए। पिछले थोड़े ही दिनों में भारत ने उच्च कोटि के नेता दिए जिनकी तुलना अन्यत्र नहीं मिलती।'[३५]

तप की इस विशिष्ट प्रक्रिया के अन्तर्गत स्वयं की आत्मचेतना को ब्रह्माण्ड व्यापी अनन्त शक्ति प्रवाह से जोड़कर अपरिमित ऊर्जा का आकर्षण और व्यापक हितों में उसका नियोजन करना होता है। आचार्य जी की स्वयं की तप साधना का स्तर यही रहा है- उन्हीं के शब्दों में- 'उपरोक्त तीन तपस्वियों की बुझी पड़ी परम्परा को फिर से सजीव करना है और सूक्ष्म लोक को फिर से इतना गरम करना है कि उसमें से उत्कृष्ट स्तर के महामानव पुनः अवतरित हो सकें। गंगावतरण के लिए भगीरथ तप की आवश्यकता थी, नए युग की सुधा सरिता का अवतरण भी ऐसे ही तप की अपेक्षा रखता है। देवत्व को निगल जाने वाले वृत्तासुर का वध दधीचि के अस्थि पिंजर से बने वज्र की अपेक्षा करता था। दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृत्तियों का अनाचार पिछले रावण, कंस, हिरण्यकश्यप आदि से भी बढ़ा-चढ़ा है, उसका निराकरण भी पूर्वकाल जैसे अस्थि वज्र की अपेक्षा करता है। हमें इसके लिए आगे बढ़ना होगा, सो बढ़ भी रहे हैं। अगले दिनों इसी महान् प्रयोजन के लिए समर्पित होने जा रहे हैं।'[३६]

योग अर्थात् जीवन साधना

'तप की गर्मी से कुसंस्कार जलते हैं और प्रसुप्त जगते-उभरते हैं। योग से परब्रह्म के साथ एकात्म स्थापित करने का अवसर मिलता है।'[३७] गीता ने समत्व[३८] और कर्म की कुशलता[३९] को योग कहा है। पातंजलि के अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है।[४०] योग वाशिष्ठ में योग शब्द का अर्थ संसार सागर से पार होने की युक्ति।[४१] आचार्य जी योग को 'जीवन साधना'[४२] के रूप में स्वीकार करते हैं।

जीवन साधना पहले की हठयोग, राजयोग आदि प्रणालियों से भिन्न तो जरूर है। लेकिन इसकी समग्रता में इन सभी के सार तत्त्व का समावेश है। आचार्य जी के शब्दों में- 'हमने अपनी जीवन साधना में इन तत्त्वों का समावेश किया और मंजिल की एक सन्तोषजनक लम्बाई पार चुके हैं।'[४३] जीवन साधना की समसामयिक उपादेयता

३४. आचार्य श्रीराम शर्मा-विधाता के साथ समस्वरता, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अक १२, पृ १८
३५. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारे पाँच पिछले और पाँच अगले कदम, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ३, पृ. ६०
३६. आचार्य श्रीराम शर्मा-वही, पृ. ६०
३७. आचार्य श्रीराम शर्मा-आंतरिक कायाकल्प का सरल किन्तु सुनिश्चित विधान, पृ. २९
३८. समत्वं योग उच्यते। गीता- २/४८
३९. योग. कर्मसु कौशलम्। गीता- २/५०
४० योगश्चितवृत्तिनिरोधः। योगदर्शन- १/२
४१ योग वशिष्ठ -६/१/१३/३
४२. आचार्य श्रीराम शर्मा-प्राण ऊर्जा का अक्षय कोष रहा उस साधक का व्यक्तित्व, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५६, अंक २, पृ. ४९
४३. वही, पृ ५०

को बताते हुए वह कहते हैं- 'युग परिवर्तन के साथ-साथ परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। पृथ्वी सौरमण्डल के साथ कहीं से कहीं चली जाती है। इस परिभ्रमण में ब्रह्माण्ड किरणों की न्यूनाधिकता से मानव शरीर और मन की सूक्ष्म स्थिति में भारी अन्तर पड़ जाता है। सांसारिक परिस्थितियाँ और भौतिक हलचलें, सामाजिक विधि व्यवस्थाएँ भी मानव जीवन की मूलभूत स्थिति में भारी अन्तर प्रस्तुत कर देती हैं। इस परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए ही युग साधना का स्वरूप समय-समय पर निर्धारित करना पड़ता है। प्राचीन काल की साधना विधियाँ उस समय के अनुरूप थीं- परिवर्तन के साथ साधना क्रम भी बदलेंगे। यदि हेर-फेर न किया जाय तो प्राचीन काल में सफल होने वाली साधनाएँ अब सर्वथा निरर्थक एवं निष्फल सिद्ध होंगी।'[४४]

'नि:सन्देह न पहले की परिस्थितियाँ हैं, और न जीवन का पुराना सिलसिला ही बाकी है। लँगोटी लगाकर जंगल में रहने, कंद मूल फल खाने की बात सर्वसाधारण के लिए आज बड़ी बेतुकी है। शहरों की भीड़-भाड़ में न तो अब जंगल बचे हैं और न कंद मूल फल। फिर शारीरिक स्थिति भी बदल गई है। वर्तमान मानव शरीर में पहले जैसी कठोरताओं को सहने की क्षमता अब कहाँ बची है। पुराने शास्त्रों में प्रतिपादित कृच्छ व्रतों की कठोरताओं को सामान्य मनुष्य शायद एक दिन भी न सह सके। यही क्यों मन भी अब परिवर्तित स्थिति में है। पहले का सहज, सरल और भाव प्रवण मन अब तार्किक, कूटनीतिज्ञ और प्रपंची हो गया है। श्रद्धा का स्थान अब तर्क ने ले लिया है, विश्वास की जगह संदेह ने घेर ली है। ऐसे में प्राचीन साधना सूत्रों का औचित्यहीन और एकांगी लगने लगना स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए गोरखनाथ की हठयोग पद्धति को ही लें। शरीर और प्राण को सबल बनाने और इसको आधार बनाकर आत्म जागरण करने में निश्चित ही यह पद्धति समर्थ है। लेकिन आज की स्थिति में शहरी नागरिक इसे अपनी जीवन साधना की प्रणाली नहीं बना सकते। चित्र-विचित्र शारीरिक व्यायामों, जटिल प्राणायामों को सहने लायक न तो उनका शरीर है, और न ही समर्थ प्राण। ऐसे में इनकी सार्वभौमिक उपादेयता पर प्रश्नचिह्न लगना स्वाभाविक है।

यही दशा महावीर, बुद्ध, शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित जीवन सूत्रों की है। यदि संसार के सभी श्रेष्ठ पुरुष इस प्रणाली को अपनाकर वन, गुहा, कंदराओं में जाकर वैराग्य धारण कर लें, तब विश्व वसुधा का स्वरूप क्या होगा? क्या यह नंदन कानन की जगह नरक का धधकता दावानल न बन जायगी। यही बात वैष्णवों की भक्ति के संदर्भ में भी है। भावुकता और उसका विकास निश्चित ही श्रेष्ठ है, पर विचारहीन भावुकता आज के बुद्धिवादी युग में ठगी और शोषण का ही शिकार बनेगी।

ऐसा नहीं कि ये सभी साधना प्रणालियाँ निर्मूल्य और सारहीन हैं। आज के युग में भी इनके मूल्य और महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता, पर वर्तमान स्थिति में इनका उपयोग किस तरह से हो यह विचारणीय है। इस बिन्दु पर चिन्तन करने से यही मिलता है कि समस्त साधना प्रणालियाँ शरीर, प्राण और मन में किसी न किसी एक पर आश्रित है, अवलम्बित है। जो प्रणाली जिसको अपना आधार बनाकर चलती है, उसका विकास और उत्कर्ष तो पर्याप्त होता है, लेकिन अस्तित्व के अन्य अंग अछूते रह जाते हैं। उदाहरण स्वरूप हठयोग शरीर को विकसित करता है। तंत्र साधनाएँ प्राण को सबल बनाती हैं। पातंजलि के योगसूत्र मन का विकास करते हैं। शंकराचार्य का वेदान्तिक ज्ञान बौद्धिकता को उत्कर्ष प्रदान करता है। पर परिणाम में स्थिति कुछ ऐसी रहती है- जैसे किसी आदमी के पैर मोटे हो जाए और शेष अंग दुबले बने रहें। अथवा पेट फूलकर बाहर निकल आए, शेष अवयव दीन-दुर्बल बने रहें।

इस बेडौल और भद्दी स्थिति से बचने का एक ही उपाय है कि समस्त साधना प्रणालियों के मणि मुक्तकों को कलात्मक ढंग से पिरोकर एक समर्थ प्रणाली बनाई जाय। ऐसी प्रणाली जो युगानुरूप हो और सर्वजनीन भी। जिसे जीवन के हर क्षेत्र में, संसार के हर देश के लोग

४४. युगपुरुष पूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य जिनने साधना सत्रों की नूतन शोध से देवमानवों को गढ़ा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५७,

सरलतापूर्वक अपना सकें। युग ऋषि (आचार्य जी) के प्रयासों में यही सौन्दर्य साकार हुआ है। उन्होंने साधना और जीवन दोनों को एक दूसरे का पर्याय माना है। और पहली बार जीवन और साधना में एकात्म स्थापित किया।[४५]

जीवन साधना के तत्त्व

◆ कर्म-भक्ति और ज्ञान का समन्वय

प्राण की हलचलें जब शरीर के माध्यम से जीवन की सतह पर उभरती है, तब उन्हें क्रिया कहते हैं। क्रिया के साथ जब मानसिक इच्छा अथवा संकल्प का योग होता है, तो उसे कर्म कहा जाता है। 'सामान्य मानव में कर्म के प्रेरक तत्त्व अभिरुचि, आदत, जन्मान्तर की प्रवृत्तियाँ होती हैं। इन्हीं सबके अनुसार वह अपनी जीवन ऊर्जा को नष्ट करता बिखेरता रहता है। उसके लिए कर्म स्वातन्त्र्य की बात अच्छा-खासा मजाक भर है। जबकि साधनारत व्यक्ति विधाता द्वारा दी गई कर्म की स्वतन्त्रता का ठीक-ठीक उपयोग करने में समर्थ होता है। वह स्वयं की अभिरुचियाँ, आदतों, प्रवृत्तियों को नए सिरे से गढ़ता है। उसके अन्तराल में नए संस्कार जन्म लेते हैं। कर्म के प्रेरक तत्त्व स्वार्थों का जखीरा जमा करने की लालसा, अहंकार का झण्डा ऊँचा करने की चाहत नहीं रह जाती। प्रत्येक काम लोक के प्रति करुणा और आत्म विकास के सोपानों पर चढ़ने के उद्देश्य से होता है।'[४६] 'यहाँ प्रश्न यह नहीं है कि कर्म छोटा है या बड़ा।'[४७] 'पर उत्कृष्ट भावनाओं के घुल जाने से साधारण कर्म भी योग बन जाता है।'[४८]

'हर इन्सान में थोड़ी बहुत भावुकता दबी-छुपी पड़ी रहती है। जो कभी-कभी आँसुओं का ज्वार बनकर उभरती, आवेश बनकर प्रकट होती और गायब हो जाती है। भावुकता की दशा में आत्मा की कसक भरी पुकार उभरती और विलीन होती रहती है। लेकिन संवेदना बनकर इसे स्थायित्व मिल जाता है। संवेदना का जागरण दो शक्तियों विभूतियों का वरदान मनुष्य को दे डालता है। पहली विभूति और शक्ति है- सर्वस्व उत्सर्ग का साहस। दूसरी विभूति के रूप में मिलती है सहिष्णुता। संवेदनशीलता अपने विकसित रूप में भावना बन जाती है। कसक के स्थायित्व के साथ इसमें एक नयी चीज आती है, सम्बन्धों का शारीरिक धरातल से ऊपर उठकर जीवात्मा के स्तर पर विकसित हो जाना। भौतिक दूरियों का कोई मूल्य नहीं रह जाता। भावना का विस्तार जब समष्टि में हो जाता है, तब वह करुणा में बदल जाती है। करुणा किसी व्यक्ति विशेष, समूह विशेष के प्रति नहीं, सबके प्रति होती है। यह अवस्था जब अपनी व्यापकता में सघन शान्ति, अविराम प्रसन्नता, गहरी एकात्मता को जन्म देती है, तब उसे प्रेम कहते हैं।'[४९] 'भक्ति इसी दिव्य प्रेम को कहते हैं।'[५०]

मन की सतह पर उठने वाले स्पन्दनों को कल्पनाएँ कहते हैं। सामान्य क्रम में- 'मन के सागर में कल्पनाओं की लहरें यों ही बिखरती नष्ट होती रहती हैं। इन्हें जब बुद्धि सँवारती है, तब ये विचार कहलाते हैं।'[५१] विचारों की जीवन में अनुभूति को ज्ञान कहते हैं। ज्ञान की सामर्थ्य को परमात्म तत्त्व की अनुभूति के लिए समर्पित किया जाता है तो उसे ज्ञानयोग कहा जाता है। 'ज्ञानयोग की साधना यह है कि मस्तिष्कीय गति-विधियों पर विचारधाराओं पर विवेक का आधिपत्य स्थापित किया जाय। चाहे जो कुछ सोचने की छूट न हो। चाहे जिस स्तर की चिन्तन प्रक्रिया अपनाने न दी जाय। स्थूल शरीर का क्रियाकलाप स्थूल दृष्टि से समझा जा सकता

---

४५. युगपुरुष पूज्य गुरुदेव पं.श्रीराम शर्मा आचार्य जिनने साधना सत्रों की नूतन शोध से देवमानवो को गढ़ा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५७, अंक ४, पृ. ४७-४८

४६. आचार्य श्रीराम शर्मा-कर्म कब पाप बनता है, कब पुण्य, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ८, पृ ३६

४७. आचार्य श्रीराम शर्मा-योग: कर्मसु कौशलम्, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५६, अंक ५, पृ. ५

४८. आचार्य श्रीराम शर्मा-कर्म कब बन जाता है योग, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक १०, पृ. २

४९. युग पुरुष पं.श्रीराम शर्मा आचार्य, प्रेम व करुणा से लबालब था जिनका अत:करण, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५६, अक ४, पृ ५३,५४,५५

५०. आचार्य श्रीराम शर्मा-ज्ञान कर्म और भक्ति का रहस्य, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४९, अक १०, पृ. १०

५१. आचार्य श्रीराम शर्मा-आचार्य जी दधीचि परम्परा से जुड़ गए, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक ५, पृ. १२

[illegible] होती हैं, उन्हें देखने-[illegible] करनी पड़ती है। [illegible]

[illegible] के अनुसार 'ज्ञान, कर्म और भक्ति [illegible] है।'[52] उन्हीं के शब्दों में- [illegible] किए हैं और एक साथ [illegible] हैं। [illegible] को एवं हर जीवन की [illegible] एवं [illegible] महत्ता है। उनके विकसित [illegible] भौतिक एवं आध्यात्मिक लाभ [illegible] हैं। अपने निर्माण एवं विकास [illegible] का अर्थ है- संसार को समस्त [illegible] लेना और प्रगति के समस्त अवरोधों को [illegible] कर देना। साधना इसी दिशा में अग्रसर होने का [illegible], [illegible] अनुभूत उपाय है।'[53] इसके [illegible] हैं- १. कर्मयोग, २. ज्ञानयोग और ३. भक्तियोग। इन्हीं के द्वारा तीनों शरीरों का संस्कार, परिष्कार, परिमार्जन, अभिवर्धन सम्भव होता है। स्थूल शरीर को कर्मयोग द्वारा, सूक्ष्म शरीर को ज्ञानयोग द्वारा और कारण शरीर को भक्तियोग द्वारा परिष्कृत किया जाता है।'[54] इसी कारण 'ब्रह्मवर्चस साधना में ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का सन्तुलित समन्वय है।'[55]

◆ श्रद्धा-प्रज्ञा-निष्ठा

'श्रद्धा क्या है ?' इसकी एक शब्द में इतनी ही परिभाषा बतायी जा सकती है, कि 'आदर्शों के प्रति समर्पित अन्तराल की भाव संवेदना।'[56] 'श्रद्धा सत् तत्त्व के प्रति ही सघन होती है, असत् के प्रति नहीं। श्रेष्ठता का समावेश जहाँ भी होता है, श्रद्धा वहीं टिकती [illegible] अन्यत्र नहीं। वस्तुस्थिति प्रकट होने पर श्रेष्ठता के [illegible] में विकसित हुई श्रद्धा-अश्रद्धा में बदल जाती है [illegible] श्रद्धा वह प्रकाश है जो आत्मा को, सत्य को प्राप्ति [के] लिए बनाए गए मार्ग को दिखाता रहता है। जब मनुष्य एक क्षण के लिए लौकिक चमक-दमक, का[मिनी] और कंचन के लिए मोहग्रस्त होता है तो माता की [त]रह ठण्डे जल से मुँह धोकर जगा देने वाली शक्ति यह श्र[द्धा] ही होती है। सत्य के सद्गुण, ऐश्वर्य, स्वरूप एवं ज्ञा[न] की थाह अपनी बुद्धि से नहीं मिलती। उसके प्रति सवि[नय] प्रेम भावना विकसित होती है, उसी को श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा सत्य की सीमा तक साधक को साधे रहती है, सँभाले रहती है।'[57]

आचार्य जी के अनुसार श्रद्धा का तर्क से विरोध नहीं है, हाँ वे तर्क की सीमा मर्यादाओं से परे चल[ी] जाती हैं। उन्हीं के शब्दों में- 'तर्क की पहुँच विचारों तक है। विचारों से परे अनुभूतियों के कितने ही दिव्य क्षेत्र मौजूद हैं, जो उनकी पकड़ में नहीं आते। मानवी श्रद्धा ही उन्हें अनुभव कर सकती है।'[58] लेकिन तर्क अथवा विवेक को सर्वथा उपेक्षित कर देने पर श्रद्धा, अन्ध श्रद्धा बन जाती है। 'अन्ध श्रद्धा पर अविवेक छाया रहता है। परम्परा का निर्वाह ही सब कुछ लगता है। उसमें उचित-अनुचित का विश्लेषण करने का भी समय नहीं रहता। अन्ध श्रद्धा के साथ ही जो श्रद्धा शब्द लगा है। और कुप्रयोजन सिद्ध करने वाले उस अन्ध श्रद्धा की भी यथार्थता जैसी व्याख्या कर देते हैं, पर वस्तुतः बात [illegible] [है]। दोनों के बीच मृत और जीवन [का] अन्तर है।

---

५२. आचार्य श्रीराम शर्मा-कर्मयोग-ज्ञानयोग-भक्तियोग [illegible]
५३. आचार्य श्रीराम शर्मा-ज्ञान, कर्म और [illegible] का रहस्य,
५४. आचार्य श्रीराम शर्मा-[illegible]
५५. आचार्य श्रीराम शर्मा-[illegible]
५६. आचार्य श्रीराम शर्मा-[illegible]
५७. आचार्य श्रीराम शर्मा-[illegible]
५८. आचार्य श्रीराम शर्मा-[illegible]
५९. आचार्य श्रीराम शर्मा-[illegible] से साध
६०. आचार्य श्रीराम शर्मा-[illegible] तर्क नहीं [illegible] शरीर की [illegible]

'प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि की उत्कृष्टतम स्थिति।[६२] इसके आधार पर प्राप्त दिव्य दृष्टि ही प्रज्ञा है। उसकी विशेषता एक ही है कि जहाँ सर्वसाधारण को स्वार्थ ही सब कुछ दीखता है शरीरगत सुविधाओं का संचय और उपभोग ही सब कुछ लगता है। वहाँ प्रज्ञावान को आत्मा के दर्शन होते हैं। परमात्मा के आह्वान मार्ग वाले संकेत मिलते हैं। यह अदृश्य दर्शन उन्हें प्रज्ञा के सहारे ही मिलता है। प्रज्ञा नीर-क्षीर विवेक का उपक्रम आरम्भ करती है। साथ ही इतना साहस भी प्रदान करती है कि उत्कृष्टता के उच्च शिखर पर अकेला चढ़ दौड़ने का बल और साहस प्रदान कर सके। दुनिया एक ओर और एक ओर प्रज्ञावान होने पर भी वह अपना नया मार्ग बना सकता है और बिना किसी के समर्थन, सहयोग की आशा किए अपना मार्ग स्वयं ही बना सकता है और उस पर चल भी सकता है। प्रज्ञा के अभाव में व्यक्ति के पास मन और बुद्धि ही शेष रह जाते हैं। ये दोनों दर्पण की तरह हैं। उन पर सामने प्रस्तुत दृश्य ही प्रतिबिम्बित होते हैं। वासना-विलासिता, अहंता, संकीर्ण स्वार्थपरता जैसी हेय प्रवृत्तियाँ ही सब लोग अपनाए हुए दीखते हैं। उन्हीं का 'अक्स' मन पर उतरता है। वह मनचली कुकल्पनाओं में विचरने लगता है। आकांक्षाएँ भड़कती हैं। बुद्धि भी वाहन की तरह उन्हीं का समर्थन करने लगती है। फलतः क्रियाकृत्यों की योजनाएँ बनती हैं और उनके क्रियान्वित होने का क्रम चल पड़ता है। इस स्थिति से उबारने में मात्र प्रज्ञा ही सहायता करती है।[६३]

'निष्ठा अर्थात् उत्कृष्टता की पक्षधर अविचल साहसिकता। निष्ठा को ही उच्चस्तरीय आत्मबल, मनोबल कहते हैं। उसमें आदर्शों के प्रति समर्पित रहने का ऐसा संकल्प जुड़ा होता है, जो कठिन समय में भी सीना ताने खड़ा रह सके। प्रलोभनों, आकर्षणों और दबाओं के सामने न झुकने का व्रत ग्रहण कर चुका हो। जो हर कीमत पर अपनी राह चलने और उत्कृष्टता के चरम लक्ष्य तक पहुँचने की सुनिश्चित ठान चुका हो। ऐसे ही लोग निष्ठावान कहलाते हैं। निष्ठा आत्मा की गहराई से उभरने वाली शक्ति है। वह न तो लड़खड़ाना जानती है न डगमगाना। उसे आदर्श प्राणप्रिय होते हैं। जिस प्रकार मछली पानी के बिना जीवित नहीं रह सकती, उसी प्रकार यह भी निश्चित है कि अध्यात्म मार्ग के पथिक अपनी उपासना-साधना-आराधना के प्रति निष्ठावान ही होकर जीवनयापन करते हैं।[६४]

आचार्य जी द्वारा प्रतिपादित जीवन साधना में इन तीनों तत्त्वों का समन्वय देखने को मिलता है। उन्हीं के शब्दों में- 'त्रिपदा कही जाने वाली गायत्री के तीन चरण हैं। उन्हें वेदमाता, देवमाता, विश्वमाता कहा जाता है। इन्हीं के सहारे मानवी गरिमा के अनुरूप चिन्तन, चरित्र और व्यवहार बन पड़ता है। अध्यात्म भाषा में इन्हीं को प्रज्ञा, श्रद्धा और निष्ठा के नाम से जाना जाता है।[६५] इस समन्वित रूप की निजी जीवन में अनुभूति को बताते हुए वह कहते हैं- 'गायत्री माता की सत्ता कारण शरीर में श्रद्धा, सूक्ष्म शरीर में प्रज्ञा और स्थूल शरीर में निष्ठा बनकर प्रकट होने लगती है। यह मात्र कल्पना ही तो नहीं है। इसके लिए बार-बार कठोर आत्म परीक्षण किया जाता है।[६६]

◆ उपासना-साधना-आराधना की समग्रता

'उपासना अर्थात्- आत्मा को परमात्मा से जोड़ देना। भाव संस्थान जो मान्यताओं-आकांक्षाओं से लिपटा होता है- वही अपनी आत्मा ही तो है। परमात्व तत्त्व उत्कृष्ट आदर्शवादिता का ही दूसरा नाम है। अपनी ढर्रे में चली आ रही लोभ-मोह के बन्धनों में जकड़ी आत्मा को परिष्कृत, शोधित कर उसे उत्कृष्टता की ओर मोड़ देना ही सच्ची उपासना है। उपासना से तात्पर्य है, जिसके समीप बैठे हैं, तद्रूप हो जाना। यह समर्पण घनिष्ठता जितनी निश्छल और उच्चस्तरीय होगी, उतनी ही उपासना

---

६२. आचार्य श्रीराम शर्मा-ऋतम्भरा की आराधना, अभ्यर्थना, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४६, अंक १०, पृ ३९
६३. आचार्य श्रीराम शर्मा-प्रज्ञा के अवलम्बन से महानता के पथ पर अग्रगमन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अक ३, पृ ४-५
६४. आचार्य श्रीराम शर्मा-निष्ठा आत्म शक्ति की निर्झरिणी, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अक ४, पृ. ४-५
६५. आचार्य श्रीराम शर्मा-निष्ठा आत्म शक्ति की निर्झरिणी, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक ४, पृ. ३
६६ आचार्य श्रीराम शर्मा-उपासना की दिशा में बढ़ते चरण, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अंक ६, पृ. २५

है, पर मानसिक हलचलें अदृश्य होती हैं, उन्हें देखने-समझने के लिए सूक्ष्म दृष्टि विकसित करनी पड़ती है। यही ज्ञानयोग है।[५२]

आचार्य जी के अनुसार 'ज्ञान, कर्म और भक्ति का परस्पर सघन तारतम्य है।[५३] उन्हीं के शब्दों में- 'हम एक साथ तीन शरीर धारण किए हैं और एक साथ तीन जीवन जीते हैं। हर शरीर की एवं हर जीवन की अपनी विशेषता एवं अपनी महत्ता है। उनके विकसित एवं परिपुष्ट होने पर जो भौतिक एवं आध्यात्मिक लाभ मिलते हैं, वे भी अनोखे हैं। अपने निर्माण एवं विकास में सफलता प्राप्त कर लेने का अर्थ है- संसार की समस्त बाधाओं को जीत लेना और प्रगति के समस्त अवरोधों को समाप्त कर देना। साधना इसी दिशा में अग्रसर होने का विज्ञानसम्मत, शास्त्रसम्मत अनुभूत उपाय है।[५४] इसके अन्तर्गत तीन प्रयोग हैं- १. कर्मयोग, २. ज्ञानयोग और ३. भक्तियोग। इन्हीं के द्वारा तीनों शरीरों का संस्कार, परिष्कार, परिमार्जन, अभिवर्धन सम्भव होता है। स्थूल शरीर को कर्मयोग द्वारा, सूक्ष्म शरीर को ज्ञानयोग द्वारा और कारण शरीर को भक्तियोग द्वारा परिष्कृत किया जाता है।[५५] इसी कारण 'ब्रह्मवर्चस साधना में ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का सन्तुलित समन्वय है।[५६]

◆ श्रद्धा-प्रज्ञा-निष्ठा

'श्रद्धा क्या है?' इसकी एक शब्द में इतनी ही परिभाषा बतायी जा सकती है, कि 'आदर्शों के प्रति समर्पित अन्तराल की भाव संवेदना।[५७] 'श्रद्धा सत् तत्त्व के प्रति ही सघन होती है, असत् के प्रति नहीं। श्रेष्ठता का समावेश जहाँ भी होता है, श्रद्धा वहीं टिकती है, अन्यत्र नहीं। वस्तुस्थिति प्रकट होने पर श्रेष्ठता के क्रम में विकसित हुई श्रद्धा-अश्रद्धा में बदल जाती है।[५८] श्रद्धा वह प्रकाश है जो आत्मा की, सत्य की प्राप्ति के लिए बनाए गए मार्ग को दिखाता रहता है। जब भी मनुष्य एक क्षण के लिए लौकिक चमक-दमक, कामिनी और कंचन के लिए मोहग्रस्त होता है तो माता की तरह ठण्डे जल से मुँह धोकर जगा देने वाली शक्ति यह श्रद्धा ही होती है। सत्य के सद्गुण, ऐश्वर्य, स्वरूप एवं ज्ञान की थाह अपनी बुद्धि से नहीं मिलती। उसके प्रति सविनय प्रेम भावना विकसित होती है, उसी को श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा सत्य की सीमा तक साधक को साधे रहती है, सँभाले रहती है।[५९]

आचार्य जी के अनुसार श्रद्धा का तर्क से विरोध नहीं है, हाँ वे तर्क की सीमा मर्यादाओं से परे जरूर जाती हैं। उन्हीं के शब्दों में- 'तर्क की पहुँच विचारों तक है। विचारों से परे अनुभूतियों के कितने ही दिव्य क्षेत्र मौजूद हैं, जो उनकी पकड़ में नहीं आते। मानवी श्रद्धा ही उन्हें अनुभव कर सकती है।[६०] लेकिन तर्क अथवा विवेक को सर्वथा उपेक्षित कर देने पर श्रद्धा, अन्ध श्रद्धा बन जाती है। 'अन्ध श्रद्धा पर अविवेक छाया रहता है। परम्परा का निर्वाह ही सब कुछ लगता है। उसमें उचित-अनुचित का विश्लेषण करने का भी समय नहीं रहता। अन्ध श्रद्धा के साथ ही जो श्रद्धा शब्द लगा है। और कुप्रयोजन सिद्ध करने वाले उस अन्ध श्रद्धा की भी यथार्थता जैसी व्याख्या कर देते हैं, पर वस्तुतः बात वैसी है नहीं। दोनों के बीच मृत और जीवन जैसा अन्तर है।[६१]

---

५२. आचार्य श्रीराम शर्मा-कर्मयोग-ज्ञानयोग-भक्तियोग की साधना, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३६, अंक ३, पृ २०
५३. आचार्य श्रीराम शर्मा-ज्ञान, कर्म और भक्ति का रहस्य, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४९, अंक १०, पृ. १०
५४. आचार्य श्रीराम शर्मा-ज्ञान, कर्म और भक्तियोग की समग्र साधना, अखण्ड ज्योति, वर्ष २८, अक ५, पृ. ८
५५ आचार्य श्रीराम शर्मा-देवत्व के जागरण की सौम्य साधना पद्धति, अखण्ड ज्योति, वर्ष २८, अंक १२, पृ. १५
५६. आचार्य श्रीराम शर्मा-ब्रह्मवर्चस साधना में ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग का समन्वय, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४१, अक ७, पृ ५२
५७. आचार्य श्रीराम शर्मा-श्रद्धा का आधार और अवलम्बन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक २, पृ ४
५८. आचार्य श्रीराम शर्मा-श्रद्धया सत्यमाप्यते, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४२, अंक १०, पृ ४८
५९. आचार्य श्रीराम शर्मा-श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३९, अंक २, पृ १३
६०. आचार्य श्रीराम शर्मा-तर्क नहीं श्रद्धा प्रधान, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अंक १, पृ. ३
६१. आचार्य श्रीराम शर्मा-कारण शरीर की विशिष्टता-भाव श्रद्धा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक ८, पृ. ९

'प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि की उत्कृष्टतम स्थिति।'[62] इसके आधार पर प्राप्त दिव्य दृष्टि ही प्रज्ञा है। उसकी विशेषता एक ही है कि जहाँ सर्वसाधारण को स्वार्थ ही सब कुछ दीखता है शरीरगत सुविधाओं का संचय और उपभोग ही सब कुछ लगता है। वहाँ प्रज्ञावान को आत्मा के दर्शन होते हैं। परमात्मा के आह्वान मार्ग वाले संकेत मिलते हैं। यह अदृश्य दर्शन उन्हें प्रज्ञा के सहारे ही मिलता है। प्रज्ञा नीर-क्षीर विवेक का उपक्रम आरम्भ करती है। साथ ही इतना साहस भी प्रदान करती है कि उत्कृष्टता के उच्च शिखर पर अकेला चढ़ दौड़ने का बल और साहस प्रदान कर सके। दुनिया एक ओर और एक ओर प्रज्ञावान होने पर भी वह अपना नया मार्ग बना सकता है और बिना किसी के समर्थन, सहयोग की आशा किए अपना मार्ग स्वयं ही बना सकता है और उस पर चल भी सकता है। प्रज्ञा के अभाव में व्यक्ति के पास मन और बुद्धि ही शेष रह जाते हैं। वे दोनों दर्पण की तरह हैं। उन पर सामने प्रस्तुत दृश्य ही प्रतिबिम्बित होते हैं। वासना-विलासिता, अहंता, संकीर्ण स्वार्थपरता जैसी हेय प्रवृत्तियाँ ही सब लोग अपनाए हुए दीखते हैं। उन्हीं का 'अक्स' मन पर उतरता है। वह मनचली कुकल्पनाओं में विचरने लगता है। आकांक्षाएँ भड़कती हैं। बुद्धि भी वाहन की तरह उन्हीं का समर्थन करने लगती है। फलतः क्रियाकृत्यों की योजनाएँ बनती हैं और उनके क्रियान्वित होने का क्रम चल पड़ता है। इस स्थिति से उबारने में मात्र प्रज्ञा ही सहायता करती है।'[63]

'निष्ठा अर्थात् उत्कृष्टता की पक्षधर अविचल साहसिकता। निष्ठा को ही उच्चस्तरीय आत्मबल, मनोबल कहते हैं। उसमें आदर्शों के प्रति समर्पित रहने का ऐसा संकल्प जुड़ा होता है, जो कठिन समय में भी सीना ताने खड़ा रह सके। प्रलोभनों, आकर्षणों और दबाओं के सामने न झुकने का व्रत ग्रहण कर चुका हो। जो हर कीमत पर अपनी राह चलने और उत्कृष्टता के चरम लक्ष्य तक पहुँचने को सुनिश्चित ठान चुका हो। ऐसे ही लोग निष्ठावान कहलाते हैं। निष्ठा आत्मा की गहराई से उभरने वाली शक्ति है। वह न तो लड़खड़ाना जानती है न डगमगाना। उसे आदर्श प्राणप्रिय होते हैं। जिस प्रकार मछली पानी के बिना जीवित नहीं रह सकती, उसी प्रकार यह भी निश्चित है कि अध्यात्म मार्ग के पथिक अपनी उपासना-साधना-आराधना के प्रति निष्ठावान हो होकर जीवनयापन करते हैं।'[64]

आचार्य जी द्वारा प्रतिपादित जीवन साधना में इन तीनों तत्त्वों का समन्वय देखने को मिलता है। उन्हीं के शब्दों में- 'त्रिपदा कही जाने वाली गायत्री के तीन चरण हैं। उन्हें वेदमाता, देवमाता, विश्वमाता कहा जाता है। इन्हीं के सहारे मानवी गरिमा के अनुरूप चिन्तन, चरित्र और व्यवहार बन पड़ता है। अध्यात्म भाषा में इन्हीं को प्रज्ञा, श्रद्धा और निष्ठा के नाम से जाना जाता है।'[65] इस समन्वित रूप की निजी जीवन में अनुभूति को बताते हुए वह कहते हैं- 'गायत्री माता की सत्ता कारण शरीर में श्रद्धा, सूक्ष्म शरीर में प्रज्ञा और स्थूल शरीर में निष्ठा बनकर प्रकट होने लगती है। यह मात्र कल्पना ही तो नहीं है। इसके लिए बार-बार कठोर आत्म परीक्षण किया जाता है।'[66]

◆ उपासना-साधना-आराधना की समग्रता

'उपासना अर्थात्- आत्मा को परमात्मा से जोड़ देना। भाव संस्थान जो मान्यताओं-आकांक्षाओं से लिपटा होता है- वही अपनी आत्मा ही तो है। परमात्व तत्त्व उत्कृष्ट आदर्शवादिता का ही दूसरा नाम है। अपनी ढर्रे में चली आ रही लोभ-मोह के बन्धनों में जकड़ी आत्मा को परिष्कृत, शोधित कर उसे उत्कृष्टता की ओर मोड़ देना ही सच्ची उपासना है। उपासना से तात्पर्य है, जिसके समीप बैठे हैं, तद्रूप हो जाना। यह समर्पण घनिष्ठता जितनी निश्छल और उच्चस्तरीय होगी, उतनी ही उपासना

---

६२. आचार्य श्रीराम शर्मा-ऋतम्भरा की आराधना, अभ्यर्थना, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४६, अंक १०, पृ. ३९
६३. आचार्य श्रीराम शर्मा-प्रज्ञा के अवलम्बन से महानता के पथ पर अग्रगमन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक ३, पृ. ४-५
६४. आचार्य श्रीराम शर्मा-निष्ठा आत्म शक्ति की निर्झरिणी, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक ४, पृ ४-५
६५. आचार्य श्रीराम शर्मा-निष्ठा आत्म शक्ति की निर्झरिणी, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५१, अंक ४, पृ. ३
६६. आचार्य श्रीराम शर्मा-उपासना की दिशा में बढ़ते चरण, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अंक ६, पृ २५

सार्थक होगी।[६७] 'उपासना का अर्थ है समीपता-पास बैठना। जीव का ईश्वर के समीप बैठना, इसी का नाम उपासना है। सत्ता की दृष्टि से ईश्वर इस विश्व के कण-कण में समाया हुआ है। हमारे शरीर एवं समीपवर्ती वातावरण में भी ओत-प्रोत है। तथ्य की दृष्टि से वह समीप है। तत्त्व की दृष्टि से फिर भी वह दूर ही बना रहता है। भावनात्मक दृष्टि से यदि समीपता न हो तो फिर अभीष्ट आनन्द नहीं मिल सकता।[६८] यह तो तभी संभव है, जब श्रद्धासिक्त अन्तःकरण से स्वयं के अस्तित्व को परमात्मा में समर्पित किया जाय।

आचार्य जी के अनुसार- 'उपासना में सफलता तभी सम्भव है, जब इष्टदेव के साथ प्रेमभाव की भी चरम परिणति होती हो। केवल शारीरिक क्रिया की तरह मशीन जैसे कर्मकाण्ड कुछ बहुत फल नहीं दे सकते। परमात्मा प्रेममय है और वह प्रेम से ही प्रभावित होता है।[६९] उपासना में प्रेम भावना का समावेश करते ही वह नीरस न रहकर अति सरस और मनोरम हो उठती है। चकोर जैसे चन्द्रमा को निहारते हुए सारी रात बिताता है, भ्रमर जैसे कमल की शोभा और सुगंध पर मुग्ध बना मंडराता रहता है, तितली जैसे पुष्प को नहीं छोड़ती, चींटी जैसे शकर पर से हटाए नहीं हटती, पतंगा दीपक की समीपता जीवन संकट के मूल्य पर भी खरीदता है, उसी प्रकार प्रेम भावना भरे अन्तःकरण की दशा भगवान् की समीपता पाने के लिए आतुर जैसी होने लगती है। प्रेम का अभाव ही (उपासना मे) अन्यमनस्कता का एकमात्र कारण है। प्रेम के थोड़े से भी बीजांकुर यदि मन में हो तो उपासना से अधिक सरसता शायद ही अन्यत्र कहीं दीखे।[७०]

'साधना का अर्थ है चिन्तन और मनन। आत्म चिन्तन द्वारा अपनी समीक्षा आप ही करनी चाहिए जैसे प्रयोगशाला में पदार्थों का वर्गीकरण कर उनकी संरचना के तत्त्वों को देखा-परखा जाता है, उसी प्रकार अन्त.करण की प्रयोगशाला में चिन्तन प्रक्रिया द्वारा अपनी भीतरी स्थिति का वर्गीकरण कर उसे देखा-परखा जाता है। गुण-कर्म-स्वभाव की स्थिति और प्रकृति परखी जाती है। उसका आदर्श स्वरूप क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है, यह विचारपूर्वक निर्धारित किया जाता है।

आत्म समीक्षा से प्राप्त निष्कर्षों का मनन करना, उस हेतु निर्धारित उपायों को अपनाना और अभीष्ट दिशा में जीवन क्रम को ढालते जाना साधना का अगला चरण है। यह कठिन कार्य यों ही नहीं हो जाता। एक तो आत्म समीक्षा ही कठिन है। अपने दोष देखने की सामान्यतया व्यक्ति में प्रवृत्ति नहीं होती। वैसी प्रवृत्ति अपनाना सरल नहीं है। फिर-दोष समझ में आ जाने भर से दूर नहीं होते। उसके लिए अपने ही अब तक के अभ्यास के विरुद्ध चलना होता है। धारा के प्रतिकूल तैरने का श्रम सर्वविदित है। बाहरी गन्दगी तो स्पष्ट दिख जाती है, पर भीतर की गन्दगी अभ्यासवश प्रिय और आकर्षण लगने लगती है। उसे समझना भी कठिन है क्योंकि इस सफाई में जिन उपकरणों का प्रयोग होता है, वे बाहरी नहीं है। वे गन्दे होते हुए भी अपने स्वच्छ होने का भ्रम पैदा कर सकते हैं। इसीलिए एक बार आत्म समीक्षा कर लेने भर से काम नहीं चलता। उस आत्मशोधन के निष्कर्षों का निरन्तर मनन करना आवश्यक है। मनन से कर्तव्य का स्मरण रहेगा। आत्म निर्माण की दिशा याद आती रहेगी और अपना संकल्प भी प्रबल बना रहेगा। तभी आत्म विकास सम्भव होगा। इस कठिन काम को ही साधना कहते हैं। प्रचण्ड मनोबल और जाग्रत् संकल्प शक्ति द्वारा ही यह सम्भव होता है।[७१] 'अन्त.करण को कुसंस्कारों, कषाय-कल्मषों की भयानक व्याधियों से साधना की औषधि ही मुक्त करती है।[७२]

६७. आचार्य श्रीराम शर्मा-उपासना मे कृत्य नहीं भावना प्रधान, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४६, अक ५, पृ ४७
६८ आचार्य श्रीराम शर्मा-इस महान अवलम्बन का परित्याग न करे, अखण्ड ज्योति, वर्ष २९, अक ४, पृ. ५
६९. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारी प्रेम साधना और उसकी परिणति, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अक ४, पृ. ६४
७०. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारी प्रेम साधना और उसकी परिणति, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ५, पृ. ६४
७१. आचार्य श्रीराम शर्मा-अंत:करण की सुन्दरता साधना से बढती है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४२, अंक ७, पृ ३४
७२. वही, पृ ३३

'आराधना का अर्थ है लोक मंगल में निरत रहना। ईश्वर का एक रूप साकार है जो ध्यान-धारणा के लिए अपनी-अपनी रुचि और मान्यता के अनुरूप गढ़ा जाता है। यह मनुष्य से मिलती-जुलती आकृति-प्रकृति का होता है। यह गठन उस प्रयोजन के लिए है तो उपयोगी, आवश्यक किन्तु साथ ही यह ध्यान रखने योग्य भी है कि वास्तविक नहीं काल्पनिक है। ईश्वर एक है उसकी इतनी आकृतियाँ नहीं हो सकती, जितनी कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में गढ़ी गई हैं। इनका उपयोग मन की एकाग्रता का अभ्यास करने तक ही सीमित रखा जाना चाहिए। सर्वव्यापी ईश्वर निराकार ही हो सकता है। उसे परमात्मा कहा गया है। परमात्मा अर्थात् आत्माओं का परम समुच्चय। इसे आदर्शों का एकाकार कहने में भी हर्ज नहीं। यही विराट् ब्रह्म या विराट् विश्व है। तत्त्वदर्शी इसे विश्वव्यापी चेतना के रूप में देखते हैं, और प्राणियों को उनका दृश्य स्वरूप। इस मान्यता के अनुसार यह लोक सेवा ही विराट् ब्रह्म की आराधना बन जाती है। विश्व उद्यान को अधिक सुखी-समुन्नत बनाने के लिए ही परमात्मा ने यह बहुमूल्य जीवन देकर मनुष्य को अपने युवराज की तरह यहाँ भेजा है। इसकी पूर्ति में ही जीवन की सार्थकता है। इसी मार्ग का अधिक श्रद्धापूर्वक अवलम्बन करने से अध्यात्म उत्कर्ष का वह प्रयोजन सधता है, जिसे आराधना कहा गया है।'[७३]

साधना से उद्भूत श्रद्धासिक्त अन्तःकरण से की गई उपासना, आराधना के रूप में अपना आत्मविकास करती है।'आत्म विकास प्रारम्भ होते ही उसका विस्तार होने लगता है और धीरे-धीरे आत्मविस्तृत मनुष्य स्वयं से समाज, समाज से संसार और संसार से बढ़कर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड से बढ़कर परमात्म तत्त्व तक पहुँच जाता है। उसके सम्पूर्ण विकार ही नहीं समग्र भौतिक भाव तिरोहित हो जाता है, वह आध्यात्मिक हो जाता है और परमानन्द प्राप्त कर लेता है।'[७४]

आचार्य जी के अनुसार- 'उपासना में अन्तःकरण को भावनाओं को उच्च स्तरीय उद्देश्यों के अनुरूप गतिशील बनाना पड़ता है। साधना और आराधना में क्रमशः विचारणा और गतिविधियों को उत्कृष्टता के साथ जोड़ा जाता है। कारण, सूक्ष्म, स्थूल शरीर के रूप में इनके कार्यक्षेत्र हैं। आत्म सत्ता को महानता के पथ पर पहुँचाने के लिए इन्हीं त्रिविध सोपानों को अपनाना पड़ता है। उपासना-साधना-आराधना के इन तीन उपायों से ही ईश्वर जीव सत्ता में प्रवेश करता है तथा मनुष्य को देवोपम चिन्तन, चरित्र विनिर्मित करने की प्रेरणा देता है।'[७५] आचार्य जी ने स्वयं की जीवन साधना में इन्हीं तीन तत्त्वों का समन्वय किया। उन्हीं के शब्दों में- 'हमारे मार्गदर्शक ने प्रथम दिन ही त्रिपदा गायत्री का व्यवहार स्वरूप उपासना, साधना, आराधना के रूप में भली प्रकार बता दिया था। नियमित जप-ध्यान करने के अनुबन्धों समेत पालन करने के निर्देशन के अतिरिक्त यह भी बताया था कि चिन्तन में उपासना, चरित्र में साधना और व्यवहार में आराधना का समावेश करने में पूरी-पूरी सतर्कता और तत्परता बरती जाय। उस निर्देशन का आद्यावधि यथा सम्भव ठीक तरह ही परिपालन हुआ है। उसी के कारण अध्यात्म-अवलम्बन का प्रतिफल इस रूप में सामने आया है।'[७६]

योग की प्रक्रिया

◆ आसन-मुद्रा-बन्ध

आसनों को योग साधना में इसलिए प्रमुख स्थान दिया है, क्योंकि ये मर्म स्थानों में रहने वाली 'हव्य वहा' और 'कव्य वहा' तड़ित शक्ति को क्रियाशील रखते हैं। ऐसे मर्म स्थान उदर और छाती के भीतर विशेष हैं। कण्ठकूप, स्कन्ध, पुच्छ, मेरुदण्ड और ब्रह्मरन्ध्र से सम्बन्धित ३३ मर्म हैं। सिर और धड़ में रहने वाले मर्मों में 'हव्यवहा' नामक धन विद्युत का निवास और हाथ पैरों में 'कव्यवहा' ऋण विद्युत की निवास रहता है। दोनों का सन्तुलन बिगड़ जाने से बीमारी तथा कमजोरी

---

७३ आचार्य श्रीराम शर्मा-आराधना जिसे निरन्तर अपनाए रहा गया, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अक ६, पृ. २९-३०
७४. आचार्य श्रीराम शर्मा-आत्मविकास के लिए लोकसेवा आवश्यक, अखण्ड ज्योति, वर्ष २६, अक १०, पृ. ५
७५ आचार्य श्रीराम शर्मा-उपासना में कृत्य नहीं भावना प्रधान, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४६, अंक ५, पृ ४७
७६. आचार्य श्रीरामा शर्मा-आराधना जिसे निरन्तर अपनाए रहा गया, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अक ६, पृ. २९

आ घेरती है, जिससे योग साधना में बाधा पड़ती है। आसनों का सीधा प्रभाव हमारे मर्म स्थलों पर पड़ता है। प्रधान नस, नाड़ियों और मांस पेशियों के अतिरिक्त सूक्ष्म कशेरुकाओं का भी आसनों द्वारा ऐसा आकुंचन-प्रकुंचन होता है कि उनमें जमें हुए विकार हट जाते हैं तथा फिर नित्य सफाई होती रहने से नए विकार जमा नहीं होते। मर्म स्थलों की शुद्धि, स्थिरता एवं परिपुष्टता की दृष्टि से आसनों को अपने ढंग का सर्वोत्तम उपचार कहा जा सकता है।[७७]

योग शास्त्रों में ८४ आसनों की चर्चा की गई है। लेकिन आचार्य जी ने अपनी योग प्रक्रिया में सुखासन, सिद्धासन और पद्मासन को महत्त्व दिया है। उन्हीं के शब्दों में 'किसी प्रकार के भ्रम एवं अत्यधिक विस्तार में न जाकर, सुखासन, सिद्धासन और पद्मासन इन तीन को ही प्रमुख आधार माना जाय।[७८] साधारण रीति से पालथी मारकर बैठने का नाम सुखासन है। बाईं जांघ के ऊपर दाहिने पैर को और दाहिनी जांघ पर बाएँ पैर को रखकर पीछे की ओर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठे को पकड़कर और ठोढ़ी को कंठ से सटाकर नाक के अग्रभाग को देखने की प्रक्रिया पद्मासन है। मूलाधार चक्र की स्थिति को बाएं पैर की एड़ी से दबा और एक चरण मेढ़ू देश में आबद्ध करके एवं हृदय में ठोढ़ी को जमाते हुए देह को सरल रख दोनों भौंहों के बीच दृष्टि रखकर निश्चल भाव से बैठने का नाम सिद्धासन है। इन आसनों से शारीरिक चेतना परमात्म चेतना को धारण करने की तैयारी करती है।

मुद्राओं का प्रभाव शरीर की आन्तरिक ग्रन्थियों पर पड़ता है। 'इन मुद्राओं के माध्यम से शरीर के अवयवों तथा उनकी क्रियाओं को प्रभावित नियन्त्रित किया जा सकता है।'[७९] 'वे प्रधानतया इन्द्रियों की रहस्यमयी शक्ति से सम्बन्धित हैं। उनका प्रभाव इतनी गहराई तक पहुँचता है कि ज्ञानेन्द्रियों की क्षमता अधिक प्रखर बनायी जा सके और यदि उनमें किसी प्रकार दुर्बलता, रुग्णता का समावेश हो गया है, तो उसका निराकरण निवारण सम्भव हो सके।[८०]

हठयोग के प्रयोगों में बीस मुद्राओं का उपयोग होता है। लेकिन आचार्य जी के अनुसार इन सभी को जानना, सीखना, जीवन साधना के साधकों के लिए न तो आवश्यक है और न उपयोगी। उनमें जो प्रमुख प्रभावोत्पादक, अधिक सरल एवं अधिक उपयोगी परिणाम उत्पन्न करने वाली है, मात्र ऐसी तीन को लिया गया है।[८१] १. शक्ति चालिनी मुद्रा, २. शिथिलीकरण मुद्रा, ३. खेचरी मुद्रा।[८२] इनमें से शक्तिचालिनी का सम्बन्ध मूलाधार से है। कुण्डलिनी का निवास केन्द्र वही है। पौरुष, प्रजनन, उत्साह इसी केन्द्र से सम्बन्धित है। शक्तिचालिनी के आधार पर 'सुषुम्ना नाड़ी का द्वार खुलता है, मूलाधार चक्र में चेतना आती है। इन दोनों क्रियाओं के द्वारा समूचे कुण्डलिनी क्षेत्र पर ऐसा सूक्ष्म विद्युतीय प्रभाव पड़ता है, जिससे इस शक्ति स्रोत के जागरण व मेरुदण्ड मार्ग से ऊर्ध्वगमन के दोनों उद्देश्य पूरे होते हैं।[८३] शिथिलीकरण मुद्रा का सम्बन्ध हृदय चक्र से है। उस स्थान पर जीवनी शक्ति, बलिष्ठता एवं तेजस्विता का सम्बन्ध है। भावनाओं को दिशा देना भी इसी क्षेत्र के प्रयत्नों से बन पड़ता है। तीसरी खेचरी मुद्रा है। इसका सम्बन्ध ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार कमल से है। यहाँ मन, बुद्धि, चित्त से सम्बन्धित सभी तंत्र विद्यमान है। खेचरी मुद्रा के द्वारा उनमें से किसी को भी, किसी भी प्रयोजन के लिए जाग्रत् एवं तत्पर किया जाता है।[८४]

७७. आचार्य श्रीराम शर्मा-गायत्री महाविज्ञान भाग-३, पृ. ४०,४१,४२
७८. आचार्य श्रीराम शर्मा-उच्च स्तरीय साधना के उपयोगी उपक्रम आसन-मुद्रा-बंध, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४५, अंक ४, पृ २५
७९. आचार्य श्रीराम शर्मा-ब्रह्मवर्चस की पंचाग्नि विद्या, पृ. २१९
८०. आचार्य श्रीराम शर्मा-त्रिविध मुद्राएँ और उनकी प्रतिक्रियाएँ, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४५, अंक ११, पृ ३२
८१. वही
८२. वही
८३. वही, पृ. ३३
८४. वही, पृ. ३२

'बन्धों के द्वारा शरीर के विशेष स्थानों पर रक्त प्रवाह एवं प्राण संचार में रोक लगती है और नियंत्रण होता है। विभिन्न शारीरिक अवयवों में प्राण एवं रक्त का प्रवाह संयत किया जा सकता है। साधना में प्रयुक्त होने वाले मुख्य बन्ध तीन है। १. मूलबन्ध, २. उड्डियानबन्ध, ३. जालन्धर बन्ध।'[८५] प्राणायाम करते समय गुदा के छिद्रों को सिकोड़ कर ऊपर की ओर खींचे रहना मूलबन्ध कहलाता है। अपान और कूर्म दोनों ही प्राणों पर मूलबन्ध का प्रभाव होता है। वे जिन तन्तुओं में बिखरे हुए फैले रहते हैं, उनका संकुचन होने से यह बिखरापन एक केन्द्र में एकत्रित होने लगता है। पेट में स्थित आंतों को पीठ की ओर खींचने की क्रिया को उड्डियानबन्ध कहते हैं। पेट को ऊपर की ओर जितना खींचा जा सके, उतना खींच कर उसे पीछे की ओर पीठ में चिपका देने का प्रयत्न इस बन्ध में किया जाता है। नाभि स्थित 'समान' और कृकल प्राणों में स्थिरता तथा वात-पित्त-कफ की शुद्धि होती है। सुषुम्ना नाड़ी का द्वार खोलता है और स्वाधिष्ठान चक्र में चेतना आने से स्वल्प श्रम से ही जाग्रत् होने योग्य हो जाता है। मस्तक को झुकाकर ठोड़ी को कण्ठ कूप में लगाने को जालन्धर बन्ध कहते हैं। जालन्धर बन्ध का सोलह स्थान की नाड़ियों पर प्रभाव पड़ता है। १. पादंगुष्ठ, २. गुल्फ, ३. घुटने, ४. जंघा, ५. सीवनी, ६. योनि, ७. नाभि, ८. हृदय, ९. ग्रीवा, १०. कंठ, ११. लम्बिका, १२. नासिका, १३. भ्रू, १४. कपाल, १५. मूर्धा और १६. ब्रह्मरन्ध्र। ये सोलह स्थान जालन्धर बन्ध के प्रभाव क्षेत्र हैं। विशुद्ध चक्र के जागरण में जालन्धर बन्ध से बड़ी सहायता मिलती है।'[८६]

'पाण्डिचेरी के जवाहरलाल इन्स्टीट्यूट ऑफ पोस्ट ग्रेजूएट मेडिकल एजूकेशन एण्ड रिसर्च' के फिजियोलाजी विभाग के डॉ. गोपाल एम. बटमैन और एस. लक्ष्मण ने बन्धों का नाड़ी, हृदय एवं ब्लडप्रेशर पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन प्रयोगों द्वारा किया। उन्होंने १८ योगाभ्यासियों पर प्रयोग करके देखा कि प्राणायाम के साथ जब बन्ध लगाने की क्रिया की जाती है, तो रक्त वाहनियों पर दबाव पड़ने से हृदय की धड़कन एवं रक्तचाप में कमी हो जाती है। साथ ही शरीर एवं मस्तिष्क को विश्राम देने में मदद मिलती है।'[८७]

प्राणायाम
स्वरूप, प्रक्रिया एवं वैज्ञानिकता

'प्राणायाम का मतलब है- प्राण शक्ति का परिशोधन व अभिवर्धन।'[८८] यह सृष्टि विभिन्न स्तर के प्राण प्रवाहों से भरी हुई है। साधक उसे सहज ही प्राप्त कर सकता है। किन्तु प्राण शक्ति ठहरती उतनी ही मात्रा में है, जितने को धारण करने की साधक में क्षमता है। प्राणायाम से साधक की प्राण धारण करने की और उसको प्रयुक्त करने की क्षमता का विकास होता है। प्राणायाम का सम्बन्ध मनुष्य के स्वास्थ्य एवं आरोग्य से भी है। शरीर के अन्दर जो भी हलचलें चलती हैं- उसमें प्राण की भूमिका विभिन्न रूपों में होती हैं। मानव शरीर में पाँच महाप्राण- 'प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान' जिन्हें ओजस् कहते हैं तथा पाँच लघु प्राण- 'नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, एवं धनजंय' जिन्हें रेतस् कहते हैं, का निवास होता है। प्रत्येक की भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ हैं, पर यह एक ही महाशक्ति के अंग हैं। प्राण की सूक्ष्म संरचना एवं कार्य विधि की सक्षमता एवं व्यतिरेक पर ही आत्मिक, मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य का स्वरूप बनता है। प्राण के इन स्वरूपों में किसी भी प्रकार का असन्तुलन शरीर को भी प्रभावित करता है। इसीलिए प्राण विद्या एवं प्राणायाम विज्ञान की उपयोगिता एवं आवश्यकता है।

प्राणायाम की प्रचलित प्रणालियों को यदि वर्गीकृत किया जाय तो वह तीन मुख्य वर्गों में बाँटी जा सकती है। १. सूक्ष्म व्यायाम के रूप में जिसे पाश्चात्य जगत् में डीप ब्रीदिंग एक्सरसाइज कहते हैं। २. श्वास

८५. आचार्य श्रीराम शर्मा-बंध मुद्राओं का स्थूल तथा सूक्ष्म प्रभाव, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४४, अंक १, पृ. ४१
८६. आचार्य श्रीराम शर्मा-गायत्री महाविज्ञान भाग-३, पृ.८९-९०
८७. आचार्य श्रीराम शर्मा-बंध मुद्राओं का स्थूल तथा सूक्ष्म प्रभाव, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४४, अंक १, पृ. ४१
८८. आचार्य श्रीराम शर्मा-सूर्यबेधन प्राणायाम से अंतः की प्राणाग्नि का जागरण, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५६, अंक ६, पृ. ३२

को तालबद्ध बनाने का अभ्यास, इससे शरीरस्थ प्राण को सशक्त बनाना तथा उसे अपने नियंत्रण में लाना सम्भव होता है। ३. प्राणाकर्षण प्रयोग इस माध्यम से अंतरिक्ष के प्राण भण्डार से प्राणानुदान प्राप्त किए जा सकते हैं।

आचार्य जी ने अपनी जीवन साधना की प्रक्रिया में तीन प्रकार के प्राणायामों को विशेष उपयोगी बताया है- १. प्राणाकर्षण प्राणायाम, २. नाड़ी शोधन प्राणायाम, ३. सूर्यबेधन प्राणायाम।[८९]

प्राणाकर्षण प्राणायाम- इस प्रक्रिया में नासिका के दोनों छिद्रों से धीरे-धीरे श्वांस खीचने के साथ यह भावना की जाती है कि प्राणतत्त्व के उफनते हुए बादलों को हम अपनी सांस द्वारा भीतर खींच रहे हैं। सांस पूरी खींचने के बाद उसे भीतर रोकने के साथ यह भावना की जाती है कि जो प्राण तत्त्व खींचा गया है, उसे हमारे भीतरी अंग-प्रत्यंग सोख रहे हैं। इसे सोखने के साथ ही प्राण तत्त्व में सम्मिलित चेतना, तेज, बल, उत्साह, धैर्य, पराक्रम जैसे अनेकों तत्त्व हमारे अंग-प्रत्यंगों में स्थिर हो रहे हैं। जितनी देर सांस रोकी जा सके उतनी देर रोकने के बाद इस भावना के साथ धीरे-धीरे निकाला जाता है कि शरीर-मन-मस्तिष्क में जो विकार थे वे सब इस निकलती हुई सांस के साथ धुल गए हैं और काले धुएँ के समान अनेक दूषणों को लेकर बाहर निकल रहे हैं। पूरी सांस बाहर निकल जाने के बाद कुछ देर बाहर सांस रोके रहने के साथ यह भावना की जाती है कि अन्दर के जो दोष बाहर निकाले गए थे, उनको वापिस न लौटने देने के ख्याल से दरवाजा बन्द कर दिया गया है। इस तरह १. पूरक, २. अन्तःकुम्भक, ३. रेचक और ४. बाह्य कुम्भक- इन चार चरणों वाली यह प्राणाकर्षण प्राणायाम प्रक्रिया है।

नाड़ी शोधन प्राणायाम- यों तो योग में ७२ हजार नाड़ियों का उल्लेख किया गया है, पर उनमें से प्रमुख १४ ही मानी गयी है। इनके नाम इस प्रकार हैं। १. सुपुम्ना, २. इड़ा, ३. पिंगला, ४. गान्धारी, ५. हस्तजिह्वा, ६. कुहू, ७. सरस्वती, ८. पूषा, ९. शंखिनी, १०. यशस्विनी, ११. वारुणी, १२. अलम्बुसा, १३. विश्वोधरा, १४. पयस्विनी।[९०] इनमें भी सर्वोपरि तीन है। १. इड़ा, २. पिंगला, ३. सुपुम्ना। सामान्य क्रम में मलों से भरी हुई नाड़ियों में प्राणवायु अवरुद्ध रहती है। नाड़ी शोधन प्रक्रिया द्वारा इस अवरोध को दूर कर नाड़ी मण्डल को सक्रिय-सतेज बनाया जाता है।

इस प्रक्रिया में तीन बार बाएँ नासिका छिद्र से सांस खींचते और छोड़ते हुए नाभिचक्र में चन्द्रमा का शीतल ध्यान, तीन बार दाहिने नासिका छिद्र से सांस खीचते और छोड़ते हुए सूर्य के ऊष्ण प्रकाश का ध्यान, एक बार दोनों छिद्रों से सांस खींचते हुए मुख से सांस बाहर निकालने की क्रिया, इस सबसे मिलकर एक पूर्ण नाड़ी शोधन प्राणायाम बनता है।[९१]

सूर्यवेधन प्राणायाम- दाहिनी नासिका से वायु खींचकर यथा शक्ति कुम्भक करते हैं और बाईं नासिका से वायु को बाहर निकाल देते हैं। यही सूर्यवेधन प्राणायाम है। सूर्यवेधन प्राणायाम द्वारा इड़ा-पिंगला के माध्यम से अन्तरिक्ष से खींचकर लाया गया प्राणतत्त्व मूलाधार में अवस्थित चिन्गारी जैसी प्रसुप्त अग्नि तक पहुँचाया जाता है, तो वह भभकती है और सारी सत्ता को अग्निमय बनाती है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी प्राणायाम प्रक्रिया पर किए गए शोध प्रयासों के फलस्परूप यही निष्कर्ष दिया है कि इसके प्रभाव मानव जीवन के लिए अतिशय लाभकारी है। डॉ. गाउस्ट[९२] के अनुसार सूक्ष्म ऋणात्मक आयन जीवकोश के श्रमिक के समान है, जो जीवनी शक्ति की रचना करते हैं। उनको मानव के उपयोग के योग्य बनाते हैं। फ्रेंच वैज्ञानिक वैलेस इस क्षेत्र में विशेष कार्य किया है। उनके अनुसार ऋणात्मक आयन ग्रहण करने के कारण मानव शरीर में भी ऋणात्मक विद्युत की मात्रा बढ़ जाती है। प्राणयाम वह प्रक्रिया है जो कि

८९. ब्रह्मवर्चस-प्राणायाम से आधि-व्याधि निवारण, पृ. ७२
९०. योगचूडामणि उपनिषद्
९१. ब्रह्मवर्चस-प्राणायाम से आधि-व्याधि निवारण, पृ ८०-८१
९२. एन्ड्रीज लिजाबेथ-प्राणायाम, पृ. ११

प्राणशक्ति (आयनिक ऊर्जा) को ग्रहणशीलता बढ़ाती है। यह आयनाइज्ड विद्युत निगेटिव चार्ज केवल आक्सीजन के द्वारा ही नहीं प्राप्त होती; बल्कि मन की यह भावना कि हम अपने भीतर यह अन्तरिक्षीय ऊर्जा समाहित कर रहे हैं। एक ऐसा 'सेट' निर्मित करती है जिसमें कि शारीरिक अंगों और प्रक्रियाओं की दशा भी धीरे-धीरे उसी ओर उन्मुख होती जाती है।

जे.एफ. नन के अनुसार 'आक्सीजन के उपयोग की दशा पर अभी भी बहुत कम ध्यान दिया गया है। यह धारणा बना ली गई है कि प्रत्येक व्यक्ति सभी दशाओं में २५० मि.ली. आक्सीजन प्रति मिनट उपयोग करता है। प्राणायाम विधि इस मान्यता को भंग करती है और प्रकट करती है कि आक्सीजन की मात्रा अभ्यास द्वारा बढ़ाई जा सकती है और उसका शरीर में अवशोषण प्रतिशत भी बढ़ाया जा सकता है जो कि मानव क्षमताओं को बहुत बढ़ा देगा।'[93] साधारण अवस्था में सांस के साथ ३० घन इंच हवा फेफड़ों में पहुँचती है। इससे अधिक गहरी सांस लें तो कुल मिलाकर १३० घन इंच तक वायु फेफड़ों में पहुँच जाती है, किन्तु सांस छोड़ते समय १०० घन इंच वायु छाती में ही रह जाती है। इस प्रकार कुल २३० घन इंच की जगह शरीर में होती है। तात्पर्य यह है साधारण सांस की अपेक्षा आठ गुना सांस ली जा सकती है। इससे आठ गुनी सफाई में वृद्धि होगी, आठ गुना आक्सीजन शरीर के मिलेगी और तो आठ गुना स्वास्थ्य का सुधार होगा।[94]

एण्ड्री लिजाबेथ[95] के अनुसार कुम्भक प्रक्रिया तिल्ली (Spleen) की क्रिया विधि को अधिक उत्तेजित करती है। उसमें संकुचन होता है जिससे कि अधिक मात्रा में रक्त के लाल कण बाहर निकलते हैं और रक्त प्रवाह में शामिल होते हैं। यही रक्त के लालकण 'हीमोग्लोबिन' का अंश रखते हैं। जो कि आक्सीजन का अवशोषण करती है। आक्सीजन का अधिक अवशोषण पुनः कुम्भक प्रक्रिया को और अधिक बढ़ाने में उपयोगी सिद्ध होती है। प्राणायाम की विभिन्न विधियाँ अनेक रूपों से जैविक रासायनिक क्रियाओं को प्रभावित करती है। विलियम जीफैरिंग[96] ने प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया कि विभिन्न प्रकार की मनःस्थितियों में श्वसन प्रक्रिया में अन्तर आता है। जिस प्रकार यह तथ्य है, उसी प्रकार यह भी सत्य है कि श्वास की गति में विशेष प्रकार के परिवर्तन करके मनःस्थिति को बदला जा सकता है। यह केवल क्षणिक प्रभाव न होकर लम्बे अभ्यास द्वारा मूल प्रकृति, मनोशक्ति एवं सांवेगिक सन्तुलन आदि के नियंत्रण के लिए भी प्रभावकारी होता है। प्राणायाम इसी उपलब्धि को अर्पित करने की प्रक्रिया है।

प्राणायाम मस्तिष्क को शक्तिमान करता है एवं मनोव्यवहार में उत्तेजना के स्थान पर सहजता के साथ क्रान्तिकारी प्रभाव लाता है। इसीलिए प्राणायाम रक्तचाप, दमा, हृदयरोग आदि में भी उपयोगी सिद्ध हुआ है। डॉ. के.एन. उडुप्पा ने दमा के ८५ रोगियों पर इसका प्रयोग किया। उनमें ४३ रोगमुक्त हुए, ३० को विशेष लाभ हुआ व १२ में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसी प्रकार बढ़े रक्तचाप वाले ९१ रोगियों पर प्रयोग किया। उनमें ४७ रोगमुक्त हुए, २२ को विशेष लाभ हुआ व २२ पर कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई दिया।[97] सी.एच. पटेल ने इसका उपयोग बढ़े रक्तचाप के नियंत्रण में किया।[98] होइनिंग एवं अन्य ने भी इसके दैहिक चिकित्सा प्रकरण पर सकारात्मक निष्कर्ष दिए हैं।[99] टी. कीवरली और कामीयात ने इसे मनोजन्य रोगों में उपयोगी पाया है।[100]

---

९३. जे.एफ.नन-एप्लाइड रेस्पीरेटरी फिजियोलॉजी, पृ. ३८५
९४. आचार्य श्रीराम शर्मा, प्राणवान् बनना है तो प्राणायाम कीजिए, अखण्ड ज्योति, वर्ष २६, अंक १, पृ ४१
९५. एन्ड्री लिजाबेथ-प्राणायाम, पृ. ८३
९६. ब्रह्मवर्चस- आसन, प्राणायाम से अधि-व्याधि निवारण, पृ. १४५
९७. उडुप्पा-स्ट्रेस मैकेनिज्म एण्ड इट्स कन्ट्रोल थ्रू योग, पृ. ३६१
९८. सी.एच.पटेल-योग एण्ड बायोफीडबैक इन मैनेजमेण्ट ऑफ हाइपरटेन्सन, दि लैन्सेट-१९७५, पृ ६५३-६५
९९. होइनिग-मेडिकल रिसर्च आन योग कनफर्मिया साइक्ट्राकिया (१९६८) पृ.६०-८९
१००. कीवरली कमीयात-जर्नल ऑफ ट्रान्सपर्सनल साइकोलॉजी (१९७२) पृ. ३३-३८

आचार्य जी प्राणायाम के प्रभाव की सीमा सिर्फ शारीरिक क्रियाओं तक नहीं मानते। उनके अनुसार 'प्राणायाम मात्र डीप-ब्रीदिंग प्रक्रिया से भिन्न है। इसमें ब्रह्माण्ड व्यापी प्राण की मात्रा आत्म प्राण तक पहुँचाई जाती है।'[१०१] इस तरह प्राण का स्वरूप कुछ ऐसा निखरता है कि वह ईश्वरीय चेतना को धारण करने में समर्थ हो सके।

मंत्र-स्वरूप, प्रक्रिया और वैज्ञानिकता

'मंत्रों के रूप में परमेश्वर ही प्रस्फुटित होता है।'[१०२] 'मनन और त्राण मंत्र के ये दो धर्म हैं।'[१०३] पर नाद का परामर्श ही मनन है। अपूर्णता के प्रशमन को रक्षा अथवा त्राण कहते हैं। इस प्रकार शक्ति के वैभव या विकास की दशा में मनन युक्त तथा सांसारिक अवस्था में त्राणमयी विश्वरूप विकल्प को कवलित कर लेने वाली अनुभूति ही मंत्र है।[१०४]

यह पूर्णहन्ता अथवा परावागात्मक अनुभूति निरन्तर यथाविधि मनन या अनुसन्धि से उत्पन्न होती है और तभी संसार को क्षीण करने वाला त्राण भी बन पड़ता है।[१०५] स्पन्दशास्त्र का मत है कि मंत्र, चित्शक्ति का आधार लेकर सर्वज्ञत्व आदि बल से समन्वित होकर अनुग्रह रूप स्वाधिकार में प्रवृत्त होते हैं।[१०६] नेत्र तन्त्र[१०७] में देवी ने परमेश्वर से मंत्र के सम्बन्ध में निम्नांकित प्रश्न किए हैं, जिनके उत्तरों द्वारा मंत्र विज्ञान पर समुचित प्रकाश पड़ता है।

१. मंत्रों की आत्मा क्या है? २. मंत्रों का स्वरूप कैसा है? ३. मंत्रों की सामर्थ्य? ४. यदि वे भोग, मोक्ष और दोष प्रशमन रूप सामर्थ्य रखते हैं तो किस प्रकार? ५. कोई दृष्टान्त जिससे मंत्रों की तुलना की जा सके। ६. मंत्र किसके द्वारा प्रेरित होते हैं?

भगवान् का उत्तर निम्न है-

मंत्र शिव शक्ति और अणु स्वरूप है, वे अमित सामर्थ्यशाली हैं। शिव शक्ति और आत्मा इनके समुचित रूप को को ही मंत्र की संज्ञा दी जाती है।[१०८] मंत्र में वाच्य और वाचक दो शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। वाच्य शक्ति मंत्र की आत्मा है। जप के द्वारा वे भोग और मोक्ष देने में समर्थ होते हैं। उपासक ही उसकी प्रेरक शक्ति है।

मंत्रों का पहला प्रकार है महामंत्र। अन्य सभी प्रकार के मंत्र इसी महामंत्र से उत्पन्न हुए हैं। अन्य भेद निम्न है-[१०९]

१. पुंमन्त्र, स्त्रीमंत्र, नपुंसक मंत्र
२. सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध, अरिमंत्र
३. पिण्ड, कर्तरी, बीज, माला, मंत्र
४. सात्विक, राजस, तामस
५. सावर, डामर

आचार्य जी के अनुसार- 'मंत्र वह है जिसमें मानसिक एकाग्रता एवं निष्ठा का समुचित समावेश हो। परिष्कृत व्यक्तित्व की परिमार्जित वाणी से जिसकी

---

१०१. आचार्य श्रीराम शर्मा-सूर्यवेधन प्राणायाम से अंतः की प्राणाग्नि का जागरण, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५६, अंक ६, पृ. ३२
१०२. स्वच्छन्दोद्योत, ११ पटल, पृ १५
१०३. मननत्राण धर्माणोमन्त्रः। महार्थ मञ्जरी, पृ. १०२
१०४. मननमयी निजविभवे निज संकोचमये त्राणमयी।
कवलित विश्वविकल्पा अनुभूतिः कापि मंत्रशब्दार्थः ॥४८॥-महार्थमञ्जरी (संस्कृत छाया)
१०५. पूर्णाहन्तानुसन्ध्यात्मा स्फूर्जन्मननधर्मतः।
संसारक्षयकृत्त्राणधर्मतो मन्त्र उच्यते॥ सौभाग्य भास्कर, पृ. ५२
१०६. तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम्॥
स्पन्दकारिका, द्वि० निःष्पन्द-२६
१०७. मन्त्राः किमात्मकाः देव किंस्वरूपाश्च कीदृशाः।
किं प्रभावाः कथं शक्ताः केनवा सम्प्रचोदिताः ॥१॥ नेत्र तन्त्र, एकविंश अधिकार-१
१०८. जान वुडरफ-गारलैण्ड ऑफ लेटर्स, पृ० १४५
१०९. शारदातिलक तन्त्र-द्वितीय पटल

साधना की जाय। जिसकी रहस्यमय क्षमता पर गहन श्रद्धा हो तथा जिसका अनावश्यक विज्ञापन न करके गोपनीय रखा जाय।"[110] प्रत्येक मंत्र के पाँच तत्त्व होते हैं। ये पाँच तत्त्व है- १. ऋषि, २. छन्द, ३. देवता, ४. बीज, ५. तत्त्व।[111] ऋषि तत्त्व का संकेत है, ऐसा व्यक्ति जिसने उक्त में पारंगता प्राप्त की हो। छन्द से तात्पर्य है- मंत्र की शब्द संरचना और उच्चारण शैली। देवता का अर्थ है- चेतना सागर में से अपने अभीष्ट शक्ति प्रवाह का चयन। बीज का अर्थ है उद्गम किस मंत्र के देवता का शरीर में स्थान कहाँ है, उसे किस विधि से प्रभावित करें। इस जानकारी को बीज विज्ञान कहते हैं। ह्रीं, श्रीं, क्लीं आदि बीज अक्षर भी हैं। इन्हें किसी मंत्र में शक्ति भरने का सूक्ष्म इन्जेक्शन भी कह सकते हैं। मंत्र के पाँचवें तत्त्व को तत्त्व कहते हैं। यही मंत्र की कुञ्जी है, स्थूल रूप से पंच तत्त्वों और तीन गुणों के रूप में भी मंत्रों की प्रवृत्ति मिलती है। उस तत्त्व के अनुरूप पूजा-उपकरण इकट्ठे करके भी तत्त्व की साधना की जाती है। इन तत्त्वों के अतिरिक्त मंत्र शक्ति के विकास के चार आधार हैं, १. प्रामाण्य- अर्थात् मनगढ़न्त नहीं, विधि के पीछे सुनिश्चित विधि विधान होना, २. फलप्रद- अर्थात् जिसका उपयुक्त प्रतिफल देखा जा सके, ३. बहुलीकरण- अर्थात् जो व्यापक क्षेत्र को प्रभावित करे, ४. आयत क्षमता- अर्थात् साधक के श्रेष्ठ व्यक्तित्व की क्षमता। इन सारे तत्त्वों का समावेश होने से मंत्र प्रक्रिया में दैवी शक्ति का समोवश होता है, और उसका चमत्कारी प्रतिफल देखा जाता है।[112]

मंत्र की जप प्रक्रिया में चार तथ्य काम करते हैं १. ध्वनि, २. संयम, ३. उपकरण ४. विश्वास।[113] शब्द संरचना और उच्चारण की शुद्ध युक्त ध्वनि ही सार्थक होती है। स्वयं की शक्तियों को शारीरिक, मानसिक असंयम से बचाकर मंत्र साधना में नियोजित करना होता है। माला, आसन आदि उपकरणों को शुद्ध होना आवश्यक है। और सबसे अधिक आवश्यक है मंत्र साधना के प्रति श्रद्धा और विश्वास।

जप की प्रक्रिया में जीभ व हृदय का योग होता है। मंत्रोच्चारण करते ही जिह्वा तन्तुओं का सम्बन्ध जिन चक्रों, उपत्यिकाओं, मातृकाओं से है, वे इस उच्चारण के साथ वैसी ही प्रभावित होती हैं जैसे टाइपराइटर की कुञ्जियाँ दबाने से उससे सम्बन्धित तीलियां उछलती हैं, और कागज पर अक्षर छप जाता है। शरीर के विभिन्न संस्थानों पर विभिन्न सूक्ष्म शक्तियों के भण्डार दबे पड़े हैं, वाणी का प्रभाव बाहर ही नहीं निकलता, भीतर भी चलता है। शब्दोच्चारण के साथ-साथ जिह्वा की नस नाड़ियाँ और ध्वनि लहरियाँ उन प्रसुप्त संस्थानों को जगाती हैं। क्रम विशेष से सितार के तारों को बजाने से उसमें से विभिन्न स्वर लहरियाँ निकलती हैं, इसी प्रकार शब्दों का उच्चारण तथा स्वरक्रम मिलकर एक ऐसी गूँज उत्पन्न करते हैं, जिससे शरीरगत सूक्ष्म संस्कार में हलचल मच जाती है और जो मंत्र जिस प्रयोजन के लिए निर्धारित है, उसके अनुकूल ध्वनि कम्पनों का-ऊर्जा तरंगों का निर्माण होता है। मंत्रोच्चारण के अवसर पर सारा स्वर संस्थान एक शक्ति स्रोत के रूप में परिणत हो जाता है और अपने भीतर लक्ष्य किए हुए मनुष्य या देवता के ऊपर अथवा अनन्त आकाश में एक प्रभाव उत्पन्न करता है।

लेकिन इतना पर्याप्त नहीं। इस मन्त्रोच्चारण की शब्द शृंखला के पीछे हृदयगत ऊर्जा की प्रचण्ड शक्ति धाराओं का सम्मिश्रण भी होना चाहिए। हृदय एक तो रक्ताभिसरण का केन्द्र बिन्दु होने से वहाँ उत्पन्न होने वाली प्रचण्ड ऊर्जा का वह भण्डार बना होता है, दूसरे उसे भाव संस्थान का केन्द्र बिन्दु भी माना गया है। धड़कन से उत्पन्न ऊर्जा और श्रद्धा, निष्ठा, भक्ति एवं विश्वास की समन्वयात्मक भाव गरिमा। उच्चारण को मंत्र का कलेवर और भावनाओं का उसका प्राण कहा गया है। इसी कारण आचार्य जी के शब्दों में 'हृदय को शिव और जिह्वा को शक्ति कहते हैं। हृदय प्राण और जिह्वा रयि है। हृदय को अग्नि, जिह्वा को सोम कहते हैं।

---

११०. आचार्य श्रीराम शर्मा-मन्त्र शक्ति के चमत्कारी परिणाम, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४१, अंक ४, पृ. २८
१११. आचार्य श्रीराम शर्मा-मंत्र सिद्धि का रहस्योद्घाटन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५४, अंक १२, पृ. २६
११२. आचार्य श्रीराम शर्मा-मन्त्र शक्ति के चमत्कारी परिणाम, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४१, अंक ४, पृ. २८
११३. आचार्य श्रीराम शर्मा-मंत्र शक्ति के चमत्कारी परिणाम, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४१, अंक ४, पृ. २८

दोनों का समन्वय धन और ऋण विद्युत धाराओं के मिलने से जो शक्ति प्रवाह उत्पन्न होता है, वही मंत्र के चमत्कार के रूप में देखा जाता है।"[११४]

शब्द शक्ति का 'स्फोट' मंत्र शक्ति की रहस्यमय प्रक्रिया है। अणु विस्फोट से उत्पन्न होने वाली भयावह शक्ति की जानकारी सभी को है। शब्द की एक शक्ति सत्ता है। उसके कम्पन भी चिरन्तन घटकों के सम्मिश्रण से बनते हैं। इन शब्द कम्पन घटकों का विस्फोट भी अणु विखण्डन की तरह ही हो सकता है। मंत्र साधना के उपचारों के पीछे लगभग वैसी ही विधि व्यवस्था की गई है।[११५] शब्द स्फोट से अपरिमित ऊर्जा उत्पन्न होती है और साधक शक्तिमान हो जाता है। स्फोट की यह प्रक्रिया आकाशतत्त्व में सम्पन्न होती है। इस प्रक्रिया को मंत्र साधना की उत्कर्ष भी कह सकते हैं। स्वामी प्रत्यगात्मानन्द ने मंत्र जप की प्रक्रिया के पाँच सोपानों को पंच स्नान कहा है। ये पंच स्नान हैं[११६] १. आयास द्वारा अभ्यास- क्षितिरनस, २. अनायास सुगम जप- अप (जल) स्नान, ३. मंत्राक्षर शक्ति के स्फुरण से वीर्य तथा तैजस जप- तेजः स्नान। ४. जप शक्ति की व्यष्टि रूपता छोड़ते हुए महती व्याप्तिरूपता के आविर्भाव में व्याप्ति स्नान- वातस्नान। ५. आकाश के प्रथम स्पन्द रूप में- व्योम स्नान। व्योम स्नान की इसी अवस्था में स्फोट प्रक्रिया अपने पूर्ण उत्कर्ष में सम्पन्न होती है।

वर्तमान में ध्वनि कम्पनों से बनने वाले रूप आकारों का अध्ययन करने वाली विज्ञान की एक नयी शाखा ही विकसित हो चुकी है, जिसे 'साइमेटिक्स' कहते हैं। इस क्षेत्र में अनुसंधानरत वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि हर स्वर, हर नाद, हर कथन एक विशेष आकार को जन्म देता है। मूर्धन्य वैज्ञानिक हटिंग्टन और ड्यूबो ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ब्रह्माण्ड के प्रत्येक घटक का अपना एक वाद्यमण्डल होता है और अपना इलैक्ट्रॉनिक नाद होता है। साइमेटिक्स द्वारा ध्वनि कम्पनों की आकृति देखने का जो तरीका ढूँढ निकाला गया है, उसमें जर्मनी के सुप्रसिद्ध भौतिक शास्त्रवेत्ता अरनेस्ट क्लाडनी को विशेष सफलता मिली है। वायलिन वादन के माध्यम से उनने बालुई सतह पर सुन्दर आकृतियाँ उभारने में सफलता पाई है। इन आकृतियों को 'क्लाडनी के चित्र' कहा जाता है। इसी से मिलता-जुलता प्रयोग स्विटजरलैण्ड के प्रतिष्ठित भौतिकविद् डॉ. हेन्स जेनी ने 'टोनोस्कोप' नामक स्वनिर्मित यंत्र के माध्यम से किया है। इस उपकरण से मनुष्य की आवाज को या उच्चारित मंत्र ध्वनि को जड़ वस्तुओं पर केन्द्रित करके उसकी तरंगों को त्रिआयामीय स्वरूप में क्रमबद्ध रूप से सजते देखा जा सकता है। एक प्रयोग में देखा गया कि 'ओऽम्' की ध्वनि माइक्रोफोन द्वारा करने पर गोल आकार विनिर्मित करती है। यह ध्वनि सभी यांत्रिक ध्वनियों से शक्तिशाली है। इसका वैज्ञानिक रीति से उपयोग करके चेतना को समुन्नत बनाया जा सकता है।"[११७]

डॉ. उसिक एडला, मुन्त डोनाल्ड, लेकसेल हर्ज तथा हगेज ने विभिन्न प्रयोगों में यह पाया कि अश्रव्य ध्वनि का चिकित्सा क्षेत्र में सफल प्रयोग किया जा सकता है। भ्रूण जैसे पहुँच से सर्वथा असम्भव क्षेत्र तथा उसकी बीमारियों तक में यह अश्रव्य ध्वनि चमत्कार सिद्ध हुई। १९५६ में पित्ताशय के परीक्षण में इसी का प्रयोग हुआ अब तक इस क्षेत्र में सैकड़ों यंत्र विकसित हो गए, जो १२ या उससे अधिक मेगा हर्ज आवृत्ति वाली अश्रव्य ध्वनि तरंगों को शरीर के कोमल ऊतकों में प्रविष्ट कराकर वहाँ की स्थिति की जानकारी तथा रोग

---

११४. आचार्य श्रीराम शर्मा-मंत्रों की चमत्कारी शक्ति के दो उद्गम स्रोत, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३५, अक ६, पृ. ३६

११५. आचार्य श्रीराम शर्मा-मंत्र विद्या का स्वरूप और उपयोग, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३९, अक ४, पृ. ११-१२

११६. आसनाधैर्जपे सांङ्गोऽभ्यासाद्यैः केवले जपे।
वैखर्याधैर्जपे ख्यात्यै लसिताधैर्जपे रसे॥
वाकिकाद्यै क्रियाकान्त्यै कोमादिर्मिश्र साहसे।
मूलाद्यैरध्यनः क्रान्त्यै क्षित्यादि स्नान पंचकम्॥
स्वामी प्रत्यगात्मानन्द- जप सूत्रम् ,तृतीय खण्ड- पृ.५४

११७. आचार्य श्रीराम शर्मा-दिव्य चेतना के शक्तिशाली गुच्छक मंत्र, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५४, अंक ११, पृ. १०

निवारण करते हैं।[११८] मंत्र के सम्बन्ध में भी यही तथ्य काम में आता है, ध्वनि को अश्रव्य स्थिति में तीव्र आवृत्ति देने का जो काम यंत्र करते हैं, वह तालु, कण्ठ, ग्रीवा आदि से सम्पन्न कर लिया जाता है। भावनाओं द्वारा इन्हें नियंत्रित किया जाता है। और फिर किसी भी स्थान विशेष पर इन तरंगों के विखण्डन, संलयन, मार्जन आदि के द्वारा उपचार, प्रताड़न, मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के विभिन्न प्रयोग किये जाते हैं। दोनों अवस्थाओं में काम शब्द शक्ति ही करती है, पर उनकी बनावट, गति और भावनाओं के अनुरूप उनकी शक्ति में घट-बढ़ होती है, और अनुपात में उसके परिणाम प्रस्तुत होते हैं।

गायत्री मंत्र

"ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।" चौबीस अक्षरों का यह मंत्र अपने में अगणित रहस्य सँजोये है। इसकी विशिष्टता का बोध इसी बात से किया जा सकता है कि ऋग्वेद (३/६२/१०), यजुर्वेद (३/३५, २२/९, ३०/२, ३६/३), सामवेद उत्तरार्चिक (१३/४/३) तथा अथर्ववेद (१९/७१/१) में इसका बड़े आदर के साथ उल्लेख हुआ है। विशिष्ट क्षमताओं के कारण ही अथर्ववेद ने इसे समस्त मंत्र सत्ता का मूल अर्थात् 'वेदमाता' कहा है। आचार्य जी का सारा जीवन इसी महामंत्र के रहस्यों की शोध में बीता है। उन्हीं के शब्दों में- 'विगत बीस वर्षों में गायत्री सम्बन्धी शोध के लिए हमने प्रायः दो हजार आर्ष ग्रन्थ पढ़े हैं।' अध्ययन के साथ ही चौबीस महापुरश्चरणों की लम्बी शृंखला सम्पन्न की। और पाया 'इसके गर्भ में वह सभी तत्त्वज्ञान भरा हुआ है, जिसकी व्याख्या के लिए वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, दर्शन, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक, स्मृति, नीति एवं सूत्र ग्रन्थों की रचना की गई है।'[११९] यही कारण है कि गायत्री महामंत्र- उनके दार्शनिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, आध्यात्मिक चिन्तन के केन्द्र बिन्दु के रूप में उभरा है।

यहाँ पर इसके मंत्र विज्ञान की चर्चा ही समीचीन है। आचार्य जी इसकी दार्शनिक शोध से ही सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने 'मंत्र' सामर्थ्य की भी गहरी शोध की। उन्हीं के शब्दों में- 'मंत्र शास्त्र का विशाल अध्ययन और अन्वेषण हमने किया है। महामांत्रिकों से हमारे सम्पर्क है और साधना पद्धतियों के सूक्ष्म अन्तर प्रत्यन्तरों को हम इतना अधिक जानते हैं, जितना वर्तमान पीढ़ी के मंत्रज्ञाताओं में से शायद ही कोई जानता हो। लोगों ने एकांगी पढ़ा सीखा होता है- हमने शोध और जिज्ञासा की दृष्टि से इस विद्या को अति विस्तार और अति गहराई के साथ ढूँढा है, समझा है।'[१२०] इस शोध के निष्कर्ष में उन्होंने बताया- यदि लेखक हिन्दू धर्मानुयायी होने और एक मंत्र विशेष पर उसका पक्षपात होने के दोष से मुक्त किया जा सके तो उसे यह कहने में कोई संकोच न होगा कि गायत्री मंत्र की शब्द संरचना अनुपम और अद्‌भुत है। आगम और निगम का समस्त भारतीय अध्यात्म इसी पृष्ठभूमि पर खड़ा है। मंत्र और तंत्र की अगणित शाखा, प्रशाखाएँ इसी का विस्तार परिवार है। अन्य धर्मावलम्बियों के अन्य मंत्र हो सकते हैं, पर जब कभी सार्वभौम एवं सर्वजनीन मंत्र की खोज पूर्वाग्रहों को दूर रखकर निष्पक्ष भाव से उसकी निजी महत्ता के आधार पर की जाएगी तो उसका निष्कर्ष गायत्री मंत्र ही निकलेगा। इस मंत्र का प्रत्येक अक्षर स्वयं में बीज जैसी शक्ति का स्रोत है।[१२१] इस कारण इसकी सामर्थ्य का विस्तार अनन्त है।

प्रयोग प्रक्रिया

आचार्य जी ने गायत्री मंत्र की प्रयोग प्रक्रिया के ५ विधान निश्चित किए हैं- १. दैनिक साधना, २. नौ दिवसीय साधना, ३. चालीस दिवसीय साधना अथवा एक मासीय साधना, ४. एक वर्ष की उद्यापन साधना, ५. पुरश्चरण प्रक्रिया।

दैनिक साधना की प्रक्रिया सूर्योदय के समय से

११८. आचार्य श्रीराम शर्मा-गायत्री महाविज्ञान-भाग १, भूमिका प्रकरण, पृ. ५
११९. वही
१२०. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारी प्रेम साधना और उसकी परिणति, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ५, पृ. ६०
१२१. आचार्य श्रीराम शर्मा-मंत्र सिद्धि का रहस्योद्‌घाटन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५४, अंक १२, पृ. २६

एक घण्टे पूर्व सम्पन्न करनी होती है। इस प्रक्रिया में गायत्री महामंत्र की तीन माला जप सूर्य के ध्यान के साथ सम्पन्न किया जाता है।

जप के साथ मंत्रार्थ चिन्तन, अर्थात्-

- ॐ- ब्रह्म,
- भूः- प्राण स्वरूप,
- भुवः- दुःखनाशक,
- स्वः- सुख स्वरूप,
- तत्- उस,
- सवितुः- तेजस्वी प्रकाशवान (सविता),
- वरेण्यं- श्रेष्ठ,
- भर्गो- पापनाशक,
- देवस्य- दिव्य को-देने वाले को,
- धीमहि- धारण करें,
- धियो- बुद्धि,
- यो- जो,
- नः- हमारी,
- प्रचोदयात्- प्रेरित करे।

जप के साथ साधना की अन्य प्रक्रिया प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध आदि करने से साधना में समग्रता आती है।

नौ दिवसीय साधना में- नौ दिनों में २४ हजार का जप पूर्ण करना होता है। २७ माला रोज जप-साथ में सूर्य का ध्यान करके ९ दिनों में यह साधना सम्पन्न की जाती है। इस साधना में तप की प्रक्रियाओं के साथ नौ दिनों के विशेष अनुशासन का पालन अनिवार्य है। चालीस दिवसीय साधना में- सवा लाख का जप पूरा किया जाता है। ३३ माला प्रतिदिन की जप संख्या सूर्य के ध्यान के साथ चालीस दिनों तक करनी होती है। इस अवधि में तप की प्रक्रिया का सम्मिलित होना अनिवार्य है। एक मासीय साधना विधान में चन्द्रायण तप के साथ सवा लाख जप संख्या सम्पन्न की जाती है। ४२ माला प्रतिदिन के हिसाब से क्रम पूरा करना होता है। एक वर्ष की उद्यापन साधना में जप संख्या ११ माला प्रतिदिन होती है। इन सभी साधनाओं में तप प्रक्रिया का अधिक से अधिक समावेश आवश्यक है।

पुरश्चरण प्रक्रिया- यह गायत्री मंत्र की साधना का विशिष्ट प्रयोग है। 'पुरश्चरण का कार्य विभाजन इस प्रकार है- १. नित्यकर्म, २. संध्या, ३. गायत्री पूजन (जिसके प्रधान अंग पूजा, कवच, न्यास, ध्यान, स्तोत्र हैं), ४. शापमोचन, ५. हवन, ६. तर्पण, ७. मार्जन, ८. मुद्रा, ९. विसर्जन, १०. ब्राह्मण भोजन (ब्राह्मण का तात्पर्य गायत्री मंत्र की विशिष्ट साधनाओं से सम्पन्न ब्रह्मवेत्ता व्यक्ति से है।)

जप से दशांश होम, होम से दशांश तर्पण और तर्पण से दशांश मार्जन और मार्जन से दशांश ब्राह्मण भोजन कराने का पुरश्चरण का नियम है। पुरश्चरण सवालक्ष, चौबीस लक्ष, एक करोड़ अथवा न्यून से न्यून चौबीस हजार होता है।'[१२२]

ध्यान

◆ प्रक्रिया और वैज्ञानिकता

आचार्य जी ने जप के साथ ध्यान की अनिवार्यता बतायी है। उनके अनुसार ये दो प्रक्रियाएँ परस्पर अन्योन्याश्रित हैं।[१२३] उनके अनुसार ध्यान केवल एकाग्रता तक सीमित नहीं है, हां एकाग्रता इसका एक चरण अवश्य है। ध्यान का अर्थ है- चेतन मन को एकाग्र करना, एकाग्र चेतन मन से अचेतन की गहराइयों में उतरना, अचेतन को चेतन करते हुए अतिचेतन में प्रवेश व प्रतिष्ठा। ध्यान के प्रथम चरण अर्थात् चेतन मन की एकाग्रता सम्पादित करने से साधक की प्रतिभा और कार्य क्षमता में वृद्धि होती है। इसके द्वितीय चरण अर्थात् एकाग्र चेतन मन से अचेतन की गहराइयों में उतरने से मनोग्रन्थियों का भेदन और अतीन्द्रिय शक्तियों का जागरण होता है, इस चरण को पूरा करने से साधक को प्रसन्नता उपलब्ध होती है। अचेतन को चेतन करते हुए जीवन की पहेली का समाधान अर्थात् आत्म साक्षात्कार होता है। क्षमता, प्रसन्नता और आत्म साक्षात्कार[१२४] मानव जीवन

---

१२२. आचार्य श्रीराम शर्मा-गायत्री महाविज्ञान-भाग ३, पृ. २३३

१२३. आचार्य श्रीराम शर्मा-ब्रह्मवर्चस की पंचाग्नि विद्या, पृ. १२८

१२४. Psychology and the Rehabilitation of Human Society in the Vedanta Kasari, April, 1947

के तीनों प्राप्तव्य है, आचार्य जी द्वारा निर्देशित ध्यान को सम्पन्न करने से प्राप्त होते हैं।

ध्यान के तत्त्व को और अधिक स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं- पहले भावनाएँ मन में आती हैं। फिर जब उन भावनाओं पर चित्त एकाग्र होता है, तब यह एकाग्रता एक चुम्बक शक्ति आकर्षण तत्त्व के रूप में प्रकट होती है और अपने अभीष्ट तत्त्वों को अखिल आकाश में से खींच लाती है।[125] इसी ऊर्जा की सामर्थ्य से अचेतन की ग्रन्थियों का भेदन करके समाधि अथवा आत्म साक्षात्कार की भूमिका में प्रवेश सम्भव होता है। उनके अनुसार ध्यान के पाँच अंग हैं, १. स्थिति, २. संस्थिति, ३. विगति, ४. प्रगति, ५. सस्मिति।[126]

स्थिति का तात्पर्य है- साधक की उपासना करते समय की स्थिति। कहाँ, कब और कैसे ध्यान किया जाय? इस सम्बन्ध की व्यवस्था को स्थिति कहते हैं। संस्थिति का अर्थ है- साध्य अथवा इष्टदेव का निर्धारण। विगति कहते हैं- गुणावली को। प्रगति कहते हैं- उपासना काल में साधक के मन में रहने वाली भावना को। संस्मिति वह अवस्था है, जिसमें साधक और साध्य, उपासक और उपास्य एक हो जाते हैं।

ध्यान किसका और कैसे? - अध्यात्म विद्या के विभिन्न सम्प्रदायों एवं मत-मतान्तरों में अनेक ध्यान प्रणालियाँ प्रचलित हैं। सभी की अपनी उपादेयता और विशिष्टता होते हुए भी उनमें समग्र दृष्टि का अभाव है। इस अभाव को पूरा करना ही आचार्य जी के चिन्तन का वैशिष्ट्य है। इसी प्रयोजन को पूरा करते हुए उन्होंने सूर्य के ध्यान को महत्त्व दिया है। इस तथ्य के पीछे तीन कारण हैं-

१. गायत्री महामंत्र का देवता सविता है

२. सूर्य उपासना सार्वभौमिक है।

३. सूर्य के ध्यान से होने वाले प्रभाव सर्वथा वैज्ञानिक एवं तथ्यपूर्ण हैं।

गायत्री महामंत्र का सूर्य से गहरे तादात्म्य को स्पष्ट करते हुए आर्ष साहित्य में एक कथानक का उल्लेख है-'गायत्री वरदां देवी- सावित्री वेद मातरम्' प्रजापति बोले- हे देवताओं! यह जो अनेक प्रकार के वरदान देने वाली गायत्री है उसे तुम 'सावित्री' अर्थात् सूर्य से उद्भासित होने वाला ज्ञान जानो।[127] इसके अतिरिक्त शास्त्रों में तेजो वै गायत्री (गो. उ. ५/३), ज्योतिर्वैगायत्री छन्दसाम् (ताण्ड्य १२/७/२), ज्योतिर्वैगायत्री (कौश. १७/६), दविद्युतती वै गायत्री (१२/१/२), गायत्र्यै व भर्गः (गो. पू. ५/१५), तेजसा वै गायत्री प्रथमं त्रिरात्रं-दाधार पदैर्द्वितीय यक्षरैस्तृतीयम् (ताण्ड्य १०/५/३)। गायत्री मंत्र के सवितुः पद में इसी एकात्मता का संकेत है। आचार्य जी के अनुसार 'गायत्री मंत्र- सविता देव से स्वयं को एकात्म करने की गुह्य तकनीक है।'[128] यह गायत्री का देवता सविता सूर्य विश्व के जीवन का ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र है। अन्य समस्त देव शक्तियों का केन्द्र भी है। चारों वेदों में जो कुछ है, वह सब भी इस सविता शक्ति का विवेचन मात्र है।[129]

सूर्योपासना अनादिकाल से न केवल भारत वर्ष में, बल्कि समस्त विश्व के विभिन्न भागों में भक्ति एवं श्रद्धापूर्वक की जाती रही है। 'अमेरिका के रेड इंडियनों द्वारा आबाद क्षेत्रों में सूर्य मंदिर प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। कई प्रकार की सूर्य गाथाएँ हवाई द्वीप, जापान, दक्षिण अमेरिका तथा कैरिबियन द्वीपों में प्रचलित है, जो बताती हैं कि सूर्य सबका उपास्य रहा है। चीन के विद्वानों ने तो सूर्य को 'यांग' तथा चन्द्रमा को 'यिन' मानते हैं। जापान सूर्य पूजक राष्ट्र है तथा दिनमान का आगमन सर्वप्रथम उसी देश से हुआ माना जाता है। बौद्ध जातकों में सूर्य का प्रसंग वाहन के रूप में स्थान-स्थान पर आया है तथा अजवीथि, नागवीथि और गोवीथि नाम के मार्गों के आधार पर तीन गतियाँ उसकी मानी गयी हैं। इस्लाम में सूर्य को

१२५. आचार्य श्रीराम शर्मा-गायत्री महाविज्ञान, प्रथम भाग, पृ. १७७
१२६. आचार्य श्रीराम शर्मा-गायत्री महाविज्ञान, तृतीय भाग, पृ. १०७
१२७. आचार्य श्रीराम शर्मा-तेजो वै गायत्री ज्योतिर्वैगायत्री गायत्र्यैव भर्ग, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३३, अंक १, पृ. ४९
१२८. आचार्य श्रीराम शर्मा-अक्षय शक्ति से जोड़ता है गायत्री मंत्र, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५६, अक ६, पृ. ३७
१२९. आचार्य श्रीराम शर्मा-प्राणतत्त्व का महासागर महाप्राण सविता देवता, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५६, अंक ६, पृ. २१

'इल्म अहकाम अननजूम' का केन्द्र माना गया है अर्थात्- सूर्य इच्छाशक्ति को बढ़ाने वाली चैतन्य सत्ता के प्रतीक हैं। ईसाई धर्म में न्यूटेस्टामेंट में सूर्य के धार्मिक महत्त्व का विशद् वर्णन है। सेण्टपाल ने इसीलिए रविवार का दिन पवित्र घोषित कर इस दिन प्रभु की आराधना, दान दिए जाने आदि को अत्यन्त फलदायी माना है। ग्रीक और रोमन विद्वानों ने भी इसी दिन को पूजा का दिन स्वीकार किया है।"[130]

आधुनिक वैज्ञानिकों ने अपने शोध प्रयासों में पाया है कि सौरमण्डल के ऊर्जा प्रवाहों से जीवन और जगत् से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पहले पहल डॉ. नाइस फिसेन ने १२९३ ई. में सूर्य के प्रकाश के महत्त्व को प्रकट कर १२९५ में इस विधि से एक क्षय रोगी को स्वस्थ किया था। सन् १९०३ में डॉ. रोलियर ने अपनी इन पद्धतियों (सूर्य चिकित्सा) द्वारा लेसीन नामक प्राकृतिक सुसज्जित जगह में रोगियों की चिकित्सा का काम शुरू किया। इस दिशा में अधिक शोध करने वाले विज्ञानियों में डॉ. जेम्स कुक, ए.बी. गाइहेन, वेनिट, फ्रेकक्रेन, एफ. जी. वेल्स, जेम्स जेक्सन आदि के नाम अग्रिम पंक्तियों में रखे जा सकते हैं।[131]

यही नहीं 'वैज्ञानिक यह मानने को (भी) सहमत हो रहे हैं कि सूर्य के अन्दर संवेदना व्याप्त है अर्थात् यह हलचल विकलता, क्षोभ, प्रसन्नता और क्रोध जैसी भावनाओं के स्थूल स्पन्दन हैं और जिस तरह विचारों का प्रभाव मनुष्य के शरीर पर पड़ता है उसी प्रकार यह विकलताएँ भी प्रकृति में भारी हलचलें उत्पन्न करती रहती हैं। विकलता की स्थिति में सूर्य विशेष प्रकार के सूक्ष्मकण और किरणों के अम्बार छोड़ता है, जो बड़े वेग से चलकर करोड़ों मील तक अपना प्रभाव डालते हैं। यहाँ तक कि चुम्बकीय क्षेत्र को भी मथ डालते हैं। ऐसे समय कुतुबनुमा की सुई तक कांपने लगती है।"[132]

सूर्य में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव पृथ्वी पर पड़ता है तो उससे हिमपात, ओले, अनावृष्टि, वृक्षों की वृद्धि, बाढ़, वर्षा, झंझावात, ताप और शीत की मात्रा में तीव्रता से परिवर्तन आदि दृश्य उपस्थित होते हैं। मनुष्य का शरीर सूर्य और पृथ्वी के तत्त्वों के सम्मिश्रण से बना है। इसलिए शारीरिक और मानसिक दृष्टि से शरीर पृथ्वी से ही प्रभावित नहीं होती वरन् उन पर सूर्य का भी प्रचण्ड हस्तक्षेप रहता है। आचार्य जी के अनुसार 'अभी यह रहस्य और विस्तृत होने वाले हैं। अभी वैज्ञानिकों को ध्यान की प्रणाली का पूरा-पूरा ज्ञान नहीं है। जिस दिन इस विद्या को सम्पूर्ण वैज्ञानिक जानकारी देनी सम्भव हो जायेगी, उस दिन उपासना, श्रद्धा और भक्ति आदि का रहस्य भी प्रकट हो जायेगा।"[133] आचार्य जी ने सूर्य के ध्यान द्वारा यह रहस्यमयी विद्या प्रकट करने की कोशिश की है। उनके अनुसार सूर्य के ध्यान से मानव जाति, सूर्य के इन परिवर्तनों का उपयोगी मानवी चेतना में एक नव्योत्क्रान्ति के रूप में कर सकती है।

सविता ध्यान की प्रक्रिया- ध्यान मुद्रा की पंच सूत्री विधि है १. शांतचित्त, २. स्थिर शरीर, ३. कमर सीधी, ४. हाथ गोद में, ५. आँखें बंद। यह है ध्यान मुद्रा। जिसे प्रत्येक प्रकार के ध्यान में आवश्यक एवं उपयोगी माना गया है। इस स्थिति को बनाने में शुरूआत के पाँच मिनट लग सकते हैं। इसके बाद ध्यान की तन्मयता निम्न निर्देशों के अनुसार प्रगाढ़ करनी होती है-

- प्रात:काल- पूर्व दिशा- अरुणिम प्रकाश
- स्वर्णिम सूर्योदय
- स्वर्णिम सूर्य सविता। सविता- तेजस्वी परब्रह्म सविता ब्रह्म। प्रकाश ज्ञान, प्रज्ञा सविता वर्चस। अग्नि- ऊर्जा- प्रखरता
- सविता ब्रह्मवर्चस। उपास्य- आराध्य। इष्ट-लक्ष्य साधक पर सविता शक्ति की अनन्त अन्तरिक्ष से शक्ति वर्षा-अमृत वर्षा
- अमृत वर्षा से- आत्मसत्ता विकसित, पुलकित,

१३०. आचार्य श्रीराम शर्मा-आदिदेव नमस्तुभ्यं, दिवाकर नमस्तुभ्यं, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५६, अंक ६, पृ. ४
१३१. आचार्य श्रीराम शर्मा-आरोग्य जीवनी शक्ति के प्रदाता है-सूर्यदेव, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५६, अंक ६, पृ. ४९-५०
१३२. आचार्य श्रीराम शर्मा-विराट् प्राणपुरुष सविता देवता, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५६, अंक ६, पृ. २४
१३३. वही, पृ २५

उल्लसित

- संव्याप्त आत्म सत्ता में समर्थता- एकाग्रता- सरसता।
- साधक का सविता में समर्पण, विसर्जन, विलय, समन्वय, समापन, शरणागति।
- सविता शक्ति का आत्म सत्ता में प्रवेश। भाव चेतना में प्रखरता की अनुभूति।
- स्थूल शरीर में ओजस्, सूक्ष्म शरीर में तेजस्। कारण शरीर में वर्चस्
- निष्ठा, प्रज्ञा और श्रद्धा का प्रचण्ड उद्भव
- पवित्रता, प्रसन्नता, विशिष्टता की दिव्य अनुभूति।[१३४]
- प्रकाश पुञ्ज की ओर अनवरत्, अनुगमन, अदम्य उल्लास का अनुभव।

संकल्प पूर्वक अभ्यास करते रहने पर यह कल्पना चित्र सूक्ष्म नेत्रों के सामने क्रमशः अधिक स्पष्ट होते चले जाते हैं। इस प्रगति का परिणाम सविता देव की अनुकम्पा के रूप में साधक के स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर में निहित ढेर की ढेर विभूतियों को जगाने वाला सिद्ध होता है।

ध्यान की वैज्ञानिकता- ध्यान साधना से जीवन-क्रिया पर पड़ने वाले संभावित प्रभावों कि खोज आधुनिक वैज्ञानिकों ने की है और पाया है कि ध्यानस्थ मस्तिष्क में अनेकों विशेषताएँ विकसित हो जाती हैं। लम्बे समय तक ध्यान का अभ्यास करते रहने पर शरीर और मन में अनेकों परिवर्तन नजर आने लगते हैं। डॉ. वैलेस[१३५] के अनुसार ध्यान के दौरान आक्सीजन की खपत और उपापचय दर बहुत न्यून पाए गए, जो कि गहरे विश्राम की सूचक है। यही नहीं ध्यान के समय हृदय की उत्पादकता में सुस्पष्ट कमी पाई गयी जो कि हृदय पर कार्य दबाव के घटने की सूचक है।[१३६] यह कमी लगभग २५% थी, जबकि निद्रावस्था में यह लगभग २०% होती है।[१३७] हृदय की धड़कन भी औसतन ५ प्रति मिनट की दर से कम हुई।[१३८] हरबर्ट बेन्सन ने अपने प्रयोगों में यह पाया कि तनाव एवं उद्विग्नता की दशा में त्वचा की प्रतिरोधकता कम हो जाती है, जो कि ध्यान की अवस्था में स्पष्टतः बढ़ी, जो कि गहन विश्राम एवं उद्विग्नता तथा भावनात्मक असन्तुलन के घटने की सूचक है।[१३९] इस अवस्था में जी.एस.आर. (Galvanic Skin Responce) लगभग २५० से ५००% तक बढ़ा, जबकि निद्रावस्था में यह १०० से २००% तक ही बढ़ता है।[१४०] अतः ध्यानावस्था नींद से कहीं अधिक विश्राम देती है।

'आटोनामिक स्टैबिलिटी एण्ड मेडिटेशन' नामक अपने अनुसंधान निष्कर्ष में प्रसिद्ध चिकित्साविज्ञानी डेविड डब्लू ओर्मे जान्सन ने बताया है कि ध्यान योगी के तन्त्रिका तंत्र में एक नवीन चेतना आ जाती है और उसके सभी क्रियाकलाप नियमित स्थायी रूप से होने लगते हैं। शरीर की त्वचा बाह्य वातावरण के प्रति प्रतिरोधी क्षमता धारण कर लेती है और उस पर आए दिन पड़ने वाले वातावरण के दबाव, साइकोसोमैटिक बीमारियाँ, व्यावहारिक अस्थायित्व एवं स्नायुतंत्र की विभिन्न कमजोरियां आदि दूर हो जाती हैं। शरीर के अन्दर शक्ति का संरक्षण एवं भण्डारण होने लगता है। डॉ. थियोफोर के अनुसार ध्यान योग से मनुष्य की साइकोलॉजी में

१३४. आचार्य श्रीराम शर्मा-प्रसुप्त को जगाने वाली विश्वात्मा सूर्य की ध्यान धारणा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५६, अंक ६, पृ. ३५-३६
१३५. R.K.Wallace & Herbert Benson- 'The Physiology of Meditation, Scientific American, Vol 22 6, No.2 U S.A. Fabruary 1972 PP. 84-90
१३६. R.K.Wallace-The Physiological Effect of T.M. A Proposed forth major state of Consciousness P.D.Thesis, Department of Physiology, University of California Loss Angeles. U.S.A. 1970
१३७. I bid. P24
१३८. R.K.Wallace-The Physiological effects of T.M. Science, V. 167 (1970) P.1753
१३९. R K.Wallace, Herbert Benson And A.F.Witson- A Wakeful Hypometabolic Physiologic State, Americon Journal of Physiology Vol. 221, No.3 (U.S.A SEPTEMBER 1971) P. 795-799
१४०. R K.Wallace-The Physiological Effects of T M A Proposed forth major state of Consciousness Ph.D.Thesis, Department of Physiology, University of California, Loss Angeles, U.S.A.1970 P.24

असाधारण रूप में परिवर्तन होता है। उन्होंने अपने अनुसंधान में बताया है कि नियमित अभ्यास से घबराहट, उत्तेजना, मानसिक तनाव, मनोकायिक बीमारियों आदि से जल्दी छुटकारा पाया जा सकता है। ध्यान करने वाले व्यक्तियों के जीवन की विविध क्रियाओं में अधिक सामंजस्य सन्तुलन देखा गया। उदाहरण के लिए एक अध्ययन रिपोर्ट के अनुसार, इस ध्यान को करने वाले ८३% व्यक्तियों ने कुछ समय के बाद नशीले पदार्थों का सेवन छोड़ दिया। उनका कहना था कि हमारे जीवन के सभी पहलुओं, स्कूल, कार्यालय, सामाजिक जीवन में सुधार हुआ है।[१४१]

एक अन्य शोध कार्य में १३७ अनुभवी ध्यान करने वालों की तुलना ५० नव आगन्तुक (ध्यानाभ्यासी) व ३९ गैर ध्यानी लोगों के साथ की गई थी। पाया कि कि 'शराब, सिगरेट यहाँ तक कि काफी जैसे सामान्य नशीले पदार्थों के सेवन में कमी के साथ मुड में सुधार पाया गया। उनका जीवन सामान्य अमेरिकावासियों की तुलना में अधिक व्यस्थित एवं तनाव मुक्त था।[१४२] एक अन्य मनोवैज्ञानिक परीक्षण में ध्यान करने वाले पन्द्रह विद्यार्थियों के समूह को दो माह के अन्तराल में परीक्षण किया गया। सामान्य विद्यार्थियों की तुलना में उनके जीवन के विविध पक्षों में अद्‌भुत परिवर्तन देखे गए। अन्तर्निर्देशन सहजता, आत्म सम्मान एवं स्वीकृति जैसे मापकों में उनको अधिक अंक मिले।[१४३] लेरी.ए. हजेल ने रोटर कन्ट्रोल स्केल तथा बेडिंग एनजाइटी स्केल के द्वारा शोध करके पता लगया कि ध्यान करने वाले व्यक्तियों का आन्तरिक संयमशीलता अधिक थी। वे ध्यान न करने वालों से कम उद्विग्न थे।[१४४]

शरीर की मांस पेशियों में होने वाली रासायनिक क्रियाओं के फलस्वरूप रक्त में विद्यमान अम्ल रूपी विषय-ब्लड लैक्टेट काफी मात्रा में बढ़ जाता है। रक्त में लेक्टेट की सघनता उद्विग्नता, उच्च रक्त चाप को सूचित करती है। ध्यानावस्था में लैक्टेट की मात्रा में स्पष्टतः घटोत्तरी पाई गयी।[१४५] यह घटोत्तरी औसतन ३३% पाई गई है।[१४६] जिसके फलस्वरूप साधक ध्यान के अन्त में शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ एवं हलका-फुलका महसूस करते हैं।

डॉ. हन्स वर्जर नामक एक जर्मन मनोचिकित्सक ने १९२० में इलेक्ट्रो एन्सेफ्लोग्राफ के माध्यम से प्रयोग किए। उन्होंने मानवीय मस्तिष्क के विविध आवृति एवं प्रकृति की तरंगों को प्रस्फुटित होते देखा। ८ से १३ क्रम प्रति सेकण्ड की आवृत्तियों का नाम 'अल्फा' तरंग रखा। १३-१८ आवृत्ति प्रति सेकण्ड की आवृति का नाम 'बीटा' तरंग दिया गया, ५ सेन्ट की आवृत्तियों का नाम 'थीटा' तरंग दिया गया व उससे कम आवृति वाली तरंगों को 'डेल्टा' तरंग।[१४७] उनके अल्फा तरंगों का अधिक निकलना मानसिक विकास एवं विश्रान्ति की उच्च अवस्था का द्योतक है। ध्यानावस्था में सभी व्यक्तियों को अल्फा तरंगों में बढ़ोत्तरी पायी गई।[१४८] आचार्य जी

... Drug Report For Dr. G.I Statin VCLA, 1969

१४२. Gary E. Schwartz- Pros and Cons of Mediation, Current Findings on physiology and Anxiety self control Drug Abuse and Creativity (Paper Presented at the American Psychological Association Convention Montreal Aug. 1973, p5)

१४३. W.Seeman, S. Nidich & T. Banta, " Influence of T.M. an a measure of self Actualization Journal of Counseling Psychology 19 (1972) PP. 184-187

१४४. Larry A. H jelle. T.M and Psychological Health (Department of Psychology, State University College at Brockpot, New York, U.S.A. December 1972)

१४५. R.K.Wallace & Herbert Benson-The Physiology of Meditation, Scientific American Vol. 226 No 2 U.S.A. February 1972) P.P.84-90

१४६. Wallace & Benson-The Physiology of Meditation, p.88

१४७. Sanders G. Lourie & Melvin J Tucker-Contering The Power of Meditation. PP20-21

१४८. R.K.Wallece.- 'The Physiological Effects of T.M. Science' Vol.167 (1970) P. 1752

के अनुसार ध्यान के ये प्रभाव ध्यान की प्राथमिक अवस्था के हैं। गहरे व रहस्यमय ध्यान प्रयोगों के लिए समग्र अनुसंधान की अपेक्षा है।

◆ योग और यज्ञ

आचार्य जी द्वारा प्रतिपादित साधना क्रम के साथ यज्ञ भी अनिवार्य रूप से जुड़ा है। उनके शब्दों में- 'योगी को याज्ञिक भी होना चाहिए।'[१४९] वैदिक साहित्य का प्रधान विषय यज्ञ ही है। न्याय के वात्सायन भाष्य में यही सूचना मिलती है 'यज्ञोमन्त्रः वेदस्य विषयः (४/१/६२)। ऋग्वेद (७/१/७, ७/११/१), अथर्ववेद (५/१२/२, ९/१०/१४), शतपथ ब्राह्मण (३/७/४/१०, १२/४/१/७, ९/१०/१४), शांखायन ब्राह्मण (३/७), ऐतेरेय ब्राह्मण (१/२/१०), गोपथ ब्राह्मण (१/४/२४) में इसके महत्त्व का विभिन्न तरह से प्रतिपादन किया गया है। आचार्य जी ने अपने चिन्तन में इसके दार्शनिक, वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक पक्षों की सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक विवेचना की है। यहाँ पर इसके वैज्ञानिक और आध्यात्मिक पक्षों की ही चर्चा समीचीन है। आचार्य जी के शब्दों में- 'यज्ञ इससे आगे की बात है। उसकी अन्तःकरण अन्तर्मन तक, सुपर मन तक पहुँच है। वह व्यक्ति की विचारणा, आकांक्षा, भावना, श्रद्धा, निष्ठा, प्रज्ञा को प्रभावित करता है, उनका परिशोधन और अभिवर्धन भी।'[१५०] वेदों में निम्न प्रकार के यज्ञों का विधान है। १. गार्हपत्य यज्ञ, २. दश पूर्णमास यज्ञ, ३. चातुर्मास्य यज्ञ, ४. निरुढ़ पशुबन्ध यज्ञ, ५. आग्रयण यज्ञ, ६. सौत्रामणि यज्ञ, ७. सोमयाग- सोमयाग के सात भेद हैं- क. अग्निष्टोम, ख. उक्थ्य साम, ग. षोडसी साम, घ. वाजपेय साम, ङ. अतिरात्र साम, च. असोर्याम। ८. द्वादशाह यज्ञ, ९. गवानयन यज्ञ, १०. वाजपेय यज्ञ, ११. राजसूय यज्ञ, १२. चयन याग, १३. पुरुषमेध यज्ञ, १४. सर्वमेध यज्ञ, १५. पितृमेध यज्ञ, १६. एकाहयज्ञ, १७. अहीन यज्ञ, १८. अश्वमेध यज्ञ।

यज्ञ सम्बन्धी भ्रान्तियों का निराकरण- यज्ञ प्रक्रिया में सबसे अधिक भ्रान्ति यह पनपी की उसे बलिकर्म से जोड़ दिया गया। आचार्य जी के अनुसार- यजन कृत्य के हविष्य का निर्धारण करने वाले प्रसंग में कुछ शब्द ऐसे आ गए जिन्हें साहित्य कला की दृष्टि से जानबूझ कर अथवा संयोगवश ऐसे ही प्रयुक्त कर दिया गया, जिनके दो अर्थ होते थे। ऐसे प्रसंगों में कौतूहल अथवा हास-विलास तो होता है, पर कोई भ्रमित नहीं होता। पहेली में शब्द अटपटे होते हैं, पर समझदार लोग उसका सही अर्थ बिना किसी कठिनाई के सामान्य बुद्धि से ही जान लेते हैं। शब्दों के अटपटेपन के कारण कोई अर्थ का अनर्थ नहीं करता। किन्तु इस प्रसंग में कुछ ऐसा अर्थ लगाया जाने लगा, जो मूल तथ्यों के साथ किसी प्रकार की संगति नहीं खाती।'[१५१]

सर्वाधिक विडम्बना 'मेध' शब्द से हुई। मेध का अर्थ बलि लिया जाने लगा। जबकि वेद मनीषी पं. दामोदर सातवलेकर ने मेध शब्द के अर्थ १. मिलाना, २. परस्पर मित्रता करना, ३. ऐक्य करना, ४. एक दूसरे को जानना, ५. जोड़ना, ६. प्रेम करना, ७. धारणा बुद्धि का बल और तेज बढ़ाना, ८. पवित्रता करना, ९. सत्त्व बल और उत्साह बढ़ाना लिए हैं।'[१५२] धातु पाठ में 'मेधृ' धातु का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है- 'मेधृ- मेधासंगमनयोर्हिसायां च' अर्थात् 'मेधृ' धातु से निष्पन्न मेध लोगों में एकता व प्रेम बढ़ाना तथा हिंसा ये तीन अर्थ होते हैं। जब मेध शब्द के अन्य अर्थ होते हैं तो हिंसा वाले अर्थ के प्रति इतना दुराग्रह क्यों? यहाँ कुछ दृष्टान्त अभीष्ट है-

पुरुष मेध, पुरुष यज्ञ और नृयज्ञ- ये तीनों शब्द प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इनमें से नृयज्ञ का तात्पर्य बोध कराते हुए मनु स्मृतिकार ने लिखा है- 'नृयज्ञोऽतथि पूजनम्' अर्थात् अतिथियों का स्वागत सत्कार ही नृयज्ञ है। अज मेध को बकरे की बलि यज्ञ से अर्थ लगाने वाले को महाभारत में कड़ी चेतवनी दी

---

१४९. आचार्य श्रीराम शर्मा-ब्रह्मवर्चस की पचाग्नि विद्या, पृ. २२४

१५०. आचार्य श्रीराम शर्मा-अग्निहोत्र और यज्ञ का अंतर, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४९, अंक १०, पृ. ५०

१५१. आचार्य श्रीराम शर्मा-मेध सबंधी भ्रान्तियों को निर्मूल बताते हैं ये प्रतिपादन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५, अक ११, पृ. २९-३०

१५२. पं. दामोदर सातवलेकर, यजुर्वेद भाष्य-अध्याय ३०

गई है- 'वेद में अज से यज्ञ करना चाहिए, ऐसा उलेख है। अज शब्द का अर्थ एक बीज विशेष से है न कि बकरे से अतः उसका तात्पर्य बकरे के वध से नहीं लगाना चाहिए। पशुओं का वध करना अच्छे मनुष्यों का धर्म नहीं है।'[१५३] इसी तरह अश्वमेध का तात्पर्य घोड़े की बलि देने वाला यज्ञ नहीं लगाया जाना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार- पराक्रम ही अश्व है, राष्ट्र का अच्छी प्रकार संचालन हो अश्वमेध है।[१५४] आचार्य जी इन सभी भ्रान्तियों का निराकरण करते हुए उन्होंने यज्ञ को आध्यात्मिकता के साथ वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया है।

यज्ञ की वैज्ञानिकता- इसकी वैज्ञानिकता को समझने के लिए पाँच क्रमों पर विचार किया जा सकता है, १. यज्ञ कुण्ड की आकृति की भिन्नता का कारण, २.समिधाओं का चुनाव और उनका विशेष दहन, ३. मंत्रों का शुद्ध उच्चारण, ४. यज्ञ का समय विचार, ५. सामग्री का गुण विश्लेषण।

भिन्न आकृतियों एवं परिमाणों वाली वेदियों में समिधाओं एवं हवन सामग्री से जो ताप-प्रकाश उत्पन्न होते हैं, इससे परिणाम के रूपों में भी विभिन्न परिवर्तन हो जाते हैं। यह बात आधुनिक प्रयोगों से भी सत्यापित की जा चुकी है। समिधा के चुनाव के कारण भी अग्नि के ताप की तीव्रता और गुणों में स्पष्ट भेद हो जाता है। उदाहरण के लिए पलाश और कीकर के काष्ठों में ताप गुण की मात्रा और भेद स्पष्ट किया जा सकता है। मंत्र यज्ञ की आत्मा है। मंत्रों के प्रभावों की चर्चा पहले की जा चुकी है। समय विचार से तात्पर्य है ऋतु के अनुकूल यज्ञ के स्वरूप का निर्धारण।

हवन सामग्री का निर्धारण आचार्य जी ने ऋतुओं और रोगों के अनुसार किया है। छः बदलती ऋतुओं के क्रम के अनुसार हवन सामग्री की औषधियों में परिवर्तन करना उचित है। इसी तरह रोग विशेष के लिए विशेष तरह की हवन सामग्री का प्रयोग करना पड़ता है। लेकिन सामान्य क्रम के लिए उन्होंने सर्वऋतु हवन सामग्री का विधान दिया है। सर्वऋतु हवन सामग्री में सफेद चन्दन का चूरा ४, अगर २॥, गुग्गुल ५, जायफल १।, जावित्री१।, दालचीनी २॥, पानड़ी २॥, लौंग २॥, बड़ी इलायची २॥, गोला ५, छुहारे ५, नागरमोथा २॥, गुलसुर्ख ५, इन्द्र जौ २॥, कपूर कचरी २॥, आँवला २॥, किशमिश ५, बालछड़ ५, नागकेशर १।, तुम्बुर ५, सुपारी ५, नीम के पत्ते या राल ५, बूरा या खाण्ड १०, घी १०।[१५५] का मिश्रण उक्त अनुपात में रहता है।

सभी रोगों में प्रयोग होने वाली हवन सामग्री में- अगर, तगर, देवदारु, चन्दन, रक्तचन्दन, गुग्गुल, जायफल, लौंग, चिरायता, असगन्ध ये दसों चीजें समान भाग में मिला लेना चाहिए। इसके साथ विशेष रोग की औषधियाँ भी मिला लेना चाहिए। तैयार औषधियों का दसवां भाग शर्करा और दसवां भाग घृत मिला लेना चाहिए।[१५६]

हवन सामग्री की मंत्रों के साथ आहुति देने से वह सूक्ष्म अवस्था में परिणत होती है। ध्यान रखने की बात है कि सूक्ष्म कणों में वक्रता होती है। यह वक्रता जितनी कम होती जाती है, उतना ही उसका रासायनिक प्रभाव बढ़ता जाता है। और सूक्ष्मता बढ़ने के साथ ही इनकी वक्रता घटती जाती है। यही कारण है कि हवन सामग्री में से निकाला हुआ अर्क उतना असर कारक नहीं होता, जितना असर सामग्रियों के हवन करने से होता है। हवन सामग्री को जलाने से उसमें अनेक पदार्थ पाए जाते हैं- जैसे कि अल्कोक्लाइड, अमाइन्स, फिलोनिलिक, साइक्लिक टारयेनिक श्रेणी के पदार्थों की तो पहचान भी हो चुकी है। इस सामग्री में नमकीन

---

१५३. अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यम इतिवै वैदिकी श्रुतिः।
अज सज्ञानि बीजानि छागन्नोहन्तुमर्हथ।
नैषाधर्म सतां देवाः यत्र वध्यते पशु॥
महाभारत-शान्तिपूर्व, अ. ३/३७

१५४. राष्ट्रं वा अश्वमेधः वीर्यं वा अश्वः। शतपथ ब्राह्मण-१३/१/६

१५५. आचार्य श्रीराम शर्मा-गायत्री यज्ञ विधान भाग २, पृ. १३५

१५६. वही, पृ. ३२३

पदार्थों का निषेध है, क्योंकि नमक (सोडियम क्लोराइड) फटकर क्लोरीन गैस पैदा करता है। जो रोग कीटाणुओं के लिए जैसा हानिकारक है, वैसा ही मनुष्यों के लिए भी है। हवन में घी को विशेष परिणाम में उपयोग किया जाता है। इसके दो लाभ हैं। पहला यह अग्नि को प्रज्वलित करके उसके तापमान को विविध मात्रा में मर्यादित कर देता है, यथा १२०°, २००°, ३००° आदि। दूसरा यह वाष्प रूप में परिणत होकर सामग्रियों के सूक्ष्मकणों को चारों ओर से घेर लेता है और उस पर विद्युत् शक्ति का ऋणात्मक प्रभाव उत्पन्न करता है। जो स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है।

पश्चिमी वैज्ञानिकों ने रोग कीटाणुओं के नाश के लिए दो पदार्थ खोज निकाले हैं एंटीसेप्टिक (विष विरोधी), डिसइन्फैक्ट्स (घृत के प्रभाव को रोकने वाले)। प्रथम श्रेणी के पदार्थ रोग कीटाणुओं से मनुष्य की रक्षा करते हैं। इस श्रेणी में फेनायल, क्रियोजोट आदि की गणना की जाती है। दूसरी श्रेणी में पदार्थ रोगाणुओं को सीधे मार देते हैं। कुछ पदार्थों में दोनों गुण उनकी घनता और विरलता की स्थिति के अनुसार पाए जाते हैं। पर इन तत्त्वों का सही उपयोग एक कुशल वैज्ञानिक के द्वारा ही सम्भव है। साधारण लोग उसकी मात्रा का सही परिमाण न जान सकने के कारण लाभ के स्थान पर हानि ही उठा सकते हैं।

हवन गैस इस दोष से रहित हैं। कदाचित कुछ विषैला अंश रहे भी तो घृत का वाष्पीय प्रभाव उसे भी नष्ट करके लाभकारी बना देता है। इसमें स्थित क्रियोजोट, एल्डीहाइड, फेनायल और दूसरे उड़नशील सुगन्धित पदार्थ वैसा ही लाभ देते हैं। इससे निर्विघ्न रूप से लाभ उठा सकना सभी के लिए सम्भव है। यही तथ्य है कि अग्निहोत्र के सम्बन्ध में वैज्ञानिक शोधों का सिलसिला अब विश्व भर में चल पड़ा है। 'कई वर्षों पहले भारतीय संस्कृति से प्रभावित होकर एक ब्रिटिश डाक्टर टायलिट ने मुनक्का, किशमिश तथा खजूर जैसे मीठे फलों के धुएँ को फेफड़े व हृदय सम्बन्धी रोगों के निवारण में सफलता पूर्वक प्रयोग किया था। इसी प्रकार पश्चिम जर्मनी (अब जर्मनी) के प्रो. रिलवर्ट, प्रो. फेलीन, कर्नलकिंग आदि ने भी अपनी व्यक्तिगत प्रयोगशाला एवं परीक्षण प्रक्रिया में अग्निहोत्र के लाभकारी प्रतिफलों को सत्यापित कर दिखाया है।'

अमेरिका में मेरीलैण्ड बाल्टीमोर में पिछले काफी दिनों से यह प्रयोग चल रहा है। वर्जीनिया में एक अग्निमन्दिर की स्थापना की गई है, जिसमें विशेष स्तर की अग्नियों पर कुछ खाद्य पदार्थ पकाए और रोगियों को खिलाए जाते हैं, जैसे कि भारतीय यज्ञ परम्परा में चरू को संस्कारित कर पकाया व खिलाया जाता है। इतना ही नहीं यज्ञाग्नि की बची हुई भस्म का सभी औषधियों की तरह प्रयोग किया जाता है और अवशोषित जल का भी विभिन्न प्रकार से प्रयोग किया जाता है। इन प्रयोगों में न केवल औषधीय गुण वाली वनस्पतियाँ प्रयुक्त होती हैं, वरन् अनेक स्तर की समिधाओं का भी एक दूसरे से भिन्न प्रकार का प्रतिफल पाया गया है।'[१५७] आचार्य जी ने यज्ञ प्रक्रिया शारीरिक उपचार तक ही सीमित नहीं किया, बल्कि उसे शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक विकास के साथ आध्यात्मिक उत्कर्ष की प्रणाली माना है।

योग के प्रभाव

◆ कुण्डलिनी जागरण

योग शास्त्रों में 'कुण्डलिनी' तत्त्व की चर्चा तरह-तरह के अलंकारिक रूपों में हुई है। सौभाग्य लक्ष्युपनिषद् के अनुसार- 'मूलाधार में योनि के आकार का तीन घेरे वाला ब्रह्मचक्र है। वहाँ सुप्त सर्पिणी की तरह, कुण्डलिनी शक्ति का निवास है। जब तक वह जाग्रत् न हो, तब तक उस स्थान पर प्रचण्ड अग्नि की धधकती हुई ज्वाला का ध्यान करें। प्रातःकाल के अरूण सूर्य के समान आभावती बिजली की तरह चमकती हुई, इस कुण्डलिनी को ध्यान द्वारा जाग्रत् करते हैं। जाग्रत् होने पर यह अनन्त सामर्थ्यवान बना देती है और समस्त सिद्धियाँ प्रदान करती हैं।'[१५८] चैनिक योग प्रदीपिका में इसे स्पिरिट

१५७. आचार्य श्रीराम शर्मा-अग्निहोत्र और यज्ञाग्नि, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४९, अंक ४, पृ. ५०-५१

१५८. आधारं ब्रह्मचक्रं त्रिरावृत्तभङ्गिमण्डलाकारं तत्र मूलकंदे शक्तिः पावकाकार ध्यायेत तत्रैव कामरूपपीठं सर्वकाम भवति इत्याधार चक्रम्॥ तृतीय नाभिचक्रं पचावर्तं सर्पकुटिलाकार तन्मध्ये कुण्डलिनी बालार्क कोटिप्रभा तटित्सनिभां ध्यायेत् सामर्थ्य शक्तिः सर्वसिद्धि प्रदा भवति मणिपूरकचक्रम॥ सौभाग्यलक्ष्ययुपनिषद्- ३/१-३॥

फायर कहा है। प्रसिद्ध तन्त्रान्वेषी जान वुडरफ ने इसको 'सर्पेन्ट पावर' की संज्ञा दी है। मैडम ब्लावतास्की ने इसे 'कास्मिक इलैक्ट्रिसिटी' अथवा विश्व व्यापी विद्युत शक्ति बताया है। आचार्य जी के शब्दों में यह जीवन ऊर्जा या जीवन अग्नि[१५९] है, जो सामान्य क्रम में सुप्त अथवा अर्ध चेतन अवस्था में रहती है।

इसके स्वरूप को बताते हुए उनके शब्द हैं- 'मेरी राय में नाड़ी शक्ति कुण्डलिनी का एक स्थूल रूप ही है, वह मूलत: नाड़ी संस्थान या उसका उत्पादन नहीं है। वह स्वयं ही इन दोनों प्रवाहों को उत्पन्न करती है। स्थिर सत्य (स्टेटिक रियल), गतिशील सत्य (फैनामिक रियल) एवं अवशेष शक्ति (रैजीडुअल पावर) के समन्वित प्रवाह की तरह इस सृष्टि में काम करती है। व्यक्ति की चेतना में वह प्रसुप्त पड़ी रहती है। इसे प्रयत्न पूर्वक जगाने वाला विशिष्ट सामर्थ्यवान बनता है।'[१६०]

गायत्री का देवता 'सविता' है और कुण्डलिनी की प्रतिनिधि शक्ति भी सूर्य ही है, इसलिए गायत्री उपासना का सीधा प्रभाव मेरुदण्ड से होकर गुदा क्षेत्र में ही होता है। ऊपर से उतरने वाला प्राण प्रवाह पहले यहीं पहुँचता है और फिर गुच्छकों के द्वारा सारे शरीर में संचरित होता रहता है। जितना अधिक साधन का विकास होता है, उतना ही प्राण शक्ति का अभिवर्धन और उसी अनुपात में कुण्डलिनी जाग्रत् होती चली जाती है। 'जिस व्यक्ति की कुण्डलिनी जाग जाती है, वह जाग्रत् अवस्था की ही तरह गम्भीर निद्रावस्था में भी उतना ही सचेतन रहता है, उसकी स्वप्न और जागृति में कोई अन्तर नहीं आता। जिस तरह जाग्रत् अवस्था में वह किसी से बातचीत करता, सुनता, सोचता, विचारता, प्रेरणा देता, सहायता, सहयोग देता रहता है, उसी प्रकार स्वप्नावस्था में भी उसकी गतिविधियाँ चला करती हैं। उस अवस्था में वह किसी का भला भी कर सकता है और नई-नई जानकारियों के लिए अन्य ब्रह्माण्डों में सैर के लिए भी जा सकता है। अन्य ब्रह्माण्डों का अर्थ विशुद्ध रूप से सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति, हर्शल, प्लूटो आदि से है। यह आश्चर्यजनक लगने वाली बात उसके लिए बिलकुल साधारण और सामान्य होती है।'[१६१]

सप्तचक्र वेधन- सामान्य क्रम में चक्रों के सन्दर्भ में षटचक्रों की चर्चा होती है। लेकिन षट्चक्रों का नाम भ्रामक है। वस्तुत: उसे सप्तचक्र कहा जाना चाहिए। १. मूलाधार, २. स्वाधिष्ठान, ३. मणिपुर, ४. अनहत, ५. विशुद्ध, ६. आज्ञा, ७. सहस्रार। मानव शरीर में ये सात शक्ति स्रोत हैं। सामान्यतया ये सुषुप्तावस्था में पड़े रहते हैं। उनकी असीम सामर्थ्य का लाभ मनुष्य को नहीं मिल पाता। ये सभी चक्र सुषुम्ना नाड़ी में स्थित हैं। जाग्रत् कुण्डलिनी की अग्निशिखा जैसे-जैसे अधिक तीव्र होती जाती है, वह ऊपर उठती है और इन छहों को उष्ण करती हुई उनमें हलचल उत्पन्न करती है, फलस्वरूप जो शक्ति तत्त्व उनके भीतर प्रसुप्त स्थिति में बीज रूप में दबे पड़े थे, वे जाग्रत् एवं सक्रिय होने लगते हैं। इन चक्रों को विश्वव्यापी विराट् शक्ति तत्त्व से सम्बन्ध स्थापित करने वाले मर्म स्थल कहना चाहिए। जाग्रत् अवस्था में इन्हीं के माध्यम से विश्व व्यापी समग्र चेतना के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है और उस सामर्थ्य सागर में से अपनी अभीष्ट वस्तुओं को अभीष्ट मात्रा में ग्रहण किया जा सकता है।

चक्रों के जागरण का प्रभाव मनुष्य के गुण-कर्म स्वभाव पर असामान्य रूप से पड़ता है। मूलाधार की जागृति से वीरता व आनन्द के भाव का जागरण होता है। [illegible] सदा बनी रहती है। मणिपुर चक्र के जागरण से साहस एवं उत्साह, बढ़ता है। मनुष्य संकल्पवान एवं पराक्रमी बनता है। मनोविकार घटने लगते तथा सत्प्रयोजनों के परमार्थ में रस और आनन्द आने लगता है। अनाहत चक्र, संवेदनाओं का मर्म स्थल है। अनाहत के जागरण पर चिन्ता, अविवेक, अहंकार आदि मनोविकारों का

१५९. आचार्य श्रीराम शर्मा-कुण्डलिनी महाशक्ति एक दिव्य ऊर्जा, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३९, अंक ३, पृ. ५७
१६०. आचार्य श्रीराम शर्मा-कुण्डलिनी महाशक्ति-एक परिचय, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४८, अंक ११, पृ ५९
१६१. आचार्य श्रीराम शर्मा-जागृत कुण्डलिनी और कुण्डलिनी जागरण, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक १, पृ. ५८

निराकरण हो जाता है। विशुद्ध चक्र-चित्त को प्रभावित करता है। इसकी विशेषता है, बहिरंग में स्वच्छता एवं अंतरंग की पवित्रता। अचेतन की विशिष्ट क्षमताएँ प्रसुप्त रूप से विद्यमान रहती हैं। इसे अतीन्द्रिय सामर्थ्य का आधार माना जा सकता है। अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ इसी माध्यम से होती हैं। भ्रूमध्य में आज्ञाचक्र में ॐ, हूं, फट, विषद, स्वधा, स्वाहा, अमृत, सप्त स्वर आदि का यहीं निवास है। आज्ञा चक्र की जागृति से यह समस्त शक्तियाँ जग जाती हैं। सहस्रार को ब्रह्माण्डीय चेतना का रिसीविंग सेण्टर माना जा सकता है। यह शक्ति संचय में एरियल की भूमिका सम्पन्न करता है। यहाँ साधक विराट् चेतना से पूरी तरह एकात्मता प्राप्त करता है।

तीन शरीरों का शक्ति विकास- मानवी सत्ता के तीन पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे केले के तने में एक के भीतर दूसरी परत होती है, ऐसे ही शरीर में क्रिया तन्त्र रूपी काय कलेवर, विचार तंत्र रूपी मनःक्षेत्र एवं भावतन्त्र रूपी अन्तःकरण इन तीनों की सत्ता समायी हुई है। इन्हें आध्यात्मिक शब्दावली में क्रमशः स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर कहा गया है। वैज्ञानिक अध्यात्म इन्हें सुविकसित बनाने का विज्ञान है।

स्थूल काया ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का समुच्चय है। सामान्य क्रम में इसी से परिचय हो पाता है। इसे ही सुखी सन्तुष्ट करने की कोशिश की जाती है। मन व प्राण का समन्वय ही सूक्ष्म शरीर है। उसमें व्यावहारिक जीवन में असाधारण काम कर दिखाने की सामर्थ्य तो है ही, इसके अतिरिक्त अतीन्द्रिय क्षमताओं का भी वही भण्डार है। यह दिव्य शक्तियाँ प्रायः प्रसुप्त स्थिति में रहती हैं। इन्हें जाग्रत् किया जा सके तो वे हर क्षेत्र में चमत्कार दिखाती हैं। कारण शरीर समग्र सत्ता का अंतिम तीसरा शरीर है। इसकी पृष्ठभूमि पर ही परब्रह्म का ब्रह्माण्डीय चेतनधारा का अवतरण होता है। इसमें सबल संवेदनाएँ निवास करती हैं। सामान्यतया इनका दायरा घर-परिवार, मित्र-कुटुम्ब तक सीमित रहता है। जाग्रत् होने की स्थिति में इनका अनन्त विस्तार हो जाता है। महात्मा बुद्ध इसे जाग्रत् करके ही करूणा के अवतार बने थे। आचार्य जी ने इन तीनों शरीरों के जागरण के निम्न प्रक्रियाएँ निर्धारित कर उनके प्रभाव का स्पष्टीकरण किया है-

'ध्यान प्रक्रिया द्वारा सविता के तेज के प्रवेश का आत्मा को ब्रह्म तेज से ओत-प्रोत होने का दिव्य अनुभव होता है। पहले स्थूल शरीर में, पीछे सूक्ष्म शरीर में और अन्त में कारण शरीर में सविता तेज के प्रवेश एवं विस्तार आधिपत्य की भाव संवेदना उभारनी होती है।'[१६२]

क. स्थूल शरीर- प्रवेश द्वार नाभिकेन्द्र, अग्निचक्र, शक्तिभ्रमर, चक्रवात, रुद्रग्रन्थि। इन अनुभूति के उपरान्त इस केन्द्र में सविता देव के प्रवेश का, समस्त शरीर में उनका प्रकाश सुविस्तृत हो जाने का ध्यान करना होता है। अनुभव होता है कि समस्त स्थूल शरीर अग्नि पिण्ड बन गया, अग्नि पुंज हो गया। यह अनुभव जितना ही प्रखर होता है, उतना ही अपने में असीम आत्म बल के उभरने और सामर्थ्य से ओत-प्रोत होने का भान होता है।

स्थूल शरीर में सविता देव की ऊर्जा 'ओजस्' शक्ति बनकर प्रवेश करती है। इसे बलिष्ठता, कर्मनिष्ठा एवं साहसिकता के रूप में अनुभव किया जा सकता है। लगता है यह विशेषताएँ सविता देव के स्थूल शरीर में प्रवेश के साथ उठती-उमड़ती चली आ रही हैं। शरीर की स्थिति कर्मयोग साधना में ढलने योग्य बन गयी। उससे सत्कर्म ही बन पड़ेंगे। क्रिया क्षेत्र में घुसी हुई दुष्प्रवृत्तियाँ उस दिव्य ऊर्जा के अवतरण से सहज ही जल-भुनकर नष्ट होंगी। पुरुषार्थ और वर्चस्व निखरेगा।

ख. सूक्ष्म शरीर- दोनों भवों के मध्य आज्ञाचक्र, तृतीय नेत्र-सूर्य चक्र, विष्णु ग्रन्थि- सूक्ष्म शरीर का प्रवेश द्वार शक्ति भ्रमर-चक्रवात, इस द्वार से सविता देव का सूक्ष्म शरीर में प्रवेश, मस्तिष्क क्षेत्र में कण-कण में दिव्य ज्योति का समावेश, पूरा मनःक्षेत्र आलोकमय, मन की कल्पनाशक्ति, बुद्धि की निर्णयशक्ति चित्त की आदतें, अहं के संस्कार सभी अग्निमय, ज्योतिर्मय, आलोकमय। सूक्ष्म शरीर को सविता देव का अनुग्रह, अनुदान 'तेजस्' शक्ति के रूप में उपलब्ध, तेजस् की प्रतिक्रिया विवेकशीलता, दूरदर्शिता, ऋतम्भरा प्रज्ञा के

---

१६२. आचार्य श्रीराम शर्मा-ब्रह्मवर्चस की साधना, प्रखर प्रक्रिया, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४०, अंक २, पृ. ५५

रूप में विकसित। इस ध्यान धारणा को सूक्ष्म शरीर के शक्ति सम्वर्धन में प्रयुक्त किया जाता है।

ग. कारण शरीर- हृदय स्थान, ब्रह्म चक्र, ब्रह्म ग्रन्थि, कारण शरीर का प्रवेश द्वार, शक्ति भ्रमर, चक्रवात, सविता देव की ऊर्जा का प्रवेश कारण शरीर में, उस अग्नि ऊष्मा का विस्तार, आत्म सत्ता के अग्नि पुंज होने की अनुभूति, कारण शरीर को सविता देव का वरदान, ब्रह्मतेजस् आत्मबल-ब्रह्मबल, इस उपलब्धि की प्रतिक्रिया, श्रद्धा-श्रेष्ठता के प्रति असीम प्यार, भक्ति, करुणा, उदारता, आत्मीयता, सेवा-भावना, शान्ति-प्रसन्नता, प्रफुल्लता, उल्लास, सन्तोष। इन अनुभूतियों का कारण शरीर पर सविता देवता का आधिपत्य होने के फल स्वरूप इन दिव्य वरदानों के मिलने का अनुभव किया जाता है। लगता है कारण शरीर ब्रह्म तेज से ओत-प्रोत होता चला जाता है, उसमें ऋषि स्तर की विभूतियाँ उठती-उभरती चली आती हैं।

पंचकोशों का अनावरण- पाँच विशिष्ट स्तरों के रूप में पंचकोशों को मानवी चेतना का प्रतीक-प्रतिनिधि माना गया है। जिन शरीर गत स्थूल संरचनाओं से इन पाँच कोशों को सम्बद्ध माना जाता है। वे सभी स्वयं में एक परिपूर्ण संस्थान हैं। वैज्ञानिक अध्यात्म के प्रयोगों से इनको जाग्रत् एवं सुविकसित किया जा सकता है।

आचार्य जी की व्याख्यानुसार- अन्नमय एवं प्राणमय कोशों का समुच्चय ही स्थूल शरीर है। हारमोन ग्रन्थियों से स्रवित जादुई सूक्ष्म द्रव्यों एवं बायो-इलेक्ट्रीसिटी की चमत्कारी क्षमताओं से भरी यह काया कितनी विलक्षण-सामर्थ्यवान है, इसका आभास इन्हें विकसित करने पर उपलब्ध होने वाली सिद्धियों से मिलता है। इनमें हारमोन ग्रन्थियों का सम्बन्ध अन्नमय कोश से तथा जैव वैद्युत संस्थान का सम्बन्ध प्राणमय कोश से है। मनोमय कोश जैव चुम्बकत्व का भाण्डागार है। यह प्रभामण्डल के रूप में मनुष्य के चारों ओर तेजोवलय का घेरा बनाता है। सायकिक हीलिंग, सम्मोहन की प्रभाव सामर्थ्य एवं शक्ति हस्तांतरण के रूप में इसकी परिणतियाँ देखी जा सकती हैं। सूक्ष्म शरीर इसी के प्रभाव क्षेत्र में आता है। स्नायु समुच्चय के सन्धि स्थलों (सिनेप्सों) से सुषुम्ना, मस्तिष्क एवं ऑटोनामिक नर्वस सिस्टम के भिन्न-भिन्न महत्त्वपूर्ण केन्द्रों पर स्रावित होने वाले स्नायु रसायनों (न्यूरोह्यूमरल सिक्रीशन्स) का सम्बन्ध विज्ञानमय कोश से है। एवं थैलमस के बीच स्थित रैटीकुलर एक्टीवेटिंग सिस्टम को आनन्दमय कोश का प्रतीक माना जा सकता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि पंचकोश सूक्ष्म हैं। सूक्ष्म अर्थात् अप्रत्यक्ष, हां ये अपनी सामर्थ्य की अभिव्यक्ति ऊपर वर्णित किए गए शरीर में इन केन्द्रों से करते हैं। यहाँ विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोश का प्रभाव क्षेत्र ही कारण शरीर को माना गया है। यह सारी संरचना इतनी जटिल किन्तु विलक्षण सामर्थ्य से भरी पूरी है कि उनकी स्थूल प्रतिक्रिया मात्र वैज्ञानिकों को हतप्रभ कर देती है। वैज्ञानिक अध्यात्म के प्रयोगों द्वारा इनकी समूची सामर्थ्य जाग्रत् एवं सुविकसित होती है।

आचार्य जी के अनुसार पंचकोश की ध्यान-धारणा का आरम्भ इस प्रकार होता है कि हिमालय के हिमाच्छादित उच्च शिखर पर स्वर्णिम सविता के उदय के दर्शन का भाव चित्र उभारा जाय। मन:चक्षुओं से उसकी झांकी की जाय। साथ ही यह अनुभव किया जाय कि उस केन्द्र से चारों ओर जो शक्ति धाराएँ प्रवाहित होती हैं, उसका प्रभाव अपने चारों ओर भरा पड़ा है। इतना पृष्ठभूमि बन जाने के उपरान्त पंचकोशों के अनावरण का पृथक्-पृथक् ध्यान किया जाता है। जो इस प्रकार है-[१६३]

अन्नमय कोश- मेरुदण्ड, पेडू की सीध, शक्तिभंवर, चक्रवात, स्वाधिष्ठान चक्र, अन्नमयकोश का प्रवेश द्वार।

इस द्वार से देवात्म शक्ति का प्रवेश। समग्र अन्नमय कोश देवात्म शक्ति से ओत प्रोत। प्रकाशमय, अग्निमय, आलोकमय, ऊर्जामय। उपलब्धि, पवित्रता, संयमनिष्ठा सक्रियता, सिद्धि, अजर स्थिति, चिर यौवन। अन्नमय कोश की इस ध्यान साधना में जितना समय व्यतीत हो,

---

१६३. आचार्य श्रीराम शर्मा-ब्रह्मवर्चस की साधना, प्रखर प्रक्रिया, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४०, अंक २, पृ. ५५

उतनी देर इन्हीं भावनाओं से ओत-प्रोत रहा जाता है।

प्राणमय कोश- मेरुदण्ड, नाभि की सीध, शक्ति भंवर, चक्रवात समतुल्य, मणिपुर चक्र, प्राणमय कोश का प्रवेश द्वार, देवात्म शक्ति का प्रवेश, समस्त प्राणमय कोश प्राण ऊर्जा से ओत-प्रोत, अग्निमय आलोकमय उपलब्धि, पराक्रम, साहस, उत्साह, सिद्धि प्रतिभा।

मनोमय कोश- मेरुदण्ड, हृदय की सीध, शक्ति भ्रमर, चक्रवात समतुल्य, अनाहत चक्र, मनोमय कोश का प्रवेश द्वार, देवात्म शक्ति का प्रवेश, समस्त मनोमय कोश ऊर्जामय, आलोकमय, उपलब्धि, एकाग्रता, दृढ़ता, स्थिरता, सन्तुलन, सिद्धि-कामनाओं की पूर्ति, कामनाओं की समाप्ति आप्तकाम।

विज्ञानमय कोश- मेरुदण्ड, कण्ठ की सीध, शक्ति भंवर, चक्रवात समतुल्य, विशुद्धि चक्र, विज्ञानमय कोश का प्रवेश द्वार। देवात्म शक्ति का प्रवेश, समस्त विज्ञानमय कोश अग्निमय ज्योतिर्मय, उपलब्धि-आत्मभाव विस्तार, सूक्ष्म जगत् में प्रवेश, परोक्ष ज्ञान, सिद्धि-दिव्य दृष्टि।

आन्दमय कोश- ब्रह्मरन्ध्र मस्तिष्क का मध्य भाग, सहस्रार चक्र, आनन्दमय कोश का केन्द्र बिन्दु, सहस्रदल कमल की भावना, देवात्म शक्ति का प्रवेश, कमल पंखुरियों का खिलना, ज्योति आभा की पंखुरियों में झिलमिल, प्रकाशबिन्दु का दर्शन, उपलब्धि- स्वर्ग अनुभूति, बन्धन मुक्ति, ईश्वर प्राप्ति, सन्तुष्टि, तृप्ति, शान्ति एवं सत् चित् आनन्द का अनुभव। पंचकोशों का जागरण साधक में दिव्य चेतना को विकसित करता है।

विशिष्ट आध्यात्मिक प्रयोगों के लिए वातारण की महत्ता

साधनात्मक प्रयोगों के लिए पुरातन काल से ही वातावरण को महत्त्व को स्वीकारा गया था।५२ शक्तिपीठ, चारधाम, अनेकों तीर्थ इसी उद्देश्य को लेकर सँवारे गए थे, ताकि वहाँ के चुम्बकीय प्रभाव में सरलतापूर्वक चेतनात्मक उत्कर्ष को पाया जा सके। हिमालय की विशिष्टता का कारण यही है। अपनी इस अलौकिक क्षमता के कारण यह प्रारम्भ से योगियों के आकर्षण का केन्द्र रहा है।

सामान्य अर्थों में परिवेश, पर्यावरण, वातावरण को समानार्थी माना जाता है। आचार्य जी के अनुसार यह मान्यता उथली सोच का परिणाम है। भौतिक स्थिति में अटक कर उसके पीछे छुपी मनोवैज्ञानिक गहराई की अवहेलना है। यथार्थ में ये तीनों शब्द अपना अलग-अलग अर्थ रखते हैं। परिवेश का तात्पर्य शुद्ध भौतिक परिस्थितियों से है। उदाहरण के लिए यदि हमें घर गांव का परिवेश समझना हो तो घर की स्थिति, अड़ोस-पड़ोस में कौन रहते हैं? घर के पास चिकित्सालय, विद्यालय का अता-पता करेंगे। इसकी सीमा इतने तक ही है। जबकि 'पर्यावरण' शब्द अपनी व्यापकता के घेरे में परिवेश के अतिरिक्त और बहुत कुछ समेटे रहता है। इसका अध्ययन परिवेश की प्रभाविकता अध्ययन है। न केवल परिवेश बल्कि जलवायु आकाशीय स्थिति के साथ अन्य सूक्ष्मताएँ हमारे अपने जीवन को किस तरह प्रभावित करती है। प्रभावित सिर्फ शरीर अर्थों में नहीं बल्कि मानसिकता के घेरे में। आधुनिक विज्ञान द्वारा अपने अध्ययन फलक का विस्तार कर दिये जाने के कारण इस विधा ने आज डीप इकॉलोजी के रूप में जन्म पाया है। व्यवहार विज्ञानी सी. सिम्पसन ने अपने शोध अध्ययन 'बिहैवियरल चेन्जमेण्टस इन मैन' में पर्यावरण के बदलते रूपों के अनुसार मानवीय व्यवहार के बदलते क्रम की छान बीन करके इसके प्रभावों को स्पष्ट करने की कोशिश की है।

वातावरण इन दोनों को अपने प्रभाव में समेटेने वाला कहीं अधिक सूक्ष्मतर तत्त्व है। सामान्य क्रम में एक ही परिवेश को इसके विभिन्न स्तर अपने स्पर्श से प्रभावित करते हैं। तदनुसार चित्त के अनुकूल-प्रतिकूल संस्कारों का संयोग मानवीय व्यवहार के तरह-तरह के चित्र खींचता रहता है। एक ही घर में शादी-विवाह या किसी प्रियजन की मृत्यु पर सुख-दुख की ये अनुभूतियाँ सहज हो जाती हैं। यह बदलाव परिवेश-पर्यावरण बदलने के कारण न होकर वातावरण बदल जाने से बन पड़ता है। किसी धार्मिक अनुष्ठान-यज्ञायोजन के समय में भी अन्तःकरण किसी विशेष स्पन्दनों से सराबोर हुए बिना नहीं रहते।

अपनी आवश्यकता एवं अनिवार्यता के बावजूद

आज ऐसे स्थान नगण्य हैं, जहाँ परिवेश, पर्यावरण और वातावरण तीनों उच्चस्तरीय शक्ति सम्पन्न हों। परस्पर घुले-मिले हों। जहाँ जाकर व्यक्ति अपने स्वास्थ्य-व्यवहार और संस्कारों में परिवर्तन महसूस किए बिना न रहें। जीवन की उलटी धारा को मोड़कर सीधा करने वाली जगह यदि हैं तो हिमालय की दुर्गमताओं से घिरी। अन्य स्थानों पर यदि परिवेश ठीक है तो पर्यावरण नहीं, दोनों है तो वातावरण में विशिष्ट स्तर का अभाव है, इन तीनों दुर्लभताओं को अपने में समेटकर सुलभ बनाने की दृष्टि [illegible] उलट-फेर कर डालने वाली शक्तियाँ अनुभूति गम्य है।

शान्तिकुञ्ज- विशिष्ट साधनाओं की भूमि- आचार्य जी ने वैज्ञानिक अध्यात्म के उच्चस्तरीय प्रयोगों के लिए शान्तिकुञ्ज का निर्माण- परिवेश, पर्यावरण और वातावरण के वैज्ञानिक तथ्यों को दृष्टि में रखकर किया था। उन्हीं के शब्दों में- 'शान्तिकुञ्ज के हरिद्वार का सप्त सरोवर स्थान समझ बूझ कर ही चुना गया था।'[१६४] हिमालय की पर्वतीय शृंखला के मध्य कल-कल निनादिनी गंगा की सप्त भुजाओं के ममतामय आलिंगन में बंधे इस स्थान पर परिवेश कम मोहक नहीं है। यहाँ की सन्तुलित जलवायु, प्रदूषण रहित स्थिति इसके स्वास्थ्यप्रद पर्यावरण के महत्त्व को स्पष्ट करती है। यहाँ के वातावरण में उच्चस्तरीय स्पन्दनों को ऋषि सत्ताएँ प्राचीन समय से सँजोती-बढ़ाती रही हैं। गायत्री मंत्र के प्रथम द्रष्टा विश्वामित्र की सिद्धि स्थली के रूप में विख्यात इस क्षेत्र में सप्तऋषियों ने अपने तरह के प्रयोग सम्पन्न किए।

'गंगावतरण के सतयुग काल से लेकर अब तक से सौ वर्ष पूर्व तक शान्तिकुञ्ज की भूमि पर गंगा की धारा प्रवाहित होती रही है। अब भी यहाँ के कुओं का पानी गंगा के पानी बढ़ने, उतरने के क्रम से नीचा-ऊँचा होता रहता है। मूलधारा भी मात्र दो फर्लांग की दूरी पर है। प्रवेश दिशा को छोड़कर तीनों ओर हिमालय के दिव्य दर्शन होते हैं। थोड़ा ऊँचे चढ़कर दुर्बीन से देखा जाय तो हिमाच्छादित चोटियाँ आसानी से देखी जा सकती हैं।' गंगा का गर्भ, हिमालय की छत्र और सप्तऋषियों का तप इन तीनों के समन्वय से यह स्थान अपने आप में श्रेष्ठ परम्पराओं से परिपूर्ण है।

साधना की दृष्टि से इस क्षेत्र में परम्परागत रूप से इसे हर दृष्टि से जीवन्त एवं प्राणवान कहा जा सकता है। अपने प्रयत्न से भी यहाँ के वातावरण में कुछ और प्रखरता लाने का प्रयत्न किया गया है। पचास वर्ष[१६५] से अब तक निरन्तर जलती आ रही अखण्ड ज्योति को घृत दीप शिखा यहीं प्रतिष्ठापित है। गायत्री मंदिर के निकट चलते रहने वाले जप, अनुष्ठानों का क्रम अनवरत है। नित्य गायत्री यज्ञ भी सुसंचालित है। ये तीनों ही कार्य इस वातावरण में दिव्यता की सूक्ष्म चेतना का संचार करते हैं।[१६६] इस तरह आचार्य जी ने 'शान्तिकुञ्ज' को एक ऐसी सर्वजन सुलभ किन्तु विशिष्ट साधना भूमि के रूप में विकसित किया है, जहाँ चेतनात्मक उत्कर्ष के उच्चस्तरीय प्रयोग सम्पन्न किए जा सकें। उनके समय से ही यहाँ आध्यात्मिक साधनाओं का क्रम अनवरत चल रहा है।



---

१६४. आचार्य श्रीराम शर्मा-साधना से सिद्धि-भाग १, पृ. ७०

१६५. अखण्ड दीप की स्थापना सन् १९२६ में वसन्त पंचमी के दिन हुई थी। इस क्रम से वर्तमान समय में इसके ६९ वर्ष पूरे हो जाते हैं

१६६. आचार्य श्रीराम शर्मा-साधना से सिद्धि, भाग-१, पृ. ७१

आचार्य जी द्वारा व्यष्टि और समष्टि स्तर पर सम्पन्न किए गए वैज्ञानिक अध्यात्म के प्रयोग

वैज्ञानिक अध्यात्म का दार्शनिक प्रतिपादन कल्पना जन्य वैचारिक सृष्टि नहीं है। यह समग्र सिद्धान्त आचार्य जी के उन चेतनात्मक प्रयोगों का निष्कर्ष है जो उन्होंने व्यक्तिगत और समष्टिगत स्तर पर सम्पन्न किए। व्यक्तिगत स्तर पर आध्यात्मिक प्रयोगों का क्रम उस समय से प्रारम्भ हुआ, जब सन् १९२६ की बसन्त पंचमी के दिन प्रात:काल उनकी अपनी मार्गदर्शक सत्ता से भेंट हुई। इस विवरण को शब्दांकित करते हुए वह कहते हैं- 'पन्द्रह वर्ष की आयु थी, प्रातः की उपासना चल रही थी। बसन्त पर्व का दिन था। उस दिन ब्रह्म मुहूर्त में कोठरी में सामने प्रकाश पुंज के दर्शन हुए। आँखें मलकर देखा कि कहीं कोई भ्रम तो नहीं है। प्रकाश प्रत्यक्ष था। सोचा कोई भूत, प्रेत या देव-दानव का विग्रह तो नहीं है। ध्यान से देखने पर भी वैसा कुछ लगा नहीं। विस्मय भी हो रहा था और डर भी लग रहा था। स्तब्ध था। प्रकाश के मध्य में से एक योगी का सूक्ष्म शरीर उभरा, सूक्ष्म इसलिए की छवि तो दीख पड़ी पर वह प्रकाश पुंज के मध्य अधर लटकी हुई थी। यह कौन है? आश्चर्य। उस छवि ने बोलना आरम्भ किया और कहा- 'हम तुम्हारे साथ कई जन्मों से जुड़े हैं। मार्गदर्शन करते आ रहे हैं। अब तुम्हारा बचपन छूटते ही आवश्यक मार्गदर्शन करने आए हैं। सम्भवतः तुम्हें पूर्वजन्मों की स्मृति नहीं है, इसी से भय और आश्चर्य हो रहा है। पिछले जन्मों का विवरण देखो और सन्देह निवारण करो।"[१६७] उनका इतना कहते ही एक गहरी समाधि में तीन जन्मों का अनुभव हुआ। 'उनमें से प्रथम थे सन्त कबीर, दूसरे समर्थ रामदास, तीसरे रामकृष्ण परमहंस। इन तीनों का कार्यकाल इस प्रकार रहा है- कबीर ई. (सन् १३९८ से १५१८), समर्थ (१६०८ से १६८२), श्री रामकृष्ण परमहंस (सन् १८३६ से १८८६)।[१६८] तीन जन्मों का सम्पूर्ण जीवन क्रम दिखने के बाद उन्होंने वर्तमान जीवन के प्रयोजन और उद्देश्य को बताया और आध्यात्मिक प्रयोगों का क्रम निश्चित किया। इस क्रम में 'चौबीस वर्ष के चौबीस गायत्री महापुरश्चरणों के साथ जौ की रोटी और छाछ पर निर्वाह करने का अनुशासन रखा'[१६९] चौबीस वर्षों तक संपन्न किया गया यह प्रयोग प्रति वर्ष २४ लक्ष के जप तक ही सीमित नहीं था, बल्कि इसमें वैज्ञानिक अध्यात्म के सभी तत्त्व और आधार सम्मिलित थे। यह व्यष्टि सत्ता में किया गया ऐसा महान प्रयोग था, जिसका निष्कर्ष स्वयं को देवमानव के रूप में विकसित करने तथा वैज्ञानिक अध्यात्म को शत-प्रतिशत सत्य सिद्ध होने के रूप में निकला। साथ ही उनका स्वयं का व्यक्तित्व एक ऐसे सशक्त आधार के रूप में विकसित हो सका, जिस पर परवर्तीकाल में अनेकों समष्टिगत प्रयोग संपन्न हुए।

इसी बीच मार्गदर्शक सत्ता के संकेत पर उनकी प्रथम हिमालय यात्रा संपन्न हुई। यहाँ उनका हिमालय की ऋषि सत्ताओं से प्रथम साक्षात्कार हुआ। उन्हीं के शब्दों में-"वे सभी उस दिन ध्यान मुद्रा में थे। गुरुदेव ने बताया कि वे प्रायः इसी स्थिति में रहते हैं। अकारण ध्यान तोड़ते नहीं। मुझे एक-एक का नाम बताया और सूक्ष्म शरीर का दर्शन कराया गया। यही है सम्पदा, विशिष्टता और विभूति इस क्षेत्र की। गुरुदेव के साथ मेरे आगमन की बात उन सभी को पूर्व से ही विदित थी। सो हम दोनों जहाँ भी जिस-जिस जगह पर पहुँचे उनके नेत्र खुल गए। चेहरों पर हल्की मुस्कान झलकी और सिर उतना ही झुका मानो वे अभिवादन का प्रत्युत्तर दे रहे हों।"[१७०] हिमालय के इस ऋषितंत्र के मार्गदर्शन में आचार्य जी ने अध्यात्म के वैज्ञानिक प्रयोगों का व्यक्तिगत

---

१६७. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारी वसीयत और विरासत, पृ १४
१६८. आचार्य श्रीराम शर्मा-तीन जन्मों का संबंध इस जन्म समर्पण, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४८, अंक ४, पृ. ७
१६९. आचार्य श्रीराम शर्मा-'समर्थ गुरु की प्राप्ति अजस्र सौभाग्य'
१७०. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारी वसीयत और विरासत, पृ. ४६

धरातल से ऊपर उठकर समष्टिगत धरातल पर संपन्न करने का निश्चय किया।

इस निश्चय के फलस्वरूप उन्होंने अपने आध्यात्मिक प्रयोगों की प्रथम प्रयोगशाला के रूप में गायत्री तपोभूमि का निर्माण जून १९५३ में किया। यद्यपि मथुरा में तपोभूमि निर्माण के लिए चुना गया यह स्थान पहले कभी महर्षि दुर्वासा की तपःस्थली रह चुका था, लेकिन इसे उच्चस्तरीय आध्यात्मिक प्रयोगों के अनुकूल बनाने के लिए उन्होंने विशिष्ट प्रयास किए। उन्हीं के शब्दों में-"प्रयत्न यह किया जा रहा है कि जाग्रत् एवं दिव्य शक्ति संपन्न २४०० तीर्थों का प्रतिनिधित्व पूर्णाहुति यज्ञ में हो सके। यों प्रायः दस हजार पुण्य भूमियों की रज और प्रायः एक हजार नदी-सरोवरों का जल एकत्रित किया जाएगा। गायत्री माता की प्रतिमा स्थापित करने की वेदी २४००जाग्रत् तीर्थों की रज से तथा २४० नदी-सरोवरों के जल से निर्मित की जाएगी। ऐसे तीर्थ की प्राण-प्रतिष्ठा करने के लिए जितनी आत्मिक पवित्रता की आवश्यकता है उसके लिए ऋषिकेश से विशेष रूप से मंगाए हुए गंगा जल पर निर्वाह करके २४ दिन तक निराहार उपवास करने का निश्चय किया गया है।"[१७१] यही नहीं, वातावरण को अधिक दिव्य स्पन्दनों से संपन्न करने हेतु सहस्त्रांश गायत्री यज्ञ आयोजित किया गया। यह देश के कोने-कोने पर सहस्त्र ऋत्विजों के सम्मिलित संकल्प से पूरा हुआ। इसके अंतर्गत १२५ करोड़ गायत्री जप, १२५ लाख आहुतियों का हवन, १२५ हजार उपवास किए गए।[१७२]

इस स्थापना के साथ ही गायत्री तपोभूमि में साधना सत्रों का प्रारम्भ हुआ। साथ ही गायत्री महाअभियान का आयोजन[१७३] और गायत्री उपासना के सामूहिक आयोजन[१७४] किए जाने लगे। यज्ञ विद्या पर सर्वांगपूर्ण शोध के उद्देश्य से १९५५ की वसन्त पंचमी से १५ महीनों तक चलने वाले विशद् गायत्री महायज्ञ का आयोजन किया गया। इसके अंतर्गत (१) चारों वेदों का पारायण यज्ञ (२) महामृत्युञ्जय यज्ञ (३) रुद्र यज्ञ (४) विष्णु यज्ञ (५) शतचण्डी यज्ञ (६) नवग्रह यज्ञ (७) गणपति यज्ञ (८) सरस्वती यज्ञ (९) ज्योतिष्टोम (१०) अग्निष्टोम आदि अनेक यज्ञों[१७५] की प्रक्रियाएँ सम्मिलित थीं। यह समष्टि हित के लिए संपन्न हुआ आध्यात्मिक प्रयोग था। आचार्य जी के शब्दों में-"इस यज्ञ का यजमान, संयोजक, पूर्णफल प्राप्तकर्त्ता कोई एक व्यक्ति नहीं है। यह संकल्प समस्त गायत्री उपासकों की ओर से किया गया है"[१७६]

इसके बाद अगला प्रयोग उन्होंने ब्रह्मास्त्र अनुष्ठान के रूप में किया। जिसकी पूर्णाहुति १९५८ के सहस्त्र कुण्डीय महायज्ञ में हुई। ब्रह्मास्त्र अनुष्ठान समस्त गायत्री परिवार द्वारा उसके कुलपति पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी के निर्देशन में पूरा किया गया। इसके प्रयोग के तीन चरण[१७७] थे। पहले चरण में प्रतिदिन २४ लक्ष मंत्र जप, २४ हजार आहुति, २४ हजार पाठ, २४ हजार मंत्रलेखन। दूसरे चरण के अंतर्गत प्रतिदिन सवा करोड़ गायत्री जप, सवा लक्ष आहुति, सवा लक्ष पाठ, सवा लक्ष मंत्र लेखन तीसरे चरण में प्रतिदिन २४ करोड़ गायत्री जप, २४ लक्ष आहुतियाँ, २४ लक्ष पाठ, २४ लक्ष मंत्र लेखन को पूरा किया गया। इसकी पूर्णाहुति के रूप में संपन्न सहस्त्र कुण्डीय महायज्ञ अपने आप में अलौकिक प्रयोग था। इसके भागीदार वही हो सकते थे जो वर्ष भर में सवा लाख जप, ५२ उपवास, ब्रह्मचर्य पालन, भूमि शयन आदि तपश्चर्या कर चुके हों।"[१७८] यह सविता शक्ति संदोहन का प्रयोग था। इस तत्त्व को स्पष्ट करते हुए वह लिखते हैं-"अक्टूबर १९५८ का सहस्त्र कुण्डीय यज्ञ एक ऐसा

१७१. आचार्य श्रीराम शर्मा-पूर्णाहुति यज्ञ की तैयारियाँ, अखण्ड ज्योति, वर्ष १४, अंक १, पृ. ४५
१७२. वही, पृ. ४६
१७३. आचार्य श्रीराम शर्मा-पूर्णाहुति यज्ञ की तैयारियाँ, अखण्ड ज्योति, वर्ष १४, अंक १, पृ. ४५
१७४. आचार्य श्रीराम शर्मा-पूर्णाहुति यज्ञ की तैयारियाँ, अखण्ड ज्योति, वर्ष १५, अंक ११, पृ. ३४९
१७५. आचार्य श्रीराम शर्मा-अभूतपूर्व गायत्री महायज्ञ, अखण्ड ज्योति, वर्ष १६, अंक १, पृ. २८
१७६. वही
१७७. आचार्य श्रीराम शर्मा- ब्रह्मास्त्र अनुष्ठान, अखण्ड ज्योति, वर्ष १८, अंक ११, पृ. ३०
१७८. आचार्य श्रीराम शर्मा- महायज्ञ का महासमारोह, अखण्ड ज्योति, वर्ष १९, अंक १२, पृ. ४

ही प्रयोग था। पीछे मौसम वैज्ञानिकों ने भी हमारी मान्यता के एक भाग की पुष्टि कर दी। १ जुलाई १९५७ से ३१ दिसम्बर १९५८ तक खगोलशास्त्रियों ने अंतर्राष्ट्रीय शान्त सूर्य वर्ष (इण्टरनेशनल इयर ऑफ द क्वायेट सन) संक्षेप में 'इक्विसी' मनाया। यह नाम इसलिए रखा गया कि दो वर्षों में सूर्य बिलकुल शान्त रहा और वैज्ञानिकों को उस पर अनेक प्रयोग और अध्ययन करने का अवसर मिला। लगभग इसी अवधि से हमारे उस यज्ञ की तैयारी की गयी थी। साधकों ने एक वर्ष पूर्व से ही गायत्री के विशेष पुरश्चरण प्रारम्भ किये थे और अक्टूबर १९५८ में ४ दिन तक यज्ञ कर शरद पूर्णिमा के दिन पूर्णाहुति दी थी। गायत्री का देवता सविता है, इसलिए इस गायत्री अभियान का भी उद्देश्य उसका अध्ययन और प्रयोग भी था और उन उपलब्धियों से सारे विश्व समाज को लाभान्वित कराना भी जो ऐसे अवसरों पर देवशक्तियों से सुविधापूर्वक अर्जित की जा सकती है।"[१७९]

इस प्रयोग के पश्चात उन्होंने ५ जून १९६०[१८०] को दूसरी बार हिमालय की ओर प्रस्थान किया। इस यात्रा का उद्देश्य अपनी मार्गदर्शक सत्ता के साथ हिमालय के ऋषितंत्र से साक्षात्कार और मार्गदर्शन करना था, ताकि विश्व हित के लिए अध्यात्म के अन्य विशिष्ट प्रयोग किए जा सकें। एक वर्ष की तप साधना पूरी करके जब वह लौटे उस समय सन् १९६२ में आने वाले अष्टग्रही योग के कारण समाज में भय का वातावरण संव्याप्त था। भविष्यवक्ता अपनी अनेक तरह की भविष्यवाणियों से इसे और अधिक बढ़ावा दे रहे थे। इस भय के वातावरण को समाप्त करते हुए उन्होंने कहा- "इससे किसी को भयभीत या निराश नहीं होना चाहिए। विकास शक्तियों की भाँति ही रक्षा की शक्तियाँ भी सक्रिय हैं।"[१८१] और गायत्री परिवार के सदस्यों को सप्त सूत्री साधनाक्रम में सम्मिलित होने का निर्देश दिया।"[१८२] इसके परिणाम आश्चर्यजनक रूप में सामने आए। अष्टग्रही योग बिना किसी प्रकार का विशेष उपद्रव किए शान्त हो गया।

उनके आध्यात्मिक प्रयोगों का अगला क्रम सन् १९६२ के चीन युद्ध के समय और सन् १९६५ के पाकिस्तान युद्ध के समय शक्ति महापुरश्चरण के रूप में संपन्न हुआ। इससे उत्पन्न आध्यात्मिक ऊर्जा के प्रभाव जिस ढंग से दृष्टिगोचर हुए उसे आज भी रहस्यमय ही कहा जा सकता है। बढ़ते हुए चीनियों के कदम लगातार हारती जा रही भारतीय सेना के समक्ष अचानक कैसे पीछे लौट गए? इसका जवाब शासनाध्यक्ष नहीं सूक्ष्मदर्शी ही दे सकते हैं। सन् १९६५ के पाकिस्तान के युद्ध के समय बहादुर सैनिकों की वीरता के साथ उनका आध्यात्मिक पुरुषार्थ भी सम्मिलित था। इसे स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं-" भारत की बहादुर सेनाओं ने, राजनेताओं ने तथा उनके देशभक्तों ने अपने-अपने ढंग से जिस त्याग-बलिदान, देशभक्ति एवं सूझबूझ का परिचय दिया, उस पर देश का मस्तक सदा गर्वोन्नत रहेगा। इस अवसर पर अध्यात्म क्षेत्र भी अकर्मण्य नहीं रह सकता था। गायत्री परिवार ने उपरोक्त पुरश्चरण आरम्भ किया। उसका जो प्रभाव अभीष्ट था, वही हुआ भी। उसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका अपने इस शक्तिशाली महापुरश्चरण की भी है।"[१८३] इन विशिष्ट प्रयोगों के अतिरिक्त इस बीच लगातार तपोभूमि में मानवी चेतना के उत्कर्ष के लिए किए जाने वाले साधनात्मक प्रयोगों में देश भर में संचालित यज्ञायोजनों का प्रवाह अविराम बना रहा। इतने में उनकी मार्गदर्शक सत्ता का संदेश आ पहुँचा और २० जून १९७१ को[१८४] वह अगली हिमालय यात्रा के लिए चल पड़े।

उनकी इस हिमालय यात्रा के साथ ही अध्यात्म की अद्वितीय प्रयोगशाला के रूप में हरिद्वार स्थित शान्तिकुञ्ज का विकास हुआ। इसका कार्यभार उन्होंने

१७९. आचार्य श्रीराम शर्मा-प्रचण्ड शक्ति संपन्न सविता, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ११, पृ ४९
१८०. आचार्य श्रीराम शर्मा-परम पूज्य आचार्य जी का अज्ञातवास, अखण्ड ज्योति, वर्ष २१, अंक ५, पृ. ४
१८१. आचार्य श्रीराम शर्मा-अष्टग्रही और उसकी संभावनाएँ, अखण्ड ज्योति, वर्ष २२, अंक ९, पृ. ३६
१८२. वही, पृ. ३७
१८३. आचार्य श्रीराम शर्मा-शक्ति महापुरश्चरण की पूर्णाहुति, अखण्ड ज्योति, वर्ष २७, अंक १०, पृ. ४८
१८४. आचार्य श्रीराम शर्मा-विदाई सम्मेलन के लिए आमंत्रण और प्रतिबंध, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३३, अंक ४, पृ. ५४

में चन्द्रायण सत्र, कल्प साधना सत्र एवं ब्रह्मवर्चस साधना सत्र जैसे अनेकों प्रयोग वैयक्तिक चेतना के उत्कर्ष एवं उन्नति के लिए चलते रहे।

सन् १९८० से २००० तक के समय को आचार्य जी ने युगसंधि काल कहा। उनके शब्दों में-"युगसंधि की इस विषम वेला में नियन्ता की गलाई-ढलाई प्रक्रिया तीव्र से तीव्रतम हो रही है। उसके साथ मानवी प्रयत्नों का भी संतुलन बैठना चाहिए।"[१९०] इस संतुलन को बैठाने के लिए उन्होंने जो प्रयोग शुरू किया उसे नाम दिया 'प्रज्ञा पुरश्चरण'। इसके स्वरूप और महत्त्व को स्पष्ट करते हुए उनका कथन है-"वर्तमान २४ लाख प्रज्ञा परिजनों द्वारा किए गए इस अभूतपूर्व महापुरश्चरण में प्रतिदिन २४ करोड़ जप संपन्न होगा। लक्ष्य इसे इसी वर्ष पाँच गुना बढ़ा देने का है, ताकि हर दिन १२० करोड़ जप नियमित रूप से संपन्न होता रहे। साथ ही उसी अनुपात में उसका अपेक्षित अग्निहोत्र भी साथ-साथ चलता रहे। इस शुभारम्भ के साथ युग परिवर्तन के लिए अनेकानेक महत्त्वपूर्ण दृश्य और अदृश्य उपक्रम सम्मिलित हैं।"[१९१]

जैसे-जैसे युग संधि की वेला गुजरती गयी, आचार्य ने व्यक्तिगत साधनाओं की अपेक्षा सामूहिक साधनाओं को महत्त्व देना शुरू किया। इस सामूहिक साधनाओं को उन्होंने युग साधना कहा। सन् १९८४ आते-आते प्राण प्रत्यावर्तन सत्र में नन्दकानन जैसा लगने वाला शान्तिकुज विचार क्रान्ति के धधकते ज्वालामुखी में बदल गया। शान्तिकुञ्ज की साधनाओं का स्वरूप ऊर्ध्वोमुखी से विश्वोन्मुखी हो गया। अतीन्द्रिय अनुभूतियों और साधकों के द्वारा किए जाने वाले लोक-लोकान्तर की सत्ताओं के संपर्क पर जैसे शिव की तृतीय दृष्टि टूट पड़ी हो-

तपः परामर्श विवृद्धमन्योर्भूभृंगः दुष्प्रेक्ष्य मुखस्यतस्य।
स्फुरन्तुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किंद निष्पतात्॥

सन् १९८४ में आचार्यजी को चौथी बार हिमालय बुलाया गया। उनके शब्दों मे 'इस बार साधक की परिपक्वता के कारण सूक्ष्म शरीर को आने का निर्देश मिला था।'[१९२] हिमालय पहुँचने पर उनकी मार्गदर्शक सत्ता ने पाँच मोर्चो पर काम करने का निर्देश दिया-१-वायुमंडल का संशोधन २-वातावरण का परिष्कार ३-नवयुग का निर्माण ४-महाविनाश का निरस्तीकरण-समापन ५-देवमानवों का उत्पादन-अभिवर्धन। इसके लिए उन्हें यह बताया गया-"तुम अपने को पाँच बना लो। इसे सूक्ष्मीकरण साधना कहते हैं। पाँचों शरीर सूक्ष्म रहेंगे, क्योंकि व्यापक क्षेत्र को सम्भालना सूक्ष्म सत्ता से ही बन पड़ता है। जब तक पाँचों परिपक्व होकर अपने स्वतंत्र काम न सम्भाल सकें, तब तक इसी शरीर से उनका परिपोषण करते रहो। इसमें एक वर्ष लग सकता है और अधिक समय भी। जब वे समर्थ हो जाएँ तो उन्हें अपना काम करने हेतु मुक्त कर देना। समय आने पर तुम्हारे दृश्यमान स्थूल शरीर की छुट्टी हो जाएगी।"[१९३]

अपने गुरुदेव के आदेशानुसार उन्होंने सूक्ष्मीकरण-सावित्री साधना का शुभारम्भ रामनवमी १९८४ से कर दिया। अध्यात्म विद्या के इतिहास ऋषि सत्ताएँ आध्यात्मिक ऊर्जा का लोक कल्याण में प्रयोग करती रही हैं। रामायण काल में रावण के आतंक को समाप्त करने के लिए महर्षि विश्वामित्र और महर्षि अगस्त्य ने श्रीराम को माध्यम बनाकर रावण का विनाश किया था। विश्वामित्र द्वारा भगवान् राम को बला-अतिबला का रहस्य बताना एवं अगस्त्य द्वारा सूर्य विद्या प्रदान करना प्रकारान्तर से यही प्रक्रिया थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय हिटलर के आतंक को समाप्त करने के लिए महर्षि अरविन्द ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग किया था। उन्हीं के शब्दो में "जब प्रत्येक व्यक्ति यह आशा कर रहा था कि इग्लैण्ड का शीघ्र पतन हो जाएगा और हिटलर की निश्चित रूप से जीत होगी, मैं अपनी आध्यात्मिक शक्ति से मित्र राष्ट्रों की सहायता करने लगा

१९०. आचार्य श्रीराम शर्मा-प्रज्ञा पुरश्चरण लक्ष्य और स्वरूप, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४६, अक ८, पृ. कव्हर पेज

१९१. वही,

१९२. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारी वसीयत और विरासत, पृ.१२६

१९३. वही, पृ. १२८-१२९

अपनी धर्मपत्नी वंदनीया माता भगवती देवी के हाथों सौंपा। इस तथ्य को शब्द देते हुए उनके शब्द हैं-"माता भगवती देवी २० जून के बाद हरिद्वार ऋषिकेश के बीच सात ऋषियों की तप:स्थली जहाँ गंगा की सात धाराएँ प्रवाहित हुई हैं-अपने छोटे से शान्तिकुञ्ज नामक आश्रम में निवास करेंगी। जिस प्रकार हमने २४ लक्ष के २४ महापुरश्चरण संपन्न किए थे उसी प्रकार वे भी करेंगी। अखण्ड घृत दीप मथुरा से उन्हीं के पास चला जाएगा।"[१८५]

इस तीसरी हिमालय यात्रा में लगभग १ वर्ष तक विशिष्ट तपश्चर्या का क्रम चला। इस अवधि में पाकिस्तान द्वारा किए गए आक्रमण को निरस्त करने के लिए किए गए ऋषियों के तप पुरुषार्थ में उनकी भागीदारी भी शामिल थी। इसके अलावा इस तप के विशिष्ट उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए माता भगवती देवी के शब्द हैं-"उनकी यह विशेष तपश्चर्या स्वर्ग-मुक्ति, सिद्धि, शक्ति के लिए नहीं, क्योंकि उन्हें तो ये बहुत पहले ही प्राप्त कर चुके हैं। अब तो वे अपनी पीड़ा में विश्व मानव की पीड़ा को घुलाकर वे एक तड़पते हुए घायल की तरह हो गए हैं। उनकी तड़पन परशुराम के कुल्हाड़े के रूप में, शिव के तीसरे नेत्र के रूप में, इन्द्र के वज्र के रूप में नए परिवर्तन का न जाने क्या आधार प्रस्तुत करे, आज कौन कहे और कैसे कहे।"[१८६]

इस हिमालय यात्रा में उन्हें अपने मार्गदर्शक तथा वहाँ के ऋषिगणों से शान्तिकुञ्ज में ऋषि परम्परा को पुनर्जीवित करने का निर्देश मिला। यह भी बताया कि हरिद्वार की कार्यपद्धति मथुरा के कार्यक्रम से बड़ी है, इसलिए उतार-चढ़ाव भी बहुत रहेंगे। असुरता के आक्रमण भी सहने पड़ेंगे आदि-आदि बातें उन्होंने पूरी तरह समझा दी।"[१८७] शान्तिकुञ्ज पहुँचकर उन्होंने अपने आध्यात्मिक प्रयोगों की शुरुआत प्राण प्रत्यावर्तन सत्र से की। १९७३ में संपन्न हुए इस प्रयोग का उद्देश्य भागीदारों की चेतना में ऐसा उत्कर्ष करना था कि लोभ-मोह के सामान्य दायरे से ऊपर उठकर लोकहित के लिए समर्पित हो सकें। इस प्रयोग के प्रभाव ने ही शान्तिकुञ्ज और गायत्री नगर में आकर अपना लोक कल्याण के लिए अपना सर्वस्व अर्पित करने वालों की भीड़ लगा दी। देखते ही देखते गायत्री परिवार के सदस्यों की संख्या २४ लाख तक जा पहुँची। इसी क्रम में सन् १९७६ में स्वर्ण जयन्ती साधना वर्ष मनाया गया। इसका उद्देश्य एक लाख साधकों की चेतना में विशेष बल भरना था। इसी क्रम में १९७९ में रजत जयन्ती पुरश्चरण संपन्न हुआ।

सन् १९७९ में आचार्य जी ने आध्यात्मिक शक्ति का एक अन्य विशिष्ट प्रयोग किया, जिसे उन्होंने सुरक्षा अनुष्ठान की संज्ञा दी। इस वर्ष 'स्काईलैब' नामक अंतरिक्षीय यान के विस्फोट का खतरा धरती पर मँडरा रहा था। वैज्ञानिकों के अनुसार इसके गिरने पर प्रभावित होने वाले क्षेत्र थे-"लोओस, मनीला, पनामा, अटलांटिक देश तथा नाइजीरिया तथा भारत का एक बड़ा क्षेत्र जिसमें महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, गुजरात, उड़ीसा तथा पश्चिम बंगाल प्रमुख थे।"[१८८] वैज्ञानिकों के अनुसार धरती पर इसके प्रभाव धन-जन की हानि के साथ सारे वातावरण का संतुलन बिगड़ जाना था। स्काईलैब इन जनसंकुल स्थानों से दूर समुद्र में कैसे जा गिरा, इसे ठीक-ठीक बताने में तो वैज्ञानिक सफल नहीं हो सके, पर हाँ उनके लिए यह एक आश्चर्य तो रहा ही। आचार्य जी ने इस आश्चर्य का रहस्योद्घाटन करते हुए लिखा-"यह इस बात का चिह्न है कि स्थूल को प्रभावित करने वाले विज्ञान की तरह सूक्ष्म को प्रभावित करने वाला अध्यात्म भी सामयिक समस्याओं के संबंध में जागरूक है। यह उज्ज्वल भविष्य का शुभ चिह्न है। गायत्री परिवार के लाखों परिजनों ने जुलाई निर्धारित साधना उसे सूक्ष्म संरक्षण को महत्त्वपूर्ण ही इस शान्तिकुंज

१८५ आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारा कार्य भार और

१८६. आचार्य श्रीराम शर्मा-अपनों से अपनी बात,

१८७. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारी वसीयत और वि

१८८. आचार्य श्रीराम शर्मा-यान संकट और

१८९. आचार्य श्रीराम शर्मा-स्काईलैब तो मर गया-

में चन्द्रायण सत्र, कल्प साधना सत्र एवं ब्रह्मवर्चस साधना सत्र जैसे अनेकों प्रयोग वैयक्तिक चेतना के उत्कर्ष एवं उन्नति के लिए चलते रहे।

सन् १९८० से २००० तक के समय को आचार्य जी ने युगसंधि काल कहा। उनके शब्दों में-''युगसंधि की इस विषम वेला में नियन्ता की गलाई-ढलाई प्रक्रिया तीव्र से तीव्रतम हो रही है। उसके साथ मानवी प्रयत्नों का भी संतुलन बैठना चाहिए।''[११०] इस संतुलन को बैठाने के लिए उन्होंने जो प्रयोग शुरू किया उसे नाम दिया 'प्रज्ञा पुरश्चरण'। इसके स्वरूप और महत्त्व को स्पष्ट करते हुए उनका कथन है-''वर्तमान २४ लाख प्रज्ञा परिजनों द्वारा किए गए इस अभूतपूर्व महापुरश्चरण में प्रतिदिन २४ करोड़ जप संपन्न होगा। लक्ष्य इसे इसी वर्ष पाँच गुना बढ़ा देने का है, ताकि हर दिन १२० करोड़ जप नियमित रूप से संपन्न होता रहे। साथ ही उसी अनुपात में उसका अपेक्षित अग्निहोत्र भी साथ-साथ चलता रहे। इस शुभारम्भ के साथ युग परिवर्तन के लिए अनेकानेक महत्त्वपूर्ण दृश्य और अदृश्य उपक्रम सम्मिलित हैं।''[१११]

जैसे-जैसे युग संधि की वेला गुजरती गयी, आचार्य ने व्यक्तिगत साधनाओं की अपेक्षा सामूहिक साधनाओं को महत्त्व देना शुरू किया। इस सामूहिक साधनाओं को उन्होंने युग साधना कहा। सन् १९८४ आते-आते प्राण प्रत्यावर्तन सत्र में नन्दकानन जैसा लगने वाला शान्तिकुंज विचार क्रान्ति के धधकते ज्वालामुखी में बदल गया। शान्तिकुञ्ज की साधनाओं का स्वरूप ऊर्ध्वोमुखी से विश्वोन्मुखी हो गया। अतीन्द्रिय अनुभूतियों और साधकों के द्वारा किए जाने वाले लोक-लोकान्तर की सत्ताओं के संपर्क पर जैसे शिव की तृतीय दृष्टि टूट पड़ी हो-

तपः परामर्श विवृद्धमन्योर्भूभृंगः दुष्प्रेक्ष्य मुखस्यतस्य।
स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किदं निष्पतात्॥

सन् १९८४ में आचार्यजी को चौथी बार हिमालय बुलाया गया। उनके शब्दों में 'इस बार साधक की परिपक्वता के कारण सूक्ष्म शरीर को आने का निर्देश मिला था।'[११२] हिमालय पहुँचने पर उनकी मार्गदर्शक सत्ता ने पाँच मोर्चों पर काम करने का निर्देश दिया-१-वायुमंडल का संशोधन २-वातावरण का परिष्कार ३-नवयुग का निर्माण ४-महाविनाश का निरस्तीकरण-समापन ५-देवमानवों का उत्पादन-अभिवर्धन। इसके लिए उन्हें यह बताया गया-''तुम अपने को पाँच बना लो। इसे सूक्ष्मीकरण साधना कहते हैं। पाँचों शरीर सूक्ष्म रहेंगे, क्योंकि व्यापक क्षेत्र को सम्भालना सूक्ष्म सत्ता से ही बन पड़ता है। जब तक पाँचों परिपक्व होकर अपने स्वतंत्र काम न सम्भाल सकें, तब तक इसी शरीर से उनका परिपोषण करते रहो। इसमें एक वर्ष लग सकता है और अधिक समय भी। जब वे समर्थ हो जाएँ तो उन्हें अपना काम करने हेतु मुक्त कर देना। समय आने पर तुम्हारे दृश्यमान स्थूल शरीर की छुट्टी हो जाएगी।''[११३]

अपने गुरुदेव के आदेशानुसार उन्होंने सूक्ष्मीकरण-सावित्री साधना का शुभारम्भ रामनवमी १९८४ से कर दिया। अध्यात्म विद्या के इतिहास ऋषि सत्ताएँ आध्यात्मिक ऊर्जा का लोक कल्याण में प्रयोग करती रही हैं। रामायण काल में रावण के आतंक को समाप्त करने के लिए महर्षि विश्वामित्र और महर्षि अगस्त्य ने श्रीराम को माध्यम बनाकर रावण का विनाश किया था। विश्वामित्र द्वारा भगवान् राम को बला-अतिबला का रहस्य बताना एवं अगस्त्य द्वारा सूर्य विद्या प्रदान करना प्रकारान्तर से यही प्रक्रिया थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय हिटलर के आतंक को समाप्त करने के लिए महर्षि अरविन्द ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग किया था। उन्हीं के शब्दों में ''जब प्रत्येक व्यक्ति यह आशा कर रहा था कि इग्लैण्ड का शीघ्र पतन हो जाएगा और हिटलर की निश्चित रूप से जीत होगी, मैं अपनी आध्यात्मिक शक्ति से मित्र राष्ट्रों की सहायता करने लगा

११०. आचार्य श्रीराम शर्मा-प्रज्ञा पुरश्चरण लक्ष्य और स्वरूप, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४६, अंक ८, पृ कव्हर पेज
न्ही,
श्रीराम शर्मा-हमारी वसीयत और विरासत, पृ १२६
१२८-१२९

अपनी धर्मपत्नी वंदनीया माता भगवती देवी के हाथों सौंपा। इस तथ्य को शब्द देते हुए उनके शब्द हैं-''माता भगवती देवी २० जून के बाद हरिद्वार ऋषिकेश के बीच सात ऋषियों की तप:स्थली जहाँ गंगा की सात धाराएँ प्रवाहित हुई हैं-अपने छोटे से शान्तिकुञ्ज नामक आश्रम में निवास करेंगी। जिस प्रकार हमने २४ लक्ष के २४ महापुरश्चरण संपन्न किए थे उसी प्रकार वे भी करेंगी। अखण्ड घृत दीप मथुरा से उन्हीं के पास चला जाएगा।''[१८५]

इस तीसरी हिमालय यात्रा में लगभग १ वर्ष तक विशिष्ट तपश्चर्या का क्रम चला। इस अवधि में पाकिस्तान द्वारा किए गए आक्रमण को निरस्त करने के लिए किए गए ऋषियों के तप पुरुषार्थ में उनकी भागीदारी भी शामिल थी। इसके अलावा इस तप के विशिष्ट उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए माता भगवती देवी के शब्द हैं-''उनकी यह विशेष तपश्चर्या स्वर्ग-मुक्ति, सिद्धि, शक्ति के लिए नहीं, क्योंकि उन्हें तो वे बहुत पहले ही प्राप्त कर चुके हैं। अब तो वे अपनी पीड़ा में विश्व मानव की पीड़ा को घुलाकर वे एक तड़पते हुए घायल की तरह हो गए हैं। उनकी तड़पन परशुराम के कुल्हाड़े के रूप में, शिव के तीसरे नेत्र के रूप में, इन्द्र के वज्र के रूप में नए परिवर्तन का न जाने क्या आधार प्रस्तुत करे, आज कौन कहे और कैसे कहे।''[१८६]

इस हिमालय यात्रा में उन्हें अपने मार्गदर्शक तथा वहाँ के ऋषिगणों से शान्तिकुञ्ज में ऋषि परम्परा को पुनर्जीवित करने का निर्देश मिला। यह भी बताया कि हरिद्वार की कार्यपद्धति मथुरा के कार्यक्रम से बड़ी है, इसलिए उतार-चढ़ाव भी बहुत रहेंगे। असुरता के आक्रमण भी सहने पड़ेंगे आदि-आदि बातें उन्होंने पूरी तरह समझा दी।''[१८७] शान्तिकुञ्ज पहुँचकर उन्होने अपने आध्यात्मिक प्रयोगों की शुरुआत प्राण प्रत्यावर्तन सत्र से की। १९७३ में संपन्न हुए इस प्रयोग का उद्देश्य भागीदारों की चेतना में ऐसा उत्कर्ष करना था कि लोभ-मोह के सामान्य दायरे से ऊपर उठकर लोकहित के लिए समर्पित हो सके। इस प्रयोग के प्रभाव ने ही शान्तिकुञ्ज और गायत्री नगर में आकर अपना लोक कल्याण के लिए अपना सर्वस्व अर्पित करने वालों की भीड़ लगा दी। देखते ही देखते गायत्री परिवार के सदस्यों की संख्या २४ लाख तक जा पहुँची। इसी क्रम में सन् १९७६ में स्वर्ण जयन्ती साधना वर्ष मनाया गया। इसका उद्देश्य एक लाख साधकों की चेतना में विशेष बल भरना था। इसी क्रम में १९७९ में रजत जयन्ती पुरश्चरण संपन्न हुआ।

सन् १९७९ में आचार्य जी ने आध्यात्मिक शक्ति का एक अन्य विशिष्ट प्रयोग किया, जिसे उन्होंने सुरक्षा अनुष्ठान की संज्ञा दी। इस वर्ष 'स्काईलैब' नामक अंतरिक्षीय यान के विस्फोट का खतरा धरती पर मँडरा रहा था। वैज्ञानिकों के अनुसार इसके गिरने पर प्रभावित होने वाले क्षेत्र थे-''लोओस, मनीला, पनामा, अटलांटिक देश तथा नाइजीरिया तथा भारत का एक बड़ा क्षेत्र जिसमें महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, गुजरात, उड़ीसा तथा पश्चिम बंगाल प्रमुख थे।''[१८८] वैज्ञानिकों के अनुसार धरती पर इसके प्रभाव धन-जन की हानि के साथ सारे वातावरण का संतुलन बिगड़ जाना था। स्काईलैब इन जनसंकुल स्थानों से दूर समुद्र में कैसे जा गिरा, इसे ठीक-ठीक बताने में तो वैज्ञानिक सफल नहीं हो सके, पर हाँ उनके लिए यह एक आश्चर्य तो रहा ही। आचार्य जी ने इस आश्चर्य का रहस्योद्‌घाटन करते हुए लिखा-''यह इस बात का चिह्न है कि स्थूल को प्रभावित करने वाले विज्ञान की तरह सूक्ष्म को प्रभावित करने वाला अध्यात्म भी सामयिक समस्याओं के संबंध में जागरूक है। यह उज्ज्वल भविष्य का शुभ चिह्न है। गायत्री परिवार के लाखों परिजनों ने जुलाई मास में जो निर्धारित साधना की उसे सूक्ष्म संरक्षण की दृष्टि से अत्यन्त शक्तिशाली एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ही माना जाएगा।''[१८९] इस प्रयोग के अलावा शान्तिकुंज

---

१८५. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारा कार्य भार और उसका चार भागों में विभाजन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३३, अंक ५, पृ ५९

१८६. आचार्य श्रीराम शर्मा-अपनो से अपनी बात, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३३, अंक १२, पृ. ६४

१८७ आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारी वसीयत और विरासत, पृ. ९५

१८८. आचार्य श्रीराम शर्मा-यान संकट और सुरक्षा अनुष्ठान, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४२, अंक ७, पृ. १

१८९. आचार्य श्रीराम शर्मा-स्काईलैब तो मर गया-पर प्रेत शान्ति अभी शेष है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४६, अंक ८, पृ. कव्हर पेज

में चन्द्रायण सत्र, कल्प साधना सत्र एवं ब्रह्मवर्चस साधना सत्र जैसे अनेकों प्रयोग वैयक्तिक चेतना के उत्कर्ष एवं उन्नति के लिए चलते रहे।

सन् १९८० से २००० तक के समय को आचार्य जी ने युगसंधि काल कहा। उनके शब्दों में-"युगसंधि की इस विषम वेला में नियन्ता की गलाई-ढलाई प्रक्रिया तीव्र से तीव्रतम हो रही है। उसके साथ मानवी प्रयत्नों का भी संतुलन बैठना चाहिए।"[१९०] इस सतुलन को बैठाने के लिए उन्होंने जो प्रयोग शुरू किया उसे नाम दिया 'प्रज्ञा पुरश्चरण'। इसके स्वरूप और महत्त्व को स्पष्ट करते हुए उनका कथन है-"वर्तमान २४ लाख प्रज्ञा परिजनों द्वारा किए गए इस अभूतपूर्व महापुरश्चरण में प्रतिदिन २४ करोड़ जप संपन्न होगा। लक्ष्य इसे इसी वर्ष पाँच गुना बढ़ा देने का है, ताकि हर दिन १२० करोड़ जप नियमित रूप से संपन्न होता रहे। साथ ही उसी अनुपात में उसका अपेक्षित अग्निहोत्र भी साथ-साथ चलता रहे। इस शुभारम्भ के साथ युग परिवर्तन के लिए अनेकानेक महत्त्वपूर्ण दृश्य और अदृश्य उपक्रम सम्मिलित है।"[१९१]

जैसे-जैसे युग संधि की वेला गुजरती गयी, आचार्य ने व्यक्तिगत साधनाओं की अपेक्षा सामूहिक साधनाओं को महत्त्व देना शुरू किया। इस सामूहिक साधनाओं को उन्होंने युग साधना कहा। सन् १९८४ आते-आते प्राण प्रत्यावर्तन सत्र में नन्दकानन जैसा लगने वाला शान्तिकुंज विचार क्रान्ति के धधकते ज्वालामुखी में बदल गया। शान्तिकुञ्ज की साधनाओं का स्वरूप ऊर्ध्वोमुखी से विश्वोन्मुखी हो गया। अतीन्द्रिय अनुभूतियों और साधकों के द्वारा किए जाने वाले लोक-लोकान्तर की सत्ताओं के संपर्क पर जैसे शिव की तृतीय दृष्टि टूट पड़ी हो-

तपः परामर्श विवृद्धमन्योर्भूभृंगः दुष्प्रेक्ष्य सुखस्यतस्य।
स्फुरन्तुदर्चिः सहसा तृतीयादक्षणः कृशानुः किद निष्पतात्॥

सन् १९८४ में आचार्यजी को चौथी बार हिमालय बुलाया गया। उनके शब्दों में 'इस बार साधक की परिपक्वता के कारण सूक्ष्म शरीर को आने का निर्देश मिला था।"[१९२] हिमालय पहुँचने पर उनकी मार्गदर्शक सत्ता ने पाँच मोर्चो पर काम करने का निर्देश दिया-१-वायुमंडल का संशोधन २-वातावरण का परिष्कार ३-नवयुग का निर्माण ४-महाविनाश का निरस्तीकरण-समापन ५-देवमानवों का उत्पादन-अभिवर्धन। इसके लिए उन्हें यह बताया गया-"तुम अपने को पाँच बना लो। इसे सूक्ष्मीकरण साधना कहते हैं। पाँचों शरीर सूक्ष्म रहेंगे, क्योकि व्यापक क्षेत्र को सम्भालना सूक्ष्म सत्ता से ही बन पड़ता है। जब तक पाँचों परिपक्व होकर अपने स्वतंत्र काम न सम्भाल सकें, तब तक इसी शरीर से उनका परिपोषण करते रहो। इसमें एक वर्ष लग सकता है और अधिक समय भी। जब वे समर्थ हो जाएँ तो उन्हे अपना काम करने हेतु मुक्त कर देना। समय आने पर तुम्हारे दृश्यमान स्थूल शरीर की छुट्टी हो जाएगी।"[१९३]

अपने गुरुदेव के आदेशानुसार उन्होंने सूक्ष्मीकरण-सावित्री साधना का शुभारम्भ रामनवमी १९८४ से कर दिया। अध्यात्म विद्या के इतिहास ऋषि सत्ताएँ आध्यात्मिक ऊर्जा का लोक कल्याण में प्रयोग करती रही हैं। रामायण काल में रावण के आतंक को समाप्त करने के लिए महर्षि विश्वामित्र और महर्षि अगस्त्य ने श्रीराम को माध्यम बनाकर रावण का विनाश किया था। विश्वामित्र द्वारा भगवान् राम को बला-अतिबला का रहस्य बताना एवं अगस्त्य द्वारा सूर्य विद्या प्रदान करना प्रकारान्तर से यही प्रक्रिया थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय हिटलर के आतंक को समाप्त करने के लिए महर्षि अरविन्द ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग किया था। उन्हीं के शब्दों में "जब प्रत्येक व्यक्ति यह आशा कर रहा था कि इग्लैण्ड का शीघ्र पतन हो जाएगा और हिटलर की निश्चित रूप से जीत होगी, मैं अपनी आध्यात्मिक शक्ति से मित्र राष्ट्रों की सहायता करने लगा

१९०. आचार्य श्रीराम शर्मा-प्रज्ञा पुरश्चरण लक्ष्य और स्वरूप, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४६, अक ८, पृ. कव्हर पेज
१९१. वही,
१९२. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारी वसीयत और विरासत, पृ १२६
१९३. वही, पृ. १२८-१२९

और यह देखकर संतोष हुआ कि जर्मनी के विजय का वेग लगभग रुक गया और युद्ध का पासा पलट गया।''[१९४] हिटलर के अमानवीय अत्याचारों की कहानियाँ लोक विश्रुत है। श्री अरविन्द भी उसे असुरता का प्रतिनिधि मानते थे। उनके अनुसार हिटलर की पराजय-असुरता के ऊपर देवत्व की विजय थी। इस प्रसंग में वह आगे कहते हैं-''डन्कर्क के समय से मैंने हस्तक्षेप शुरू किया। मैंने खुले आम घोषणा की और अपना योगदान दिया। मैंने १५ अगस्त और १५ सितम्बर दो तिथियाँ चुनी कि इन्हीं दिनों जर्मनी को हारना पड़ेगा और वह हारा।''[१९५]

हिमालय की ऋषि सत्ताएँ शताब्दियों, सहस्राब्दियों से मानव कल्याण के लिए अपने आध्यात्मिक प्रयोगों में संलग्न हैं। उनकी ऊर्जा के प्रभाव को शब्दांकित करते हुए महायोगी पायलट बाबा कहते हैं-''वैज्ञानिक और ज्योतिषाचार्य लोग अनेक भविष्यवाणियाँ कर मानव के मन में हलचल पैदा कर देते हैं। मानव सुख-चैन की नींद को त्यागकर, चिन्ता में, उस वक्त की प्रतीक्षा करता है और जब वह वक्त आता है जो कुछ भी नहीं होता। संभावित घटनाओं की रूपरेखा तैयार थी। भविष्यवक्ताओं ने नक्षत्रों के अनुकूल भविष्यवाणियाँ की थीं, पर संभावनाएँ पूर्णतया टल गईं। इस घटना को टाल देने में इन महापुरुषों का (हिमालय की ऋषि सत्ताओं का) हाथ है, जो मानव के साथ-साथ अन्य जीवों की रक्षा के लिए ऐसे होने वाली घटनाओं को टाला करते हैं। विश्व युद्ध की परिस्थितियों में परिवर्तन कर देते हैं। अब तक तो आदमी कब का विश्वयुद्धों से गुजरा होता, पर होते-होते घटनाक्रम में मोड़ आ जाता है। युद्ध छिड़कर समझौता का रूप ले लेता है। कोई न कोई शान्तिदूत बनकर नरसंहार होने से बचा लेता है।''[१९६]

इन्हीं ऋषि सत्ताओं के प्रतिनिधि के रूप में आचार्य जी ने मार्च १९८४ में सावित्री साधना की शुरुआत की। सावित्री साधना-गायत्री साधना का ही एक पक्ष है। आचार्य जी के अनुसार-''गायत्री ब्रह्म विद्या है, उसे आत्मिकी भी कह सकते हैं। सावित्री आत्म भौतिक है। आती तो वह आत्म विज्ञान के अंतर्गत ही है, पर उससे भौतिक लाभों का उपार्जन और सांसारिक संकटों का निवारण ही हो सकता है।''[१९७] यह आत्मिक चेतना और सविता चेतना का तारतम्य बनाने वाला आधार सावित्री साधना है।''[१९८] सावित्री विश्वव्यापी है, उसके प्रभाव से भूमण्डल का संपूर्ण क्षेत्र एवं प्राणी समुदाय का समूचा वर्ग प्रभावित हो उठता है। वह जन-जन के मन-मन में प्रेरित प्रेरणा की तरंगें उत्पन्न कर सकती है। वह अनर्थ सँजोने वाले को टक्कर मारकर नीचे गिरा सकती है और साथ ही दिशा भूले लोगों को सही रास्ते पर उसी प्रकार चला सकता है जिस प्रकार झुण्ड से बाहर जिधर-तिधर भागने वाली भेड़ों को ग्वाला डण्डा दिखाकर सही रास्ते पर ले आता है।''[१९९] अध्यात्म विद्या का यह समर्थ प्रयोग आचार्य जी ने तीन वर्षों में संपन्न किया। इस समर्थ प्रयोग की परिणतियाँ दो रूपों में हुईं १-विश्व का कुण्डलिनी जागरण-यह जागरण पुरातन काल में विश्वामित्र के द्वारा संपन्न हुआ था। उस बार भी विश्व वसुधा का कायाकल्प हुआ था। इस बार भी वैसा ही होने जा रहा है।''[२००] २-पाँच वीरभद्रों-सूक्ष्म शरीरों का उत्पादन।

आचार्यजी के शब्दों में ''सूक्ष्मीकरण के महाप्रयोग में एक वीरभद्र विचार संशोधन में लगेगा।''[२०१] सूक्ष्मीकरण द्वारा उत्पन्न दूसरे वीरभद्र के लिए यही काम सौंपा गया है कि नव निर्माण के लिए जितने प्रचुर साधनों की आवश्यकता है, उन्हें कहीं से भी, किसी भी

---

१९४. श्रीअरविन्द- अपने तथा श्रीमाताजी के विषय में, पृ. ३९
१९५. रेमिनिसेंसेज एण्ड एनक्डोट्स आफ श्री अरविन्दो, पृ. २१९
१९६. पायलट बाबा-हिमालय कह रहा है, पृ.४५५
१९७. आचार्य श्रीराम शर्मा-कुण्डलिनी साधना क्यों-किस प्रयोजन के लिए? अखण्ड ज्योति, वर्ष ५०, अंक १, पृ. २
१९८. आचार्य श्रीराम शर्मा-सावित्री साधना का स्वरूप एवं उनसे जुड़ी मर्यादाएँ, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४९, अक ४, पृ. ५५
१९९. वही, पृ. ५६
२००. आचार्य श्रीराम शर्मा, राष्ट्र कुण्डलिनी को परिवर्तन प्रक्रिया, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५०, अंक १, पृ. ६१
२०१. आचार्य श्रीराम शर्मा-साधना संग्रह करने की क्षमता, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अंक ११, पृ. ७

कीमत पर जुटाया जाना चाहिए। इतने साधन जो जुटा सके सो कितना समर्थ होगा यह अनुमान लगाने में किसी को चूक नहीं करना चाहए।''[२०२] ३-तीसरा वीरभद्र दुरात्माओं के लिए भय का वातावरण उत्पन्न करेगा।''[२०३] ४-सूक्ष्मीकरण से उत्पन्न चौथे वीरभद्र से प्रस्तुत एवं भावी प्रज्ञा परिजनों की दृष्टि से अधिक समर्थ बनाने के लिए सुरक्षित छोड़ दिया गया है।[२०४] ५-सूक्ष्मीकरण से उत्पन्न चार वीरभद्रों को असाधारण काम सौंपे गए हैं, उनके लिए खुराक कहाँ से आए? इसके निमित्त एक पाँचवाँ वीरभद्र विशुद्ध तपश्चर्या में ही निरत रहेगा।''[२०५]

इसी महान् सामर्थ्य के आधार पर उन्होंने कहा- ''सघन तमिस्रा का अंत होगा। ऊषाकाल के साथ उभरता अरुणोदय अपनी प्रखरता का परिचय देगा। जिन्हें तमिस्रा चिरस्थायी लगती हो, वे अपने ढंग से सोचें, पर हमारा दिव्य दर्शन, उज्ज्वल भविष्य की झांकी करता है। इस पुण्य प्रयास में सृजन की पक्षधर देवशक्तियाँ प्राणपण से जुट गयी हैं। इसी सृजन प्रयास के एक अकिंचन घटक के रूप में हमें भी कुछ कारगर अनुदान प्रस्तुत करने का अवसर मिल रहा है। इस सुयोग-सौभाग्य पर हमें अतीव संतोष है और असाधारण आनंद।''[२०६]

उनकी सूक्ष्मीकरण साधना के समय और उसके बाद शान्तिकुञ्ज में एकमासीय और नौ दिवसीय साधना सत्रों का क्रम अनवरत चलता रहा। सूक्ष्मीकरण साधना की पूर्णाहुति देशव्यापी १०८ कुण्डीय यज्ञों के रूप में की गयी। आध्यात्मिक प्रयोगों का यह क्रम उन्होंने अंतिम श्वांस तक जारी रखा और अंत में सूक्ष्म जगत् में 'इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य' के उद्घोष को साकार करने वह चल पड़े। उन्हीं का आत्म कथ्य है-''जो भी संकल्पनाएँ नवयुग के संबंध में हमने की थी, वे साकार होकर रहेंगी। इसी निमित्त काय पिञ्जर का सीमित परिसर छोड़कर हम विराट् घनीभूत प्राण ऊर्जा के रूप में विस्तृत होने जा रहे हैं।''[२०७] इस तरह आचार्य जी के जीवन का पल-पल अध्यात्म विद्या के बहुमूल्य प्रयोगों में व्यतीत हुआ। अपने प्रयोगों में अध्यात्म और जीवन के प्रत्येक पक्ष को समग्रता दी। उन्होंने बताया कि वैयक्तिक चेतना के उत्कर्ष की सार्थकता वैश्विक चेतना के उत्कर्ष में है। इसी समग्रता के लिए-अध्यात्म विद्या के वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए उन्होंने ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की स्थापना की। जिससे कि आध्यात्मिक प्रयोगें की प्रभाविकता वैज्ञानिक अनुसंधानों की कसौटी पर परखी जा सके।



२०२. आचार्य श्रीराम शर्मा-साधना संग्रह करने की क्षमता, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अंक ११, पृ ८
२०३. आचार्य श्रीराम शर्मा-वृत्रासुर हनन का इंद्र वज्र, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अंक ११, पृ. ११
२०४. आचार्य श्रीराम शर्मा-सामर्थ्य एव सुरक्षा देने वाली शक्ति, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अंक ११, पृ १४
२०५. आचार्य श्रीराम शर्मा-स्थूल शरीर की वर्तमान एकान्त साधना,अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अंक ११, पृ १५
२०६. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारी भविष्यवाणी-सतयुग की वापसी, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४७, अंक ६, पृ. १८
२०७. आचार्य श्रीराम शर्मा-अंतिम सदेश, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक ७, पृ. कव्हर पेज



अध्याय ७ (ब)

वैज्ञानिक अध्यात्म-ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान



अध्यात्म विद्या के प्रति आचार्य जी की दृष्टि प्रारम्भ से ही विशुद्ध वैज्ञानिक की रही है। जहाँ उन्होंने व्यष्टिगत एवं समष्टिगत स्तर पर किए अपने आध्यात्मिक प्रयोगों में वैज्ञानिक सजगता, सतर्कता, विश्लेषण एवं तर्क जिज्ञासा से काम लिया। वहीं इसकी सिद्धान्त रचना भी उन्होंने वैज्ञानिक विधि से की। सिद्धान्त रचना की यह विधि बहुत ही महत्त्वपूर्ण बौद्धिक साधन है, जिससे किसी प्रतिपादन की यथार्थता सिद्ध की जा सकती है। इसके अंदर जाँच करने और आत्म शोधन के सारे उपाय मौजूद रहते हैं। इस विधि की सारी प्रविधियों का सावधानी से पालन करने पर सिद्धान्त रचना की अशुद्धियों को दूर किया जा सकता है। इसमें निम्नलिखित प्रविधियों का अनुगमन होता है-

(१) अनुसंधान के लिए समस्या का निरूपण एवं स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक है। अनुसंधान द्वारा तथ्यों को इकट्ठा करने से ही सिद्धान्त नहीं रच जाता। बेकन का मत गलत है कि केवल वैज्ञानिक अनुसंधान एवं प्रत्ययों के निकपण द्वारा ही वैज्ञानिक सिद्धान्त रचा जाता है। एम.कोहेन ने कहा है कि वैज्ञानिक के मन में यदि निर्देश देने वाला कोई सिद्धान्त न हो, तो यह नहीं पता चल सकता कि किन तथ्यों का अनुसंधान किया जाय, जिनके निष्कर्ष द्वारा एक व्यवस्थित सिद्धान्त बन सके।[१]

(२) वैज्ञानिक विधि का दूसरा महत्त्वपूर्ण चरण है, तथ्यों को योजनाबद्ध एवं व्यवस्थित निरीक्षण द्वारा इकट्ठा करना। सिद्धान्त रचयिता पर्यावरण से निर्गत घटनाओं का योजनाबद्ध रूप से निरीक्षण करता है और उनमें से आवश्यक सूचनाओं का निष्कर्षण करता है।[२] आचार्य जी के अनुसार यह योजनाबद्ध निरीक्षण समूची अंतः प्रकृति एवं बाह्य प्रकृति का एक साथ होना चाहिए तभी सिद्धान्त रचना समग्र हो सकेगी। पर्यावरण तो सिर्फ बाह्य प्रकृति का एक अंग है, इसके आधार पर की गयी सिद्धान्त रचना भी एकांगी होगी, समग्र नहीं।

(३) वैज्ञानिक विधि के अनुसार अनुसंधान के तृतीय चरण में किसी समस्या के समाधान के लिए प्राक्कल्पना (हाइपोथेसिस) की जाती है। वैज्ञानिक अपनी अस्पष्ट समझ को वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा सिद्ध करता है। जिस समय उसकी हाइपोथेसिस निष्कर्षण द्वारा सिद्ध हो जाती है, उस समय उसको वैध या मान्य कल्पना कहा जाता है। इसके उपरान्त ही उपयुक्त सिद्धान्त रचना की जाती है।

(४) वैज्ञानिक विधि के अनुसार किसी समस्या के अनुसंधान में वैज्ञानिक निष्कर्षण एक महत्वपूर्ण चरण है। निरीक्षण और यंत्रों की सहायता से परीक्षण द्वारा प्राक्कल्पना का निष्कर्षण किया जाता है। आध्यात्मिक प्रयोग व्यक्ति की अंतर्सत्ता में संपन्न होते हैं इसलिए इनमें शरीर, प्राण, मन का यंत्रों की भाँति इस्तेमाल किया जाता है।

(५) वैज्ञानिक विधि के अनुसार अनुसंधान का अंतिम चरण सामान्यीकरण होता है। अंतः प्रकृति एवं बाह्य प्रकृति की घटनाओं के संबंध का पता लगाकर सामान्य नियमों की रचना की जाती है। वैज्ञानिकगण इन्हीं सामान्य प्राकृतिक नियमों की रचना करते हैं, आविष्कार नहीं। उदाहरण के लिए गुरुत्वाकर्षण शक्ति तो धरती में पहले ही मौजूद थी, न्यूटन ने सेब के गिरने-धरती द्वारा उसको अपनी ओर आकर्षित करने के संबंध का पता लगाकर गुरुत्वाकर्षण के सामान्य नियम की रचना की। यही बात आइन्स्टीन एवं मैक्सप्लैंक के नियमों के संदर्भ में है। सामान्य भाषा में सामान्य नियम की रचना एवं उसके उपयोग की विधियों को आविष्कार की संज्ञा दी जाती है।

इसी वैज्ञानिक प्रविधि के अनुरूप आचार्य जी ने अपने आध्यात्मिक प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्षों के वैज्ञानिक

---

१. एम. कोहेन-प्रीफेस टू लॉजिक, पृ. १४८

२. आर.एच.फारगुस-परसेप्शन, पृ. २

प्रस्तुतीकरण का कार्य अखण्ड ज्योति के प्रथम अंक के साथ सन् १९४० के दशक में शुरू कर दिया था। 'मैं क्या हूँ?' जैसे गूढ़ दार्शनिक विषय पर मनोविज्ञान को आधार बनाकर उनने प्रतिपादन किया था कि व्यक्ति स्वयं की सत्ता का बोध कैसे कर सकता है। बाद में उनने १९४७ में दो विशेषांक 'वैज्ञानिक अध्यात्मवाद' पर ही प्रकाशित किए, साथ ही एक पुस्तक भी सद्ग्रंथ माला की इसी विषय पर प्रकाशित की। पहली बार जनसाधारण के सम्मुख ऐसा प्रतिपादन आया, जिससे वे प्रेरणा ले सकें कि अध्यात्म मात्र शास्त्र वचन नहीं है, पूर्णतः उसका आधार विज्ञान सम्मत भी है। बाद की अखण्ड ज्योति अंकों में वे शब्द शक्ति की महत्ता, गायत्री के चौबीस अक्षरों का वैज्ञानिक विवेचन, यज्ञ विज्ञान के महत्त्वपूर्ण पक्षों तथा कुण्डलिनी महाशक्ति के विज्ञान सम्मत आधार पर लिखते रहे। यह क्रम १९६७-६८ तक चला।[३]

सन् १९६८ के जुलाई, अगस्त एवं सितम्बर अंकों में क्रमशः तीन लेखमालाएँ प्रकाशित हुई। १.हम अध्यात्म को बुद्धिसंगत एवं वैज्ञानिक स्तर पर प्रतिपादन करेंगे। २.वैज्ञानिक अध्यात्म के प्रतिपादन की दिशा में बढ़ते कदम ३. वैज्ञानिक अध्यात्मवाद एवं प्रबुद्ध परिजनों का सहयोग। इन लेखों के प्रकाशित होने के साथ उन्होंने वैज्ञानिक एवं बुद्धिजीवियों का शोध सत्र आयोजित कर भारतीय तत्त्वदर्शन की वैज्ञानिक शोध को सुव्यवस्थित करने का सफल प्रयत्न किया। सन् १९६९ में दिसम्बर अंक में उन्होंने लिखा-''हमारी भावी तपश्चर्या का दूसरा प्रयोजन आध्यात्मिकता के विज्ञान पक्ष को मृत, लुप्त तथा विस्मृत, दु:खद परिस्थितियों में से निकालकर इस स्थिति में लाना है कि उसके प्रभाव और उपयोग का लाभ जनसाधारण को मिल सके। भौतिक विज्ञान का लाभ जनसाधारण को मिल सका और उनसे अपनी महत्ता जनमानस पर स्थापित कर सका, आज विज्ञान सम्मत बातों को ही सच माना जाता है, जो उस कसौटी पर खरी नहीं उतरती उन्हें मिथ्या घोषित कर दिया जाता है। आस्तिकता, धार्मिकता तथा आध्यात्मिकता की मान्यताओं को हमें विज्ञान के आधार पर सही सिद्ध करने का प्रयत्न करना पड़ रहा है। वैज्ञानिक अध्यात्मवाद की एक नयी दिशा का निर्माण करना पड़ रहा है।''[४] उनके हिमालय यात्रा से लौटने पर इस प्रक्रिया में गति आयी और इसी क्रम में १९७८-७९ में वैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर ४२ पुस्तकों का एक सैट प्रकाशित हुआ।

सन् १९७१ से सन् १९७९ तक आचार्यजी की आध्यात्मिक अनुसंधानशास्त्र में अध्यात्म विद्या के वैज्ञानिक प्रयोग तो संपन्न होते रहे, पर उनके परीक्षणों का क्रम अभी तक पूर्णतया वैज्ञानिक नहीं हो पाया था। प्रक्रिया को पूरी तरह समग्र और सर्वांगीण बनाने के लिए उन्होंने सन् १९७९ में कणाद ऋषि की तप:स्थली में भागीरथी के तट पर ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की स्थापना की।[५]

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान का स्वरूप-शान्तिकुञ्ज से लगभग आधा किलोमीटर दूर गंगा तट पर स्थित इस संस्थान के स्वरूप को चार बिन्दुओं में स्पष्ट किया जा सकता है-१.गायत्री की चौबीस शक्ति धाराओं के मंदिर २.प्रयोगशाला ३.संदर्भ पुस्तकालय ४.वैज्ञानिक समुदाय।

१.गायत्री की चौबीस शक्ति धाराओं के मंदिर-गायत्री के चौबीस अक्षरों में चौबीस देवशक्तियाँ निवास करती हैं। इसलिए उनके अनुरूपों की ही पूजा-अर्चा की जाती है। १.आद्यशक्ति २.ब्राह्मी ३.वैष्णवी ४.शाम्भवी ५.वेदमाता ६.देवमाता ७.विश्वमाता ८.ऋतम्भरा ९.मन्दाकिनी १०.अजपा ११.ऋद्धि १२.सिद्धि-इन बारह को वैदिकी कहा गया है।

१.सावित्री २.सरस्वती ३.लक्ष्मी ४.दुर्गा ५.कुण्डलिनी ६.प्राणाग्नि ७.भवानी ८.भुवनेश्वरी ९.अन्नपूर्णा १०.महामाया ११.पयस्विनी १२.त्रिपुरा-इन बारहों को तांत्रिकी कहा गया है।

३. आर.एच फारगुस-इस युग का अभूतपूर्व समुद्र मंथन, अखण्ड ज्योति वर्ष ५३, अंक ८,९, पृ. २०३
४ आचार्य श्रीराम शर्मा- हमारे शेष जीवन का कार्यक्रम एवं प्रयोजन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ६०, अंक १२, पृ.६२
५. ब्रह्मवर्चस-इस युग का अभूतपूर्व समुद्र मंथन, अखण्ड ज्योति वर्ष ५३, अंक ८,९, पृ. २०५

९.ध्वनि विज्ञान कक्ष-यह अभी निर्माण की प्रक्रिया में है। इसमें विभिन्न यंत्रों के माध्यम से शब्द शक्ति की प्रभावोत्पादकता का पता किया जाता है।

वनौषधि अनुसंधानशाला-यहाँ विभिन्न वैज्ञानिक उपकरणों से विविध प्रकार की जड़ीबूटियों के रासायनिक विश्लेषण एवं उनके प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। इनके विविध प्रयोगों को संपन्न करने के लिए-ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के परिसर में ही अनुसंधानशाला से ही जुड़ा वनौषधि उद्यान है, जहाँ बकुल, ब्राह्मी, जटामांसी, वच, सर्पगन्धा, अश्वगन्धा, पुनर्नवा, कण्टकारी, केवकन्द, बला, अतिबला, वृद्धदारु, मूर्वा, गोखरू, कालमेघ, अपमार्ग एवं गिलोय आदि लगभग दो सौ दुर्लभ औषधियाँ लगायी गयी हैं। इन औषधियों पर जहाँ एक ओर यज्ञ धूम के प्रभाव को देखा जाता है, वहीं 'फाइटो केमेस्ट्री रोच' में इनके गुण, कर्म, धर्म का परीक्षण किया जाता है, ताकि आयुर्वेद को अपने मूल स्वरूप में लाया जा सके।

और इतने दिनों में अनगिनत पृष्ठ उन पुस्तकों के पढ़ डाले जो हमारे लिए आवश्यक विषयों से संबंधित थे। महापुरश्चरणों की समाप्ति के बाद समय अधिक मिलने लगा। तब हमने भारत के विभिन्न पुस्तकालयों में जाकर ग्रन्थों-पाण्डुलिपियों का अध्ययन किया। यह हमारे लिए अमूल्य निधि बन गयी।''

अपने इसी अध्ययन क्रम की विशालता एवं विविधता के अनुरूप उन्होंने ब्रह्मवर्चस पुस्तकालय का निर्माण किया। इस पुस्तकालय में हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी, बौद्ध, ताओ आदि विभिन्न धर्मों के साहित्य के अतिरिक्त तंत्र, ज्योतिष, भारतीय एवं पश्चिमी दर्शन, इतिहास व संस्कृति, समाज विज्ञान, राजनीति, मनोविज्ञान, आयुर्वेद, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान, रसायनशास्त्र, भौतिक विज्ञान, खगोल विज्ञान, जन्तु विज्ञान, वनस्पति शास्त्र आदि अनेक विषयों की लगभग ५०,००० पुस्तकों का बहुमूल्य संग्रह है। इन संदर्भ ग्रंथों के अलावा पुस्तकालय में एन्सायक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, एन्सायक्लोपीडियो अमेरिकाना, एन्सायक्लोपीडिया ऑफ

मानवीय व्यक्तित्व पर आध्यात्मिक साधनाओं के प्रभाव पर कार्य कर रहे हैं। इन मनीषी और वैज्ञानिकों के दो स्तर हैं-पहला स्तर उन लोगों का है जो शोध संस्थान में स्थायी रूप से रहकर अपनी सेवाएँ संस्था को समर्पित कर रहे हैं। इन लोगों की संख्या लगभग २५ है। इनमें पुरुष भी है और महिलाएँ भी। शिक्षा और योग्यता की दृष्टि से ये सभी एम.डी., एम.एस.,पी.एच.डी., एम.टेक, एम.एस.सी., एम.ए. स्तर के हैं। इनमें से कोई व्यक्ति वेतन भोगी कर्मचारी नहीं है। सभी ने आचार्य जी के विचारों से प्रभावित होकर अपना जीवन लोक हित के लिए समर्पित किया है।

दूसरे स्तर के वे लोग जिनकी योग्यता तो उपरोक्त स्तर की है, परन्तु वे बाहर क्षेत्रों में रहकर शोध कार्य में सहयोग देते हैं। समय-समय पर ये लोग आवश्यकतानुसार तीन मास-छः मास अथवा एक वर्ष का समयदान करके शोध संस्थान में रहकर भी शोध कार्य को गति देते हैं। इस तरह कार्यरत देश और विदेश के अनुसंधान कर्मियों की संख्या दस हजार से भी ऊपर है। इन सभी का मार्गदर्शन, दिशा निर्देशन, ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के निदेशक डॉ० प्रणव पण्ड्या करते हैं।

ब्रह्मवर्चस के शोध उद्देश्य

शोध संस्थान की स्थापना के समय आचार्यजी ने ब्रह्मवर्चस में की जाने वाली शोध के चार उद्देश्य निश्चित किए थे।

१. वैज्ञानिक अध्यात्म के रूप में समग्र जीवन दर्शन की खोज।

२. अध्यात्म उपचारों द्वारा व्यक्तित्व की अंतर्निहित शक्तियों का जागरण एवं इसकी वैज्ञानिकता।

३. एकौषधि अनुसंधान

४. यज्ञ चिकित्सा द्वारा समग्र स्वास्थ्य।

शोध की प्रक्रिया-

१. समग्र जीवन दर्शन की खोज-आचार्य जी के अनुसार दर्शन, बौद्धिक क्रीड़ा न होकर जीवन दृष्टि है। यह दृष्टि जितनी पैनी, गहरी, व्यापक और समग्र होगी, जीवन को उतनी ही समग्रता से देखा-समझा और पहचाना जा सकेगा। समस्याओं का सही स्वरूप समझ में आने से समाधान भी सही मिल सकेंगे। जीवन कोई नितान्त शरीर के भीतर सिमटा हुआ तत्त्व नहीं है। मन की कल्पनाएँ-चेतना का उत्कर्ष एक ओर उसे ईश्वर से जोड़ता है तो जीवन की आवश्यकताएँ उसका सौन्दर्य बोध उसे प्रकृति से मिलाती हैं। अपनी समग्रता में मनुष्य प्रकृति और परमेश्वर दोनों से अविछिन्न रूप से जुड़ा है। जीवन दर्शन की समग्रता में इन तीनों के अंतर्सम्बंधों की व्याख्या भी समग्र होनी चाहिए।

ऐसे दर्शन जिन्होंने मनुष्य को तो अपनाया, लेकिन प्रकृति और परमेश्वर को भुला बैठे, यदि प्रकृति को यत्किंचित याद भी किया तो अपने स्वार्थ के लिए। ऐसे दार्शनिक मतों ने मानवी चेतना के उत्कर्ष के सारे रास्ते बंद कर दिए, फलतः कल्पनाओं और भावनाओं की घुटन ने इन दार्शनिक सिद्धान्तों को स्वतः नकारना शुरू कर दिया। साम्यवाद का पतन इसी का परिणाम है, जो इस बात का द्योतक है कि इन्सान की नियति सामाजिक प्राणी बनना न होकर देवमानव बनना है। प्रकृति को सब कुछ मान बैठने वाले वैज्ञानिकों ने मनुष्य और प्रकृति के पारस्परिक संबंधों की गहराई को विस्मृत कर प्रकृति का इस कदर दोहन और शोषण किया कि प्रदूषण, पर्यावरण असंतुलन जैसी अनेकों विपदाएँ खड़ी हो गईं और ऐसा लगने लगा कि मनुष्य विनाश के कगार पर जा पहुँचा है। जिन्होंने ईश्वर को सब कुछ माना, उन्होंने संबंधों के आधार जीवन को ही नकारना शुरू कर दिया। प्रकृति और मनुष्य को सर्वथा हेय समझने वाले इस चिंतन ने जीवन का अर्थ ही खो दिया।

सन् १९९० से पूर्व आचार्य जी के निर्देशन में और अब डॉ० प्रणव पण्ड्या के मार्गदर्शन में काम करने वाली ब्रह्मवर्चस के अनुसंधान कर्मियों की टीम देश ओर विश्व के विभिन्न भागों में जाकर वहाँ की प्रथाओं-परम्पराओं-प्रचलनों-मान्यताओं-मूल्यों-नीतियों का नए सिरे से अध्ययन कर रही हैं। यहाँ के शोधार्थी अपने देशव्यापी-विश्वव्यापी सर्वेक्षण में इस बात को गहराई से जानने की कोशिश में लगे हैं कि वर्तमान के और भविष्य के मनुष्य के जीवन के समाधान क्या है? उनकी जीवन दृष्टि क्या होनी चाहिए। ऋषियों की गौरवपूर्ण

९.ध्वनि विज्ञान कक्ष-यह अभी निर्माण की प्रक्रिया में है। इसमें विभिन्न यंत्रों के माध्यम से शब्द शक्ति की प्रभावोत्पादकता का पता किया जाना है।

वनौषधि अनुसंधानशाला-यहाँ विभिन्न वैज्ञानिक उपकरणों से विविध प्रकार की जड़ीबूटियों के रासायनिक विश्लेषण एवं उनके प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। इसके विविध प्रयोगों को संपन्न करने के लिए-ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के परिसर में ही अनुसंधानशाला से ही जुड़ा वनौषधि उद्यान है, जहाँ बकुल, ब्राह्मी, जटामांसी, वच, सर्पगन्धा, अश्वगन्धा, पुनर्नवा, कण्टकारी, केवकन्द, बला, अतिबला, वृद्धदारु, मूर्वा, गोखरू, कालमेघ, अपमार्ग एवं गिलोय आदि लगभग दो सो दुर्लभ औषधियाँ लगायी गयी हैं। इन औषधियों पर जहाँ एक ओर यज्ञ धूम्र के प्रभाव को देखा जाता है, वहीं 'फाइटो केमेस्ट्री लैब' में इनके गुण, कर्म, धर्म का परीक्षण किया जाता है, ताकि आयुर्वेद को अपने मूल स्वरूप में लाया जा सके।

संदर्भ पुस्तकालय-'अध्ययन' आचार्य जी की प्रिय अभिरुचि रही है। हाँ इस अभिरुचि को पूरा करने का उनका तरीक़ा अवश्य विलक्षण रहा है। उन्हीं के शब्दों में-''उसके लिए अतिरिक्त समय निकालना पड़ा। कांग्रेस कार्यों के लिए प्रायः काफी-काफी दूर चलना पड़ता। जब परामर्श या कार्यक्रम का समय आता, तब पढ़ना बंद हो जाता, जहाँ चलना आरम्भ हुआ वहां पढ़ना भी आरम्भ हो गया। पुस्तक साइज के चालीस पन्ने प्रति घण्टे पढ़ने की स्पीड रही। कम से कम दो घण्टे नित्य पढ़ने के लिए मिल जाते। कभी-कभी ज्यादा भी। इस प्रकार दो घंटे में ८० पृष्ठ नित्य पढ़ने के लिए मिल जाते। कभी-कभी ज्यादा भी। इस प्रकार दो घण्टे में ८० पृष्ठ, महीने में २४०० पृष्ठ, साल भर में २८ हजार पृष्ठ, साठ साल की अवधि में साढ़े १८ लाख पृष्ठ हमने मात्र अपनी अभिरुचि के पढ़े हैं। लगभग तीन हजार पृष्ठ नित्य विहगम रूप से पढ़ लेने की बात भी हमारे लिए स्नान-भोजन की तरह आसान व सहज रही है। यह क्रम प्रायः ६० वर्ष से भी अधिक समय से चलता आ रहा है और इतने दिनों में अनगिनत पृष्ठ उन पुस्तकों के पढ़ डाले जो हमारे लिए आवश्यक विषयों से संबंधित थे। महापुरश्चरणों की समाप्ति के बाद समय अधिक मिलने लगा। तब हमने भारत के विभिन्न पुस्तकालयों में जाकर ग्रन्थों-पाण्डुलिपियों का अध्ययन किया। वह हमारे लिए अमूल्य निधि बन गयी।''[७]

अपने इसी अध्ययन क्रम की विशालता एवं विविधता के अनुरूप उन्होंने ब्रह्मवर्चस पुस्तकालय का निर्माण किया। इस पुस्तकालय में हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी, बौद्ध, ताओ आदि विभिन्न धर्मों के साहित्य के अतिरिक्त तंत्र, ज्योतिष, भारतीय एवं पश्चिमी दर्शन, इतिहास व संस्कृति, समाज विज्ञान, राजनीति, मनोविज्ञान, आयुर्वेद, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान, रसायनशास्त्र, भौतिक विज्ञान, खगोल विज्ञान, जन्तु विज्ञान, वनस्पति शास्त्र आदि अनेक विषयों की लगभग ५०,००० पुस्तकों का बहुमूल्य संग्रह है। इन संदर्भ-ग्रंथों के अलावा पुस्तकालय में एन्सायक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, एन्साय-क्लोपीडियो अमेरिकन्स, एन्सायक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड इथिक्स, एन्सायक्लोपीडिया ऑफ साइन्स एण्ड टेक्नोलॉजी, वेल्थ ऑफ इंडिया, एनसायक्लोपीडिया ऑफ फिलासफी जैसे तीस विश्वकोश संग्रहीत हैं। इस संग्रह के साथ पुस्तककालय में टाइम, न्यूज वीक, साइन्स, लेन्सेट, साइन्टिफिक अमेरिकन, जर्नल ऑफ इण्डियन काउन्सिल ऑफ फिलासफिकल रिसर्च जैसी ३०० विश्व विख्यात पत्रिकाएँ अपने साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, द्विमासिक एवं त्रैमासिक क्रम से आती हैं। इस पुस्तकालय में यहाँ के शोधकर्त्ता वैज्ञानिकों के अतिरिक्त अन्य अनुसंधानरत छात्र-छात्राओं के अध्ययन की भी सुविधा है।

ब्रह्मवर्चस के मनीषी : वैज्ञानिक-इस शोध संस्थान में कार्यरत अनुसंधान कर्मियों के दो वर्ग हैं। पहला वर्ग मनीषियों का है-इस वर्ग में वह लोग है जो जीवन के सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक पहलू के अध्ययन और शोध में संलग्न है। दूसरा वर्ग वैज्ञानिकों का है-इस वर्ग में वे लोग है जो यज्ञ चिकित्सा, वनौषधि अनुसंधान तथा

७. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारी वसीयत और विरासत, पृ. ३१

मानवीय व्यक्तित्व पर आध्यात्मिक साधनाओं के प्रभाव पर कार्य कर रहे हैं। इन मनीषी और वैज्ञानिकों के दो स्तर हैं-पहला स्तर उन लोगों का है जो शोध संस्थान में स्थायी रूप से रहकर अपनी सेवाएँ संस्था को समर्पित कर रहे हैं। इन लोगों की संख्या लगभग २५ है। इनमें पुरुष भी है और महिलाएँ भी। शिक्षा और योग्यता की दृष्टि से ये सभी एम.डी., एम.एस.,पी.एच.डी., एम.टेक, एम.एस.सी , एम.ए. स्तर के हैं। इनमें से कोई व्यक्ति वेतन भोगी कर्मचारी नहीं है। सभी ने आचार्य जी के विचारों से प्रभावित होकर अपना जीवन लोक हित के लिए समर्पित किया है।

दूसरे स्तर के वे लोग जिनकी योग्यता तो उपरोक्त स्तर की है, परन्तु वे बाहर क्षेत्रों में रहकर शोध कार्य में सहयोग देते हैं। समय-समय पर ये लोग आवश्यकतानुसार तीन मास-छः मास अथवा एक वर्ष का समयदान करके शोध संस्थान में रहकर भी शोध कार्य को गति देते हैं। इस तरह कार्यरत देश और विदेश के अनुसंधान कर्मियों की संख्या दस हजार से भी ऊपर है। इन सभी का मार्गदर्शन, दिशा निर्देशन, ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के निदेशक डॉ० प्रणव पण्ड्या करते हैं।

ब्रह्मवर्चस के शोध उद्देश्य

शोध संस्थान की स्थापना के समय आचार्यजी ने ब्रह्मवर्चस में की जाने वाली शोध के चार उद्देश्य निश्चित किए थे।

१. वैज्ञानिक अध्यात्म के रूप में समग्र जीवन दर्शन की खोज।

२ अध्यात्म उपचारों द्वारा व्यक्तित्व की अंतर्निहित शक्तियों का जागरण एवं इसकी वैज्ञानिकता।

३. एकौषधि अनुसंधान

४. यज्ञ चिकित्सा द्वारा समग्र स्वास्थ्य।

शोध की प्रक्रिया-

१. समग्र जीवन दर्शन की खोज-आचार्य जी के अनुसार दर्शन, बौद्धिक क्रीड़ा न होकर जीवन दृष्टि है। यह दृष्टि जितनी पैनी, गहरी, व्यापक और समग्र होगी, जीवन को उतनी ही समग्रता से देखा-समझा और पहचाना जा सकेगा। समस्याओं का सही स्वरूप समझ में आने से समाधान भी सही मिल सकेंगे। जीवन कोई नितान्त शरीर के भीतर सिमटा हुआ तत्त्व नहीं है। मन की कल्पनाएँ-चेतना का उत्कर्ष एक ओर उसे ईश्वर से जोड़ता है तो जीवन की आवश्यकताएँ उसका सौन्दर्य बोध उसे प्रकृति से मिलाती हैं। अपनी समग्रता में मनुष्य प्रकृति और परमेश्वर दोनों से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा है। जीवन दर्शन की समग्रता में इन तीनों के अंतर्सम्बंधों की व्याख्या भी समग्र होनी चाहिए।

ऐसे दर्शन जिन्होंने मनुष्य को तो अपनाया, लेकिन प्रकृति और परमेश्वर को भुला बैठे, यदि प्रकृति को यत्किंचित याद भी किया तो अपने स्वार्थ के लिए। ऐसे दार्शनिक मतों ने मानवी चेतना के उत्कर्ष के सारे रास्ते बंद कर दिए, फलतः कल्पनाओं और भावनाओं की घुटन ने इन दार्शनिक सिद्धान्तों को स्वतः नकारना शुरू कर दिया। साम्यवाद का पतन इसी का परिणाम है, जो इस बात का द्योतक है कि इन्सान की नियति सामाजिक प्राणी बनना न होकर देवमानव बनना है। प्रकृति को सब कुछ मान बैठने वाले वैज्ञानिकों ने मनुष्य और प्रकृति के पारस्परिक संबंधों की गहराई को विस्मृत कर प्रकृति का इस कदर दोहन और शोषण किया कि प्रदूषण, पर्यावरण असंतुलन जैसी अनेकों विपदाएँ खड़ी हो गईं और ऐसा लगने लगा कि मनुष्य विनाश के कगार पर जा पहुँचा है। जिन्होंने ईश्वर को सब कुछ माना, उन्होंने संबंधों के आधार जीवन को ही नकारना शुरू कर दिया। प्रकृति और मनुष्य को सर्वथा हेय समझने वाले इस चिंतन ने जीवन का अर्थ ही खो दिया।

सन् १९९० से पूर्व आचार्य जी के निर्देशन में और अब डॉ० प्रणव पण्ड्या के मार्गदर्शन में काम करने वाली ब्रह्मवर्चस के अनुसंधान कर्मियों की टीम देश ओर विश्व के विभिन्न भागों में जाकर वहाँ की प्रथाओं-परम्पराओं-प्रचलनों-मान्यताओं-मूल्यों-नीतियों का नए सिरे से अध्ययन कर रही हैं। यहाँ के शोधार्थी अपने देशव्यापी-विश्वव्यापी सर्वेक्षण में इस बात को गहराई से जानने की कोशिश में लगे हैं कि वर्तमान के और भविष्य के मनुष्य के जीवन के समाधान क्या है? उनकी जीवन दृष्टि क्या होनी चाहिए। ऋषियों की गौरवपूर्ण

९.ध्वनि विज्ञान कक्ष-यह अभी निर्माण की प्रक्रिया में है। इसमें विभिन्न यंत्रों के माध्यम से शब्द शक्ति की प्रभावोत्पादकता का पता किया जाना है।

वनौषधि अनुसंधानशाला-यहाँ विभिन्न वैज्ञानिक उपकरणों से विविध प्रकार की जड़ीबूटियों के रासायनिक विश्लेषण एवं उनके प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। इसके विविध प्रयोगों को संपन्न करने के लिए-ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के परिसर में ही अनुसंधानशाला से ही जुड़ा वनौषधि उद्यान है, जहाँ बकुल, ब्राह्मी, जटामांसी, वच, सर्पगन्धा, अश्वगन्धा, पुनर्नवा, कण्टकारी, केयकन्द, बला, अतिबला, वृद्धदारु, मूर्वा, गोखरू, कालमेघ, अपमार्ग एवं गिलोय आदि लगभग दो सौ दुर्लभ औषधियाँ लगायी गयी हैं। इन औषधियों पर जहाँ एक ओर यज्ञ धूम्र के प्रभाव को देखा जाता है, वहीं 'फाइटो केमेस्ट्री लैब' में इनके गुण, कर्म, धर्म का परीक्षण किया जाता है, ताकि आयुर्वेद को अपने मूल स्वरूप में लाया जा सके।

संदर्भ पुस्तकालय-'अध्ययन' आचार्य जी की प्रिय अभिरुचि रही है। हाँ इस अभिरुचि को पूरा करने का उनका तरीका अवश्य विलक्षण रहा है। उन्हीं के शब्दों में-"उसके लिए अतिरिक्त समय निकालना पड़ा। कांग्रेस कार्यों के लिए प्रायः काफी-काफी दूर चलना पड़ता। जब परामर्श या कार्यक्रम का समय आता, तब पढ़ना बंद हो जाता, जहाँ चलना आरम्भ हुआ वहां पढ़ना भी आरम्भ हो गया। पुस्तक साइज के चालीस पन्ने प्रति घण्टे पढ़ने की स्पीड रही। कम से कम दो घण्टे नित्य पढ़ने के लिए मिल जाते। कभी-कभी ज्यादा भी। इस प्रकार दो घंटे में ८० पृष्ठ नित्य पढ़ने के लिए मिल जाते। कभी-कभी ज्यादा भी। इस प्रकार दो घण्टे में ८० पृष्ठ, महीने में २४०० पृष्ठ, साल भर में २८ हजार पृष्ठ, साठ साल की अवधि में साढ़े १८ लाख पृष्ठ हमने मात्र अपनी अभिरुचि के पढ़े हैं। लगभग तीन हजार पृष्ठ नित्य विहंगम रूप से पढ़ लेने की बात भी हमारे लिए स्नान-भोजन की तरह आसान व सहज रही है। यह क्रम प्रायः ६० वर्ष से भी अधिक समय से चलता आ रहा है और इतने दिनों में अनगिनत पृष्ठ उन पुस्तकों के पढ़ डाले जो हमारे लिए आवश्यक विषयों से संबंधित थे। महापुरश्चरणों की समाप्ति के बाद समय अधिक मिलने लगा। तब हमने भारत के विभिन्न पुस्तकालयों में जाकर ग्रन्थों-पाण्डुलिपियों का अध्ययन किया। यह हमारे लिए अमूल्य निधि बन गयी।'"[७]

अपने इसी अध्ययन क्रम की विशालता एवं विविधता के अनुरूप उन्होंने ब्रह्मवर्चस पुस्तकालय का निर्माण किया। इस पुस्तकालय में हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, पारसी, बौद्ध, ताओ आदि विभिन्न धर्मों के साहित्य के अतिरिक्त तंत्र, ज्योतिष, भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन, इतिहास व संस्कृति, समाज विज्ञान, राजनीति, मनोविज्ञान, आयुर्वेद, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान, रसायनशास्त्र, भौतिक विज्ञान, खगोल विज्ञान, जन्तु विज्ञान, वनस्पति शास्त्र आदि अनेक विषयों की लगभग ५०,००० पुस्तकों का बहुमूल्य संग्रह है। इन संदर्भ-ग्रंथों के अलावा पुस्तकालय में एन्सायक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, एन्साय-क्लोपीडियो अमेरिकन्स, एन्सायक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड इथिक्स, एन्सायक्लोपीडिया ऑफ साइन्स एण्ड टेक्नोलॉजी, वेल्थ ऑफ इंडिया, एनसायक्लोपीडिया ऑफ फिलासफी जैसे तीस विश्वकोश संग्रहीत हैं। इस संग्रह के साथ पुस्तककालय में टाइम, न्यूज वीक, साइन्स, लेन्सेट, साइन्टिफिक अमेरिकन, जर्नल ऑफ इण्डियन काउन्सिल ऑफ फिलासफिकल रिसर्च जैसी ३०० विश्व विख्यात पत्रिकाएँ अपने साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, द्विमासिक एवं त्रैमासिक क्रम से आती हैं। इस पुस्तकालय में यहाँ के शोधकर्त्ता वैज्ञानिकों के अतिरिक्त अन्य अनुसंधानरत छात्र-छात्राओं के अध्ययन की भी सुविधा है।

ब्रह्मवर्चस के मनीषी : वैज्ञानिक-इस शोध संस्थान में कार्यरत अनुसंधान कर्मियों के दो वर्ग हैं। पहला वर्ग मनीषियों का है-इस वर्ग में वह लोग है जो जीवन के सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक पहलू के अध्ययन और शोध में संलग्न है। दूसरा वर्ग वैज्ञानिकों का है-इस वर्ग में वे लोग है जो यज्ञ चिकित्सा, वनौषधि अनुसंधान तथा

७ आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारी वसीयत और विरासत, पृ. ३१

मानवीय व्यक्तित्व पर आध्यात्मिक साधनाओं के प्रभाव पर कार्य कर रहे हैं। इन मनीषी और वैज्ञानिकों के दो स्तर हैं-पहला स्तर उन लोगों का है जो शोध संस्थान में स्थायी रूप से रहकर अपनी सेवाएँ संस्था को समर्पित कर रहे हैं। इन लोगों की संख्या लगभग २५ है। इनमें पुरुष भी है और महिलाएँ भी। शिक्षा और योग्यता की दृष्टि से ये सभी एम.डी., एम.एस.,पी.एच.डी., एम.टेक, एम.एस.सी., एम.ए. स्तर के हैं। इनमें से कोई व्यक्ति वेतन भोगी कर्मचारी नहीं है। सभी ने आचार्य जी के विचारों से प्रभावित होकर अपना जीवन लोक हित के लिए समर्पित किया है।

दूसरे स्तर के वे लोग जिनकी योग्यता तो उपरोक्त स्तर की है, परन्तु वे बाहर क्षेत्रों में रहकर शोध कार्य में सहयोग देते हैं। समय-समय पर ये लोग आवश्यकतानुसार तीन मास-छः मास अथवा एक वर्ष का समयदान करके शोध संस्थान में रहकर भी शोध कार्य को गति देते हैं। इस तरह कार्यरत देश और विदेश के अनुसंधान कर्मियों की संख्या दस हजार से भी ऊपर है। इन सभी का मार्गदर्शन, दिशा निर्देशन, ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के निदेशक डॉ० प्रणव पण्ड्या करते हैं।

ब्रह्मवर्चस के शोध उद्देश्य

शोध संस्थान की स्थापना के समय आचार्यजी ने ब्रह्मवर्चस में की जाने वाली शोध के चार उद्देश्य निश्चित किए थे।

१. वैज्ञानिक अध्यात्म के रूप में समग्र जीवन दर्शन की खोज।

२. अध्यात्म उपचारों द्वारा व्यक्तित्व की अंतर्निहित शक्तियों का जागरण एवं इसकी वैज्ञानिकता।

३. एकौषधि अनुसंधान

४. यज्ञ चिकित्सा द्वारा समग्र स्वास्थ्य।

शोध की प्रक्रिया-

१. समग्र जीवन दर्शन की खोज-आचार्य जी के अनुसार दर्शन, बौद्धिक क्रीड़ा न होकर जीवन दृष्टि है। यह दृष्टि जितनी पैनी, गहरी, व्यापक और समग्र होगी, जीवन को उतनी ही समग्रता से देखा-समझा और पहचाना जा सकेगा। समस्याओं का सही स्वरूप समझ में आने से समाधान भी सही मिल सकेंगे। जीवन कोई नितान्त शरीर के भीतर सिमटा हुआ तत्त्व नहीं है। मन की कल्पनाएँ-चेतना का उत्कर्ष एक ओर उसे ईश्वर से जोड़ता है तो जीवन की आवश्यकताएँ उसका सौन्दर्य बोध उसे प्रकृति से मिलाती हैं। अपनी समग्रता में मनुष्य प्रकृति और परमेश्वर दोनों से अविछिन्न रूप से जुड़ा है। जीवन दर्शन की समग्रता में इन तीनों के अंतर्सम्बंधों की व्याख्या भी समग्र होनी चाहिए।

ऐसे दर्शन जिन्होंने मनुष्य को तो अपनाया, लेकिन प्रकृति और परमेश्वर को भुला बैठे, यदि प्रकृति को यत्किंचित याद भी किया तो अपने स्वार्थ के लिए। ऐसे दार्शनिक मतों ने मानवी चेतना के उत्कर्ष के सारे रास्ते बंद कर दिए, फलतः कल्पनाओं और भावनाओं की घुटन ने इन दार्शनिक सिद्धान्तों को स्वतः नकारना शुरू कर दिया। साम्यवाद का पतन इसी का परिणाम है, जो इस बात का द्योतक है कि इन्सान की नियति सामाजिक प्राणी बनना न होकर देवमानव बनना है। प्रकृति को सब कुछ मान बैठने वाले वैज्ञानिकों ने मनुष्य और प्रकृति के पारस्परिक संबंधों की गहराई को विस्मृत कर प्रकृति का इस कदर दोहन और शोषण किया कि प्रदूषण, पर्यावरण असंतुलन जैसी अनेकों विपदाएँ खड़ी हो गईं और ऐसा लगने लगा कि मनुष्य विनाश के कगार पर जा पहुँचा है। जिन्होंने ईश्वर को सब कुछ माना, उन्होंने संबंधों के आधार जीवन को ही नकारना शुरू कर दिया। प्रकृति और मनुष्य को सर्वथा हेय समझने वाले इस चिंतन ने जीवन का अर्थ ही खो दिया।

सन् १९९० से पूर्व आचार्य जी के निर्देशन में और अब डॉ० प्रणव पण्ड्या के मार्गदर्शन में काम करने वाली ब्रह्मवर्चस के अनुसंधान कर्मियों की टीम देश और विश्व के विभिन्न भागों में जाकर वहाँ की प्रथाओं-परम्पराओं-प्रचलनों-मान्यताओं-मूल्यों-नीतियों का नए सिरे से अध्ययन कर रही हैं। यहाँ के शोधार्थी अपने देशव्यापी-विश्वव्यापी सर्वेक्षण में इस बात को गहराई से जानने की कोशिश में लगे हैं कि वर्तमान के और भविष्य के मनुष्य के जीवन के समाधान क्या है ? उनकी जीवन दृष्टि क्या होनी चाहिए। ऋषियों की गौरवपूर्ण

अध्यात्म विज्ञान इस उद्देश्य को पूरा कर सके, इसके लिए उसमें किस संशोधन अथवा परिवर्धन की आवश्यकता है? इनके मनुष्य के व्यक्तित्व और समाज पर क्या प्रभाव है? इस समाज और व्यक्ति पर किए गए मनोवैज्ञानिक प्रयोगों, शोध निष्कर्ष के आधार पर ऐसा सरंजाम जुटाया जा रहा है जो मानव शक्तियों का क्षरण रोके, प्रकृति के साथ संबंध को मधुर बनाकर उसे विकास की ओर ले जाए।

२. व्यक्तित्व की अंतर्निहित शक्तियों के जागरण की प्रयोग प्रक्रिया-इस प्रक्रिया के अंतर्गत शान्तिकुञ्ज के तपःपुत वातावरण में एक मासीय और नौ दिवसीय साधना सत्र आयोजित किए जाते हैं। इन साधना सत्रों का क्रम पूरे वर्ष अबाध गति से चलता रहता है। एक मासीय सत्र प्रतिमास की १ तारीख से शुरू होकर ३० अथवा ३१ तारीख को समाप्त होते हैं। नौ दिवसीय शिविर प्रतिमास की १ से ९, ११ से २०, २१ से ३० तारीखों में संचालित होते हैं। इन दोनों सत्रों के साधना क्रम अलग-अलग है। जिनका निर्देशन आचार्यजी एवं माता भगवती देवी के बाद उनकी परम तपस्विनी पुत्री शैलबाला पण्ड्या करती हैं। आने वाले साधक उन्हीं से साधना संबंधी परामर्श एवं मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं। भागीदार साधकों-साधिकाओं को आचार्य जी द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक अध्यात्म के साधनात्मक प्रयोगों को निर्देशित क्रमानुसार संपन्न करना होता है। साधना क्रम के अलावा भागीदार साधक शान्तिकुञ्ज में संचालित होने वाले लोकहित के कार्यक्रमों में भाग लेकर जीवन और साधना से एकात्मता सिद्ध करते हैं।

इन भागीदार साधकों-साधिकाओं का प्रथम परीक्षण साधनात्मक प्रयोग से पूर्व तथा साधनात्मक प्रयोग के बाद होता है। इन परीक्षणों के द्वारा आध्यात्मिक साधनाओं के प्रभावों का मापन होता है। शिविर समाप्त होने पर भागीदार व्यक्तियों को एक निश्चित साधना क्रम को जारी रखने का निर्देश दिया जाता है तथा शोध प्रविधि के अनुरूप उन्हें एक निश्चित समय के अंतराल में पुनः बुलाया जाना। बुलाए जाने का यह क्रम एक्सपेरीमेण्टल डिजाइन के अनुसार होता है। जिसका उद्देश्य यह जानना होता है कि व्यक्तित्व की अंतर्निहित शक्तियाँ किस क्रम में विकसित हो रही हैं। ब्रह्मवर्चस के वैज्ञानिकों के अनुसार ये प्रभाव मनोरोगों की समाप्ति, प्रतिभा जागरण, पारिवारिक सामंजस्य, सामाजिक उत्कर्ष, अंतर्दृष्टि के विकास के रूप में देखे गए हैं।

३. *एकौषधि अनुसंधान-आयुर्वेद के विकास* का इतिहास देखने पर ज्ञात होता है कि वैदिक काल में वनौषधियों का उपयोग उनके प्राकृतिक रूप में ही होता था। आसव-अरिष्ट का प्रयोग बाद में आरम्भ हुआ। रसों-पारद योगों का इतिहास तो मात्र नौ सौ वर्ष पुराना है। वस्तुतः आर्षकाल को ही आयुर्वेद का स्वर्ण युग माना जाता है। आचार्य धन्वन्तरि से प्रारम्भ होकर यह चरक ऋषि पर समाप्त होता है। अथर्ववेद में १०० सूक्त मात्र आयुर्विज्ञान पर है, जिनमें रोग निर्णय, चिकित्सा लक्षण, शरीर तथा औषधियों का वर्णन है। वैसे तो चारों वेद में थोड़ा-थोड़ा वर्णन आयुर्विज्ञान संबंधी हैं, पर मूलतः अथर्ववेद ही आयुर्वेद का जनक माना जाता है। *'इह खलु आयुर्वेदमष्टांगमुपांगमथर्ववेदस्य।'* इसी कारण आज की प्रचलित आयुर्वेदिक औषधियां को ही प्रधान मानकर उनके मूल स्रोत को देखा जाना जरूरी है। जहाँ उनके प्राकृतिक स्वरूप में ही ग्रहण किए जाने का वर्णन किया गया है। शेष तो मध्यकाल में जोड़े गए विधान हैं, जिनमें सभी संहिताएं एवं निघण्टु आ जाते हैं।

मध्यकाल में यह भुला दिया गया कि सम्मिश्रण से श्रेष्ठ एकौषधि है एवं वास्तविक सामर्थ्य तो उसके सक्रिय संघटकों में छिपी पड़ी है। वैदिक साहित्य के अलावा एकौषधि के संबंध में सर्वाधिक मंथन होम्योपैथी के साहित्य से मिलता है। डॉ. सैमुअल हैनीमेन ने सम्मिश्रण फार्मूले का विरोध करते हुए 'क्रानिक डिसिसेज' में लिखा है कि जीर्णरोगों की उत्पत्ति का प्रधान कारण ही आवश्यक औषधियों का प्रयोग है। यदि समय में एक ही औषधि दी जाय तो वह अधिक लाभ पहुंचा सकती है। एलोपैथी में एक से अधिक औषधियाँ मिलाने पर जो अगणित समस्याएँ उठ खड़ी होती है उनका ' 'ड्रग इन्कम्पेटीबिलिटी' नामक ग्रंथ में विस्तृत वर्णन है। डॉ० इरविक मार्टिन ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'होमगार्ड्स ऑफ मेडिसिन' में इसकी चर्चा लगभग दो सौ पृष्ठों में की है।

आचार्य जी ने इसका हल 'एकौषधि विज्ञान' के रूप में निकाला है। उनकी संकल्पना के अनुसार ब्रह्मवर्चस के चिकित्साविदों ने मुलहठी, आंवला, हरड़, विल्व, भारंगी, अर्जुन, पुनर्नवा, शंखपुष्पी, ब्राह्मी, निर्गुण्डी, सुण्डी, नीम, सारिवां, चिरायता, गिलोय, अशोक, गोक्षुर, शतावर, अश्वगंधा-इन बीस औषधियों पर सफल परीक्षण करके सिद्ध किया है कि अपने गुण धर्म के अनुसार किसी एक औषधि का पिसा हुआ चूर्ण उसके अनुरूप रोग का निवारण करने में समर्थ है। उदाहरण के लिए अकेले आँवला का चूर्ण ऊपरी पाचक संस्थान के रोगों के लिए पर्याप्त है।

४.यज्ञ चिकित्सा-समग्र स्वास्थ्य के लिए यज्ञ चिकित्सा के प्रमाण यजुर्वेद और अथर्वेद में बहुतायत से मिलते हैं। वर्तमान समय में लुप्तप्राय इस प्रक्रिया को आचार्य जी ने न केवल पुनर्जीवित करने का प्रयास किया है, बल्कि उसे सशक्त वैज्ञानिक आधार भी प्रदान किया है। यह चिकित्सा पद्धति इस सिद्धान्त पर आधारित है कि रोग का वास्तविक कारण कीटाणु नहीं, बल्कि जीवनी शक्ति का क्षरण है। रोग के कीटाणु तो प्रायः वातावरण में विद्यमान रहते हैं, पर उनका प्रभाव उन्हीं पर होता है जिनकी जीवनी शक्ति कमजोर हो गयी है। यज्ञ विज्ञान वातावरण के परिशोधन के साथ जीवनी शक्ति के संवर्धन की सशक्त प्रक्रिया है।

इस प्रक्रिया को शोध अनुसंधान ब्रह्मवर्चस में इस हेतु प्रयोगशाला में संपन्न किया जाता है। डॉ. प्रणव पण्ड्या के अनुसार यह मूलतः ध्वनि, ताप एवं भाप शक्ति का समन्वित प्रयोग है। इसके लिए प्रयोग किए जाने वाले मुख्य तत्त्व निम्न हैं[८]-१. वनौषधियाँ २. समिधाएँ ३.घृत ४. पूर्णाहुति में होमे जाने वाले पदार्थ ५. यज्ञ धूम्र ६. यज्ञ ऊर्जा ७. यज्ञ अवशिष्ट एवं भस्म ८. चरू ९. कलश जल १०. मंत्र शक्ति एवं कर्मकाण्ड ११. याजक गण १२. धर्मानुष्ठानों से जुड़ी तपश्चर्याएँ। वेदों में इस तरह के यज्ञ को भैवज्य यज्ञ कहा है-'भैषज कृतो हवा एवं अत्रैवं विद ब्रह्मा भवति' अर्थात् उनमें वैद्यक शास्त्रज्ञ ब्रह्म होता है वे भैषज्य यज्ञ है।

ब्रह्मवर्चस की शोध प्रक्रिया में यज्ञ में काम आने वाले इन विभिन्न तत्त्वों का स्वरूप रोग विशेष के लिए अलग-अलग ढंग से निर्धारित किया जाता है। यज्ञ प्रक्रिया के अंतर्गत यज्ञ धूम्र का प्रभाव तैयार किए गए वैक्टीरिया कल्चर पर देखने के साथ उन व्यक्तियों पर भी देखा जाता है जो इस यज्ञ में भागीदार रहे। इसके लिए उनकी एक निश्चित अंतराल में तरह-तरह से शारीरिक एवं मानसिक जांच की जाती रहती है। अब तक के अपने प्रयासों में यहाँ के वैज्ञानिकों ने अनेकों रोगों में विभिन्न प्रकार की औषधियों के हवन को लाभकारी पाया है। उनमें से कुछ निष्कर्षों को यहाँ दिया जा रहा है-

१. **मंद बुद्धि के लिए**-वन तुलसी के बीज, अपामार्ग, इन्द्रायण जड़, करञ्जा की गिरी, दारु हल्दी, चौलाई के पत्ते, विनौले की गिरी, लालचंदन।

२. **मस्तिष्क रोग के लिए**-बेर की गुठली का गूदा, मौलसिरी की छाल, पीपल की कोपलें, इमली के बीजों का गूदा, काकजंघा, बरगद के फल, खिरैटी, गिलोय।

३. **शीत ज्वर के लिए**-पटोस पत्र, नागरमोथा, कुटकी, नीम की छाल, गिलोय कुडे की छाल, करंजा, नीम के पुष्प।

यहाँ के निदेशक डॉ. प्रणव पण्ड्या के अनुसार इस संबंध में अब तक यहाँ किए गए प्रयोगों के परिणाम बहुत उत्साहवर्धक रहे हैं। जिससे तकरीबन ५०००० लोग लाभान्वित हो चुके हैं। डॉ. प्रणव पण्ड्या का कहना है-यहाँ के द्वारा देश-विदेश में संचालित आयोजित यज्ञों का उद्देश्य-मानवता को समग्र स्वास्थ्य उपलब्ध कराता है। हम जिन औषधियों को जीवनी शक्ति संवर्धन एवं प्रतिभा जागरण के लिए उपयोगी पाते हैं, उन्हीं का व्यापक स्तर का प्रयोग अपने यज्ञों में करते हैं। इसके लाभकारी परिणामों का सर्वेक्षण अध्ययन गायत्री परिवार के कार्यकर्त्ता देश और विदेश में कर रहे हैं। निकट भविष्य में उनका प्रकाशन किया जा सकेगा।



८. डॉ. प्रणव पण्ड्या-ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान प्रयोजन और प्रयास, पृ. १३६

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की शोध प्रक्रिया का प्रत्यक्षीकरण
शोध अभ्यर्थी के प्रयास

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध लिख रही शोधार्थी ने ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की शोध प्रक्रिया को जानने-समझने-प्रत्यक्ष करने के लिए १९९३ के अक्टूबर और नवम्बर के दो महीने लगातार शान्तिकुंज में रहकर यहाँ की गतिविधियों का न केवल शोध रीति से विश्लेषण किया, बल्कि शोध संस्थान के निदेशक डॉ. प्रणव पण्ड्या के सहयोग एवं इस शोध प्रबन्ध के मार्गदर्शक डॉ. जे.आर.यादव के मार्गदर्शन में १.शान्तिकुञ्ज के वातावरण का शरीर-प्राण और मन पर प्रभाव तथा २.आचार्य जी के वैज्ञानिक अध्यात्म से व्यक्तित्व की अंतर्निहित क्षमताओं का विकास, इन दो विषयों पर अध्ययन संपन्न किया।

इस अध्ययन क्रम में शरीर-प्राण और मन पर आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के प्रभावों के मापन हेतु जिन पैरामीटर्स (Parameters) का उपयोग किया गया उनका विवरण निम्न है-

१. **नाड़ी दर (Pulse Rate)**- यह प्रति मिनट नाड़ी की गति का मापन है। सामान्यक्रम में यह दर ६२ से ७६ प्रति मिनट होती है। इसको स्टॉप वाच या मेनोमीटर से मापा जाता है। इसका सामान्य से अधिक बढ़ना बुखार, शरीर में दर्द, घबराहट व तनाव को सूचित करता है। इसका असामान्य से कम हो जाना डिस्निया (Dysnia) श्वांस लेने में कठिनाई का रोग को सूचित करता है। इसका उन सामान्य से सामान्य की ओर बढ़ना या घटना स्वास्थ्य में सुधार और तनावरहित होने का सूचक है।

२. **श्वसन दर (Respiration Rate)**- यह प्रति मिनट श्वास-प्रश्वास की गति का मापन है। इसकी सामान्य दर १६ से १८ प्रति मिनट होती है। इसको स्टॉप वाच या मेनोमीटर से मापते हैं। इसका सामान्य से अधिक बढ़ जाना उत्तेजना, घबराहट या तनाव को सूचित करता है। सामान्य से कम होना डिस्निया का सूचक है। असामान्य से सामान्य की ओर बढ़ना या घटना स्वास्थ्य में सुधार और तनाव मुक्त होने का सूचक है।

३. **रक्त चाप (Blood Pressure)**[९]- धमनियों में रक्त का दबाव हृदय के संकुचन व प्रसारण के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। अत: रक्त दबाव की दो अवस्थाएँ होती हैं। क. सिस्टोलिक दबाव (Systolic Pressure)-जब हृदय सिकुड़ता है उस अवस्था में रक्त वाहिनियों द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों तक रक्त पहुँचता है। उस अवस्था में नाड़ियों/धमनियों की दीवारों पर पड़ रहे दबाव को सिस्टोलिक दबाव कहते हैं। इसकी सामान्य दर १०० से १४० mm/Hg होती है। ख.डायस्टोलिक दबाव (Dystolic Pressure)-रक्त को पम्प करने के बाद हृदय जब अपनी शिथिलावस्था में होता है उस स्थिति में धमनियों पर पड़ रहे दबाव को डायस्टोलिक दबाव कहते हैं। इसकी सामान्य दर ६० से ९० mm/Hg होती है।

रक्त चाप का मापन स्फिग्मोमेनोमीटर (sphygmomanometer) द्वारा किया जाता है। रक्त चाप का सामान्य से अधिक बढ़ना शरीर में तनाव, मस्तिष्कीय तनाव, उत्तेजना, गुर्दे की क्रियाशीलता में गड़बड़ी का सूचक है। रक्त चाप का सामान्य से कम होना न्यूरोसिस, डिप्रेशन, रक्त कणों की कमी को सूचित करता है।

४. **हीमोग्लोबिन (Hemoglobin)**[१०] haem- लोहा +Globin प्रोटीन, लाल रक्त कण के कोशिका द्रव्य में एक प्रोटीन वर्णक और लोहा रहता है जिसे हीमोग्लोबिन कहते हैं। इसी के कारण रक्त

९ D Hunter & R R Bomford-Hutchinson's-Clinical Methods, p 70
१०. वही, पृ. ३७८

का रंग लाल होता है। पुरुषों में इसकी सामान्य दर १३.५ से १८ जी.प्रतिशत व महिलाओं में इसकी सामान्य दर ११.५ से १६.४ जी प्रतिशत होती है। Hb को Haemometer (हीमोमीटर) यंत्र से मापते हैं। Hb का अधिक होना स्वास्थ्य प्रफुल्लता व विषाणुओं से लड़ने की सामर्थ्य का द्योतक है। इसका कम होना दुर्बलता, रुग्णता, रक्ताल्पता को सूचित करता है।

५. ई.एस.आर. (Erythrocyte Sedimentation Rate) यहाँ रक्त कणों को मिलीमीटर में प्रति घण्टा जमाव की दर है। इसकी सामान्य दर पुरुषों के लिए ३ से ५ मि.मी. प्रति घण्टा व महिलाओं के लिए ४ से ७ मि.मी. प्रति घण्टा होती है। इसे १.वेस्टन ग्रेन मेथड २.विन्ट्रोव मेथड में से किसी से मापा जा सकता है। इसका बढ़ जाना शरीर में रोगाणुओं के संक्रमण का द्योतक है।

६. वायटल केपेसिटी (Vital Capacity)- यह फेफड़े की अधिकतम श्वांस (हवा) धारण करने की क्षमता है। इसे प्राण शक्ति माना जाता है। इसकी सामान्य दर ३.१ लीटर से ४.८ लीटर है। इसे दो उपकरणों १.एक्सपायरोग्राफ (Expirograph) २. मेडस्पाइरर (Medspirer) में किसी से भी मापा जा सकता है। इसका बढ़ना फेफड़ों की सशक्तता, जीवनी शक्ति के बढ़ने का द्योतक है। इसका सामान्य से कम होने का अर्थ जीवनी शक्ति की न्यूनता, संक्रमण रोगों की आशंका व्यक्त करता है।

७. जी.एस.आर. (Galvonic Skin Resistance) यह त्वचा की प्रतिरोधक क्षमता को दर्शाता है। इसे जी.एस.आर. बायोफीड बैक से मापा जाता है। इसकी इकाई किलोओम है। इसका अधिक होना शरीर की तनाव मुक्त एवं मन की शान्त अवस्था को सूचित करता है। त्वचा की प्रतिरोधी क्षमता को रोगाणुओं के संक्रमण की आशंका भी जाती रहती है।

८. अल्फा ई.ई.जी.- विविध मानसिक अवस्थाओं में 'मानवीय मस्तिष्क से अलग-अलग तरंगें पाई गई हैं। ये चार तरह की होती है। अल्फा (a), बीटा (ß), डेल्टा (△), एवं थीटा (θ),। इनमें से अल्फा तरंगें शान्त, स्थिर, एकाग्र, मनोदशा की सूचक हैं। प्रतिभा जागरण-अंतनिर्हित शक्तियों का विकास इसी मनोदशा में होता है। बीटा तरंगें-बहिर्मुखी व चंचल मनोदशा की सूचक हैं। डेल्टा तरंगें गहरी निद्रा में निकलती हैं। थीटा अल्फा एवं डेल्टा के बीच की तरंगें हैं। इन्हें ई.ई.जी द्वारा मापा जाता है। अल्फा तरंगों के विशेष मापन के लिए अल्फा ई.ई.जी. बायोफीड बैक का प्रयोग करते हैं। इनके मापने की इकाई आवृत्ति पर सेकण्ड और माइक्रोवोल्ट है। वर्तमान प्रयोग में माइक्रोवोल्ट का प्रयोग किया गया है।

९. स्मरण शक्ति (Memory)-इसका मापन शब्दों की संख्या के आधार पर मेमोरी ड्रम या डिजिटल मेमोरी उपकरण के माध्यम से करते हैं। इसकी सामान्य दर ३ से ५ है। सामान्य से अधिक दर बौद्धिक प्रखरता व सामान्य कम दर बौद्धिक मंदता की सूचक है।

१०. ए. आर. टी. (Audio Reaction Time)- इसमें ध्वनि संवेदना के माध्यम से व्यक्ति की मानसिक सतर्कता एवं निर्णय लेने की क्षमता का मापन किया जाता है। इसे इलेक्ट्रानिक रिएक्शन टाइमर से नापते हैं। परीक्षण में समय-सेकण्डों में जितना कम होगा-मन की स्थिरता, सतर्कता एवं निर्णय क्षमता उतनी ही अधिक मानी जाएगी। समय की अधिकता मानसिक मंदता व अस्थिरता का सूचक है।

११. वी.आर. टी. (Visual Reaction Time)- इसमें दृश्य संवेदना द्वारा व्यक्ति मानसिक सतर्कता एवं निर्णय क्षमता को मापते हैं। इसे भी इलेक्ट्रानिक रिएक्शन टाइमर द्वारा सेकण्डों में नापा जाता है। परीक्षण में समय की कमी मानसिक सतर्कता, निर्णय क्षमता की अधिकता का सूचक है। जबकि समय की अधिकता मानसिक मंदता एवं अस्थिरता को सूचित करता है।

१२. मिरर ट्रेसिंग (Mirror Tracing)-इसमें मस्तिष्क के दोनों गोलार्धों की कार्य क्षमता व मस्तिष्कीय संतुलन को मापा जाता है। इसका अधिक होना मानसिक क्षमताओं में बढ़ोत्तरी का द्योतक है।

१३. स्टेडीनेस टेस्ट (Steadiness Test)-इससे मन की एकाग्रता, स्थिरता तथा मन की शरीर पर नियंत्रण क्षमता का आकलन करते हैं। इसका अधिक होना मानसिक विकास का प्रतीक है।

१४. एम.वी.वी. (Maximum Voluntary Ventilation)-यह परीक्षण वायु के उस आयतन को बताता है जो अधिकतम श्वांस द्वारा एक मिनट में प्रश्वसन और निश्वसन द्वारा छोड़ी गई है। इसकी सामान्य दर १२० से १६० लीटर प्रति मिनट होती है। यह आयतन दमा, वातस्फीति में कम हो जाता है। इसका बढ़ना फेफड़ों की कार्यक्षमता बढ़ने का द्योतक है।

१५ पी.ई.एफ.आर. (Peak Expiratory Flow Rate)

१६. एफ.ई.वी.१ (Forced Expiratory Volume in one Second)

१७. एफ.वी.सी. (Forced Ventilation Capacity)

इन तीनों परीक्षणों से श्वास नली व फेफड़ों की कार्यक्षमता का पता लगाते हैं। ये परीक्षण वृद्धि दर साधक की जीवनी शक्ति में वृद्धि दर की सूचक हैं।



शोध छात्रा द्वारा किए गए प्रयोग

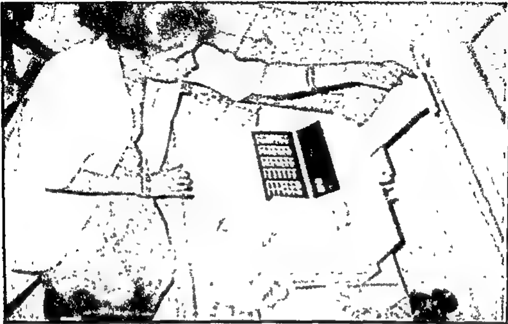
प्रयोग क्रमांक-१

शान्तिकुंज के वातावरण का शरीर, प्राण व मन पर प्रभाव-

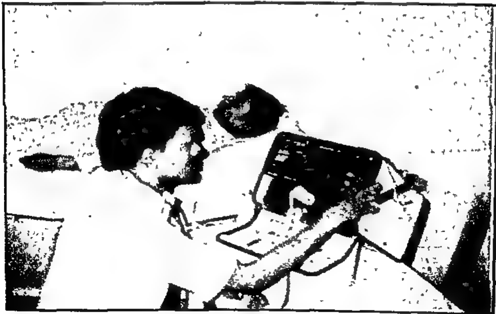
प्रक्रिया-इस प्रयोग के लिए शान्तिकुञ्ज में एकमासीय प्रशिक्षण सत्र में आए पुरुषों व महिलाओं को लिया गया। इनमें ४१६ पुरुष व १२९ महिलाएँ अर्थात् कुल मिलाकर ५४५ लोग थे। आयु वर्ग के अनुसार इनकी संख्या व प्रतिशत साथ में संलग्न ग्राफ क्रमांक १ व २ में दिया गया है। ३१ अक्टूबर १९९३ को सायंकालीन गोष्ठी में इन सभी से अनुरोध किया गया कि वे अधिकतम शान्तिकुञ्ज परिसर में ही रहे और यहाँ की दिनचर्या हैं-

जागरण-प्रार्थना	-४.०० प्रातः,
प्रातः आरती	-४.३०,
प्रातः ध्यान, सामूहिक जप	-५.००,
अखण्ड दीप दर्शन :	
माता भगवती देवी को प्रणाम	-५.३०,
सामूहिक यज्ञ	-६.३०,
प्रातः प्रवचन	-८.००,
भोजन	-९.३०,
मध्याह्न कक्षा	-१२.००
भेंट-परामर्श व प्रशिक्षण कक्षाएँ	-१२.३० से १.३०
ज्योति अवतरण की साधना	-१.३०,
सामूहिक श्रमदान	-३.००
सायंकालीन भोजन	-४.००
सायं आरती	-५.००
सायंकालीन नादयोग	-६.००
सायंकालीन प्रशिक्षण कक्षाएँ-	६.१५ से ८.००

इस अनुरोध के बाद १ से ३ नवम्बर १९९३ तक उनके शरीर, प्राण व मन की प्रथम परीक्षण किया गया। इस परीक्षण में शरीर की जाँच के लिए उपयोग किए गए पैरामीटर, हीमोग्लोबिन और ई.एस. आर.थे। प्राण की जांच वायटल केपेसिटी एम.वी.वी., एफ.वी.सी., एफ.ई.वी.-एक, पी.ई.एफ.आर. के द्वारा की गई। मन की जाँच के लिए ई.ई.जी, जी.एस.आर.



साधना के शारीरिक चेतना पर पड़ने वाले प्रभावों का मापन
करने वाला आधुनिकतम यंत्र - आर. ए. ५०
(इस यंत्र से जैव रासायनिक तत्त्वों की स्थिति मापी जाती है।)



ध्यान साधना का हृदय संस्थान पर प्रभाव
मापन करने वाला उपकरण

मन पर पड़ने वाले प्रभाव-

१. जी.एस.आर.-पुरुषों में ७३ प्रतिशत जी.एस.आर. बढ़ा व २७ प्रतिशत का घटा।

महिलाओं में ७८ प्रतिशत का जी.एस.आर. बढ़ा व २२ प्रतिशत महिलाओं का घटा।

इसका विवरण ग्राफ क्रमांक १० में है।

२. अल्फा ई.ई.जी.-पुरुषों में ८४ प्रतिशत का अल्फा तरंगों का इलेक्ट्रिक पोटेन्शियल बढ़ा व १६ प्रतिशत का घटा।

महिलाओं में अल्फा तरंगों का इलेक्ट्रिक पोटेन्शियल ८१ प्रतिशत का बढ़ा व १९ प्रतिशत का घटा।

इसका विवरण ग्राफ क्रमांक ११ में है।

३. वीडियो रिएक्शन टाइम (वी.आर.टी.)-पुरुषों में ६७ प्रतिशत का वी.आर.टी. कम हुआ (प्रगति का द्योतक) व ३३ प्रतिशत का बढ़ा।

महिलाओं में ४६ प्रतिशत का समय घटा व ५४ प्रतिशत का बढ़ा।

इसका विवेचन ग्राफ क्रमांक १२ में है।

४. आडियो रिएक्शन टाइम (ए.आर.टी.)-पुरुषों में ४६ प्रतिशत का ए.आर.टी.बढ़ा व ५४ प्रतिशत का घटा।

महिलाओं में ५६ प्रतिशत का ए.आर.टी. बढ़ा व ४४ प्रतिशत घटा।

इसका विवेचन ग्राफ क्रमांक १३ में है।

५. स्मरण शक्ति (*memory*)-पुरुषों में ५६ प्रतिशत की बढ़ी, १२ प्रतिशत की कम हुई व ३२ प्रतिशत की स्थिर रही।

महिलाओं में ७० प्रतिशत की स्मरण शक्ति बढ़ी, १० प्रतिशत की घटी व २० प्रतिशत की स्थिर रही।

इसका विवेचन ग्राफ नं. १४ में है।

६. स्टीडीनेस टेस्ट-पुरुष वर्ग में ५८ प्रतिशत की गल्तियों में कमी हुई, ३५ प्रतिशत की गलतियाँ बढ़ी व ७ प्रतिशत का स्थिर रहा।

महिलाओं में ५१ प्रतिशत की गलतियाँ कम हुई, ४६ प्रतिशत की गलतियाँ बढ़ गईं व १४ प्रतिशत का स्थिर रहा।

इसका विवरण ग्राफ नं. १५ में है।

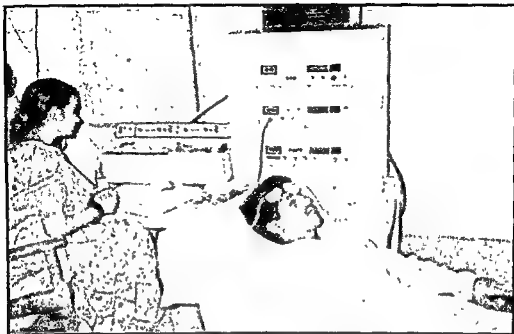
७. मिरर ट्रेसिंग-पुरुष वर्ग में ४४ प्रतिशत की त्रुटियाँ कम हुई, ५४ प्रतिशत की बढ़ी व २ प्रतिशत स्थिर रहे।

महिला वर्ग में ५८ प्रतिशत की त्रुटियाँ कम हुईं ४० प्रतिशत की बढ़ी व २ प्रतिशत की स्थिर रहीं।

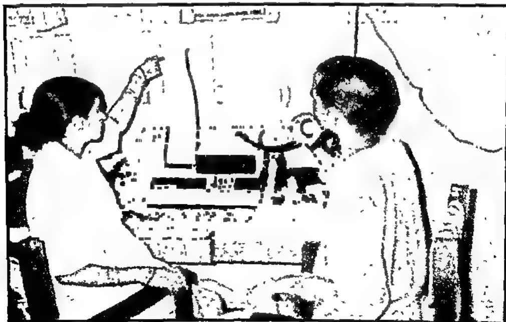
इसका विवरण ग्राफ क्रमांक १६ में है।

मन पर पड़ने वाले प्रभाव के मापन में जी.एस. आर. व अल्फा ई.ई.जी की रीडिंग का बढ़ना प्रगति का द्योतक है, जबकि *VRT* व *ART* की रीडिंग का घटना प्रगति का चिह है। इसी तरह स्मरण शक्ति बढ़ना उत्तम है तथा स्टीडीनेस व मिरर ट्रेसिंग में त्रुटियों का कम होना विकास का प्रतीक है।

निष्कर्ष-इस प्रयोग में यह देखा गया कि बहुतायत प्रतिशत उन पुरुषों व महिलाओं का रहा जिन्होंने अपने शरीर, प्राण व मन की क्षमताओं को शान्तिकुंज के वातावरण में रहकर निखारा। पुरुष वर्ग व महिला वर्ग के सदस्य जिनमें कमी आयी उनका विश्लेषण करने पर पता चला कि शान्तिकुञ्ज में स्थिर चित्त रहने की बजाय व ऋषिकेश हरिद्वार के विभिन्न स्थानों पर भ्रमण करते रहे। शान्तिकुञ्ज की दिनचर्या को सही ढंग से नहीं निभाया। जो पुरुष व महिलाएँ अपनी क्षमता को नहीं बढ़ा सके उनकी तन्मयता में कमी पाई गयी। घर-परिवार की यादें उन्हें अन्यमनस्क बनाए रहीं। अन्यथा जिन्होंने तन्मयतापूर्वक अपना एक मास शान्तिकुञ्ज के वातावरण में गुजारा ठीक ढंग से यहाँ की दिनचर्या निभाई, सही ढंग से प्रशिक्षण सत्र में अपनी भागीदारी निभाई उनकी दृष्टि, प्राण व मन की क्षमताओं का विकास हुए स्वास्थ्य सुधार, जीवनी शक्ति संवर्धन व मानसिक क्षमता अभिवर्धन का लाभ ले सके। इस तरह यह

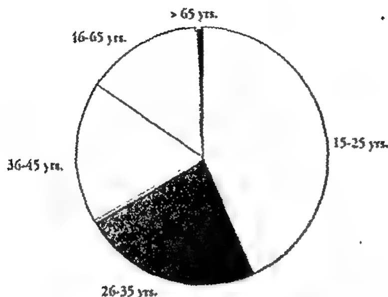


मन की गहरी परतों पर साधनात्मक प्रभावों की प्रतिक्रिया
मापन करने वाला उपकरण– बायो फीडबैक



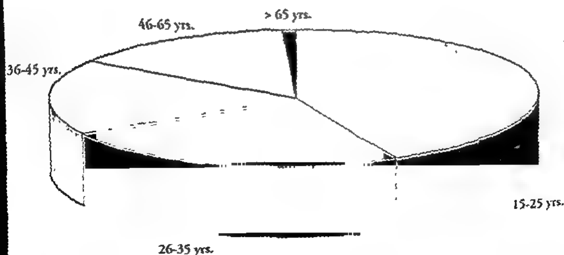
प्राणायाम के प्राणशक्ति पर पड़ने वाले प्रभावों का मापन
करने वाला आधुनिकतम यंत्र – मेडस्पायरर

AGE WISE PERCENTAGE DISTRINUTION OF MEN SADHAKAS



ग्राफ क्रमांक – १

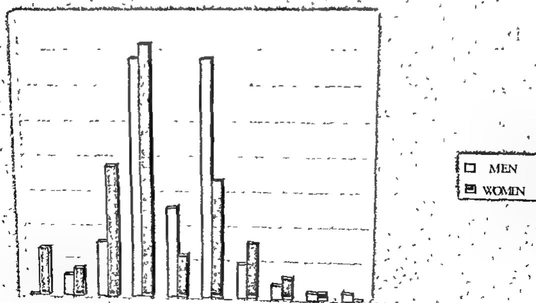
AGE WISE PERCENTAGE DISTRINUTION WOMEN SADHAKAS



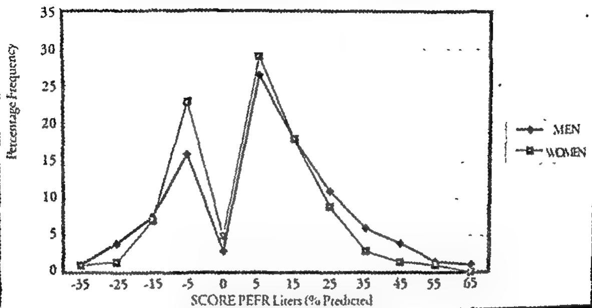
ग्राफ क्रमांक – २



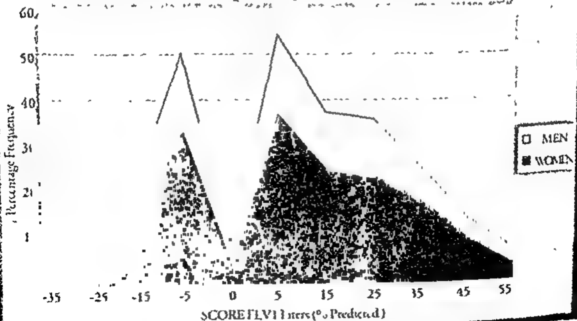
ग्राफ क्रमांक – ३



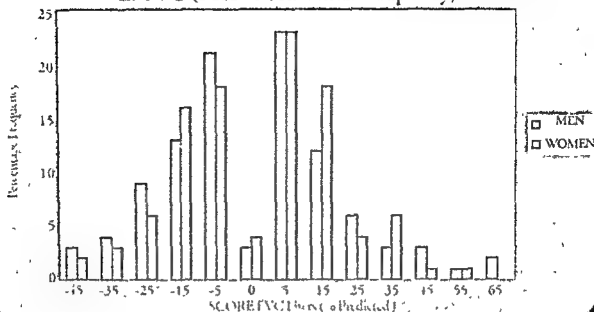
ग्राफ क्रमांक – ४



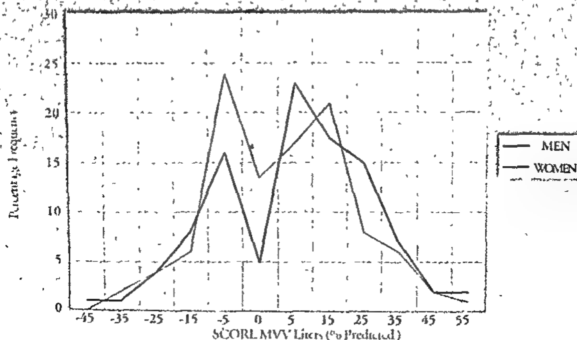
ग्राफ क्रमांक – ५



ग्राफ क्रमांक – ६

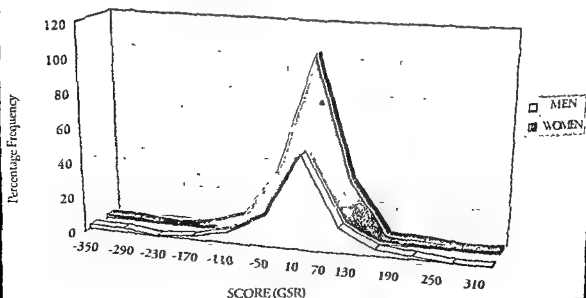


ग्राफ क्रमांक – ७

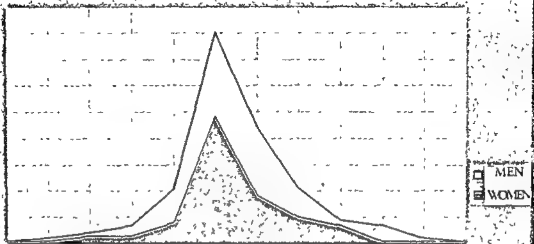


ग्राफ क्रमांक – ८

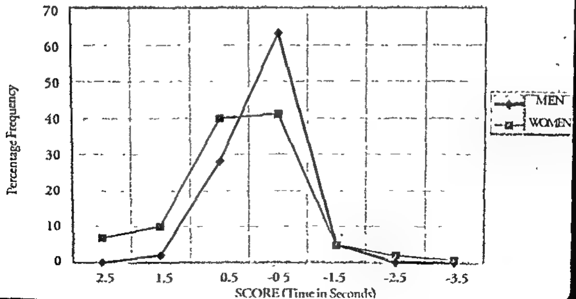
ग्राफ क्रमांक – ९



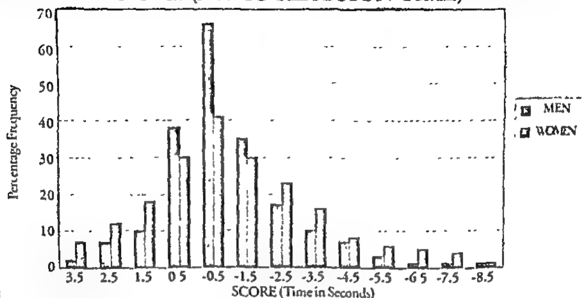
ग्राफ क्रमांक – १०



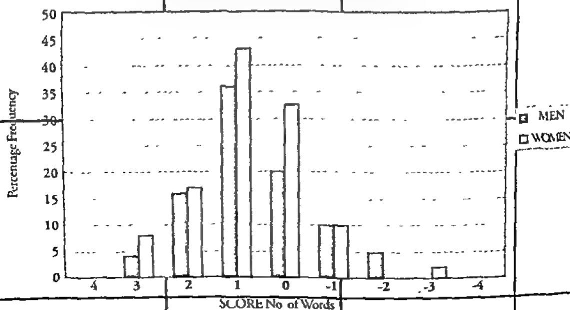
ग्राफ क्रमांक – ११



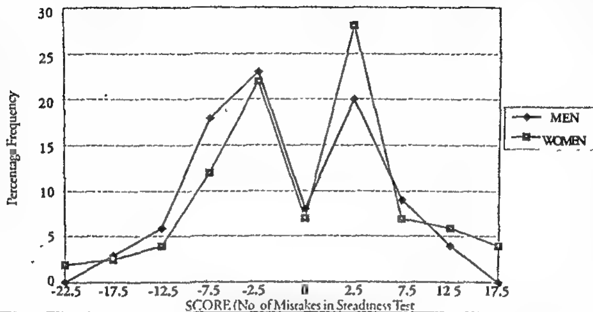
ग्राफ क्रमाक – १२



ग्राफ क्रमांक – १३



ग्राफ क्रमांक – १४



ग्राफ क्रमांक – १५

ग्राफ क्रमांक – १६

देखने को मिला कि शान्तिकुञ्ज के वातावरण में कतिपय ऐसे दिव्य तत्त्व मौजूद हैं जो यहाँ तन्मयतापूर्वक रहने वाले के जीवन की क्षमताओं का विकास करते हैं।

प्रयोग क्रमांक २

वैज्ञानिक अध्यात्म के प्रयोग से व्यक्तित्व की अन्तर्निहित क्षमताओं का विकास

प्रक्रिया-इस प्रयोग के अंतर्गत शान्तिकुञ्ज में ही कार्यरत १० स्वयंसेवी कार्यकर्त्ताओं का चुनाव किया गया। ये सभी २५ से ३५ वर्ष के आयु वर्ग के लोग थे। विशिष्ट साधनात्मक प्रयोग की बात सुनते ही सभी ने सहर्ष अपनी सहमति दे दी। साधना की तिथियाँ २९ अक्टूबर ९३ से २८ नवम्बर ९३ अर्थात् आश्विन पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा रखी गयी। ताकि चन्द्रायण तप साधना सुव्यवस्थित रीति से चल सके। साधना से एक दिन पूर्व सभी ने माता भगवती देवी से भेंट की। उनसे उचित मार्गदर्शन व आशीर्वाद लेकर इन सभी ने अगले दिन से साधनात्मक क्रम प्रारम्भ किया।

साधना क्रम के पहले दिन ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के निदेशक डॉ. प्रणव पण्ड्या से परामर्श करके उन्हें वैज्ञानिक अध्यात्म की समग्र साधना पद्धति समझायी गयी। यह क्रम प्रथम परीक्षण के दिन अर्थात् २९.१०.१९९३ को संपन्न हुआ। साधनात्मक परामर्श के इस क्रम में प्रत्येक साधक को १. चन्द्रायण व्रत २. पद्मासन ३. खेचरी मुद्रा ४. मूलबन्ध ५. सूर्यबेधन प्राणायाम ६. ४२ माला गायत्री जप के रूप में एक मास में सवा लक्ष का अनुष्ठान ७. जप के साथ उगते हुए सूर्य का ध्यान करने का परामर्श किया गया।

अनुष्ठान काल में सभी को अपने-अपने विभाग में काम करते रहना था; ताकि समस्त जीवन योग है- इस सत्य को परखा जा सके। प्रत्येक साधक एक सुनिश्चित दिनचर्या के अनुसार प्रातः ३ बजे जागरण व नित्य कर्म के पश्चात् ७ बजे तक मुद्रा, बन्ध, प्राणायाम, आसन के अभ्यास के साथ क्रमानुसार ३३ माला जप समाप्त करके अग्निहोत्र में भाग लेता रहा। अग्निहोम के लिए ब्राह्मी, शंखपुष्पी, गिलोय, शरपुंखा, अश्वगंधा, खस, कमलकेसर, अगर, तेजपत्र के साथ तिल, जौ, घी का चुनाव किया गया था।

हवन के बाद सभी साधक अपने-अपने विभागों में कार्यरत हो जाते। दोपहर के भोजन के रूप में दाल, दलिया को चन्द्रायण के घटते-बढ़ते क्रम के अनुसार लेना होता है। भोजन के पश्चात् थोड़े विश्राम के अनन्तर पुनः अपने-अपने में योग कर्मसु कौशलम के सत्य को प्रतिपादित करते। सायं ६ बजे गंगा किनारे सभी अपने बचे हुए जप की ९ माला पूरी करते रहे। रात्रि सत्संग-स्वाध्याय के बाद तत्त्वबोध का क्रम पूरा करके सो जाते। एक मास तक यही क्रम पूरा होता रहा और २८.११.१९९३ को दूसरी परीक्षण तिथि आ पहुँची।

परिणाम-

शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव-

१. **नाड़ी गति (Pulse Rate)**-१० साधकों की नाड़ी गति में २ प्रति मिनट से १० मिनट तक कमी देखी गयी। जो उनके तनाव घटने की द्योतक है। इस कमी का औसत ५.२ नाड़ी प्रति सेकण्ड रहा। इसका विस्तृत विवरण ग्राफ क्रमांक १७ में है।

२. **रक्त चाप में सुधार**-१० साधकों के रक्त दवाव में सामान्य की ओर २/४ mm/hg से १४/८/ mm/Hg मे कमी देखी गई। औसतन न्यूनता सामान्य की ओर ५.०/५.८ रही। इसका विवेचन ग्राफ क्रमांक १८ में है।

३. **हीमोग्लोबिन (Hb) में वृद्धि**-१० साधकों के हीमोग्लोबिन में ०.५ ग्राम प्रतिशत से २.२ (G%) ग्राम प्रतिशत तक वृद्धि देखी गई। औसतन यह वृद्धि दर १.४ G% रही। इसका विवेचन ग्राफ क्रमांक १९ में है।

४. **ई.एस.आर. में घटोतरी**-साधकों में एक की ई.एस.आर. दर सामान्य की ओर २ मिलीमीटर प्रति घण्टा mm/hg से ६ मिमी. प्रति घण्टा

mm/hg तक कम हुई। कम होने का यह औसत ३.४ mm/hg रहा-इसका विस्तृत विवेचन ग्राफ क्रमांक २० में है।

प्राण पर पड़ने वाले प्रभाव-

१. वायटल केपेसिटी अर्थात् प्राण शक्ति-१० साधकों की प्राण शक्ति में एक महीने के अन्तराल में १३० मिली लीटर से ९७० मिली लीटर तक वृद्धि देखी गयी। वृद्धि का यह औसत ४५२ मिली. प्रति व्यक्ति रहा। इसका विवरण ग्राफ क्रमांक २१ में है।

२. श्वांस गति-साधकों की श्वांस गति में १ प्रति मिनट से २ प्रति मिनट तक कमी देखी गयी। यह औसत कमी १.३ श्वांस प्रति मिनट रही। इसका विवरण ग्राफ क्रमांक २२ में है।

मन पर पड़ने वाले प्रभाव-

१. अल्फा ई.ई.जी.-साधकों के मस्तिष्क की अल्फा तरंगों के विद्युत पोटेंशियल में ५ माइक्रोवोल्ट्स रही। इसका विस्तृत विवेचन ग्राफ क्रमांक २३ में है।

२. जी.एस.आर.-१० साधकों के जी.एस.आर. में १०९ किलो ओम से २५१ किलो आम तक वृद्धि देखी गयी। औसत वृद्धि १६७.३ किलो ओम की रही। इसका विवरण ग्राफ क्रमांक २४ में है।

३. वीडियो रिएक्शन टाइम में कमी-१० साधकों के VRT में .०५ सेकेण्ड से .७२ सेकण्ड तक कमी देखी गयी। इस कमी का औसत ०.४ सेकेण्ड प्रति व्यक्ति रहा। इसका विवरण ग्राफ क्रमांक २५ में है।

४. आडियो रिएक्शन टाइम में कमी-१० साधकों के इस ग्राफ में ०.२२ सेकण्ड से ०.७१ सेकण्ड तक कमी देखी गयी। इस कमी की औसत दर .४२ सेकण्ड रही। इसका विवरण ग्राफ क्रमांक २६ में है।

५. स्मरण शक्ति में वृद्धि-१० साधकों के एक माह के अन्तराल में १ से ४ इकाई (शब्द) तक स्मरण शक्ति में वृद्धि देखी गयी। यह औसत वृद्धि दर २.४ शब्द प्रति व्यक्ति रही। इसका विवेचन ग्राफ क्रमांक २७ में है।

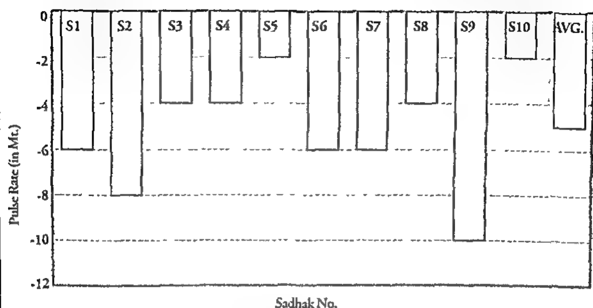
निष्कर्ष-

वैज्ञानिक अध्यात्म की इस एक मासीय प्रयोगात्मक प्रक्रिया में साधकों की तन्मयता और साधकों में निष्ठा के अनुरूप जीवनी शक्ति में अभिवृद्धि प्राण क्षमता में बढ़ोत्तरी तथा मानसिक क्षमता में विकास पाया गया। इन दस साधकों में प्रत्येक से अलग-अलग बातचीत के क्रम में पता चला कि दूसरे परीक्षण के समय वह अपने में पर्याप्त बदलाव अनुभव कर रहे हैं। तनाव, उद्विग्नता का स्थान शान्ति और स्थिरता ने ले लिया है। जिन विभागों में यह काम कर रहे थे उनके विभागाध्यक्षों से साधना क्रम के उपरान्त वार्तालाप करने पर मालूम हुआ कि इन सभी ने अपनी कार्यक्षमता में पहले की अपेक्षा आश्चर्यजनक रूप से विकास किया है। यही नहीं इनके मित्र व परिवार के सदस्यों ने इनके व्यवहार में एक अद्‌भुत कोमलता, शान्ति व मृदुता अनुभव की।

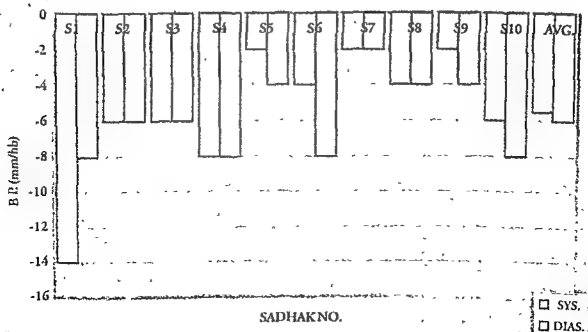
एक मास के इस प्रयोग से प्राप्त उपरोक्त निष्कर्ष यह मानने के लिए बाध्य करते हैं कि आचार्य जी द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक अध्यात्म न केवल समग्र दार्शनिक सिद्धान्त है; बल्कि मानवीय चेतना के रूपान्तरण-विकास हेतु एक सफल व समग्र वैज्ञानिक प्रक्रिया भी है।

इस प्रयोग के दौरान ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के निदेशक डॉ० प्रणव पण्ड्या से वैज्ञानिक अध्यात्म के दार्शनिक व आध्यात्मिक पहलू पर एक लम्बी वार्ता हुई। जिसके मूल्यवान अंश को नीचे दिया जा रहा है।

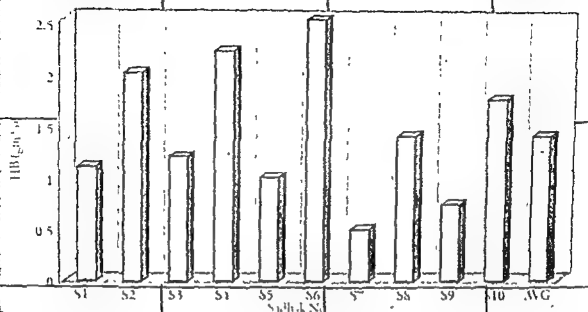




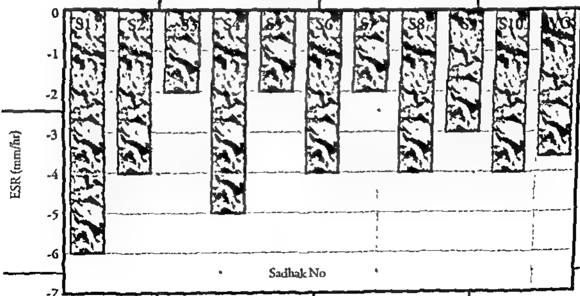
ग्राफ क्रमांक – १७



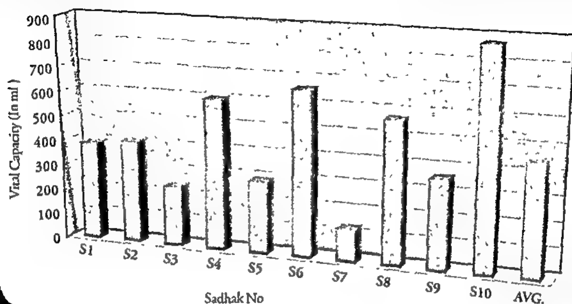
ग्राफ क्रमांक – १८



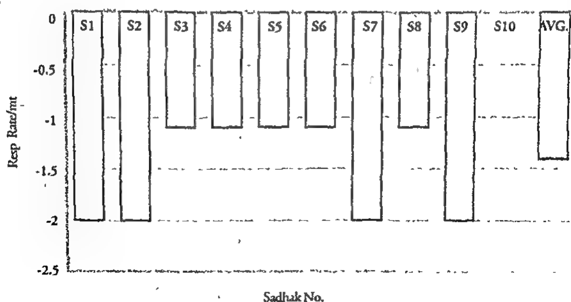
ग्राफ क्रमांक – १९



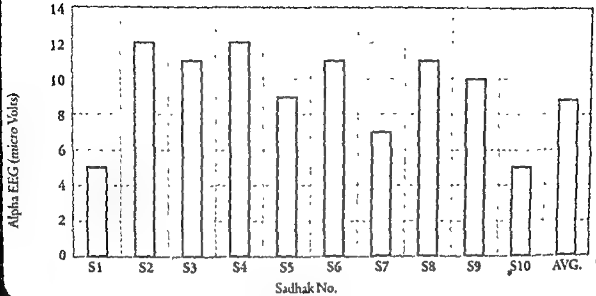
ग्राफ क्रमांक – २०



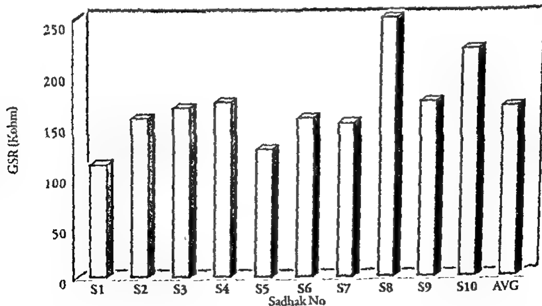
ग्राफ क्रमांक – २१



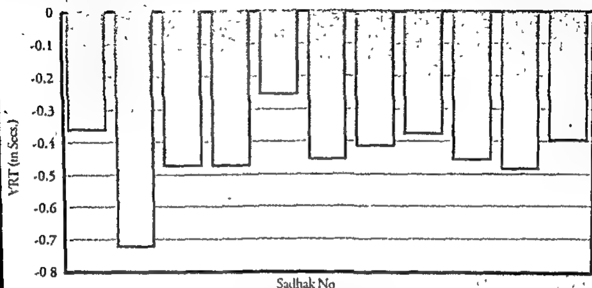
ग्राफ क्रमांक – २२



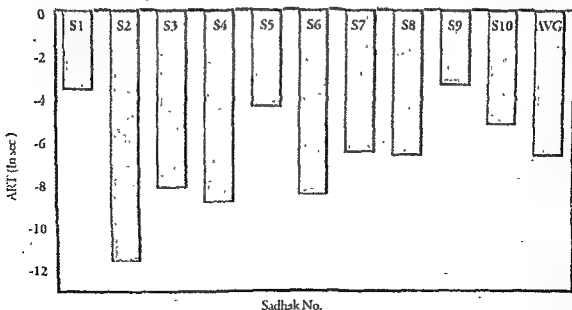
ग्राफ क्रमांक – २३



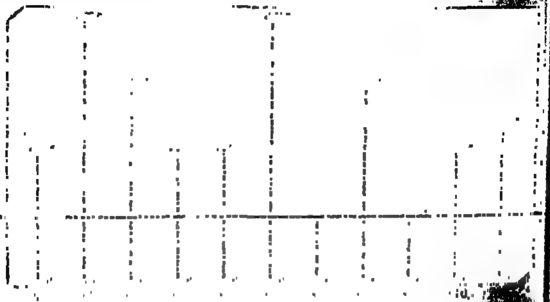
ग्राफ क्रमांक – २४



ग्राफ क्रमांक – २५



ग्राफ क्रमांक – २६



ग्राफ क्रमांक – २७

डॉ. प्रणव पण्ड्या से साक्षात्कार-वार्ता

डॉ. प्रणव पण्ड्या अपने विद्यार्थी जीवन से ही आचार्य जी की विचारधारा से एकात्म रहे हैं। उन्होंने एम.जी.एम.मेडिकल कॉलेज इन्दौर से एम.बी.बी.एस. तथा एम.डी. की उपाधियाँ स्वर्ण पदक के साथ प्राप्त की। कुछ समय तक भारत हैवी इलेक्ट्रीकल्स भोपाल में प्रभारी चिकित्सा अधिकारी के रूप में कार्यरत रहे। आचार्य जी का लोकसेवियों के लिए आह्वान सुनकर वह नौकरी छोड़कर सपरिवार सन् १९७८ में शान्तिकुंज आ गए। सन् १९७९ में ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की स्थापना के समय से ही आचार्य जी ने उन्हें संस्थान का निदेशक नियुक्त किया।

डॉ. प्रणव पण्ड्या चिकित्सक एवं वैज्ञानिक ही नहीं आचार्य जी के घनिष्ठतम शिष्य भी रहे हैं। उन्होंने आचार्य जी के सान्निध्य में न केवल दर्शन एवं साहित्य में उच्च कोटि की मर्मज्ञता प्राप्त की, बल्कि गंभीर साधनाएँ भी संपन्न की। सूक्ष्मीकरण जैसी उच्चस्तरीय विशिष्ट साधना प्रक्रिया के समय एकमात्र वही आचार्य जी के साथ थे। उन्होंने आचार्यजी के बहुआयामी चिंतन व व्यक्तित्व को नजदीक से जाना-समझा व आत्मसात किया है। वैज्ञानिक अध्यात्म उनके लिए चिंतन का ही नहीं अनुभूति का भी विषय रहा है। अब तक उन्होंने इस विषय पर लगभग ३५ पुस्तकों की रचना कार्य संपन्न किया है। साथ ही कैम्ब्रीज आक्सफोर्ड मेसाचुसेट्स जैसे ख्याति प्राप्त विश्वविद्यालयों में इस विषय पर उनके सारगर्भित व्याख्यान आयोजित हुए हैं। प्रस्तुत वार्ता में उन्होंने आचार्य जी के वैज्ञानिक अध्यात्म के अनछुए पहलुओं का खुलासा किया है।

प्रश्न- डॉ. साहब! वैज्ञानिक अध्यात्म पर इन दिनों ढेरों पुस्तक देखने को मिलती हैं। उनमें से कई तो ऐसी हैं जिन्होंने लोकप्रियता के शिखर को छुआ है। उदाहरण के लिए फिटजोफ काप्रा की 'ताओ ऑफ फिजिक्स' को ही लें। यही बात गैरी जुकाव की 'डान्सिंग वूली मास्टर्स' के बारे में भी है। आचार्य जी का वैज्ञानिक अध्यात्म क्या इन किताबों में उल्लेखित वैज्ञानिक अध्यात्म है अथवा कुछ विशेष है।

उत्तर- हाँ, विशेष है। जिन पुस्तकों का अभी आपने जिक्र किया है उनमें भारतीय तत्त्वदर्शन के किसी सूत्र की फिजिक्स अथवा केमिस्ट्री के किसी तथ्य से संगति भर बिठाई गई है और यह बताया गया है कि चूँकि फिजिक्स अथवा केमिस्ट्री अध्यात्म की इस बात को स्वीकार करती है इसलिए अध्यात्म वैज्ञानिक है जबकि आचार्य जी के अनुसार अध्यात्म विद्या स्वतंत्र विज्ञान है।

प्रश्न- इस स्वतंत्र विज्ञान से आपका क्या तात्पर्य है?

उत्तर- स्वतंत्र विज्ञान से यह तात्पर्य है कि अध्यात्म विद्या के लिए फिजिक्स व केमिस्ट्री की बैशाखी की जरूरत नहीं है। देखिए फिजिक्स इसलिए तो फिजिक्स नहीं है क्योंकि उसने बॉटनी अथवा जूलॉजी के सिद्धान्तों का सहारा लिया है। बल्कि इसलिए वैज्ञानिक है क्योंकि उसकी अध्ययन प्रक्रिया वैज्ञानिक है। बस यही बात अध्यात्म के संदर्भ में भी है।

प्रश्न- तथ्य को और अधिक स्पष्ट करने की कृपा करेंगे?

उत्तर- हाँ, हाँ क्यों नहीं। आध्यात्मिक सत्य तो पहले की तरह अभी भी है पर उनकी प्रयोग व प्रक्रियाएँ लुप्तप्राय हैं। यदि इनके कुछ अंश मिलते भी हैं तो बहुत उलझे हुए। उदाहरण के लिए धरती में आकर्षण शक्ति तो पहले भी थी, पर न्यूटन ने इस आकर्षण शक्ति को अनुभव किया, नियमों की रचना की, उपयोग की वैज्ञानिकता को समझाया।

प्रश्न- तो आपका मतलब है कि आचार्य जी ने न्यूटन

की तरह आध्यात्मिक सत्यों को अनुभव किया उनके प्रयोगों को वैज्ञानिकता दी, उपयोग विधि को बताया।

उत्तर- ठीक समझी। उन्होंने जीवन भर आध्यात्मिक सत्यों के अनुसंधान के लिए प्रयोग किए प्रक्रियाएँ बतायीं। उपयोग विधि समझायी। उनका यह प्रयास सर्वथा वैज्ञानिक था। ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान उनके इसी प्रयास का एक रूप है जिसमें अध्यात्म विद्या का स्वतंत्र विज्ञान के रूप में व्यवस्थित किए जाने का प्रयास चल रहा है।

प्रश्न- मानव हित में इसके क्या उपयोग हैं ?

उत्तर- जिस तरह भौतिक विज्ञान ने मानव को बाहरी सुविधाओं से समृद्ध किया उसी तरह अध्यात्म विज्ञान मानव को आंतरिक विभूतियों से संपन्न करेगा उसमें यह समझ पैदा करेगा कि मनुष्य अपने जीवन और उसकी सुविधाओं का समुचित उपयोग कर सके।

प्रश्न- यह बात केवल सैद्धान्तिक है अथवा उसकी व्यावहारिक उपादेयता भी है ?

उत्तर- सैद्धान्तिक प्रतिरूप (मॉडल) तो बहुतों ने दिए हैं। पुस्तकों की रचना पहले भी कम नहीं हुई। पर आचार्यजी ने सर्वथा व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया है। उनका वैज्ञानिक अध्यात्म निरा तत्त्वदर्शन नहीं है, बल्कि प्रयोग और प्रक्रियाओं का समर्थ विज्ञान भी है। जिसको अपनाकर कोई स्वयं के व्यक्तित्व का रूपान्तरण कर सकता है।

प्रश्न- व्यक्तित्व के रूपान्तरण का क्या अर्थ है ?

उत्तर- व्यक्तित्व के रूपान्तरण का अर्थ है-चरित्र, चिंतन, व्यवहार का रूपान्तरण, गुण, कर्म, स्वभाव में बदलाव। मानवी चेतना के इसी उत्कर्ष को आचार्य जी ने मानव में देवत्व का उदय कहा है।

प्रश्न- क्या ऐसे व्यक्ति इन दिनों हैं जिन्होंने वैज्ञानिक अध्यात्म के प्रयोगों को अपनाकर अपना समग्र रूपान्तरण कर लिया हो ? यदि हैं तो क्या आपने उनके रूपान्तरण की प्रक्रिया का वैज्ञानिक अध्ययन किया है।

उत्तर- जहाँ तक समग्र रूपान्तरण की बात है हमने ऐसे व्यक्ति के रूप में गुरुदेव (आचार्य जी) एवं माता जी को देखा है। उनके जीवन को गहराई से जाना -परखा है। परन्तु ऐसे लोग भी कम नहीं है जो रूपान्तरण की इस प्रक्रिया में बहुत दूर तक जा चुके हैं। यदि एक अर्थ में यह कहा जाय कि वैज्ञानिक अध्यात्म के तत्त्वदर्शन व प्रयोग प्रक्रियाओं को अपने जीवन में आत्मसात करने वाला समूचा गायत्री परिवार इस रूपान्तरण की प्रक्रिया से गुजर रहा है तो कोई अत्युक्ति न होगी। रूपान्तरण के बाद गायत्री परिवार के सदस्य देवमानव के परिवार में बदल जायेंगे। क्योंकि इस प्रक्रिया का लक्ष्य यही है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए आचार्य जी ने गायत्री परिवार का एक नाम देव परिवार भी रखा था। यही आध्यात्मिक समाज का आधार है। कोई और प्रश्न ?

- नहीं, धन्यवाद। आज की वार्ता को यही विराम देते हैं।



रूपान्तरित व्यक्तित्व अर्थात् मानव में देवत्व का उदय

नृतत्ववेत्ता अपने-अपने ढंग से योजनाएँ बनाने में निरत हैं। सभी का एक ही लक्ष्य है, मानव का विकास। इसी के लिए गुणसूत्रों जीन्स, जीव रसायनों में हेराफेरी की जा रही है। मनोविज्ञानी इलेक्ट्रोडों द्वारा विद्युत प्रवाह जारी करके प्रवृत्तियाँ बदलने की कोशिश में लगे हैं। दार्शनिकों ने इस संबंध में अपने ढंग की कल्पनाएँ की हैं। नीत्शे की दार्शनिक कल्पना का अतिमानव एक ऐसा ही तथ्य है।

ये सभी कल्पनाएँ-प्रयत्न मोहक होने के बावजूद एकांगी है। मानव न तो सिर्फ शरीर है और न केवल मन। दार्शनिक कल्पनाएँ भी क्रिया की प्रभावोत्पादकता के बगैर अपंग है। आचार्यजी ने अपने चिंतन में इसी सत्य को समझा और सर्वांगीण दृष्टि प्रस्तुत की है। इस सर्वांगीण दृष्टि को ही उन्होंने वैज्ञानिक अध्यात्म की संज्ञा दी है। पिछले प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि इसके प्रभाव न केवल शरीर की बलिष्ठता व स्वरूप जीवन के रूप में दिखाई देते हैं; बल्कि इसके प्रभाव में आकर मन भी अपने स्वभाव व प्रवृत्तियों को बदले बगैर नहीं रहता। भावनाओं को निष्कलुष करना उदात्त बनाना इसकी विशेषता है।

इसी वजह से उन्होंने इसे विकास की सचेतन प्रणाली की संज्ञा दी। उनके अनुसार 'अरविन्द अपने पाण्डिचेरी प्रयोग में सुपर मैन 'उत्कृष्ट मानव' की कल्पना की थी वे अपने पूर्ण योग के माध्यम से मनुष्य में देवत्व के उदय का रूप दे रहे थे। यों उनके जीवन काल में वह प्रयास पूरा नहीं हो पाया, पर यह नहीं समझा जाना चाहिए कि वह काम अधूरा ही छूट गया। उसे आगे बढ़ाने के लिए पूर्ण योग का स्थान प्रज्ञायोग (वैज्ञानिक अध्यात्म) ले रहा है और लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्राणपण से जुटा है।"[११]

इसके प्रभाव से मानव के शरीर, प्राण व मन में अभीष्ट परिवर्तन हो सकेंगे और वह क्रिया -भावना व चिंतन की दृष्टि से उत्कृष्ट बनेगा। यह उत्कृष्टता एक ऐसी आधारभूमि तैयार करेगी जिसमें होने वाला परमात्म चेतना का अवतरण, रूपान्तरण की समग्रता को सुगम और आसान बनाएगा। यह समग्रता मानवी चेतना को एक नया आयाम देगी-देवमानव का विकास। आचार्य जी के शब्दों में 'भावी देवमानव की विशेषता होगी उसके अंदर देवत्व का उदय। यदि यह बन पड़ा तो इसकी परिणति निश्चित रूप से धरती पर स्वर्ग के अवतरण के रूप में होगी।"[१२] जिसका प्रकट रूप आध्यात्मिक समाज के रूप में दिखाई देगा।'



११. आचार्य श्रीराम शर्मा-मानव के परिष्कार एवं उत्कर्ष की भावी संभावनाएँ, अखण्ड ज्योति वर्ष ४६, अक ३, पृ २९
१२. वही

अध्याय ८

अध्यात्मिक समाज

आध्यात्मिक समाज मनुष्य में देवत्व के उदय एवं विस्तार की चरम परिणति है। इसे मानव के वैयक्तिक एवं सामूहिक विकास का उत्कर्ष भी कह सकते हैं। मानवीय विकास के कालक्रम के अनुरूप उसकी सभ्यता का स्वरूप देखने पर स्पष्ट होता है कि प्रारंभिक स्तर में मनुष्य शरीर की दृष्टि से तो विशालकाय था, पर कल्पना व विचारणा की दृष्टि से मंद था। इस समय प्रधानता भी शरीर बल की थी। परिवर्धित प्राण सुपुष्ट शरीर ही विकसित होने की पहचान था। पी.लिबर मैन[1] 'मोर आन ह्यूमन इवाल्यूशन' में कहते हैं कि इस काल में शारीरिक वीरता ही सर्वश्रेष्ठ गुण था। आवश्यकता भी इसी की थी। मनुष्य को शरीर बल के सहारे ही सिंह-व्याघ्र तथा अन्य इन्हीं जैसे हिंसक प्राणियों से लड़ना पड़ता था। एम. स्टैनफोर्ड[1] ने 'लिंग्विस्टिक एन एनालिटिकल एप्रोच' में वरच्यु शब्द की उत्पत्ति विर से बतायी है जो संस्कृत के वीर शब्द से बना है। इसके विश्लेषण में उनका कहना है कि सभ्यता के उदयकाल में वीरता का स्थान सर्वोपरि था। शरीर बल की ही प्रधानता थी प्रतिभा पुरुषार्थ का यही अकेला क्षेत्र था।

इसके बाद मानसिक संकल्पना व भावना का उदय हुआ। प्रकृति का सिद्धान्त है कि जिस तत्त्व की उपयोगिता समझी जाएगी, आवश्यकता अनुभव की जाएगी और प्रयोग में लायी जाएगी वह बढ़ेगी, मजबूत होगी। शारीरिक बल को गौण, चिंतन को श्रेष्ठ माना जाने लगा। भावनाएँ उदय हुईं, परिवार व्यवस्था पनपी, समाज सुसंगठित हुआ। इसी समय प्रथम काव्य मुखरित हुआ, वेदों की ऋचाएँ गूँजी। यह था धरती का प्रथम सतयुग अथवा यों कहें भावनामय युग। आत्मीयता इसी युग में पहले-पहल पनपी। समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए शासन व्यवस्था सृजी गयी। कर्त्तव्य कर्म की मीमांसाएँ हुईं। स्मृतियाँ प्रकाश में आयीं। पहले जहाँ शारीरिक शक्तियों का ही गुणगान होता था, अब मानसिक शक्तियों का वर्चस्व स्वीकारा गया। सुव्यवस्था, आत्मीयता व भावना से ओतप्रोत वातावरण की दृष्टि से उस सतयुग को अभी भी सराहा जाता है।

इस विकास के आयाम में एक नया आयाम आया-बौद्धिक विकास का। इस काल में तरह-तरह के अन्वेषण हुए। सभ्यता ने नया रूप लिया। काव्य के स्थान पर विज्ञान प्रकाश में आया। भावना के स्थान पर बुद्धि का वर्चस्व हुआ। पुरानी मान्यताएँ टूटीं, नए आधार गढ़े गए। ऐसा लगने लगा कि पुराना सतयुग ढह गया। बुद्धि अपने रंग-बिरंगें रूपों में सामने आयी। भावनामय युग की मान्यताएँ एक-एक करके अस्वीकृत होने लगीं। यही है वह काल जिसे हम वर्तमान कह सकते हैं और जिसमें हम जी रहे हैं।

बौद्धिक समाज की यह अवस्था बुद्धि की कृतियों एवं विकृतियों की अवस्था है। बौद्धिक कृतियों ने जितने अधिक चमत्कार किए, बौद्धिक विकृतियाँ उससे कम दारूण दुःख नहीं दे रही हैं। इन विकृतियों ने समूचे मानवीय समाज को संकट की स्थिति में डाल दिया है। डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार-'आज की सभ्यता ऐसी ही संकट की स्थिति से गुजर रही है। संसार अपने जीर्ण वस्त्र उतार कर फेंक रहा है। जो प्रमाण, लक्ष्य और संस्थाएँ पिछली पीढ़ी तक भी साधारणतया स्वीकृत थीं उन्हें अब चुनौती दी जा रही है और वे बदल रही हैं। पुराने हेतु दुर्बल पड़ रहे हैं और नई शक्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं। इस युग के मानस का द्रष्टा इसकी आकुलता-अनिश्चितता वर्तमान आर्थिक और सामाजिक दशाओं के प्रति इसके असंतोष और आद्यावधि असमाप्त नयी व्यवस्था की लालसा के प्रति स्पष्ट रूप से सचेत है। यही सब विचार विभ्रम और आदर्शों के लिए अस्थिर उत्साह यह प्रकट करता है कि मानवता एक नया कदम बढ़ाने वाली है।[3] आचार्य जी के अनुसार भी-'समय भी अपने विकास का अनिवार्य चरण है इसे आना ही था; किन्तु यह अंतिम नहीं है। यह तो केवल बीच की कड़ी भर है।'

---

१. आचार्य श्रीराम शर्मा-आ रहा है अध्यात्म प्रधान युग, अखंड ज्योति वर्ष ५२, अक १०, पृ २५

२. वही

३. एस. राधाकृष्णन्-कल्कि या सभ्यता का भविष्य, पृ. ५

विकास की अगली कड़ी क्या होगी? इस सवाल का जवाब देते हुए आचार्य जी के शब्द हैं-'बौद्धिक सभ्यता के बाद आध्यात्मिक सभ्यता। सभ्यता शब्द बिलकुल नवीन है। पिछले सतयुग में अथवा वर्तमान तक व्यक्ति आध्यात्मिक हुआ करते थे। सभ्यता आध्यात्मिक हुई हो, ऐसा कभी सुना नहीं गया और सुना नहीं जा सकता था। शारीरिक-प्राणिक युग में कोई अध्यात्म का नाम तक नहीं जानता था। भावनामय युग अथवा सतयुग में व्यक्ति आध्यात्मिक हुए। व्यक्ति को आध्यात्मिक बनाने के लिए तरह-तरह की प्रणालियाँ खोजी गयीं। जिनका अवलम्बन करके व्यक्ति आध्यात्मिक हो सकता था। पर पूरा समाज आध्यात्मिक हो यह अभी तक के मानव के लिए नयी बात है, पर है सत्य।

यह भावी अध्यात्म युग पिछले सतयुग से भिन्न होगा। इन्हीं मनुष्यों में से एक नवीन प्रजाति जन्म लेगी। एक ऐसी प्रजाति जो अभी से पूर्णतया भिन्न होगी। यह भिन्नता शक्ल सूरत की दृष्टि से नहीं अपितु आचार, व्यवहार, समाजिक संरचना की दृष्टि से होगी। फिर मनुष्य की बुद्धि, मन व शरीर का क्या होगा? इस प्रश्न के उत्तर में वह कहते हैं कि ऐसा नहीं होगा कि मनुष्य इन सबसे विहीन हो। पिछले युगों में भी ऐसा नहीं हुआ। मन का विकास होने पर शरीर लुप्त नहीं हुआ। वरन् उसे मन का अनुगामी बनना पड़ा। बुद्धि के विकास पर मानव शरीर व मन लुप्त नहीं हुए। पर उनकी क्रिया विधि में व्यापक फेरबदल हुई। मन व शरीर दोनों बुद्धि के सेवक हो गए। अब बारी बुद्धि के सेवक बनने की है। उसे आत्मा का सेवक बनना होगा। मन व शरीर भी इसी का अनुगमन करेंगे। दूसरे शब्दों में इसे यह भी कह सकते हैं कि समूची मानवी सत्ता आत्मा की अनुगामिनी बनेगी। यह स्थिति किसी अकले व्यक्ति की नहीं वरन् पूरे समाज की होगी।'[४] इस अवस्था का विकास ही आध्यात्मिक समाज का उदय है। परन्तु यह तभी संभव है जबकि वर्तमान बौद्धिक समाज की विकृतियों का निराकरण हो।

आध्यात्मिक समाज की संस्थापना के लिए अवतार चेतना का अवतरण

बौद्धिक युग की विकृतियाँ सामान्य नहीं हैं। समूचे वातावरण में जहर घुल रहा है। औद्योगिक कारखाने वायु को विषमय बना रहे हैं। इनके उत्पादकों के विषैले रसायनों के पानी में लगातार बहने से हर किसी को जहर के घूंट पीने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। रेडियोधर्मिता के कारण बढ़ते तापमान ने हिम भण्डार पिघलाने और समुद्रों में बाढ़ लाने की चुनौती दे दी है। पृथ्वी के ऊपर फटते सुरक्षा कवच व ग्रीन हाउस प्रभाव के कारण खतरा और बढ़ गया है कि अंतरिक्षीय मारक किरणें कहीं भून कर न रख दें। विज्ञान के कालिदास को अब समझ में आने लगा है कि अब तक उसने अपनी आश्रयदाता डाल पर ही कुल्हाड़े चलाए हैं।'[५] बौद्धिक समाज की विकृतियों के प्रभाव यहीं तक सीमित नहीं हैं। विकृत बुद्धि के कुप्रभाव ने मनुष्य से उसकी मनुष्यता ही छीन ली है। संवेदना शून्य मानव पशुओं से कहीं अधिक हिंस्र हो गया है। अलगाव-आतंक और अस्थिरता-मानवीय समाज के यही तीन पर्याय इन दिनों उपलब्ध हैं। पारिवारिकता और सम्बन्धों की आत्मीयता पर बौद्धिक विकृति ने इतने अधिक आघात किए हैं कि वह कब की धूलि धूसरित हो चुकी है।

आचार्यजी के अनुसार-'संकट की सामान्य परिस्थितियों से तो मनुष्य स्वयं ही निपट लेता है, पर जब असामान्य स्तर की संकटग्रस्त विपन्नताएँ उत्पन्न हो जाती हैं तो स्रष्टा को स्वयं ही सक्रिय होना पड़ता है। वैसे सर्वसामान्य के लिए उत्थान के साधन जुटाना कोई आसान कार्य नहीं है। फिर पतन के गर्त में द्रुतगति से गिरने वाले जनमानस को उलट देना तो और भी कठिन है। इस कठिन कार्य को स्रष्टा ने समय-समय पर स्वयं संपन्न किया है जिसे अवतार प्रक्रिया कहा गया है। आज की विषम वेला में इस अवतार प्रक्रिया को प्रस्तुत होते हुए कोई भी प्रज्ञावान् प्रत्यक्ष देख सकता है।'[६]

---

४. आचार्य श्रीराम शर्मा-आ रहा है अध्यात्म प्रधान युग, अखंड ज्योति वर्ष ५२, अंक १०, पृ. २६

५. आचार्य श्रीराम शर्मा-संकटों का हल ढूँढने की उपहासास्पद विडम्बना, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक ५, पृ. ७

६. आचार्य श्रीराम शर्मा-सृष्टि का गतिक्रम और अवतार प्रक्रिया, युग शक्ति गायत्री, वर्ष १६, अंक २, पृ. २

प्रज्ञावानों का प्रत्यक्षीकरण

विश्व के मूर्धन्य विचारक, मनीषी, ज्योतिर्विद, अतीन्द्रियद्रष्टा इन सभी ने आध्यात्मिक समाज की संस्थापना के लिए दिव्य सत्ता के अवतरण को सुनिश्चित माना है। उनके अनुसार ऐसे लोकोत्तर महापुरुष का आविर्भाव होना निश्चित है, जो अपनी तप साधना और आध्यात्मिक प्रयासों से वर्तमान बौद्धिक समाज को आध्यात्मिक समाज का स्वरूप प्रदान करेगा।

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था-'आज मैं केवल इस आशा पर जी रहा हूँ कि किसी उद्धारक महापुरुष का आविर्भाव हमारे बीच निश्चित ही होने जा रहा है और उनका जन्म इसी दुःख से पीड़ित और दैन्य से लज्जित भारत में होगा। मैं उनका संदेश सुनने को प्रतीक्षा में बैठा रहूँगा। आशा-आस्था और शक्ति का वह संदेश वे इस पूर्व क्षितिज से सबको सुनाएंगे।'[७]

दिव्य द्रष्टा स्वामी विवेकानंद के शब्द हैं-'उपयुक्त समय पर एक आश्चर्यजनक व्यक्ति आएगा और तब सभी चुहे साहसी बन जायेंगे।' जब कभी कोई महापुरुष आता है तो परिस्थितियाँ पहले से उसके पैरों के नीचे तैयार रहती हैं। वह ऊँट की पीठ को तोड़ देने वाले बोझ का अंतिम तृण होता है व तोप की एक चिन्गारी होता है। इस बातचीत में भी कुछ है हम उसके लिए भूमि तैयार कर रहे हैं।[८]

हीलिंग लाइफ के संपादक जान मेलार्ड के अनुसार-'आज संसार की समस्याएँ इतनी जटिल हो गयी हैं कि उन्हें मानवीय बुद्धि और बल पर सुलझाया नहीं जा सकता। विश्व शान्ति अब मनुष्य की ताकत के बाहर हो गयी है। तथापि हमें निराश होने की बात नहीं, क्योंकि ऐसे संकेत मिल रहे हैं कि भगवान धरती पर आ गया है और वह अपनी सहायक शक्तियों के साथ नवयुग स्थापना के प्रयत्नों में जुट गया है। उसकी बौद्धिक और आत्मिक क्षमता उसे अपने आप अवतार होने की बात स्पष्ट कर देगी। वह दुनिया का उद्धारक देर तक पर्दे में छिपा नहीं रह सकता।'[९] डब्ल्यू ई. ओरेचार्ड ने अपना मत ऐसे ही व्यक्त करते हुए लिखा है-'इजराइल के निवासी जिस प्रभु के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं वह धरती पर आ गए हैं और अब उनके दुःखों के साथ संसार के दुःखों का अंत होने वाला है। भगवान अपनी सृष्टि में अनर्गल, अन्याय, अत्याचार नहीं रहने देते, आज वह इस सीमा तक बढ़ गए हैं कि उन्हें व्यक्त होना ही पड़ेगा।'[१०]

हंगरी की सुप्रसद्धि महिला भविष्यवक्ता बोरिस्का कहती हैं कि 'भारत' देश में एक फरिश्ता आएगा जो हजारों छोटे-छोटे लोगों को इकट्ठा करके उनमें इतनी हिम्मत पैदा कर देगा कि वही नन्हें लोग तथाकथित भौतिकवादी लोगों से भिड़ जायेंगे और उनकी मान्यताओं को मिथ्या सिद्ध कर दिखा देंगे।'[११] विश्वविख्यात ज्योतिर्विद आनन्दाचार्य का कथन है-'धर्म मेरे देश में संगठित संस्था का रूप लेकर पनपेगा। जन्म तो उसका स्वतंत्रता के साथ ही हो जाएगा पर २४ वर्ष बाद १९७१ में वह एक शक्तिशाली संगठन के रूप में सारे भारतवर्ष में प्रकाश में आ जाएगी। एक ओर विश्व राजनीति में व्यापक हलचलें होती रहेंगी। वह संगठन जो धार्मिक उद्धार के रूप में प्रकट होगा, इस बीच विश्व कल्याण का एक नया नक्शा तैयार करेगा। इस संगठन का स्वामी, संचालक कोई गृहस्थ व्यक्ति होगा और अब तक के दुनिया के सबसे बड़े विचारक के रूप में ख्याति प्राप्त करेगा। वह व्यक्ति के सामाजिक उत्तरदायित्व से लेकर संसार के सब देश शान्तिपूर्वक कैसे रहें, उसकी एक व्यवस्थित आचार संहिता तैयार करेगा। उसके जीवन भर के संग्रहीत विचारों को यदि एक पुस्तक में लिखा जाय तो वह पुस्तक १०० पौण्ड वजन से अधिक होगी।'[१२]

---

७. रवीन्द्र नाथ ठाकुर-विश्व मानवता की ओर, पृ. २९८

८. स्वामी विवेकानंद-विवेकानंद साहित्य प्रथम खण्ड, पृ. २९६

९. देवदूत आया हम पहचान न सके, पृ.३६

१०. वही, पृ. १६

११ वही, पृ. २३

१२. वही, पृ. २९

अमेरिका की दिव्यदर्शी महिला जीन डिक्सन के शब्द हैं-'स्वर्ग से एक महान् ध्वनि गूंजेगी जो सभी मनुष्यों को एक भगवान् की छत्रछाया में संगठित करेगी।'[13] तथ्य को स्पष्ट करते हुए उनका कहना है-'एशिया के किसी देश संभवतः भारतवर्ष में एक नम्र ग्रामीण परिवार में एक महान् आत्मा ने जन्म ले लिया है जो एक महान् आध्यात्मिक क्रान्ति का सूत्रपात, संचालन और नियंत्रण करेगा। उसके पीछे क्रियाशील आत्माओं की शक्ति होगी जो संसार की वर्तमान विकृत परिस्थितियों को बदल डालेगी।'[14] अमेरिका के ही एक अन्य अतीन्द्रिय क्षमता संपन्न व्यक्ति श्री एण्डरसन की स्पष्टोक्ति है-'इस बीच भारतवर्ष में एक छोटे से देहात में जन्मे व्यक्ति का धार्मिक प्रभाव न केवल भारतवर्ष में; वरन् दूसरे देशों में भी बढ़ने लगेगा। वह व्यक्ति इतिहास का सर्वश्रेष्ठ मसीहा होगा। उसके पास अकेले उत्पादित इतनी संगठन शक्ति होगी जितनी विश्व की भी राष्ट्र की सरकार के पास नहीं होगी। यह संसार के तमाम संविधान के समानान्तर एक मानवीय संविधान का निर्माण करेगा, जिसमें संसार की एक भाषा, एक संघीय राज्य, एक सर्वोच्च न्यायपालिका, एक झण्डा की रूपरेखा होगी।'[15]

हालैण्ड के एक विशिष्ट साधक गेरार्ड क्राइसे ने गंभीर ध्यान की अवस्था में हुए अपने एक अनुभव का जिक्र करते हुए बताया-'मैं देख रहा हूँ कि पूर्व के एक अति प्राचीन देश (भारत) जहाँ साधु और सर्पों की पूजा होती है वहाँ के लोग मांस नहीं खाते, ईश्वर भक्त और श्रद्धालु होते हैं उनकी स्त्रियाँ पतिव्रता और कभी भी पतियों को तलाक न देने वाली होती हैं वहाँ के लोग सीधे सच्चे और ईमानदार होते हैं-इससे एक प्रकाश उठता आ रहा है। वहाँ किसी ऐसे महापुरुष का जन्म हुआ है जो सारे विश्व के कल्याण की योजनाएँ बनाएगा। इस बीच संसार में भारी उथल-पुथल होगी, भयंकर युद्ध होंगे। जिसमें कुछ देशों का तो अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। उस व्यक्ति के पीछे सैकड़ों लोग जिनमें स्त्रियाँ बहुत अधिक संख्या में होंगी चल रहे होंगे। वह सब लोग एक स्थान के न होकर सारे देश से इकट्ठे होंगे, और आग जलाकर (यज्ञ)इसमें कोई सुगंधित वस्तुएँ डालकर खुश होंगे। उसके धुएँ से वायुमण्डल शुद्ध होगा, तमाम संसार के लोग उधर देखेंगे और उसकी बातें मानेंगे।'[16]

इजरायल के एक यहूदी परिवार में जन्मे प्रो हरार जिन्होंने कठिन एवं गुह्य साधनाओं द्वारा दुर्लभ शक्ति अर्जित की। उन्होंने अपने एक अन्तर्दर्शन का जिक्र करते हुए 'नवयुग आएगा' संबंधी एक विचार गोष्ठी में कहा था-'मैं एक दिव्य पुरुष का दर्शन करता हूँ। किसी जलाशय के निकट बैठे हुए इस योगी के मस्तक में जहाँ दोनों भौहें मिलती हैं, मुझे अर्द्धचन्द्र के दर्शन होते हैं। उसके बाल श्वेत, शुभ्र वेषभूषा, वर्ण गौर तथा पैरों में चर्मविहीन पाहन या पादुकाएँ होती हैं। उसके आसपास अनेक संत सज्जनों की भीड़ दिखाई देती है। उनके मध्य में जलती हुई छोटी-बडी ज्वालाएँ देखता हूँ। यह लोग कुछ बोलते हुए अग्नि में कुछ छोड़ते हैं। उसके धुएँ से आकाश छा रहा है, सारी दुनिया के लोग उधर ही दौड़े चले जा रहे हैं। उनमें से कितने ही कष्ट पीड़ित, अपंग और अभावग्रस्त भी हैं। वह दिव्य देहधारी पुरुष उन सबको उपदेश दे रहे हैं उससे सबके मन में प्रसन्नता भर रही है, लोगों के कष्ट दूर हो रहे हैं। लोग आपस में राग-द्वेष भूलकर परस्पर मिल-जुल रहे हैं। स्वर्गीय सुख की वृष्टि हो रही है। धीरे-धीरे यह प्रकाश उत्तर की ओर बढ़ रहा है और किसी पर्वत के ऊपर दिव्य सूर्य की तरह चमकने लगता है वहाँ से प्रकाश की किरणें वर्षा के जल की भाँति उठतीं और सारे पृथ्वी मण्डल को आच्छादित कर लेती हैं।'[17]

इस दिव्य सत्ता के अवतरण एवं उसके स्वरूप

---

१३. जीन डिक्सन-माई लाइफ एण्ड प्रोफेसी, पृ. १६६
१४. देवदूत आया हम पहचान न सके, पृ ३६
१५. वही, पृ. ४३
१६. वही, पृ ४८
१७. युग निर्माण की सुनिश्चित संभावना, पृ. ४३, ४४

को लेकर उत्तराखण्ड के योगी, संत और महात्माओं की एक बैठक सन् १९३९ जुलाई में की गई थी। इसमें निष्कलंक अवतार के संबंध में चर्चा हुई कि भगवान कल्कि का अवतार हो चुका है, मुसीबत यह थी कि अनेक नामधारी संत और महन्त अपने आपको कल्कि घोषित कर देंगे ? वास्तविक कल्कि की पहचान कैसे होगी ? इस संबंध में कुछ विशेषण निश्चित किए गए और यह निष्कर्ष दिया गया कि इन विशेषणों से संयुक्त व्यक्ति ही कल्कि अवतार होगा। 'कल्कि अवतार' नामक एक छोटी सी पुस्तिका छपाकर उत्तराखण्ड के महात्माओं ने उसे सारे देश में वितरित किया। इस पुस्तिका के अनुसार-'वह एक सुदृढ़ संगठन का स्वामी होगा और परब्रह्म परमात्मा से लेकर व्यक्तियों के पारस्परिक संबंध तक के बारे में वह जो विवरण व आचार संहिताएँ निश्चित करेगा उसे तर्कवादी और शिक्षित व्यक्ति भी मानेंगे। वह समस्त वैज्ञानिकों का वैज्ञानिक होगा, पर उनकी अपनी देन धर्म और आत्मा के अंतरंग रहस्यों का उद्घाटन ही होगी।'

उन महापुरुष के मस्तक में दोनों भौहों के बीच (अंग्रेजी के V के आकार) का चन्द्रमा होगा। गले में दो रेखाओं युक्त अर्द्धचन्द्र का चिह्न होगा। वह विशुद्ध भारतीय वेशभूषा में होगा। उसका स्वास्थ्य बालकों जैसा, योद्धाओं जैसा साहसी, अश्विनीकुमारों की तरह चिरयुवा, वेदों और शास्त्रों का प्रकाण्ड पंडित होगा। उसका पिता ही उसे योग साधनाओं की ओर प्रेरित करेगा। २४ वर्ष की आयु में योग की उच्च भूमिका में प्रवेश करेगा, २४ अक्षर वाले मंत्र का जप करेगा, २४ वाँ अवतार होगा। २४ वर्ष तक तप करेगा, उसकी तपश्चर्या में २४ हजार, २४ लाख, २४ करोड़ जप आदि की खण्ड साधनाएँ सम्मिलित होंगी, २४००० यज्ञों का संपादन करेगा।[१८]

अतिमानस के द्रष्टा, महाकवि और अपने युग के अपूर्व दार्शनिक महायोगी महर्षि अरविन्द के शब्द हैं- 'जिसके पास कान हैं, वह सुन लें। दक्षिणेश्वर में जो काम शुरू हुआ था वह पूरा होने से अभी कोसों दूर है, वह समझा तक नहीं गया है। विवेकानंद ने जो कुछ प्राप्त किया और जिसे अभिवर्धित करने का प्रयत्न किया वह अभी तक मूर्त नहीं हुआ है।' विजय गोस्वामी ने भविष्य के जिस सत्य को अपने अंदर निगूढ़ रखा वह अभी तक उनके शिष्यों के सामने पूरी तरह प्रकट भी नहीं हुआ है और अब अधिक उन्मुक्त ईश्वरीय प्रकाश की तैयारी हो रही है अधिक ठोस शक्ति प्रकट होने को है।'[१९]

आचार्य जी का आविर्भाव और उनके प्रयास

ईश्वरीय प्रकाश की यह ठोस शक्ति, भारतवर्ष में उत्तरप्रदेश के आगरा जनपद के ग्राम आंवलखेड़ा में बीस सितम्बर १९११ को गुरुवार के दिन प्रातः ८ बजे श्रीराम शर्मा के रूप में प्रकट हुई। ग्रामीण अंचल में जन्मे आचार्य जी के जीवन में उपर्युक्त सभी भविष्यवाणियाँ चरितार्थ हुईं। विशुद्ध भारतीय वेशभूषा में रहने वाले आचार्य जी के शरीर का रंग गोरा तथा माथे पर अर्द्ध चन्द्राकार निशान स्पष्ट था। जो आज भी उनके छाया चित्रों में स्पष्ट देखा जा सकता है। उनके जीवन में २४ की संख्या का असाधारण महत्त्व रहा। उन्होंने २४ अक्षर वाले गायत्री मंत्र के २४-२४ लाख के २४ महापुरश्चरणों के रूप में अपनी २४ वर्षीय तप साधना पूर्ण की। यह उनके कृतित्व का प्रथम चरण था।

यही वह आधार था जिसके बलबूते उन्होंने आध्यात्मिक समाज की स्थापना का संकल्प लिया। बाद के जीवन के सारे क्रियाकलाप इसी संकल्प को क्रियान्वित करने के लिए प्रेरित होते रहे। तथ्य को स्पष्ट करते हुए उनके शब्द हैं-'धर्म प्रचार कहिए, अध्यात्म साधना कहिए, विवेकशीलों का संगठन कहिए, जन जागृति का बीजारोपण कहिए, नव निर्माण की पृष्ठभूमि कहिए, नाम जो कुछ भी दिया जाय हम जीवन भर एक ही काम करते रहे हैं कि नर पशु जैसा संकीर्ण और स्वार्थयुक्त जीवन जीने से आदमी लजाए और कुछ

१८. वही, पृ. ६२
१९. श्री अरविन्द-मानव चक्र, पृ. २९६

ऐसा करने की उमंग उत्पन्न करे, अनुदान देने की बात सोचे, जिससे अपने समाज का पिछड़ापन दूर होने में मदद मिले। आज का सबसे बड़ा धर्म, पुण्य यही है कि एक हजार वर्ष की गुलामी ने जिस संकीर्णताओं, स्वार्थपरताओं, क्षुद्रताओं, मूढ़ताओं, कुत्साओं और कुण्ठाओं ने आज का जीवन तमसाछन्न कर दिया है उन्हें उखाड़ने के लिए कुछ शौर्य, साहस प्रदर्शित करें और पिछड़ेपन को प्रगतिशीलता में बदलने के लिए यथासंभव त्याग और बलिदान की, सहयोग, पुरुषार्थ की बात सोचें।

हमारी उपासना, साधना, तपश्चर्या से लेकर सहित्य सृजन और प्रचार संगठन से लेकर विविध विधि रचनात्मक कार्यों तक इसी प्रयोजन के लिए होते चले आ रहे हैं कि मनुष्य में मनुष्यता की और समाज में देवत्व की मात्रा जो अति न्यून मात्रा में शेष रह गयी है उसका अधिकाधिक संवर्धन कर सकने के लिए हर संभव पुरुषार्थ किया जाय। जबसे होश सँभाला तब से सावधानी बरती कि समय का एक क्षण और शक्ति का एक कण किसी अन्य प्रयोजन के लिए खर्च न हो जाय। न दूसरी बात सोची, न दूसरी क्रिया न करे। काम करने व सोचने के ढग में परिस्थिति के अनुसार हेर फेर भले ही होता रहा हो प्रयोजन और लक्ष्य रती भर भी व्यतिरेक नहीं हुआ।"[20]

तप शक्ति से उद्भूत युग निर्माण आन्दोलन

आचार्य जी के समस्त क्रियाकलापों की प्रेरणास्रोत दुर्गम हिमालय में स्थित उनकी मार्गदर्शक गुरु सत्ता रही है। उन्हीं के प्रेरणा से उन्होंने अपनी तप शक्ति से युग निर्माण आन्दोलन को जन्म दिया। इसकी विधिवत् शुरुआत सन् १९५८ में हुए सहस्र कुण्डीय यज्ञायोजन के समय हुई। यो 'अखण्ड ज्योति' मासिक के प्रथम अंक के प्रकाशन से ही संगठन का उदय हो गया था। उस समय आचार्यजी ने अखण्ड ज्योति के पाठकों को अपने स्नेह एवं तप का अनुदान देकर अखण्ड ज्यो[ति] परिवार का स्वरूप दे डाला था। लेकिन इस परिवार के सदस्य बौद्धिक समाज की विषमताओं, विकृतियों [से] लड़ने वाले जुझारू सैनिक बन सकें यह अर्थ इ[स] सहस्रकुण्डीय महायज्ञ से ही शुरू हुआ। 'इस विरा[ट] आयोजन द्वारा एक लाख गायत्री उपासकों की श्रद्ध[ा] शक्ति का केन्द्रीकरण कर पूज्य गुरुदेव (आचार्यजी) [ने] इस विशाल संगठन को उस महायात्रा पर ला खड़ा क[र] दिया जिसे अगले दिनों करोड़ों व्यक्तियों को अपन[ी] चपेट में लेना था।"[21]

युग निर्माण आन्दोलन केवल बौद्धिक, सामाजि[क] आन्दोलन नहीं है। इसका केन्द्रीय तत्त्व आध्यात्मि[क] है। इसे आचार्य जी के अध्यात्म जगत के सूक्ष्म पुरुषा[र्थ] का स्थूल प्रतिफल समझा जा सकता है। पिछले दिन[ों] बौद्धिक, सामाजिक आन्दोलन कम नहीं हुए, लेकिन उनमें से प्रायः सभी को असफलता के गर्त में गिरन[ा] पड़ा; क्योंकि वे तपश्चर्या की ऊर्जा से उत्पन्न न होकर विशुद्ध मानसिक बौद्धिक उपज थे। श्री अरविन्द ने इस तत्त्व का बहुत ही सुन्दर शब्दों में विवेचन किया है-

'हममें कुछ ऐसी कमजोरियाँ हैं जो अब तक चली आ रही हैं और दूर नहीं की गयीं। यह हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य है कि हम निर्दय शल्य क्रिया से उन्हें अपने हृदयों से निकाल फेकें। यदि बौद्धिक तैयारी की कमी है तो आत्मिक तैयारी अभी है पूर्णता से कोसों दूर। नेताओं और अनुयायियों दोनों को आवश्यकता है गंभीरतर साधना की। हमारे आन्दोलन के दिव्य गुरु और दिव्य सेनापति से भगवान से अधिक साक्षात् संबंध की, आंतरिक उत्थान की, विचार और कर्म के मूल में एक बृहत्तर तथा उच्चतर शक्ति की। एक के बाद एक अनुभव से हममें यह बात घर कर गयी है कि अपरिपक्व, नैतिकताविहीन, यूरोपीय उत्साह के बल पर हम विजयी नहीं हो सकेंगे। भारतीयो! भारत की आध्यात्मिकता, भारत की साधना, तपस्या ज्ञान और शक्ति ही हमें स्वतंत्र और महान बनाएगी। परन्तु पूर्व के ये महान् भाव अंग्रेजी

२०. आचार्य श्रीराम शर्मा-अपना परिवार और उसका भावी संगठन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३९, अंक ८, पृ. ५५-५६

२१. डॉ प्रणव पण्ड्या-विशाल संगठन की सुनियोजित शुरुआत, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक ८-९, पृ. १४९

के घटिया पर्यायों Discipline, Philosophy, Strength से ठीक-ठीक व्यक्त नहीं होते। 'तपस्या' Discipline से अधिक कुछ और भी है, यह है उत्पत्ति, स्थिति प्रलयकारिणी शक्ति को आध्यात्मिक साधनों से अपनी दैहिक सत्ता में चरितार्थ करना। 'ज्ञान' Philosophy से कहीं उदात्त है। यह अंतःस्फुरित और साक्षात् ज्ञान है जो उस शक्ति से उदित होता है जिसे हमारे पूर्व पुरुषों ने दृष्टि अर्थात् अध्यात्म दृष्टि शब्द से पुकारा है। शक्ति Strength से कहीं बड़ी है, जो विश्व व्यापी (समष्टि) शक्ति ग्रह-नक्षत्रों को घुमाती है। निश्चित रूपेण पूर्व ही भारत के अभ्युदय में विजय लाभ करेगा। योगी को ही राजनीतिक नेता के पीछे खड़े होना होगा और उसके अंदर व्यक्त होना होगा, रामदास को शिवाजी के साथ एक शरीर में जन्म लेना होगा, मेजिनी को कावुर के साथ मिल जाना होगा। बुद्धि का आत्मा से, शक्ति का पवित्रता से विच्छेद यूरोपीय क्रान्ति में सहायक हो सकता है; किन्तु यूरोपीय शक्ति से हम विजयी नहीं हो सकते। गत शताब्दी के आन्दोलन इसीलिए असफल रहें; क्योंकि वे विशुद्धतया बौद्धिक थे।[२२]

आचार्य जी ने अपने युग निर्माण आन्दोलन में उपरोक्त दोषों को नहीं आने दिया। उन्होंने इसकी आधारभूमि तपस्या को बनाया है। उनका अंतःस्फुरित और समाधि में साक्षात् किये हुए ज्ञान ने ही विचार क्रान्ति का रूप लिया है। और इसका शक्ति स्रोत दुर्गम हिमालय में तपस्यारत महान् योगियों की ऊर्जा है जो अपनी गहन साधनाओं से विश्वव्यापी समष्टि शक्ति को आकर्षित कर युग निर्माण आन्दोलन को सम्प्रेषित करते हैं। इस शक्ति को ग्रहण-धारण करने के लिए ही आचार्य जी समय-समय हिमालय जाते रहे हैं। इस तथ्य को व्यक्त करते हुए उनके शब्द हैं-

'हम एक अति प्रचण्ड तपश्चर्या के लिए अविज्ञात दिशा में प्रयाण करने वाले हैं। उसका एक उद्देश्य एक ऐसे लोकसेवी वर्ग का उद्भव करना है जो अपने चरित्र, व्यक्तित्व, आदर्श, प्रभाव से ऐसे लोक नेतृत्व की अभाव पूर्ति कर सके। इन दिनों महापुरुषों की एक बड़ी शृंखला अवतरित होनी चाहिए जो युग परिवर्तन की महान् संभावना को साकार कर सके। गंगा का अवतरण कठिन न था, कठिनाई भगीरथ के उत्पन्न होने में थी। मनुष्य महान् है। यदि उसमें महानता की अभीष्ट मात्रा प्रकट हो सके तो वह सच्चे अर्थों में भगवान का पुत्र और प्रतिनिधि सिद्ध हो सकता है। अगले दिनों ऐसे भगीरथों की आवश्यकता पड़ेगी जो संसार का कायाकल्प करने और शान्ति की सुरसरि का अवतरण संभव बना सकने में समर्थ तथा सफल हो सकें।'

हमारी आगामी तपश्चर्या का प्रयोजन संसार के हर देश में, जन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भागीरथों का सृजन करना है। उनके लिए अभीष्ट शक्ति, सामर्थ्य का साधन जुटाना है। रसद और हथियारों के बिना सेना नहीं लड़ सकती। नव निर्माण के लिए उदीयमान नेतृत्व के लिए पर्दे के पीछे रहकर हम आवश्यक शक्ति तथा परिस्थितियाँ उत्पन्न करेंगे। अपनी भावी प्रचण्ड तपश्चर्या द्वारा यह संभव हो सकेगा और कुछ ही दिनों में हर क्षेत्र में हर दिशा में सुयोग्य लोकसेवक अपना कार्य आश्चर्यजनक कुशलता तथा सफलता के साथ करते दिखाई देंगे। श्रेय उन्हीं को मिलेगा और मिलना चाहिए। युग निर्माण आन्दोलन संस्था नहीं दिशा है, सो अनेक काम लेकर इस प्रयोजन के लिए अनेक संगठनों तथा प्रक्रियाओं का उदय होगा।[२३]

इन अर्थों में आचार्यजी का युग निर्माण आन्दोलन विगत सभी आन्दोलनों की तुलना में सर्वथा भिन्न तथा तप-ज्ञान और शक्ति के वास्तविक अर्थों में युक्त होने के कारण उनके दर्शन की भाँति ही सर्वांगीण है।

युग निर्माण आन्दोलन की प्रक्रिया

युग निर्माण आन्दोलन के अंतर्गत आचार्य जी ने जो प्रक्रिया संपन्न की उसे उन्होंने मार्च १९६९ में स्पष्ट करते हुए कहा था-'इस थोड़ी अवधि में हमारे पाँच प्रमुख कार्य हुए हैं।'[२४] १.भारतीय धर्म के आर्ष साहित्य

२२. श्री अरविन्द-मानव चक्र, पृ ३४८-४९
२३. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारे शेष जीवन का कार्यक्रम एवं प्रयोजन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक १२, पृ ६१
२४. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारे पाँच पिछले और पाँच अगले कदम, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ३, पृ. ५८

का आदि से अन्त तक सरलीकरण एवं संसार भर में प्रसार। २. गायत्री महाविद्या का अन्वेषण उसका विश्वव्यापी विस्तार, ५० लाख व्यक्तियों को नैष्ठिक उपासना की शिक्षा दीक्षा, चार हजार शाखाओं वाले गायत्री परिवार संगठन का सृजन, गायत्री तपोभूमि जैसी अनुपम संस्था का निर्माण। ३. गायत्री यज्ञों के माध्यम से धर्म भावनाओं का व्यापक उभार, देश भर में हजारों विशालकाय सम्मेलन। ४. युग निर्माण योजना का जनमानस परिवर्तन एवं विचार क्रान्ति का विश्वव्यापी अभियान। ५. सतत तप साधना द्वारा उपार्जित शक्ति का सत्पात्रों की भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति के लिए अनुदान की व्यवस्था।'

मार्च १९६९ से नवम्बर १९९५ तक इन सभी कार्यक्रमों का विस्तार कई गुना हो चुका है। गायत्री उपासना करने वालों की संख्या लाखों से बढ़कर करोड़ों में पहुँच चुकी है। तपोभूमि की तरह शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, शोध संस्थान सहित विश्व भर में करीब ५० हजार शक्तिपीठ स्थापित हो चुकी है। यज्ञायोजनों की संख्या छोटे-बड़े स्तर को लेकर २४ लाख से भी अधिक हो चुकी है। विचार क्रान्ति अपना विश्वव्यापी विस्तार करने में जुटा है।

इस विचार क्रान्ति के क्रिया पक्ष को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया था-'अग्नि को सप्त जिह्वा वाली बताया है। प्राणयोग में गायत्री महामंत्र के साथ सात व्याहृतियों का समावेश होता है। विचार क्रान्ति भी सात धाराओं में बहने वाली है। अगले दिनों हम सात आन्दोलन आरम्भ करेंगे- १.आदर्श विवाह, २. कुरीति निवारण, ३.शिक्षा अभिवर्धन, ४. स्वास्थ्य संरक्षण ५. जीवदया ६. सहकारिता और ७. प्रेरक मनोरंजन।'[२५]

युग निर्माण आन्दोलन की उत्कृष्टता

अपने समन्वित स्वरूप की समग्रता के कारण 'इस युग के महानतम अभियान के रूप में युग निर्माण आन्दोलन' की ही गणना होगी। समय की आवश्यकता, युग की पुकार और ईश्वरीय इच्छा का सम्मिश्रण इस भविष्यवाणी को सत्य सिद्ध करके रहेगा कि निकट भविष्य में ही सड़ी गली और अवांछनीय मान्यताएँ एवं गतिविधियाँ अपना अस्तित्व खो बैठेंगी और विवेक, न्याय और औचित्य के आधार पर नए सिरे से जनसमान की मनोवृत्तियों, चिंतन की दिशाओं, कार्यपद्धतियों एवं आचार संहिताओं का निर्धारण होगा। अब सारी दुनिया वैज्ञानिक विकास के कारण दिन-दिन अधिक छोटी होती जा रही है। सुदूरवर्ती प्रदेश गली-मुहल्ले की तरह एक दूसरे के समीप होते चले जा रहे हैं। एक स्थान की घटनाओं का प्रभाव व्यापक क्षेत्र पर पड़ता है और वसुधैव कुटुम्बकम् का आदर्श अब जाने-अनजाने, चाहने या न चाहने पर भी एक प्रत्यक्ष तथ्य बनता चला जा रहा है। एक विश्व, एक राष्ट्र, एक जाति, एक संस्कृति, एक आचार और एक विचार की आवश्यकता लोग तेजी से अनुभव कर रहे हैं और पूरी संभावना इस बात की है कि इसी आधार पर नए संसार का-नए समाज का और नए व्यक्ति का बनने, बदलने के अतिरिक्त जीवित रहने का और कोई उपाय नहीं है।'[२६] युग निर्माण आन्दोलन बदलते जमाने के अनुरूप व्यक्ति और समाज बनने और सँवरने की तीव्र प्रक्रिया होने के कारण अपनी स्वाभाविक उत्कृष्टता सिद्ध करता है।

अपने समय की अवतार प्रक्रिया का मूर्त रूप -युग निर्माण आन्दोलन

युग निर्माण आन्दोलन-केवल आन्दोलन की समग्रता की दृष्टि से ही उत्कृष्ट नहीं; बल्कि अपने समय की अवतार चेतना के क्रियाकलापों का मूर्त रूप है। आचार्य जो युग निर्माण आन्दोलन के संचालक एवं नियंत्रक होते हुए भी कभी उन्होंने स्वयं को एक लोकसेवी से अधिक नहीं माना; क्योंकि उनके अनुसार- ''लोगों की दृष्टि में व्यक्ति पूजा पर्याप्त है-मिशन के झंझट में पड़ने की जरूरत नहीं। अपनी दृष्टि में शरीर पूजा बुतपरस्ती मात्र है, देवपूजा तो श्रद्धास्पद प्राणप्रवाह के

---

२५. आचार्य श्रीराम शर्मा-अब दूसरा कदम भी आगे बढ़ चले, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अक १०, पृ. ६०

२६. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारी श्रद्धा अब सक्रियता के रूप मे बदले, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३१, अंक ९, पृ. ५६-५७

साथ वहने में है।''[२७] यह प्राण प्रवाह-अवतारी सत्ता का शक्ति प्रवाह स्पष्टतया युग निर्माण के क्रियाकलापों में प्रवाहित हुआ। इसी वजह से युग निर्माण आन्दोलन को अवतार प्रक्रिया की संज्ञा दी। उनके शब्दों में ही कहें तो 'सद्भावनाओं का चक्रवर्ती सार्वभौम साम्राज्य जिस युग अवतारी निष्कलंक भगवान द्वारा होने वाला है वह और कोई नहीं विशुद्ध रूप में अपना युग निर्माण आन्दोलन ही है।''[२८]

इसकी गरिमा को स्पष्ट करते हुए उनका कथन है-' अपना नवयुग निर्माण आन्दोलन किसी व्यक्ति विशेष की एक सनक या ऐसी ही कुछ हलचल पैदा करने वाला शोरगुल नहीं है। इसके पीछे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य एवं प्रचण्ड शक्ति प्रवाह सन्निहित है। और परिस्थितियों के ऐसे जटिल तकाजे जुड़े हुए हैं कि उसी दिशा में चलने के लिए विवश होना पड़ेगा, जिसकी ओर अपने प्रयत्न चढ़ रहे हैं। युग परिवर्तन और नव निर्माण की बात बहुत लोग करते हैं, पर उनके सामने कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं है। यदि है तो इतनी सदिग्ध और धूमिल है कि वर्तमान जनमानस शायद ही उसे स्वीकार कर हृदयंगम करे। समय बताएगा कि इस शताब्दी का सबसे महत्त्वपूर्ण और सही दिशा देने वाला अभियान कौन सा था। उस मूल्यांकन में युग निर्माण आन्दोलन अपनी विशेषता और दूरदर्शिता से नि:संदेह बहुत सही और खरा सिद्ध होगा।''[२९] आचार्य जी के न रहने के दस वर्ष बाद भी युग निर्माण आन्दोलन की गति जिस कदर तीव्र हुई अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य का स्वरूप जिस तीव्रता से बदल रहा है उसको देखते हुए उनके कथन में संदेह व्यक्त करने का औचित्य नजर नहीं आता। तटस्थ विचारक के रूप में न केवल इसकी सर्वांगीणता माननी पड़ती है; बल्कि अतीन्द्रिय क्षमता संपन्न दिव्यदर्शी महामानवों के कथनों को आधार मानकर आचार्य जी द्वारा प्रवर्तित युग निर्माण आन्दोलन को अवतारी सत्ता के क्रियाकलापों का मूर्त रूप स्वीकार करना ही समीचीन होगा।

आचार्य जी के प्रयासों की फलश्रुति बौद्धिक युग की विकृतियों का समाधान

युग निर्माण आन्दोलन का लक्ष्य एक-दो व्यक्तियों, किसी धर्म विशेष अथवा वर्ग विशेष में परिवर्तन लाना नहीं है। प्रश्न समूचे मानवी समाज को आध्यात्मिक समाज में बदलने का है। एक दो व्यक्तियों का प्रश्न हो तो उसे प्रलोभन, दबाव, परामर्श अथवा कूटनीति के सहारे बदला और अभीष्ट दिशा में चलाया जा सकता है, पर जहाँ ५०० करोड़ व्यक्तियों के भाग्य का निर्धारण करना हो, अनेक भाषा-भाषी, अनेक वातावरणों में पले, अनेक परिस्थितियों से घिरे और अनेक संस्कारों से बँधे अनेक परम्पराओं के अभ्यस्त लोगों का सवाल हो, वहाँ उनको मान्यताओं में उच्च स्तरीय संस्कारों का आरोपण, आदर्शों का अवलम्बन करने हेतु तत्पर करना कितना कठिन हो सकता है इसका अनुमान कठिन नहीं है। ऐसे महान प्रयोजन के लिए मानवी नहीं, दैवी शक्ति चाहिए। मानवी शक्ति के दबाव में मनुष्य हाँ में हाँ भर मिला सकता है पर अन्तरात्मा के बदल जाने की बात असाधारण है। इसे सच्चे अर्थों में युग परिवर्तन की आधारभूत शिला कह सकते हैं।''[३०]

इसी को संपन्न करने के लिए आचार्य जी ने अध्यात्म विद्या का गहनतम प्रयोग सूक्ष्मीकरण साधना के रूप में किया था। इसके अंतर्गत पाँच वीरभद्रों के उत्पादन के साथ विश्व राष्ट्र की कुण्डलिनी जागरण प्रक्रिया शामिल थी। वीरभद्रों के स्वरूप व कार्य का विवरण पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। विश्व राष्ट्र की कुण्डलिनी जागरण का महाप्रयोग जो पुरातन काल में विश्वमित्र द्वारा संपन्न हुआ था,''[३१] इसे वर्तमान समय में संपन्न करने के पीछे आचार्य जी का उद्देश्य मानव की बौद्धिक विकृतियों से उत्पन्न हुए बाह्य प्रकृति एवं अंत:प्रकृति में हुए असंतुलन को समाप्त करना था। साथ

२७. आचार्य श्रीराम शर्मा-अपनी श्रद्धा को उर्वर एवं सार्थक बनने दें, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ८, पृ. ४०
२८. आचार्य श्रीराम शर्मा-अगला वर्ष इस तरह मनाया जाय, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३१, अंक ५, पृ ६१
२९. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारी श्रद्धा अब सक्रियता के रूप में बदले, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३१, अंक ९, पृ. ५७
३०. आचार्य श्रीराम शर्मा-नवसृजन के निमित साधना पराक्रम, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५०, अंक १, पृ ५६
३१. आचार्य श्रीराम शर्मा-राष्ट्र कुण्डलिनी की परिवर्तन प्रक्रिया, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५०, अंक १, पृ. ६०

ही उन संभावनाओं को साकार करना था जिनके द्वारा मनुष्य देवता बन सके और धरती स्वर्ग।

सन् १९८४-८५ एवं ८६ इन तीन वर्षों में संपन्न की गई इस अलौकिक साधना की फलश्रुति बताते हुए वह कहते हैं-'महाप्रज्ञा की जो इन तीन वर्षों में कुण्डलिनी जाग्रत हुई है उसकी ऊर्जा का उदयन प्रथम इस देश से होगा। पीछे क्रमशः वह समस्त विश्व में फैलता जाएगा। उसके प्रभाव से होता हुआ परिवर्तन विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होगा। यह संभावना नहीं, सुनिश्चितता है।'[३२]

विश्व राष्ट्र की कुण्डलिनी जाग्रत् होने का प्रभाव इस रूप में देखा जा सकेगा कि उससे जड़ पदार्थ, जीवधारी, मनुष्य एवं परिस्थितियों के प्रवाह प्रभावित होंगे। मृतिका की उर्वरता बढ़ेगी,खनिजों के भण्डार तथा उत्खनन का अनुपात बढ़ जाएगा। धातुएँ मनुष्य की आवश्यकताओं से अधिक उत्पन्न होंगी। खनिज तेलों की कमी न पड़ेगी। रसायनें प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होंगी। वृक्ष, वनस्पति उगाने के लिए मनुष्य को अधिक प्रयास नहीं करना पड़ेगा। वे प्रकृति की हलचलों से ही उपजते और बढ़ते रहेंगे। जलाशयों की कमी न पड़ेगी। वनौषधियाँ फिर प्राचीनकाल की तरह इतनी गुणकारक होंगी कि चिकित्सा के लिए बहुमूल्य उपचार न ढूँढ़ने पड़ेंगे। उपयोगी प्राणी बढ़ेंगे और दीर्घकाल तक जीवित रहेंगे। हानिकारकों की वंश वृद्धि रुक जाएगी और वे जहाँ के तहाँ ही अपना अस्तित्व बचाते हुए दीख पड़ेंगे। जलवायु में पोषक तत्त्व बढ़ेंगे और वे प्रदूषण को परास्त कर देंगे। मलीनता घटेगी और शुद्धता अनायास ही बढ़ेगी। प्रकृति प्रकोपों के समाचार यदा-कदा ही सुनने को मिलेंगे। बाढ़, सूखा, अकाल, महामारी, भूकम्प, ज्वालामुखी, विस्फोट, ओलावृष्टि, टिड्डी इत्यादि हानिकारक उपद्रव प्रकृति के अनुकूलन से सहज ही समाप्त होते चले जायेंगे।'[३३]

मानवीय प्रयत्न का रूपान्तरण

मनुष्य की आकृति तो वैसी ही रहेगी जैसी अब है, पर अगली शताब्दी में उसकी प्रकृति असाधारण रूप से बदल जाएगी।[३४] नर पशु, नर कीटक, नर पिशाच स्तर के जीवनयापन करने वालों में से ही बड़ी संख्या में ऐसे इन्हीं दिनों निकल पड़ेंगे जिन्हें नर रत्न कहा जा सके। इन्हीं को दूसरा नाम दिव्य प्रतिभा संपन्न भी दिया जा सकता है। इनका चिंतन-चरित्र-व्यवहार ऐसा होगा जिसका प्रभाव असंख्यों को प्रभावित करेगा। इसका शुभारम्भ शान्तिकुंज से हुआ है।[३५] मानवीय प्रकृति कुछ इस ढंग से रूपान्तरित हो जाएगी कि दुर्व्यसन हर किसी को अरुचिकर लगेंगे और न उनमें जनसाधारण की प्रीति रहेगी न प्रतीति। चोरी, ठगी, निष्ठुरता, क्रूरता, पाखण्ड, प्रपंच अपने लिए न अनुकूलता देख पाएंगे न अवसर प्राप्त करेंगे। अधिकांश के जब गुण-कर्म स्वभाव में सज्जनता भरी होगी तो दुष्ट-दुर्जनों की करतूतें न तो बन पड़ेंगी, न सफल होंगी। लोग आत्म विश्वासी, स्वावलम्बी और पुरुषार्थ परायण होंगे तो दरिद्रता, अभावग्रस्तता के लिए कोई कारण शेष न रहेगा। मनुष्य की श्रमशीलता और बुद्धिमत्ता यदि काम करे, तो उचित आवश्यकताओं की पूर्ति में कमी क्यों पड़ेगी। उदारता जीवन्त हो तो दुःखों को बँटा लेने और सुखों को बाँट देने की परम्परा ही चल पड़ेगी। तब न किसी को क्रोध का आवेश जकड़ेगा, न प्रतिशोध के लिए हाथ उठेगा। न छोटी लड़ाइयाँ होंगी न महायुद्ध रचे जायेंगे। अगले दिनों ऐसा ही वातावरण बनेगा। इसे बनाने की अदृश्य भूमिका उस साधना द्वारा संपन्न होने जा रही है जिसे विश्व कुण्डलिनी जागरण नाम दिया गया है और जिसे विगत तीन वर्षों में कठिन तपश्चर्या के माध्यम से पूरा किया गया है।[३६]

---

३२. आचार्य श्रीराम शर्मा-राष्ट्र कुण्डलिनी की परिवर्तन प्रक्रिया, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५०, अंक १, पृ. ६०
३३. वही, पृ. ६१
३४. वही, पृ. ६१
३५. आचार्य श्रीराम शर्मा-नवसृजन के निमित्त महाकाल की तैयारी, पृ. २६
३६. आचार्य श्रीराम शर्मा-राष्ट्र कुण्डलिनी की परिवर्तन प्रक्रिया, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५०, अंक १, पृ. ६१-६२

अवतार चेतना की सहायक दिव्य आत्माओं का अवतरण

आध्यात्मिक समाज की प्रतिष्ठापना के लिए संकल्पित व सतत क्रियाशील अवतार चेतना के कार्य और अधिक तीव्रतर तीव्रतम बनाने के लिए इन्हीं दिनों अनेकों दिव्य आत्माओं का अवतरण संपन्न हुआ है और और हो रहा है। श्री अरविन्द और माताजी के कथनों के अनुसार रूपान्तर प्रक्रिया को संसिद्ध करने में मानव जाति को लगभग ३०० वर्ष लग सकते हैं। यह ठीक है कि १९५६ से अतिमन पृथ्वी के वातावरण में उतर आया है और क्रिया कर रहा है और इससे मानव प्रगति में तीव्रता आयी है; किन्तु जिस शिखर पर आरोहण करना है वहाँ तक पहुँचने में तीन सौ वर्ष कुछ भी नहीं है। यह अवधि कम तब हो सकती है यदि पृथ्वी पर वशिष्ठ, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, उद्दालक, अगस्त्य, व्यास, वाल्मीकि जैसे उच्च कोटि के ऋषि और इन्द्रादि देवता सैकड़ों-सहस्रों की संख्या में जन्म लेकर इस रूपान्तर के कार्य में सहयोग दें। श्री अरविन्द ने अपने एक पत्र में लिखा है कि कुछ महान आत्माएँ इस कार्य में सहयोग देने के लिए पृथ्वी में आ गई हैं।[३७]

आचार्य जी के आविर्भाव व उनके युग निर्माण आन्दोलन ने इस गति को और अधिक तीव्र किया है। उनके अनुसार भारत को स्वतंत्र कराने के लिए तीस विशिष्ट आत्माओं का अवतरण हुआ था। और अब आध्यात्मिक समाज की स्थापना के लिए तीन सौ से भी अधिक दिव्य आत्माएँ अवतरित हो रही हैं। इनमें से कुछ ने शरीर धारण कर लिया है और कुछ धारण करने वाली हैं। तथ्य को स्पष्ट करते हुए उनके शब्द हैं-'युग परिवर्तन ऐसा ही अवसर है इसमें अनादिकाल से लेकर अब तक प्रायः सभी प्रबुद्ध आत्माएँ मनुष्य शरीरों में विराजमान हैं। विश्वामित्र, अत्रि, कपिल, कण्व, व्यास, वशिष्ठ, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, गौतम, नारद, लोमश, महावीर, बुद्ध, शंकराचार्य, कुमारिल आदि ऋषि; विवेकानंद, रामतीर्थ, तुकाराम, एकनाथ-ज्ञानेश्वर, कबीर-नानक, रैदास, रामकृष्ण परमहंस, सूर, तुलसी आदि भक्त; अर्जुन, द्रोण, भीष्म, कर्ण, आदि योद्धा; चाणक्य, शुक्राचार्य, आदि नीतिज्ञ; हरिश्चंद्र, शिवि, दधीचि, मोरध्वज, भामाशाह जैसे उदार-परोपकारी; अनुसूया, मदालसा, कुन्ती, द्रोपदी, सुभद्रा, सत्यवती, मैत्रेयी, गार्गी, भारती, दुर्गावती, लक्ष्मीबाई, आम्रपाली, अहिल्याबाई, सारन्धा जैसी देवियाँ; अभिमन्यु, ध्रुव, प्रह्लाद, फतेहसिंह, जोरावर जैसे वीर बालक इन दिनों मौजूद हैं। वे साधारण जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अभी वे साधारण स्थिति में है, पर अगले दिनों उनको असाधारण बनते देर न लगेगी। लोग आश्चर्य करेंगे कि कल का साधारण समझा जाने वाला व्यक्ति आज इतना असाधारण-इतना महान कैसे बन गया। यह सब महाकाल का युग निर्माण प्रत्यावर्तन-महारास का दिग्दर्शन जैसी ही अद्भुत घटना होगी।'[३८]

आध्यात्मिक समाज के उदय और विकास के लिए विश्व के सभी धर्मों के देवदूतों का आगमन हो रहा है। समय-समय पर जिनने विश्व की राजनैतिक, नैतिक, बौद्धिक, आर्थिक परिस्थितियों को सुधारने के लिए अपने ढंग से मानव जाति की महत्त्वपूर्ण सेवा की है, ऐसी अनुभवी, प्रशिक्षित और परखी हुई आत्माएँ अवतरित हो रही हैं। जो जन्म ले चुकीं वह समय पर अपना आवरण हटाकर प्रकट होंगी। जिनका जन्म नहीं हुआ वे घर ढूँढ रही हैं और अवसर मिलने पर वे जन्म धारण कर लेंगी। इस दृष्टि से कुछ ही समय में भारत महापुरुषों की एक रत्न राशि के रूप में अपना अस्तित्व प्रकट करेगा।[३९]

नवयुग के अवतरण का भागवत मुहूर्त्त

महाकाल और उसके लीला सहचरों की सक्रियता के वर्तमान पल साधारण नहीं है। मानव इतिहास के वर्तमान मोड़ पर दैवी आदेश से आध्यात्मिक जगत के महानतम ऋषिगण धर्म चक्र प्रवर्तन में संलग्न हैं।[४०] इतना बृहत महान् कार्य इतिहास के सम्मुख कभी उपस्थित

३७. केशव देव आचार्य-दिव्य जीवन हिन्दी अनुवाद के द्वितीय भाग के द्वितीय खण्ड की भूमिका, पृ. ३३
३८. आचार्य श्रीराम शर्मा-महाकाल और युग प्रत्यावर्तन प्रक्रिया, चतुर्थ संस्करण, १९७८, पृ. ७६
३९. वही, पृ ७६-७७
४० रामनंदन-नवयुग सदेश, पृ.१

नहीं हुआ है।"[41] आचार्य जी के अनुसार-'हम सबके जीवन के इन क्षणों में आज और कल ने कुछ और अधिक व्यापक हो वर्तमान और भविष्य का बाना पहन लिया है। मिलन वेला दशक और शती की न होकर दो सहस्राब्दियों की है। यही क्यों दो महायुग मिलने वाले हैं। ऐसे में मिलन मुहूर्त का गौरव असंख्य गुना बढ़ जाना स्वाभाविक है और सचमुच समय परिवर्तन का महापर्व बन चुका है। दृश्य जगत् के स्पन्दन, किसी अदृश्य महाशक्ति के संकेतों के अनुसार तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम होते चले जा रहे हैं।'[42]

श्री अरविन्द ने इस अलौकिक समय को भागवत मुहूर्त की संज्ञा दी है। उन्होंने कहा है कि-'ऐसी घड़ियाँ आती हैं जब देव मनुष्यों के बीच विचरण करते हैं और हमारे जीवन सलिल पर भगवान् का श्वांस फैल जाता है।[43] अभागा है वह मनुष्य या राष्ट्र जो भागवत मुहूर्त आने पर सोया रहे या उसके उपयोग के लिए तैयार न हो, जो उसके स्वागत के लिए दिया सँजो कर न रखे और उसकी पुकार की ओर से कान बंद कर ले।'[44]

इस भागवत मुहूर्त को आचार्य जी ने एक और नया नाम दिया है 'युग संधि काल' उनके अनुसार-'इस सन्ध्याकाल में सभी उच्च आत्माएँ महाकाल का पुण्य प्रयोजन पूरा करने के लिए उसी तरह विद्यमान हैं, जिस प्रकार ऋषि, मुनि, वनवासी अपने निकटवर्ती जलाशय पर सन्ध्या वन्दन करने के लिए एकत्रित हो जाते हैं।'[45] युग निर्माण परिवार इन आत्माओं का समन्वित रूप है जिसको साथ लेकर उन्होंने नवयुग के अवतरण का संकल्प लिया है। इसे पूर्ण करने की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए उनका कहना है-'नया युग लाने के लिए, धरती पर स्वर्ग का अवतरण करने के लिए , सतयुग की पुनरावृत्ति आँखों के सामने देखने के लिए हमें कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण दुस्साहस भरे रचनात्मक एवं संघर्षात्मक कदम उठाने होंगे। बड़े परिवर्तनों के पीछे बड़ी कार्य पद्धतियाँ भी जुड़ी रहती हैं। निश्चित रूप से हमें छोटे-बड़े आन्दोलन छेड़ने पड़ेंगे, संघर्ष करने पड़ेंगे, प्रशिक्षण संस्थाएँ चलानी पड़ेंगी तथा रचनात्मक कार्यों के लिए विशाल काम संस्थानों का सृजन करना होगा। इस अतिव्यापक अभियान में लाखों मनुष्य का श्रम, सहयोग, त्याग-बलिदान सूझबूझ एवं प्रयत्न, पुरुषार्थ नियोजित किया जाएगा।'

भारत के पिछले राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन में कितनी जन शक्ति और कितनी धन शक्ति लगी थी, यह सर्वविदित है, यह भारत तक और उसके राजनैतिक क्षेत्र तक सीमित थी। अपने अभियान का कार्य क्षेत्र उससे सैकड़ों गुना बड़ा है। अपना कार्यक्षेत्र समस्त विश्व है और परिवर्तन राजनीति में ही नहीं, वरन् व्यक्ति तथा समाज के हर क्षेत्र में क्रान्तिकारी प्रस्तुत करने हैं। इसके लिए कितने सृजनात्मक और कितने संघर्षात्मक मोर्चे खोलने पड़ेंगे, इसकी कल्पना कोई भी दूरदर्शी कर सकता है। वर्तमान अस्त-व्यस्तता को, कुव्यवस्था को सुव्यवस्था में परिवर्तित करना एक बड़ा काम है। मानवीय मस्तिष्क की दिशा, विचारणा, आकांक्षा, अभिरुचि और प्रकृति को बदल देना, निकृष्टता के स्थान पर उत्कृष्टता की प्रतिष्ठापना करना सो भी समस्त पृथ्वी पर रहने वाले छः अरब व्यक्तियों में निःसंदेह एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक काम है।

इसमें अग्रणी व्यक्तियों, असंख्य आन्दोलनों और असीम क्रिया तंत्रों का समन्वय होगा। यह एक अवश्यम्भावी प्रक्रिया है जिसे महाकाल अपने ढंग से नियोजित कर रहे हैं। हर कोई देखेगा कि आज की वैज्ञानिक प्रगति की तरह कल की भावनात्मक उत्कर्ष के लिए भी प्रबल प्रयत्न होंगे और उसमें एक से बढ़कर एक व्यक्तित्व एवं संगठन गजब की भूमिका प्रस्तुत कर रहे होंगे। जिसे अगले दिनों हर कोई मूर्तिमान होते हुए देखेगा। इसे भविष्यवाणी नहीं समझना चाहिए,एक

४१. रामनंदन-नवयुग सदेश, पृ १
४२. आचार्य श्रीराम शर्मा-सकटों का हल ढूँढने की उपहासास्पद विडम्बना, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अक ५, पृ. ७
४३. मातृवाणी, खण्ड १५, पृ १९५
४४. वही, पृ. १९५
४५. आचार्य श्रीराम शर्मा-महाकाल और युग प्रत्यावर्तन प्रक्रिया, पृ. ७५

वस्तुस्थिति है, जिसे हम आज अपनी आँखों पर चढ़ी दूरबीन से प्रत्यक्षत: देख रहे हैं। कल वह निकट आ पहुँचेगी और हर कोई उसे प्रत्यक्ष देखेगा। अगले दिनों संसार का समग्र परिवर्तन कर देने वाला एक भयंकर तूफान विद्युत गति से आगे बढ़ता चला आ रहा है। जो इस सड़ी दुनिया को समर्थ, प्रबुद्ध, स्वस्थ और समुन्नत बनाकर ही शान्त होगा। अगले क्षणों जिस स्वर्णिम ऊषा का उदय होने वाला है उसके स्वागत की तैयारी में हमें जुट जाना चाहिए।"[46]

इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य

नवयुग की इस स्वर्णिम ऊषा के उदय को-इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य का नाम दिया जा सकता है। विश्व के मूर्धन्य विचारक, मनीषी, ज्योतिर्विद एवं अतीन्द्रिय द्रष्टा अब इस संबंध में एक मत हैं कि युग परिवर्तन का समय आ पहुँचा है। ऐसे मनीषियों में जिनकी गणना मूर्धन्यों में की जाती है वे हैं फ्रांस के प्राख्यात चिकित्सक नोस्ट्राडेमस और काउण्ट लुई हेमन जो कीरो के नाम से विख्यात हैं। अमेरिका की परामनोविज्ञानी श्रीमती जीन डिक्सन एवं इज़राइल के प्रोफेसर हरार आदि की गणना दिव्यदर्शियों में होती है। भारत की महान् विभूतियों एवं दिव्यदर्शियों में स्वामी विवेकानंद एवं महर्षि अरविन्द के नाम अग्रणी है। इस्लाम धर्म के ख्याति प्राप्त विद्वान सैयद कुत्व की गणना भी इसी वर्ग में की जाती है। यह सभी नाम उन कुछ मनीषियों, दिव्यदर्शियों के हैं जिन्होंने अपने दिव्य चक्षु के आधार पर जो देखा और कहा वह प्राय: यथा समय शत-प्रतिशत सत्य साबित होता चला गया।

नोस्ट्राडेमस-दिव्य द्रष्टा भविष्यवक्ताओं में सबसे प्रमुख एवं प्राचीन नाम नोस्ट्राडेमस का आता है। उनकी पुस्तक 'सेन्चुरीज' का विश्व भर के ५० से अधिक विद्वानों ने गहराई से अध्ययन किया है। इनमें से एक आक्सफोर्ड की १८ वर्षीय छात्रा एरिका ने उनकी हस्तलिखित पुस्तक को उक्त पुस्तकालय से ढूँढ निकाला। इन अध्ययनकर्त्ताओं का कहना है कि उसमें जो कुछ लिखा है वह सब या तो घटित हो चुका अथवा आने वाले निकट भविष्य में घटित होने वाला है। उनके अनुसार नोस्ट्राडेमस ने सतयुग के आगमन से पूर्व एक तीसरी विध्वंसक शक्ति 'एण्टीक्राइस्ट' का उल्लेख किया है जिसे कलयुग की असुरता का चरमोत्कर्ष कहा जा सकता है। इन दिनों विश्व इसी अवधि से गुजर रहा है। यह संधिकाल सन् १९९९ तक चलेगा। इस अवधि में एक नयी आध्यात्मिक चेतना का उदय अनुशासनों, मान्यताओं एवं वैज्ञानिक निर्धारणों को समन्वित कर संहार की संभावनाओं को निरस्त करेगा और नए युग का श्रीगणेश होगा जिसे उन्होंने 'एज आफ ट्रुथ' नाम दिया।"[47]

दिव्य द्रष्टा प्रो. हरार-प्रोफेसर हरार की गणना विश्व के मूर्धन्य भविष्यवक्ताओं में की जाती है। उनके द्वारा की गई भविष्यवाणियाँ यथासमय सत्य सिद्ध होती रही हैं। भावी परिवर्तनों के बारे में वे कहा करते-'सन् २००० तक समस्त छोटी-बड़ी शक्तियाँ मिलकर एकाकार हो जाएंगी तब न भाषा का बंधन रहेगा और न साम्प्रदायिकता एवं क्षेत्रीय विभाजन की संकीर्णता का। सब मिल-जुलकर रहेंगे और मिल-बाँटकर खाएंगे।'"[48]

जीन डिक्सन-'माई लाइफ एण्ड प्रोफेसीज, ए गिफ्ट ऑफ प्रोफेसी' एवं 'द काल टू द ग्लोरी' नामक पुस्तकों की लेखिका जीन डिक्सन चौदह वर्ष के किशोर वय से ही अपने भविष्य कथन के लिए बहुचर्चित रही हैं। उन्होंने इक्कीसवीं सदी को उज्ज्वल संभावनाओं से भरा पूरा बताया है। वे कहती हैं कि सन् २००० तक नीति और अनीति का संघर्ष तो चलता रहेगा; पर अंततः नीति की, सत्प्रवृत्तियों की ही विजय होगी। सन् २०२० तक धरती पर स्वर्ग की कल्पना साकार होने लगेगी। तब न प्रदूषण की समस्या रहेगी और न बीमारी, भुखमरी से किसी को त्रस्त नहीं होना पड़ेगा। चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में अद्भुत उन्नति होगी। अन्तरिक्षीय यात्राएँ प्रकाश

४६. आचार्य श्रीराम शर्मा-अपना ज्ञानयज्ञ भी सफल और संपूर्ण होना चाहिए, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अक ८, पृ ६४-६५
४७. आचार्य श्रीराम शर्मा-इक्कीसवीं सदी बनाम उज्ज्वल भविष्य, भाग-१, पृ. ३६
४८. वही, पृ. ३८

गति से भी तीव्र चलने वाले यानों से संपन्न हुआ करेगी। सन् २०२० तक सारी मानव जाति का क्रिया व्यापार एक ही विश्व सत्ता के आधीन संचालित होता हुआ दृष्टिगोचर होगा।"[४९]

महर्षि अरविन्द-'दिव्य जीवन' के कलाकार महायोगी अरविन्द का कहना है-'स्वर्णिम प्रभात आने को है। जैसे ही एक बार प्रकाश हुआ पुनः कभी निशा का आगमन नहीं होगा। ऊषा अति शीघ्र पूर्णता को प्राप्त होगी। संपूर्ण क्षितिज पर सूर्य प्रकाशित होगा।"[५०] 'श्री माँ' जिन्होंने ऋषिवर के कार्य को स्थूल जगत में आगे बढ़ाया, महायोगी के चिंतन को आगे बढ़ाते हुए अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर कहा कि युग संधि की एक प्रसव वेला तभी तक है जब तक संसार नई सृष्टि का स्वागत करने के लिए तैयार नहीं है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि सन् १९६९ के आरम्भ से इस नई सृष्टि के चेतना धरती पर काम में लगी है। सतत २००० तक सक्रिय रहेगी। समस्त महान् परिवर्तन अपनी पहली अमोघ शक्ति तथा प्रत्यक्ष निर्माणकारी सामर्थ्य एक व्यक्ति के या थोड़े व्यक्तियों के श्रेष्ठ मन एवं उदात्त भाव से ही प्राप्त करते हैं, समुदाय तो अनुसरण करता है।"[५१]

स्वामी विवेकानंद-वेदान्तिक सत्य के महान् द्रष्टा स्वामी जी ने कहा था-सुदीर्घ रजनी अब समाप्त होती हुई जान पड़ती है। महादुःख का प्रायः अन्त ही प्रतीत होता है।"[५२] आने वाला युग एकता का-समता का होगा। इस आध्यात्मिक साम्यवाद को कार्य रूप में परिणत करने में नवयुवकों की महती भूमिका होगी। वे ही संस्कृति के उद्धारक बनेंगे और नवयुग की कल्पना को साकार कर दिखाएंगे।

धर्मग्रंथों में वर्णित भविष्य कथन

धर्म ग्रंथों को अपौरुषेय माना गया है। उन्हें ईश्वर की वाणी कहा गया है। दिव्य द्रष्टाओं-भविष्यवक्ताओं की तरह उनमें भी आने वाले समय के संबंध में बहुत कुछ कहा गया है। वे सभी इस दृष्टि से एक मत प्रतीत होते हैं कि बीसवीं सदी का अंत और इक्कीसवीं सदी का प्रारम्भ दो युगों की संधि वेला के रूप में होगा और आगामी युग मनुष्य जाति के उज्ज्वल भविष्य के रूप में सामने आएगा। इस संदर्भ में विभिन्न धर्मग्रंथों का अभिमत इस प्रकार है-

श्रीमद्भागवत-इसके द्वादश स्कन्ध के द्वितीय-तृतीय अध्याय में कलियुग उससे पूर्व और बाद के समय के लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया गया है। सतयुग का उल्लेख करते हुए भागवत का कथन है कि कलियुग के अंतिम दिनों में निष्कलंक सत्ता के अवतरण से सद्भावना और सात्विकता की सर्वत्र अभिवृद्धि होगी।

वाल्मीकि रामायण-में युद्ध काण्ड के श्लोक ९५-१६० में सतयुग के आगमन को सुनिश्चित बताते हुए उस समय के लोगों के व्यवहार, दृष्टिकोण, परिस्थितियों का वर्णन किया गया है।

महाभारत-के वनपर्व में उल्लेख आता है कि जब सूर्य, चन्द्र और बृहस्पति तथा पुष्य नक्षत्र एक राशि में चले जायेंगे तब सतयुग का शुभारम्भ सुखद भविष्य के रूप में होगा।

ओल्ड टेस्टामेण्ट के 'डैनियल तथा रेवेलेशन' अध्यायों में इस बात की चर्चा की गई है कि बीसवीं सदी की समाप्ति से पूर्व नया युग आने से पहले, प्राकृतिक आपदा और मानवी विग्रह चरमोत्कर्ष पर होंगे। 'सेवन टाइम्स' में वर्णित इन भविष्यवाणियों के विशेषज्ञ समझे जाने वाले पुरातत्ववेत्ता एवं हिब्रू भाषा विशारद डॉ० विलियम अलब्राइट एवं जेम्स ग्राण्ट ने इनके घटित होने का सही समय १९८० से २००० के बीच बताया है। इसमें इस सदी के अंत में स्वर्णिम भविष्य की स्थापना की भी बात कही गई है।

इस्लाम धर्म-इसमें भी चौदहवीं सदी को उथल-पुथल भरा समय बताया है। यह समय आज की

---

४९. आचार्य श्रीराम शर्मा-इक्कीसवीं सदी बनाम उज्ज्वल भविष्य, भाग-१, पृ. ३६
५०. *आचार्य श्रीराम शर्मा-महायोगी अरविन्द की भविष्य पर एक दृष्टि, अखण्ड ज्योति वर्ष ५२, अंक ३, पृ. १०*
५१. वही, पृ. १०
५२. स्वामी विवेकानद, विवेकानंद साहित्य, खण्ड ५, पृ. ४२

परिस्थितियों से पूर्णतया मेल खाता है। 'कुरआन सार' पुस्तक में विनोबा लिखते हैं कि कयामत के बाद समस्त पृथ्वी पर ऐसा प्रकाश छा जाएगा कि हमेशा दिन रहे, रात्रि की कालिमा कभी न आए। वे कहते हैं कि इस दिव्य प्रकाश से विश्वात्मा को अद्‌भुत शान्ति मिलेगी।

'इस्लाम भविष्य की आशा' पुस्तक में श्री सैयद कुत्व कहते हैं कि इक्कीसवीं सदी का प्रारम्भ विज्ञान के अद्‌भुत समन्वय के रूप में होगा। डॉ० कैरल की पुस्तक 'अज्ञात मानव' का हवाला देते हुए वे लिखते हैं कि आने वाले समय में शिक्षा प्रणाली आमूलचूल बदलेगी और भाव प्रधान, संस्कार प्रधान शिक्षा पर जोर दिया जाएगा। इससे वातावरण आध्यात्मिक बनेगा और नई मानव जाति के रूप में पृथ्वी पर महामानवों का प्रादुर्भाव होगा जिससे सर्वत्र एकता और समता का राज्य स्थापित होगा।

पिरामिडों में भविष्य लिपि

पिरामिडों में अंकित भविष्यवाणियों को अब से ५० से पूर्व पढ़ा जाने लगा था और उनमें प्रयुक्त भाषा को मापन इकाई नाम दिया गया था। इसका प्रथम प्रयास डेविडसन नामक एक खगोलशास्त्री एवं इंजीनियर ने किया था। उनके अतिरिक्त आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के खगोलविज्ञानी जान ग्रीटज, सर जान हर्शल, लंदन के प्रमुख गणितज्ञ जान टेलट तथा एच. स्पेन्सर लुई आदि ने पिरामिडों की रहस्यमयी प्रतीकात्मक भाषा पढ़ने में सफलता प्राप्त की है। डेविडसन ने तो सन् १९२४ में ही अपनी पुस्तक 'द ग्रेट पिरामिड-इट्स डिवाइन मैसेज' में लिखा था कि इनमें पृथ्वी के जन्मकाल से लेकर अब तक की तथा आगे के हजारों वर्षों की घटनाएँ तथा भविष्यवाणियाँ अंकित हैं।

इस अनेकानेक भविष्यवाणियों में यह भी बताया गया है कि सन् १९८२ से सन् २००० तक विश्वव्यापी हलचलें होंगी। मौसम आश्चर्यजनक रूप से बदलेगे तथा प्राकृतिक उत्पातों में भी बढ़ोत्तरी होगी। इस अवधि में तृतीय विश्व युद्ध की संभावना भी है, जिसमें दुनिया के लगभग सभी देश भाग लेंगे तथा भयानक शस्त्रों का प्रयोग किया जाएगा। इन शस्त्रों के प्रयोग से एकबारगी तो समूची मनुष्य जाति के ही नष्ट हो जाने का खतरा उत्पन्न हो जाएगा। फिर भी कुछ लोग बचेंगे और नए युग का सूत्रपात होगा। पिरामिडों में इस नए युग को जमाना रूहानी (आध्यात्मिक युग) का नाम दिया गया है।[५३]

आचार्यजी का अभिमत

उपरोक्त भविष्य कथनों को अपने सतत प्रयत्नों से पूर्णता की ओर अग्रसर करने वाले आचार्य जी का अभिमत है कि-'सन् २००० तक वह सब कुछ दीखने लगेगा जिसके अनुसार युग परिवर्तन का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सके। इस बीच महती घटनाएँ घटेंगी, भारी संघर्ष होंगे, पाप बढ़ेगा और उसकी प्रतिक्रिया नए सिरे से सोचने और नई रीति-नीति अपनाने के लिए जनसाधारण को विवश करेगी। बदलाव के अतिरिक्त और कोई मार्ग न रहेगा। मनुष्य को अपने तौर-तरीके बदलने होंगे। युग निर्माण की वर्तमान चिन्गारियाँ, विश्व व्यापी दावानल की तरह प्रचण्ड होंगी और उसमें आज की अनीति एवं अवांछनीयता जल-बलकर होलिका की तरह नष्ट हो जाएगी। नया युग प्रातःकाल के उदीयमान सूर्य की तरह अपनी अरुणिमा अब कुछ ही समय में प्रकट करने जा रहा है।'[५४] इस नवयुग का शुभारम्भ इक्कीसवीं सदी बनाम उज्ज्वल भविष्य के उद्‌घोष के साथ किया जाना चाहिए।[५५] यह उद्‌घोष मात्र नारा नहीं है, इसके पीछे महाकाल का प्रचण्ड संकल्प सन्निहित है।[५६]

भारतवर्ष करेगा नवयुग का नेतृत्व

मनीषी, भविष्यवक्ता, ज्योतिर्विद, अतीन्द्रिय द्रष्टा प्रायः सभी इस विषय में एकमत हैं कि नवयुग के

---

५३. आचार्य श्रीराम शर्मा-पिरामिडो मे अकित सन् २००० की दुनिया, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४४, अक २, पृ. ५६
५४. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारे शेष जीवन का कार्यक्रम और प्रयोजन, अखण्ड ज्योति वर्ष ३०, अक १२, पृ.६१
५५. आचार्य श्रीराम शर्मा-इक्कीसवीं सदी बनाम उज्ज्वल भविष्य, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५२, अक २, पृ. ११
५६. आचार्य श्रीराम शर्मा-इक्कीसवीं सदी बनाम उज्ज्वल भविष्य, भाग-२, पृ. ५०

आध्यात्मिक समाज की प्रतिष्ठापना का कार्य भारत संपन्न करेगा और वही नवयुग का नेतृत्व करेगा। जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर यह भविष्यवाणी कर गए हैं-'यूनानी साहित्य के पुनरुत्थान से संसार के चिंतन में जो क्रान्ति हुई थी शीघ्र ही विचार जगत में इससे भी शक्तिशाली और दिगन्त व्यापी क्रान्ति का विश्व साक्षी होने वाला है।'[५७] उपनिषदों के देश से उठेगा विचार क्रान्ति का यह परिवर्तनकारी तूफान।[५८] हंगरी की सुप्रसिद्ध महिला ज्योतिषी बोरिस्का के अनुसार-भारत का अभ्युदय एक सर्वोच्च शक्ति के रूप में हो जाएगा।[५९] नोस्ट्राडेमस ने सांस्कृतिक दृष्टि से संपन्न भारतवर्ष के महाशक्ति के रूप में उभरने की बात अपनी भविष्यवाणियों में लिखी है और कहा है कि तीन ओर से सागर से घिरे धर्मप्रधान, सबसे पुरातन संस्कृति वाला एक महाद्वीप से वह विचारधारा निःसृत होगी जो विश्व को विनाश के मार्ग से हटाकर विकास के पथ पर ले जाएगी।[६०] प्रो. हरार ने अपने एक दिव्य दर्शन को बताते हुए कहा है-"मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि भारतवर्ष एक विराट् शक्ति के रूप में उभरेगा।'[६१] जीन डिक्सन ने-"विश्व शान्ति की स्थापना की दिशा में भारत की भूमिका की विशेष उल्लेख किया है और कहा है कि अपने आध्यात्मिक मूल्यों एवं वैचारिक क्रान्ति के माध्यम से वह समस्त विश्व में समतावादी शासन का सूत्रपात करेगा। उनके भविष्यकथन के अनुसार राष्ट्र संघ का कार्यालय अगले दिनों भारत में बनेगा।'[६२] एण्डरसन का कथन है-'आज संसार धर्म और संस्कृति के जिस स्वरूप की कल्पना भी नहीं करता उस धर्म का तेजी से विस्तार होगा और वह सारे संसार पर छा जाएगा। यह धर्म और संस्कृति भारतवर्ष की होगी।'[६३]

सुविख्यात अध्यात्मवेत्ता युगाचार्य स्वामी विवेकानंद ने भारत के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा था-"यह वही प्राचीन भूमि है जहाँ दूसरे देशों को जाने के पहले तत्त्वज्ञान आकर अपनी वासभूमि बनायी थी। यह वही भारत है, जहाँ के आध्यात्मिक प्रवाह का स्थूल प्रतिरूप उसके बहने वाले समुद्राकार नद हैं, जहाँ चिरन्तन हिमालय श्रेणीबद्ध उठा हुआ अपने हिमशिखरों द्वारा मानो स्वर्ग राज्य के रहस्यों को निहार रहा है। यह वही भारत है जिसकी भूमि में संसार के सर्वश्रेष्ठ ऋषियों की चरण रज पड़ चुकी है। यहीं सबसे पहले मनुष्य प्रकृति तथा अन्तर्जगत के रहस्योद्घाटन की जिज्ञासाओं के अंकुर उगे थे। आत्मा के अमरत्व, अन्तर्यामी ईश्वर एवं जगत्प्रपंच तथा मनुष्य के भीतर सर्वव्यापी परमात्मा विषयक मतवादों का पहले पहल यहीं उद्भव हुआ था। यह वही भूमि है जहाँ से उमड़ती हुई बाढ़ की तरह धर्म तथा दार्शनिक तत्त्वों ने समग्र संसार को बार-बार आप्लावित कर दिया और यह वही भूमि है जहाँ से पुनः ऐसी ही तरंगें उठकर निस्तेज जातियों में शक्ति और जीवन का संचार कर देगी।'[६४] मैं अपने मानस चक्र से भावी भारत की उस पूर्णावस्था को देखता हूँ।[६५] फिर से कालचक्र घूमकर आ रहा है एक बार फिर भारत से वही शक्ति प्रवाह निःसृत हो रहा है जो शीघ्र ही समस्त जगत को आप्लावित कर देगा।[६६]

श्री अरविन्द आश्रम की श्री माँ का कथन है-'भारत इस भूखण्ड की मिट्टी नहीं है। इसकी नदियाँ या पहाड़ भी नहीं है और न वह इस देश में रह रहे निवासियों

---

५७. स्वामी विवेकांनद-विवेकानंद साहित्य-खण्ड ५, पृ. १०
५८. आचार्य श्रीराम शर्मा-उपनिषदों के देश से उठेगा विचार क्रान्ति का तूफान, अखण्ड ज्योति वर्ष ५३, अंक १०, पृ. २०
५९. देवदूत आया हम पहचान न सके, पृ २३
६०. आचार्य श्रीराम शर्मा- इक्कीसवीं सदी बनाम उज्ज्वल भविष्य, भाग १, पृ. ३६
६१. वही, पृ. ३८
६२. वही, पृ. ३९-४०
६३. देवदूत आया हम पहचान न सके, पृ. ४३
६४. स्वामी विवेकानद-भारत का भविष्य, पृ. १
६५. स्वामी विवेकानंद-विवेकानंद साहित्य खण्ड ६, पृ. ४०५
६६. स्वामी विवेकानंद-विवेकानंद साहितत्य खण्ड ९, पृ. ३५८

का समूहवाचक नाम है। भारत एक जीवन्त सत्ता है, वैसी ही जीवन्त जैसे भगवान् शिव।"[६७] भारत आधुनिक मानव समाज की सारी कठिनाइयों का प्रतीक बन गया है और भारत ही उसके विजय की, उच्चतर और अधिक सच्चे नवजन्म की भूमि होगा।"[६८] वर्षों पूर्व जब श्री अरविन्द यहाँ विद्यमान थे, एक अंतर्दर्शन (vision) में यह देखा गया था कि पृथ्वी के भाग्य का निर्णय इसी भारत भूमि में होगा।"[६९] भारत का भविष्य बिलकुल स्पष्ट है। भारत विश्व का गुरु है। विश्व की भावी संरचना भारत पर ही निर्भर है। भारत है जीवन्त आत्मा। वह दुनिया में आध्यात्मिक ज्ञान को मूर्त रूप दे रहा है।"[७०]

श्री अरविन्द महायोगी एवं दिव्य द्रष्टा ऋषि थे। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर जब १९२८ में उनसे मिले तो विश्व कवि के स्वर थे-भारत तुम्हारे शब्दों से विश्व को अपना संदेश देगा।"[७१] यह संदेश क्या था-इसे उन्हीं के शब्दों में सुने-'अब सभी को सुदृढ़ विश्वास होना चाहिए कि भारत अवश्य जाग्रत् और महान् होगा। प्रत्येक कठिनाई और प्रतिकूलता अब सहायक ही होंगी और आगे इन प्रतिकूलताओं का अंत होगा। अब प्रवृत्ति ऊर्ध्वमुखी है। अवनति का समय व्यतीत हो गया है। स्वर्णिम प्रभात आने को है। जैसे ही एक बार प्रकाश हुआ, पुनः कभी भी निशा का आगमन नहीं होगा। ऊषा अति शीघ्र पूर्णता को प्राप्त होगी। संपूर्ण क्षितिज पर सूर्य प्रकाशित होगा। भारत के भाग्य का सूर्य उदय होने पर अपने प्रकाश से न केवल भारत को अपितु पूरे एशिया और विश्व को आप्लावित कर देगा। प्रतिक्षण, प्रति पल उसे नजदीक लाता जा रहा है।"[७२]'

आचार्य जी का कथन

आचार्य जी के अनुसार- "भारत पर अभी उन ऋषि-तपस्वियों की छत्रछाया है, जिनके प्रयास से निष्ठुर पराधीनता से पीछा छूटा। इन दिनों वे भीतर से उद्भूत और बाहर के प्रहार से बचाने में अपनी शक्ति लगाए हुए हैं। अनर्थ तक स्थिति न पहुँच पावे इसके निमित्त संरक्षण दे रही हैं। इन उपलब्धियों को भी कम नहीं माना जाना चाहिए। प्रगति पथ पर तेजी से अग्रसर होने और राष्ट्र के संपन्न और सुसंस्कृत होने का दौर कुछ ही दिनों में चल पड़ेगा।"[७३] आगे वह कहते हैं-"हमारा स्वयं का विश्वास इतने दिनों की आराधना और दैवी सन्निकटता के आधार पर यह बन गया है कि भारत अगले दिनों सभी क्षेत्रों में असाधारण प्रगति करेगा। इतना ही नहीं वह दूसरे पिछड़े और पददलित देशों को उठाने में कारगर भूमिका भी संपन्न करेगा।"[७४]

"भारत को अपना घर ही नहीं सँभालना है,

---

६७. श्रीमाँ-भारत और उसकी नियति, पृ. १

६८. वही, पृ. ११

६९. वही, पृ. १२

७०. वही, पृ. २०

७१. I felt that the utterance of the ancient Hindu Rishis spoke from him of that equanimity which gives the human soul its freedom of entrance into the all. I said to him, you have the word and we are waiting to accept it from you. India will speak through your voice to the world, Hearken [illegible] me ! -Rabindra Nath Tarore (After meating Sri Aurobindo of Pondicheri in 1928)
Sri Auorbindo and the Mother-A call to youth the India. p.1

७२. They must have the firm faith that India must rise and be great and that everything their happened, every difficulty, every reverse must help and further their end. The trend was up ward and the time of decline was over. The morning was at hand and once the light had shown itself, it could never be night again. The dawn would soon be complete and the sun rise over the horizon The sun of India's destiny would rise and fall all India with its light and over flow the world. Every hour, ever moment could only bring them nearer [illegible] the brightness of the day that God had decread. -Sri Aurobindo and The Mother-A call to youth of India.

७३. आचार्य श्रीराम शर्मा-भारत का भविष्य निश्चित रूप से उज्ज्वल है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५४, अंक ३, पृ. ५५

७४. आचार्य श्रीराम शर्मा-विश्व शान्ति में भारत की भूमिका, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५०, अंक २, पृ. ५६

वरन् हर क्षेत्र में विश्व का नेतृत्व भी करना है।''[७५] अगले दिनों लोग आश्चर्य करेंगे कि किसी समय का पिछड़ा और पराधीन देश किस प्रकार ऐसा कायाकल्प कर सका कि अपनी समस्या तो सुलझाई ही विश्व भर की समस्याओं को सुलझाने में, विपत्तियों के निराकरण में असाधारण सहायता की।[७६] नवनिर्माण की सीमा केवल भारत ही नहीं सारा विश्व है। किन्तु यह कार्य आरम्भ भारत से हो रहा है। कारण कि इस परिवर्तन का आधार है अध्यात्म। भारत अध्यात्म की मातृभूमि है। इसलिए इस प्रकार का श्रीगणेश यहीं से हो सकता है। यह शुभारम्भ अवश्य गीता गायक भगवान् कृष्ण की जन्मभूमि से हो रहा है, पर उसका क्षेत्र व्यापक है। यह प्रकाश विश्व के कोने-कोने में पहुँचाना है और सारी दुनिया को ही मानवता के उच्च आदर्शों को अपनाने के लिए प्रशिक्षित करना है।''[७७] इस कार्य की परिणति ही नवयुग के आध्यात्मिक समाज का रूप लेगी। जो भारत में प्रकट होकर समूचे विश्व में संव्याप्त होगा।

नवयुग के समाज का आध्यात्मिक आधार-गायत्री और यज्ञ

आचार्य जी के अनुसार-इस भावी समाज के विकास एवं उत्कर्ष के लिए नितान्त आवश्यक और उपयोगी सद्गुणों, सत्प्रवृत्तियों व नीतियों को यदि सूत्रबद्ध किया जाय तो यह महत्त्वपूर्ण सूत्र तीन चरणों व चौबीस अक्षरों वाला गायत्री मंत्र है। सामान्य क्रम में गायत्री मंत्र की मंत्र शक्ति की चर्चा की जाती है, लेकिन इस महामंत्र में सन्निहित तत्त्वदर्शन कुछ कम नहीं है। इसमें वह सभी तत्त्व समाहित हैं जो समूचे समाज के लिए आध्यात्मिक आधार प्रस्तुत कर सकें। उनके शब्दों में- ''इस युग में न तो धार्मिक विकृतियों का संशोधन मुख्य प्रश्न है और न ही भौतिक जीवन का प्रशिक्षण। वस्तुतः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह प्रथा-परम्पराएँ हों चाहे रीति-रिवाज, वेशभूषा, खानपान और मान मर्यादाएँ, सर्वत्र अविवेक ही वह प्रमुख राक्षस घुस बैठा है, जिसके वशवर्ती होकर मनुष्य जाति भ्रष्ट, अनैतिक और बर्बर होती चली जा रही है। स्पष्ट है आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है मनुष्य के विचारों में सद्विवेक की स्थापना।''[७८] गायत्री उपासना को सद्ज्ञान, सद्विवेक की उपासना भी कहा जाता है। गायत्री महामंत्र के चौबीस अक्षरों में बीज रूप से वह सभी तत्त्व ओतप्रोत हैं जो उपासक के हृदय अंतःकरण में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को स्वस्थ, समर्थ एवं विवेकपूर्ण बनाने वाला प्रकाश जाग्रत् करते हैं। अनेक तरह की दार्शनिक मान्यताओं के रहते हुए भी गायत्री उपासना, तत्त्वज्ञान के प्रति आदिकाल से ही ऋषि-मनीषी सभी एक मत रहे हैं। जितने भी अवतार हुए हैं उन सबने उपासना के रूप में आद्यशक्ति भगवती गायत्री को ही इष्टदेव चुना है। उसके पीछे इस दर्शन का ही प्रतिपादन हो रहा है कि मनुष्य जाति की समस्याओं का निराकरण विवेक और सद्ज्ञान से ही संभव है। इस युग में जबकि असुरता ने मानवीय बुद्धि को ही पूरी तरह आच्छादित कर रखा है तब तो उसकी आवश्यकता और भी अधिक हो जाती है।[७९] गायत्री के २४ अक्षरों में वे सभी सिद्धान्त सूत्र रूप में सन्निहित हैं, जिनके आधार पर युगान्तरकारी परिवर्तन प्रस्तुत होते हैं।[८०]

गायत्री भारतीय संस्कृति का प्राण है। वेदमाता, देवमाता, विश्वमाता के रूप में उसकी भूमिका प्राचीनकाल में भी महान् थी। नवयुग में भी उसी बीज मंत्र का विस्तार विश्व संस्कृति के रूप में होगा। उसे नवयुग की कल्पवृक्ष, प्रेरणा उद्गम कहा जाएगा। इन चौबीस अक्षरों में ज्ञान और विज्ञान के वे सभी तत्त्व मौजूद हैं जिनके सहारे व्यक्ति की उत्कृष्टता और समाज की सुव्यवस्था

७५. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारे पांच पिछले और पाँच अगले कदम, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ३, पृ. ६०
७६. आचार्य श्रीराम शर्मा-विश्व शान्ति में भारत की भूमिका, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५०, अक २, पृ. ५७
७७. आचार्य श्रीराम शर्मा-महाकाल और युग प्रत्यावर्तन प्रक्रिया, पृ. ७६
७८. आचार्य श्रीराम शर्मा-युग शक्ति गायत्री का अवतरण, अभिप्राय, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४१, अंक ११, पृ. ४५
७९. वही, पृ ४५
८०. आचार्य श्रीराम शर्मा-नवयुग का अरुणोदय युग शक्ति का अवतरण, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४२, अक ७, पृ.५०

का पुनः निर्धारण संभव हो सके।[८१] नवयुग में समस्त विश्व को एकता-समता और शुचिता की त्रिवेणी में स्नान करना होगा। व्यक्ति और समाज को सुसंस्कृत बनना होगा और वसुधैव कुटुम्बकम् को-आत्मवत् सर्वभूतेषु की रीति-नीति अपनाकर चलना होगा। इसके लिए सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक सभी तथ्य बीज रूप में गायत्री महामंत्र में मौजूद हैं। उसमें दार्शनिक, प्रेरणात्मक और सामर्थ्य परक वे सभी क्षमताएँ विद्यमान हैं, जिनके आधार पर नवयुग का सृजन होने जा रहा है। गायत्री का तत्त्वज्ञान अगले दिनों पूजा-उपासना की परिधि तक सीमित नहीं रहेगा। उसे सतयुग के आधारभूत आलोक की भूमिका निभाते देखा जाएगा। उन्हीं तथ्यों के आधार पर आदिशक्ति की सामयिक भूमिका को 'युगशक्ति' कहा गया है। उसका संचरण विश्व माता के रूप में होगा। जन-जन पर पड़ने वाली उसकी छाया को 'देवमाता' कहा जाएगा। वेदमाता के यही रूप अगले दिनों दृष्टिगोचर होंगे। उसे किसी सम्प्रदाय विशेष की बपौती नहीं माना जाएगा। जाति, लिंग और क्षेत्र की परिधि से आगे बढ़कर नवीन विश्व की संरचना संदर्भ में अपनी अनोखी भूमिका संपन्न करती हुई वह दृष्टिगोचर होगी।[८२]

गायत्री का युग्म-यज्ञ

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार-'सयत्कृत्सनां गायत्री-मन्वाह तत् कृत्स्नं प्राणं दधाति' अर्थात् जो व्यष्टिगत एवं समष्टिगत जगत की व्यवस्था बिठाती है एवं सामंजस्य स्थापित करती है वही गायत्री है और जो इस व्यवस्था को पूर्णता देता है वह यज्ञ है। इसी कारण गायत्री को देवसंस्कृति की माता और यज्ञ को मानवीय धर्म का पिता कहा गया है। दोनों का युग्म है। आचार्य जी के अनुसार-''यज्ञ अपने में एक समर्थ और समग्र दर्शन है। इसकी सरल और सुबोध प्रेरणाओं में मनुष्य को उदार एवं उदात्त बनाने के वह सारे तत्त्व मौजूद हैं जो संसार के किसी अन्य दर्शन में नहीं है। यही कारण है कि उसे भारतीय संस्कृति का पिता कहा गया है। पिता अर्थात् पालनकर्त्ता। समाज का परिपालन एवं संरक्षण देने वाला। यही वह प्रमुख आधार है जिससे समाज प्रगति करता एवं समुन्नत बनता है। यज्ञीय दर्शन व्यक्ति एवं समाज को श्रेष्ठ, शालीन एवं समुन्नत बनाने में समर्थ है। अपने में वह समग्र है। यज्ञीय प्रेरणाओं को व्यवहार में उतारा जा सके तो स्थायी सुख-शान्ति का मजबूत आधार बन सकता है।''[८३]

'यज धातु से निष्पन्न यज्ञ शब्द के तीन अर्थ हैं- १.देवपूजन २.संगतिकरण और ३. दान। इन तीनों ही प्रवृत्तियों को व्यक्ति और समाज के उत्कर्ष की दिव्य धाराएँ कहा जा सकता है। देवपूजन का अर्थ है-परिष्कृत व्यक्तित्व-दैवी सद्गुणों का अनुगमन। संगतिकरण अर्थात-एकता, सहकारिता, संघबद्धता। दान अर्थात् समाज परायणता, विश्व कौटुम्बिकता-उदार सहृदयता। इन तीन प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व यज्ञ करता है।'[८४] प्रक्रिया की दृष्टि से यज्ञ मनोवैज्ञानिक शिक्षण की सशक्त विधि है, जिसके द्वारा परोक्ष किन्तु स्थायी प्रभाव मन पर पड़ता है। सुसंस्कारों की प्रतिष्ठापना होती है। दृष्टि खुली रखी जाय तो यज्ञ के प्रत्येक कर्मकाण्ड मनुष्य को उपयोगी प्रेरणाएँ देने में सक्षम हैं। वे मात्र क्रिया कृत्य नहीं हैं। 'अंतःकरण में श्रेष्ठ संस्कारों की स्थापना की एक सफल मनोवैज्ञानिक विधि है।'[८५]

'यज्ञ का तत्त्वदर्शन उदारता, पवित्रता, सहकारिता की त्रिवेणी पर केन्द्रित है। यही तीन तथ्य ऐसे हैं जो इस विश्व को सुखद, सुन्दर और समुन्नत बनाए हुए हैं। ग्रह-नक्षत्र पारस्परिक आकर्षण मे बँधे हुए ही नहीं है एक दूसरे को महत्त्वपूर्ण आदान-प्रदान भी करते हैं। परमाणु और जीवाणु जगत भी इन्हीं सिद्धान्तों के सहारे अपनी

---

८१. आचार्य श्रीराम शर्मा-२४ गायत्री शक्तिपीठों का स्थापना, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४२, अक ४, पृ ५१
८२ आचार्य श्रीराम शर्मा-रजत जयन्ती वर्ष मे २४ गायत्री तीर्थों की स्थापना, अखण्ड ज्योति वर्ष ४२, अक ३, पृ ५३
८३. आचार्य श्रीराम शर्मा-यज्ञ विश्व का सर्वोत्कृष्ट दर्शन, अखण्ड ज्योति वर्ष ४४, अक ९, पृ ४७
८४. आचार्य श्रीराम शर्मा-देवसस्कृति का मेरुदण्ड है यज्ञ, अखण्ड ज्योति वर्ष ५५, अक ११, पृ. ६
८५. आचार्य श्रीराम शर्मा-यज्ञ विश्व का सर्वोत्कृष्ट दर्शन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४४, अक ९, पृ. ४७-४८

गतिविधियाँ सुनियोजित रीति से चला रहे हैं। सृष्टि संरचना, गतिशीलता और सुव्यवस्था में संतुलन-इकॉलाजी का सिद्धान्त ही सर्वत्र काम करता हुआ दिखाई पड़ता है। हरियाली से प्राणी पशु निर्वाह, प्राणी शरीर से खाद का उत्पादन, खाद उत्पादन से पृथ्वी को खाद, खाद से हरियाली यह सहकारिता चक्र घूमने से ही जीवधारियों की शरीर यात्रा चल रही है। समुद्र से बादल, बादलों से भूमि में आर्द्रता, आर्द्रता से नदियों का प्रवाह, नदियों से समुद्र की क्षतिपूर्ति यह जलचक्र धरती और वरूण का संपर्क बनाता और प्राणियों के निर्वाह की उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है। शरीर के अवयव एक दूसरे की सहायता करके जीवन चक्र को घुमाते हैं। समाज संरचना के आधार पर अर्थतंत्र, शासनतंत्र तथा दूसरे प्रगतिक्रम चलते हैं। यह यज्ञीय परम्परा ही है जिसके कारण जड़ और चेतन दोनों ही अपना सुव्यवस्थित रूप बनाए हुए हैं।"[८६] इसी से यज्ञ तत्त्व को विश्व की नाभि धुरी कहा गया है।[८७]

समष्टि के हित में स्व की आहुति देने वाली, स्वयं की उपलब्धियों, विभूतियों, सामर्थ्यों को 'इदं न मम्' कहकर समाज को भावभरा अर्पण करने का शिक्षण देने वाली प्रक्रिया ही भावी समाज का आध्यात्मिक आधार है। गायत्री के साथ इसका युग्म शब्द ज्ञान एव सत्कर्म का युग्म है। आचार्य जी के अनुसार थोड़े समय के लिए आस्तिकवादी सिद्धान्तों को लेकर विभिन्न दर्शनों में विभेद हो सकता है और होता भी है, पर मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठापना करने वाले व्यक्ति और समाज को श्रेष्ठ, समुन्नत, शालीन बनाने वाले शाश्वत सिद्धान्तों के प्रति नहीं। यज्ञ दर्शन विवादों से परे ऐसा ही एक दर्शन है जिसमें वे सारे सिद्धान्त समाहित हैं जिसके अवलम्बन से व्यक्ति एवं समाज की उन्नति एवं शान्ति निर्भर करती है।[८८] इस तरह गायत्री के साथ उसका समन्वय भावी समाज के लिए ऐसा सबल आध्यात्मिक आधार है जिसे समर्थ एवं समग्र कहना कोई अत्युक्ति नहीं। इसी के बलबूते आज का बौद्धिक समाज कल के नवयुग में अपना रूपान्तरण आध्यात्मिक समाज के रूप में कर सकेगा।

आध्यात्मिक समाज का दार्शनिक आधार

प्रत्येक समाज का अपना दार्शनिक आधार होता है। आज की स्थिति कुछ भी क्यों न हो, पर पिछले दिनों बीसवीं सदी का समूचा ताना-बाना रूसो के प्रजातंत्र, मार्क्स के साम्यवाद और नीत्शे के नास्तिकवाद के इर्द-गिर्द बुना जाता रहा है। इन्हीं तीनों की तिकड़ी अपनी पीढ़ियों के मस्तिष्क पर बेतरह छायी रही है। इनके प्रतिपादनों पर विचार करने के लिए हर किसी को बाध्य होना पड़ा है।

प्रजातंत्रवाद की पिछली दशाब्दियों में अच्छी खासी धूम रही है। युग-युग से चले आ रहे राजतंत्र की जड़ें उस प्रजातंत्रवादी तूफान ने उखाड़कर फेंक दीं। दुनिया के अधिकांश देशों में प्रजातंत्र शासन स्थापित हुए। यों अब अनुभव ने उसमें भी खोट निकाल दी कि अज्ञ और अनुत्तरदायी लोगों के हाथ में वोट का अधिकार चले जाने से चुने हुए लोगों में अवांछनीय तत्त्वों की भरमार हो जाती है। फिर तो जिन लोगों द्वारा सरकारें चलायी जाती हैं वे प्रजा द्वारा प्रजा पर राज्य होने के पवित्र उद्देश्य से भटककर निहित स्वार्थों की पूर्ति में लग जाते हैं और प्रजा के हाथ कुछ ऐसा नहीं लगता जिसे पाने के उसे स्वप्न दिखाए गए थे। इस खोट के निराकरण का उपाय न देखकर अब प्रजातंत्र के प्रति आरम्भिक आकर्षण शिथिल होने लगा है और यह सोचा जा रहा है कि चुनाव पद्धति में कोई ऐसा मौलिक और क्रान्तिकारी परिवर्तन होना चाहिए जिससे प्रजा द्रोही तत्त्वों को प्रजापति बनने की घुसपैठ से रोका जा सके।

दूसरी विचारधारा है- मार्क्स का साम्यवाद। इसके लिए भी लोगों का आरम्भिक उत्साह कम नहीं था। आर्थिक समानता का नारा निर्धन और अभावग्रस्त वर्ग

---

८६. आचार्य श्रीराम शर्मा-देवसंस्कृति का मेरुदण्ड है यज्ञ, अखण्ड ज्योति वर्ष ५५, अंक ११, पृ. ७

८७. यज्ञोभुवनस्य नाभि, शतपथ ब्राह्मण ९/१०/१४

८८. आचार्य श्रीराम शर्मा-यज्ञ विश्व का सर्वोत्कृष्ट दर्शन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४४, अक ९, पृ. ४९

को बहुत आकर्षक लगा। 'गरीबो! तुम्हें साम्यवादी बनकर सिर्फ गरीबी ही खोनी है।' इस आश्वासन ने सहज अर्थ लाभ के सुखद स्वप्नों की वजह से बहुमत को साम्यवाद समर्थक बना दिया। इसकी राज्य क्रान्ति के बाद साम्यवाद मात्र दर्शन न होकर प्रचण्ड तूफान बन गया। एक के बाद एक देश उसकी चपेट में आने लगे। जहाँ शासन सत्ता नहीं हथियायी जा सकी वहाँ भी साम्यवादियों की मान्यताओं से प्रभावित लोगों की संख्या कम नहीं रही।

परन्तु समय बदलते देर नहीं लगी। प्रजातंत्र की तरह साम्यवादी तंत्र के खोट भी अनुभव ने सामने लाकर रख दिए। व्यक्ति को शासन का मूक, बधिक, गुलाम होकर जिस प्रकार अनुगमन के लिए प्रताड़ित होना पड़ा है; उस लोमहर्षक दबाव के कारण लोक चेतना भयाकुल होकर थर्रा उठी। साम्यवादी बनने का मतलब है-व्यक्तिगत चेतना की समाप्ति। वह कुछ नए सुधार, सुझाव, संशोधन प्रस्तुत करने में असमर्थ होकर बौद्धिक अपंग की तरह सिर्फ जी सकता है। उच्च सत्ता के विरुद्ध कुछ करना तो दूर, सोचा भी नहीं जा सकता। साम्यवादी के साथ अधिनायकवाद जिस प्रकार अविच्छिन्न बनकर प्रकट हुआ उससे संभव है उन देशों की आर्थिक, वैज्ञानिक अथवा दूसरी प्रगतियों में कुछ सहायता हुई हो, पर व्यक्ति की मौलिकता एवं स्वतंत्रता का एक प्रकार से अन्त हो गया है। यह घाटा इतना बड़ा था जिसकी वजह से सामान्य जन विद्रोह पर उतारू हो गया। इस विद्रोह का ही परिणाम रहा कि रूस में उपजे साम्यवाद की कब्रगाह भी वहीं बन गयी। प्रख्यात बर्लिन की दीवार टूटने के साथ ही एक मृग मरीचिका का समापन हो गया।

प्रजातंत्रवाद व मार्क्सवाद के अतिरिक्त एक अन्य व्यवस्था भी प्रचलित है-पूँजीवाद। पूँजीवाद को आर्थिक एकाधिकार वाद भी कहा जा सकता है। छल-बल-कौशल यहाँ तक कि शोषण के बलबूते अधिकतम संपत्ति के स्वामी बनने की प्रक्रिया पूँजीवाद के ही अंतर्गत आती है। व्यक्ति के स्थान पर जब देश पूँजीवादी हो जाते हैं तो छल-बल-कौशल व शोषण का क्षेत्र व्यापक हो जाता है। किसी देश का पूंजीवाद जब मुनाफे के लिए अपने देश से बाहर कदम बढ़ाता है तब वह साम्राज्यवाद का रूप धारण कर लेता है। प्राचीन समय का साम्राज्यवाद सैनिक आक्रमण के रूप में आगे बढ़ता था और पराधीन देशों का शोषण भूमि कर के रूप में बरतता था। पूँजीवाद का साम्राज्य विस्तार आरम्भ होता है व्यापार से। फिर अपने व्यापार को दूसरे देशों के मुकाबले में सुरक्षित रखने के लिए और पिछड़े हुए देशों के कच्चे माल पर एकाधिकार रखने के लिए साम्राज्यवादी देशों में परस्पर झगड़ा के एकाधिकार में परिवर्तित हो जाता है। उसी प्रकार साम्राज्यवाद भी अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्र व्यापार से आरम्भ होकर बलवान पूंजीपति राष्ट्र के एकाधिकार में परिवर्तित हो जाता है और इस एकाधिकार को प्रत्येक पूँजीवादी राष्ट्र के पूंजीपति अपने ही अधिकार में रखना चाहते हैं। एकाधिकार और शोषण की यह भावना समाज समुदाय के लिए कितनी भयावह है, मानवीय जीवन के अनुभवियों से छुपी नहीं है।

इन तीनों की असफलताओं को देखकर मनीषी पीटर एफ. ड्रकर का कहना है कि विश्व इस समय अपने इतिहास के अद्‌भुत मोड़ पर है। साम्यवाद मर चुका, समाजवाद रास्ते से हट चुका और पूँजीवाद इस क्रम में बहुत पीछे नहीं है।[८९] अर्थात यह भी हटने वाला है।

इन सबके अतिरिक्त एक अन्य प्रचण्ड विचार-धारा नीत्शे का नास्तिकवाद रहा है। नीत्शे की 'संगीत की आत्मा से त्रासदी का जन्म', 'प्रफुल्ल, विवेक, पुण्य-पाप से दूर', 'नीति वाक्यों की वंश परम्परा', पुस्तकें बहुत लोकप्रिय हुईं। नीत्शे अपनी विचारधारा में एक आकर्षक घोषणा की, ईश्वर मर गया। हमने और तुमने मिलकर उसे मार दिया। जहाँ तक घोषणा की बात थी लोगों की विपर्ययवादी मनोवृत्ति को बहुत भायी। यो अनीश्वरवाद कोई शासन पद्धति नहीं है। फिर भी यह तो मानना पड़ेगा कि जीवन की गतिविधियों को प्रभावित करने में उसका बहुत बड़ा हाथ है। ईश्वरवाद मात्र पूजा उपासना की क्रिया-प्रक्रिया नहीं है। उसके पीछे एक

८९. Peter F. Drucker- Is Capitalism Coming to an End, Span, May 1993, p. 21

प्रबल दर्शन भी जुड़ा हुआ है। जो मनुष्य की आकांक्षा, चिंतन प्रक्रिया और कर्म पद्धति को प्रभावित करता है। समाज, संस्कृति, संयम, चरित्र, सेवा, पुण्य परमार्थ आदि सत्प्रवृत्तियों को अपनाने से व्यक्ति की भौतिक सुख-सुविधाओं में निश्चित रूप से कमी आती है। भले ही उस बचत का उपयोग लोक कल्याण में कितनी ही अच्छाई के साथ क्यों न होता है। आदर्शवादिता के मार्ग पर चलते हुए जो प्रत्यक्ष क्षति होती है उसकी पूर्ति ईश्वरवादी स्वर्ग, मुक्ति, ईश्वरीय प्रसन्नता आदि विश्वासों के आधार पर कर लेता है। इसी प्रकार अनैतिक कार्य सामने आने पर वह ईश्वर के दण्ड से डरता है। नास्तिकवादी के लिए न तो पाप के दण्ड से डरने की जरूरत रह जाती है और न पुण्य-परमार्थ का कुछ आकर्षण रहता है। आत्मा का अस्तित्व अस्वीकार करने और शरीर की मृत्यु के साथ आत्यन्तिक मृत्यु हो जाने की मान्यता उसे यही सुझाव देती है कि जब तक जीना हो अधिकाधिक मौज-मजा उड़ाना चाहिए।

उपासना से भक्त और भगवान को क्या लाभ होता है, यह सवाल पीछे का है। प्रधान तथ्य यह है कि आत्मा और परमात्मा की मान्यता मनुष्य के चिंतन और कर्तृत्व को एक रीति-नियम के अंतर्गत बहुत हद तक जकड़े रहने में सफल होती है। इन दार्शनिक बंधनों को उठा लिया जाय तो मनुष्य की पशुता कितनी उद्धत हो सकती है और उसका दुष्परिणाम किस प्रकार समस्त संसार को भुगतना पड़ सकता है इसकी कल्पना भी कँपा देने वाली है।

नि:संदेह इस युग के महान् दार्शनिकों में से रूसो व मार्क्स की भाँति ही फैड्रिक, नीत्से की भी गणना की जाती है। इन तीनों ने ही समय की विकृतियों को और उसके कारण उत्पन्न होने वाली व्यथा-वेदनाओं को सहानुभूति के साथ समझने का प्रयत्न किया है। अपनी मन:स्थिति के अनुरूप उपाय भी सुझाए हैं। दुर्बलता बस इतनी रही कि समग्रता के स्थान पर एक पक्षीय सोच प्रस्तुत की गई। इस एक पक्षीय सोच को अपने चिंतन की पूर्णता में समग्र-सर्वांगीण बनाते हुए आचार्य जी का कहना है-'इसका उचित समाधान-आध्यात्मिक समाजवाद में निहित है। आध्यात्मिक समाजवाद के तत्त्व चिंतन में आध्यात्मिकता को वैयक्तिक और सामाजिक क्रियाकलापों का प्रेरणा केन्द्र, ऊर्जा स्रोत माना गया है। इससे समर्थता पाकर परिष्कृत और प्रतिभावान हुआ वैयक्तिक जीवन समाज में अनोखी जीवनकला को शिल्प कर सकेगा। यह शिल्पकारी नूतन व्यवस्था समाजवाद के अनुरूप की जा सकेगी। समाजवाद को प्रजातंत्र एवं साम्यवाद के मिले-जुले रूप में समझा जा सकता है। इसमें आध्यात्मिकता का समावेश होने से एक ऐसी रचना संभव हो सकेगी जिसमें व्यक्ति की मौलिकता नष्ट न हो-वह अपने उत्कर्ष और उन्नति के चरम तक पहुँच सके। साथ ही उसमें ऐसी कोमल भावनाएँ विकसित हो सकें कि वह अपनी उपलब्धियों को 'सर्व जन हिताय-सर्व जन सुखाय' प्रस्तुत करे। साथ ही इस तत्त्व चिंतन से प्रेरित हुआ समाज स्वयं को ऐसी प्रयोगशाला के रूप में विकसित करे, जहाँ सभी सुविकसित और सुव्यवस्थित रह सकें।'[९०]

आध्यात्मिक समाजवाद का स्वरूप

आध्यात्मिक समाजवाद का स्वरूप पूर्व प्रचलित विचारधाराओं से भिन्न है। इसमें बाह्य अनुशासनों, नीतियों, कानूनों की बहुतायत की जगह आध्यात्मिक जीवन दृष्टि को अपनाकर मनुष्य के सद्गुणों, सत्प्रवृत्तियों, सद्भावनाओं को उभारने, विकसित करने पर बल दिया गया है। पहले किए गए प्रयासों का उद्देश्य भी सामाजिक एकता और समता को हासिल करना प्रचारित किया गया था, पर आध्यात्मिक जीवन दृष्टि के अभाव में उन्हें सफलता नहीं मिल सकी। यूनान और रोम के विजय अभियान रचने वालों ने भी अपना यही मकसद बताया था। सिकन्दर का मन विश्व राष्ट्र की सुखद कल्पनाओं में रंगा था। अंग्रेजों ने यही उद्देश्य प्रचारित कर विश्व की महत्त्वपूर्ण जगहों पर अपने उपनिवेश स्थापित किए। 'विश्व को एक करूँगा'- हिटलर ने इसी संकल्प की आड़ में अपना ताना-बाना बुना था। बीसवीं सदी के दूसरे दशक में मार्क्स के साम्यवाद का नारा देकर-

९०. आचार्य श्रीराम शर्मा-क्या ईश्वर सचमुच मर गया? अखण्ड ज्योति, वर्ष ५८, अंक ४, पृ. ५

स्टालिन ने रूस में छोटे पैमाने पर यही करतब दिखाने की कोशिशें की। लेकिन ये ढेरों प्रयास-पुरुषार्थ अपनी चरम परिणति में एकता से उतना ही दूर रहे जैसे आकाश से धरती।"[११]

आचार्य जी के अनुसार-'एकता के नाम पर ज्यादातर कोशिशें आधिपत्य स्थापना की रही हैं। इनके पीछे प्राय: सभी ने विश्व राष्ट्र के सम्राट होने के सपने सँजोये थे। यही कारण है छ: सौ करोड़ मनुष्यों की जमात में ऐसों की संख्या दो चार मुट्ठी से अधिक नहीं होगी जिनका एकता की ओर झुकाव हो; क्योंकि सभी को अपने पूर्व अनुभवों से एकता का एक ही अर्थ मालूम हो सका है-स्वतंत्रता का अपहरण, मौलिकता का छिन जाना; क्योंकि अधिकांश की शैली को न तो मानवीय व्यक्तित्व की बारीकियों का पता है और न मौलिकता के रक्षण की जानकारी है।"[१२] रूस में हुए साम्यता के प्रयासों में यही तत्त्व नजर आता है। मार्क्स की नजर में मनुष्य एक आर्थिक प्राणी भर था। कल्पना, स्वतंत्र इच्छा एवं मौलिक क्षमताओं का विकास जैसी चेष्टाएँ भी इन्सान के अन्दर समायी हैं, शायद इसे सोचने की उन्हें फुरसत नहीं मिली और यही कारण है कि समाजवाद के नाम पर ऐसा शिकंजा तैयार हुआ जिसे तोड़ फेंकने के लिए वहाँ का जनजीवन शुरू से कोशिश में जुटा रहा और जब तक तोड़ नहीं फेंका चैन नहीं लिया।"[१३]

विश्वानुभूति के लिए आध्यात्मिक संवेदना चाहिए। जिसका बोध श्वेताश्वतर उपनिषद के शब्दों में 'एकोदेवा सर्वभूतेषु गूढ़: सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (वे एक ही परमदेव परमेश्वर समस्त प्राणियों के हृदय रूपी गुहा में छिपे हुए हैं। वे सर्वव्यापी और समस्त प्राणियों के अन्तर्यामी परमात्मा हैं। श्वेता. ६/११)। संवेदनाओं की यह व्यापक अनुभूति जब संबंध बनकर प्रकट होती है, तब विश्व मानवता के प्रति प्रेम अस्वाभाविक नहीं रह जाता। यह बोध जितना व्यापक और सघन होगा एकत्व उतना ही विस्तृत होता जाएगा, लेकिन यह अपने अर्थ और तत्त्व में राजनीतिक और भौगोलिक भूमिकाओं से नितान्त दूर होते हुए भी मानव हृदय के सबसे नजदीक है। इस तरह के प्रयास और परिणति में मानव की स्वतंत्रता का हरण न तो किया जाता है और न होता है। हाँ वह स्वयं अपनी अन्तर भावनाओं की कसक और हुलस के कारण आकुल-व्याकुल होकर अपने स्वार्थों का उत्सर्ग कर डालता है।"[१४]

आचार्य जी के शब्दों में-"स्वतंत्रता तो मानव की सबसे बहुमूल्य निधि है। किसी भी कीमत पर इसके त्याग के लिए उसे विवश नहीं किया जाना चाहिए। विश्व राष्ट्र की स्थापना और मानवीय स्वतंत्रता में से किसी एक को चुनना पड़े तो निश्चित रूप से मानवीय स्वतंत्रता को चुनना ज्यादा श्रेयस्कर होगा; क्योंकि यह मानव व्यक्तित्व में समायी विशिष्टताओं के विकास के लिए सर्वोत्कृष्ट और अनिवार्य अवस्था है। पिछले दिनों मानव जाति को कुण्ठाओं, खण्डित व्यक्तित्व और अर्ध विक्षिप्तता की जो गहरी पीड़ा भोगनी पड़ी है उसका एकमात्र कारण उसका स्वातन्त्र्य हनन रहा है। विश्व के जीवन में आध्यात्मिक समाजवाद से उपजी सांस्कृतिक क्रान्ति ही एकमात्र प्रक्रिया है जो अपनी चरम परिणति में उसे एकता और स्वतंत्रता की दोनों अलभ्य उपलब्धियाँ एक साथ सौंपने में समर्थ है।"[१५]

आध्यात्मिक जीवन दृष्टि से उपजी एकता अपने विकसित रूप में समता को जन्म देती है। जब तक बिखराव है-तभी तक विषमता है। आत्मीयता संवेदना जैसे ही एकता रूप में प्रकट होती है वैसे ही उत्सर्ग भावना में असमानता स्वभावतया अपना अस्तित्व खो बैठती है और समता का विकास होता है। इसे अपना और अपने आध्यात्मिक समाजवाद का उद्देश्य स्वीकार करते हुए आचार्य जी का कहना है-"जिस युग निर्माण

---

११. आचार्य श्रीराम शर्मा-सांस्कृतिक क्रान्ति जो कि भवितव्यता है, अखण्ड ज्योति वर्ष ५५, अंक ६, पृ. ६३
१२. वही, पृ ६४
१३. वही
१४. वही, पृ ६४-६५
१५. वही, पृ. ६५

आन्दोलन के लिए हमारी जीवन साधना रही है, जिसके लिए हम जलते और तपते रहे हैं, जिसके लिए अपने समस्त साधनों को प्रयुक्त कर रहे हैं और जिसके लिए जीवित हैं उसका दूसरा चरण समता ही है।''[९६]

इन दिनों मनुष्य-मनुष्य के बीच असमानता जिन आधारों पर अवस्थित है उनमें प्रमुख यह हैं १.जाति, २. लिंग ३. धन ४. पद। आचार्य जी के अनुसार-''इस प्रकार की असमानताओं का अंत करके ही नए युग का सूत्रपात किया जा सकेगा। मनुष्य जाति एक है। इस एकता में जाति-पाँति की, वर्ण-भेद की असमानता बुरी तरह अवरोध उत्पन्न कर रही है। आज नहीं तो कल इसे छोड़ना ही होगा। परिस्थितियाँ इसके लिए विवश करेंगी। समझदारी का तकाजा उदारता और व्यापकता अपनाने का है। आज भले ही यह बात गले न उतरे, पर कल तो यह एक अनिवार्य आवश्यकता अनुभव होगी। जातीय जीवन में मनुष्य मात्र के नैसर्गिक और नागरिक अधिकारों को सम्मान के स्तर पर मान्यता देनी होगी।''[९७]

असमानताओं में दूसरी असमानता लिंग भेद की है। नर-नारी के बीच पिछले सामन्तवादी अंधकार युग मे आकाश-पाताल जैसी खाई उत्पन्न हो गयी थी। वह धीरे-धीरे कम तो हो रही है, पर अभी वह मूढ़ता अवांछनीय रूप में विद्यमान है। अगला समय अनीति सहन नहीं करेगा, भले ही वह किसी वर्ग की क्यों न हो। राजतंत्र समाप्त हो गए, अब वर्ग तंत्र भी समाप्त होने जा रहा है। नए युग में किसी को इस आधार पर ऊंच-नीच न माना जाएगा कि उसका अमुक वंश में जन्म हुआ है। बड़प्पन के आधार पर केवल गुण, कर्म, स्वभाव रह जाएंगे। रंग-जाति या वंश के आधार पर किसी को न तो अहंकार करने का अवसर रहेगा और न इस कारण किसी को हीनता-दीनता अनुभव करनी पड़ेगी।''[९८]

तीसरी असमानता धन के आधार पर है। धनी और निर्धन की असमानता के कारण एक व्यक्ति देवताओं जैसी सुख-सुविधाएँ भोगता है और अप्रत्याशित सम्मान पाता है। दूसरी ओर निर्धन व्यक्ति वस्त्र, घर, चिकित्सा, शिक्षा जैसी सुविधाओं से वंचित रह जाता है। यह विषमता न ईश्वर प्रदत्त है, न भाग्य का खेल और न पुरुषार्थ की न्यूनता पर अवलम्बित। यह समाज में प्रचलित अर्थ प्रणाली के दोष पूर्ण होने का परिणाम है। आचार्य जी का कहना है-''जिस नवयुग की आराधना में हम संलग्न हैं उसकी अर्थ प्रणाली में समानता को ही आधार माना जाएगा। गरीब और अमीर दोनों का ही अस्तित्व न रहेगा। प्रस्तुत परिस्थितियों के अनुरूप साधनों से काम चलाकर हर किसी को संतोष करना पड़ेगा। तब लालच से प्रेरित होकर असंख्य अपराधों की तथा ईर्ष्या-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाली आत्मिक अशान्ति की कोई गुंजाइश न रहेगी। न कोई निठल्ला रहेगा और न किसी को बेतरह पिसना पड़ेगा।''[९९]

चौथी असमानता पद की है। प्रतिभाशील एवं सुयोग्य व्यक्तियों को उनकी अतिरिक्त क्षमता के अनुरूप काम सौंपे जाएं यह ठीक है, लेकिन पद के कारण अत्यधिक सुविधा एवं सम्मान का मिलना गलत है। इस प्रलोभन में पद प्राप्त करने के लिए अयोग्य लोगों में भी उसके लिए लिप्सा एवं प्रतिद्वन्द्विता पैदा होती है और अनेक अव्यवस्थाओं का जन्म होता है। आचार्य जी के शब्दों में-पदों के कारण आज जन साधारण में जो असमानता, विषमता उत्पन्न की जा रही है यदि वह समाप्त न की जाएगी तो हमारा नेतृत्व हर क्षेत्र में केवल अवांछनीय व्यक्ति ही करेंगे और उसका दुष्परिणाम अनन्त काल तक जनता को भोगना पड़ेगा। धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक हर क्षेत्र में पद का गौरव तभी रहेगा, जब उसका भार सुयोग्य व्यक्ति वहन करें और नैतिक सुयोग्यता की एक महत्त्वपूर्ण कसौटी यह है कि पदाधिकारी जनसाधारण को उपलब्ध होने वाली अथवा अपने लोक कार्यों के लिए अनिवार्य सुविधाओं के अतिरिक्त व्यक्तिगत लाभ देने वाली सभी सुविधाओं

९६. आचार्य श्रीराम शर्मा-अगले दिनों सौम्य समता की प्रतिष्ठापना होनी है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ७, पृ. ६१
९७. वही, पृ ६३
९८. वही, पृ ६३
९९. वही, पृ. ६४

से इन्कार कर दें। आज पदों का वर्तमान स्वरूप असमानता फैलाने और नेतृत्व को सुयोग्य हाथों से छीनकर अयोग्य हाथों में दे देने का निमित्त बना हुआ है। वर्ण, लिंग, धन की तरह हमें पदों का भी स्वरूप बदलना पड़ेगा अन्यथा किसी भी सस्था का स्वरूप निर्मल न रह सकेगा।'[१००]

इस तरह आध्यात्मिक समाजवाद के दो तत्त्व अथवा उपलब्धियाँ एकता और समता हैं। ये दोनों ही एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं। आध्यात्मिक संवेदना से उत्पन्न भावनात्मक एकता ही समता का आधार है। इस भाँति समता का अनुसरण भावनात्मक एकता को पाने में कम सहायक नहीं सिद्ध होता। आचार्य जी का मानना है कि एकता और समता की सुखद परिणति ही अगले दिनों विश्व धर्म, विश्व संस्कृति, विश्व भाषा और विश्व राष्ट्र के रूप में दिखाई पड़ेगी।

विश्व धर्म, विश्व संस्कृति, विश्व भाषा एवं विश्व राष्ट्र का उदय

विश्व धर्म-"जब ईश्वर एक है, उसका संसार एक है, उसके पुत्र एक हैं, ईश्वर का संदेश एक है, उद्देश्य एक है तो फिर धर्म भी एक ही होना चाहिए। अनेक धर्म जो परस्पर टकराते हैं, एक दूसरे का खण्डन करते हैं, एक दूसरे से विपरीत दिशाएँ दिखाते हैं, ईश्वर प्रेरित नहीं हो सकते।"[१०१] दूसरे धर्म वालों पर अपने धर्म की गरिमा थोपने के लिए इतना नर संहार इस दुनिया में हुआ है, जितना समस्त युद्धों में भी नहीं हुआ। क्या यही स्थिति उपयुक्त है? क्या इसे ही बने रहने देना चाहिए? विभिन्नताओं की उलझनें सत्य तक पहुँचने के लिए भारी बाधा है। आज का धर्म जंजाल इतना उलझा हुआ है कि वह वास्तविक धर्म तक आत्मा को पहुँचने देने में सहायक नहीं बाधक ही सिद्ध हो रहा है।

आचार्य जी के अनुसार-"विवेक का तकाजा है कि धर्म की एकरूपता होनी चाहिए। समस्त विश्व का एक ही धर्म होना चाहिए। उसमें सत्य, न्याय, नीति, सदाचार, शिष्टाचार, आदर्श, औचित्य, उदारता, स्नेह, सद्भावना, संतोष, संयम जैसी मान्यताओं को प्रश्रय मिलना चाहिए। मानवीय आस्थाओं और प्रक्रियाओं को जो पशुता के स्तर से ऊँचा उठाकर देवता की दिशा में विकसित कर सके, वही विश्व धर्म हो सकता है। अगले दिनों ऐसे ही विश्व धर्म का विकास होना है। संसार के कोने-कोने में रहने वाले एक ही प्रकार के धर्म को मानेंगे। एक ही प्रकार की पूजा पद्धति से सबका काम चल जाएगा। एक ही धर्म मंच पर सब लोग इकट्ठे हुआ करेंगे। धर्म के नाम पर व्यय होने वाला, समय, श्रम तथा धन इन्हीं प्रयोजनों में लगेगा। ऐसा विवेक पूर्ण धर्म मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम और आत्मीयता उत्पन्न करने तथा अंतःकरण के दिव्य तत्त्वों के उत्कर्ष में सहायक होगा। धर्म के नाम पर विराजमान मूढ़ मान्यताओं और धर्म आडम्बरों में लगी हुई आज की ज्ञानवान शक्ति जब विश्व धर्म की विवेक सम्मत आदर्शवादी प्रतिष्ठापनाओं में नियोजित होगी तब उसके रचनात्मक परिणाम इतने शानदार होंगे कि संसार स्वर्ग जैसा दिखाई देगा।"[१०२]

विश्व संस्कृति-सुस्थिर मानवीय एकता के लिए सांस्कृतिक एकता आवश्यक है। जीवनयापन की विभिन्न दिशाओं में हमें सार्वभौम एकता स्थापित करनी चाहिए। विज्ञान और शिक्षा की प्रगति ने संसार को बहुत छोटा बना दिया है, सुदूर महाद्वीप अब गली-मुहल्लों की तरह समीप आ गए हैं। पिछले दिनों जब यह परिस्थितियाँ न थीं, सुदूर देशों के निवासी परस्पर परिचय के अभाव में अलग-अलग ढंग-ढर्रे को अपनाए रहने के लिए विवश थे; पर परिस्थिति वैसी नहीं रही। संसार समीप आ रहा है तो हमारी संस्कृति भी समीपवादी ही होनी चाहिए। अब पृथकताओं पर अड़े रहने का, अपने को श्रेष्ठ, दूसरे को निकृष्ट बताते रहने का कोई कारण नहीं। आचार्य जी का कहना है-"संसार भर में फैली हुई विभिन्न संस्कृतियों में से चुने हुए सर्वश्रेष्ठ सर्वोपयोगी अंश लेकर एक सर्वांगपूर्ण सार्वभौम संस्कृति का निर्माण अब होने ही वाला है।"

---

१००. आचार्य श्रीराम शर्मा-अगले दिनों सौम्य समता की प्रतिष्ठापना होनी है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ७, पृ ६१

१०१. आचार्य श्रीराम शर्मा-वसुधैव कुटुम्बकम् हमारी गतिविधियों का मूल प्रयोजन, अखण्ड ज्योति वर्ष ३०, अंक ६, पृ. ६२

१०२. वही, पृ. ६३

संसार के किसी भी कोने में रहने वाले व्यक्ति को यह अनुभव करना होगा कि वह विश्व परिवार का एक घटक है। विश्व संस्कृति की एक इकाई के रूप में ही उसे अपना रहन-सहन एवं प्रथा, परम्पराओं को अपनाना है। जिस प्रकार छोटे-छोटे वर्गों में एक ही प्रकार के रिवाज चलते हैं, उसी प्रकार जब समस्त विश्व का एक सम्मिलित वर्ग होगा, एक ही समाज बनेगा, एक ही कुटुम्ब का आचरण होगा तो प्रथा-परम्पराओं में भी एकरूपता उत्पन्न करनी होगी। रुचि भिन्नताएँ रह सकती हैं, कोई बालों में कंघी कैसे करे-कोई साबुन कौन सा लगाए जैसे छुटपुट अभिरुचियों में विभिन्नता रह सकती है। आचार-विचार, व्यवहार और शिष्टाचार की सामान्य रीति-नीति और प्रथा-परम्परा समस्त विश्व में एक जैसी होनी चाहिए।

इस दृष्टि से भारतीय धर्म, अध्यात्म तथा संस्कृति विश्व मानव की सार्वभौम आवश्यकताएँ पूरी करने में भली प्रकार समर्थ है। पिछले पांच हजार वर्षों में जो विकृतियाँ उत्पन्न हुई हैं यदि उन्हें निकाल दिया जाय तो विशुद्ध भारतीय मान्यताएँ इस स्तर की है मानो किसी ने समस्त मानव जाति के लिए वास्तविकता, उपयोगिता और औचित्य का ध्यान कर ही विनिर्मित किया हो। निकट भविष्य में जिस नवयुग को लाने की साधना चल रही है वही प्राचीनकाल में चिरकाल तक यहाँ विराजमान रहा है।[१०३] भविष्य में कभी यही विश्व संस्कृति का स्वरूप धारण करने वाली है।

विश्व भाषा-विश्व भाषा की आवश्यकता 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की स्थिति उत्पन्न करने के लिए अनिवार्य है। वह कैसा कुटुम्ब, जिसके सदस्य एक दूसरे की बोली न समझे, परस्पर बातचीत न कर सकें। विचारों के आदान-प्रदान के लिए भाषा ही माध्यम है। भाषाओं की भिन्नता मनुष्य को एक सीमित समाज एवं क्षेत्र में संकुचित करती है। विश्व के विशाल ज्ञान भण्डार को सरलतापूर्वक उपलब्ध करने, हर विश्व नागरिक को निर्बाध गति से विचार विनिमय करने के लिए एक विश्व भाषा की आवश्यकता है। अन्यथा मानवता टुकड़ों में, क्षेत्र और प्रान्तों में विभक्त बनी सड़ती-गलती रहेगी। हम भारतवासी एक राष्ट्र भाषा की आवश्यकता अनुभव करते हैं। इसी प्रकार यदि विश्व नागरिकता का-वसुधैव कुटुम्बकम् का विस्तार होता है तो उसके आधार भी तैयार करने होंगे। इन आधारों में एक विश्व भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान होगा।[१०४] विश्व की यह ज्वलन्त आवश्यकता पूरी करनी ही होगी। आचार्य जी के अनुसार-'संस्कृत भाषा में यह सारी विशेषताएँ विद्यमान हैं, वस्तुतः किसी समय वह विश्व भाषा ही थी और अगले दिनों अपने महान् गुणों के कारण यदि वह पुनः अपना स्थान प्राप्त कर ले तो यह तनिक भी आश्चर्य की बात न होगी।'[१०५]

विश्व राष्ट्र-विश्व शासन ही समस्त राजनैतिक तथा सामाजिक समस्याओं का हल कर सकेगा। यातायात के साधनों के अभाव में छोटे-छोटे सामन्तों, राज्य शासनों की आवश्यकता रही होगी, पर अब राष्ट्रवाद भी, प्रान्तवाद, जातिवाद जैसी ही संकीर्णता का प्रतीक बनता जा रहा है। अपने देश का लाभ करने के लिए-दूसरे देश का शोषण उत्पीड़न करना अब देश भक्ति का एक अंग बन चला है। दूसरे देशों के साथ अन्याय करके भी अपने देश का लाभ करने वाले देशभक्तों की पंक्ति में जा बैठते और सम्मानित होते हैं। आज की अंतर्राष्ट्रीय कूटनीति इसी आधार को अपनाए हुए है कि अपने देश का लाभ जैसे भी बने वैसे किया जाय। युद्धों का मूल कारण यह राष्ट्रवाद के नाम पर पनप रही क्षेत्रीय संकीर्णता ही है। तस्कर व्यापार पनपने का कारण यही है। एक देश के पास उपयोग के पर्याप्त साधन हों और दूसरे देश वाले उससे वंचित रहें। एक क्षेत्र में विपुल सम्पन्नता और पड़ोस के क्षेत्र में विपुल विपन्नता रहे। इसका कारण विश्व वसुधा एवं विश्व वसुन्धरा को राष्ट्रवाद के आधार पर कृत्रिम रूप में खण्ड-खण्ड कर देना है।

---

१०३. आचार्य श्रीराम शर्मा-वसुधैव कुटुम्बकम् हमारी गतिविधियो का मूल प्रयोजन, अखण्ड ज्योति वर्ष ३०, अंक ६, पृ ६३-६४

१०४. वही, पृ. ६४

१०५. वही, पृ ६४

आचार्य जी के शब्दों में-"यदि यह रेखाएँ मिटा दी जाएं और समस्त संसार एक राष्ट्र बन जाय, एक शासन के अंतर्गत शामिल हो तो फिर युद्धों-महायुद्धों की विभीषिका सदा के लिए समाप्त हो जाय। एक प्रान्त में छोटे-छोटे अनेक जिले होते हैं, उनकी शासन व्यवस्था अलग-अलग रहते हुए भी एक केन्द्र से शासित रहती है। अतएव उनमें विग्रह, संघर्ष या युद्ध का कोई अवसर नहीं आता। यदि एक विश्व केन्द्र से संसार के समस्त राष्ट्र शासित हों तो उनके झगड़े विश्व न्यायाल से तय होते रहेंगे। आशंका-भय और अविश्वास से ग्रसित प्रत्येक राष्ट्र आजकल सुरक्षा के नाम पर जो विपुल धन व्यय कर रहा है उसकी कोई आवश्यकता न रह जाएगी। आजकल प्रायः एक चौथाई आय युद्ध कार्यों की शिक्षा व्यवस्था में लगती है। वह बच जाए तो उतने साधन मानवीय भ्रातृत्व एवं सुख-सुविधा के साधन जुटाए जाने में लगाए जा सकते हैं और देखते-देखते यह संसार स्वर्गीय सुख-शान्ति से ओतप्रोत हो सकता है।[१०६] भविष्य में आध्यात्मिक समाजवाद का व्यापक प्रभाव इसी रूप में देखा जा सकेगा।"

विश्व व्यापी एकता और मानव भ्रातृत्व को एक मधुर कल्पना के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। वसुधैव कुटुम्बकम् के आदर्श को एक सरस स्वप्न मात्र माना जाता है। समय आ गया है कि इन कल्पनाओं और स्वप्नों को साकार बनाया जाय। आचार्य जी के अनुसार-"एकता की उपयोगिता एवं आवश्यकता को यदि हम समझते-स्वीकार करते हैं तो उनके आधारों को ढूँढना होगा। पलंग के चार पायों की तरह एकता के भी चार स्तम्भ हैं-१.धर्म २. संस्कृति ३. भाषा ४. शासन। विश्व को एकता के सूत्र में आबद्ध करना हो तो इन चार आधारों में भी सार्वभौम स्तर पर एकता उत्पन्न करनी होगी। युग निर्माण योजना के विविध कार्यक्रमों के पीछे यही मूल भावना एवं प्रक्रिया काम कर रही है।"[१०७] उसके द्वारा प्रेरित और प्रवर्तित आध्यात्मिक समाजवाद की परिणति भविष्य में विश्व धर्म, विश्व संस्कृति, विश्व भाषा एवं विश्व शासन के रूप में व्यापक आध्यात्मिक समाज के रूप में देखी जा सकेगी। इस आध्यात्मिक स्वभाव की सुदृढ़ता एवं सुस्थिरता का आधार उसके व्यवस्थापक होंगे।

आध्यात्मिक समाज के व्यवस्थापक

आचार्य जी के अनुसार आध्यात्मिक समाज की भावी व्यवस्था ऋषितंत्र द्वारा संचालित होगी। व्यवस्थाक्रम में इनके तीन स्तर होंगे-विचारक, प्रशासक और लोकशिक्षक। इन्हें ब्रह्मर्षि, राजर्षि और देवर्षि भी कहा जा सकता है।

ब्रह्मर्षि-ब्रह्मर्षियों का क्षेत्र चिंतन है। इसकी अपनी शक्ति होती है। जो चेतना की गहराई में जाकर, विश्व की सूक्ष्मता में प्रवेश कर जीवन के सिद्धान्तों की शोध करती है। इस चिंतन शक्ति के अभाव में समाज पंगु हो जाएगा, प्रगति रुक जाएगी। भौतिक वैज्ञानिक शोध कार्य के लिए जिस प्रकार चिंतन एकान्त की आवश्यकता होती है ठीक उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक संशोधनों के लिए भी एकान्त सेवन करना पड़ता है।

राजर्षि-ब्रह्मर्षियों के चिंतन के आधार पर समाजसेवी लोकसेवा में निरत रहते हैं, इन्हें ही राजर्षि कहा जाता है। ऐसे सेवा करने वाले समाज में न रहे तो समाज सूख कर कुम्हला जाएगा। ऐसे लोकसेवी विचारशील समाज में आवाज बुलन्द करते हैं। आन्दोलन की जरूरत हो, तो आन्दोलन खड़ा करते, संगठन की जरूरत होती वह भी बनाते हैं। इस समूची कर्मठता के पीछे उनका कोई निजी स्वार्थ नहीं रहता। इधर ब्रह्मर्षि से सूत्र लेते एवं लोकसेवा के क्षेत्र में उस पर अमल करते हैं। ज्ञान द्वारा लोकरंजन करते हुए ये लोकसेवी राजर्षि समाज एक बहुत बड़ी शक्ति की भूमिका निभाते हैं।[१०८]

आचार्य जी ने इस प्रशासक वर्ग को लोकनायक की भी संज्ञा दी है। उनके अनुसार अध्यात्म साधनाओं

---

१०६. आचार्य श्रीराम शर्मा-वसुधैव कुटुम्बकम् हमारी गतिविधियों का मूल प्रयोजन, अखण्ड ज्योति वर्ष ३०, अक ६, पृ. ६५

१०७. आचार्य श्रीराम शर्मा-नवयुग की आधारशिला देंगे क्रान्तिदर्शी ऋषि, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अंक १, पृ. ३८

१०८. वही, पृ ३८

द्वारा स्वयं के जीवन को उत्कृष्टतम बनाने वाली आत्माएँ ही लोकजीवन को सच्चा नेतृत्व दे सकने में समर्थ हो सकती हैं। नए समाज में ओछे-हलके, वाचाल व्यक्तियों का कोई स्थान न होगा। फिर नेतृत्व जैसे महान् कार्य के लिए इन जैसों के बारे में सोचना ही ठीक नहीं। यह महान् कार्य महान् आत्माएँ ही कर सकेंगी। और महान् आत्माओं के अनेक गुणों में प्रमुख एक तपश्चर्या भी है। जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।'[१०९] इस तरह तपस्वियों का वर्ग ही अगले दिनों प्रशासनिक दायित्वों का निर्वाह करेगा।

देवर्षि-तीसरी शक्ति सुगम बोध पूर्ण साहित्य व प्रेरक वाणी की है। जिन विचारों का ज्ञानियों को अनुभव होता है उन विचारों को ऐसे चुने हुए शब्दों में ये ज्ञानी ही ही प्रकट करते हैं, ताकि लोकवाणी में लोग उन्हें ग्रहण कर सकें। इसमें विचार को पहचानने के साथ उन्हें वाणी का जामा पहनाना पड़ता है। वरन् उचित शब्दों के अभाव में प्रकाश की जगह तम व्याप्त हो सकता है। विचार तो अन्तर की गहराई में होता है। इसे प्रकट करने में शब्द का सहारा आवश्यक है। इसमें कुछ न्यूनता रहने का भाव होता है। दूसरा शब्द इस्तेमाल करें तो कुछ अतिरिक्त भाव भी आ सकता है। इसलिए एक एक शब्द के संबंध में विवेक रखना पड़ता है, ताकि न न्यून भाव प्रकट हो, न अतिरिक्त भाव, न विपरीत भाव। इन त्रिविध दोषों को टालकर जैसों का तैसा प्रकट करना चाहिए। यह तीसरी शक्ति-जनता के हृदयों तक सद्‌विचार पहुँचाने की कुशलता की शक्ति जिनमें होती है उन्हें देवर्षि करते हैं।'[११०]

समूचे शिक्षण तंत्र की आधारशिला यही हैं, आर्यभूमि की जो संस्कृति अपने यौवन में विश्व भर मे प्रचलित-प्रतिष्ठित हुई। उसका निर्माण यों ही नहीं हो गया। निर्माण के दौर में किन-किन पेचीदा-उलझनों से गुजरना पड़ा। इसे सुलझाने में श्रम सीकरों की जो मंदाकिनी बही उसे देखकर आश्चर्यभूत होना पड़ता है। रक्तवाही नलिकाओं की तरह फैलाई गई सांस्कृतिक ऊर्जा के संवहन तंत्र में शिक्षक ने ही हृदय की भूमिका निभाई है। विचारक ने भले मस्तिष्क की तरह संकेत दिये हो पर लोकजीवन की आपदा-व्यथा की धड़कनें उसी का जीवन रहा है। कहीं कोई अंग प्राण संचार के अभाव में सूख तो नहीं रहा? लोकसेवा रूपी श्वेत कण क्षय तो नहीं हो रहे? किसको कब और कैसे साज-संभाल करना है? इसी व्याकुलता को अपना अस्तित्व मान शिक्षक ने जीवन जिया।'[१११] अगले दिनों लोकशिक्षकों के विशाल तंत्र का गठन किया जाएगा। इन महाशिल्पियों की कुशल कला पुनः समाज, सामाजिकता, जीवन मूल्यों की नवीन वसुधा व्यापी भव्यता का निर्माण करेगी।'[११२]

आचार्य जी के अनुसार-'ऋषियों का यह तंत्र कभी समूचे भारत में सक्रिय था।' निकट भविष्य में पुनः यही गौरवमयी परम्परा दुहराई जाने वाली है। ऋषि संस्कृति का तेजोमय प्रखर सूर्य अपने सद्‌विचारों, सद्‌गुणों-व सत्कर्मों की शुभ रश्मियों से शीघ्र ही पुनःसमाज रूपी क्षितिज को प्रकाशित करेगा। व्यवस्था के द्वारा भावी नेतृत्व में ब्रह्मर्षि, राजर्षि व देवर्षि तीनों स्तरों पर पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं का वर्चस्व रहेगा। भावनामूलक समाज का नेतृत्व संवेदनशील हृदय वाली नारी के हाथों में हों, यही समीचीन है। आचार्य जी ने इसे नियति का अवश्यम्भावी विधान मानते हुए इक्कीसवीं सदी-नारी सदी का उद्‌घोष किया है।

इक्कीसवीं सदी-नारी सदी

समय-समय पर विभिन्न अतीन्द्रिय द्रष्टा-भविष्य वक्ता इसका संकेत करते रहे हैं। अपनी प्रसिद्ध कृति 'माई लाइफ एण्ड प्रोफोसीज' के आठवें अध्याय में जीन डिक्सन लिखती है कि-"२१वीं सदी नारी प्रधान होगी। विभिन्न क्षेत्रो का नेतृत्व महिलाएँ सँभालेंगी।"[११३]

---

१०९. आचार्य श्रीराम शर्मा-कौन करेगा भावी युग का नेतृत्व, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५३, अक १२, पृ. ३८

११०. आचार्य श्रीराम शर्मा-नवयुग की आधारशिला रखेगे क्रान्तिदर्शी ऋषि, अखण्डज्योति, वर्ष ५३, अक १, पृ. ३९

१११. आचार्य श्रीराम शर्मा-नवयुग का आधार स्तम्भ बनेगे लोकशिक्षक, अखण्डज्योति, वर्ष ५४, अंक ३, पृ ३२

११२. वही, पृ. ३२

११३. आचार्य श्रीराम शर्मा-इक्कीसवीं सदी बनाम उज्ज्वल भविष्य, भाग १, पृ. ३९

स्वामी विवेकानंद के अनुसार-"माँ परिवार का केन्द्र और हमारा उच्चतम आदर्श है। वह हमारे लिए ईश्वर की प्रतिनिधि है। एक नारी ऋषि ने ही सबसे पहले ईश्वर की एकता को प्राप्त किया और इस सिद्धान्त को वेदों की प्रथम ऋचाओं में कहा।"[११४] भविष्य में नेतृत्व उसी के हाथों में हो तो किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए। श्री अरविन्द आश्रम की श्री माँ के अनुसार-"नारियों को ही सबसे पहले यह महान् परिवर्तन साधना होगा; क्योंकि उनका विशेष कार्य है।"[११५] महर्षि अरविन्द ने आगामी शताब्दी को 'मदर सेन्चुरी' के नाम से पुकारा है।[११६]

लन्दन पाजिटीव हेल्थ सेण्टर के जीव रसायनज्ञ मैल्कम फैरथर का कहना है कि इन दिनों महिलाओं की फिजियोलॉजी में कुछ ऐसे परितर्वन हो रहे हैं जिससे कहा जा सकता है कि उनमें नेतृत्व के लायक शारीरिक एवं मानसिक क्षमताएँ असाधारण रूप से विकसित हो रही हैं। उनका यह मानना है कि महिलाओं में नोरएपिनेफ्रीन के स्राव (तनाव के दौरान स्रवित होने वाले एपिनेफ्रीन की प्रतिक्रिया को समाप्त करने वाला हारमोन) की मात्रा असामान्य रूप से बढ़ी है। जिससे कि वह जटिलताओं को भी आनंददायक ढंग से लेने लगी हैं। इस तथ्य को उन्होंने लम्बे शोध काल के दौरान खोज निकाला है।

'इस अंतराल में उनने सौ से अधिक महिला सांसदों, राजनीतिज्ञों, सामाजिक कार्यकर्त्रियों से संपर्क साधा और साक्षात्कार किया। इसका निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए वे अपने शोध पत्र में लिखते हैं कि पच्चीस वर्ष पूर्व इन महिला राजनीतिज्ञों के इण्टरव्यू से पता चलता था कि वे पत्रकारों के प्रश्नों की बौछार से परेशानी में पड़ जाती थीं किसी गंभीर समस्या में पड़कर मानसिक शान्ति गँवा बैठती थीं, रात की नींद और दिन का चैन समाप्त हो जाता था, पर इतने वर्षों के बाद स्थिति सर्वथा विपरीत है। अब न तो उन्हें ऐसे कार्यों से परेशानी होती है, न मानसिक शान्ति भंग होती है, वरन् बिलकुल सामान्य रहती हुई गंभीर समस्याओं का भी वे शान्तिपूर्वक सामना करती है मानो वह एक सामान्य बात हो। मेल्कम कैरथर का मानना कि उसे महज दीर्घकालीन अभ्यास से उत्पन्न प्रतिभा मात्र नहीं माना जा सकता। वे इसे नारी जाति में समग्र फिजियोलाजिकल परिवर्तन के पुनरोदय की संज्ञा देते हैं।"[११७] इसी के परिणमस्वरूप इन दिनों लड़कियों-महिलाओं द्वारा सेना, पुलिस, एयरफोर्स, राजनीति, शिक्षा आदि विभिन्न क्षेत्रों में नेतृत्व किए जाने की संख्या में भारी वृद्धि हुई है।

आचार्य जी का मन्तव्य

आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार-"इक्कीसवीं शताब्दी-नारी वर्चस्व की शताब्दी है। उसमें उपेक्षित आधी जनसंख्या को ऐसा महत्त्व और श्रेय मिलने जा रहा है, जिसकी वह अधिकारिणी तो आदिकाल से थी, पर उसके वैभव का किसी दुर्भाग्य दैत्य ने अपहरण कर लिया था। अब वह उसे नए सिरे से, नए रूप में प्राप्त होने जा रहा है। उसे शक्ति, समर्थता और साहसिकता के वे बल-वैभव फिर से प्राप्त होने जा रहे हैं, जिसके बल पर वह अपनी सत्ता की महत्ता भली प्रकार प्रकट व प्रमाणित कर सके। इस उदीयमान ऊषा का सुनहरा आलोक इस रूप में दृष्टिगोचर होगा, मानो वह कायाकल्प स्तर का नया कलेवर लेकर स्वर्ग से धरती पर उतरी हो। उसके क्रियाकलापों में वे सृजनात्मक ऊँचे स्तर पर उभरेंगे जो अब तक प्रायः अपना कार्य क्षेत्र घर-परिवार तक ही सीमित रखे रहते थे। अब वह समाज और संसार के हर क्षेत्र को अपने तेजस् और वर्चस् से प्रभावित करेंगी।"

राजनीति में उसे उत्साहपूर्वक प्रवेश और अप्रत्याशित सफलता मिलने के आसार बन रहे हैं। इसकी चर्चा और विवेचना भारत में ही नहीं, विश्व के कोने-कोने में इन दिनों विशेष रूप से चल पड़ी है। भारत में इस संदर्भ में कुछ ठोस काम होने जा रहा है,

११४. स्वामी विवेकानद, विवेकानंद साहित्य, खंड १०, पृ. ३०२
११५. मातृवाणी-खण्ड २, पृ. १५१
११६. आचार्य श्रीराम शर्मा-नारी प्रधान होगी अगली शताब्दी, अखण्डज्योति, ५४, अंक २, पृ. ५३
११७. वही, पृ. ५४

ताकि पूर्व से उदय होने वाला सूर्य अपने आलोक से दिग् दिगन्त को आलोकित करने की परम्परा का निर्वाह कर सके।[११८] इन दिनों यहाँ की नारी कुछ ऐसा करने जा रही है जिससे समूची मानवता को अपने कलेवर के साथ विकसित, परिष्कृत होने का सुयोग मिल सके। संसार में अनेक क्षेत्र अपने-अपने प्रयोजनों में कार्यरत हैं। जिनमें शिक्षा, संस्कृति, कला, सम्पदा, प्रतिभा आदि को प्रमुख माना जाता है। समाज संरचना और प्रथा परम्परा के सहारे चलने वाले अनेकों क्रियाकलापों का प्रचलन है। इससे नारी का योगदान पिछले दिनों अप्रत्यक्ष और नगण्य स्तर का ही रहा है, पर यह अगले दिनों से कुछ से कुछ बनने जा रही है।[११९]

'२१वीं शताब्दी को महिला शताब्दी घोषित किया गया है।'[१२०] इस शताब्दी में शासन, सुव्यवस्था की जिम्मेदारी नारी के हाथ में होगी, पुरुष उसका सहायक भर होगा। कालचक्र पूर्ण वेग से गतिमान है। भवितव्यता नारियों पर अपने अनुदानों की वर्षा करने पर उतारू है।[१२१] अब न सिर्फ नारी के भाग्य में स्वतः की बेड़ियों से मुक्ति लिख दी गई है, वरन् विधाता ने उसे मुक्तिदूत बनने का गरिमापूर्ण दायित्व भी सौंपा है। यह अपने युग का सुनिश्चित निर्धारण है। जो इन्हीं दिनों पूरा होने वाला है।[१२२] इक्कीसवीं सदी में पूर्ण होने वाले इस निर्धारण में आध्यात्मिक समाज की व्यवस्था का भव्य रूप उभरेगा।

आध्यात्मिक समाज की व्यवस्था

आध्यात्मिक समाज की भावी व्यवस्था के पाँच मुख्य आयाम होंगे। इन्हें समाज व्यवस्था, प्रशासन व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था एवं अर्थ व्यवस्था के रूप में अनुभव किया जा सकेगा।

समाज व्यवस्था-समाज व्यवस्था सारी व्यवस्थाओं का आधार है। इस व्यवस्था के अनुरूप ही व्यक्ति का स्वरूप अच्छा या बुरा बनता है। समाज अच्छा होगा, तो व्यक्ति अच्छे बनेंगे। मनुष्य के पुष्ट संस्कारों को एकाएक परिवर्तित नहीं किया जा सकता। व्यक्ति की आंतरिक अवस्थाएँ कानूनों से नहीं सुधारी जा सकती।[१२३] व्यक्ति के सद्गुणों, सत्प्रवृत्तियों, सद्भावनाओं को विकसित करना ही समाज की प्रथा-परम्पराओं, रीति-रिवाजों का उद्देश्य रहा है, परन्तु इनका स्वरूप मानव प्रकृति एवं देश-काल-परिस्थिति के परिवर्तित एवं विकसित होते रहना चाहिए। पिछले दिनों ऐसा हो नहीं सका फलस्वरूप प्रगतिशील प्रथा-परम्पराओं, रीति-रिवाजों का स्थान रूढ़ियों एवं कुरीतियों ने ले लिया। मूढ़ मान्यताएँ मानव जीवन का स्वरूप गढ़ने लगीं। परिणाम सबके सामने हैं। आज चारों ओर अच्छे व्यक्तियों का अभाव है। इस अभाव के कारण ही सारी राजनैतिक क्रान्तियाँ प्रशासनिक फेरबदल एक-एक करके असफल सिद्ध होती जा रही हैं।

आचार्य जी ने अपने आध्यात्मिक समाजवाद में समाज व्यवस्था को सर्वोपरि स्थान दिया है। उनके अनुसार अगले दिनों मनु, याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब, वशिष्ठ जैसे विचारक मानव प्रकृति की सूक्ष्मताओं का गहन अध्ययन करके, देश-काल-परिस्थिति के परिवर्तित होते स्वरूप को ध्यान में रखकर नई रीतियों, प्रथाओं, परम्पराओं, संस्कारों की रचना करेंगे। ये युग स्मृतियाँ बदलते युग के अनुरूप नया रूप लेती रहेंगी। समाज व्यवस्था के इस गतिशील और विकासशील स्वरूप में मूढ़ताओं, कुरीतियों एवं दुराग्रहों का कोई स्थान न रहेगा। यह समाज व्यवस्था समाज को ऐसी प्रयोगशाला का स्वरूप प्रदान करेगी, जहाँ रहकर सामाजिक जीवन को अपनाकर वैयक्तिक चेतना अपने विकास के उत्कर्ष को पा सके। ये विकसित व्यक्तित्व ही भावी युग में विभिन्न क्षेत्रों में नेतृत्व करेंगे।

---

११८. आचार्य श्रीराम शर्मा-नारी ही लाएगी अब सतयुग, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५७, अक १०, पृ. २५
११९. वही, पृ. २५
१२०. आचार्य श्रीराम शर्मा-इक्कीसवीं सदी के लिए हमें क्या करना होगा ? पृ. ७५
१२१. आचार्य श्रीराम शर्मा-नारी अबला नहीं परम शक्तिशाली है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५२, अक १०, पृ ५२
१२२. आचार्य श्रीराम शर्मा-नारी अभ्युदय का नवयुग, पृ. २
१२३. आचार्य श्रीराम शर्मा-भव्य समाज की नव्य रचना, पृ. ९

प्रशासन व्यवस्था-प्रशासन व्यवस्था का वर्तमान आधार राजनीति है। और आज की राजनीति, राजनीति न रहकर कूटनीति बन गई है; बल्कि अब तो इन दोनों को एक दूसरे का पर्याय मानने का प्रचलन है। इस प्रचलन के ही कारण वर्तमान राजनैतिक रीति-नीतियों शासन की गतिविधियों और तंत्र की कार्य प्रणाली से सभी को असंतोष है। स्थिति यह है कि कोई भी राजनैतिक दल आज जनता का स्पष्ट मत प्राप्त करने में असफल है। जो किसी तरह कुटिल चालों से बहुमत प्राप्त करने में सफल हो भी जाते हैं वे बाद में आपसी विग्रह के कारण जनता की उपेक्षा और अवमानना का शिकार होते हैं।

ऐसी असंतोषजनक स्थिति को देखकर आचार्य जी का कहना है-'शासन की असफलता से हम दुःखी हैं।'[१२४] इस असफलता का निवारण युग निर्माण आन्दोलन का मुख्य अंग है। अगले दिनों समाज व्यवस्था, शासन व्यवस्था को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित और परिवर्तित करेंगे। समाज व्यवस्था के प्रयत्नों से जनजीवन इतना प्रबुद्ध हो चुकेगा कि उसे कोई अपनी कुटिल चालों से बहका न सके। चुनाव में पार्टी को नहीं व्यक्ति के जीवन स्तर की प्रामाणिकता को ही परखा और चुना जाएगा। पार्टियाँ भी अब की तरह जातीय, क्षेत्रीय रूपों में अपना अस्तित्व न रख पाएंगी।

चुनाव की प्रक्रिया में भारी फेरबदल होगी। पंचायती राज्य ही अपना क्रमिक विकास विश्व शासन तय करेगा। ग्राम पंचायत में चुने हुए लोग क्षेत्र पंचायत का-क्षेत्र पंचायत वाले जिला पंचायत का-जिला पंचायत वाले प्रान्त पंचायत का और प्रान्त पंचायत वाले राष्ट्र पंचायत का चुनाव करेंगे। यही क्रम अंततः विश्व शासन को जन्म देगा। इस प्रक्रिया से लाभ यह होगा कि अधिक ऊँची पंचायत के लिए अधिक उत्तरदायी और अधिक योग्य वोटर रहेंगे और उनसे अधिक विवेकशीलता और जिम्मेदारी की आशा की जा सकती है।

आज शासन ने जिस तरह जीवन के हर क्षेत्र में प्रवेश कर व्यक्ति को राज्य की कठपुतली बना लिया है, कल ऐसी स्थिति न रहेगी। शासन की गतिविधियाँ सुविधा और सुव्यवस्था के वितरण तक सीमित रहेगी। जीवन के अन्य क्षेत्रों में इसकी भूमिका सहयोगी की तो रहेगी पर नियंत्रक की नहीं। हाँ सहयोगी के रूप में उसकी भूमिका अवश्य व्यापक होगी।

शासन का स्वरूप विश्व शासन तक व्यापक हो जाने के कारण कोई व्यक्ति अमुक देश का निवासी है इसलिए दूसरे देश में न जाने दिया जाएगा, ऐसा प्रतिबन्ध न रहेगा। वस्तुओं का आवागमन या प्रत्यावर्तन बिना प्रतिबन्ध के होता रहेगा। टैक्स उत्पादन पर लगेगा। किसी स्थान का उत्पादन दूसरे स्थान पर बेचने में कोई बंधन न रहेगा। इस प्रकार अभाव या अधिकता के कारण जो सुविधा या असुविधा होगी सारी मनुष्य जाति को समान रूप से होगी। आजकल प्रगति सम्पदा का एक देश लाभ उठाता है और अन्य देश उसके अभाव में दुःख पाते हैं यह कृत्रिम विषमता हट जाने से सारे विश्व में एक सी सुविधा या असुविधा रहेगी-समस्त विश्व उपलब्ध साधनों का एक समान रूप से उपभोग करेगा।[१२५]

न्याय व्यवस्था-वर्तमान न्याय व्यवस्था का स्वरूप मंहगा और लम्बा है। न्यायालय में कतार लगाए आवेदकों की भीड़ पीढ़ियों तक खड़ी रहती है, न्याय पाने की आशा में अपना सर्वस्व बेंचकर दांव पर लगा देती है। फिर भी न्याय आशंका के दायरे में ही रहता है। अगले दिनों यह स्थिति बदलेगी। सम्प्रदाय, धर्म, वर्ण, वर्ग आदि के न रहने से ८० प्रतिशत लड़ाई-झगड़े तो वैसे ही समाप्त हो जायेंगे।[१२६] व्यक्तिगत अपराधों, छोटे-मोटे लड़-झगड़ के विग्रहों का न्याय स्थानीय पंचायतें किया करेंगी इनका न्याय सर्वसुलभ होने के साथ सस्ता भी रहेगा।

यों अलग देश और वर्गों का अस्तित्व ही न रहेगा, इसलिए क्षेत्रीय या वर्गीय समस्याएँ ही न होंगी। एक ही धर्म, एक ही समाज, एक ही देश जब समस्त मनुष्य जाति का होगा तो फिर परस्पर लड़ने-झगड़ने,

१२४. आचार्य श्रीराम शर्मा-भव्य समाज की नव्य रचना, पृ. १९
१२५. आचार्य श्रीराम शर्मा-विश्व राष्ट्र, विश्व धर्म, विश्व भाषा की एकात्म भूमिका, युग निर्माण योजना वर्ष ६, अंक ५, पृ १८
१२६. वही, पृ १८

आक्रमण या विवाद का कोई कारण ही न रहेगा, पर यदि कहीं कोई विवाद उठ खड़ा हो, कहीं बगावत फूट पड़े, तो उसका नियंत्रण तो विश्व सरकार की सेना करेगी; परन्तु इस प्रकार के बड़े विवादों का निपटारा विश्व अदालत में होगा। न्याय की समूची प्रक्रिया मानव मात्र एक समान, जाति वंश सब एक समान के सार्वभौम सूत्र को ध्यान में रखकर ही संचालित होगी। प्रशासन, पुलिस-सेना, इसका सहयोग अवश्य करेंगी, पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दबाव डालने जैसी स्थिति न रह सकेगी।

अर्थ व्यवस्था-अर्थ व्यवस्था उत्पादन और वितरण के बीच सामंजस्य की व्यवस्था है। सामान्य क्रम में प्राकृतिक और मानवीय संसाधनों से इतना उत्पादन प्रतिवर्ष हो जाता है कि धरती पर रहने वाले मनुष्यों एवं अन्यान्य प्राणियों को दैन्य व दरिद्रता का सामना न करना पड़े। यदि किसी वर्ष कहीं सूखा अथवा बाढ़ के विपर्यय के कारण उत्पादन कम हो सका, तो प्रकृति उसकी भरपाई किसी न किसी भू-भाग में अवश्य कर देती है। यदि उसका समुचित वितरण न हो सके तो दोषी अर्थ व्यवस्था ही मानी जाएगी।

आचार्य जी के अनुसार-"पूँजी पर व्यक्ति का अधिकार न होकर समाज का स्वामित्व हो। हर व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुरूप श्रम करने को बाध्य होना पड़े और आवश्यकताओं के अनुरूप साधन मिले तो गरीब-अमीर का वर्तमान भेद देखते-देखते नष्ट हो सकता है और हर व्यक्ति सुख-शान्तिपूर्वक जीवनयापन की सुविधाएँ सहज ही पा सकता है। संग्रह पर उत्तराधिकार का नियंत्रण न रहे तो एक जगह पहाड़ जैसी अमीरी-दूसरी जगह खाई जैसी गरीबी के विक्षोभ-उत्पन्न करने वाले दृश्य देखने को न मिले। न किसी को अहंकार में उद्धत होना पड़े न किसी को व्यसन-व्यभिचार में डूबना पड़े-न कोई दाने-दाने को मुहताज रहे और न किसी को कष्टसाध्य जिन्दगी जीने को विवश होना पड़े। निःसंदेह प्रचलित अर्थतंत्र अति दोषपूर्ण है। उसी के कारण ठगी, चोरी, जुआ, शोषण, विलासिता आदि अगणित प्रकार के अपराध और ईर्ष्या-द्वेष के मनोविकार पनपते हैं।"[१२७]

प्राचीनकाल में ऐसा न था। तब आध्यात्मिक साम्यवाद प्रचलित था। परिग्रह को-संग्रह को अतिरिक्त उपभोग को, विलासिता को पाप माना जाता था। अब वे परम्पराएँ न रहीं तो राज सत्ता के नियंत्रण में धन के ऊपर समाज का स्वामित्व एवं वितरण व्यवस्था रहने की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। अगले दिनों यही प्रणाली प्रचलित होगी। अर्थतंत्र पर व्यक्ति का नहीं समाज का नियंत्रण होना न्यायोचित है। मनुष्य के स्वाभाविक आदर्शों की रक्षा इसी से होगी। धरती की पीठ पर जो भी जन्मे हैं उन्हें प्रकृति प्रदत्त सुविधाओं का समान लाभ मिलना ही चाहिए। व्यक्ति की आवश्यकता और उपयोगिता की दृष्टि से अंतर रह भी सकता है, लेकिन वह हाथ की पांच अंगुलियों के अनुपात की तरह इतना न्यून होना चाहिए कि उससे विकृतियाँ उत्पन्न न हों।[१२८] भावी अर्थ व्यवस्था का स्वरूप ऐसा ही होगा।

शिक्षा व्यवस्था-अमेरिका मनीषी इवान इलिच ने अपनी कृति 'डिस्कूलिंग सोसायटी' में आज की स्थिति का खुलाशा करने की कोशिश की है। उनके अनुसार शिक्षा की दुकानों में बंद शिक्षण क्रिया अपनी परिणति भौतिकवादी प्रदूषण, सामाजिक ध्रुवीकरण और मनोवैज्ञानिक भावना शून्यता में कर रही है। इन सबके प्रधानतया दो कारण हैं-पहला इसे एक खास आयु वर्ग की सीमा में समेट देना। दूसरा अन्य व्यापारों की भांति शिक्षण का व्यापारीकरण कर देना। इसी का प्रतिफल है कि शिक्षा जन-जन तक द्वार-द्वार तक नहीं पहुँच पा रही है। व्यापारीकरण के कारण लोकजीवन को संस्कारित करने वाली परम्परा निर्जीव प्रायः हो गयी है। दिमाग को कम्प्यूटर मानकर उसमें जानकारियाँ तो घुसेड़ी जा रही हैं, पर मानवीय व्यवहार को गढ़ने में असमर्थता है। परिणाम आज की सामाजिक दशा है। जहाँ अपने को पढ़ा-लिखा कहने वाला व्यक्ति स्वयं के ज्ञानवान् और विद्वान् होने का दावा तो करता है, पर ज्ञान इतना भी नहीं

१२७ आचार्य श्रीराम शर्मा-अगले दिनो सौम्य समता की प्रतिष्ठापना होनी ही है, अखण्ड ज्योति, वर्ष ३०, अंक ७, पृ. ६३-६४
१२८. वही, पृ. ६४

कि स्वयं में क्या है ? स्वयं के प्रति समाज के प्रति क्या दायित्व है, उन्हें किस कौशल और तत्परता से पूरा किया जाय ?[129]

आचार्यजी के शब्दों में कारगर उपचार एक ही है-लोकशिक्षण का एक नया तंत्र विकसित करना, जहाँ शिक्षा कैद मुक्त और सार्वभौमिक हो।[130] उनके अनुसार मानवी प्रकृति को प्रशिक्षित, रूपान्तरित करने के तीन सोपान हैं, शिक्षा-कला और विद्या।[131] पहली दोनों की सार्थकता इसी में है कि तीसरी को उपलब्ध कर ले। आज के स्कूल कॉलेजों में पढ़ाई जाने वाली शिक्षा है-जिसका उद्देश्य विभिन्न माध्यमों से बालकों का बौद्धिक विकास, स्मृति अभिवर्धन करना है। परीक्षा लेने की तकनीकों से उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रमाणित होती है; बल्कि अधिकाधिक अंशों में परीक्षा बौद्धिक विकास की अपेक्षा स्मरण शक्ति की कहीं अधिक होती है। प्रक्रिया की दृष्टि से देखें तो कोई भी शिक्षा अपने बढ़ते कदमों से कला तक पहुँचती है। कला की प्रवृत्ति प्रारम्भ से भावोन्मुखी होती है। यदि कोई भी कला अभी तक भावों को नहीं स्पर्श कर पायी है तो समझना चाहिए कि उसका दायरा अभी शिक्षा तक ही है कला नहीं बन पायी। उदाहरण के लिए संगीत शिक्षा भी है और कला भी। अपने प्राथमिक चरणों में उस्ताद जब सीखने वाले को तबला, सितार आदि वाद्ययंत्रों को बजाने की तकनीकें समझाता है तब वह शिक्षा होती है सिर्फ बुद्धि और स्मृतिगम्य।

शिक्षा की परिपक्वता के बाद जब संगीत साधक अंतर भावों में डूब जाता है, स्वयं विभोर होकर औरों को विभोर करता है तब इन क्षणों में शिक्षा-कला का स्वरूप प्राप्त करती है। इस अपूर्व तन्मयता में उसकी विकसित होती जा रही भाव चेतना अपनी मौलिकता की अभिव्यक्ति विषय की निगूढ़ताओं, अंतर की अनेकानेक सूक्ष्मताओं में करती है। भावस्पर्शी कला यदि विकास की गति पर बढ़ सकी तो कला साधना बन जाती है। ऐसी साधना जो भावों के प्रगाढ़-परिपक्व होने पर जीवन बोध करा दे। अलाउद्दीन खां, रवीन्द्रनाथ टैगौर ने कला का विकास इसी स्तर तक किया था। यह कथन सिर्फ संगीत के क्षेत्र में नहीं, विज्ञान के क्षेत्र में भी सत्य है। इमर्सन ने साहित्य तथा रमन, आइन्स्टाइन ने विज्ञान के माध्यम से विद्या के इसी स्वरूप को उपलब्ध किया था।

गुरुकुलों की व्यवस्था-वातावरण का सृजन इसी उद्देश्य को लेकर हुआ था। गरीब-अमीर, बिना किसी भेदभाव के सभी को तप-तितीक्षा, व्रत अनुशासनों को स्वीकार कर शिक्षा का विद्या के रूप में विकास करना पड़ता था। आरण्यकों की व्यवस्था में गुरुकुलों से बहुत कुछ साम्य होते हुए भी तप-साधना, लोक-आराधना का वैशिष्ट्य था। जहाँ गुरुकुलों का उद्देश्य था व्यक्तित्व का गठन वही आरण्यक का प्रयोजन व्यक्तित्व का लोकहित में समर्पण था।[132] आरण्यकों की स्थापना के पीछे छुपे मनोवैज्ञानिक रहस्य को स्पष्ट करते हुए मनीषी जे. स्किनर का 'माइन्ड-इट्स लर्निंग एक्सपीरियेंसेज' में कहता है कि मन के सीखने की शुरुआत मनुष्य के अस्तित्व में आने के साथ ही प्रारम्भ हो जाती है। शरीर विकास के साथ यह प्रक्रिया पच्चीस-तीस वर्ष तक गतिशील रहती है। इस अवस्था में इसमें स्वाभाविक मन्दी आ जाती है। यही कारण है कि बच्चे की अपेक्षा युवा में सीखने-जानने की लालसा न के बराबर होती है। स्किन के अनुसार पैंतालिस से पचास आयु वर्ग में प्रतिभा के जागरण, मानसिक विकास का ज्वार एक बार फिर उफनता है। आज के समाज के पास इसके सुनियोजन और विकास का तंत्र भले न हो पर ऋषियों ने आरण्यकों का विकास इसी तत्त्वदर्शन को लेकर किया था। आचार्य जी के अनुसार भविष्य के आध्यात्मिक समाज में "विद्या विस्तार का यह क्रम गुरुकुल, आरण्यक की प्राचीन परम्परा को नवजीवन दे सकेगा। विद्या विस्तार के इस तंत्र से विश्वहित-समाज हित के साथ व्यक्ति की-क्षेत्र विशेष की उलझनें सुलझेंगी।"[133]

---

१२९. आचार्य श्रीराम शर्मा-विद्या विस्तार के दो सशक्ततम आरण्यक और गुरुकुल, अखण्ड ज्योति वर्ष ५५, अंक ७, पृ २९

१३०. वही, पृ. २९

१३१. वही, पृ. ३०

१३२. वही, पृ. ३०

१३३. वही, पृ. ३१

आध्यात्मिक समाज की उपरोक्त सभी व्यवस्थाएँ मानव जीवन को सुव्यवस्थित सुविकसित एवं ऊर्जस्वी बनाएगी; परन्तु सुव्यवस्था, विकास एवं जीवन ऊर्जा की सार्थकता तभी है जब उनका प्राण प्रवाह सतत क्रियाशील और प्रवाहित रहे। इसे क्रियाशील एवं प्रवाहित बनाए रखने का काम आध्यात्मिक समाज की परम्पराओं के द्वारा संपन्न होगा।

आध्यात्मिक समाज की परम्पराएँ

आध्यात्मिक समाज में परम्पराओं का अर्थ रूढ़ियों-कुरीतियों के परिपालन से नहीं; वरन् मानव जीवन की उस गौरवमयी अभिव्यक्ति से होगा जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को उल्लास-ऊर्जा और नवीन चेतना वितरित कर सके। इस क्रम में नवीन पीढ़ी अपने पूर्वजों के अनुभवों का लाभ तो लेगी ही साथ ही उसे अपने वर्तमान प्रयासों द्वारा संशोधित और परिमार्जित कर उसे अधिक गरिमामयी बनाएगी। परम्पराओं के इस क्रम में आचार्य जी ने ऋषि परम्परा, संस्कार परम्परा, पर्व त्यौहार परम्परा, साधु ब्राह्मण परम्परा,वानप्रस्थ परम्परा एवं आश्रम-देवालय एवं तीर्थ परम्परा को बहुमूल्य माना है।

ऋषि परम्परा-ऋषि परम्परा सभी परम्पराओं का मूल है। ऋषिगण ही समाज में गौरवमयी परम्पराओं का प्रवर्तन करते हैं तथा समय-समय पर उनमें संशोधन एवं परिमार्जन कर उन्हें औचित्यपूर्ण बनाए रखते हैं। ऋषि परम्परा के विलुप्त होने पर संशोधन एवं परिवर्तन के अभाव में अन्य सभी परम्पराएँ विवेकहीन मूढ़ मान्यताओं में बदल जाती हैं। वर्तमान समय में सामाजिक पटल पर यही स्थिति देखी जा सकती है।

आचार्य जी की तीसरी हिमालय यात्रा के दौरान उनकी मार्गदर्शक सत्ता एवं दुर्गम हिमालय में तपस्या निरत ऋषि सत्ताओं ने उनके सामने आज की वस्तुस्थिति स्पष्ट कर उनको ऋषि परम्परा की नवीन स्थापना का कार्य सौंपा। उनके मार्गदर्शक ने कहा-"यही इच्छा इन सभी ऋषियों की है। तुम उनकी परम्पराओं को नए सिरे से बीजारोपण करना।"[१३४] तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य जी के शब्द हैं-"जिन ऋषियों के छोड़े गए कार्य को हमें आगे बढ़ाना था उनका संक्षिप्त विवरण बताते हुए उन्होंने कहा-**विश्वामित्र परम्परा** में गायत्री महामंत्र की शक्ति से जन-जन को अवगत कराना एवं एक सिद्धपीठ गायत्री तीर्थ का निर्माण करना है। **व्यास परम्परा** में-आर्ष साहित्य के अलावा अन्यान्य पक्षों पर साहित्य सृजन एवं प्रज्ञा पुराण के १८ खण्डों को लिखने का, **पातञ्जलि परम्परा** में योग साधना के तत्त्वज्ञान के विस्तार का, **परशुराम परम्परा** में अनीति उन्मूलन हेतु जनमानस के परिष्कार के वातावरण निर्माण का तथा **भागीरथ परम्परा** में ज्ञान गंगा को जन-जन तक पहुँचाने का दायित्व सौंपा गया। **चरक परम्परा** में वनौषधि पुनर्जीवन एवं वैज्ञानिक अनुसंधान, **याज्ञवल्क्य परम्परा** में यज्ञ से मनोविकारों के शमन द्वारा समग्र चिकित्सा पद्धति का निर्धारण, **जमदग्नि परम्परा** में-साधना आरण्यक का निर्माण एवं संस्कारों का बीजारोपण, **नारद परम्परा** में सत्परामर्श-प्रव्रज्या के माध्यम से धर्म चेतना का विस्तार, **आर्यभट्ट परम्परा** में खगोल अध्ययन की नयी शुरुआत, **वशिष्ठ परम्परा** में-धर्मतंत्र के माध्यम से राजतंत्र का मार्गदर्शन, **शंकराचार्य परम्परा** में स्थान-स्थान पर प्रज्ञा संस्थाओं के निर्माण का, **पिप्पलाद परम्परा** में आहार कल्प के माध्यम से समग्र स्वास्थ्य संवर्धन एवं **सूत-शौनक परम्परा** में स्थान-स्थान पर प्रज्ञायोजनों द्वारा लोकशिक्षण की रूपरेखा के सूत्र हमें बताए गए। **अथर्ववेदीय विज्ञान परम्परा** में **कणाद ऋषि प्रणीत** वैज्ञानिक अनुसंधान पद्धति के आधार पर ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की रूपरेखा बनी।"[१३५] उनके अनुसार यही परम्पराएँ भावी समाज का स्वरूप एवं आधार निर्माण करेंगी। भविष्य में उन्हें प्रगतिशील और सक्रिय रूप में देखा जा सकेगा।

संस्कार परम्परा-संस्कार शब्द ने सर्वाधिक स्थान भारतीय आचार-विचार में पाया है। अनैतिक आचरण कुसंस्कारों की तथा श्रेष्ठ अनुकरणीय आचरण सुसंस्कारों

---

१३४. आचार्य श्रीराम शर्मा-हमारी वसीयत और विरासत, पृ. ९४,

१३५. वही, पृ. ९४-९५

की प्रतिक्रिया मानी गयी है। आचार्य शंकर के अनुसार-गुणों का आरोपण अथवा दोषों को दूर करने के लिए जो कर्म किया जाता है उसे संस्कार कहते हैं।[136] गौतम धर्म सूत्र में कहा गया है कि संस्कार उसे कहते हैं जिसमें दोष हटते हैं और गुणों का उत्कर्ष होता है। संस्कार शब्द की व्युत्पत्ति 'क' धातु में 'सम' उपसर्ग और 'धम' प्रत्यय लगाकर की गयी है। इस शब्द का उपयोग शिक्षा, संस्कृति, सौजन्य, अभिव्यक्ति, व्याकरण शुद्धि, संस्करण शोभा आदि अनेक अर्थों में हुआ है। अंग्रेजी में इसके लिए 'सेक्रामेण्ट' शब्द का प्रयोग करते हैं। फिर भी यह सभी शब्द संस्कार शब्द के उस व्यापक अर्थ को स्पष्ट नहीं कर पाते, जिसके माध्यम से व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक परिष्कार के निमित्त धार्मिक अनुष्ठान कृत्य संपन्न किया जाता है।

आचार्य जी के अनुसार-"जिस प्रकार विभिन्न प्रकार की मिट्टी को विधानानुसार शोधकर का उससे लोहा, तांबा, सोना आदि बहुमूल्य धातुएँ प्राप्त कर लेते हैं। जिस प्रकार आयुर्वेदिक रसायन बनाने वाले औषधियों को कई प्रकार के रसों में मिश्रित कर उन्हें गजपुट-अग्निपुट, विधियों द्वारा उन्हें कई-कई बार तपाकर-संस्कारित कर उनसे मकरध्वज जैसी चमत्कारी व अन्यान्य औषधियों का निर्माण करते हैं, ठीक इसी प्रकार मनुष्य के लिए भी समय-समय पर विभिन्न आध्यात्मिक उपचारों का विधान कर उन्हें सुसंस्कृत बनाने की, अनगढ़ से सुगढ़ बनाने की महत्त्वपूर्ण पद्धति भारतीय तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने विकसित की थी। इसी को षोडश संस्कार नाम दिया गया है। ऋषिगण इस तथ्य से परिचित थे कि बार-बार तपाए जाने, सुसंस्कारित किये जाने से मनुष्य के संचित कुसंस्कार नष्ट होते हैं तथा इन सूक्ष्म उपचारों द्वारा जीवन की मार्मिक संधियों-महत्त्वपूर्ण अवसरों पर विशिष्टाओं का, देवत्व का अभिवर्धन किया जाना संभव है।"[137]

पारम्परिक ढंग से जिन षोडश संस्कारों को शास्त्र मान्यता देते आए हे वे इस प्रकार हैं-१. गर्भाधान, २. पुंसवन ३. सीमन्तोन्नयन-ये प्रथम तीन जन्म से पूर्व के संस्कार हैं। ४. जातकर्म ५. नामकरण ६. निष्क्रमण ७. अन्नप्राशन ८. चूड़ाकरण ९. कर्णवेध-ये छः संस्कार जन्म के बाद बाल्यावस्था के हैं। इनके पश्चात बालक के शिक्षा ग्रहण करने योग्य होने पर १०. विद्यारम्भ ११. उपनयन १२. वेदारम्भ १३. केशान्त तथा १४. समावर्तन ब्रह्मचर्य व्रत के समापन व विद्यार्थी जीवन के अन्त के सूचक के रूप में माना जाता था। १५. विवाह संस्कार गृहस्थ जीवन के शुभारम्भ पर तथा १६. अन्त्येष्टि-जीवन के समापन पर अंतिम संस्कार के रूप में संपन्न होता था।

आचार्य जी ने अपनी दृष्टि युगानुकूल बनाते हुए इनकी संख्या घटाकर दस कर दी है, जो आज की दृष्टि से अत्यन्त अनिवार्य व व्यावहारिक है। दो संस्कार नए जोड़े हैं, जो आज के प्रचलन के अनुरूप हैं। वे हैं-जन्म दिवसोत्सव तथा विवाह दिवसोत्सव संस्कार मनाना। सामयिकता, उपयोगिता, सार्वजनिक और सत्परिणामों को सुनिश्चित करने वाली परिपाटी ही इक्कीसवीं सदी के मुहाने पर खड़ी युवाशक्ति-प्रबुद्धों तथा नारी शक्ति को स्वीकार्य होगी। यह मानते हुए युग निर्माण योजना-प्रज्ञा अभियान ने बारह संस्कारों को जन-जन तक लोकप्रिय बनाया व इन्हें सम्पन्न किए जाने की विराट् स्तर पर व्यवस्था भी की है। ये इस प्रकार हैं-१. पुंसवन संस्कार २. नामकरण संस्कार ३. अन्नप्राशन संस्कार ४. मुण्डन (चूडाकर्म) संस्कार ५. विद्यारम्भ संस्कार ६. यज्ञोपवीत संस्कार ७. विवाह संस्कार ८. वानप्रस्थ संस्कार ९ अन्त्येष्टि संस्कार १०. मरणोत्तर श्राद्ध संस्कार ११. जन्म दिवस संस्कार १२. विवाह दिवस संस्कार।

आचार्य जी के अनुसार-ये सभी संस्कार बिना किसी जाति-पाँति अथवा भेदभाव के मानव मात्र के लिए समान रूप से उपयोगी व अनिवार्य हैं। अगले दिनों संस्कार परम्परा को आध्यात्मिक समाज में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त होगा। इसी प्रकार मनुष्य जाति स्वयं को देवमानव बनाने में समर्थ हो सकेगी।

---

१३६. संस्कारो हि नाम सस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद्योषापनयनेन वा। ब्रह्मसूत्र भाष्य-१/१/४

१३७ आचार्य श्रीराम शर्मा-देवसस्कृति की प्रेरणादायी आध्यात्मिक विरासत सस्कार परम्परा, अखण्डज्योति वर्ष ५५, अक ७, पृ ११

पर्व-त्यौहार परम्परा-आचार्य जी ने पर्व त्यौहारों को सामाजिक संस्कार की प्रक्रिया कहा है। व्रत साधना से व्यक्तित्व, संस्कारों से परिवार तथा पर्वोत्सवों से समाज का स्तर ऊँचा उठाने की इस ऋषि पद्धति को उनने दूरदर्शिता पूर्ण बताते हुए इनके माध्यम से लोकशिक्षण, लोकरंजन की प्रवृत्तियों को उभारने की बात कही है। त्यौहार वस्तुतः पर्वों व व्रतों के सम्मिलित रूप हैं। जन-जन की भावनाओं के परिष्कार हेतु बहुरंगी व्यक्तित्व के बहुआयामीय-बहुविधि पक्षों के प्रकटीकरण हेतु आध्यात्मिक समाज में त्यौहारों का प्रावधान किया गया है। ऋषिगण जानते थे कि मनुष्य असामाजिक व विक्षिप्त भावनाओं के दमन व विकृत होने से ही होता है। यदि भावनाओं को परिष्कृत उल्लास में बदलकर समूह की शक्ति का उसमें समावेश किया जा सके व उसे एक आध्यात्मिक उत्सव का रूप दिया जा सके तो इससे समाज स्वस्थ बना रहेगा। कुरीतियों-मूढ़ताओं से सर्वथा मुक्त पर्व-त्यौहारों की यह परम्परा अगले दिनों आध्यात्मिक समाज का एक अनन्य व अविभाज्य अंग होगी।

साधु-ब्राह्मण परम्परा-साधु और ब्राह्मण सामाजिक चिंतन, चरित्र व व्यवहार का कायाकल्प कर देने वाले वर्ग का नाम है। यों कहने को आज भी साधु संतों की, ब्राह्मणों की कमी नहीं, परन्तु उनमें बहुतायत उनकी है जो अपने कर्त्तव्य व दायित्व से विमुख हैं। स्थिति का विवेचन करते हुए आचार्य जी के शब्द हैं-जाति बिरादरी के नाम पर ब्राह्मणों की संख्या अन्य किसी जाति से कम नहीं हैं। साधु वेशधारी अपने देश में सत्तर लाख के करीब हैं। देश में गाँवों की संख्या प्रायः ७ लाख है। हर गाँव के पीछे दस संत आते हैं। *इनने अपना मूल उद्देश्य समझा और सँभाला होता तो स्थिति वैसी न रहती जैसी आज है। कायाकल्प हो गया होता; किन्तु किया क्या जाय? इन सबका एक ही काम रह गया है देवता की पूजा करने के विधि विधान बताना और अपने को उनका दलाल सिद्ध करके भावुक जनों से दान दक्षिणा बटोरना।*[१३८]

इतने समर्थ वर्ग की इतनी दयनीय दशा देखकर आचार्य जी ने युग निर्माण आन्दोलन के माध्यम से साधु-ब्राह्मण परम्परा को एक नया अर्थ देकर उसे फिर अपने दायित्वों के प्रति सचेत करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार-''साधु अर्थात लोकसेवा में पूरा समय लगाने वाला। ब्राह्मण अर्थात निर्वाह व्यवस्था जुटाते हुए लोक मानस के परिष्कार में यथासंभव अधिक से अधिक समय नियमित रूप से लगाना।''[१३९] आचार्य जी साधु को वेश और ब्राह्मण को जाति नहीं मानते। उनके अनुसार ब्राह्मण शब्द जाति, कुल, गोत्र, रूप, रंग का द्योतक न होकर एक मनोवैज्ञानिक अवस्था का द्योतक है।[१४०] उनके शब्दों में '*ब्राह्मण उत्कृष्टतम व्यक्तित्व है, जिसके हर अणु में विद्या और तप संजोया रहता है।*'[१४१] *भागवतकार का कथन है कि ब्राह्मण का जीवन क्षुद्र कामनाओं के लिए नहीं है।*[१४२]

साधु-ब्राह्मण इन दोनों में कुछ विशेष अन्तर नहीं है-''गृहस्थ होने की स्थिति में ब्राह्मण और प्रवज्या पर निकल पड़ने से साधु कहा जाता है। दोनों की प्रत्यक्ष स्थिति में राई-रत्ती जितना अंतर तो है, पर उनके लक्ष्य और प्रयास में तनिक भी भिन्नता नहीं है। इसीलिए विविध प्रसंगों में साधु-ब्राह्मण शब्द मिलाकर बोला जाता है और दोनों वर्गों को एक मानते हुए समान सम्मान दिया जाता है।''[१४३] अगले दिनों साधु-ब्राह्मण की यह महान् परम्परा आध्यात्मिक समाज का मेरुदण्ड होगी। लेकिन उसका स्वरूप आज की तरह वेष और जाति की संकीर्णताओं में आबद्ध न होकर उसके उस महान् प्रयास के रूप में प्रकट होगा जो आचार्य जी के शब्दों में-'ऊसर को उद्यान में बदल दें नर पशु को देव मानव में बदल दें।'[१४४]

---

१३८. आचार्य श्रीराम शर्मा-*आदर्श का उत्कर्ष ही एकमेव मार्ग, अखण्डज्योति,* वर्ष ५७, अंक २, पृ. ४
१३९. आचार्य श्रीराम शर्मा-साधु ब्राह्मण परम्परा का पुनर्जीवन, अखण्ड जीवन वर्ष ४८, अंक ११, पृ. ६३
१४०. आचार्य श्रीराम शर्मा-सवेदनामूलक समाज का मेरुदण्ड ब्राह्मण, अखण्ड ज्योति, वर्ष ५५, अंक ७, पृ. ४४
१४१. वही, पृ. ४५
१४२. ब्राह्मणस्य देहोऽयं क्षुद्र कामायनेष्यते। श्रीमद्भगवत ११/१२/४२
१४३. आचार्य श्रीराम शर्मा-साधु ब्राह्मण परम्परा का पुनर्जीवन, अखण्ड ज्योति, वर्ष ४८, अंक ११, पृ. ६२
१४४. वही, पृ. ६३

वानप्रस्थ परम्परा-प्राचीनकाल में ऋषिगणों ने चार वर्णों, चार आश्रमों की सुदृढ़ आधारशिला पर समाज का भव्य भवन खड़ा किया था। अब वर्णों में एक वर्ण जिन्दा है 'वैश्य' तथा एक ही आश्रम जिन्दा है 'गृहस्थ'। शेष सब समाप्त हो गए। एक ही वर्ण 'वैश्य' इस नाते कि हर व्यक्ति का जीवन लक्ष्य अब धन है तथाकथित त्यागी-वैरागी भी प्रकारान्तर से उसी कुचक्र के इर्द-गिर्द घूमते देखे जाते हैं। चारों पुरुषार्थों में अर्थ व काम ही प्रधान रह गया है। आश्रम एकमात्र 'गृहस्थ' इसलिए कि अबोध बालक भी आज उन कुचेष्टाओं से परिचित है। दृश्य, श्रव्य, साधनों व वातावरण के परोक्ष शिक्षण द्वारा उन गतिविधियों से अवगत है, जिनको मर्यादित ढंग से कभी गृहस्थाश्रम में भेजा जाता था। औसत आदमी की जिन्दगी होश संभालने से बंद होने की घड़ी तक प्रजनन, अर्थोपार्जन, कुटुम्बचर्या, बच्चो, पोतों, नातियों के प्रति आसक्ति इसी धुरी के चारों ओर घूमती देखी जा सकती है।[145]

आचार्य जी ने आश्रम व्यवस्था में आई सामयिक विकृतियों में हेर फेर कर लोकजीवन की सर्वाधिक सशक्त परम्परा 'वानप्रस्थ परम्परा' का पुनर्जीवन किया। अपने समय की यह सबसे बड़ी क्रान्ति मानी जानी चाहिए कि सामान्य जीवन जीने वाले अगणित व्यक्ति तप प्रधान वानप्रस्थ जीवन की प्रेरणा पाकर इस आश्रम में प्रवृत्त हो गए। धर्मतंत्र से लोकशिक्षण साधु स्तर के परिव्राजक ही कर सकते हैं। वानप्रस्थ आश्रम अपनाकर उत्तरार्द्ध का सुनियोजन समाज, राष्ट्र व संस्कृति के निमित्त कर जीवन लक्ष्य को पूरा किया जा सकता है। इस पर सहमत हो लक्षाधिक लोकसेवी कार्यकर्त्ताओं-सृजन शिल्पियों का उभरकर आ जाना एक विस्मयकारी उपलब्धि है।[146]

आचार्य जी के अनुसार वानप्रस्थ जीवन तीन भागों में विभक्त है-१. तपश्चर्या द्वारा संचित कुसंस्कारों का परिशोधन तथा प्रसुप्त आत्मबल का सम्वर्धन २. ब्रह्मविद्या के सहारे आत्मज्ञान एवं व्यावहारिक अनुभव अभ्यास ३. लोकसेवा। इन तीनों का ही उचित संपादन करने से सच्चे अर्थों में वानप्रस्थ साधना बन पड़ती है। तीनों का समावेश रहने से ही इस पुण्य परम्परा का निर्वाह ठीक प्रकार बन पड़ता है।[147] अगले दिनों यही परम्परा आध्यात्मिक समाज के अभ्युदय का आधार बनेगी।

आश्रम देवालय परम्परा-आध्यात्मिक समाज में आश्रम देवालय वर्तमान विकृतियों से मुक्त अपना स्वस्थ स्वरूप प्राप्त कर सकेंगे। आश्रम एवं देवालयों की वर्तमान विकृतियों से विद्वान्-मनीषी तो क्या जनसामान्य तक अपरिचित नहीं है। आचार्यजी के अनुसार-"समय के अनुसार आ गयी विकृतियाँ यदि मिटाई जा सकें तो पुनः उन्हें वह सुव्यवस्थित रूप दे सकना संभव है जो उनका मूलभूत स्वरूप था। विद्या विस्तार का व्यापक तंत्र जिनके माध्यम से चलता था।"[148] युग निर्माण आन्दोलन के अंतर्गत आचार्य जी ने आश्रम को जीवन जीने की कला का प्रशिक्षण देने वाली संस्था का स्वरूप देने का प्रयास किया था। देवालयों के माध्यम से प्रतीकोपासना का मूलभूत तत्त्वदर्शन समझाने तथा जनमानस का जागरण करने का सफल प्रयत्न किया था। अगले दिनों उनके इन प्रयत्नों का स्वरूप आश्रम एवं देवालय परम्परा के माध्यम से विद्या विस्तार के व्यापक तंत्र में क्रियाशील होते देखा जा सकेगा।

तीर्थ परम्परा-आज तीर्थों की साज-सज्जा का तो सभी को ध्यान है; लेकिन उनके प्राणों को प्रदीप्त रखने, उनकी ज्योति को जलाए रखने की परवाह किसी को नहीं। धर्म के नाम पर उन जगहों पर जो स्टाल लगे देखे जाते हैं, उनमें ऐसा बिकाऊ माल होता है जो आत्मिक स्वास्थ्य को किसी तरह लाभ नहीं, उलटे हानि ही पहुँचाता है। यहाँ भावुक जनों का शोषण किया जाता है और अंधविश्वासों का पोषण। अमृत भी सड़ जाने पर जहर हो जाता है। मुर्दा शरीर तेजी से फूलता है, पर

१४५. आचार्य श्रीराम शर्मा-सांस्कृतिक नवोन्मेष, वानप्रस्थ के पुनर्जीवन द्वारा, अखण्डज्योति, वर्ष ५५, अंक ७, पृ ४१

१४६. वही, पृ ४२

१४७. आचार्य श्रीराम शर्मा-भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड, वानप्रस्थ (१९७८), पृ. २८

१४८. आचार्य श्रीराम शर्मा-जन जागरण हेतु ऋषि संस्कृति की दो महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ, अखण्ड ज्योति वर्ष ५५, अंक ७, पृ. ३९

उससे किसी को खुशी नहीं होती। तीर्थों की आत्मा तो उनसे निकल चुकी, हाँ उसका शरीर फूलता दिख रहा है।[१४९]

तीर्थों में छाई उपरोक्त विकृति को दूर कर उसे पुनः अपना खोया सौन्दर्य वापस करने के उद्देश्य से आचार्य जी ने अपने युग निर्माण आंदोलन के अंतर्गत देश भर के सभी तीर्थ क्षेत्रों में लगभग ३० हजार से भी अधिक गायत्री शक्तिपीठों के त्रिविध उद्देश्य हैं-१. अतीत का पुनरागमन २. वर्तमान का निर्धारण ३. भविष्य का संयोजन। इस स्थापना को समर्थ रामदास द्वारा स्थापित हनुमान मंदिर, शंकराचार्य द्वारा नवजीवित चारों धामों एवं भगवान् बुद्ध द्वारा स्वचालित बौद्ध विहारों और संघारामों का व्यापक समग्र और भवितव्यता से सामंजस्य रखने की दृष्टि से सार्थक प्रयोग समझा जा सकता है। अपने तीनों उद्देश्य पूरा करने में यह योजना सर्वसमर्थ है।[१५०] इस प्रक्रिया में समर्पित देवमानवों की समर्थ मण्डली का यह कार्य नवयुग के अवतरण में ब्रह्म मुहूर्त्त की तरह अपना परिचय देने जैसा है। तीव्र गति से बढ़ती उनकी प्रखरता की किरणें अन्य तीर्थों में भी जाग्रति ला सकेंगी।[१५१] और तीर्थ परम्परा पुनः अपने कल्मषहारी स्वरूप में दिखाई पड़ने लगेगी।

उपरोक्त प्रकार की सामाजिक व्यवस्था एवं परम्परा का आदर्श स्वरूप आचार्य जी की दार्शनिक दृष्टि तक सीमित नहीं है। इस पर उन्होंने शान्तिकुंज आश्रम में सफल वैज्ञानिक प्रयोग भी संपन्न किया है। उनके द्वारा स्थापित शान्तिकुंज को आध्यात्मिक समाज के भव्य भवन का छोटा मॉडल कहा जा सकता है।

भव्य भवन का छोटा मॉडल 'शान्तिकुंज'

भव्य भवन बनाने से पहले इनके छोटे आकार के मॉडल आनुपातिक आधार पर खड़े विनिर्मित कर लिए जाते हैं। ताजमहल आदि के मॉडल आसानी से देखे भी जा सकते हैं। बड़े-बड़े बाँध, बड़ी परियोजनाएँ, अट्टालिकाएँ पहले आर्चिटेक्ट की दृष्टि से मॉडल रूप में ही विनिर्मित कर फिर उन्हें विभिन्न चरणों में साकार रूप दिया जाता है। शान्तिकुंज ने इक्कीसवीं सदी के उपयुक्त उज्ज्वल भविष्य की संरचना के स्वरूप के अनुसार अपने आपको छोटे मॉडल के रूप में प्रस्तुत किया है।[१५२] यहाँ पर भावी आध्यात्मिक समाज को जीवन्त और क्रियाशील देखा जा सकता है।

गंगा की गोद, हिमालय की छाया में बने-बसे, सप्तऋषि क्षेत्र हरिद्वार में स्थित शान्तिकुंज में छः सौ परिवार युग निर्माण आन्दोलन के सक्रिय कार्यकर्त्ता के रूप में निवास करते हैं। आचार्य जी के द्वारा प्रवर्तित आध्यात्मिक समाजवाद की जीवन रीति को मूर्त करना ही इन सभी के जीवन का उद्देश्य है। इस उद्देश्य के अनुरूप देश के विभिन्न भागों से, प्रचलित समाज व्यवस्था की विभिन्न जातियों से आए हुए ये सभी परिवार अब प्रचलित जाति व्यवस्था को भूल चुके हैं। स्वयं को मनुष्य जाति का सदस्य कहलाने एवं विश्व परिवार का अभिन्न अंग मानने में सभी को गर्व की अनुभूति होती है।

शान्तिकुंज स्थिति भोजनालय में जिसकी संचालन व्यवस्था आदिवासी बहिनें करती हैं, उसमें सभी लोग बिना किसी भेदभाव के भोजन करते हैं। आध्यात्मिक समाज के लिए संकल्परत इन सभी परिवारों में विवाह-शादी जैसे सम्बन्ध भी बिना किसी जातीय आधार के सम्पन्न होते हैं। इन सभी का विश्वास ब्राह्मण मन व ऋषि कर्म पर है। श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध, बारहवें अध्याय के दसवें श्लोक में साफ उल्लेख आता है कि सतयुग में सिर्फ एक वर्ण था ब्राह्मण (हंस)। उसी तरह शान्तिकुंज में निवास करने वाले व्यक्तियों का सिर्फ एक ही वर्ण है ब्राह्मण। सभी के जीवन में नवयुग के समाज

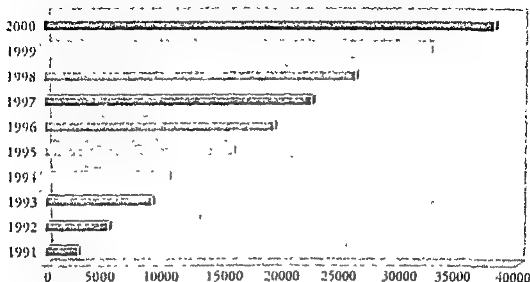
१४९. आचार्य श्रीराम शर्मा-तीर्थ प्रक्रिया की युगानुकूल प्रतिष्ठापना, अखण्ड ज्योति वर्ष ५५, अंक ७, पृ. २५
१५०. वही, पृ. २७
१५१. वही, पृ. २७
१५२. आचार्य श्रीराम शर्मा-२१वीं सदी बनाम उज्ज्वल भविष्य, पृ. ४८

के आध्यात्मिक आधार गायत्री और यज्ञ का अविच्छिन्न स्थान है। ये सभी 'मानव मात्र एक समान', 'नर और नारी एक समान' सूत्र में विश्वास करने वाले इस देव परिकर की ब्रह्मवादिनी महिलाएँ भी पुरुषों के समान ही देश विदेश में होने वाले विभिन्न समारोहों में यज्ञ कराती व प्रवचन करती देखी जा सकती हैं।

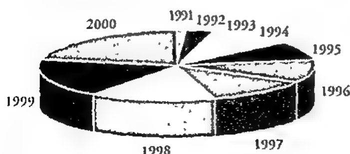
सभी का उनकी वैयक्तिक योग्यता, क्षमता की अभिवृद्धि के लिए न केवल पूरी छूट है, बल्कि यहाँ की समाज व्यवस्था इसके लिए उन्हें प्रोत्साहित करती और यथायोग्य सरंजाम जुटाती रहती है। ये व्यक्ति भी समाज हित के लिए स्वयं का जीवन तक उत्सर्ग करने के लिए तत्पर देखे जाते हैं। व्यक्ति और समाज के मधुर संबंधों के उत्कर्ष को यहाँ सहज चरितार्थ होते देखा जा सकता है। आध्यात्मिक समाज, व्यवस्था के सभी पक्ष एवं सभी विवेकशील परम्पराएँ यहाँ अपने विकसित रूप में सक्रिय हैं।

यहाँ की अर्थ व्यवस्था का सूत्र है-योग्यता के अनुसार कार्य और आवश्यकता के अनुसार खर्च-सम्पदा पर न तो किसी व्यक्ति का स्वामित्व है और न ही किसी को उत्तराधिकार की चिन्ता। सभी को शान्तिकुंज की ओर से औसत भारतीय स्तर का निर्वाह खर्च मिलता है। इसका उत्कृष्ट स्वरूप तो तब देखने को मिलता है, जब ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान में अनुसंधानरत वैज्ञानिक मनीषी अपनी कम आवश्यकता के अनुरूप मिलने वाली कम निर्वाह राशि में संतुष्ट रहते हैं। और शान्तिकुंज के गेट पर चौकीदारी करने वाले अपने परिवार की सदस्य संख्या के अनुरूप अधिक निर्वाह खर्च पाते हैं। फिर पारस्परिक प्यार-स्नेह में कहीं कोई कमी नहीं। एकता-समता का यह अभूतपूर्व संगम यहाँ की अपनी विशेषता है। उद्धत अहंकार अथवा हीन भावना कहीं नजर नहीं आती। शान्तिकुंज की सामूहिक अर्थव्यवस्था का मूल स्रोत विश्व भर में फैले गायत्री परिवार के एक करोड़ सदस्यों द्वारा दस पैसे रोज के रूप में दी जाने वाली अनुदान राशि है। आचार्य जी का कहना था-कि समाजसेवी को पूर्ण रूप से समाज पर ही निर्भर रहना चाहिए। क्योंकि परिग्रह का अर्थ है-स्वयं पर अविश्वास, समाज पर अविश्वास एवं ईश्वर पर अविश्वास। इस महत्त्वपूर्ण सूत्र को यहाँ प्रतिपादित होते देखा जा सकता है।

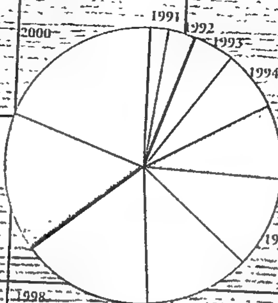
पारस्परिक एकता एवं सौम्य समता के आत्मीय बंधनों में बँधे शान्तिकुंज का लोकसेवी समाज अपने प्रवर्तक आचार्य श्रीराम शर्मा के दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुरूप सर्वांगीण समाज की रचना में अहर्निश तत्पर है।



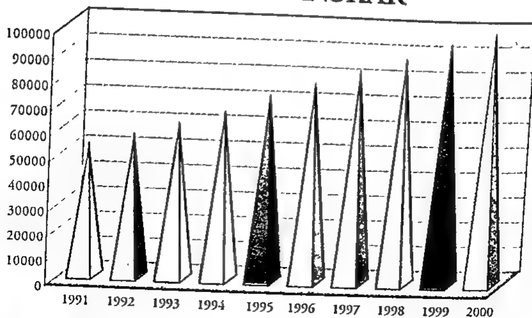
ग्राफ क्रमांक – १



ग्राफ क्रमांक – २



ग्राफ क्रमांक – ३



ग्राफ क्रमांक – ४

आध्यात्मिक समाज की स्थापना के लिए शान्तिकुंज द्वारा किए जा रहे प्रयास

आध्यात्मिक समाज की रीतियों-नीतियों, व्यवस्थाओं, परम्पराओं के सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक शिक्षण हेतु शान्तिकुंज द्वारा एकमासीय एवं नौ दिवसीय सत्रों का संचालन किया जाता है। जिसमें देश-विदेश से प्रतिमाह लगभग दो हजार स्त्री-पुरुष एवं बच्चे भाग लेते हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ के लोकसेवी कार्यकर्त्ता देश-विदेश के विभिन्न भागों में स्वयं पहुँचकर विभिन्न समारोहों, यज्ञायोजनों, संस्कार महोत्सवों के माध्यम से आध्यात्मिक समाज की जीवन पद्धति का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक प्रशिक्षण देते हैं।

इस शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत कर रही छात्रा ने शान्तिकुंज के व्यवस्थापक के सहयोग एवं शोध कार्य के मार्गदर्शक डॉ. जे. आर. यादव के मार्गदर्शन में यहाँ के गतिविधियों का शोध पूर्ण सर्वेक्षण अध्ययन संपन्न किया। यह अध्ययन शोध कार्य की पञ्जीकरण की तिथि से आज तक के समयान्तराल अर्थात् १९९१ से १९९५ की अवधि का किया गया। इस अध्ययन क्रम से प्राप्त लेखा जोखा निम्न क्रम में प्रस्तुत किया जा रहा है।

शान्तिकुंज द्वारा संपन्न कराए गए संस्कार-व्यक्ति और समाज को सुसंस्कृत बनाने के लिए शान्तिकुंज द्वारा देश और विदेश में विभिन्न संस्कार आयोजन संपन्न किए जाते रहे हैं। इस क्रम की आठ बिन्दुओं में स्पष्ट किया जा रहा है।

१. **पुंसवन संस्कार**-यह सारी प्रकिया ऋषियों के आयुर्वेदिक ज्ञान पर आधारित है। आज थ्रेटेन्ड एवार्शन से लेकर गर्भस्थ बच्चे पर हानिकारक औषधियों के प्रभाव तक कितनी ही प्रक्रियाएँ वातावरण में विद्यमान हैं। इनकी सुरक्षा इस कर्म से होती है। साथ ही बालक के भौतिक शरीर के निर्माण के समय से ही अर्थात गर्भ के तीसरे-चौथे माह में उस पर उत्तम संस्कारों का रोपण किया जाता है।

देव संतति के उद्देश्य से किया जाने वाला यह संस्कार १९९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९ व २००० में क्रमशः २७५५, ५३२७, ८९८५, १०४५१, १५८९७, १९३१२, २२५१७, २६२११, ३२४२७ एवं ३७८३५ संपन्न किये गए। इसका विस्तृत विवरण ग्राफ संख्या १ में है।

२. **अन्नप्राशन संस्कार**-यह संस्कार बालक अथवा बालिका में यह भावना विकसित करने के लिए किया जाता है वह हमेशा सुसंस्कारी अन्न ग्रहण करे। इस क्रम में शान्तिकुंज द्वारा संपन्न कराए गए इस संस्कार में १९९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९ व २००० में क्रमशः १५२९, ३७२६, ४५९४, ७९०६, १०७०३, १३४१५, १५६२६, १८३४०, २२७६१, २७३३७ बच्चों ने सुसंस्कारिता की इस शिक्षा को ग्रहण किया।

३. **नामकरण संस्कार**-पश्चिम से बिलकुल भिन्न एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें गुण प्रधान नाम द्वारा यह प्रेरणा दी जाती है कि बच्चे जीवन भर उसी की तरह बनने का स्मरण रखे। इस क्रम में १९९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९ व २००० में क्रमशः ४१२५, ६३६०, ९४३९, १३३०४, १७८२३, २०८१२, २४४५२, २९८९१, ३२३१०, व ३८५१२ बच्चों ने सद्गुणी बनने का संकल्प लिया। इसका विस्तृत विवरण ग्राफ संख्या ३ में है।

४. **मुण्डन संस्कार**-ऋषियों की यह मान्यता है कि मनुष्य न जाने कितनी योनियों में भटकता हुआ पाशविक संस्कार-विचार, मनोभाव धारण करता हुआ मानव योनि प्राप्त करता है। इन अनुपयुक्त संस्कारों का निष्कासन बालक के सही मानसिक विकास के लिए अनिवार्य है। नरपशु, नरकीटक से नर मानव, देवमानव में परावर्तन हेतु यह प्रतीक संस्कार संपन्न किया जाता है। इस क्रम में १९९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९ व २००० में क्रमशः ५१०९२, ५५६६२, ६०३७६, ६५६२६, ७२९८६, ७७४३१, ८३३७२, ८८४२१, ९४८११, ९९३०२ बच्चों ने देवमानव बनने का संकल्प लिया। इसका विस्तृत विवरण ग्राफ संख्या ४ में है।

५. **विद्यारम्भ संस्कार**-आयु के पाँचवें वर्ष में संस्कार तब संपन्न किया जाता है जब बालक का मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने के योग्य हो जाता है। शिक्षा मात्र शिक्षा न रहकर विद्या बने-इसी का मनोवैज्ञानिक शिक्षण इस संस्कार द्वारा किया जाता है। इस क्रम में १९९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९ व २००० में क्रमशः १५५८०, २४१८४, ४००४७, ५१८६०, ६५१४७, ७७२१२, ८१३७९, ९५४१५, ११२३१७, एवं १३०३९२ बालकों ने आरुणि, श्वेतकेतु की तरह विद्यार्जन हेतु कदम बढ़ाए। इसका विवेचन ग्राफ संख्या ५ में है।

६. **दीक्षा एवं यज्ञोपवीत संस्कार**-यज्ञोपवीत व्रत बंधन है। सामान्यतः ८ से १० वर्ष की आयु में यह संपन्न किया जाता है। यज्ञोपवीत में ९ धागे होते हैं, जो नौ गुणों के प्रतीक हैं। विवेक, पवित्रता, बलिष्ठता, शान्ति, साहस, स्थिरता, धैर्य, कर्त्तव्यनिष्ठा, समृद्धि व सामूहिकता के ९ गुणों को गायत्री की मूर्तिमान प्रतिमा के रूप में कंधे पर हर समय धारण किया जाता है। यज्ञ पिता को कंधे पर गायत्री माता को हृदय पर एक साथ इस प्रतीक सूत्र के माध्यम से धारण कर व्रतशील जीवन के संकल्पित होना पड़ता है। इस क्रम में १९९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९ व २००० में क्रमशः १५४६२८, २०४७२५, ४३९३७५, ६२३६३१, ८५९१४९, १००३३२५, १२११६३०, १३०८२४७, १५२१३४२ एवं १८२३१९७ लोगों ने व्रतशील जीवन का संकल्प लिया। इसका विस्तृत विवेचन ग्राफ क्रमांक ६ में है।

७. **जन्मदिवस संस्कार**-मोमबत्तियाँ जलाकर, केक काटकर, मँहगे प्रीति भोजों में अपनी संपन्नता का प्रदर्शन करना ही आज इसका पाश्चात्य स्वरूप रह गया है; जबकि यह महत्त्वपूर्ण संस्कार वर्ष में एक बार मनायी, सजाने वाली आत्मबोध की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। यह विशिष्ट संस्कार इस भावना के साथ मनाया जाना चाहिए कि हर आत्मा में महानता को प्राप्त होने वाली अनन्त संभावनाएँ विद्यमान हैं। यदि इस दिन आत्म चेतना को झकझोरा जा सके तो व्यक्ति महानता के पथ पर आरूढ़ हो सकता है। इस क्रम में १९९१, १९९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९ व २००० में क्रमशः १०९७, १४७५, १८२८, २३४०, ४१९०, ५१७०, ६५९०, ७९१७, ८८२७ व १०७१२ जन्मदिवस संस्कार संपन्न किए गए। इसका विवेचन ग्राफ क्र. ७ में है।

८. **अन्यान्य संस्कार**-इन उपरोक्त संस्कारों के अलावा मनुष्य व समाज को सुसंस्कृत करने वाले अन्यान्य संस्कारों के द्वारा १९९१; ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९ व २००० में क्रमशः ५३४२०, ६६३१२, ७८७६७, १५४०२८, १७०८३७८, २१०४३१, २४०३११, २६५४३२, २८८७३१, एवं ३१७८१९ लोगों को संस्कारवान् बनाने का प्रयास किया गया। इसका विस्तृत विवरण ग्राफ क्रमांक ८ में देखा जा सकता है।

९. **आदर्श विवाह**-इन विवाह के साथ जुड़ी तड़क-भड़क-अपव्यय का प्रदर्शन, दहेज-बारात आदि की विकृतियों ने समाज में आज एक ऐसा संकट पैदा कर दिया है जिससे सद्गृहस्थ निर्माण तंत्र ही समाप्त हो गया। विवाह संस्कार को इन कुरीतियों से मुक्त करने के लिए शान्तिकुंज ने आदर्श विवाह को आंदोलन का रूप दिया है। जिसके अंतर्गत दहेज और अपव्यय से मुक्त विवाह संपन्न कराए जाते हैं। इस क्रम में १९९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९ व २००० में क्रमशः १०५४९, २१६९८, २५८११, ३३४५६, ३९३१९, ४५००१, ५४२१९, ६६५४३, ७८५०७, एवं ९१५३८ विवाह संपन्न कराए गए। इसका विस्तृत विवेचन ग्राफ क्र. ९ में है।

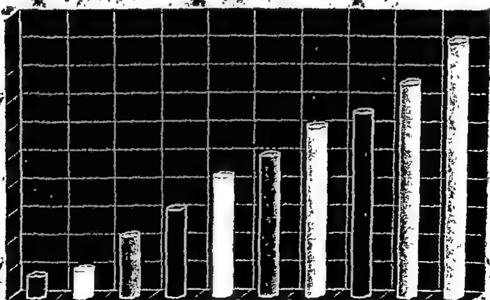
१०. **देवस्थापना**-वर्तमान समय में पारिवारिक विघटन, बच्चों का कुसंस्कारी होते चले जाना आज एक सामान्य बात है। इस विकृति से निबटने के लिए शान्तिकुंज ने देवस्थापना कार्यक्रम के अंतर्गत घर-परिवारों में गायत्री और यज्ञ की प्रक्रिया को

VIDYA ARAMBH SANSKAR

140000
120000
100000
80000
60000
40000
20000
0

1991 1992 1993 1994 1995 1996 1997 1998 1999 2000

ग्राफ क्रमांक – ५



ग्राफ क्रमांक – ६

BIRTHDAY SANSKAR

12000
10000
8000
6000
4000
2000
0
1991 1992 1993 1994 1995 1996 1997 1998 1999 2000

ग्राफ क्रमांक – ७

DIFFERENT SANSKAR

350000
300000
250000
200000
150000
100000
50000
0
1991 1992 1993 1994 1995 1996 1997 1998 1999 2000

ग्राफ क्रमांक – ८

ग्राफ क्रमांक – ९

ग्राफ क्रमांक – १०

-

स्थापित करके परिवार में आस्तिकता और सुसंस्कृत वातावरण को विनिर्मित करने का प्रयास किया है। इस क्रम में १९९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९ व २००० में क्रमशः ४३४१५, ६२६०९, ८७९०५, ११०३३५, १५०००१, २१७०१९, २५७६२०, ३२४१२०, ३९३१७१, एवं ४४२१८३ परिवारों के वातावरण को संस्कारवान् बनाया गया। इसका विस्तृत विवरण ग्राफ संख्या १० में है।

११. नैतिक शिक्षा के सत्र-नैतिक शिक्षा की योजना के अंतर्गत उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, हरियाणा आदि विभिन्न प्रान्तों की सरकारों ने अपने कर्मचारियों को शान्तिकुंज भेजकर उनके व्यक्तित्व को परिष्कृत, उन्नत व सुविकसित करने में तत्परता दिखाई। इस क्रम में १९९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९ व २००० में विभिन्न विभागों के क्रमशः १२३३६, २५१५३, २९५०१, ३६५४१, ४२२१८, ४८५०७, ५५३४६, ६१४८६, ६८९५० एवं ७५५४१ व्यक्तियों ने भागीदारी की और अपने व्यक्तित्व का अनुकरणीय उदाहरण अपने कार्यक्षेत्र में प्रस्तुत किया। इसका विस्तृत विवेचन ग्राफ संख्या ११ में है।

१२. दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन-इस कार्यक्रम के अंतर्गत नशा निवारण कार्यक्रम को प्राथमिकता दी गई। विभिन्न यज्ञीय आयोजनों में ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान के चिकित्सकों की सहायता से १९९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९ व २००० में क्रमशः ३०३१७१, ४४०७३१, ५०००००, ६२६५०५, ६५४१३६, ७५८५१६, ८६४५३५, ९५२४७५, १०७७६५४, १२५३४८१ लोगों ने शराब, अफीम, चरस आदि नशों के दुर्व्यसनों का त्याग किया। इसका विस्तृत विवेचन ग्राफ क्रमांक १२ में है।

सत्प्रवृत्ति संवर्धन-सत्प्रवृत्ति संवर्धन के अंतर्गत वृक्षारोपण एवं स्वाध्याय की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया गया।

१. वृक्षारोपण-वृक्षारोपण कार्यक्रम के अंतर्गत गायत्री परिवार के कार्यकर्त्ताओं के द्वारा पर्यावरण संवर्धन के लिए देश के विभिन्न भागों में वर्ष १९९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९ व २००० में क्रमशः ११५६९५०, १७१२६५०, २२२५०००, २७७७४९७, ३१३९५४७, ३६४८६१७, ४२५२४९६, ४७२५७५१, ५२१४७६२ एवं ५८८१२०१ वृक्षारोपण किया गया। इसका विस्तृत विवेचन ग्राफ संख्या १३ में है।

२. स्वाध्याय मंडल-अश्लील साहित्य की बढ़ती कुप्रवृत्ति को रोकने के लिए शान्तिकुंज ने देश भर में स्वाध्याय मंडल की स्थापना को एक कार्यक्रम के रूप में लिया। इस क्रम में वर्ष १९९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९ व २००० में क्रमशः २५००, ३०००, ३५००, ४१००, ४९००, ५२००, ५७००, ६५००, ७३०० व ८४०० संख्या में स्वाध्याय मंडल स्थापित किए गए। इसका विस्तृत विवेचन ग्राफ संख्या १४ में है।

३. पत्रिकाओं का प्रकाशन-स्वाध्याय की प्रवृति को बढ़ावा देने के लिए उत्तम विचार सामग्री का प्रस्तुतीकरण शान्तिकुंज द्वारा प्रकाशित अखण्ड ज्योति एवं युग निर्माण योजना मासिक के द्वारा किया जाता है। अखण्ड ज्योति की प्रकाशन संख्या वर्ष १९९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९ व २००० में क्रमशः ३४३३३३, ३४६६६६, ३९५०००, ४५००००, ४८००००; ५३४०००, ५६१७५०, ६१५७००, ६६२४००, व ७२८३१० रही। इसी क्रम में युग निर्माण योजना वर्ष १९९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९ व २००० में क्रमशः ६२०००, ६५०००, ७५०००, ८३०००, ८७०००, ९२०००, ९६०००, १०३०००, १०७००० एवं ११२००० रही। इसका विवेचन क्रमशः ग्राफ क्रमांक १५ व १६ में है।



शान्तिकुंज के प्रयासों की परिणति धरती पर स्वर्ग का अवतरण

आचार्य जी ने शान्तिकुंज को आध्यात्मिक समाज बनाते-बसाते समय लिखा था-"गायत्री नगर बनाने का संकल्प इसी दृष्टि से उठा कि धरती पर स्वर्ग के अवतरण का स्वप्न छोटे रूप में साकार करके दिखाया जाय।"[१५३] यह स्वप्न केवल आज अपने मूर्त रूप में है; बल्कि अपनी स्वर्गीय परिस्थितियों को विश्वव्यापी बनाने में तत्पर है। इसी तत्परता की झलक उपर्युक्त पंक्तियों में दिखायी गयी है। शान्तिकुंज की वर्तमान गतिविधियों के पीछे आचार्य जी द्वारा संचालित वह सूक्ष्म प्रक्रिया है-जिसका उल्लेख उन्होंने अपना दृश्यमान कलेवर छोड़ने के थोड़े ही समय पूर्व किया था। उन्हीं के शब्दों में-"पिछले दिनों दृश्य काया से, परोक्ष सत्ता के मार्गदर्शन में जो कर्तृत्व बन पड़ा वह सबके सामने है। साधना द्वारा आत्म परिमार्जन, युग साहित्य का सृजन, लाखों का संगठन, समर्थ सहायकों का विकास, लोकसेवियों का निर्माण, युगसंधि का शिलान्यास, विचार क्रान्ति का सूत्र संचालन जैसे कितने ही विलक्षण कार्य लोगों ने अपनी आँखों से देखे हैं। यह सब काया द्वारा बन पड़ी गतिविधियों का संक्षिप्त परिचय है।"

अब जीवन का दूसरा अध्याय प्रारम्भ होता है। अब इसमें जो होना है उसे और अधिक महत्त्वपूर्ण मूल्यवान माना जा सकता है। स्थूल के अतिरिक्त सूक्ष्म व कारण शरीरों का अस्तित्व अध्यात्म विज्ञानी बताते रहे हैं। उन्हें स्थूल शरीर की तुलना में असंख्य गुना अधिक शक्तिशाली कहा गया है। उन्हीं का प्रयोग अब एक शताब्दी तक किया जाना है। यह कार्य १९९० के वसन्त पर्व से आरम्भ किया जा रहा है। यहाँ से लेकर सन् २००० तक दस वर्ष युग संधि का समय है। परिजन देखेंगे कि इस अवधि में जो गतिविधियाँ चलेंगी उसका केन्द्र शान्तिकुंज हरिद्वार होगा।

युग चेतना का विस्तार इन्हीं दिनों हो रहा है। भारत के कोने-कोने में और विदेशों में और विदेशों में बसे भारतीय मूल के विशिष्ट जनों के माध्यम से युग संधि का स्वरूप व्यापक बनाया जाएगा। इसके लिए जिस आध्यात्मिक साधना की, रचनात्मक क्रियाकलापों की आवश्यकता पड़ेगी, उसका विस्तार भी इन्हीं दिनों होता रहेगा। यह कार्य सूक्ष्म शरीर द्वारा संपन्न होगा। स्थूल शरीर तो इससे पहले ही साथ छोड़ चुका होगा। कारण स्पष्ट है कि स्थूल शरीर की विधि व्यवस्था में ढेरों समय खर्च हो जाता है, जबकि सूक्ष्म शरीर बिना किसी झंझट के, व्यापक क्षेत्र में अपना कार्य द्रुतगति से करता-कराता रह सकता है।

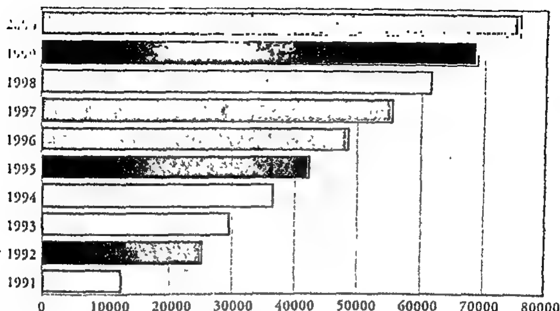
कारण शरीर की शक्ति बड़ी है। उसका कार्यक्षेत्र भी बड़ा है। अदृश्य जगत में जो घटित होने जा रहा है उसमें हस्तक्षेप की सामर्थ्य भी कारण शरीर में होती है। इक्कीसवीं सदी में कई अनर्थों से जूझने की आवश्यकता पड़ेगी और कई ऐसे प्रयास संपन्न करने पड़ेंगे जो न स्थूल शरीर से बन पड़ सकते हैं और न उन्हें सूक्ष्म शरीर ही कर सकता है। ब्राह्मी चेतना से जुड़कर दिव्य कारण शरीर ही उस सब कार्यों को क्रियान्वित करता है जिन्हें प्रायः अद्भुत एवं अलौकिक कहा जाता है।

युग परिवर्तन की प्रस्तुत वेला में इस महान् कार्य के लिए जो सुविधाएँ सामने आएंगी उनका उद्भव अदृश्य जगत से होगा। अदृश्य से ही दृश्य गतिविधियाँ प्रकट होंगी। जो कुछ भी किया जाना है वह ब्राह्मी चेतना से जुड़ा, कारण शरीर ही संपन्न करेगा। इक्कीसवीं सदी में ऐसे ही परिवर्तन होंगे, पर यह प्रतीत न होगा कि यह कैसे हो रहे हैं, कौन कर रहा है ? चूँकि पिछले दो हजार वर्ष की गड़बड़ियाँ सौ वर्षों में ही ठीक होनी है इसलिए सुधार की गतिविधियाँ अपनी चरम सीमा पर होंगी। इसे सामान्य साधन और प्रयासों से नहीं किया जा सकता। इसके लिए विशिष्ट प्रयास अनिवार्य है। शान्तिकुंज और उसके सूत्र संचालक द्वारा किये जा रहे इन विशिष्ट प्रयासों की परिणति धरती पर स्वर्ग के अवतरण के रूप में होंगी। भावी आध्यात्मिक समाज में रहने वाले लोगों की मनःस्थिति में देवत्व की उत्कृष्टता भरी होगी, वहीं व्यवहार में स्नेह, सहयोग, सृजन, सौन्दर्य की हलचलें दृष्टिगोचर होंगी। वसुन्धरा देवों की निवास भूमि स्वर्ग के रूप में दिखाई पड़ने लगेगी।

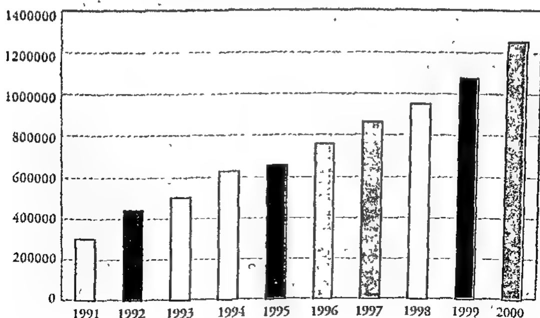


---

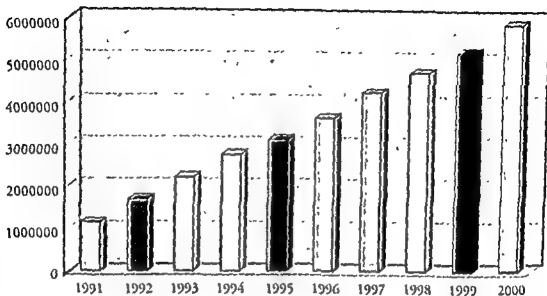
१५३. आचार्य श्रीराम शर्मा-नवसृजन के निमित्त महाकाल की तैयारी, पृ. २९-३०



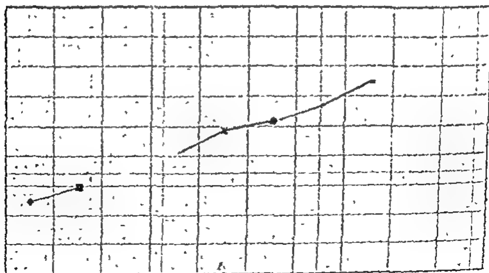
ग्राफ क्रमांक – ११



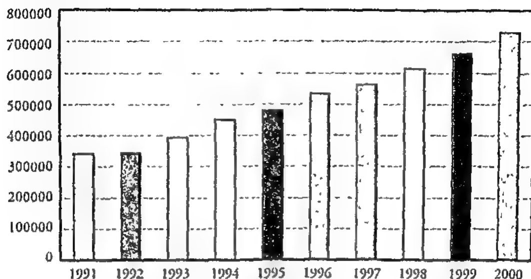
ग्राफ क्रमांक – १२



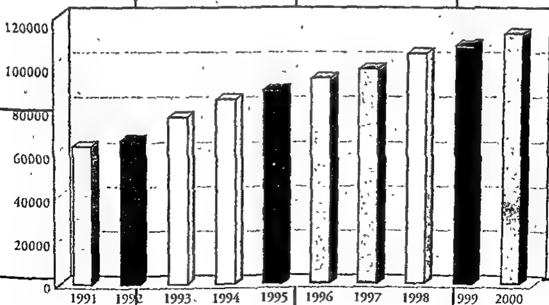
ग्राफ क्रमांक – १३



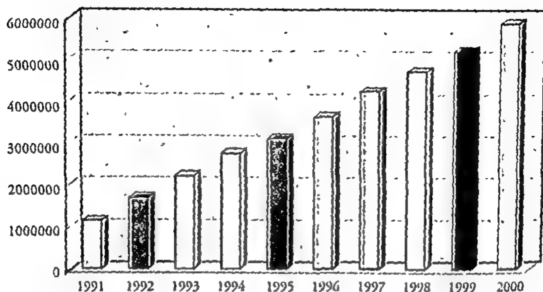
ग्राफ क्रमांक – १४



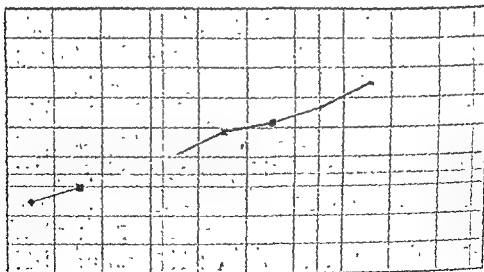
ग्राफ क्रमांक – १५



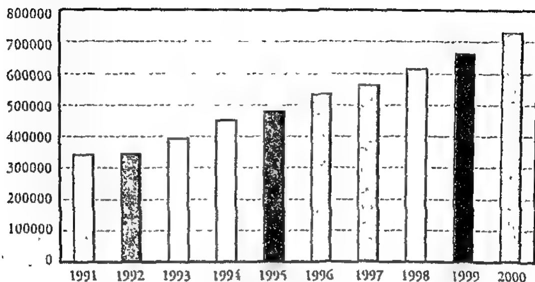
ग्राफ क्रमांक – १६



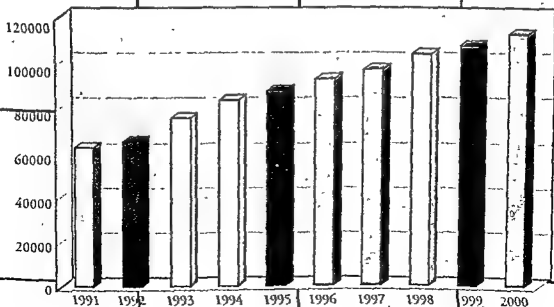
ग्राफ क्रमांक – १३



ग्राफ क्रमांक – १४



ग्राफ क्रमांक – १५



ग्राफ क्रमांक – १६

उपसंहार

मानव जीवन, प्रकृति तथा ईश्वर से उसके सम्बन्धों एवं तत्सम्बन्धी समस्याओं पर आरम्भिक काल से ही तरह-तरह से विचार किया जाता रहा है। इस क्रम में अनगिनत दृष्टिकोण और अनेक विचारधाराएँ विकसित हुईं; परन्तु कहीं भी संतोषजनक परिणाम तक नहीं पहुँचा जा सका। अद्वैतवाद, द्वैतवाद, बहुतत्त्ववाद, भौतिकवाद, प्राणवाद एवं मानसवाद, इन सभी ने अपने विरोधियों के पक्ष में प्रवृत्ति उत्पन्न की है। सत्य का स्पष्टीकरण किया जाए तो यही कहना होगा कि 'दर्शन का इतिहास स्व की महत्ता के लिए संघर्षरत इन वादों का इतिहास है।' इनके मूल में समाहित कुछ बुनियादी दोषों को पिछले अध्यायों में देखा जा चुका है। उदाहरण के लिए बुद्धि को सब कुछ मान लेना, बुद्धि से परे तथ्यों की बुद्धि द्वारा अवमानना, केन्द्र के स्थान पर परिधि को तथा पूर्ण के स्थान पर अंश को रखना, उनके सीमित दृष्टिकोण अथवा मत से बाहर जो कुछ भी हो उसका अंधनिषेध आदि इन सीमित दृष्टिकोणों अथवा मतवादों की वजह से दर्शन एक अंध अवरोध की स्थिति पर आ पहुँचा है। यह इन विचारधाराओं की पारस्परिक संघर्षरत स्थिति की वजह से मानव समुदाय भी कठिन वैचारिक द्वन्द्व में फँस गया है। उनकी मनोदशा किंकर्त्तव्यविमूढ़ की सी है। उसे यह नहीं सूझ पड़ रहा कि क्या सोचें और क्या करें? इस स्थिति से उबरने के लिए दर्शन और दार्शनिकता की परिस्थितियों का विश्लेषण करके पद्धतियों को बदलना चाहिए; लेकिन इस बार एक नवीन पद्धति न होकर उन सबको स्वयं में समाहित करने वाली सर्वांगीण प्रणाली हो।

युग की माँग

जैसे मरे हुए आदमी और जिन्दा आदमी के बीच कोई बात नहीं हो सकती, ऐसे ही हमारे पुरानी दार्शनिक प्रणालियों और हमारी समस्याओं के बीच कोई बातचीत संभव नहीं। हर सवाल के साथ एक उलझन है कि वह नया है और उसे हमारे अतीत की तनिक भी परवाह नहीं। समस्याएँ कभी हमसे पूछकर नहीं आतीं। उनके आ जाने पर भी हम पुराने समाधानों को मजबूती से पकड़े बैठे रहते हैं। हमें ऐसा लगता है कि समाधान हमारे पास हैं, फिर भी समस्याएँ हल नहीं हो पा रहीं। पुराने दार्शनिक चिंतन की पोथियों से हम घिरे बैठे हैं और जीवन है कि उलझता जा रहा है। इसके पीछे बुनियादी सवाल है...युग की माँग?

नये प्रश्न, नये उत्तर चाहते हैं। नई समस्या, नया समाधान माँगती है। नई परिस्थितियाँ बदले स्वरों में नई चेतना को चुनौती दे रही हैं। आधुनिक सुविधाओं के सरंजाम में दुनिया को एक गाँव में तब्दील कर दिया है। जितनी देर में हम एक गाँव से दूसरे गाँव में पहुँचते थे, आज उतनी देर में दिल्ली से अमेरिका पहुँच सकते हैं। एक जमाना था, जिसका जिक्र करते हुए कन्फ्यूशियस ने एक किताब में लिखा है कि मेरे पूर्वज कहते थे कि नदी के उस पार रात के कुत्ते भौंकते तो हमें आवाज सुनाई देती थी, लेकिन यह पता नहीं था कि नदी के पार कौन रहता है? नदी बड़ी थी और नाव इजाद नहीं हुई थी। नदी के पार कोई रहता है, कोई गाँव है यह तभी पता चलता था; जब सन्नाटे को चीरती कुत्तों के भौंकने की आवाज कान में पड़ती थी। वह गाँव उनकी अपनी दुनिया थी। इस गाँव की अपनी दुनिया थी। आज न केवल बाहरी परिस्थितियाँ बदली हैं-पर्यावरण, वातावरण बदला है; बल्कि इन्सान के विचारों और भावनाओं की दुनिया भी बदल गई है। नई परिस्थितियों में उठने वाले सवाल-नया समाधान चाहते हैं।

नई शोध, नया समाधान भारत भूमि की गौरवमयी परम्परा रही है। इसमें किसी तरह का प्रमाद यहाँ की संस्कृति में सर्वथा वर्जनीय माना गया है। जिसे हम वैदिक युग का स्वर्णयुग कहते हैं, वह नये समाधानों की ढूँढ़-खोज का युग था। अर्थ और कर्म की अपेक्षा ज्ञान महत्त्वपूर्ण था। ज्ञान की खोज में तत्त्वदर्शन की मीमांसाओं में लगे ऋषि-मुनि समाज में सर्वोपरि सम्मानित पुरुष थे। धर्म सभाओं, यज्ञ आयोजनों का उद्देश्य था-नये समाधानों से जनसामान्य को अवगत कराना। जब कभी इसमें जड़ता आयी है, समाज और व्यक्ति के कदम पतन की ओर मुड़े हैं। महाभारतकालीन समाज की अव्यवस्थित स्थिति का एक मुख्य कारण यह भी था। उस युग के बौद्धिक वर्ग ने यह मान्यता बना ली कि हम सिर्फ प्राचीनता के पूजक होकर जियेंगे, नई शोध नहीं स्वीकारेंगे। वेद तीन हैं।

इनकी संख्या चार नहीं हो सकती। भगवान व्यास ने अपने पुरुषार्थ और नीति बल से इस मान्यता को ध्वस्त किया। महर्षि महाअथर्वण ने ऐसे ढेरों नये समाधान ढूँढे थे जिनकी प्रयोजनीयता को सत्य होने के बाद भी नहीं स्वीकारा जा रहा था। व्यास ने इसे लेकर अथर्ववेद की रचना की। नए तत्त्वदर्शन का विस्तार किया।

इन दिनों की स्थिति बहुत कुछ वैसी ही है कारण कि दुनिया एक बहुत बड़ी क्रान्ति से गुजर रही है। इस क्रान्ति का काफी कुछ भाग संपन्न हो चुका है। बहुत कुछ संपन्न होना बाकी है। अगर हम यह न समझ सकें तो सवाल रोज बढ़ते जायेंगे और एक भी हल न निकल सकेंगे। इस क्रान्ति की तीव्रता कुछ इस कदर है कि ईसा के मरने के १८५० वर्षों में दुनिया का जितना ज्ञान बढ़ा, जितनी तेजी से बदलाव आया, पिछले डेढ़ सौ सालों में उतना संपन्न हो गया। और पिछले डेढ़ सौ सालों में जो कुछ हुआ उतना पिछले पन्द्रह वर्षों में हो सका। अब आगामी कुछ वर्षों में जितना कुछ संपन्न होने जा रहा है, उसको देखते हुए इन सभी प्रतिमानों को ढूँढना होगा।

पुरानी दुनिया को एक सुविधा थी। उसमें बदलाव का फासला इतना लम्बा होता था जिसका कोई हिसाब नहीं। हजारों साल तक वही उत्तर काम देता था। इतने पर भी यहाँ जीवन विद्या के तत्त्वदर्शी ऋषियों ने नये हल की खोज के लिए 'मा प्रमदितव्य' का निर्देश दिया था। अब जबकि बदलाव बहुत तेज है, तब बदली हुई दुनिया के लिए नये समाधान की खोज सर्वोपरि आवश्यकता बन चुकी है। इन दिनों न केवल मनुष्यता जुड़ गई है; बल्कि उसके जुड़ने के तरीके बदल गये हैं। पहले एक जाति अथवा एक धर्म के अनुयायी ही एक स्थान पर रहते थे। अब यह स्थिति नहीं है। वर्ण और आश्रम के मूल आधार बिखर चुके हैं। सामाजिक संबंध ही नहीं, राजनीतिक खाँचा-ढाँचा बदला हुआ है। राजतंत्र की परिपाटियों को लागू करने की सोच भी अप्रासंगिक बन चुकी है। विज्ञान के बढ़ते हुए विकास ने धर्म के अस्तित्व और औचित्य को चुनौती दे डाली है। ऐसे में अनिवार्य बन चुकी है नये तत्त्वदर्शन की खोज। बदले हुए परिवेश में मनुष्य के भौगोलिक और भावनात्मक संबंधों की व्याख्या समीचीन है। प्रकृति और ईश्वर के साथ मधुर संबंध आज कैसे बन सके, इसका स्पष्टीकरण अनिवार्य है।

युग की इस माँग के अनुसार दर्शन के चिन्तन सत्य को नवीन रूप में उपस्थित किया जाना चाहिए। दर्शन को बौद्धिक वितण्डावाद तक नहीं सिमटे रहना है; बल्कि उसे मानव की नई समस्याओं के लिए नये समाधान की शोध में तत्पर होना है, तो उसे जीवन दर्शन का स्वरूप स्वीकार करना होगा। मनुष्य, सृष्टि और ईश्वर-इन तीनों में से किसी का भी निषेध करने वाला दर्शन समग्र सत्य से पीछे रह जाता है। पलायनवाद और निराशावाद के अपने कारण हो सकते हैं; परन्तु वे सम्पूर्ण सत्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते। जीवन की दुःख के रूप में व्याख्या जीवन से उस दुर्दम्य मोह की विवेचना नहीं कर सकती, जिसको हम अपने चारों ओर देखते हैं। ज्ञान की प्रत्येक शाखा में जरूरत से ज्यादा वाद-विवाद हो चुके। समन्वय की जरूरत आज हर कहीं महसूस की जा रही है; लेकिन इस समन्वय को एकत्रीकरण का पर्याय नहीं बनना चाहिए; बल्कि इसे सभी के सारतत्त्व को स्वयं में समाहित करने वाले गतिशील दृष्टिकोण के रूप में उभरना चाहिए।

यह गतिशील दार्शनिक दृष्टिकोण-आधुनिक विज्ञान के निष्कर्षों की अवहेलना नहीं कर सकता। सत्य तो यह है कि दर्शन का धर्म से समन्वय जितना अनिवार्य है, उतना ही विज्ञान से भी समन्वय की अनिवार्यता है। यद्यपि विज्ञान द्वारा प्रवर्तित विकास के सिद्धान्त की व्याख्या को पाश्चात्य दार्शनिक स्वीकार कर चुके हैं, लेकिन इसका पूर्वीय आध्यात्मिक रूपान्तरण भी जरूरी है; क्योंकि यदि विकास को कतिपय एकांगी तथ्यों भर की नहीं बल्कि समूचे विश्व उद्यान की व्याख्या करनी है, तो उसको आध्यात्मिकता में समन्वित होना ही पड़ेगा। जैसे ज्ञान व क्रिया की अन्य शाखाओं में वैसे ही दर्शन में पूर्वी एवं पश्चिमी चिन्तन का एक समन्वय विकसित होना चाहिए। पश्चिमी दार्शनिकों को अपने अध्ययन व चिन्तन का दायरा बढ़ाकर-उसमें सभी प्रकार के गुह्य धार्मिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान को सम्मिलित कर लेना चाहिए। उसी तरह आत्मा की अनुभूति को पाने और उसे अभिव्यक्त करने के लिए पूर्वी चिन्तन को पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की आधुनिक तकनीकों एवं मनोवैज्ञानिक खोजों को अपनाने से हिचकना नहीं चाहिए।

आचार्य श्रीराम शर्मा का योगदान

आचार्य जी ने अपना व्यक्तित्व व कृतित्व युग की इसी माँग को पूरा करने के लिए समर्पित किया था। उन्होंने न केवल जीवन व जगत की वर्तमान उलझनों को अपने सर्वांग अनुभव के प्रकाश में सुलझाया; बल्कि उसके भविष्यत् विकास के लिए मार्ग प्रशस्त किया। उनके द्वारा किए गए योगदान को निम्न बिन्दुओं में समझा जा सकता है :-

◆ वैदिक दृष्टिकोण का पुनरुद्धार-

आचार्य जी न केवल वेदों के भाष्यकार; बल्कि स्वयं भी युगद्रष्टा ऋषि हैं। उनका दर्शन वेदों की ओर प्रत्यागमन है। इतने लम्बे संघर्षपूर्ण इतिहास के बाद भारतीय दर्शन उनके विचारों में पुन: अपनी आत्मा को पा लेता है, लेकिन लम्बे विकास का श्रम बेकार नहीं गया। प्रकृति और विचार दोनों विरोधों में होकर आगे बढ़ते हैं। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत एकांगी भले हों, पर परम सद्वस्तु के किसी न किसी पहलू विशेष को प्रकाशित करते हैं। उनका एकमात्र दोष पूर्ण के स्थान पर अंश को रखना है। आचार्य जी ने उन सभी को माना है; लेकिन उनकी सीमाओं को भी निर्देशित किया है। उनके व्यापक बोध में 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'-वेदों में वर्णित एकं सत्-बहुवादों के सारभूत तत्त्व के साथ अपनी पूर्णता व समग्रता में अभिव्यक्त होता है।

उन्होंने न केवल वैदिक विचार शैली का पुनरुद्धार किया है; बल्कि गायत्री और यज्ञ का प्रसार-विस्तार करके वैदिक जीवन शैली को पुनर्जीवित किया है। लाखों की संख्या में विश्व भर में फैले गायत्री परिवार के सदस्यों के रहन-सहन व आचार-विचार में वैदिक जीवन शैली की झलक अनुभव की जाती है। वैदिक काल की ही भाँति यज्ञ-याग के कर्मकाण्ड एवं वैदिक मंत्रों में निष्णात् ब्रह्मवादिनी महिलाएँ गायत्री परिवार के यज्ञायोजनों एवं विविध कार्यक्रमों को संचालित करती देखी जा सकती हैं। आचार्य जी के प्रयासों का मूर्त रूप गायत्री परिवार के चिंतन व जीवन को देखकर ऐसा अनुभव होता है जैसे वैदिक चिंतन व जीवन का धरा पर पुनः अवतरण हो गया हो।

◆ सर्वांग दृष्टिकोण-

आचार्य जी अपने व्यापक बोध में किसी का भी निषेध न करके सभी को एक उच्च समन्वय में मिला देते हैं। दर्शन, धर्म, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, शिक्षा, अर्थ-व्यवस्था, समाजशास्त्र, विज्ञान एवं ज्ञान की अन्य सभी शाखाओं में उन्होंने पूर्ण मानव पर, मानव के साथ प्रकृति एवं मानव, जगत तथा ईश्वर में समाज से अभिव्यक्त परम तत्त्व पर जोर दिया है। उनके दर्शन की विचार भूमि में निर्देशक तत्त्व सत्-चित्-आनन्द का सर्वांग अनुभव है। जो कुछ है-वह सत् है, क्योंकि कुछ भी परमात्मा के बाहर नहीं है। सर्वव्यापक परमेश्वर अपनी प्रतीतियों को असत्य नहीं बनाता; बल्कि उनकी सत्यता की पुष्टि करता है। आत्मा निरपेक्ष में सत्य है। मानव भी उतना ही सत् है, जितना कि ईश्वर। जगत और ब्रह्म दोनों ही सत् की दो अवस्थाएँ हैं। मानव प्रेम अज्ञान नहीं; बल्कि दैवी प्रेम की एक सीढ़ी है। लेकिन यहाँ सब विचार अथवा तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित कोई तार्किक आस्था नहीं है; बल्कि सर्वांग दर्शन, सर्वांग पद्धति सच्चिदानंद परमात्मा के सर्वांग साक्षात्कार पर आधारित है।

◆ सर्वांग प्रणाली-

आचार्य जी सर्वांग प्रणाली के द्रष्टा हैं। उनके अनुसार दार्शनिक को जानना ही नहीं, विकसित भी होना है। इस तरह उनका दर्शन जीवन से घुला-मिला है। वह आध्यात्मिक अनुभव का ही एक महत्त्वपूर्ण सोपान है। लेकिन इससे वह हीन अथवा न्यून नहीं हो जाता। नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, विज्ञान सभी का अपना स्वधर्म है। सभी परम तत्त्व की ओर आवश्यक सोपान हैं। फिलासफी जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है-ज्ञान से प्रेम है। अधिक व्यापक ही अधिक बुद्धिमान् होता है। अत: दर्शन में सभी प्रकार के अनुभव सम्मिलित होने चाहिए; परन्तु इसके लिए एक सर्वांग अनुभव एवं इसे पाने के लिए एक सर्वांग प्रणाली की आवश्यकता है। आचार्य जी ने इसका विकास करके पहले से संघर्षरत अनेकानेक प्रणालियों के मध्य अलौकिक सामञ्जस्य की स्थापना की है।

◆ *सर्वांग धर्म*

मानव जाति के विकास में प्रत्येक धर्म ने सहायता की है। धर्म एक मौलिक आवश्यकता की पूर्ति करता है

और अपरिहार्य है; परन्तु उसके वर्तमान स्वरूप में सुधार की आवश्यकता है। वर्तमान अवस्था में धर्म प्रथाओं, परम्पराओं, रूढ़ियों, कुरीतियों का ढेर बनकर रह गया है। इसे इस जाल-जंजाल से उबारना समय की आवश्यकता है। जितना ही अधिक आध्यात्मिक कोई धर्म होगा वह उतना ही उत्तम होगा; क्योंकि आध्यात्मिकता ही उसका लक्ष्य है। रहस्यवाद सभी धर्म का सार है; परन्तु उसको सार्वभौम और स्पष्ट बनाने की आवश्यकता है। आचार्य जी ने अपने चिंतन में ईश्वर और आत्मा का स्पष्ट बोध कराया है। साथ ही उसके साक्षात्कार के लिए अध्यात्म की वैज्ञानिक प्रक्रियाओं पर बल दिया है; लेकिन धर्म उनके लिए सिर्फ भगवत्साक्षात्कार का उपाय भर नहीं है। इसके अंतर्गत उन्होंने उन नीतियों, आचार प्रणालियों का भी स्पष्टीकरण किया है जो सामाजिक विकास व उत्कर्ष के साथ सार्वभौम मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करें। अपने इसी रूप में सर्वांग धर्म भविष्य के विश्व धर्म का स्वरूप ग्रहण करता है। इसमें सभी धर्मों के सार तत्त्व का समावेश है।

◆ सर्वांग विकास

सामान्यक्रम में विकास के सिद्धान्त को पश्चिमी चिन्तन की देन समझा जाता है। विकास के सिद्धान्त की बात उठते ही मन के सामने डार्विन, लेमार्क, ह्यूगो डी व्रीज आदि अनेक नामों की तालिका आ जाती है। साथ ही हेगल-क्रोचे आदि के वे नाम भी सामने आते हैं, जिन्होंने विकासवाद के वैज्ञानिक सिद्धान्त को अपना बौद्धिक कलेवर पहनाकर दर्शन का रूप दिया। विकास का सिद्धान्त पूर्व में भी कभी पनपा था, यह बात प्रायः बौद्धिक समाज भूल गया है। यदि कभी याद आती भी है तो सांख्य के सूत्रों तक सिमटी-सिकुड़ी रहती है; जबकि विकास के सत्य और तथ्य की वैज्ञानिकता वैदिक चिंतन में भी यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरी पड़ी है। आचार्य जी अपने विकासवादी सिद्धान्त में पूर्व और पश्चिम दोनों में से किसी की भी अवहेलना, उपेक्षा नहीं करते। पूर्व के वैयक्तिक विकास को वह जहाँ समष्टिगत स्वरूप प्रदान करते हैं, वहीं जड़-जीवन-मानस तक आकर अटकी हुई पश्चिमी चिन्तन की विकास यात्रा को परम चेतना का स्पर्श देते हैं। उनका यह सिद्धान्त पूर्व की आध्यात्मिकता एवं पश्चिम की बौद्धिकता को अपने में समाहित क[र] विकासवाद का सर्वांगीण स्वरूप प्रस्तुत करता है।

◆ धर्म-दर्शन और विज्ञान में समन्वय

धर्म-दर्शन व विज्ञान के अंतर्विरोध ने मनुष्य जा[ति] को असमंजस की स्थिति में डाल रखा है। धर्म में उसक[ी] भावना गूँथी है, दर्शन ने उसके लिए विचार जगत के न[ए] आयाम खोले हैं। विज्ञान ने उसके जीवन के सुख जुटा[ए] हैं। ऐसे में वह किसे छोड़े, किसे स्वीकार करे? इन तीन[ों] का अंतर्विरोध बहुत स्पष्ट है। श्रद्धामूलक धर्म को दर्शन की तार्किकता, विज्ञान की भौतिकता एकदम पसन्द नहीं। इसी तरह दर्शन की वैचारिक उड़ानें विज्ञान की प्रायोगिकता से मेल नहीं खातीं। पारस्परिक अंतर्विरोध के इस स्वरूप ने मनुष्य को जितना कुछ दिया है उससे कहीं ज्यादा छीना है। विज्ञान ने मनुष्य की आस्था छीनी और दर्शन ने भावना और धर्म ने तो भावुकता का अन्ध शोषण करके उसे कुरीतियों, मूढ़ताओं के अन्धेरे में धकेल दिया।

आचार्य जी ने विचारों के इतिहास में प्रथम बार इन तीनों की एकांगिता दूर करके उन्हें समग्र व सर्वांगीण बनाया है। उनके अनुसार भावों के रूप में धर्म, विचारों के रूप में दर्शन एवं प्रायोगिक कर्म के रूप में विज्ञान ये तीनों ही मानव विकास के लिए आवश्यक है। इन तीनों में से एक की भी कमी मानव को खण्डित और अपूर्ण बनाए रहेगी। भाव-विचार और कर्म के रूप में धर्म-दर्शन एवं विज्ञान में समन्वय के लिए उनका यह प्रयास सिर्फ विचार जगत तक ही सीमित नहीं रहा। इस समन्वय की सर्वांगीणता-समग्रता सिद्ध करने के लिए उन्होंने ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की स्थापना की। बहुमूल्य उपकरणों से सुसज्जित इस शोध संस्थान में किए जा रहे प्रयोग मानव को पूर्णता हेतु एक अनुपम देन है। इन प्रयोगों से यह भली प्रकार परखा जा चुका है कि धर्म-दर्शन और विज्ञान अपने समन्वित रूप में ही मानव विकास का पथ प्रशस्त कर सकते हैं। इस समन्वित स्वरूप को आचार्य जी ने 'वैज्ञानिक अध्यात्मवाद' की संज्ञा दी है।

इस वैज्ञानिक अध्यात्मवाद में वैदिक परम्परा का अनुभव किया जा सकता है। जब आयुर्वेद के प्रणेता ऋषिगण, खगोल विद्या, वैमानिकी आदि शास्त्रों को रचने वाले वैज्ञानिक, तपस्वी जीवनयापन करने वाले

आध्यात्मिक जीवन दृष्टि से युक्त होते थे। दार्शनिक विचारणाएँ उनसे अलग नहीं होती थीं। वैज्ञानिक अध्यात्मवाद के रूप में आचार्य जी के इस योगदान ने जहाँ दर्शन एवं विज्ञान को आध्यात्मिक दृष्टि दी है, वहीं धर्म के सतत अन्वेषण एवं परम्पराओं की तुलना में विवेकशील बने रहने का मार्ग प्रशस्त किया है।

◆ भारतीय मनोविज्ञान का नवीनीकरण

योगी मानव जाति का चिकित्सक होकर जीता है। चिकित्सक वही होगा, जो मनुष्य प्रकृति का पूर्ण जानकार हो। उसकी संरचना व क्रिया पद्धति में निष्णात हो। जिसे विकृति की क्रिया और उसके स्थान की भली प्रकार जानकारी हो। शरीरशास्त्री सिर्फ शारीरिक गतिविधियों की जानकारी भर रखते हैं। फिर उनने यह भी भ्रम पाल रखा है कि मन भी शरीर का ही कोई टुकड़ा है। रही मनोचिकित्सकों की बात तो उनके अध्यवसाय से इन्कार नहीं किया जा सकता; पर अपने अधूरेपन को वह स्वयं स्वीकारने लगे हैं। मन तो मानव चेतना का एक छोटा-सा हिस्सा भर है। समग्र की जानकारी प्रवीणता हासिल किए बगैर क्या उसके एक अंग को सुधारा जा सकता है।

इस रूप में योगी ही सफलतम मनोवैज्ञानिक हो सकता है; क्योंकि वह मानव प्रकृति की सूक्ष्मताओं और विचित्रताओं से भिज्ञ होता है। लूबॉस्की ने एक सफलतम मनोचिकित्सक के व्यक्तित्व के गुणों की सन् १९५२ में अमेरिकन एसोसियेशन की एक मीटिंग में चर्चा करते हुए कहा- 'मात्र मनोविज्ञान की विधियों-तकनीकों' में प्रशिक्षण पाने वाले व्यक्ति मनोचिकित्सक नहीं है। अधिकतम उन्हें मनोवैज्ञानिक तकनीशियन भर कहा जा सकता है। अच्छे मनोचिकित्सक अधिक संवेदनशील तथा चिंतन एवं निर्णय लेने में स्वतंत्र होते हैं। वे व्यक्तियों से अधिक सम्मान पाते हैं, व्यक्ति उन्हें पसन्द करते हैं। आचार्य जी ऐसे ही मनोचिकित्सक थे। उनके इस रूप का परिचय, अनुभव यों दो-चार, दस, सौ, हजार नहीं; बल्कि लाखों को हुआ है।

मनोचिकित्सक के साथ ही उन्होंने सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी अद्भुत काम किया है। इस संबंध में उन्हें यदि भारतीय मनोविज्ञान का पुनर्जीवन करने वाला कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। यद्यपि डॉ. यदुनाथ सिन्हा की 'इण्डियन साइकोलॉजी', स्वामी अखिलानन्द की 'हिन्दू साइकालॉजी' आदि गिने-चुने ग्रन्थों में भारतीय ऋषि चिंतन में यत्र-तत्र बिखरे मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का सुन्दर संकलन किया गया है। इन मनीषियों का कार्य प्रशंसनीय होते हुए भी प्रायोगिक कसौटी पर न कसे जाने के कारण अधूरा ही कहा जाएगा।

सिद्धान्तों को प्रयोग की कसौटी पर सिद्ध करने के लिए आचार्य श्रीराम शर्मा ने ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की स्थापना की; ताकि शान्तिकुंज के आध्यात्मिक सैनीटोरियम में व्यक्तित्व की अनगढ़ता को उचित मार्गदर्शन में सँवार रहे व्यक्तित्वों का आधुनिक विधियों से सूक्ष्म व व्यापक परीक्षण किया जा सके। वैज्ञानिक कसौटी पर कसी जा रही इस पद्धति को उन्होंने दो विधाओं का एकीकरण कर पूर्णता दी। साइकियाट्रिस्ट सामान्यतया कुछ गिनी-चुनी औषधियों पर निर्भर रहते हैं और साइकोलॉजिस्ट कुछ तकनीकों पर। इन औषधियों का स्नायु संस्थान पर कितना खराब असर पड़ता है इसे कोई भी डेविड जान इंग्लेजी द्वारा संपादित कृति 'क्रिटिकल साइकियाट्री' पढ़कर जान सकता है और मनोवैज्ञानिक भी अपनी तकनीकों का अधूरापन उस समय अनुभव करने लगते हैं, जब रोग तीव्र होता है। आचार्य जी ने ऋषि प्रणीत आयुर्वेद की प्रभावकारी औषधियों एवं अथर्ववेद, उपनिषदों आदि विभिन्न शास्त्रों में वर्णित विभिन्न तकनीकों का एकीकरण कर मनश्चिकित्सा की ऐसी समग्र पद्धति तैयार की है जो भावी मनश्चिकित्सकों के लिए आधारभूमि प्रस्तुत करेगी।

भारतीय मनोविज्ञान के इस नवीनीकरण के अलावा सैद्धान्तिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में उनकी मौलिक गवेषणाएँ भी हैं। जिसका विस्तार तो यहाँ समीचीन नहीं है, फिर भी मानव की मूल प्रवृत्ति के रूप में, व्यक्तित्व के संदर्भ में उनकी अवधारणा का स्पष्टीकरण करने से काफी कुछ झलक मिल जाती है। उन्होंने फ्रायडवादियों की कामुकता के स्थान पर महानता, उल्लास और सहकारिता की मूल प्रवृत्तियों को प्रमाणित कर एक नया सोपान रचा। इसी प्रकार व्यक्तित्व के केन्द्रों की जगह तीन वर्ग किए-

सामान्य, असामान्य और अति सामान्य। पहले में औसत व्यक्ति, दूसरे में मनोरोगी, तीसरे में महामानवों को रखा। इसके पहले मनोरोगियों एवं महामानवों दोनों को असामान्य करार करने की प्रथा थी। साथ ही व्यक्तित्व को पर्सोना अर्थात् मुखौटा के स्थान पर गुणों के समुच्चय के रूप में मान्यता दी। इस तरह उनकी अनेकों मौलिक गवेषणाएँ हैं जो मनोवैज्ञानिक चिन्तन को एक नई दिशा देने वाली हैं। उनका यह प्रयास जो आयुर्वेदिक औषधियों, वेदों, उपनिषदों, प्राचीन शास्त्रों में वर्णित सिद्धान्तों एवं आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों में होने वाले प्रयोग-परीक्षण की तकनीकों का समन्वित रूप है, भारतीय मनोविज्ञान को न केवल नवीनीकृत करता है; बल्कि उसे सर्वांगीण भी बनाता है।

भावी समाज व्यवस्था का सूत्र आध्यात्मिक समाजवाद

आचार्य जी के विचार विस्तार ने केवल प्रकृति, ईश्वर एवं व्यक्तित्व की आंतरिक परतों को ही नहीं छुआ; बल्कि उसकी सर्वांगीणता में व्यक्ति की बाह्य चेतना एवं समाज की सार्वभौमिकता भी समाहित हुए हैं। पूर्व प्रचलित समाज व्यवस्थाओं में व्यक्ति और समाज इनमें से किसी एक का ही वर्चस् रहने से व्यक्ति और समाज के संबंध कभी मधुर नहीं हो सके। राजतंत्र, अधिनायकवाद, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद अथवा मार्क्स के साम्यवाद की एकांगिता को शोध ग्रंथ के आठवें अध्याय में देखा जा चुका है। आचार्य जी व्यक्ति के उत्कर्ष एवं समाज के विकास दोनों को ही आवश्यक मानते हैं। इन दोनों के समन्वित विकास के लिए उन्होंने आध्यात्मिक समाजवाद का सिद्धान्त दिया है। अपने सार रूप में यह इस सत्य का उद्‌घाटन है कि व्यक्तिगत उत्कर्ष सार्वभौम उत्कर्ष के साथ है। सामाजिक आत्मा की अवहेलना करने से वैयक्तिक उत्कर्ष का दृष्टिकोण एकांगी हो जाता है। इस तरह वह महात्मा बुद्ध के सार्वभौमिक मोक्ष के आदर्श को पुनः जाग्रत् करते हैं। उनके द्वारा प्रेरित व प्रवर्तित लोकसेवा का आधार परोपकार नहीं; बल्कि उसमें अन्तस्थ सद्‌वस्तु का साक्षात्कार है। दैवी सत्ता कोई मृत एकता नहीं; बल्कि एक समृद्ध विविधता है। अतः मानव और समाज अपनी वैयक्तिकता का विकास करके भी सामान्य बंधनों को बनाए रख सकते हैं और एक दूसरे के विकास में सतत सहायक रह सकते हैं। यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि व्यक्ति एवं समाज की समस्याओं के सुलझाव के लिए उनका दर्शन एवं आध्यात्मिक समाजवादी व्यवस्था ही सर्वाधिक उपयुक्त है। इस प्रकार का उदार, समग्र एवं स्पष्ट दृष्टिकोण ही विश्व समाज की स्थापना कर सकता है।

मनुष्य में देवत्व एवं धरती पर स्वर्ग के अवतरण का सन्देश

अपने विकास के सिद्धान्त के अनुरूप आचार्य श्रीराम शर्मा ने मानव में देवत्व एवं धरती पर स्वर्ग के अवतरण की घोषणा की है। अन्य गंभीर विचारकों की तरह उन्होंने भी मानव के वर्तमान संकट को देखा और परखा है; परन्तु वह बौद्धिक विकृतियों से उपजे इस संकट का समाधान एक नयी बौद्धिक पहेली के रूप में नहीं देते हैं। उनके अनुसार समाधान मानव का देवमानव की ओर आरोहण है। उनका समस्त जीवन इसी कार्य के लिए अर्पण था। वर्तमान स्थिति कितनी भी निराशावादी क्यों न हो फिर भी आचार्य जी के आशावाद के अपने कारण हैं। जिनकी विस्तृत विवेचना क्रमशः अध्याय ७ एवं ८ में वैज्ञानिक अध्यात्म एवं आध्यात्मिक समाज के अंतर्गत की जा चुकी है।

उनके अनुसार देवमानव का विकास ही धरती को देवभूमि स्वर्ग में बदलेगा। यह सब मानवीय विकास का क्रमिक सोपान होने के साथ ही दैवी योजना के अनुरूप होने के कारण एक अवश्यम्भावी नियति है। इसका मूर्त रूप ही मानव की वर्तमान समस्याओं का स्थायी हल होगा। यों मनुष्य ने अपनी समस्याओं के समाधान के लिए अब तक अनेकों बौद्धिक युक्तियाँ खोजी हैं; पर हर युक्ति ने अनेकों नयी समस्याओं को जन्म दिया है। आचार्य जी का कहना है कि समाधान बौद्धिक हल नहीं, मानव का चेतनात्मक विकास है। जिसे वह देवमानव की संज्ञा देते हैं। आचार्य जी का यह समाधान सैद्धान्तिक रूप से अन्य सभी समाधानों से कहीं अधिक उपयुक्त एवं समीचीन है। इसके सैद्धान्तिक स्वरूप को उनके द्वारा किए गए व्यावहारिक प्रयास यथार्थ पूर्णता

देते हैं। इन सबको देखते हुए यह मानना पूर्ण रूप से युक्तियुक्त है कि उनके प्रयास धरती पर नवयुग लाकर रहेंगे।

◆ नवयुग का नवीन दर्शन

आचार्य जी सिर्फ नवयुग का सन्देश देकर ही मौन नहीं हो जाते। वह भविष्य के मानव के लिए लिए आचार-विचार की पद्धति, भावी जीवन की रीति-नीति की व्यापक रूपरेखा भी प्रस्तुत करते हैं। साथ ही वे उपाय भी प्रस्तुत करते हैं जिनको अपनाकर आज का मानव स्वयं को देवमानव में बदल सके तथा धरती को स्वर्ग बना सके। अपने युग की सभी माँगों को पूरा करने के कारण इसे युग दर्शन भी कहा जा सकता है। अपने सर्वांगीण स्वरूप में इसमें प्राचीन और नवीन, पूर्व एवं पश्चिम, यथार्थवाद और आदर्शवाद, भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद का अपूर्व समन्वय है। जहाँ गतिहीन, मायावादी और आदर्शवादी सिद्धान्त जीवन को पलायन व निराशा के गर्त में धकेलते हैं एवं सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था को विशृंखलित करते हैं, वहीं भौतिकवाद, वैज्ञानिक जड़वाद मनुष्य से उसके चेतनात्मक विकास के सारे अधिकार ही छीन लेता है। ऐसे में मनुष्य के जीवन की सभी समस्याओं को सुलझाने और ज्ञान-विज्ञान की सभी प्रणालियों को अपनी सर्वांगीणता में पूर्णता से व्यवस्थित करने वाला दर्शन ही मानवता की यथार्थ सेवा कर सकता है। आचार्य श्रीराम शर्मा ने यही सर्वांगीण प्रयास किया है। उनका यह प्रयास वर्तमान का विवेचन एवं भविष्य की दृष्टि तो देता है; पर भावी शोध के लिए गतिरोध नहीं उत्पन्न करता। उल्टे उनके द्वारा निर्मित नवयुग के इस नवीन दर्शन में भावी दार्शनिक ऐसा सुस्पष्ट मार्गदर्शन प्राप्त कर सकते हैं, जिसको आधार बनाकर वे मानव जाति के नव जागरण में पूरी ईमानदारी से अपनी भूमिका निभाते हुए इस नवयुग के नवीन दर्शन को अनेकों शाखा-प्रशाखाओं का व्यापक विस्तार कर सकते हैं।



आचार्य श्रीराम शर्मा के प्रकाशित ग्रन्थ

अ. आध्यात्मिक एवं दर्शनपरक ग्रंथ

ऋग्वेद-चार खण्ड	१९९१
अथर्ववेद-दो खण्ड	१९९१
यजुर्वेद	१९९१
सामवेद	१९९१
१०८ उपनिषद् साधना खण्ड	१९९२
१०८ उपनिषद् ज्ञानखण्ड	१९९२
१०८ उपनिषद् ब्रह्म विद्या	१९९२
वेदान्त दर्शन	१९९२
सांख्य दर्शन	१९९२
योग दर्शन	१९९२
वैशेषिक दर्शन	१९९२
न्याय दर्शन	१९९२
मीमांसा दर्शन	१९९२
गायत्री महाविज्ञान-तीन खण्ड	१९९०
गायत्री की प्रचण्ड ऊर्जा	१९७९
गायत्री का वैज्ञानिक आधार	१९९०
गायत्री उपनिषद्	१९५८
गायत्री का ज्ञान, विज्ञान और साधना	१९५८
गायत्री की चौबीस शक्ति धाराएँ	१९५८
गायत्री का तत्त्वज्ञान एवं प्रेरणाएँ	१९८१
भारतीय धर्म का पिता यज्ञ	१९७७
शब्द ब्रह्म और यज्ञ विज्ञान	१९७९
गायत्री यज्ञ और षोडस् संस्कार	१९७९
यज्ञ एक समग्र उपचार प्रक्रिया	१९८१
ब्रह्मवर्चस की अतिफलदायी चन्द्रायण साधना	१९८१
प्राणायाम से आधि-व्याधि निवारण	
मैं क्या हूँ ?	
उद्धेरदात्मनात्मानम्	१९९२
आत्मा वा रे ज्ञातव्यः	१९७९
पातंजलि योग की तत्त्व साधना	१९९१
ज्ञानयोग की साधना	१९६७
कर्मयोग की रीति-नीति	१९६७
भक्तियोग का वास्तविक स्वरूप	१९६७
प्रतीक उपासना की आवश्यकता और उपयोगिता	१९८१
योग और तप का तत्त्वज्ञान	१९८१
अग्निहोत्र की गरिमा और महत्ता	१९८१
पंचकोश अनावरण की फलश्रुति, प्रसुप्ति का जागरण	१९८१
अध्यात्म अर्थात् उत्कृष्ट चिन्तन, आदर्श कर्त्तव्य	१९८१
अवतार का प्रयोजन और स्वरूप	१९८१
धर्म का तत्त्वदर्शन	१९८१
कर्त्तव्यनिष्ठा ही सच्ची धार्मिकता	१९८१
सृष्टा की अवतरण प्रक्रिया	१९८१
आनन्द की गंगोत्री अपने अन्तराल में	१९८१
ईश्वर प्रेम अर्थात् सद्भावना युक्त संवेदना	१९८१
ओजस्, तेजस् और वर्चस् के जागरण की साधना	१९८१
जीवन और मरण का अन्योन्याश्रित गति चक्र	१९८१
धर्म दर्शन के चार मूलभूत सिद्धान्त	१९८१
ईश्वर ज्वाला है आत्मा चिनगारी	१९८१
आत्म विकास का राजमार्ग	१९८१
जो सत्य है वही शिव है, वही सुन्दर है	१९८१
आन्तरिक कायाकल्प का सुनिश्चित विधान	१९८१
सूक्ष्म शरीर की दिव्य विभूतियों का जागरण-उन्नयन	१९८३
सृष्टा का अस्तित्व कण-कण से प्रमाणित	१९८३
विराट् ब्रह्म को झरोखे से झाँकी	१९८५
अध्यात्म क्या था, क्या हो गया, क्या होना चाहिए ?	१९८५
न हीं ज्ञान न सदृश पवित्र मिह विद्यते	१९९१
ईश्वर और उसकी प्राप्ति	१९८६
उपासना का तत्त्वदर्शन और स्वरूप	१९६४
मन की तुष्टि आत्मा की दुर्गति	१९८०
आत्मा की पुकार अनसुनी न करें	१९६७
अपूर्णता से पूर्णता की ओर	१९६७
प्रेम ही परमेश्वर है	१९६७
अज्ञान के बंधन काटें, उन्मुक्त जीवन जिएँ	१९७१-७२
अमृत-पारस-कल्पवृक्ष की प्राप्ति	१९७१-७२
उपासना के तीन चरण जप, तप और ध्यान	
आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता	१९७५
प्रभु समर्पित जीवन	१९७७
अंतरंग जीवन का देवासुर संग्राम	१९७७
विद्या याऽमृतमश्नुते	१९७७
ईश्वर और उसकी अनुभूति	१९७७
जीवन की सर्वोपरि आवश्यकता-आत्मज्ञान	१९७१-७२
भव बंधनों से मुक्त हों	१९७१-७२
नियामक सत्ता और उसकी विधि-व्यवस्था	१९८५
आत्मा और परमात्मा का मिलन-संयोग	१९७१-७२
अध्यात्मवाद ही क्यों ?	१९७२
आत्मोत्कर्ष का साधना मार्ग	१९७६
स्वर्ग और नरक की अनुभूति कर्मफल के रूप में	१९८१
प्रारब्ध अकारण नहीं सुनियोजित	१९८१
कुसंस्कारों की प्रतिक्रिया कष्ट, तनाव एवं विक्षोभ	१९८१
कर्मफल व्यवस्था के प्रति अनास्था ही नास्तिकता है	१९८१
चेतना का सहज स्वभाव : स्नेह, सहयोग	१९७८

कुण्डलिनी महाशक्ति और उसकी ससिद्धि	१९७८
उत्कृष्टतावादी दर्शन ही भोगवाद का अन्त करेगा	१९८१
तपश्चर्या का तत्त्व दर्शन	१९८१
जीवन की गूढ़ गुत्थियों पर तात्त्विक प्रकाश	१९४२
यम, नियम	१९९०
आसन और प्राणायाम	१९९०
प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि	१९९०

(आ) वैज्ञानिक अध्यात्मपरक ग्रन्थ

एक सत्य के दो अन्वेषक : धर्म और विज्ञान	१९८१
विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक बनें	१९८१
धर्म और विज्ञान के समन्वय में ही कल्याण	१९८१
अध्यात्म ऊर्जा की प्रकटीकरण की साधना	१९८१
दृश्य जगत के अदृश्य संचालन सूत्र	१९७८
ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ?	१९७८
चेतना की प्रचण्ड क्षमता एक दर्शन	१९७८
अतीन्द्रिय क्षमताओं की पृष्ठभूमि	१९७८
जड़ के भीतर विवेकवान चेतना	१९७८
क्या धर्म अफीम की गोली है ?	१९७८
विज्ञान को शैतान बनने से रोकें	१९७८
तात्त्विक दृष्टि से बंधन मुक्ति	१९७८
धर्म का तत्त्व दर्शन	१९८१
धर्मधारणा :मानवीय चेतना की अनिवार्य आवश्यकता	१९८१
अध्यात्मवादी मन:शास्त्र की उपयोगिता समझी जाये	१९८१
आस्तिकता की दार्शनिक और वैज्ञानिक पृष्ठभूमि	१९८१
अतीन्द्रिय सामर्थ्य-संयोग नहीं तथ्य	१९८५
विवाद से परे ईश्वर का अस्तित्व	१९७८
समस्त समस्याओं का समाधान अध्यात्म	१९७६
आत्मशक्ति से युगशक्ति का उद्भव	१९७७
जीवन साधना प्रयोग और सिद्धियाँ	१९७७
दिव्य शक्तियों का उद्भव प्राण शक्ति से	१९७८
पितरों को श्रद्धा दें, वे शक्ति देंगे	१९७८
सपने झूठे भी, सच्चे भी	१९७८
आध्यात्मिक काम विज्ञान	१९७८
दृश्य जगत् की अदृश्य पहेलियाँ	१९७८
अध्यात्म की आधारशिला मन की स्वच्छता	१९८८
सुव्यवस्थित जीवन अध्यात्म का प्रथम चरण	१९८१
चेतना को प्रयोगशाला में नहीं, मानवीय अतराल में खोजा जाय	१९८१
प्रत्यक्ष से भी अति समर्थ-परोक्ष	१९८१
विक्षुब्ध मन:स्थिति और प्रेतयोनि	१९८१
वैज्ञानिक अध्यात्मवाद	१९४७
अदृश्य जगत का सर्वेक्षण सपनों की खिड़कियों से	१९८५
पुनर्जन्म एक ध्रुव सत्य	१९७९
अंतरंग और बहिरंग के परिष्कार की साधना	१९८१
धर्म का मर्म है-नीतिमत्ता	१९८१
जप प्रक्रिया का वैज्ञानिक आधार	
मरणोत्तर जीवन	१९८३

(इ) समाजपरक ग्रन्थ

समाज निर्माण के कुछ शाश्वत सिद्धान्त	१९८४
सामूहिक चेतना की अनिवार्य आवश्यकता	१९७२
भव्य समाज की नव्य रचना	१९७२
ब्राह्मण जागें, साधु चेतें	१९७२
वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में धर्म चेतना	१९७२
जीवन भाग्य प्रधान नहीं कर्म प्रधान है	१९७२
कुरीतियों का उन्मूलन आवश्यक	१९८१
काम शक्ति का सदुपयोग किया जाय	१९८१
मानवी प्रगति पारस्परिक सहयोग पर आधारित	१९८१
परावलम्बन, पतन और पराभव का प्रधान कारण	१९८१
समाज का पुनर्निर्माण अतीव आवश्यक	१९८१
सभ्य समाज का स्वरूप और आधार	१९८१
वसुधैव कुटुम्बकम् का स्वप्न साकार होकर रहेगा	१९८१
समाज की प्रगति का स्वरूप और आधार	१९८१
सशक्त और समर्थ प्रजातंत्र के मूलभूत आधार	१९८१
गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता जीवन की सर्वोपरि सम्पदा	१९८१
नर, नारी के मध्यवर्ती सात्त्विक सहयोग	१९८१
समस्याओं का उद्गम समाधान अंत:क्षेत्र में	१९८१
आदर्श को लोक व्यवहार में उतारें, यही सच्ची लोकसेवा है	१९८१
दु:खद संसार की संरचना विवेक दृष्टि पर निर्भर	१९८१
उपयोगितावाद नहीं सहकारितावाद	१९८१
भाग्यवाद नहीं पुरुषार्थवाद को मान्यता मिले	१९८१
आइए इन समस्याओं का हल ढूँढ़े	१९८१
लार्जर फैमिली सहकारिता का एक अनुपम प्रयोग	१९८१
राष्ट्र का भावनात्मक नवनिर्माण ऐसे संभव होगा	१९८१
सुसंस्कारिता का दर्शन सुव्यवस्थित परिवार से	१९८१
त्याग से प्राप्ति का सुनिश्चित एवं अकाट्य नियम	१९८१
मानवता के न्यायालय में नारी की अपील	१९८१
आध्यात्मिकता व्यवहार में उतारें	१९८१
संतोष की परिस्थितियाँ मन:स्थिति में तलाशें	१९८१
राष्ट्रीय प्रगति के कुछ अनिवार्य मापदण्ड	१९८३
सभ्यता का शुभारम्भ	१९७९

संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन	१९७९
मनुष्य जाति पर गहराते संकट के बादल	१९७९
मनोरंजन का मनोविज्ञान	१९९०
एक समानान्तर शिक्षा तंत्र	१९९२
प्रबन्ध व्यवस्था एक विभूति-एक कौशल	१९९२
प्रबुद्ध व्यक्ति धर्मतंत्र सँभाले	१९६५
हम भाग्यवादी नहीं कर्मवादी बनें	१९७२
नारी महान हैं, महान ही रहेगी	१९८१
राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने?	१९७२
भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड-वानप्रस्थ	१९७८
नारी अभ्युदय का नवयुग	१९८१
परमार्थ में ही स्वार्थ भी	१९७२
कामना, वासना की मर्यादा	१९६७
रुग्ण समाज और उसका कायाकल्प	१९७२-७३
मंदिर जन-जागरण के केन्द्र बनें	१९७२
सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक परिवर्तन	१९७२
मालिकों को जगाओ, प्रजातंत्र बचाओ	१९७२
महत्त्वाकांक्षाओं की सीमा मर्यादा	१९७२
आध्यात्मिक साम्यवाद	१९७२
सभ्य समाज की अभिनव संरचना	१९७२
सेवा धर्म और उसका स्वरूप	१९७७
मानवीय प्रगति का आधार-सहकार	१९७७
उत्कृष्ट जीवन की कलाकारिता	१९७७
मन:स्थितियों से परिस्थितियों का निर्माण	१९७७
दुराग्रह छोड़ें, तथ्य अपनायें	१९७७
दु:खों के कारण और उनके निवारण	१९७७
उपभोग नहीं, उपयोग	१९८०
अध्यात्मपरक शिक्षा के मूलभूत आधार	१९८१
एक नाव में बैठे हम सब	१९८१
एक ही समस्या, एक ही समाधान	१९८१
जिन्दगी एक कला, एक खेल	१९८१
भोग में योग	
व्यक्तिवाद नहीं समूहवाद	
स्वाध्याय में प्रमाद न करें	
श्रमशीलता एक तप साधन	

(ई) अन्य ग्रन्थ

हमारी वसीयत और विरासत	१९८६
सतयुग की वापसी	१९९१
परिवर्तन के महान् क्षण	१९९०
ध्वंस के बिना सृजन कैसे?	१९८१
सत्य को पूर्वाग्रहों मे न बाँधें	१९७९
व्यक्तित्व के परिष्कार में श्रद्धा ही समर्थ	१९७९
प्रज्ञा का स्वरूप और क्रियाकलाप	१९७९
वातावरण के परिवर्तन का आध्यात्मिक प्रयोग	१९७९
मनुष्य की बुद्धि और भावी विनाश	१९७९
युग निर्माण की सुनिश्चित संभावना	१९७९
युग निर्माण क्यों और किसलिए?	१९७९
ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान : प्रयोजन और प्रयास	१९८८
विचारों की उत्कृष्टता प्रगति का मूलमंत्र	१९७२
समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान	१९७३
कल्प चिकित्सा	१९७२
सुनसान के सहचर	१९७२
विश्वव्यापी विचार क्रान्ति के दूत	१९७२
जिन्दगी एक खेल, एक कला	१९८८
भाव संवेदनाओं की गंगोत्री	१९९०
महामानवों की टकसाल, भारतीय आर्य परम्परा	१९८१
बुद्धि पर धर्म का अंकुश रखा जाय	१९८१
सतत विकास की क्रमिक व्यवस्था	१९७६
समग्र प्रगति की रीति-नीति	१९८१
नवयुग की आधारशिला सद्भावयुक्त श्रद्धा	१९८१
व्यक्तित्व निर्माण के चार स्वर्णिम सूत्र	१९८१
शान्तिकुंज के कल्प साधना सत्र (फोल्डर)	१९८३
संक्रान्तिकाल और अंतर्ग्रही परिस्थितियाँ	१९८१
प्रजातंत्र का मेरुदण्ड	१९८१
विचार क्रान्ति की आवश्यकता और स्वरूप	१९८३
सूक्ष्मीकरण चिकित्सा का दर्शन एवं स्वरूप	१९८३
इक्कीसवीं सदी के लिए हमें क्या करना होगा?	१९९०
इक्कीसवीं सदी का गंगावतरण	१९८९
इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य	१९८९
नवसृजन के निमित महाकाल की तैयारी	१९८९
परोक्ष सत्ता एवं उसकी विधि व्यवस्था	१९८९
दैवी शक्ति के अनुदान और वरदान	१९८९
सृष्टा का परम प्रसाद-प्रखर प्रज्ञा	
सूक्ष्म वातावरण का अनुकूलन	
सामूहिक साधना द्वारा	

(उ) इस शोध ग्रंथ के अनुशीलन में आचार्य श्रीराम शर्मा के अन्य ग्रंथों का भी प्रयोग किया गया है।



सहायक ग्रन्थ सूची (संस्कृत)

- अग्निपुराण
- अद्वैत चन्द्रिका
- अर्थ संग्रह
- अद्वैत सिद्धि
- अणुभाष्य, प्रकाश टीका (पुरुषोत्तमाचार्य)
- आगम प्रामाण्य
- ईशावास्योपनिषद्
- ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्र
- ऋग्वेद संहिता
- ऐतरेयारण्यक
- ऐतरेयोपनिषद् शांकरभाष्य
- अथर्वशीर्ष
- अद्वैत तत्त्व सुधा (प्रथम व द्वितीय भाग)
- अद्वैत ब्रह्मसिद्धि
- अहिर्बुधन्य संहिता
- अभिधावृत्तिमातृका
- इष्ट सिद्धि
- ईशादिविंशोत्तरशतोपनिषद्
- उपदेश सहस्री
- ऐतरेय ब्राह्मण
- ऐतरेयाण्यकपर्यालोचनम्
- कठोपनिषद्
- कूर्परादिस्तवराज
- कुलचूड़ामणितन्त्र
- केनोपनिषद्
- कौषितकी ब्राह्मण
- खण्डन खण्ड खाद्य
- गन्धर्वतन्त्र
- गौड़पाद कारिका
- चिद्गगनचन्द्रिका
- छान्दोग्योपनिषद्
- तन्त्रालोक
- तर्क संग्रह
- तत्त्व रहस्य दीपिका
- ताड्य ब्राह्मण
- तैत्तिरीय ब्राह्मण
- तैत्तिरीयारण्यक
- तैत्तिरीययोपनिषद्
- त्रिशिकाभाष्य
- दशश्लोकी
- दृगदृश्य विवेक
- नारद पंचराग
- न्याय सूत्र
- न्याय भाष्य
- न्याय मकरंद
- पाराशर संहिता
- पंचविंश ब्राह्मण
- प्रश्नोपनिषद्
- प्रशस्तपाद भाष्य
- प्रत्यभिज्ञाहृदय
- प्रभाकर विजय
- वृहदारण्यक उपनिषद्
- वृहदारण्यकभाष्य वार्तिक
- ब्रह्मगीता
- ब्रह्मसूत्र
- ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
- महानिर्वाण तन्त्र
- मनुस्मृति-कुलूक भट्ट टीका
- कुलार्णवतन्त्र
- कूर्म पुराण
- कैवल्योपनिषद्
- कौषीतकी उपनिषद्
- ख्यातिवाद
- मध्व वृहदभाष्य
- माण्डूक्योपनिषद्, मीमांसा सूत्र
- मुण्डकोपनिषद्
- मैत्रायण्युपनिषद्
- यतिमति दीपिका
- यजुर्वेद संहिता, योगसूत्र
- योग वशिष्ठ, योग भाष्य
- योग वार्तिक
- लक्ष्मी तन्त्र
- लंकावतार सूत्र
- वाक्यपदीय
- विवेक चूड़ामणि
- वेदान्तसार
- वेदान्त कल्पवर्तिका
- वैशेषिक सूत्र
- शतपथ ब्राह्मण
- शांकरभाष्य ईशादिदशोपनिषद्
- शिवदृष्टि
- शिवसूत्र विमर्शिणी
- श्रीभाष्य
- षड्दर्शन समुच्चयवृत्ति
- षट् सन्दर्भ
- सर्वसिद्धान्त संग्रह
- सर्वदर्शन सग्रह
- सामवेद संहिता
- सांख्य सूत्र
- सांख्य प्रवचन भाष्य
- सिद्धान्त संग्रह
- स्वच्छन्द तन्त्र
- स्पन्दकारिका
- महायान सूत्रालंकार

सामान्य ग्रन्थ सूची (हिन्दी)

१. अरविन्द श्री (अनुवादक केशवदेव आचार्य) - दिव्य जीवन-तीन खण्ड दिव्य जीवन साहित्य प्रकाशन, पाण्डिचेरी, १९७२

२. अलेक्सेयेव वलेरी (अनुवादक योगेन्द्र नागपाल एवं बुद्धि प्रसाद भट्ट) - मानव जाति की उत्पति पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा. लिमि पूई, रानी झाँसी रोड, नई दिल्ली-५५, १९८६

३ आत्रेय डॉ. भीखनलाल- योग वशिष्ठ और उसके सिद्धान्त श्रीकृष्ण जन्म स्थान सेवा संस्थान, मथुरा, १९८६

४. आत्रेय डॉ. शान्ति प्रकाश- योग मनोविज्ञान द इण्टरनेशनल स्टेण्डर्ड पब्लिकेशन्स, वाराणसी २, १९६५

५. आर्य डॉ. श्रीराम- वैदिक यज्ञ विज्ञान वैदिक साहित्य प्रकाशन कासगंज, उ.प्र , १९७८

६. उपाध्याय आचार्य वलदेव- भारतीय धर्म और दर्शन चौखम्बा ओरियन्टालिया, पो.आ. चौखम्बा, पो.बा.नं.३२, गोकुल भवन के ३७/१०९, गोपाल मंदिर लेन, वाराणसी १, १९७७

७. उपाध्याय पं गंगाप्रसाद- अद्वैतवाद, कला कार्यालय, प्रयाग, सं. १९९५

८. उपाध्याय भागवतशरण- भारतीय संस्कृति के स्रोत, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस लिमि. नई दिल्ली, १९७३

९ उपाध्याय डॉ. रामजी- भारतीय संस्कृति का उत्थान, रामनारायण लाल बेनी माधव प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता

१० ओक पी. एन - विश्व इतिहास के विलुप्त अध्याय, भारतीय साहित्य सदन, नई दिल्ली-११

११. ओझा केदारनाथ- विद्या वैजयन्ती निबन्ध माला, केदारनाथ ओझा, मुमुक्षुभवन, काशी, १९७८

१२. ओझा डॉ. आर. के.- मनोविज्ञान के समकालीन सम्प्रदाय, विनोद पुस्तक मदिर, हास्पीटल रोड, आ.रा. ३, १९८२

१३. करपात्री स्वामी- मार्क्सवाद और रामराज्य, गीता प्रेस गोरखपुर, सं. २०१९

१४. काणे डॉ. पाण्डुरंग वामन- धर्मशास्त्र का इतिहास, पाँच खण्ड, उ.प्र.शासन, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, हिन्दी भवन, महात्मा गाँधी मार्ग, लखऊ

१५. कृष्णन् डॉ. राधा (अनुवादक नन्दकिशोर गोयल विद्यालंकार)- भारतीय दर्शन राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली ६, १९७३

१६. कृष्णमूर्ति जे. (अनुवादक श्रीसुन्दरलाल मल्हारा) संस्कृति का प्रश्न कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इण्डिया, १९८४

१७. कृष्णमूर्ति जे. (अनुवादक हरीश)- ज्ञात से मुक्ति, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इण्डिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी-१, १९९३

१८. कृष्णमूर्ति जे (अनुवादक डॉ. डी.एस.वर्मा)- शिक्षा संवाद छात्रों और शिक्षकों से, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इण्डिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी-१, १९८४

१९. कृष्णमूर्ति जे.-आमूल क्रान्ति की आवश्यकता, कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन वाराणसी-१, १९९३

२०. कृष्णानंद स्वामी- ब्रह्म विद्या, विश्वेश्वरानन्द मुद्रण व प्रकाशन मण्डल होशियारपुर, १९५०

२१ गाँधी डॉ. मदन गोपाल- गाँधी और मार्क्सवाद, मंथन पब्लिकेशन, आदर्शनगर, देहली रोड, मॉडल टाउन, रोहतक, हरियाणा, १९८२

२२. गोयन्दका हरिकृष्णदास (व्याख्याकार)- ईशादिनौ उपनिषद, गीताप्रेस गोरखपुर, सं. २०२९

२३. गौतम सत्यपाल- समाजदर्शन, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, १९९१

२४. चतुर्वेदी पं. गिरिधर शर्मा- वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, १९७२

२५. चन्द डॉ. दीवान- पश्चिमी दर्शन, उ.प्र.हिन्दी संस्थान, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, हिन्दी भवन, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ, १९७८

२६ ज्योतिर्मयानन्द स्वामी (अनुवादक डॉ.शशिभूषण मिश्र)- रचनात्मक चिन्तन की कला, इण्टरनेशनल योग सोसायटी, लाल बाग, लोनी, गाजियाबाद, उ.प्र. १९९१

२७. जायसवाल डॉ. सीताराम- मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरेखा, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ.प्र.शासन लखनऊ, १९७१

२८. जोशी मोहनचंद्र- फ्रायडवाद, साथी प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, सागर, म.प्र., १९६३

२९. झा आचार्य आनन्द- चार्वाक दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ.प्र. लखनऊ, १९६७

३०. झा डॉ. आनन्द- पदार्थ शास्त्र, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ.प्र लखनऊ, १९६५

३१. टेलर ए. ई. (अनुवादक सुधीन्द्र वर्मा)- तत्त्वमीमांसा हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ प्र.लखनऊ, १९६७

३२. तिवारी व्रजगोपाल- पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, शिक्षा साहित्य प्रकाशक आगरा-३

३३. त्रिपाठी चन्द्रबली- भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास, दुर्गावती त्रिपाठी, मदनमोहन मालवीय मार्ग, बस्ती, उ.प्र., १९६७
३४. त्रिपाठी डॉ. जटाशंकर- भारतीय समकालीन दर्शन में प्रो. रानाडे के योगदान का समीक्षात्मक अध्ययन, अकेडमी ऑफ कम्पेरेटिव फिलॉसफी एण्ड रिलीजन बेलगाँव, कर्नाटक, १९८६
३५. त्रिपाठी प्रेमवल्लभ- पुरुषार्थ चतुष्ट्य, राजविद्या ग्रंथमाला, डी. १/७ सरस्वती फाटक, वाराणसी-१
३६. दासगुप्त डॉ. एस. एन.-भारतीय दर्शन का इतिहास, पाँच खण्ड, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर-४
३७. दास डॉ. भगवान्- दर्शन का प्रयोजन, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, सं. २०२०
३८. दास डॉ. भगवान्- पुरुषार्थ, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, १९६६
३९. दिनकर रामधारी सिंह- चेतना की शिखा, उदयांचल, राजेन्द्र नगर, पटना-१६, १९७३
४०. दिनकर रामधारी सिंह- संस्कृति के चार अध्याय, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, १९५६
४१. देवराज डॉ.- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उ.प्र शासन लखनऊ, १९७२
४२. देवराज डॉ. न. कि. -भारतीय दर्शन, उ.प्र.संस्थान राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन हिन्दी भवन, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ, १९७८
४३. नन्दन राम- नवयुग सदेश, नवभारत प्रकाशन, लहेरिया सराय, दरभंगा, १९८७
४४. पटवर्धन केशव अनंत- ऋषियों के विज्ञान की श्रेष्ठता, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सूरत, १९५७
४५. पटेल नित्यानंद- पूर्व और पश्चिम, लिपि प्रकाशन, १, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-२, १९६१
४६. पाण्डे गोविन्द चन्द्र- मूल्य-मीमांसा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी १९७३
४७. पाण्डे डॉ. गोविन्द चन्द्र- भारतीय परम्परा के मूल स्वर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस-२३, दरियागंज, नई दिल्ली, १९८९
४८. पाण्डेय डॉ. राजेन्द्र- भारत का सास्कृतिक इतिहास, उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ १९८३
४९. पाण्डेय डॉ. सत्यनारायण जोशी- डॉ. आर. वी. भारतीय सस्कृति के मूल तत्त्व, साहित्य निकेतन, कानपुर
५०. पाण्डेय डॉ. शम्भूनाथ- भारतीय जीवन और सस्कृति, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, १९७७
५१. पाठक पण्डित रंगनाथ- षड्दर्शन रहस्य, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, १९५८
५२. पाठक डॉ सर्वानंद- चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी-१९६५
५३. पुरी डॉ. बैजनाथ- सुदूर पूर्व मे भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, उ.प्र.शासन, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी संस्थान, लखनऊ १९७५
५४. पैट्रिक जार्ज टामस व्हाइट (अनुवादक उमेश्वर प्रसाद मालवीय)- दर्शन शास्त्र का परिचय, हरियाणा हिन्दी ग्रंथ अकादमी, चण्डीगढ़, १९७३
५५. फाइस थोहन- ईसाई दर्शन : इतिहास और सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९८२
५६ फ्राइड सिगमड (अनुवादक देवेन्द्र कुमार वेदालंकार)- फ्रायड मनोविश्लेषण -राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, १९८०
५७. बर्कले जार्ज (अनुवादक डॉ.प्रकाश श्रीवास्तव)- मानवीय ज्ञान, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९८३
५८. ब्रेडले एफ एच. (अनुवादक डॉ. फतह सिंह)- आभास और सत्, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उ.प्र. लखनऊ,१९६४
५९. भटनागर राजेन्द्र स्वरूप- सम्पादक, आरम्भिक यूनानी दार्शनिक, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९६१
६०. मसीह डॉ. याकुब- हेगल और ब्रेडले का प्रत्ययवाद, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, कदमकुँआ, पटना-२, १९७४
६१. मार्क्स कार्ल और एंगेल्स फ्रेडरिक- धर्म, इण्डिया पब्लिशर्स, सी.७/२,रिवर बैंक कालोनी, लखनऊ, १९७२
६२. माचवे प्रभाकर, दफ्तुआर सु.द.- विभिन्न धर्मों में ईश्वर कल्पना, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १९७४
६३. मिश्र विद्यानिवास- हिन्दू धर्म जीवन में सनातन की खोज, राधाकृष्णन प्रकाशन, २, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-२, १९७९)
६४. रसेल बर्ट्रेंड (अनुवादक वीरेन्द्र त्रिपाठी)- विवेक या विनाश, राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि.दिल्ली, १९६९
६५. रसेल बर्ट्रेंड- वैज्ञानिक परिदृष्टि, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६, १९६७

६६ राइख़ेनवारव हैन्स (अनुवादक अनन्त मराल शास्त्री)- वैज्ञानिक दर्शन का उदय, म.प्र.हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७०)
६७. राधाकृष्णन् डॉ.- नवयुवकों से, सन्मार्ग प्रकाशन १६, यू.बी.बैंग्लोरोड, दिल्ली-६, १९६१
६८. राधाकृष्णन् डॉ (अनुवादक उमापतिराय चन्देल)- प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार, राजपाला एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली,, १९७०
६९ राधाकृष्णन् डॉ. (अनुवादक विराज एम. एस.)- धर्म तुलनात्मक दृष्टि में, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, १९७६)
७० राधाकृष्णन् डॉ. (अनुवादक विराज एम.एस.)- धर्म और समाज, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, १९७२
७१. राधाकृष्णन् डॉ. (अनुवादक उमापतिराय चन्देल)- हमारी संस्कृति, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, १९७४
७२ राधाकृष्णन् डॉ. (अनुवादक विजय कु. मल्होत्रा)- हमारी विरासत, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, १९७५
७३. राधाकृष्णन् डॉ. (अनुवादक-गोवर्धन भट्ट)- भारत और विश्व, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, १९५६
७४ राधकृष्णन् डॉ.- भारतीय दर्शन, दो खण्ड, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, १९८६
७५. रानाडे रामचन्द्र दत्तात्रेय (अनुवादक रामानन्द तिवारी)- उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९८३
७६. रंगानाथनन्द स्वामी- उपनिषदों की वाण, मीनाक्षी प्रकाशन, बेगम पुल मेरठ, १९७९
७७. लेनिन ला ई.- धर्म सम्बन्धी विचार, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड, नई दिल्ली
७८. व्यास डॉ. रामनारायण- धर्म दर्शन, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७२
७९. व्यासदेव स्वामी- आत्मविज्ञान, योग निकेतन ट्रस्ट गंगोत्री, उत्तरकाशी, १९५९
८० व्यासदेव स्वामी- बहिरंग योग, योग निकेतन ट्रस्ट गंगोत्री, उत्तरकाशी, १९६१
८१. वर्मा डॉ. विष्णुकान्त- चरम सत्य की खोज में, इन्द्रप्रस्थ सीपत रोड, सरकण्डा, बिलासपुर, १९८५
८२. वर्मा निरंजन- पश्चिम में आर्य संस्कृति और साम्राज्य, भारतीय साहित्य सदन, नई दिल्ली, १९७३
८३. वर्मा महेन्द्र कुमार- भारतीय संस्कृति के मूलाधार, प्रत्यूष प्रकाशन, रामबाग, कानपुर, १९६९
८४. वर्मा वेद प्रकाश- धर्म दर्शन की मूल समस्याएँ, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय १९९१
८५. वर्मा वेद प्रकाश- डेविड ह्यूम का दर्शन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७६
८६. वर्मा वेद प्रकाश- समकालीन विश्लेषणात्मक धर्म दर्शन, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय,१९८६
८७. वाणी श्री मातृ-१५ खण्डों में, श्री अरविन्द सोसायटी पाण्डिचेरी, प्रथम संस्करण-१९८०
८८ वात्स्यायन डॉ.-पाश्चात्य दर्शन -केदारनाथ रामनाथ, १३२, कॉलिज रोड, मेरठ-१, १९७४
८९. बाबा पायलट- हिमालय कह रहा है -पायलट बाबा आश्रम, गेठिया, नैनीताल, उ.प्र., १९९२
९०. विटिगंस्टाईन लुडविंग (अनुवादक डॉ.राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय)- तर्क एवं दर्शन का विवेचन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर-४, १९७१
९१. विद्यालंकार सत्यकेतु- भारतीय संस्कृति का विकास, श्री सरस्वती सदन, ए-१/३२, सफदरगंज इन्कलेव, नई दिल्ली २९, १९९०
९२. विलियम्स सर एम. मॉनियर (अनुवादक डॉ. रामकुमार राय)- भारतीय प्रज्ञा, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी-१, १९६५)
९३. वेदालंकार चन्द्रगुप्त- वृहत्तर भारत, राजधानी ग्रन्थागार, नई दिल्ली-२४, १९६९
९४. वेदालंकार डॉ. दिलीप- वेदों में मानववाद, अमर भारती अंतर्राष्ट्रीय पो. बाक्स-२१२, बड़ौदरा-१, भारत, १९८२
९५. वेदालंकार पं. सतीश कुमार- ईश्वर : संसार के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिकों की दृष्टि में, जन ज्ञान प्रकाशन, दयानन्द संस्थान, वेद मंदिर, दिल्ली-३६, सं. २०३५
९६. वोरा राजमल- भाव उद्वेग और संवेदना, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागज, नई दिल्ली-१९८४
९७. सरस्वती स्वामी योगेश्वरानन्द- प्राण विज्ञान, योग निकेतन ट्रस्ट २०-ए/७८, पंजाबी बाग, देहली-२६, १९८१

९८. सरस्वती स्वामी योगेश्वरानन्द- ब्रह्म विज्ञान, योग निकेतन ट्रस्ट, शिवानंद नगर, रेलवे स्टेशन, ऋषिकेश, १९७४
९९. स्वामी महात्मा नारायण- मृत्यु और परलोक, सार्वजनिक आर्य प्रतिनिधि सभा, महर्षि दयानंद भवन, रामलीला मैदान, नई दिल्ली-२, १९८१
१००. सक्सेना डॉ. लक्ष्मी- समकालीन भारतीय दर्शन, उ.प्र.हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, १९७४
१०१. सक्सेना डा. श्रीकृष्ण- भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणी-१, १९६९
१०२. सम्पूर्णानन्द श्री- आर्यों का आदि देश, भारती भण्डार, लीडर प्रेस इलाहावाद, सं.२०२२
१०३. स्टुआर्ट मिल (अनुवादक उमराज सिंह कारुणिक)- उपयोगितावाद, ज्ञान प्रकाश मंदिर, माहरा, मेरठ, १९२४
१०४. सरस्वती स्वामी कृष्णानंद- अध्यात्म दर्शन, विश्वेश्वरानन्द मुद्रण व प्रकाशन मण्डल, होशियारपुर, १९५०
१०५. सांकृत्यायन राहुल- वैज्ञानिक भौतिकवाद, लोकभारती प्रकाशन १५-ए महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-१,१९७४
१०६. सांकृत्यायन राहुल- दर्शन-दिग्दर्शन, किताब महल, इलाहाबाद, १९७५
१०७. सातवलेकर पं. श्री दामोदर- भारतीय संस्कसृति, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, १९६९
१०८. सादेसाई श्री निवास गणेश- भारतीय दर्शन वैचारिक और सामाजिक संघर्ष, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि., नई दिल्ली, १९७९
१०९. सिंह डॉ. बद्रीनाथ- पाश्चात्य दर्शन, स्टूडेण्टस् फ्रेन्ड्स एण्ड कम्पनी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मार्ग लंका, वाराणसी ५, १९८८
११०. सिंह डॉ. शिवप्रसाद- उत्तर योगी, लोकभारती प्रकाशन, १५ ए, महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद-१९७२
१११. सिन्हा डॉ. अजित कुमार- विज्ञान का दर्शन, उ.प्र.शासन, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन, हिन्दी भवन, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ, १९७४
११२. सिद्धान्तालंकार सत्यव्रत- वैज्ञानिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार, गोविन्दराम हासाराम, आर्य साहित्य भवन, नई सड़क, दिल्ली-६, १९७५
११३. सिंहल दामोदर- आधुनिक भारतीय समाज और संस्कृति, मीनाक्षी प्रकाशन, बेगम ब्रिज मेरठ, १९८१
११४. शर्मा डॉ.व्रजभूषण- मानवाद तथा मानवतावाद, श्री कला प्रकाशन १९६०, सोहनगंज सब्जी मण्डी, दिल्ली-७, १९७८
११५. शर्मा डॉ. रामनाथ- धर्म दर्शन, केदारनाथ रामनाथ, कॉलिज रोड, मेरठ, १९८७
११६. शर्मा डॉ. रामनाथ- धर्म दर्शन, केदारनाथ रामनाथ, कॉलिज रोड, मेरठ, १९८७
११७. शर्मा राममूर्ति- अद्वैत वेदान्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, दिल्ली-६, १९७२
११८. शर्मा हरदारी लाल- विचार-विज्ञान, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, उत्तरप्रदेश, १९५६
११९. शास्त्री डॉ.मंगलदेव- भारतीय संस्कृति का विका, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ९, अलीपुर यार्क प्लेस, कलकत्ता-२७, १९७०
१२०. शास्त्री देवदत्त- चिन्तन के नए चरण, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी-१, १९६०
१२१. श्रीवास्तव जगदीश सहाय- आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास, पुस्तक स्थान, बक्शीपुर, गोरखपुर, १९७३
१२२. शुक्ल लालजीराम- आध्यात्मिक मनोविज्ञान, नन्दकिशोर एण्ड सन्स, पो.बाक्स नं. १७, चौक वाराणसी
१२३. शुक्ला डॉ. लक्ष्मी- भारतीय मनोविज्ञान, मध्यप्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७१
१२४. हॉपकिन्स ई. डब्ल्यू. (अनुवादक डॉ.तुलसीराम शर्मा)- धर्म का उद्‌भव और विकास, भारतीय विद्या प्रकाशन, १ यू. वी. जवाहर नगर, बैंग्लो रोड, दिल्ली-७, १९८४
१२५. हिरियाना एम.- भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजस्थान प्रकाशन, प्रा.लि. दिल्ली-६, १९७३



Bibiliography

1. Abhedananda Swami- The Yoga Psychology, Ramakrishana Vedanta Math, Calcutta, 1973
2 Abhishiktananda-Hindu-Christian Meeting Point, I.S P.C.K., Post Box, 1585, Kashmin Gate, Delhi-7, 1976
3. Ajay Swami- Psychology East and West, The Himalayan International Institute of Yoga and Philosophy, Henesdale, Pennsylvania USA, 1988
4 Akhilananda Swami- Mental Health and Hindu Psychology -George Allen and Unwin Ltd., Ruskin House Museum Street, London
5 Americana- The Encyclopedia in 30 Volumes, Gralier Incorporarted, Danbury Connecticut 06816, 1980
6 Antony M.J.- Women's Rights -Clarion Books, C-36 Connaught Place, New Delhi
7 Arundale G S - Kundalini an Occult Experience -The Theosophical Publishing House Adyar, Madras, 20, 1962
8 Aurbindo Sri- Complete Works in 20 volumes -Sri Aurbindo Ashram Pondicherry
9 Avalon Arthur- Editor, Tontric Texts in two volumes -Sanskrit Press Depository, 30, Corn Wallis Street, Calcutta, 1933
10. Bagomolor A.S.- History of Ancient Philosophy -Progress Publishers Moscow, 1985
11 Bailey Alice A.- The Soul and its Mechanism -Lucis Press Ltd., London, 1965
12 Barbroka Geoffrey A.- The Divine Plan, The Theosophical Publishing House Adyar, Madras, 1972
13 Basham A.L - The Wonder That was India, Rupa and Co. 7/16 Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-2, 1995
14. Baleson Gregory- Steps to an Ecology of Mind-Ballantine Books, a division of Random House, Inc, New Yark, 1990
15 Bateson Gregory- Mind and Nature, A Necessary Unity -Fontana Books, G P.O Box 29, Douglas, Isle of Man, British Isle, 1980
16 Beg Moazziz Ali- Hindu Ethos -Sri Aravinda Bharti 12, Vasudevapuram Street, Madras
17 Bennett J.G - A Spintual Psychology -Hodder and Stoughten, Ltd., St. Paul's House, Warwick Lans, London, 1964
18 Besant Annie- An Introduction to Yoga, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1959
19. Bhambhani P.M.- A Manual of Metaphysics, Bharti Bhavan, Shanti Press Agra
20. Bin Hu - Breathing Exercise- Hai Feng Publishing Company, Rm. to, Chung Shang Building 7/F-10, Queen's Victoria St. Hong Keng. 1983
21. Birk N.P. and Birk G B.- The Odyssey Reader; Ideas and Style, Odyssey Press, a division of Western Publishing Co, Inc, New Yark, 1968
22. Blofeld John- Mantra, Sacred Words of Power -Vikas Publishing House Pvt. Ltd., New Delhi, 1977
23 Boutrou Enite- Science and Religion in Contemporary Philosophy, Kennikat Press, Port Washington, 1970
24. Bose Abinash Chandra- The Call of Vedas, Bhartiya Vidya Bhavan, Chaupatty, Bombay, 1970
25. Britannica- The New Encyclopedia in 30 Volumes, Grolier Incorporated, Danbury Connecticut 06816, 1980
26 Broad C D - The Mind and its Place in Nature, Routledge and Kegan Paul Ltd Broadway House, 68-74, Cartia Lanc. E.C 4, 1949

27. Brown Han Bury- The Wisdom of Science, Cambridge University Press, The Pitt Bulding, Trumpington Street, Cambridge, 1986
28. Brown Hugh- Brain and Behaviour, Oxford University Press, London, 1976
29. Brunton Paul- The Wisdom of the Overself, Rider and Company, 178-202 Great Purtland Street, London, 1959
30. Brunton Paul- The Spiritual Crisis of Man, B I.Publications, 54, Janpath, New Delhi-1, 1982
31. Branton Paul- Meditation, Part , Larson Publications 4936 Route 414, Burdett, New York 14818, 1990
32. Brunton Paul- The Inner Reality, B.I.Publication, 54, Janpath, New Delhi-1, 1978
33. Buber Martin-Eclipse of God, Victer Gollanz Ltd., London. 1953
34. Burke Richard Mauria- Cosmic Consciousness, E.P.Dutlon Co; Inc. USA 1969
35. Budhananda Swami- Can one be Sceintific and yet Spiritual, Advaita Ashram, 5 Delhi Entally Road Calcutta-14] 1976
36. Burr John R , Milton Goldinger- Philosophy and Contemporary Issues, Machmillan Publishing Co; Inc. 366 Third Avenue, New York, 1976
37. Campbell Anthony- Seven States of Consciousness, A Vision of Possibility Suggested by the Teaching of Maharshi Mahesh Yogi (Victor Gollanz Ltd;, London, 1980
38. Capra Fritjof,-The Tao of Physics
39. Capra Fritjof- The New Vision of Reality, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1983
40. Capra Fritjof- The Turning Point, Fontana Parper Backes, 8, Grafton Street, London 1982
41. Capra Fritjof- Uncommon Wisdom, Collins Publishing Group, 8 Grofton Street, London, 1990
42. Carrel Alexis- Man The Unknown, Wilco Publishing House, 33, Rope wall Lane, Rampart Row, Fort, Bombay-1, 1974
43. Cassirer Earnest- The Philosophy of Symbolic Forms, Yale University Press, New Haven, 1955
44. Cencini Amedeo- You Shall love the Lord your God, St. Paul Publications, 143, Waterfield Road, Bandra, Bombay-50, 1986
45. Chatterjee Dr. Heramba- Studies in Some Aspects of Hindu Sankara in Ancient India in the Light of Sanskaralaltava of Raghunadana, Sanskrit Pustak Bhandar 38, Bidhan Sarani, Calcutta-6, 1967
46. Chaudhari Aditi- Man and Society in Erich From, Ajanta Publications, p Box No. 2192, Malka Ganj, Delhi-7, 1991
47. Cheiro- Cheiro's World Predictions, Laxmi Book Store, Jan Path, New Delhi, 1987
48 Cotton Edward H.- Editor, Has Science Discovered God ?, Books for libraries Press, Freeport, New York, 1968
49. Coward Harold- Jung and Eastern Thought, Sri Satguru Publications Indological and Oriental Publishers, a Division of Indian Books Centre, 40/5, Shakti kNagar, Delhi-7, 1985
50 Das Dr Bhagvan- The Science of Religion, The Indian Book Shop Kamachha, Varanasi, 1973
51. Dennett Daniel C - Consciousness Explained, Penguin Book-Ltd., 27 Wright Lane, Londan, 1991
52. Devaraja N K.- Philosophy Religion and Culture, Motilal Banarsidas, Bungalore Road, Jawahar Nagar, Delhi-7, 1974
53. Dixon Jeane- My life and prophecies, William Morrow and Co , Inc , 105 Madison avenue, New York 1970

54 Eccles John C.- The Human Psyche, Springer-Xerlag, Journal Promotion, Post Back-1045280, 0-6900 Heidelberg 1, 1980

55. Edwards D Miall- The Philosophy of Religion, Progressive Publishers 37, College Street Calcutta-2, 1963

56 Edwards Paul- Editor in chief, The Encyclopedia of Philisophjy in 8 volumes, Macmillan Publishing Co, Inc. Collier Macmillan Canada Ltd , 1972

57 Ekins Paul- A New World Order, Rautledge 11 New Fetter Lane, London, 1992

58 Erasmus Charles J.- In Search of the Common Good, The Free Press, 866 Third Avaneu, New York-10022, 1977

59 Farrer Austin- God isk not dead, more house-Barlow Co., New York, 1966

60 Fontbrune Jean-Charles De- Nostradamus : Count down to Apecalyse, Hitchinson and Co. Ltd , 17-21 Conway Street, London, 1983

61 Freud Sigmund- On Psychopathology, Vol. 10, Penguine books, 625 Madison Avenue, New York, 1981

62 Fromm Erick- Greatness and Limitations of Frend's Thought, Sphere Books Ltd , 30-32 Gray's inn Rd London. 1980

63 Fromm Erick- Escape from Freedom, Avon Books, A division of the Hearst Corporation, 959, Eighth Avenue, New Yark, 1969

64 Fromm Erick- Beyond the chains of Illusion, Sphere Books Ltd , 27 Wright Lane, London, 1989

65 Funderbwik James- Science Studies Yoga, The Himalayan International Institute of Yoga Science and Philosophy Honesdele Pennsyluania USA, 1988

66 Gage Richard L. Choose Life-A Dialogue Between Arnold Taynbee and Daisaku Ikeda, Oxford niversity Press, Walton Street, Oxford, 1987

67 Gauchwal Balbir Singh- The Concept of Perfection in the Teachings of Kant and the Geeta , Motilal Banarsidas, Bungalow Rd. Jawahar Nagar, Delhi-7, 1967

68. George Frank- Man the Machine, Paladin Granada Publishing Fragmore, St Albans, Herts, 1979

69 Ghosh Oroon K.- Science, Society and Philosophy, Ajanta Publications, Jawahar Nagar, Delhi-7, 1985

70 Gopata Charlu S E - An Introduction to the Mantra Sastra, Theosophical Publishing House, Adyar, 1934

71 Gribhenov D P - Albert Einstein's Philosophical Views and the Theory of Relativity, Progress Publishers, Moscow, 1987

72 Gupta K.N.- A Manual of Science and Philosophy of Yoga, Banaras Hindu University Publication, Varanasi Uttar Pradesh, 19756

73. Gurjieff- Views from the real World, Arkana Paperbacks, 14-Leicester Square, London, 1984

74. Haeckel Ernst- The Riddle of the Universe, Watts and Co., 5 & 6, Jahnson's Court, Elect Street, E C 4, 1931

75. Harvey John- The Tuiet Mind, The Himalayan International Institute of Yoga, Science and Philosophy, Honesdele, Pennsylvanja, USA, 1988

76. Hernet Peter- General Editor, Psychology in Progress, Methuen and Co , Ltd, 11 New Fetter Lane London, 1979

77. Hewitt James- The Complete Yoga Book, Rider and Company, 17-21, Conway Street, London, 1983
78. Hick John- Philosophy of Religion, Prentice-Hall of India Pvt., Ltd., New Delhi-1, 1979
79. Hiriyanna M.- Outlines of Indian Philosophy, Geeorge Allen and Unwin Ltd , Museum Street London
80. Hjelle Larry A. And Daniel J.- Personality Theory, Mcgraw Hill Book Company-Singapore, 1987
81. Hook Sidney- The Quest for Being, Pronetheus Books 59, John Glenn Drive, Amherst, New York
82. Howard Vernon- Secrets of Mental Magic, A. Thomas & Co. Welling Borough Northamptonshiri, 1983
83 Hoyle Fred- Encounter with the Future, Simon And Schuster, New York, 1968
84. Hunt Morton- The Universe Within, Trans World Publishers Ltd., Century House, 61-63 Uxbridge Rd. Ealing London, 1984
85. Hussain S.A.- The National Culture of India, National Book Trust, India, 1956
86. Indich W.M.- Consciousness in Advaita Vedanta, Motilal Banandas, Bunglaw Rd. Jawahar Nagar, Delhi-7, 1974
87. Jagannathan Shakunt hale- Hinduism, Vakils Faffen and Simons Ltd , Hague Building, 9, Sprott Rd. Ballarad Estate, Bombay
88. Jagadguru Swami- Vedic Mathematics, Motilal Banarsidas, Bungalow Rd. Delhi-7, 1985
89. James William- The will to Believe , Dover Publications Inc., 180 Varick, Street, New York- 10014, 1950
90. James William- The Varieties of Religious Experiences , Crowell-Collier Publishing Co., 1961
91. James Sir James- The Universe Around us , The Cambridge University Press, Bentley House, 200, Euston Rd. London, 1960
92 Johnson Dawid L.- The Religious Roads, of Indian Nationalism, Firma K L Mukhopadhyay, 257-B Bipin Behari Ganguly St. Calcutta-12, 1974
93. Johnson Paul E.- Psychology of Religion, Abingdon Press, Nashville, 2, Tennessee, New York, 1958
94. Jung C. G.- Edited by Violet S. De Laszle, Psyche and Symbol, Doubtleday and Co., Inc. Garden City New York, 1958
95. Kaplan Stephen- Hermenentics, Holography and Indian Idealism, Motilal Banarsidas, Bungalow Rd. Jawahar Nagar, Delhi-7, 1987
96. Kaufmann Walter- Critique of Religion and Philosophy Feber and Faber, 24, Rusell Square, London, 1958
97. Kesavan Sarasvati Chenna- Concept of Mind in Indian Philosophy Motilal Banarsidas, Bunglaw Rd. Jawahar Nagar, Helhi-7, 1975
98. Knipe David M.- In the Image of Fire, Indological Publishers and Booksellers, Bungalow rd Jawahar Nagar, Delhi-7, 1975
99. Koestler Arthur- The Act of Creation, Penguine Group Viking Penguine Inc , 40, West 23rd St New York 10010, 1989
100. Koestler Arthur,-The Ghost in the Machine I bid, 1989
101. Kohn Afier- The Brighter Side of Human Nature Basic Books a Division of Harper Collins Publisher, 1990
102. Koran Al- Bring out the Magic in your mind, A. Thomas and Company, Wellingborough Northampton Shire, 1983
103. Krishna Gopi- What is and what is not Higher Consciousness, The Julian Press, Inc. 150., Fifth Avenue, New York, Ny-10011, 1974

104. Krishna Gopi Kundalini- The Evolutionary Energy in Man, Ramadhar and Hopman, New Delhi, 1967
105. Krishnanda Swami The Philosophy of Life -Divine Life Society, Shivananda Nagar, Tehri-Garhwal, 1992
106. Kumar Nirmal- the Tao of Psychology, Bhartiya Vidhya Bhavan, Kulpati Munshi Marg, Bombay, 1993
107. Kushner Harold-Who needs God Pocket Books, A Division of Simon and Schuster Inc. 1230 Avenue of the Americans, New York, Wy-1000, 1991
108. Laurie S. G. & Melvin J.T.- Centering the Power of Meditation Inner Traditions International Ltd , 377 Park Avenue South, New York, 10016, 1978
109. Leadbeater C. W.- Man Visible and Invisible, The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras 20, 1974
110. Lokeshwarananda Swami-Science and Religion, The Ramkrishana Mission Institure of Culcutta, Gol Park, Calcutta-29, 1987
111. Love Jeff- The Quantum Gods, Compton Russell Ltd., the Old Brewery, Tisburry Wiltshire, Great Britain, 1976
112. Macksey Joan Kenneth- Book of Women's Achievements, Stein and Day Publishers Scarborough House Briarcliff Manor, New York, 1976
113. Mahajan S.N.- Science of Yoga and Consciousness, Y.K Publishers 8, Parsuram Nagar, Shahganj Agra-10, 1987
114. Mambert W.A. And Foster B.F.- Exploring your Unconscious Mind, Corner Stone Library, Inc , 1230, Ave. of the American New York, Ny 10020, 1977
115. Marquette J D.- Religion in the Light of Science (Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay-7, 1963
116. Maslov A. N.- The Farther Reaches of Human Nature, Penguine Group, Viking Penguin inc , 40 West 23rd St, New York 10010, 1976
117. Mehta Rohit- The Being and the Becoming, Ram House" Gulbhai Tekra, Behind New Pate Society, Ellisbridge, Ahmedabad, 1975
118. Mehta Rohit- The Intutive Philosophy, The theosophical Publishing House, Adyar, Madras-20, 1958
119. Mehta Rohit- Nameless Experiences, Indological publishers and Booksellers, A , Ullah Marg, Jawahar Nagar, Ddlhi-7, 1976
120. Mehta Rohit- The Science of Meditation, I bid , 1978
121. Mehta Rohit- Dialogue with Ddeath, Ram House, Bulbai Tekra, Behind New Patel Society, Ahmedabad-7, 1972
122. Mitra Shiba [illegible]
123. Mookerji R [illegible] 7, 1970
124. Morris Richard- The End of the World Anchor Books Anchor Press, Doubleday Garden City, New York, 1980
125. Motoyama Dr. Hiroshi- Hypnosis and Religious Super Consciousness, The Institute of Religious Psychology, Tokyo, 1971
126. Motoyame Dr. Hiroshi- The Non-Physical in the Correlation Between Mind and Body, I bid,. 1972

127 Mumford Lewis The Transf
York-16, 1956

128 Murphy G And Kovach J K
Ansari Rd New Delhi 2, 198

129 Narayanananda Swami- Th
P O Rishikesh U P India, 19

130 Nath Kishi The Scientific V

131 Nathan R S - Compiler, Symb

132 Navakumar Sri The Voice of
4 Jamshedpur 1 1988

133 Nedunpalakunnel George R
Bangalore 1979

134 Needham J Editor Science R

135 Nietzsche F - Beyond Good an

136 Narmad Ali New Concepts of
1970

137 Nouy Leconte Du Human Dest
Avenue New York 221, 1956

138 Ouspensky PD A New Model
1984

139 Ouspensky PD - Conscience
London 1981

140 Ouspensky PD In Search of
York, 1949

141 Pande Pt Bireshwar The Nat
Delhi-35, 1980

142 Pandey V Vedic Cult- Applie
Publications Bhaskar Bhavan,

143 Pandeya R C And Bhatt S R
Rd Jawahar Nagar Delhi-7 19

144 Pandit M P - Kundalini Yoga,
and Co Pvt Ltd , Madras-17, 1

145 Pani Dr Raghunath,integral E
Panjabi Bagh, New Delhi-26, 19

146 Parrinder Geoffrey- Mysticism in

147 Patel Dr, Chandrakant P Study o
in Sri Aurbindo International Cent

148 Pavitra- Education and the Ai
Pondicherry-2, 1991

149 Peale Norman Vincent and Blan
Kingsland 1976

rmations of Man, Harper and Brothers Publishers, 49, East 33rd St New

Historical Introduction to Modern Psychology, Universal Book Stall, 5,

Primal Power in Man or the Kundalini Shakti, N.K.Prasad and Co.,
0

danta, S. Chand and Co , Pvt. Ltd., Ram Nagar, New Delhi-55, 1973
olism in Hinduism, Central Chinmaya Mission Trust, Bombay, 1983
he Ved, The Ved Publishing House Trust, 23, Contractor's Area, Rd. No ,

alization of God According to Sri Aurovindo, Claretian Publications

ligion and Reality, Kenikal Press, Port Washington, 1970
Evil, Vintage Books a Division of Random House, Inc., New York, 1989
World Religion, Shree Publishing House 4056, Ajmeri Gate, Delhi-6,

ng, The New American Library of World Literature, Inc , 501, Modison

f the Universe, Arkana Paperbarks, 14, Leicester Square, London,

he Search of Truth, Routledge and Kegian Paul Ltd., 39, Store St.

he Miraculous, A Harvest Book, Harcourt Brace and World, Inc., New

e and Destiny of Man, Mittal Publications, B-2/19-B, Lawrence Rd.

Science to Human Health, Happiness and Longevity, Bhasker
35/36, Ravindrapuri, Banaras Hindu University, Varanasi, 1988
ditor- Knowldege Culture and Value, Motilal Banarsidas, Bungalore
76

Bnef Study of Sir John Woodraffe's " The Serpent Power", Ganesh
59

ducation- Thought and Practice, Ashish Publishing House, 8/81,
87

the World's Religions, Sheldon Press Marylebone Rd., London. 1976
the Psychological Foundation of the "Free Progress System" as evolved
e of Education, Sri Aurbindo Study Circle, Bokhira, India, 1986
of Human Life Sri Aurvindo International Centre of Education

on S.- Faith is the Answer World's World Ltd , The Windmill IPress

150. Pearson E Nornuan- Space, Time and Self, The Theosophical Publishing House, Adyar,
151. Pannell Arthur E.- The Causal Body and the Ego, The Theosophical Publishing House Ltd., Rusell Street, London, 1978
152. Powell Arthur E ,-The MentalBody, I bid., 1975
153. Powell A. E.- The Etheric Double, I bid , 1969
154. Prakash Satya- Agnihotra, The Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha, Delhi, 1937
155. Progress Publishers- Science and Morality, 1975
156. Radhakrishnan S - Recovery of Faith, Orient Paperbacks, 36 C, Connaught Place, New delhi
157 Radhakrishnan- The Hindu View of Life, Blackie and Son Publishers Pvt. Ltd , Blackie Walchand Hirachand Marg, Bombay-1, 1979
158 Rajagopalachari C - Hindusm, Doctrine and Way of Life Hindustan Times, New Delhi
159. Rama Swami, Ballentine R. Hymes A - Science of Breath, The Himalayan International Yoga Science and Philosophy, Honesdole Pennylvania, USA, 1988
160. Rama Swami- Choosing a Path, I bid , 1982
161. Ranchan Son P- An Anotomy of Indian Psyche, Ajanta Publications, 7255/8, Prem Nagar, Nagar, Delhi-7, 1987
162 Ranganathananda Swami- Enlightened Citizenship and our Democracy, Bhartiya Vidya Bombay-7, 1990
163 Rangnathananda Swami- Science and Religion, Advaita Ashrama, 5, Dehi Entally Road, C 14, 1978
164 Ranganathananda Swami- Women in the Modern Age, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay-7
165 Ranganathananda Swami- The Call of Human Excellence, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay
166 Ranganathananda S - Science and Human Value, I bid , 1992
167 Ratsch Christian- Gateway to Inner Space, Prism Press, 2 South Street, Bridport, Dorset, 1
168 Rete Vasant G - The Mysterious Kundalini, D.B.Taraporevala Co Pvt. Ltd , Treasure House 210, Dr. D. Nauroji Road, Fort Bombay-1, 1967
169. Religions of the World 2 Vol.- The Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta, 1
170 Renterdall Arvid- Scientific Theism, The Devin Adain Co., New York, 1920
171 Ricker Hans-Wrich- The Yoga of Light, George Allen and Unwin Ltd , Ruskin House, Museu London, 1972
172 Rivier J. Marques- Tantrik Yoga, Rider and Co , Paternoster House Paternoster Row London
173 Robertson-James- Future Wealth, Mansell IPublishing Artillery House, Artillery Row, London,
174 Robert Henry C - The Complete Prophecies of Nostradamus, Grafton Books, 8, Grafton Street, 1984
175. Russelk Bertrand- Religion and Science, Oxford University Press, London, 1961
176. Russel bertrand,-An Inquiry into Meaning of Truth, Penguine Books Ltd , Harmonds Worth, sex, 1963
177. Russel Bertrand- A History of Western Philosophy, Unwin Paperbaks, 40 Museum Street, London
178 Ryle Gilbert- The Concept of Mind, The University of Chicago Press, Chicago, 1984
179. Sachdeva J P.- Yoga and Depth Psychology, Motilal Banarsidas, kBungalore Road, Jawahar Delhi-7, 1978

180 Sahay R. R.- Religions Philosophy of William James, S. Chand and Company Ltd , Ram Nagar New Delhi-55, 1980
181. Salk Jonas- Man Unfolding, Allied publishers Pvt. Ltd., Bombay, 1972
182. Satprakashananda Swami- The Goal and the way, Sir Rama Krishana Math, 16, Rama Krishana Math Rd , Mylapore, Madras-4, 1977
183. Satprakashananda Swami- Methods of Knowledge, Advaita Ashrama, 5 Dehi Entally Road, Calcutta, 1974
184. Segno A Victor- Thought Vibrations, New Castle Publishing Co , Inc , Van Nays, California-91409, 1973
185. Seher Jordan- Theories of the Mind, The Free Press 866 Third Avenue, New York-10022, 1966
186. Sen Indra- Integra Psychology, Sri Aurovindo International Centre of Education Pondicherry, 1986
187. Sethna K. D. -The Spirituality of the Future, Fairleigh Dickinson University Press, London, 1981
188. Shubanarayanan N.- Occult Psychology of the Hindu, Dipti Publications Sri Aurbindo Ashram Pandicherry-2, 1975
189. Singh Dr. Jej- Secrets of Patanjali Yoga, Yoga-Jyotish Ayurved Ashram Nadsa, Khimsepur, Farrukhabad, U.P., 1969
190. Singh Sampooran- Dynamic Interplay between Science and Religion, A Jainsons Publication, Ratanada Road, Jodhpur-1978
191. Singh Satya Prakash- Sri Aurbindo and Jung, Madhuchanda Publications 3/508, Begpur, Aligarh, 1986
192. Sinha Jadunath- Indian Psychology, Vol. 1-Congnition; vol. II-Emotion and will, vol. III-Epistemology of Perception, Motilall Banarsidas Bangolore Road, Jawaahar Nagar, Delhi-7, 1986
193. Sinha Jadunath- A Manual of Ethics, New Central Book Agency, 8/1, Chintamani Das Lane, Calcutta-9, 1984
194. Sivananda Swami- The Principal Upanishads The Divine Life Society, Shivanandanagar, Tehri Garhwal, U.P. India, 1983
195. [illegible]
196. [illegible] he Citadel Press, 120, Enterprise Ave Secaucus, N J D 7094, 1974
197. Sternberg R.J., Smith E E.- The Psychology of Human Thought, Cambridge University Press, The Pitt Bulding Truonpington Street, Cambridge, 1988
198. Streng-Understanding Religious life, Wadsworth Publishing Co., Belmont, California, 1976
199. Stumph Samuel E.- Elements of Philosophy, McGraw-Hill Book Co. Book Co., Singapore, 1988
200 Underhill Evelyn, Mysticism, The New American Library, Inc., 1633 Broadway, New York, Ny-19, 1974



पत्र-पत्रिकाएँ

१. अखण्ड ज्योति, मासिक, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा-३, १९४० से १९९५ तक

२. प्रज्ञा अभियान मासिक, युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि मथुरा, जनवरी १९८१ से दिसम्बर १९८३ तक

३. प्रज्ञा अभियान पाक्षिक, शान्तिकुञ्ज हरिद्वार

४. महिला जागृति अभियान मासिक, शान्तिकुंज सप्त सरोवर हरिद्वार, जुलाई १९७५ से सितम्बर १९८० तक

५. युग निर्माण योजना मासिक, १९६७ से १९९५ तक, युग निर्माण योजना पाक्षिक जुलाई १९७१ से अगस्त १९७७ तक, युग निर्माण योजना साप्ताहिक, सितम्बर १९७७ से जनवरी १९८१ युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि मथुरा

६. युग शक्ति गायत्री मासिक, युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि मथुरा

७. श्री अरविन्द कर्मधारा, श्री अरविन्द आश्रम, दिल्ली शाखा, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली-१६



MAGAZINE

1 Bulletin of the Ramakrishana Mission Institute of Culture, Monthly Ramakrishana Mission Instutute of Cultutre, Gol Park, Calcutta-29

2. Dharma Marg, Quarterly Ramayan Vidhyapeath, 15, Institutional Area, Lodhi Road, New Delhi-3

3. International Philosophical Quarterly, Fordham University, Bronx, Ny 10458

4 Journal of Indian Council of Philosophical Research Indian Council of Philosophical Research, USO House 6 Spetial Institutional Area, New Mehrauli Road, New Delhi-67

5. Pravudha Bharta or Awakened India, Monthly Advaita Ashram, 5-Dehi Entally Road, Calcutta-14

6 Research for Religion and Parapsychology The International, Association for Religion and Parapsychology, 4-11-7, Inokashira, Mitaka-Shi, Tokyo, Japan-181

7. The Theosophical Research Journal, Quarterly The Theosophical Education and Research Foundation 1926 N, Main St. P.O.Box 270, Wheaton, 12, 60189

8. The Vedanta Kesari, Monthly Sri Ramakrishna Math, Mylapore, Madras-4



150 Pearson E Nomuan- Space, Time and Self, The Theosophical Publishing House, Adyar,
151. Pannell Arthur E.- The Causal Body and the Ego, The Theosophical Publishing House Ltd ; 68, Great Rusell Street, London, 1978
152. Powell Arthur E ,-The MentalBody, I bid., 1975
153. Powell A E - The Etheric Double, I bid , 1969
154 Prakash Satya- Agnihotra, The Sarvadeshik Arya Pratinidhi Sabha, Delhi, 1937
155. Progress Publishers- Science and Morality, 1975
156. Radhakrishnan S - Recovery of Faith, Orient Paperbacks, 36 C, Connaught Place, New delhi-1, 1967
157 Radhakrishnan- The Hindu View of Life, Blackie and Son Publishers Pvt. Ltd , Blackie House 163/5 Walchand Hirachand Marg, Bombay-1, 1979
158 Rajagopalachari C - Hindusm, Doctrine and Way of Life Hindustan Times, New Delhi
159. Rama Swami, Ballentine R. Hymes A.- Science of Breath, The Himalayan International Institute of Yoga Science and Philosophy, Honesdole Pennylvania, USA, 1988
160 Rama Swami- Choosing a Path, I bid., 1982
161. Ranchan Son P.- An Anotomy of Indian Psyche, Ajanta Publications, 7255/8, Prem Nagar, Shakto Nagar, Delhi-7, 1987
162 Ranganathananda Swami- Enlightened Citizenship and our Democracy, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay-7, 1990
163 *Rangnathananda Swami- Science and Religion, Advaita Ashrama, 5, Dehi Entally Road*, Calcutta-14, 1978
164 Ranganathananda Swami- Women in the Modern Age, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay-7
165. Ranganathananda Swami- The Call of Human Excellence, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay 7, 1977
166 Ranganathananda S - Science and Human Value, I bid , 1992
167 Ratsch Christian- Gateway to Inner Space, Prism Press, 2 South Street, Bridport, Dorset, 1989
168 Rete Vasant G - The Mysterious Kundalini, D.B.Taraporevala Co. Pvt. Ltd , Treasure House of Books, 210, Dr. D Nauroji Road, Fort Bombay-1, 1967
169 Religions of the World 2 Vol - The Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta, 1987
170 *Renterdall Arvid- Scientific Theism, The Devin Adain Co , New York, 1920*
171. Ricker Hans-Wrich- The Yoga of Light, George Allen and Unwin Ltd , Ruskin House, Museum Street, London, 1972
172. Rivier J. Marques- Tantrik Yoga, Rider and Co , Paternoster House Paternoster Row London
173 Robertson-James- Future Wealth, Mansell lPublishing Artillery House, Artillery Row, London, 1990
174. Robert Henry C - The Complete Prophecies of Nostradamus, Grafton Books, 8, Grafton Street, London, 1984
175 Russelk Bertrand- Religion and Science, Oxford University Press, London, 1961
176. Russel bertrand,-An Inquiry into Meaning of Truth, Penguine Books Ltd , Harmonds Worth, Middle sex, 1963
177 Russel Bertrand- A History of Western Philosophy, Unwin Paperbaks, 40 Museum Street, London,1979
178 Ryle Gilbert- The Concept of Mind, The University of Chicago Press, Chicago, 1984
179 Sachdeva J P.- Yoga and Depth Psychology, Motilal Banarsidas, kBungalore Road, Jawahar Nagar, Delhi-7, 1978

180 Sahay R. R.- Religions Philosophy of William James, S. Chand and Company Ltd , Ram Nagar New Delhi-55, 1980
181. Salk Jonas- Man Unfolding, Allied publishers Pvt. Ltd., Bombay, 1972
182. Satprakashananda Swami- The Goal and the way, Sir Rama Krishana Math, 16, Rama Krishana Math Rd , Mylapore, Madras-4, 1977
183 Satprakashananda Swami- Methods of Knowledge, Advaita Ashrama, 5 Dehi Entally Road, Calcutta, 1974
184 Segno A Victor- Thought Vibrations, New Castle Publishing Co , Inc., Van Nays, California-91409, 1973
185. Seher Jordan- Theories of the Mind, The Free Press 866 Third Avenue, New York-10022, 1966
186 Sen Indra- Integra Psychology, Sri Aurovindo International Centre of Education Pondicherry, 1986
187. Sethna K. D. -The Spirituality of the Future, Fairleigh Dickinson University Press, London, 1981
188 Shubanarayanan N.- Occult Psychology of the Hindu, Dipti Publications Sri Aurbindo Ashram Pandicherry-2, 1975
189. Singh Dr. Jej- Secrets of Patanjali Yoga, Yoga-Jyotish Ayurved Ashram Nadsa, Khimsepur, Farrukhabad, U P., 1969
190. Singh Sampooran- Dynamic Interplay between Science and Religion, A Jainsons Publication, Ratanada Road, Jodhpur-1978
191 Singh Satya Prakash- Sri Aurbindo and Jung, Madhuchanda Publications 3/508, Begpur, Aligarh, 1986
192 Sinha Jadunath- Indian Psychology, Vol. 1-Congnition; vol II-Emotion and will, vol III-Epistemology of Perception, Motilall Banarsidas Bangolore Road, Jawaahar Nagar, Delhi-7, 1986
193 Sinha Jadunath- A Manual of Ethics, New Central Book Agency, 8/1, Chintamani Das Lane, Calcutta-9, 1984
194. Sivananda Swami- The Principal Upanishads The Divine Life Society, Shivanandanagar, Tehri Garhwal, U.P. India, 1983
195 Sivananda Swami- Kundalini Yoga, I bid, 1963
196. Spence Lewi's- An Encyclopedia of Occultism, The Citadel Press, 120, Enterprise Ave Secaucus, N J.D 7094, 1974
197. Stemberg R.J., Smith E.E - The Psychology of Human Thought, Cambridge University Press, The Pitt Bulding Truonpington Street, Cambridge, 1988
198. Streng-Understanding Religious life, Wadsworth Publishing Co , Belmont, California, 1976
199. Stumph Samuel E - Elements of Philosophy, McGraw-Hill Book Co Book Co., Singapore, 1988
200 Underhill Evelyn, Mysticism, The New American Library, Inc., 1633 Broadway, New York, Ny-19, 1974



पत्र-पत्रिकाएँ

१. अखण्ड ज्योति, मासिक, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा-३, १९४० से १९९५ तक
२. प्रज्ञा अभियान मासिक, युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि मथुरा, जनवरी १९८१ से दिसम्बर १९८३ तक
३. प्रज्ञा अभियान पाक्षिक, शान्तिकुञ्ज हरिद्वार
४. महिला जागृति अभियान मासिक, शान्तिकुंज सप्त सरोवर हरिद्वार, जुलाई १९७५ से सितम्बर १९८० तक
५. युग निर्माण योजना मासिक, १९६७ से १९९५ तक, युग निर्माण योजना पाक्षिक जुलाई १९७१ से अगस्त १९७७ तक, युग निर्माण योजना साप्ताहिक, सितम्बर १९७७ से जनवरी १९८१ युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि मथुरा
६. युग शक्ति गायत्री मासिक, युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि मथुरा
७. श्री अरविन्द कर्मधारा, श्री अरविन्द आश्रम, दिल्ली शाखा, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली-१६



Magazine

1 Bulletin of the Ramaknshana Mission Institute of Culture, Monthly Ramakrishana Mission Institute of Cultutre, Gol Park, Calcutta-29
2 Dharma Marg, Quarterly Ramayan Vidhyapeath, 15, Institutional Area, Lodhi Road, New Delhi-3
3 International Philosophical Quarterly, Fordham University, Bronx, Ny 10458
4 Journal of Indian Council of Philosophical Research Indian Council of Philosophical Research, USO House 6. Spetial Institutional Area, New Mehrauli Road, New Delhi-67
5. Pravudha Bharta or Awakened India, Monthly Advaita Ashram, 5-Dehi Entally Road, Calcutta-14
6. Research for Religion and Parapsychology The International, Association for Religion and Parapsychology, 4-11-7, Inokashira, Mitaka-Shi, Tokvo, Japan-181
7. The Theosophical Research Journal, Quarterly The Theosophical Education and Research Foundation 1926 N, Main St. P.O Box 270, Wheaton, 12, 60189
8. The Vedanta Kesari, Monthly Sri Ramaknshna Math, Mylapore, Madras-4



विचारों के इतिहास में प्रज्ञा पुरुष आचार्य श्रीराम शर्मा का व्यक्तित्व महाक्रांति का पर्याय बनकर उभरा है। वह उन विरल प्रज्ञा पुरुषों में थे, जिनमें ऋषित्व और मनीषा एकाकार हुई थी। जिन्होंने धर्म का आच्छादन तोड़ने, दर्शन को बुद्धिवाद के चक्रव्यूह से निकालने की हिम्मत जुटाई। धर्म-दर्शन और विज्ञान के कटु-तिक्त, कषाय हो चुके संबंधों को अपनी अंतर्प्रज्ञा की निर्झरिणी से पुनः मधुरता प्रदान की। अवतारी प्रवाह सदा एक ही लक्ष्य सामने लेकर आते रहे हैं— 'समय की दार्शनिक भ्रष्टता को दूर कर उसे उच्चस्तरीय चिंतन स्तर तक ले जाना।' विचार जगत् में आचार्य जी का आविर्भाव इसी उद्देश्य को लेकर हुआ था। उन्होंने लोक जीवन की आर्त्तावस्था, विपन्न मानसिकता को अपने हृदय की धड़कनों में अनुभव किया और अपनी रचनात्मक प्रतिभा के बलबूते समाधान की शोध में तत्पर हुए। उनके दार्शनिक विचारों का उद्देश्य, बौद्धिक महत्त्वाकांक्षा से उपजे किसी मत या वाद की महत्ता का प्रतिपादन करना नहीं है, बल्कि जीवन भर किए गए महत्त्वपूर्ण प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्षों का जिज्ञासुओं में वितरण है।

—इसी ग्रंथ से